

वीर ज्ञानोदय ग्रन्थमाला का पुष्प नं० ६६

श्रीमद्भगवद्विद्यानंदाचार्य विरचित

# अष्टसहस्री

[ द्वितीय भाग ]

[ प्रथम परिच्छेद पूर्ण—कारिका ७ से २३ तक ]

स्याद्वादचिंतामणि—भाषा टीका सहित

टीकाकर्त्री

चारित्र्यचक्रवर्ती १०८ आचार्य श्री शांतिसागर जी महाराज के प्रथम पट्टाधीश  
आचार्य श्री वीरसागर जी महाराज की शिष्या, सिद्धान्तवारिधि, विधान वाचस्पति,  
न्यायप्रभाकर, जम्बूद्वीप रचना की पावन प्रेरिका

गणिनी आर्यिकारत्न श्री ज्ञानमती माताजी



प्रकाशक :

दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान  
हस्तिनापुर (मेरठ) उ० प्र०

प्रथम संस्करण  
११०० प्रति

पौष शुक्ला १२  
वीर० नि० सं० २५१५

मूल्य  
६४.००

## ❀ विषय दर्पण ❀

| क्रम संख्या | विषय                                                                                                                                                                  | पृष्ठ संख्या |
|-------------|-----------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|--------------|
| १           | जैन धर्म अमृत स्वरूप है ऐसा जैन कहते हैं ।                                                                                                                            | १            |
| २           | चित्राद्वैतवादी चित्रज्ञान को एकरूप सिद्ध करने का प्रयत्न करता है ।                                                                                                   | ३            |
| ३           | माध्यमिक बौद्ध ज्ञान को निरंश सिद्ध करता है ।                                                                                                                         | ४            |
| ४           | निरंशज्ञानवादी बौद्ध चित्रज्ञानवादियों का खण्डन करता है ।                                                                                                             | ७            |
| ५           | सांख्य सुखादि को अचेतन स्वीकार करता है उस पर विचार ।                                                                                                                  | ६            |
| ६           | बौद्ध सुखादि पर्यायों को ज्ञानात्मक सिद्ध करना चाहता है उसका निराकरण ।                                                                                                | १२           |
| ७           | योग आत्मा को अचेतन कह रहा है उसका निराकरण ।                                                                                                                           | १५           |
| ८           | बौद्ध अणु-अणु को पृथक्-पृथक् मानता है, स्कंध नहीं मानता है उसका विचार ।                                                                                               | १७           |
| ९           | सांख्य स्कन्ध को ही स्वीकार करता है परमाणु को नहीं मानता है उसका विचार ।                                                                                              | २०           |
| १०          | सभी वस्तुएँ अनेकान्तस्वरूप हैं इस बात को आचार्य स्पष्ट करते हैं :                                                                                                     | २१           |
| ११          | प्रत्यक्ष प्रमाण ही एकान्त कल्पना को समाप्त कर देता है ।                                                                                                              | २४           |
| १२          | अपने सिद्धान्त के समर्थन से ही परमत्त का निराकरण हो जाता है पुनः पृथक् कारिका के द्वारा परमत्त का निराकरण क्यों किया ? ऐसा प्रश्न होने पर विचार किया जाता है ।        | २६           |
| १३          | बौद्ध कहता है कि अन्वय-व्यतिरेक में से किसी एक के प्रयोग से ही अर्थ का ज्ञान हो जाता है पुनः एक साथ दोनों का प्रयोग करना निग्रहस्थान है—आचार्य इस पर विचार करते हैं । | २७           |
| १४          | बौद्ध कहता है कि बादकाल में प्रतिज्ञा का प्रयोग करना निग्रहस्थान है । जैनाचार्य इस कथन का निराकरण करते हैं ।                                                          | २५           |
| १५          | जैनाचार्य कहते हैं कि समर्थन भी क्षणाधिक्य नाम का दूषण हो जाएगा, सब बौद्ध समर्थन का समर्थन करके उसको दोष नहीं मानता है ।                                              | ३६           |
| १६          | शून्यवादी और अद्वैतवादी जनों के यहाँ परलोकादि व्यवस्था नहीं है ।                                                                                                      | ५६           |
| १७          | शून्यवादी कहता है कि असत्त्वस्तु में ही पुण्यपापादि व्यवस्था बनती है उस पर विचार ।                                                                                    | ६१           |
| १८          | बौद्ध कार्य को सकारणक सिद्ध कर रहे हैं उस पर विचार ।                                                                                                                  | ६४           |
| १९          | बौद्ध नित्यपक्ष में कार्य की उत्पत्ति नहीं मानता है उस पर विचार ।                                                                                                     | ६६           |
| २०          | कारण कार्य के काल में रहता है या नहीं ?                                                                                                                               | ७३           |

| क्रम संख्या | विषय                                                                                                                                     | पृष्ठ संख्या |
|-------------|------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|--------------|
| २१          | अत्यस्ताभाव के अभाव में प्रकृति और पुरुष एकरूप हो जावेंगे ।                                                                              | ७८           |
| २२          | प्रागभाव के अभाव में महान् अहंकार आदि कार्य नहीं होंगे ।                                                                                 | ७९           |
| २३          | प्रध्वंसाभाव के अभाव में सभी कार्यों का अन्त नहीं होगा ।                                                                                 | ८०           |
| २४          | सांख्य भाव को अभावरूप सिद्ध कर रहा है उस पर विचार ?                                                                                      | ८१           |
| २५          | ब्रह्माद्वैतवादी संपूर्ण जगत् को सत् रूप मानते हैं उस पर विचार ।                                                                         | ८३           |
| २६          | ब्रह्माद्वैतवादी प्रत्यक्षप्रमाण को भावपदार्थ का ग्रहण करने वाला ही सिद्ध करते हैं उस पर विचार ।                                         | ८८           |
| २७          | अनुमान प्रमाण से भी अभाव का ज्ञान नहीं होता है ऐसा ब्रह्माद्वैतवादी कहते हैं ।                                                           | ९१           |
| २८          | जैनाचार्य जगत् को नानारूप सिद्ध कर रहे हैं ।                                                                                             | ९४           |
| २९          | सत्ताद्वैतवादी सभी वस्तु को एकस्वरूप सिद्ध करना चाहता है उस पर विचार ।                                                                   | ९६           |
| ३०          | सत्ताद्वैतवादी आगम से एक ब्रह्मा की सिद्धि करना चाहता है उस पर विचार ।                                                                   | ९८           |
| ३१          | शार्दूल के द्वारा प्रागभाव का निराकरण एवं जैनाचार्य द्वारा प्रागभाव का व्यवस्थापन किया जाता है ।                                         | १०६          |
| ३२          | नैयायिक के द्वारा जैनाभिमत प्रागभाव का खण्डन एवं तुच्छाभावरूप प्रागभाव का समर्थन ।                                                       | ११०          |
| ३३          | शार्दूल के द्वारा नैयायिकाभिमत प्रागभाव का खण्डन ।                                                                                       | १११          |
| ३४          | अब जैनाचार्य प्रागभाव के लोप से हानि बताते हुये नय और प्रमाण के द्वारा प्रागभाव को सिद्ध करते हैं ।                                      | ११६          |
| ३५          | शार्दूल प्रध्वंसाभाव को नहीं मानता है उसका खण्डन करके आचार्य प्रध्वंसाभाव का समर्थन करते हैं ।                                           | १२६          |
| ३६          | मीमांसकाभिमत शब्द नित्यत्व का खण्डन ।                                                                                                    | १३३          |
| ३७          | अभिव्यक्ति के चार भेद करके क्रमशः चारों का खण्डन करते हैं ।                                                                              | १३६          |
| ३८          | सांख्य के द्वारा मान्य अभिव्यक्ति पक्ष का निराकरण ।                                                                                      | १४१          |
| ३९          | सांख्य कार्यद्रव्य को नहीं मानता है उस पर विचार ।                                                                                        | १४८          |
| ४०          | मीमांसकाभिमत शब्द की आवारक वायु का खण्डन ।                                                                                               | १५१          |
| ४१          | शब्द की आवारकवायु से स्वभाव का खण्डन नहीं होता है इस पर विचार किया जाता है ।                                                             | १५३          |
| ४२          | सभी वर्णों को नित्य एवं सर्वगत मानने पर या तो वे सदा ही सुनाई देंगे या कभी भी नहीं सुनाई देंगे, क्योंकि क्रम से सुनने का विरोध जाता है । | १५६          |
| ४३          | मीमांसकों के द्वारा जैनाभिमत शब्दों की उत्पत्ति पक्ष में भी दोषारोपण ।                                                                   | १५८          |

|    |                                                                                                                               |     |
|----|-------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|-----|
| ४४ | मीमांसक वर्णों को नित्य सिद्ध करने में प्रत्यभिज्ञान हेतु देते हैं, जैनाचार्य उस हेतु को व्यभिचारी सिद्ध करते हैं ।           | १६१ |
| ४५ | शब्दाद्वैत का निराकरण ।                                                                                                       | १६३ |
| ४६ | अब नैयायिक के द्वारा शब्द की आकाश का गुण मानने पर विचार किया जाता है ।                                                        | १६८ |
| ४७ | शब्द निश्चित महल से बाहर निकलते हैं एवं प्रवेश कर जाते हैं फिर भी पौद्गलिक हैं ।                                              | १७१ |
| ४८ | शब्द वर्तमानकाल में ही सुने जाते हैं भूत भविष्यत् काल में नहीं इसका निर्णय करते हैं ।                                         | १७५ |
| ४९ | इतरेतराभाव का लक्षण एवं उसके न मानने से हानि ।                                                                                | १८० |
| ५० | चित्राद्वैतवादी के मत में भी इतरेतराभाव सिद्ध है ।                                                                            | १८५ |
| ५१ | चित्राद्वैतज्ञान एकानेकस्वभाव वाला है और एकानेकस्वभाव से इतरेतराभाव सिद्ध ही है ।                                             | १८६ |
| ५२ | ज्ञान के भेद से वस्तु के स्वभाव में भी भेद मानना चाहिये ।                                                                     | १८८ |
| ५३ | बौद्ध पदार्थों में सर्वथा सम्बन्ध नहीं मानते हैं ।                                                                            | १९० |
| ५४ | जैनाचार्य द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की निकटतालक्षण संबंध को सिद्ध करते हैं ।                                                  | १९१ |
| ५५ | विज्ञानाद्वैतवाद में भी चार प्रकार का संबंध सिद्ध हो जाता है आचार्य इसी बात का स्पष्टीकरण करते हैं ।                          | १९३ |
| ५६ | कार्य कारण में परतंत्रता को न मानने से आचार्य दोष दिखाते हैं ।                                                                | १९४ |
| ५७ | अर्थपर्याय की अपेक्षा से उत्पाद, व्यय और धीव्य इन तीनों ही अवस्थाओं में कारणों का व्यापार नहीं होता है ।                      | २०० |
| ५८ | सभी पदार्थ उत्पाद व्यय धीव्यात्मक हैं ।                                                                                       | २०१ |
| ५९ | यहाँ पर सौगत का प्रश्न है कि जीवादि द्रव्य से उत्पाद व्यय धीव्य अभिन्न हैं या भिन्न ? एवं दोनों पक्षों में दोषारोपण करता है । | २०२ |
| ६० | जैनाचार्य जीवादि से उत्पादादि को कथंचित् भिन्नाभिन्न सिद्ध करते हैं ।                                                         | २०३ |
| ६१ | त्रिकाल की अपेक्षा से उत्पाद, व्यय, धीव्य की सिद्धि ।                                                                         | २०६ |
| ६२ | उत्पाद-व्यय-धीव्य की अपेक्षा से वस्तु में इक्ष्वासी भेद सिद्ध हो जाते हैं ।                                                   | २०६ |
| ६३ | प्रत्येक धर्म में भी ८१ भेद घटित करना चाहिये ।                                                                                | २०७ |
| ६४ | सत्ता ही द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावरूप होती है ।                                                                               | २०८ |
| ६५ | सत्ता में भी ८१ भेद घटित करना चाहिये ।                                                                                        | २०८ |
| ६६ | विश्व व्यापी महासत्ता का स्पष्टीकरण ।                                                                                         | २१० |
| ६७ | पर्यायार्थिकतम की अपेक्षा से ही इतरेतराभाव संभव है द्रव्याधिकतम से नहीं ।                                                     | २११ |



|    |                                                                                                                                                                   |     |
|----|-------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|-----|
| ६८ | यहाँ तक इतरेतराभाव को सिद्ध करके अब आचार्य अत्यंताभाव को सिद्ध कर रहे हैं ।                                                                                       | २१७ |
| ६९ | बौद्ध का कहना है कि प्रत्यक्ष और अनुमान ये दोनों प्रमाण अभाव को नहीं ग्रहण कर सकते हैं । इस पर जैनाचार्य उस बौद्ध को अस्वस्थ बतलाते हुये उसकी विकृति करते हैं ।   | २२१ |
| ७० | यदि बौद्ध अभाव को प्रमाण का विषय मान लेते हैं तो उनकी दो रूप प्रमाण संख्या नहीं रहती है, तीन प्रमाण मानने पड़ेंगे ।                                               | २२८ |
| ७१ | जो बौद्ध सर्वथा अभावरूप ही तत्त्व स्वीकार करते हैं उनका खंडन ।                                                                                                    | २३५ |
| ७२ | नैरात्म्यवाद का लक्षण ।                                                                                                                                           | २३५ |
| ७३ | नैरात्म्यवाद में दोषारोपण ।                                                                                                                                       | २३५ |
| ७४ | हेतु में तीन रूप के बिना भी साध्य की सिद्धि के प्रकार को दिखलाते हैं ।                                                                                            | २३७ |
| ७५ | अविनाभाव के अभाव में हेतु अहेतु है ।                                                                                                                              | २३८ |
| ७६ | नैरात्म्य को सिद्ध करने के लिये हेतु का प्रयोग आवश्यक ।                                                                                                           | २४० |
| ७७ | संवृति शब्द का अर्थ क्या है ?                                                                                                                                     | २४१ |
| ७८ | विचारों का न होना संवृति है, इस मान्यता से हानि ।                                                                                                                 | २४३ |
| ७९ | सारा जगत् मायास्वरूप है और स्वप्नस्वरूप है ऐसा मानने से क्या हानि है ?                                                                                            | २४४ |
| ८० | यह समस्त जगत् भ्रान्तिस्वरूप है ।                                                                                                                                 | २४५ |
| ८१ | निरपेक्ष सत् और असत् को मानने वाले भाट्ट का निराकरण ।                                                                                                             | २४६ |
| ८२ | परस्पर निरपेक्ष सत्-असत् दोनों को मानने वाले सांख्य का खण्डन ।                                                                                                    | २४९ |
| ८३ | बौद्ध अपने तत्त्व को अवाच्य सिद्ध करने के लिये अनेक युक्तियों का प्रयोग करता है और जैनाचार्य उन युक्तियों का खण्डन करते हैं ।                                     | २५४ |
| ८४ | बौद्ध का निर्विकल्पज्ञान पदार्थों से उत्पन्न होकर ही उन पदार्थों को जानता है, तब वह ज्ञान इन्द्रियों से भी उत्पन्न होता है, पुनः इन्द्रियों को क्यों नहीं जानता ? | २५६ |
| ८५ | बौद्ध निर्विकल्प दर्शन को सविकल्पज्ञान का हेतु मानते हैं किन्तु जैनाचार्य उसका निराकरण करते हैं ।                                                                 | २५८ |
| ८६ | बौद्ध मत में स्मृति पर विचार ।                                                                                                                                    | २६५ |
| ८७ | बौद्ध मत में निर्विकल्पदर्शन को व्यवसायात्मक न मानने से सकल प्रमाण, प्रमेय का लोप हो जाता है ।                                                                    | २६७ |
| ८८ | बौद्ध स्वलक्षण और सामान्य में भेद सिद्ध करता है ।                                                                                                                 | २६८ |
| ८९ | स्वलक्षण क्या है ?                                                                                                                                                | २७० |

| क्रम संख्या | विषय                                                                                                                                  | पृष्ठ संख्या |
|-------------|---------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|--------------|
| ६०          | बौद्ध कहता है कि विशेष का अनुभव होने पर सामान्य की स्मृति हो जाती है, उस पर विचार ।                                                   | २७४          |
| ६१          | ज्ञान सविकल्प ही है ऐसा जैनाचार्य सिद्ध करते हैं ।                                                                                    | २७६          |
| ६२          | प्रत्यक्ष आदि से विरुद्ध भी सप्तभंगी हो सकती है क्या ?                                                                                | २८६          |
| ६३          | सप्तभंगी ही क्यों अनन्तभंगी भी बनाइये, क्या बाधा है ?                                                                                 | २८६          |
| ६४          | अन्तिम तीन भंग वस्तु के धर्म नहीं हैं ? इस पर विचार ।                                                                                 | २८६          |
| ६५          | द्विष किम अपेक्षा से सातों भंग होते हैं उसका स्पष्टीकरण ।                                                                             | २८६          |
| ६६          | वस्तव्य को भी आठवां भंग मानों, क्या हानि है ?                                                                                         | २८०          |
| ६७          | बौद्ध आत्मा को अन्वयरूप नहीं मानता है उस पर विचार ।                                                                                   | २८३          |
| ६८          | सांख्य सभी वस्तुओं को सत् रूप ही मानता है उस पर विचार ।                                                                               | २८८          |
| ६९          | मीमांसक सभी वस्तुओं को भाषाभावात्मक मानता है, किन्तु परस्पर निरपेक्ष मानता है, अतः उसका अभिमत भी दोषास्पद है ।                        | २९६          |
| १००         | बौद्ध सभी वस्तु को सर्वथा अववस्तव्य ही मानता है उसका विचार ।                                                                          | ३०२          |
| १०१         | शब्दाद्वैतवादी का खण्डन ।                                                                                                             | ३०३          |
| १०२         | प्रत्येक वस्तु कथंचित् ही अवाच्य है सर्वथा नहीं ।                                                                                     | ३०७          |
| १०३         | वस्तु का वस्तुत्व क्या है ?                                                                                                           | ३०६          |
| १०४         | स्वरूप में भिन्नस्वरूप का अभाव होने से वस्तुस्थवस्था कैसे बन सकेगी ? नैयायिक की इस शंका पर विचार ।                                    | ३११          |
| १०५         | जीवादि वस्तु का स्वरूप क्या है ?                                                                                                      | ३१२          |
| १०६         | जीवादि द्रव्यों का स्वद्रव्य क्या है एवं परद्रव्य क्या है ?                                                                           | ३१३          |
| १०७         | वस्तु का अपना सत्त्व ही पर का असत्त्व है अतः स्व पर चतुष्टय की अपेक्षा से सत्त्वासत्त्व व्यवस्था कैसे होगी ? इस शंका का समाधान ।      | ३१५          |
| १०८         | एक ही वस्तु में सत्त्व-असत्त्व दोनों धर्म परस्पर विरुद्ध हैं इस पर विचार ।                                                            | ३१७          |
| १०९         | एक ही वस्तु में सामान्य-विशेष, सत्-असत् आदि धर्म परस्पर-विरुद्ध होते हुये भी निरगंलरूप से सम्भव हैं इस प्रकार से जैनाचार्य कहते हैं । | ३२१          |
| ११०         | वस्तु स्वपर से ही सत्-असत् रूप है अन्य किसी प्रकार से नहीं ऐसा क्यों ?                                                                | ३२६          |
| १११         | “वृक्षी” इत्यादि शब्द दो वृक्ष आदि को कैसे कहते हैं ? इस पर विचार ।                                                                   | ३३४          |

- ११२ प्रमाणवाक्य अशेषधर्मात्मक वस्तु का प्रकाशन करते हैं, जैनमत में यह कथन कैसे सम्भव होगा ? ३३७
- ११३ पाँचवें, छठे एवं सातवें भंग का उदाहरण । ३४१
- ११४ अद्वैतवादी सरसामान्यमात्र को मानते हैं उनका खण्डन । ३४३
- ११५ जब आचार्य सामान्य का साक्षात् कार्यक्रिया में उपयोग नहीं है इसका कथन करके परम्परा से भी उपयोग का खण्डन करते हैं । ३४५
- ११६ विशेषरूप ही एक "असत् अवक्तव्य" को मानने वाले बौद्धों का खण्डन । ३४८
- ११७ स्वलक्षण वाच्य नहीं, किन्तु सामान्य तो वाच्य है ऐसा बौद्ध के कहने पर ही आचार्य उत्तर देते हैं । ३४८
- ११८ बौद्ध अन्यापोह अर्थ का समर्थन करते हैं उस पर विचार । ३५०
- ११९ अन्वय हेतु व्यतिरेक के साथ अविनाभावी है या नहीं इस पर विचार । ३६०
- १२० गगन पुष्पादि प्रमेय हैं या नहीं ? इस पर विचार । ३६१
- १२१ सभी शब्द सम्पूर्ण अर्थों को प्रतिपादन कर सकते हैं ऐसा जैनाचार्य कहते हैं । ३६५
- १२२ सभी पदार्थ विधि निषेध इन दो धर्मों से सम्बन्धित हैं, इस प्रकार से जैनाचार्य कहते हैं । ३६८
- १२३ प्रमेयत्व आदि हेतुओं में वैधर्म्य है ही है, इस बात का जैनाचार्य समर्थन करते हैं । ३७१
- १२४ भेदविवक्षा और अभेदविवक्षा अवस्तु निमित्तक हैं, ऐसा मानने पर जैनाचार्य दोष दिखाते हैं । ३७४
- १२५ वस्तु में अस्तित्व धर्म भी वास्तविक है किन्तु नास्तित्व धर्म वास्तविक नहीं है, ऐसा मानने पर आचार्य दोष दिखाते हैं । ३७५
- १२६ हेतु की अन्यथानुपपत्ति के सिद्ध हो जाने पर भी धर्म-धर्मों की व्यवस्था कल्पित ही है, क्योंकि अनुमान भी कल्पित है तब समंजसपना कैसे हो सकेगा ? इस प्रकार से बौद्ध के कहने पर जैनाचार्य कहते हैं । ३७६
- १२७ बौद्ध का कहना है कि प्रत्यक्ष ज्ञान में स्वलक्षण ही शलकता है अस्तित्वादि नहीं उस पर विचार । ३८०
- १२८ विधि और निषेध का धर्म कौन है, इत्यादि प्रश्नों पर जैनाचार्य विचार करते हैं । ३८२
- १२९ धर्मादि कृतकत्वादि हेतु अपेक्षाकृत हेतु, अहेतु दोनों ही होते हैं । ३८४
- १३० कौन भंग किस भंग के साथ अविनाभाव रखता है ? ३८८
- १३१ किसी एक भंग का आश्रय लेकर ही वस्तु अर्थक्रिया को करे, क्या बाधा है ? ऐसा प्रश्न होने पर आचार्य समाधान करते हैं । ३९२

|     |                                                                                                                              |     |
|-----|------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|-----|
| १३२ | प्रागसत् का जन्म मानने में क्या बाधा है ? ऐसा बौद्ध का प्रश्न होने पर आचार्य उत्तर देते हैं ।                                | ३६३ |
| १३३ | जो वस्तु अर्थक्रियाकारी है वह विधि प्रतिषेध कल्पना से सप्तभंगी विधि सहित है इस प्रकार से जैनाचार्य समर्थन करते हैं ।         | ३६७ |
| १३४ | बौद्ध कहता है कि प्रथमभंग से जीवादि वस्तुओं का ज्ञान हो जाने पर शेष भंगों का कहना व्यर्थ है, इस पर आचार्य उत्तर देते हैं ।   | ३६८ |
| १३५ | प्रमेयत्व हेतु व्यभिचारी है ऐसा बौद्ध के कहने पर जैनाचार्य समाधान करते हैं ।                                                 | ४०२ |
| १३६ | धर्मों के प्रत्येक धर्म में यदि स्वभावभेद न होवे तब तो वस्तु व्यवस्था ही नहीं बनेगी ।                                        | ४०४ |
| १३७ | यद्यपि पदार्थ में स्वतः स्वभावभेद नहीं है, फिर भी विजातीयभेद हो जावेगा ऐसा बौद्धों द्वारा कहने पर जैनाचार्य उत्तर देते हैं । | ४०७ |
| १३८ | व्यावृत्ति की कल्पना से असत्, अकृतः आदि होते हैं इस बौद्ध की चालङ्घना पर विचार ।                                             | ४०८ |
| १३९ | एकानेक में सप्तभंगी को घटित करते हुए जैनाचार्य प्रथम भंग का सयुक्तिक स्पष्टीकरण करते हैं ।                                   | ४१२ |
| १४० | जीवादि विशेष परस्पर में भिन्न स्वभाव वाले हैं, पुनः वे एक द्रव्य कैसे हो सकते हैं इस शंका का समाधान ।                        | ४१३ |
| १४१ | आचार्य द्वितीय भंग का विशेष रीति से वर्णन करते हैं ।                                                                         | ४१४ |
| १४२ | जैनाचार्य तृतीय आदि शेष भंगों का स्पष्टीकरण करते हैं ।                                                                       | ४१७ |
| १४३ | स्याद्वाद के अर्थक्रियाकारित्व का सारांश ।                                                                                   | ४२० |
| १४४ | प्रशस्ति ।                                                                                                                   | ४२२ |
| १४५ | परिशिष्ट ।                                                                                                                   | ४२३ |



## ✱ पुरोवाक् ✱

—आर्यिका ज्ञानमसी

**श्रोतव्याष्टसहस्री श्रुतैः किमन्यैः सहस्रसंख्यानैः विज्ञायेत यद्यैव स्वसमयपरसमयसम्भावः ॥**

श्री विद्यानंद स्वामी का यह कहना है कि एक अष्टसहस्री को ही सुनना चाहिये अन्य हजारों ग्रन्थों को सुनने से क्या प्रयोजन है ? क्योंकि इस एक अष्टसहस्री ग्रन्थ के द्वारा ही स्वसमय और परसमय का स्वरूप जान लिया जाता है ।

महान् आचार्य श्री उमास्वामी जी ने महान् ग्रन्थराज तत्त्वार्थसूत्र ग्रन्थ की रचना के प्रारम्भ में “मोक्ष-मार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्मभूभूता । ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां वंदे सद्गुणलब्धये” इस मंगल श्लोक को रचा है । श्री समंत-भद्रस्वामी ने इस मंगलाचरण श्लोक का आधार लेकर ‘आप्तमीमांसा’ नाम से एक सूत्र रचा है जिसका अपरनाम ‘देवागमस्तोत्र’ भी है । श्रीभट्टकाकलंक देव ने आप्तमीमांसा स्तुति पर ‘अष्टशती’ नाम से भाष्य बनाया है । जो कि जैनदर्शन का एक अतीव पूज्य ग्रन्थ माना गया है । इसी भाष्य पर आचार्यवर्य श्री विद्यानंदमहोदय ने ‘अष्टसहस्री’ नाम से अलंकार टीका बनाई है जो कि जैनदर्शन का सर्वोत्कृष्ट ग्रन्थ कहलाता है । इसमें दश परिच्छेद में अस्ति-नास्ति, भेद-अभेद, द्वैत-अद्वैत आदि एक-एक प्रकरणों के एकांतों का पूर्वपक्ष पूर्वक निरसन करके सर्वत्र स्याद्वाद-प्रक्रिया से वस्तुतत्त्व को समझाया गया है । वास्तव में तत्त्व-अतत्त्व को समझने के लिये यह न्याय ग्रन्थ एक कसौटी का पत्थर है और अधिक तो क्या कहा जाये श्रीस्वामी समंतभद्राचार्यवर्य ने आप्त और अनाप्त की मीमांसा करते हुये आप्तअर्हत्तदेव को ही न्याय की कसौटी पर कसकर सत्य आप्त सिद्ध किया है, देखिये !

**देवागमनभोयान-चामरादि-विभूतयः । मायाविध्वपि वृष्यन्ते नातस्त्वमसि नो महान् ॥ १ ॥**

अतिशय गुणों से युक्त भगवान् की स्तुति करने के इच्छुक श्री समंतभद्रस्वामी स्वयं अपनी श्रद्धा और गुणजता लक्षण प्रयोजन से ही इस देवागम स्तव में आप्त की मीमांसा करते हुये भगवान् से प्रणोत्तर करते हुये के समान ही कहते हैं । अर्थात् मानो भगवान् यहाँ प्रश्न कर रहे हैं कि हे समंतभद्र ! मुझमें देवों का आगमन, चमर, छत्रादि अनेकों विभूतियाँ हैं फिर भी तुम मुझे नमस्कार क्यों नहीं करते हो ? तब उत्तर में स्वामी जी कहते हैं कि ‘हे भगवन् ! आपके जन्म कल्याणक आदिकों में देव, अक्रवर्ती आदि का आगमन, आकाश में गमन, छत्र, चमर, पुष्पवृष्टि आदि विभूतियाँ देखी जाती हैं किंतु ये विभूतियाँ तो मायावी जनों में भी हो सकती हैं अतएव आप हमारे लिये महान्-पूज्य नहीं हैं ।

इस पर भगवान् मानों पुनः प्रश्न करते हैं कि हे समंतभद्र ! बाह्य विभूतियों से तुमने हमें नमस्कार नहीं किया तो न सही किन्तु मस्करी आदि में असंभवी ऐसे अंतरंग में पसीना आदि का न होना एवं बहिरंग में जो गंधोदक वृष्टि आदि महोदय हैं जो कि दिव्य और सत्य हैं वे मुझ में हैं अतः आप मेरी स्तुति करिये । इस पर श्रीसमंतभद्रस्वामी कहते हैं कि अंतरंग और बहिरंग शरीरादि के महोदय भी रागादिमान् देवों में पाये जाते हैं अतः

इनसे भी आप महान् नहीं हैं अर्थात् देवों के शरीर में भी पसीना मलमूत्रादि नहीं हैं उनके यहाँ भी गंधोदक वृष्टि आदि वैभव होते हैं अतः इन महोदय से भी आप हमारे पूज्य नहीं हैं ।

मानों पुनः भगवान् कहते हैं कि हे समंनभद्र ! रागादिमान् देवों में भी असंभवी ऐसे तीर्थकृत संप्रदाय को चलाने वाला 'मैं तीर्थकर हूँ' अतः मैं अवश्य ही तुम्हारे द्वारा स्तुति करने के योग्य हूँ । इस पर श्रीसमंतभद्रस्वामी प्रत्युत्तर देते हुये के समान कहते हैं कि हे भगवन् ! आगमरूप तीर्थ को करने वाले सभी तीर्थकरों के आगमों में परस्पर में विरोध पाया जाता है अतः सभी तो आप्त हो नहीं सकते अर्थात् बुद्ध, कपिल, ईश्वर आदि सभी ने अपने-अपने आगमों को रचकर अपना-अपना तीर्थ चलाकर अपने को तीर्थकर माना है किंतु सभी के आगम में परस्पर में विरोध होने से सभी सच्चे आप्त नहीं हो सकते हैं इसलिये इन सभी में कोई एक ही परमात्मा-सत्त्वा आप्त हो सकता है ऐसा अर्थ ध्वनित कर देते हैं इस कारिका की अष्टसहस्री टीका में श्री विद्यानंद महोदय ने बहुत ही विस्तार से सभी संप्रदायों का परस्पर में विरोध दर्शाया है ।

अन्य संप्रदायों में वेदों को प्रमाण मानने वाले वैदिक संप्रदायी हैं । उनमें मीमांसक, वैशेषिक, नैयायिक एवं सांख्य वैदिक कहलाते हैं और चार्वाक, बौद्ध आदि वेद को नहीं मानने वाले अवैदिक कहलाते हैं । आजकल कुछ लोग वेद के मानने वालों को आस्तिक एवं नहीं मानने वालों को नास्तिक कहते हैं और उसमें जैन को भी नास्तिक में लिया है क्योंकि जैन भी वेदों को प्रमाणीक नहीं मानते हैं । किन्तु वास्तव में ऐसी बात नहीं है जो आत्मा, मोक्ष, परलोक आदि के अस्तित्व को मानते हैं वे आस्तिक एवं आत्मा आदि के अस्तित्व को न मानने वाले नास्तिक कहलाते हैं अतः चार्वाक और शून्यवादी नास्तिक हैं बाकी सभी आस्तिक की कोटि में आ जाते हैं । अस्तु ! सभी के संप्रदायों के परस्पर विरोध का यहाँ किंचित् दिग्दर्शन कराते हैं ।

**चार्वाक—**पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु इन चार जड़ तत्त्वों को ही मानता है । उसका कहना है कि इन्हीं भूतचतुष्टयों के मिलने से संसार बना है और इन्हीं भूतचतुष्टयों से आत्मा की उत्पत्ति होती है । ये चार्वाक परलोक गमन, पुण्यपाप का फल आदि नहीं मानते हैं । वेदांती एक ब्रह्मरूप ही तत्त्व स्वीकार करते हैं, उनका कहना है कि एक परम ब्रह्म ही तत्त्व है संपूर्ण विश्व में जो चेतन अचेतन पदार्थ दिख रहे हैं हम और आप सभी उस एक पर-ब्रह्म की ही पर्यायें हैं यह चर-अचर जगत् मात्र अविद्या का ही विलास है इत्यादि । बड़े आश्चर्य की बात है कि एक कोई जड़ से चैतन्य की उत्पत्ति मान रहा है तो दूसरा चैतन्य ब्रह्म से अचेतनों की उत्पत्ति मान रहा है । दोनों में सर्वथा परस्पर विरोध है ।

ऐसे ही बौद्ध सभी वस्तुओं को क्षणिक मानते हैं उनका कहना है कि एक क्षण के बाद सभी वस्तुयें जड़ मूल से नष्ट हो जाती हैं जो उनका ठहरना द्वितीय आदि क्षणों में दिख रहा है वह सब कल्पना मात्र है वासना से ही ऐसा अनुभव आता है । इधर सांख्य कहता है कि सभी वस्तुयें सर्वथा नित्य ही हैं कोई वस्तु नष्ट नहीं होती है किंतु तिरोभूत हो जाती है एवं उत्पत्ति भी नहीं है वस्तु का आविर्भाव ही होता है । मिट्टी से घट बनता नहीं है बल्कि मिट्टी में घट सदा विद्यमान है कुम्हार के प्रयोग से प्रगट हो गया है इत्यादि । इन दोनों में भी सर्वथा रूढ़ का आंकड़ा है ।

वैशेषिक एक सदाशिव महेश्वर को मानकर उसे सृष्टि का कर्ता मानते हैं तो मीमांसक सर्वज्ञ के अस्तित्व को न मानकर वेद वाक्यों से ही सम्पूर्ण सूक्ष्मादि अतीन्द्रिय पदार्थों का जानना मानते हैं । वेद को प्रमाण मानने वालों

में भी उन वेद वाक्यों को पृथक्-पृथक् अर्थ करके कई लोग आपस में विसंवाद करते हैं। भाट्ट, वेद वाक्यों का अर्थ भावना करते हैं। प्रभाकर उन्हीं वाक्यों का अर्थ नियोग करते हैं और वेदान्ती उन्हीं वाक्यों से ब्रह्मवाद को पुष्ट करते हैं।

अतएव श्रीसमंतभद्रस्वामी कहते हैं कि सभी के सम्प्रदायों में परस्पर में विरोध होने से सभी आप्त नहीं हो सकते हैं किन्तु कोई एक ही आप्त-सच्चा देव हो सकता है। पुनः मानों भगवान् यह प्रश्न करते हैं कि सच्चे आप्त में आप क्या गुण चाहते हैं? तो समंतभद्रस्वामी कहते हैं कि वह सर्वज्ञ होना चाहिये। सूक्ष्म-परमाणु आदि, अंतरित-रामरावण आदि और दूरवर्ती-हिमवन सुमेरु आदि पदार्थ अनुमान ज्ञान से जाने जाते हैं जैसे कहीं पर धुयेँ को देखकर अग्नि का अनुमान लगाया जाता है तो वह अग्नि किसी न किसी के प्रत्यक्ष अवश्य है और जिनके ये सूक्ष्मादि पदार्थ प्रत्यक्ष होते हैं वे ही सर्वज्ञ हैं। पुनः प्रश्न होता है कि हम सभी संसारी प्राणी अल्पज्ञ हैं तो सर्वज्ञ कैसे बन सकते हैं? इस पर आचार्य कहते हैं कि दोष और आवरणों का अभाव किसी न किसी जीव में सम्पूर्ण रूप से हो सकता है क्योंकि हम लोगों में दोष-रागादि भाव और आवरण-कर्मों की तरलता देखी जाती है किन्हीं में रागादि दोष कम हैं किन्हीं में उससे भी कम हैं। इससे यह अनुमान समता है कि किसी जीव में ये दोषादि सर्वथा भी नष्ट हो सकते हैं जैसे कि अपने निमित्तों से स्वर्ण पाषाण से किट्ट और कालिमा का सर्वथा अभाव हो जाता है और स्वर्ण शुद्ध हो जाता है।

**प्रश्न—दोष और आवरण में क्या अन्तर है?**

**उत्तर—**कर्म के उदय से होने वाले जीव के राग-द्वेष, अज्ञान आदि परिणाम दोष कहलाते हैं इन्हें भाव कर्म भी कहते हैं। ज्ञानावरण आदि पौद्गलिक कर्म आवरण कहलाते हैं इन्हें द्रव्य कर्म कहते हैं। इन दोनों में परस्पर में कार्य कारण भाव निश्चित है जैसे बीज से अंकुर एवं अंकुर से बीज की परम्परा अनादिकाल से चली आ रही है उसी प्रकार से दोष से आवरण और आवरण से दोष होते रहते हैं।

**बौद्ध—**अज्ञानादि दोष स्वपरिणाम के निमित्त से ही होते हैं। इसमें आवरण (कर्म का उदय) कुछ भी नहीं कर सकता है।

**जैनाचार्य—**ऐसा नहीं है। यदि दोषों को स्वनिमित्तक ही मानोगे तो इनका कभी अभाव नहीं हो सकेगा पुनः इसके नाश के बिना मोक्ष होना भी असंभव हो जावेगा। जैसे जीव के जीवत्व आदि भाव स्वनिमित्तक होने से कभी भी नष्ट नहीं होते हैं। इसलिये दोषों को आवरण निमित्तक मानना ही चाहिये।

**सांख्य—**अज्ञान आदि दोष परनिमित्तक ही हैं क्योंकि ये स्वयं प्रधान-प्रकृति—जड़ के परिणाम हैं, आत्मा के नहीं।

**जैनाचार्य—**ये दोष सर्वथा पर पुद्गल के निमित्त से ही हों ऐसी बात नहीं है अन्यथा मुक्त जीवों में भी इनका प्रसंग आ जावेगा, क्योंकि पुद्गल वर्गणार्थ तो वहाँ भी मौजूद है किन्तु ऐसा नहीं देखा जाता है। उन सिद्धों में अज्ञान आदि दोष के न होने से केवल पुद्गल के निमित्त से वहाँ पर कर्मबंध नहीं होता है। निष्कर्ष यह निकलता है कि राग-द्वेष आदि से कर्मबंध होता है। और कर्म के उदय से दोष होते हैं। जैसे—ज्ञानावरण कर्म के उदय से जीव में अज्ञान, दर्शनावरण के उदय से अदर्शन, दर्शनमोहनीय के उदय से मिथ्यात्व, चारित्र-मोहनीय के उदय से अचारित्र आदि दोष होते हैं। वैसे ही प्रदोष, निन्हव, मात्सर्य, अंतराय आदि भावों के

निमित्त से ज्ञानावरण, दर्शनावरण कर्म का आश्रय होता है। केवली, श्रुत, संघ, धर्म आदि को झूठा दोष लगाने से दर्शन मोहनीय का, एवं कषायों की तीव्रता से चारित्र्य मोहनीय का आश्रय होकर बंध होता है। इस प्रकार से भाव कर्म के लिये निमित्त कारण द्रव्य कर्म हैं एवं द्रव्य कर्म के लिये निमित्त कारण भावकर्म हैं ऐसा निश्चय हो जाता है। जो लोग ऐसा समझते हैं कि 'मेरी भूल से ही संसार है कर्म का उदय मेरा कुछ बिगाड़ नहीं सकता', उन्हें अपनी एकांत मान्यता को हटा देना चाहिए।

**प्रश्न—**जैसे किसी जीव में दोष और आवरण का पूर्णतया नाश हो सकता है ऐसे ही किसी जीव में वृद्धि-ज्ञान का भी पूर्णतया नाश मान लेना चाहिये ?

**उत्तर—**ठीक है, हम स्याद्वादी हैं। किसी जीव ने पृथ्वीकाय आदि को शरीररूप से ग्रहण करके छोड़ दिया, अतः उन पाषाण, मिट्टी आदि में चैतन्य-ज्ञान का सर्वथा अभाव हो गया। इससे यह समझना चाहिए कि भस्म लोष्ठ आदि पृथ्वीकाय सर्वथा अजीव हैं। पृथ्वीकायिक में ही जीव विद्यमान रहता है। दूसरी बात यह है कि मति, श्रुत आदि रूप अयोपशम ज्ञान का अभाव हो जाता है किन्तु पूर्ण—केवलज्ञान का किसी जीव में अभाव होना सम्भव नहीं है क्योंकि ज्ञान यह जीव का स्वाभाविक परिणाम है।

आत्मा के परिणाम दो प्रकार के हैं—स्वाभाविक और आगंतुक। अनंत ज्ञान आदि गुण स्वाभाविक हैं और अज्ञान आदि मल आगंतुक हैं। आगंतुक मिथ्यात्व, राग-द्वेष अज्ञान आदि दोष के प्रतिपक्षी सम्यग्दर्शन आदि गुणों की वृद्धि हो जाने से दोषों का अभाव हो जाता है।

**मीमांसक—**संपूर्ण कर्मों से रहित भी आत्मा, परमाणु, धर्म, अधर्म आदि अतीन्द्रिय पदार्थों को कैसे जानेगा ? इनका ज्ञान तो वेद वाक्यों से ही होता है अतः विश्व में कोई सर्वज्ञ नहीं हो सकता है।

**जनाचार्य—**सूक्ष्म परमाणु आदि और राम-रावण, सुमेरु आदि पदार्थ किसी के प्रत्यक्ष अवश्य हैं, क्योंकि वे अनुमान ज्ञान के विषय हैं। सर्वज्ञ भगवान् अतीन्द्रिय ज्ञान से ही सूक्ष्मादि पदार्थों को जानते हैं, इन्द्रिय ज्ञान से नहीं। क्योंकि इन्द्रियाँ तो वर्तमान और नियत पदार्थ को ही विषय करती हैं भूत, भविष्यत् के अनंत पदार्थों को नहीं। वेद-वाक्यों से सूक्ष्मादि पदार्थों को ज्ञान मानने में तो सबसे पहले वेद को सर्वज्ञ का वाक्य कहना होगा अन्यथा हम आप जैसे अल्पज्ञ का कथन निर्दोष नहीं हो सकेगा। 'वेद का कर्ता कोई नहीं है' इसका खंडन समया-नुसार किया जावेगा।

अतः कोई न कोई कर्म मल कलंक रहित अकलंक आत्मा सर्वज्ञ, सर्वदर्शी है, वही निर्दोष है यह बात सिद्ध हो जाती है। अब वह निर्दोष, सर्वज्ञ आत्मा कौन हो सकता है ? इस बात को सिद्ध कर रहे हैं।  
**वे निर्दोष सर्वज्ञ आप ही हैं**

**आचार्य—**कोई तीर्थंकर प्रमाण नहीं है न कोई आगम है न वेद हैं अथवा न कोई तर्क अनुमान ही है बस एक प्रत्यक्ष ही प्रमाण है। पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु इन भूत चतुष्टय से ही चैतन्य की उत्पत्ति होती है।

**जनाचार्य—**यह बात ठीक नहीं है, देखिये ! यदि आप प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानते हैं तब तो कोई भी प्रत्यक्ष से सर्वज्ञ के अभाव को सिद्ध नहीं कर सकते हैं। अच्छा ! आप पहले इन्द्रिय प्रत्यक्ष से सारे विश्व में धूम-कर देख लो कि कहीं भी सर्वज्ञ तीर्थंकर नहीं है तभी आपका कहना सत्य होगा और यदि आपने सारे विश्व को देख लिया, जान लिया तब तो आप स्वयं ही सर्वज्ञ बन गये क्योंकि 'सर्व ज्ञानातीति सर्वज्ञः' जो सभी को जानता है वही सर्वज्ञ है।



तत्त्वोपप्लववादी—सभी प्रमाण प्रमेय उपप्लुत ही हैं अर्थात् अभावरूप ही हैं । इसलिये सर्वज्ञ कोई है ही नहीं ।

जंनाचार्य—आप सभी प्रमाण—ज्ञान, प्रमेय-जीवादि वस्तुओं का अभाव मानते हैं तब आप अपना और अपनी मान्यता—शून्यवाद का अस्तित्व स्वीकार करते हैं या नहीं ? यदि करते हैं तब तो सर्वथा शून्यवाद नहीं रहा । यदि अपना तथा अपनी मान्यता का भी अस्तित्व स्वीकार नहीं करते हैं तब तो आपका कथन भी अस्तित्व रहित होने से कैसे माना जायेगा ? जैसे कि आकाश का कमल नहीं माना जा सकता है ।

बात यह है—मीमांसक, चार्वाक और तत्त्वोपप्लववादी ये तीनों सर्वज्ञ को मानते ही नहीं हैं । बौद्ध, सांख्य, वैशेषिक और ब्रह्मवादी ये लोग सर्वज्ञ को तो मानते हैं किन्तु उनकी मान्यतायें गलत हैं इस बात का स्पष्टीकरण आगे समझानुसार होगा । हे भगवन् ! जो आत्मा कर्ममल रहित निर्दोष और सर्वज्ञ है वह आप ही हैं क्योंकि आपके वचन युक्ति और शास्त्र से अविरोधी हैं । वह आपका अविरोज इष्ट—शासन, प्रसिद्ध—प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से बाधित नहीं होता है । अर्थात् घातिया कर्मों के नष्ट हो जाने से बीतरागता, सर्वज्ञता और हितोपदेशिता ये तीन गुण आप अर्हत में ही घटित होते हैं अन्यत्र किसी में घटित नहीं होते हैं, इसलिये आप अर्हत ही निर्दोष सर्वज्ञ हैं क्योंकि आपके वचनों में किसी प्रकार का विरोध न होने से आपका मत बाधा रहित सर्व प्राणी को हितकर है । और आपके शासन में संसार और मोक्ष तथा संसार के कारण और मोक्ष के कारण ये चार तत्त्व बाधा रहित हैं । ये चारों बाधा रहित कैसे हैं ?

### मोक्ष की समीक्षा

साहच्य—प्रकृति और पुरुष का भेद ज्ञान हो जाने पर चैतन्यमात्र स्वरूप में आत्मा का अवस्थान हो जाना मोक्ष है । सर्वज्ञता प्रधानजड़ का स्वरूप है आत्मा का नहीं, क्योंकि ज्ञानादि अचेतन हैं । वे प्रकृति के ही स्वरूप हैं ।

जंनाचार्य—यह आपका कथन असंभव है । हमारे यहाँ तो अनन्त ज्ञान, दर्शन, सुख आदि स्वरूप चैतन्य में अवस्थान हो जाने को ही मोक्ष कहा है, क्योंकि ज्ञानादि आत्मा के स्वभाव हैं—जैसे चैतन्य । वे ज्ञानादि आत्मा को छोड़कर अन्यत्र अचेतन में नहीं पाये जाते हैं । ज्ञान से ही आत्मा सुख दुःख का अनुभव करता है । ज्ञान को आत्मा का स्वभाव नहीं मानने पर तो आत्मा का अस्तित्व ही समाप्त हो जायेगा ।

वैशेषिक—बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म और संस्कार इन नव विशेष गुणों का नाश ही जाना ही मोक्ष है क्योंकि बुद्धि आदि आत्मा के स्वभाव नहीं हैं आत्मा से भिन्न हैं ।

जंनाचार्य—यदि मुक्ति में बुद्धि-ज्ञान और सुख का ही विनाश माना जायेगा तब मुक्ति के लिये भला कौन बुद्धिमान प्रयत्न करेगा ?

ज्ञान आत्मा से सर्वथा भिन्न नहीं हैं कर्ता और करण की अपेक्षा से कथंचित् ही भिन्न है । हाँ, इतनी बात अवश्य है कि आयोपशमिक ज्ञान और साता वेदनीयजन्य सुख का तो हम लोग भी मुक्ति में विनाश मान लेते हैं किन्तु धार्मिक पूर्णज्ञान और अतीव्रिय अव्याबाध सुख का तो मोक्ष में अभाव नहीं है प्रत्युत ज्ञान और सुख की पूर्णता के लिये ही मोक्ष के लिये प्रयत्न किया जाता है ।

वेदांतवादी—मुक्त जीव के अनन्त सुख संवेदनरूप ज्ञान तो है किन्तु उन्हें बाह्य पदार्थ का ज्ञान नहीं है ।

जैनाचार्य—पहले यह बताओ कि मुक्त जीव के इन्द्रियों का अभाव है इसलिये बाह्य पदार्थ का ज्ञान नहीं है या बाह्य पदार्थ का अभाव है इसलिये उनका ज्ञान नहीं है ? यदि बाह्य पदार्थ का अभाव कहो तो सुख का भी अभाव हो जायेगा क्योंकि आप अद्वैतवादियों ने सुख को भी बाह्य पदार्थ ही माना है । यदि इन्द्रिय का अभाव कहो तब तो उन्हें सुख का भी अनुभव कैसे होगा ?

बौद्ध—आत्मरहित चित्तसंतति की उत्पत्ति ही मोक्ष है ।

जैनाचार्य—यह भी ठीक नहीं है क्योंकि ज्ञान क्षणों में अन्वय पाया जाता है । तथा निरन्वय क्षणक्षय (अन्वयरहित क्षण-क्षण में क्षय होने की व्यवस्था) को एकान्त से स्वीकार करने पर आपके द्वारा मान्य मोक्ष की सिद्धि बाधित ही है । इस प्रकार से अन्यमतावसंधियों द्वारा मान्य मोक्ष तत्त्व में बाधा आती है अतः जैनों द्वारा मान्य 'कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः' संपूर्ण कर्मों का आत्मा से पृथक् हो जाना मोक्ष है वहाँ पर अनंत गुणों की सिद्धि हो जाती है ।

### मोक्ष के कारण की समीक्षा—

सांख्य ज्ञानमात्र को ही मोक्ष का कारण मानते हैं । सो भी ठीक नहीं है । क्योंकि सर्वज्ञ भगवान् के साधक अनंतज्ञान की पूर्णता हो जाने पर भी अभातिया कर्मों के शेष रहने से उनका परमौदारिक शरीर पाया जाता है : यदि ज्ञान उत्पन्न होते ही मोक्ष हो जावे तो यहाँ पर सर्वज्ञ का रहना, उपदेश आदि देना नहीं पड़ेगा । तथा यदि एकांत से ज्ञान को ही मोक्ष का कारण मान लिया जावे तो सभी के आगम में दीक्षा आदि बाह्य चारित्र का अनुष्ठान एवं सकल दोषों के अभावरूप अभ्यन्तर चारित्र का जो वर्णन है वह सब व्यर्थ हो जायेगा । किन्तु सभी ने तो दीक्षा ग्रहण, पेरुआ वस्त्र धारण और ध्यान आदि को माना ही है ।

ऐसे ही कोई मात्र सम्यग्दर्शन से या कोई-कोई मात्र चारित्र से-क्रियाकांड से ही मुक्ति मानते हैं । उन सबकी मान्यता गलत है ।

हम जैनों ने तो 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' इस आगम सूत्र से सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनों की एकता को ही मोक्ष माना है और यही मान्यता सुसंगत है इसलिये जैनाचार्य द्वारा मान्य मोक्ष के कारण तत्त्व ठीक ही हैं ।

कोई मोक्ष को अकारणक ही कहते हैं किन्तु यह मान्यता बिल्कुल गलत है क्योंकि अनिमित्तक मोक्ष होने से तो हमेशा ही सभी जीवों को मोक्ष हो जायेगी, पुनः कोई संसारी और दुःखी रहेगा ही नहीं । किन्तु ऐसा तो प्रत्यक्ष से ही बाधित है ।

### संसार की समीक्षा—

सांख्य कहता है कि प्रकृति-जड़ को ही संसार है आत्मा को नहीं हैं, किन्तु ऐसी एकांत मान्यता गलत है । हम देखते हैं कि जड़ के संसर्ग से यह संसारी आत्मा संसार में जन्म, मरण आदि अनेकों दुःखों को उठा रही है । 'संसरणं संसारः' संसरण करना—एक गति से दूसरी गति में गमन करना इसी का नाम संसार है । इसके पंच परिवर्तन की अपेक्षा पांच भेद हैं—द्रव्यसंसार, क्षेत्रसंसार, कालसंसार, भवसंसार और भावसंसार । इन का विवेचन सर्वार्थसिद्धि ग्रन्थ में देखना चाहिये, इसलिये संसार तत्त्व भी सिद्ध ही है ।

### संसार के कारण की समीक्षा—

सांख्यों ने मिथ्याज्ञान मात्र को ही संसार का कारण माना है। सो ठीक नहीं है। क्योंकि मिथ्याज्ञान का अभाव हो जाने पर भी राग आदि दोषों का अभाव न होने से संसार का अभाव नहीं होता है। यह बात स्वयं सांख्यों ने भी मान ली है। हम जैनों को मान्य संसार के कारण आगम में प्रसिद्ध है “मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादक-पाथयोगा बंधहेतवः” मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये पांच बंध के कारण हैं। बंध से ही संसार होता है अतः बंध के कारण ही संसार के कारण माने गये हैं।

किन्हीं का कहना है कि संसार के कारण मिथ्यात्व आदि अनादिकालीन हैं अतः ये निर्हेतुक हैं। किन्तु ऐसी बात नहीं है यद्यपि ये संसार के कारण अनादि हैं फिर भी अहेतुक (अकारणक) नहीं हैं। इनके कारण द्रव्य कर्म मौजूद हैं, तथा द्रव्य कर्म के कारण ये भाव कर्म हैं इन दोनों में परस्पर में कार्य-कारणभाव पाया जाता है। इसीलिये इन मिथ्यात्व आदि कारणों पर सम्बन्धमय आदि कारणों से विनाश भी हो सकता है अन्यथा निर्हेतुक का विनाश होना असम्भव ही हो जाता।

इस प्रकार से आप अर्हन्त भगवान् के शासन में मोक्ष और मोक्ष के कारण तथा संसार और संसार के कारण ये चार तत्त्व अबाधित रूप से सिद्ध हैं अतः आपके वचन युक्ति और शास्त्र से अविरोधी सिद्ध हैं और इसीलिये आप निर्दोष परमात्मा हैं यह बात सिद्ध हो जाती है।

ये छह कारिकाएँ अष्टसहस्री के प्रथम भाग में आई हैं। यहाँ तक उन छह कारिकाओं का अभिप्राय है। आगे सातवीं कारिका से लेकर तेईस कारिका तक इस द्वितीय भाग में हैं। उन्हीं का यहाँ यह सारभूत प्रकरण है—

जिनशासन ही अमृत है—हे भगवन् ! अपने शासनरूपी अमृत से जो बहिर्भूत हैं और “मैं आप्त हूँ” इस प्रकार अभिमान से दग्ध हैं। उन एकांतवादियों का शासन प्रत्यक्षादि प्रमाणों से बाधित है। जैसे कि—सांख्य कहता है कि सुखादि अचेतन हैं क्योंकि वे उत्पन्न होते हैं। किन्तु जैनाचार्य सुख ज्ञान आदि को चैतन्य आत्मा में ही मानते हैं अन्यत्र नहीं और प्रत्येक द्रव्य को उत्पाद व्यय औध्यात्मक मानते हैं। बौद्ध कहता है कि कर्ण आदि परमाणु ही निर्विकल्पज्ञान में झलकते हैं वे ही हैं स्कंध नाम की कोई चीज नहीं है। किन्तु जैनाचार्य कहते हैं कि परमाणु अत्यन्त सूक्ष्म हैं वे सर्वज्ञ के अथवा मनः पर्ययज्ञानी, अवधिज्ञानी के ही ज्ञान का विषय हो सकते हैं अन्य मति, भूतज्ञान के विषय नहीं हो सकते हैं। दो तीन चार से लेकर अनंतानंत परमाणुओं का मिलकर स्कंध बनता है उसमें भी कुछ स्कंध अबाधुष हैं। शब्दादि स्कंध भी दृष्टि के विषय नहीं हैं मात्र चक्षु इंद्रियगम्य स्थूल स्कंध ही अपने ज्ञान में झलकते हैं और ये कल्पनामात्र भी नहीं हैं। चाकि भूतचतुष्टय से चैतन्य की उत्पत्ति मानता है किन्तु चैतन्य तत्त्व अनादि निधन है। ब्रह्माद्वैतवादी एक ब्रह्म से ही चेतन अचेतन की उत्पत्ति मानता है किन्तु सर्वथा चेतन अचेतन द्रव्य अपनी सत्ता को लिये हुये पृथक्-पृथक् ही हैं।

हे नाथ ! नित्य अथवा अनित्य आदि एकांत मान्यताओं के दुराग्रही स्व और पर के बैरी मिथ्यादृष्टि जनों में किसी के यहाँ भी पुण्यपापादि क्रियाएँ एवं परलोक आदि भी सिद्ध नहीं हो सकते हैं।

यदि कोई कहे कि शून्यवादियों ने और अद्वैतवादियों ने तो स्वयं ही पुण्य-पाप परलोक आदि को माना ही नहीं है अन्यथा उनका शून्यवाद नहीं टिकेगा और द्वैतवाद आ जायेगा। आचार्य कहते हैं कि ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि उन लोगों ने भी पुण्य पाप आदि को और परलोक को भी संवृति (कल्पना) से माना है और

अद्वैतवादिमों ने अधिष्ठा से प्रायः सुख-दुःख, पुण्य-पाप और इहलोक-परलोक को स्वीकार किया ही है। किन्तु ये सब एकात्मिकी दुराग्रही हैं अतः हमने यहाँ किसी भी तत्त्व की सिद्धि असम्भव है।

सांख्य सभी तत्त्वों को भावरूप ही मानता है उसके यहाँ अभाव या विनाश नाम की कोई चीज नहीं है उसका कहना है कि मिट्टी में घट विद्यमान है, कुम्हार, दण्ड, चाक आदि निमित्तों से वह घट आविर्भूत हुआ है न कि उत्पन्न। कुम्हार चाक आदि दीपक की तरह सापक निमित्त हैं कारक निमित्त नहीं हैं इत्यादि। आचार्य कहते हैं कि यदि 'अभाव' को नहीं माना जायेगा तो प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, इतरेतराभाव और अत्यंताभाव इन चारों अभावों का लोप हो जायेगा जो कि सर्वथा विरुद्ध है। इन अभावों का लक्षण देखिये—

### प्रागभाव आदि का वर्णन

भावेकान्ते पदार्थानामभावानामप्यन्वयात् । सर्वात्मकताद्यन्तमस्वरूपमतायकम् ॥६॥

सांख्य एकात्म से पदार्थों को भावरूप ही मानता है। इस पर जैनाचार्यों का कहना है कि सभी पदार्थों को भावरूप ही मानने पर तो अभावों का लोप हो जायेगा। अभाव के चार भेद हैं—प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, इतरेतराभाव और अत्यंताभाव। प्रागभाव को नहीं मानने पर तो सभी कार्य अनादि हो जायेंगे। प्रध्वंस धर्म का लोप करने पर सभी अनंत हो जायेंगे। इतरेतराभाव के अभाव में सभी पदार्थ सर्वात्मक हो जायेंगे तथा अत्यंताभाव के न मानने के सभी पदार्थ अस्वरूप—अपने स्वभाव से शून्य हो जायेंगे।

कार्य का उत्पन्न होने के पहले न होना प्रागभाव है। जैसे—घट बनने के पहले मिट्टीरूप कारण में घटरूप कार्य का अभाव है वह प्राक्—पहले अभाव न होना प्रागभाव है। द्रव्य की अपेक्षा प्रागभाव अनादि है और पर्याय की अपेक्षा आदि है। घट बनाने के लिये मिट्टी के पिंड को चाक पर रखकर घुमाया, उसकी स्थास, कौश, कुशूल आदि पर्यायें बनीं उनमें जिस श्रण के बाद ही घट बनने वाला है उस श्रण को ऋजुसूत्र नय की अपेक्षा से प्रागभाव कहते हैं इसके पूर्व-पूर्वपर्यायों को भी प्रागभाव कहते हैं किन्तु अन्तिम श्रण की पर्याय का विनाश होने पर घट बनता है इसलिये प्रागभाव का अभाव होकर घट बनता है। यदि मिट्टी में घट का प्रागभाव न माने तो घटद्रव्य अनादिकाल से मिट्टी में बना रहेगा। प्रागभाव के न मानने पर कार्य—द्रव्य अनादि हो जायेंगे अतः प्रागभाव मानना जरूरी है।

यदि प्रध्वंस को न मानें तो घट आदि कार्यों का कभी भी नाश नहीं होगा पुनः वे अनंत हो जायेंगे किन्तु ऐसा नहीं है। विद्यमान घट में प्रध्वंसाभाव का अभाव करके अर्थात् घट का प्रध्वंस करके कपाल उत्पन्न होते हैं इसलिये प्रध्वंसाभाव भी वास्तविक है।

एक पर्याय का दूसरी पर्याय में न होना इतरेतराभाव है जैसे—पुद्गल की पुस्तक पर्याय में चीकी पर्याय का अभाव है, जीव की मनुष्य पर्याय में देव पर्याय का अभाव है। यदि इस इतरेतराभाव को न माना जाये तो एक मनुष्य पर्याय में देव, नारक आदि पर्यायें आ जायेंगी। पुनः सभी पदार्थ सभी स्वरूप हो जायेंगे अतः इतरेतराभाव भी मान्य है।

एक द्रव्य में दूसरे द्रव्य का अभाव अत्यंताभाव है। जैसे—जीव द्रव्य पुद्गलरूप नहीं होता है, पुद्गल जीवरूप नहीं होता है, सांख्यमत बौद्ध आदि मतरूप नहीं होता है इत्यादि रूप से यदि अत्यंताभाव को नहीं मानेंगे तो भी वस्तुओं पर स्वभाव के मिश्रण हो जाने से अपने स्वभाव से शून्य हो जायेंगी तो वे अवस्तु हो जायेंगी अतः यह आवश्यक है

साधार्थ—जिसके अभाव में नियम से कार्य की उत्पत्ति होवे वह प्रागभाव है। जिसके होने

पर नियम से कार्य का विनाश होवे वह प्रध्वंस है। जिसके सद्भाव में दूसरी अनंतों पर्यायों का अभाव रहे वह इतरेतरा भाव है। घट-पट का परस्पर में इतरेतराभाव है। मित्र-भित्र द्वय में अत्यंताभाव है। जीव स्वरूप से अस्तित्वरूप होकर भी पुद्गलादि से अभावरूप हैं। क्योंकि सभी पदार्थ स्वरूप से भावरूप और पररूप से अभावरूप लक्षणवाले ही हैं।

मीमांसक शब्द को नित्य मानता है अतः उसमें प्रागभाव नहीं मानता है। किन्तु जैनाचार्यों ने शब्द को पौद्गलिक शब्द वर्णारूप होने से नित्य माना है और पर्याय की दृष्टि से अनित्य माना है। इसलिये शब्द में प्रागभाव घटित है वक्ता के तालु आदि प्रयत्न से शब्द उत्पन्न होते हैं और विनष्ट भी होते हैं।

नैयायिक अभाव को सर्वथा तुच्छाभावरूप ही मानता है किन्तु जैनाचार्य अभाव को भावांतररूप मानते हैं। जैसे—'अजैनः' कहने से जैन के वजाय और किसी धर्म वाले व्यक्ति का बोध होता है न कि सर्वथा अभाव का। दीपक के बुझने पर प्रकाश का अभाव हुआ मतलब छाया का सद्भाव हुआ। प्रकाश और छाया दोनों पुद्गल की ही पर्यायें हैं। अतः जैनाचार्यों द्वारा मान्य अभाव भावान्तर—भिन्न भावरूप ही है।

### शब्द मूर्तिक हैं

नैयायिक शब्द को अमूर्तिक आकाश का गुण अमूर्तिक ही मानता है उसका कहना है कि—“शब्द पुद्गल का स्वभाव नहीं है क्योंकि उसका स्पर्श नहीं पाया जाता है सुखादि के समान”। यदि शब्द को पुद्गल की पर्याय मानोगे तब तो उनका चक्षु से देखना, मर्दादि का उत्सर्जन कर आगे भी फैलना, बिखरना, कर्ण में भर जाना, एक ही श्रोत्रेन्द्रिय में प्रवेश हो जाना आदि अनेक दोष आते हैं। शब्द तो निश्चिद्र महल के भीतर से निकल जाते हैं एवं आन्तर में बाहर से आकर प्रवेश कर जाते हैं, व्यवधान का भेदन भी नहीं करते हैं अतएव वे पौद्गलिक नहीं हैं।

इस पर जैनाचार्य कहते हैं कि शब्द पुद्गल की ही पर्याय हैं अतः मूर्तिक ही हैं, स्पर्श रस गंध वर्ण से सहित हैं क्योंकि “स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः पुद्गलाः” यह सूत्र है। बहुत से पुद्गल स्कंध भी ऐसे अचाक्षुष हैं जिनका स्पर्श आदि व्यक्त नहीं है एतावता उनको अमूर्तिक नहीं कह सकते, न उनका अभाव ही कर सकते हैं तथा शब्द से प्रतिघात भी देखा जाता है। कोई मोटी एवं कड़ी पूड़ी आदि खा रहा है उसके कड़-कड़ शब्दों से प्रायः प्रतिघात देखा जाता है जैसे—कोई पुरुष उच्चध्वनि से पाठ कर रहा है और दूसरा धीरे-धीरे बोल रहा है तो उसकी ध्वनि दब जाती है अतः शब्द का स्पर्श नहीं मानना गलत है।

जो आपने ‘चक्षु आदि से दिखना चाहिए’ इत्यादि दोष दिये हैं वे सभी दोष गंध परमाणुओं में भी मानने पड़ेंगे। क्योंकि गंध परमाणु भी पुद्गल की पर्याय हैं वे भी नहीं दीखते हैं यदि आप कहें कि गंध परमाणु अदृश्य हैं अतः चक्षु इन्द्रिय से नहीं देखे जाते हैं पुनः शब्दों को भी तथैव मानों क्या बाधा है? पवन से घेरित होने पर उन शब्दों का विस्तृत होना आदि मानों तो गंध परमाणु में भी मानना पड़ेगा। भित्ति आदि से परमाणुओं का प्रतिघात प्रसिद्ध है तथैव शब्दों का भी प्रतिघात प्रसिद्ध है। जो आपने कहा कि स्कंधरूप से परिणत मूर्तिमान शब्द परमाणुओं के द्वारा श्रोता का कान पूर्णतया भर जायेगा एवं पौद्गलिक शब्द एक ही श्रोता के कान में प्रविष्ट हो जावेंगे पुनः उसी योग्य देश में स्थित अन्य श्रोताओं को कुछ भी शब्द सुनाई नहीं पड़ेंगे इत्यादि दोष तो आपके गंध परमाणुओं में भी आ जावेंगे। वे भी गन्ध परमाणु नाक में भर जावेंगे तो स्वास लेना ही कठिन हो जावेगा एवं वे नाक में भी धूस जावेंगे तो अन्य किसी सूँघने वाले को कुछ भी गन्ध नहीं आ सकेगी इस पर नैयायिक ने कहा कि हमारे यहाँ ऐसा माना है कि सदृश परिणाम वाले गन्ध परमाणु सब तरफ फैल जाते हैं अतः उक्त दोष नहीं आते हैं। यदि समान परिणाम वाले गंध परमाणु सब तरफ फैल जाते हैं अतः उक्त दोष नहीं आते हैं तब तो समान परिणाम वाले शब्द परमाणु भी नाना दिशाओं में फैल जाते हैं अतः एक श्रोता को ही सुनाई देवें इत्यादि दोष नहीं आते हैं।

यदि आप कहें कि गंध परमाणुओं के ज्ञान विशेष की अन्यथानुपपत्ति होने से निश्चय हो जाता है उसमें भाग्य की कल्पना नहीं है किन्तु शब्द के आगमन में भाग्य की कल्पना कीजिए ।

इस पर आचार्यों का कहना है कि—श्रोताओं के जिन-जिन श्रुतज्ञानावरण रूप शब्दावरण का लयोपशम होता है उसी प्रकार से उपलब्धि योग्य परिणाम विशेष के होने से उन-उन ही अक्षरों का सुनना होता है ।

जो आपने कहा कि निश्छिद्र महसूस से निकलना आदि होने से शब्द पुद्गल नहीं हैं सो भी ठीक नहीं है क्योंकि छिद्ररहित भवन से निकलना एवं प्रविष्ट होना पुद्गल में विबद्ध नहीं है क्योंकि वे शब्द पुद्गल सूक्ष्म स्वभाव वाले हैं जैसे तेल, घी आदि चिकने पदार्थ निश्छिद्र घड़े से बाहर निकलकर घड़े को चिकना कर देते हैं एवं उष्ण, शीत, स्पर्श आदि निश्छिद्र घड़े में प्रविष्ट होकर उसकी आभ्यंतर की वस्तु गर्म या ठंडी कर देते हैं यह बात सर्वजन सुप्रसिद्ध है । तत्त्वार्थसूत्र में “शब्दव्यंशसौक्ष्मस्थूल्यसंस्थानभेदतमग्रायातपोद्योतवंतश्च” इस सूत्र में शब्द को पुद्गल की पर्याय सिद्ध किया है । अतः शब्द वाकाश का गुण नहीं है और न अमूर्तिक ही है ऐसा समझना चाहिये । यही कारण है कि आजकल शब्दों को टेप रिकार्डर में भर लेते हैं, रेडियो, टेलीफोन आदि द्वारा हजारों मील दूर पहुँचा देते हैं । यह सब पौद्गलिक शक्ति का ही विकास हो रहा है । इन सभी आविष्कारों से भी शब्द पौद्गलिक और मूर्तिक सिद्ध हो रहे हैं । अष्टसहस्रीकार आचार्यवर्य श्रीविद्यानन्द महोदय ने ग्रन्थ के प्रथम अध्याय में भावैकीत का खंडन किया है अर्थात् जो सांख्य आदि सभी पदार्थों को सर्वथा सद्भावरूप ही स्वीकार करते हैं उनका खंडन करके प्रागभाव आदि चार प्रकार के अभावों को सिद्ध किया है । आगे जो लोग सभी पदार्थों को अभावरूप ही मानते हैं उनका निरसन कर रहे हैं—

बौद्धों के यहाँ साध्यात्मिक नाम का एक भेद है । वे लोग सभी जगत् को सर्वथा शून्यरूप ही मानते हैं । उनका कहना है कि ‘यह जगत् सर्वथा शून्यरूप ही है जो कुछ भी प्रतिभास हो रहा है वह असत्य है । जो चेतन अचेतन तत्त्व दिख रहे हैं वे संवृति—कल्पनारूप हैं । एवं शून्यवाद को सिद्ध करने में जो आगम, अनुमान आदि प्रमाण हैं वे भी काल्पनिक हैं ।’

इस पर जैनाचार्य प्रश्न करते हैं कि आप बौद्धों के यहाँ वह ‘संवृति क्या चीज है ? यदि कहो कि संवृति का अर्थ है अपने स्वरूप से होना’ तब तो हमने भी सभी वस्तुओं का स्वरूप से अस्तित्व माना है । यदि कहो कि ‘संवृति—पररूप से न होना’ यह अर्थ है तो यह भी हमारे अनुकूल ही है क्योंकि हम लोग भी वस्तु में पररूप से नास्तिक धर्म मानते हैं । यदि कहो कि ‘विचारों का न होना संवृति है’ तब तो शून्य के साधक वाक्य भी कैसे बनेंगे ? अतः बड़े आश्चर्य की बात है कि दिग्गजाचार्य आदि आज भी इस शून्यवाद को सिद्ध करने में लगे हुए हैं इसमें उनके मोहनीय कर्म के तीव्र उदय के सिवा और कोई भी कारण नहीं हो सकता है । क्योंकि जब सर्वथा शून्यवाद ही है तब आपके बुद्ध भगवान्, आगम आदि भी कैसे सिद्ध हो सकेंगे ?

**बौद्ध—**वास्तव में हमारे यहाँ बुद्ध भगवान् और आगम आदि सभी विभ्रम रूप ही हैं । ये सभी संवृति से ही मान्य हैं अर्थात् काल्पनिक हैं ।

**जैन—**तब तो प्रश्न यह होता है कि इस विभ्रम में विभ्रम है या अविभ्रम ? यदि विभ्रम में अविभ्रम है तो सभी विभ्रम रूप नहीं रहे । और यदि विभ्रम में भी विभ्रम है, तो विभ्रम कैसे रहेगा ? अपितु विभ्रम में विभ्रम के हो जाने से अविभ्रम-सत्य ही सिद्ध हो जायेगा । इसलिये सर्वथा नैरात्म्यवाद श्रेयस्कर नहीं है क्योंकि उसके मानने वाले तो सबसे पहले अपना, अपने भगवान् का और सभी का ही घात कर लेते हैं ।

कोई-कोई भाट्ट लोग भाव और अभाव इन दोनों को भी मान रहे हैं किन्तु दोनों को परस्पर विरोध मानते हैं। इसलिये उनकी मान्यता भी गलत है। क्योंकि सभी वस्तुएँ स्वरूप के समान पररूप से अस्तिरूप एवं पररूप के समान स्वरूप से नास्तिरूप नहीं हैं। तथा अस्ति धर्म नास्तित्व की एवं नास्ति धर्म अस्तित्व की अपेक्षा रखता है। इसलिये 'उभयैकात्म्य' भी गलत है।

कोई बौद्ध लोग वस्तु को सर्वथा सत् असत् धर्म से रहित होने से अवक्तव्य मानते हैं। उनका कहना है कि प्रत्येक वस्तु सर्वथा 'अवाच्य' है क्योंकि शब्दों से उसका कथन नहीं किया जा सकता है। किन्तु यह एकांत भी श्रेयस्कर नहीं है। जैनाचार्य वस्तु को सत् रूप—भावरूप भी मानते हैं, असत्—अभावरूप भी मानते हैं, भावाभाव—उभयात्मक भी मानते हैं तथा अवक्तव्य—अवाच्य भी मानते हैं। सो कैसे ?

### भावाभावद्यनेकांत सिद्धि

हे भगवन् ! आपके शासन में सभी वस्तुएँ कथंचित् भाव—अस्ति—सत् रूप है और ये ही सभी वस्तुएँ कथंचित् अभाव—नास्ति—असत् रूप हैं, कथंचित् उभय आदि सप्त भंगरूप से प्रतिष्ठित हैं। यथा—

“प्रश्नवशादेकत्र वस्तुन्यविरोधेन विधिप्रतिषेधकल्पना सप्तभंगी” प्रश्न के निमित्त से एक ही वस्तु में अविरोधरूप से विधि और निषेध की कल्पना सप्तभंगी कहलाती है।

यहाँ इस सप्तभंगी को जीव द्रव्य में घटित करते हैं—

१. स्यात् जीवद्रव्य अस्तिरूप है २. स्यात् जीवद्रव्य नास्तिरूप है ३. स्यात् जीवद्रव्य अस्ति नास्ति रूप है ४. स्यात् जीवद्रव्य अवक्तव्य है ५. स्यात् जीवद्रव्य अस्ति अवक्तव्य है ६. स्यात् जीवद्रव्य नास्ति अवक्तव्य है ७. स्यात् जीवद्रव्य अस्तिनास्ति अवक्तव्य है।

यहाँ पर अस्तित्वादि एकांत का निषेधक और अनेकांत का द्योतक 'कथंचित्' इस अपरनाम वाला 'स्यात्' शब्द बहुत ही महत्वशाली है, उसी का स्पष्टीकरण—

प्रथम भंग में जीवद्रव्य स्वद्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा से अस्तिरूप है। द्वितीय भंग में वही जीवद्रव्य पर अजीवादि के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा से नास्तिरूप है अर्थात् जीवद्रव्य में पर—अजीव का अस्तित्व नहीं है। वही जीवद्रव्य क्रम से स्व और पर दोनों की अपेक्षा करने से अस्ति-नास्तिरूप है। वही जीव द्रव्य युगपत् दोनों धर्मों को न कह सकने से अवक्तव्य—अवाच्यरूप है। वही जीवद्रव्य स्व चतुष्टय से तथा युगपत् स्वपर चतुष्टय से विवक्षित करने से 'अस्ति अवक्तव्य' इस पाँचवें भंगरूप है। वही जीवद्रव्य पर चतुष्टय तथा युगपत् स्वपर चतुष्टय की अपेक्षा से नास्ति अवक्तव्यरूप है। वही जीवद्रव्य स्वपर चतुष्टय की क्रम और युगपत् अपेक्षा रखने से 'अस्तिनास्ति-अवक्तव्य' इस सातवें भंग रूप है।

यह कथन बिल्कुल ही ठीक है क्योंकि प्रत्येक वस्तुएँ स्वरूप से सत् रूप एवं पररूप से असत्—अभावरूप हैं। तथा अस्ति धर्म नास्तित्व का अविनाभावी है वैसे ही नास्ति धर्म अस्तित्व के बिना नहीं रह सकता है। जब प्रथम भंग में भाव प्रधान रहता है तब शेष छहों भंग गौण हो जाते हैं एवं जब द्वितीय भंग का अभाव धर्म प्रधान रहता है तब भी शेष छह भंग गौण हो जाते हैं। इस प्रकार से “अपितानपितसिद्धेः” सूत्र के अनुसार अपित—विवक्षित धर्म प्रधान रहता है। तथा अनपित—अविवक्षित धर्म गौण रहता है सभी वस्तु तत्त्व की सिद्धि होती है। जैसे जीव का जब नित्य धर्म प्रधान किया जाता है तब अनित्य धर्म नष्ट न होकर गौण हो जाता है एवं जब अनित्य धर्म

विवक्षित—कहा जाता है तब नित्य धर्म अविवक्षित—गौण हो जाता है। ये अस्ति-नास्ति, नित्य-अनित्य आदि धर्म यद्यपि परस्पर विरोधी दिखते हैं लेकिन प्रत्येक वस्तु में पाये ही जाते हैं।

प्रश्न—एक वस्तु में प्रत्यक्षादि से विरुद्ध भी विधि प्रतिषेध कल्पना कर लेना चाहिये ?

उत्तर—नहीं, क्योंकि सूत्र में 'अविरोधेन' पद है जिसका अर्थ है प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम आदि से अविरोद्ध धर्मों में ही सप्तभंगी घटित करना।

प्रश्न—प्रत्येक वस्तु में अनंत धर्म हैं अतः 'अनंतभंगी' हो जावें सात ही भंग क्यों ?

उत्तर—प्रत्येक वस्तु के अनंत धर्मों में से प्रत्येक धर्म में सप्तभंगी घटित होती है, इसलिये अनंतभंगी नहीं होंगी।

'भंग सात ही क्यों ?' शिष्यों के द्वारा उतने ही प्रश्न होते हैं। 'सात ही प्रश्न क्यों ?' तो सात प्रकार की ही जिज्ञासा होती है। 'जिज्ञासा सात प्रकार की ही क्यों ?' तो सात प्रकार का ही संशय होता है। 'संशय सात प्रकार का ही क्यों ?' तो उस संशय के विषयभूत वस्तु के धर्म सात प्रकार के ही हैं। इस प्रकार से सप्तभंगी के सिद्ध वस्तु ही अर्थ क्रियाकारी है। अन्यथा वह वस्तु-अवस्तु-आकाश पुष्पवत् सर्वथा ही अभावरूप हो जायेगी अतः हे भगवन् ! सभी प्रकार के विरोध आदि दोषों से रहित आपका 'स्याद्वाद शासन' जयवंत होवे।

## अष्टसहस्री गण्डराज का महत्त्व

इस अष्टसहस्री ग्रन्थ में श्रीसमंतभद्राचार्य ने दश अध्यायों में मुख्यरूप से दश प्रकार के एकांत का निरसन करके स्याद्वाद की सप्तभंगी प्रक्रिया को घटित किया है। उन एक-एक परिच्छेद में मुख्य-मुख्य एकांतों के खण्डन में उभयैकात्म्य तथा अवाच्य का खण्डन करते हुये "विरोधान्नोभयैकात्म्यं" स्याद्वादव्यायविद्विषाम्। अवाच्यतैकांतोऽप्यु- नितर्नावाच्यमिति युज्यते ॥ इस कारिक को प्रत्येक अध्याय में लिया है अतः यह कारिका दस बार आ गई है।

प्रथम अध्याय में मुख्यता से भावैकांत अभावैकांत का खंडन है पुनः उभयैकात्म्य का खंडन एवं अवाच्य का खण्डन करते हुये "विरोधान्नोभयैकात्म्यं" इत्यादि कारिका दी गई है। पुनः कथंचित् भाव और कथंचित् अभाव को सिद्ध करके सप्तभंगी प्रक्रिया घटित की है तथा इस भाव अभाव के खण्डन में अनेक अन्य विषय भी स्पष्ट किये हैं। द्वितीय अध्याय में एकत्व पृथक्त्व को एकांत से न मानकर प्रत्येक वस्तु कथंचित् एकत्व-पृथक्त्वरूप ही है यह प्रगट किया है। तृतीय परिच्छेद में नित्यानित्य को दिखाया है। चतुर्थ में भेदाभेदात्मक वस्तु को बताया है, पांचवें में कथंचित् आपेक्षिक अनापेक्षिकरूप वस्तु को सिद्ध किया है। पुनः छठे में हेतुवाद और आगम को स्याद्वाद से सिद्ध करके सातवें में अन्तस्तत्त्व-बहिस्तत्त्व का अनेकांत बताया है। आठवें में दैव-पुत्रवार्थ को स्याद्वाद से प्रगट करके नवमें में पुण्य-पाप का अनेकांत उद्योतित किया है। दसवें में ज्ञान-अज्ञान से मोक्ष और बन्ध की व्यवस्था को प्रकाशित किया है तथा स्याद्वाद और नयों का उसम रीति से वर्णन किया है। सातपर्यं यही है कि इस अष्ट-सहस्री ग्रन्थ में जिस रीति से स्याद्वाद का वर्णन प्रत्येक स्थान पर किया गया है वैसे वर्णन अन्यत्र न्याय ग्रन्थों में कहीं पर भी नहीं है। प्रत्येक अध्याय में सप्तभंगी प्रक्रिया बहुत ही अच्छी मालूम पड़ती है। अन्त में आचार्य ने यह बताया है कि मोक्षाभिलाषी मय्य जीवों के लिये यह आप्त मीमांसा—सर्वज्ञ विशेष की परीक्षा की गई है। क्योंकि



मुख्यरूप से मोक्ष ही हितरूप है । और उसकी प्राप्ति के कारणभूत रत्नत्रय भी हितरूप माना गया है अतः सम्यक्त्व और मिथ्यात्व विशेष का ज्ञान कराने के लिये यह आप्त मीमांसा प्रधान ग्रन्थ है क्योंकि सत्य-असत्य तत्त्व का एवं आप्त का पूर्णतया निर्णय हो जाने के बाद ही यह जीव असत्य को छोड़कर सत्य मार्ग का या सत्य-आप्त का आश्रय लेता है । अतः यह अष्टसहस्री ग्रन्थ आर्हत्य लक्ष्मी की प्राप्ति पर्यंत स्वार्थ संपत्ति को सिद्ध करने वाली है इसलिये शास्त्र की आदि में स्तुति किये गये आप्त ही मोक्ष मार्ग के प्रणेता कर्मभूभृद् भेत्ता और विश्व तत्त्वों के ज्ञाता सिद्ध हुये अर्हत भगवान् ही निर्दोष आप्त हैं उन्हीं के गुणों को प्राप्त करने के लिये उन्हें ही नमस्कार करना उचित है अन्य को नहीं । यही कारण है कि—

श्रीसत्त्वध्वजसहस्री श्रुतैः किमन्यैः सहस्रसंख्यतैः । विज्ञायेत ययैव स्वसमयपरसमयसद्भावः ॥

स्वयं श्री विद्यानन्दि आचार्यवर्य ऐसा कहते हैं कि एक अष्टसहस्री ग्रन्थ को ही सुनना चाहिये अन्य हजारों ग्रन्थों के सुनने से क्या प्रयोजन है ? क्योंकि इस एक ग्रन्थ के द्वारा ही स्वसमय अपने स्याद्वाद जैन सिद्धांत और परसमय—पर परिकल्पित अनेक एकांत तत्त्वों को समझ नहीं लेंगे तब तक हम अपना सिद्धांत भी अत्यंत सूक्ष्मतया स्याद्वाद की कसौटी पर कस नहीं सकेंगे और जब तक सप्तभंगी स्याद्वाद प्रक्रिया से हम अपने तत्त्वों को नहीं समझ लेंगे तब तक एकांतवाद के किसी प्रवाह में बहने का डर बना ही रहेगा ।

आगम और तर्क दोनों की कसौटी पर कसा गया तत्त्व ही शुद्ध सत्य सिद्ध होता है अन्यथा नहीं । केवल सिद्धांत अथवा केवल अध्यात्म रूप आगम से जाना गया तत्त्व कदाचित् बेमालूम ही एकांत के गड्ढे में डाल सकता है किन्तु आगम और तर्क दोनों के द्वारा समझा गया तत्त्व सम्यक् श्रद्धान से कथमपि च्युत नहीं कर सकता । श्रीसमंतभद्राचार्यवर्य ने अपनी रचनाओं को भगवान् की स्तुति का रूप देते हुए प्रौढ़तया न्याय के ग्रन्थ रूप बना दिया है यह विशेषता केवल एक समंतभद्रस्वामी में ही थी कि न्यायपूर्ण शब्दों के द्वारा निर्भीकतया भगवान् के साथ भी वार्तालाप करते हुये उन्हीं सर्वज्ञ भगवान् की भी परीक्षा करने का साहस कर डाला है सो ठीक ही है क्योंकि जब उन्होंने स्वयंभूस्तोत्र की रचना के द्वारा शिवपिंडी से भगवान् चन्द्रप्रभु को ही प्रगट कर लिया था तब उनका इस पद्धति से भगवान् को ही न्याय की कसौटी पर कस देना कोई बड़ी बात नहीं है । सचमुच में यह कोई साधारण व्यक्ति का काम नहीं कि भगवान् की परीक्षा शुरू कर देवे । श्रीसमंतभद्र जैसे महान् मुनि पुंगवों का ही काम है । इस ग्रन्थ में भगवान् को ही निर्दोष आप्त सिद्ध करके अन्त में यह बतलाया है कि—

इतोयमाप्तमीमांसा विहिता हितमिच्छतां । सम्यग्मिथ्योपदेशार्थविशेषप्रतिपत्तये ॥११४॥

अर्थात् यह आप्त की मीमांसा-परीक्षा हित-मोक्ष सुख की इच्छा करने वाले भव्यपुरुषों के लिये ही की गई है क्योंकि सम्यक् और मिथ्या उपदेश विशेष की जानकारी होने से मिथ्यात्व का त्याग और सम्यक्त्व का ग्रहण शक्य है अन्यथा नहीं ।

अपने जैनसिद्धांत के ही एक-एक कणरूप एक-एक अंश को लेकर मिथ्यावादी जनहठाग्रही बन जाते हैं वे अपेक्षावाद—कथंचित्वादरूप सिद्धांत को नहीं समझ पाते हैं । एक-एक के आग्रह से ही नित्यैकांतवादी, क्षणिकैकांतवादि बन जाते हैं । जैसे सूक्ष्मऋजुसूत्र नय से हमारे यहाँ प्रत्येक वस्तु अर्थपर्यायरूप से प्रतिक्षण होने वाली अर्थ-पर्याय एक समयवर्ती-क्षणिक हैं किन्तु यह नय अन्य नयों से सापेक्ष होने से ही सम्यक् नय है । यदि वह अन्य नयों की अपेक्षा न करे तो मिथ्या नय है इसी एक नय के हठाग्रही बौद्धजन हैं जिन्होंने अपना क्षणिकसिद्धान्त ही बना लिया है इत्यादि । इन सब एकांतों का खण्डन करके यह अष्टसहस्री ग्रन्थ अपने स्याद्वाद को पद-पद पर पुष्ट करता है ।

अतएव आचार्य विद्यानन्द महोदय ने यह श्लोक सार्थक ही दिया है—कि इसी एक ग्रन्थ से ही सभी स्वसमय और और परसमय का ज्ञान हो जाता है । इसका अष्टसहस्री यह महान सार्थक ही नाम है । इसमें ११४ कारिकाओं से श्री समस्तभद्राचार्यवर्य ने देवागमस्तोत्र रचना की है उस स्तोत्र के ऊपर श्री भट्टाकलंकदेव ने अष्टशती नाम से ८०० श्लोक प्रमाण में टीका की है पुनः उस अष्टशती सहित देवागम स्तोत्र की श्रीविद्यानंदि स्वामी ने ८००० आठ हजार श्लोक प्रमाण से अष्टसहस्री नाम की टीका की है इसका नाम आपने कष्टसहस्री भी दिया है । क्योंकि न्याय के प्रत्येक प्रकरण इसमें बहुत ही क्लिष्ट और जटिल हैं बड़े ही कष्ट साध्य हैं । तथा आपने इसे “अभीष्टसहस्री पुण्यात्” कहा है कि यह ग्रन्थ नित्य ही हजारों मनोरथों को पुष्ट करे । अतः इस अष्टसहस्री ग्रन्थराज का नित्य ही मनन करना चाहिये तथा देवागम स्तोत्र को भी नित्य ही पढ़ना चाहिये । इस स्तुति के प्रसाद से ही इसका अर्थ समझ सकेंगे ।

### अष्टसहस्री का अनुवाद

चक्रवर्ती १०८ श्री शान्तिसागर जी महाराज के तृतीय पट्टाधीश आचार्य श्री धर्मसागर जी महाराज का चातुर्मास सन् १९६९ वीरसं० २०२७ में जयपुर में मेहदी वालों के चौक में हो रहा था । उस समय संघ में मैं अनेक मुनि-आयिकाओं व ब्रह्मचारी ब्रह्मचारिणियों को अष्टसहस्री, राजवातिक आदि ग्रंथों का अध्ययन कराती थी ।

अष्टसहस्री ग्रन्थ के अध्ययन में मोतीचन्द भी थे । इन्होंने मेरी प्रेरणा से शास्त्री का फार्म सोलापुर परीक्षालय का भर दिया था और कलकत्ते का न्यायतीर्थ का फार्म भी भर दिया था । इतने क्लिष्ट अष्टसहस्री ग्रन्थ को पढ़ते समय वे प्रांतिदिन कहते—माताजी ! ये इस मूल से पढ़कर परीक्षा नहीं दे पाऊँगा । मैंने तभी इस अष्टसहस्री ग्रन्थ का अनुवाद करना प्रारम्भ किया । मुझे उस समय पढ़ाने से भी ज्यादा लिखने में आनन्द आने लगा ।

कुछ पेजों का अनुवाद देखकर पं० इंद्रलाल जी शास्त्री पं० भंवरलाल जी न्यायतीर्थ, पं० गुलाबचन्द्र जैन दर्शनाचार्य, पं० सत्यधर कुमार जी सेठी आदि विद्वानों ने प्रशंसा के साथ-साथ यह प्रार्थना शुरू कर दी कि माताजी ! इस ग्रन्थ का अनुवाद पूरा कर दीजिये यह आपके ही वश का काम है इत्यादि । यद्यपि मैं तो स्वयं अपनी रुचि से अनुवाद के कार्य में दत्तचित्त थी फिर भी विद्वानों की प्रेरणा भी सहायक थी । मैंने सन् १९७० में टोडाराय-सिंह में पौष शुक्ला द्वादशी के दिन यह अनुवाद कार्य पूरा किया । अनन्तर मैंने इस ग्रन्थ के अनुवाद की दश कावियों से सार लेकर चौवन सारांश बनाये । मेरे इन सारांशों के आधार से विद्यार्थी मोतीचन्द, रवीन्द्रकुमार, कुमारी मालती, माधुरी, शिशला, कला ने शास्त्री की परीक्षा में उत्तीर्णता प्राप्त की थी ।

दिल्ली में कई बार डॉ० पं० लाल बहादुर जी शास्त्री आदि ने मेरे से निवेदन किया कि माताजी ! आप इन सारांशों को अवश्य ही प्रकाशित करा दीजिये । इनके आधार से आज अनेक विद्यार्थी अष्टसहस्री ग्रंथ की परीक्षा दे सकेंगे । वे सभी सारांश इस अष्टसहस्री ग्रन्थ की हिन्दी टीका में यथास्थान जोड़े गये हैं जिससे यह अनुवादित हिन्दी टीका बहुत ही सरल बन गई है ।

इसका पहला भाग मात्र जिसमें छह कारिकाएँ ही थीं वह सन् १९७४ में छप चुका था । उस समय उसकी टीका का नामकरण नहीं किया गया था । पुनः मैंने “स्याद्वादचित्तामणि” ऐसा इसका सार्थक नाम दिया है ।

मुझे हर्ष है कि वीर ज्ञानोदय ग्रन्थमाला का इस अष्टसहस्री ग्रन्थ का प्रथम भाग प्रथम पुष्प था और आज सन् १९८८ में यह द्वितीय भाग अट्ठानव्वेवां पुष्प बन रहा है । इस बीच में ग्रन्थमाला के द्वितीय पुष्प से

लेकर सत्तानवें पुष्प तक छप चुके हैं। आगे इसके तृतीय और चतुर्थ भाग भी शीघ्र ही प्रकाशित होंगे ऐसी भावना है।

### न्यायसार कुञ्चिका है

इन बड़े-बड़े न्यायग्रन्थों की—जैन दर्शन के ग्रन्थों की सरलता से समझने के लिये मैंने परीक्षामुख, न्यायदीपिका, षट्दर्शन समुच्चय आदि ग्रन्थों का अच्छी तरह मनन करके उनमें से कुछ सारभूत सूत्रों को लेकर एक “न्यायसार” नाम से छोटी-सी पुस्तक लिखी है उसे अष्टसहस्री के प्रथम भाग के परिशिष्ट में दे दिया था। यह एक स्वतन्त्र पुस्तक है। अष्टसहस्री के पाठकों को उस “न्यायसार” का अध्ययन अवश्य करना चाहिये। यह छोटी-सी पुस्तक न्यायशास्त्रों में प्रवेश पाने के लिये कुञ्चिका (चाबी) के समान है।

आगे इस “अष्टसहस्री” ग्रंथराज के मूलकर्ता—आधारभूत आचार्य श्री उमा स्वामी आदि चारों आचार्यों कुछ परिचय यहाँ दिया जा रहा है।

### श्री उमास्वामी आचार्य

तत्त्वार्थसूत्र ग्रन्थ के रचयिता आचार्य श्री उमास्वामी हैं। इनको उमास्वाति भी कहते हैं। इनका अपरनाम गृद्धपिच्छाचार्य है। ध्वलाकार ने इनका नामोल्लेख करते हुये कहा है कि—

“तह गिद्ध पिछाहरिथप्यासिदतच्चत्तसुत्तेवि”<sup>1</sup>।

उसी प्रकार से गृद्धपिच्छाचार्य के द्वारा प्रकाशित तत्त्वार्थसूत्र में भी कहा है।

इनके इस नाम का समर्थन श्री विद्यानन्द आचार्य ने भी किया है। यथा—

“एतेन गृद्धपिच्छाचार्यपर्यंतमुनिसूत्रेण व्यभिचारता निरस्ता”<sup>2</sup>।

इस कथन से गृद्धपिच्छाचार्य पर्यंत मुनियों के सूत्रों से व्यभिचार दोष का निराकरण हो जाता है।

तत्त्वार्थ सूत्र के किसी टीकाकार ने भी निम्न पद्य में तत्त्वार्थसूत्र के रचयिता का नाम गृद्धपिच्छाचार्य दिया है—

तत्त्वार्थसूत्रकर्तारं गृद्धपिच्छोपलक्षितम् । वंदे गणीन्द्रसंजातमुमास्वामिमुनीश्वरम् ॥

“गृद्धपिच्छ” इस नाम से उपलक्षित, तत्त्वार्थसूत्र के कर्ता, गण के नाथ उमास्वामी मुनीश्वर की मैं वन्दना करता हूँ।

श्री वादिराज ने भी इनके गृद्धपिच्छ नाम का उल्लेख किया है—

अनुच्छगुणसंपातं गृद्धपिच्छं नतोऽस्मि तम् । पक्षोर्कुर्वन्ति यं भव्या निर्वाणायोत्पत्तिण्यः<sup>3</sup> ॥

आकाश में उड़ने की इच्छा करने वाले पक्षी जिस प्रकार अपने पंखों का सहारा लेते हैं उसी प्रकार भोजन नगर को जाने के लिये भव्य लोग जिस मुनीश्वर का सहारा लेते हैं, उन महामना, अगणित गुणों के भंडार स्वर्ण गृद्धपिच्छ नामक मुनिमहाराज के लिये मेरा सविनय नमस्कार हो।

1. षट्खंडागम, ध्वलाटीका, जीवस्थान, काल अनुयोग द्वार पृ० ३१६।

2. तत्त्वार्थश्लोक वार्तिक पृ० 6।

3. पार्श्वनाथचरित 1, 16।

श्रवणबेलगोला के एक अभिलेख में गृद्धपिच्छ नाम की सार्थकता और कुन्दकुन्द के वंश में उनकी उत्पत्ति बतलाते हुये उनका "उमास्वाति" नाम भी दिया है । यथा—

अभूकुमास्वातिमुनिः पवित्रे, वंशे तवीये सकलार्थवेदी ।  
सूत्रीकृतं येन जिनप्रणीतं, शास्त्रार्थजातं मुनिपुंगवेन ॥  
स प्राणिसंरक्षणसाधनानो, बभार योगी किल गृद्धपक्षान् ।  
तदा प्रभूर्येष बुधा यमाह्वराचार्यशब्दोत्तरगृद्धपिच्छम् ॥

आचार्य कुन्दकुन्द के पवित्र वंश में सकलार्थ के ज्ञाता उमास्वाति मुनीश्वर हुये, जिन्होंने जिनप्रणीत द्वादशांगशास्त्रों को सूत्रों में निबद्ध किया । इन आचार्य ने प्राणि रक्षा के हेतु गृद्धपिच्छों को धारण किया । इसी कारण वे गृद्धपिच्छाचार्य के नाम से प्रसिद्ध हुये । इस प्रमाण में गृद्धपिच्छाचार्य को "सकलार्थवेदी" कहकर "श्रुतकेवली सद्गुरु" भी कहा है । इससे उनका आगम सम्बन्धी सातिशय ज्ञान प्रकट होता है ।

इस प्रकार दिगम्बर साहित्य और अभिलेखों का अध्ययन करने से यह ज्ञात होता है कि तत्त्वार्थसूत्र के रचयिता गृद्धपिच्छाचार्य, अपरनाम उमास्वामि या उमास्वाति हैं ।

**समय निर्धारण और गुरु-शिष्य परम्परा :**—नंदिसंघ की पट्टावली और श्रवणबेलगोला के अभिलेखों से यह प्रमाणित होता है कि ये गृद्धपिच्छाचार्य कुन्दकुन्द के अन्वय में हुए हैं । नंदिसंघ की पट्टावली विक्रम के राज्याभिषेक से प्रारम्भ होती है । वह निम्न प्रकार है—

१. भद्रबाहु द्वितीय (४), २. मुष्टिगुप्त (२६), ३. माघनन्दि (३६), ४. जिनचन्द्र (४०), ५. कुन्दकुन्दाचार्य (४६), ६. उमास्वामि (१०१), ७. लोहाचार्य (१४२).....

अर्थात् "नंदिसंघ की पट्टावली में बताया है कि उमास्वामी वि० सं० १०१ में आचार्य पद पर आसीन हुये, वे ४० वर्ष आठ महीने आचार्य पद पर प्रतिष्ठित रहे । उनकी आयु ८४ वर्ष की थी और विक्रम सं० १४२ में उनके पट्ट पर लोहाचार्य द्वितीय प्रतिष्ठित हुये । श्री० हार्नले, डा० पिटर्सन और डा० सतीशचन्द्र ने इस पट्टावली के आधार पर उमास्वाति को ईसा की प्रथम शताब्दी का विद्वान माना है<sup>१</sup> ।

"किन्तु स्वयं नेमिचन्द्र ज्योतिषाचार्य ने इन्हें ईस्वी सन् की द्वितीय शताब्दी का अनुमानित किया है ।"

कुछ भी हो ये आचार्य श्रीकुन्दकुन्द के शिष्य थे । यह बात अनेक प्रामाणिकताओं से स्पष्ट है । यथा—

तस्माद्भूद्योगिकुलप्रदीपो, अलाकपिच्छः स तपोमहद्भिः ।  
यदंगसंस्पर्शनमात्रतापि, वायुचिषादीनमृतीचकार<sup>२</sup> ॥१३॥

इन योगी महाराज की परंपरा में प्रदीपस्वरूप महद्भिषाली तपस्वी अलाकपिच्छ हुये । इनके शरीर के स्पर्शमात्र से पवित्र हुई वायु भी उस समय लोगों के विष आदि को अमृत कर देती थी ।

१. जैन शिलालेख संग्रह, प्रथम भाग, अभिलेख सं० १०८, पृ० २१०-११ ।

२. भगवान् महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, भाग २, पृ० १५२ ।

३. वही पुस्तक, पृ० ८११

विष्णुवलि में भी कुन्दकुन्द के पट्ट पर उमास्वाति को माना है । “दशाध्यायसमाक्षिप्तजैनगमतत्त्वार्थ-सूत्रसमूहश्चीमद्रुमास्वातिदेवानाम्” ॥३॥”

इन सभी उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि श्रीकुन्दकुन्ददेव के पट्ट पर ही ये उमास्वामी आचार्य हुये हैं और इन्होंने अपना आचार्य पद बलाकपिच्छ या लोहाचार्य को सौंपा है ।

तत्त्वार्थसूत्र रचना—इन आचार्य महोदय की “तत्त्वार्थसूत्र” रचना यह अपूर्व रचना है । यह ग्रन्थ जैन धर्म का सार ग्रन्थ होने से इसके मात्र पाठ करने का या सुनने का फल एक उपवास बतलाया गया है । यथा—

दशाध्याये परिच्छिन्ने तत्त्वार्थे पठिते सति । फलं स्यादुपवासस्य भाषितं मुनिपुंगवैः ॥

दश अध्याय से परिमित इस तत्त्वार्थसूत्र के पढ़ने से एक उपवास का फल होता है ऐसा मुनिपुंगवों ने कहा है । वर्तमान में इस ग्रन्थ को जैन परम्परा में वही स्थान प्राप्त है, जो कि हिन्दू धर्म में “मगधगीता” को, इस्लाम में “कुरान” को और ईसाई धर्म में “बाइबिल” को प्राप्त है । इससे पूर्व प्राकृत में ही जैनग्रन्थों की रचना की जाती थी ।

इस ग्रन्थ को दिगम्बर और श्वेताम्बर परम्परा में समानरूप से ही महानता प्राप्त है । अनेक आचार्यों ने इस पर टीका ग्रन्थ रचे हैं । श्री देवगन्धि अपरनाम पूज्यपाद आचार्य ने इस पर “सर्वार्थसिद्धि” नाम से टीका रची है जिसका अपर नाम “तत्त्वार्थवृत्ति” भी है । श्री अट्टाकलंकदेव ने तत्त्वार्थराजवातिक नाम से तथा विद्यानन्द महोदय ने “तत्त्वार्थ श्लोकवातिक” नाम से दार्शनिक शैली में टीका ग्रन्थों का निर्माण करके इस ग्रन्थ के अतिशय महत्त्व को सूचित किया है । श्री श्रुतसागरसूरि ने “तत्त्वार्थवृत्ति” नाम से टीका रची है और अन्य-अन्य कई टीकायें उपलब्ध हैं । श्री समन्तभद्र स्वामी ने इसी ग्रन्थ पर “गन्धर्वास्तिमहाभाष्य” नाम से “महाभाष्य” रचा है जो कि आज उपलब्ध नहीं हो रहा है ।

दशाध्यायपूर्ण इस ग्रन्थ का एक मंगलाचरण ही इतना महत्त्वशाली है कि आचार्य श्री समन्तभद्र ने उस पर “आप्तमीमांसा” नाम से आप्त की मीमांसा-विचारणा करते हुये एक स्तोत्र ग्रन्थ रचा है, उस पर श्री अट्टा-कलंकदेव ने “अष्टशती ग्रन्थ रचा है । इसी पर श्री विद्यानन्द आचार्य ने “अष्टसहस्री” नाम से महान् उच्चकोटि का दार्शनिक ग्रन्थ रचा है । श्री विद्यानन्द आचार्य ने तत्त्वार्थ सूत्र पर ही “श्लोकवातिक” नाम से जो महान् टीका ग्रन्थ की रचना की है उसमें सबसे प्रथम मंगलाचरण की टीका में ही उन्होंने १२४ कारिकाओं में आप्त परीक्षा ग्रन्थ की रचना की एवं उसी पर स्वयं ने ही स्वोपज्ञ टीका रची है ।

कुछ विद्वान् “भोक्षमार्गस्य नेतार” इत्यादि मंगलाचरण को श्री उमास्वामी आचार्य द्वारा रचित न मान कर किन्हीं टीकाकारों का कह रहे थे । परन्तु “श्लोकवातिक” और “अष्टसहस्री” ग्रन्थ में उपलब्ध हुये अनेक प्रमाणों से अब यह अच्छी तरह निर्णीत किया जा चुका है कि यह मंगलश्लोक श्री सूत्रकार आचार्य द्वारा ही विरचित है ।

इन महान् आचार्य के द्वारा रचा हुआ एक श्रावकाचार भी है जो कि “उमास्वामी-श्रावकाचार” नाम से प्रकाशित हो चुका है । कुछ विद्वान् इस श्रावकाचार को इन्हीं सूत्रकर्ता उमास्वामी का नहीं मानते हैं, किन्तु

ऐसी बात नहीं है । वास्तव में वह इन्हीं आचार्यदेव की रचना है यह बात उसी श्रावकाचार के निम्न पद्यों से स्पष्ट है । यथा—

सूत्रे तु सप्तमेऽप्युक्ताः पृथग्नोक्तास्तदर्थतः । अवशिष्टः समाचारः सोऽब्रव कथितो ध्रुवम् ।

॥४६४॥

अर्थात्—इस श्रावकाचार में श्रावकों की पट् आवश्यक क्रियाओं का वर्णन करते हुये उनके अणुव्रत आदिकों का भी वर्णन किया है । पुनः यह संकेत दिया है कि मैंने “तत्त्वार्थसूत्र” के सप्तम अध्याय में श्रावक के १२ व्रतों का और उनके अतीचारों का विस्तार से कथन किया है अतः यहाँ उनका कथन नहीं किया है । बाकी जो आवश्यक क्रियायें “देवपूजा, गुरुपास्ति, स्वाध्याय, संयम, तप और दान का वर्णन वहाँ नहीं किया है उन्हीं को यहाँ पर कहा गया है ।”

पुनरपि अंतिम प्रलोक में कहते हैं कि—

इति वृत्तं सयेष्टं संश्रये षष्ठमकेऽखिलम् । चान्यन्मया कृते ग्रंथेऽन्यस्मिन् दृष्टव्यमेव च ।

॥४७६॥

इस प्रकार से मैंने इस श्रावकाचार की छठी अध्याय में श्रावक के लिये दृष्ट चारित्र्य का वर्णन किया है । अन्य और जो कुछ भी श्रावकों का आचार है वह सब मेरे द्वारा रचित अन्य ग्रन्थ (तत्त्वार्थसूत्र) से देख लेना चाहिये ।

इस प्रकार के उद्धरणों से यह निश्चित हो जाता है कि श्रावकाचार भी पूज्य उमास्वामी आचार्य की ही रचना है ।

यद्यपि इस श्रावकाचार में भाषा गौली की अतीव सरलता है फिर भी उससे यह नहीं कहा जा सकता है कि यह रचना उनकी नहीं है, क्योंकि सूत्रग्रन्थ में सूत्रों की रचना सूत्ररूप हो रहेगी और प्रलोक ग्रन्थों में प्रलोक रूप । जिस प्रकार से श्री कुंदकुंददेव द्वारा रचित समयसार, प्रवचनसार आदि ग्रन्थों की रचना अतीव प्रौढ़ है “तथा अष्टपादुङ्ग के गाथासूत्रों की रचना उतनी प्रौढ़ न होकर सरल है फिर भी एक ही आचार्य कुंदकुंद इन ग्रन्थों के रचयिता मान्य है वैसे ही यहाँ भी समझना चाहिये और उमास्वामी आचार्य की प्रमाणता के अनुरूप ही उनके इस श्रावकाचार को भी प्रमाण मानकर उसका भी स्वाध्याय करना चाहिए ।

### श्री समंतभद्र स्वामी

जिस प्रकार गृद्धपिन्हाचार्य संस्कृत के प्रथम सूत्रकार हैं, उसी प्रकार जैनवाङ्मय में स्वामी समंतभद्र प्रथम संस्कृत कवि और प्रथम स्तुतिकार हैं । ये कवि होने के साथ-साथ प्रकाण्ड दार्शनिक और गंभीर चिंतक भी हैं । स्तोत्रकाव्य का सूत्रपात आचार्य समंतभद्र से ही होता है । इनकी स्तुतिरूप दार्शनिक रचनाओं पर अकलंक और विद्यानंद जैसे उद्भट आचार्यों ने टीका और विवृतियाँ लिखकर मौलिक ग्रन्थ रचमिता का यश द्विगुणित किया है । बीतरागी तीर्थंकर की स्तुतियों में दार्शनिक मान्यताओं का समावेश करना असाधारण प्रतिभा का चोत्क है ।

आदिपुराण में आचार्य जिनसेन इन्हें कवियों के विधाता कहते हैं और उन्हें गमक आदि चार विशेषणों से विशिष्ट बतलाते हैं । यथा—

तमः समंतभद्राय महते कविवेधसे । यद्वचोवज्रपातेन निर्भिन्ना कुमताव्रयः ॥

कवीनां गमकानां च वादिनां वाग्मिनामपि । यशः सामन्तभद्रीय मूर्ध्नि चूड़ामणीयते<sup>१</sup> ॥

मैं कवि समंतभद्र को नमस्कार करता हूँ, जो कि कवियों के लिये ब्रह्मा हैं और जिनके वचनरूपी वज्रपात से मिथ्यामतरूपी पर्वत चूर-चूर हो जाते हैं । कविगण, गमकगण, वादीगण और वाग्मीगण इन सभी के मस्तक पर श्री समंतभद्र स्वामी का यश चूड़ामणि के समान शोभित होता है ।

स्वतन्त्र कविता करने वाले “कवि” कहलाते हैं, शिष्यों को मर्म तक पहुँचा देने वाले “गमक”, शास्त्रार्थ करने वाले “वादी” और मनोहर व्याख्यान देने वाले “वाग्मी” कहलाते हैं ।

श्रीशुभचंद्र आचार्य, श्रीवर्द्धमानसूरि, श्रीजिनसेनाचार्य और श्रीवादीभसिंहसूरी आदि ने अपने-अपने ग्रन्थ ज्ञानार्णव, वरांगचरित, अलंकार चिंतामणि और मद्यचिंतामणि आदि में श्री समंतभद्र स्वामी की सुन्दर-सुन्दर श्लोकों में स्तुति की है ।

ये जैनधर्म और जैनसिद्धांत के मर्मज्ञ विद्वान होने के साथ-साथ तर्क, व्याकरण, छन्द, अलंकार एवं काव्य, कोष आदि विषयों में पूर्णतया अधिकार रखते थे । सो ही इनके ग्रन्थों से स्पष्ट झलक जाता है । इन्होंने जैनविद्या के क्षेत्र में एक नया आलोक विकीर्ण किया है । श्रवणबेलगोला के अभिलेखों में तो इन्हें जिनशासन के प्रणेता और भद्रमूर्ति कहा गया है ।

इनका जीवन परिचय, मुनिपद, गुरु-शिष्य परंपरा, समय और इनके रचित ग्रन्थ इन पाँच बातों पर यहाँ संक्षेप में प्रकाश डाला जायेगा ।

## जीवन परिचय

इनका जन्म दक्षिण भारत में हुआ था । इन्हें जोल राजवंश का राजकुमार अनुमित किया जाता है । इनके पिता उरगपुर (उरैपुर) के क्षत्रिय राजा थे । यह स्थान कावेरी नदी के तट पर फणिमण्डल के अन्तर्गत अत्यन्त समृद्धशाली माना गया है । श्रवणबेलगोला के होरवली जिनदासशास्त्री के भंडार में पाई जाने वाली आप्त-सीमांसा की प्रति के अन्त में लिखा है—“इति फणिमंडलालंकारस्योरगपुराधिपसूनोः श्रीस्वामीसमंतभद्रमुनेः कृती आप्तसीमांसायाम्”—इस प्रशस्तिवाक्य से स्पष्ट है कि समंतभद्र स्वामी का जन्म क्षत्रियवंश में हुआ था और उनका जन्मस्थान उरगपुर है ।

इनका जन्म नाम शांतिवर्मा बताया जाता है “स्तुतिविद्या” अपरनाम “जिनस्तुतिशतक” के ११६वें पद्य में कवि और काव्य का नाम चित्रबद्धरूप में अंकित है । इस काव्य के छह आरे और नव बलय वाली चित्र-रचना पर से “शांतिवर्मकृतम्” और “जिनस्तुतिशतम्” ये दो पद निकलते हैं । संभव है यह नाम माता पिता के द्वारा रखा गया हो और “समंतभद्र” मुनि अवस्था का हो ।

## मुनिदीक्षा और भस्मकथाधि

मुनिदीक्षा ग्रहण करने के पश्चात् जब वे मणुवकहल्ली स्थान में विचरण कर रहे थे कि उन्हें भस्मक

१. महापुराण, भाग १, १ (४४-४३) ।

व्याधि नामक भयानक रोग हो गया, जिससे दिगम्बर मुनि चर्मा का निर्वाह उन्हें अशक्य प्रतीत हुआ। तब उन्होंने गुरु से समाधिमरण धारण करने की इच्छा व्यक्त की। गुरु ने भावी होनहार शिष्य को आदेश देते हुये कहा—

“आपसे धर्म प्रभावना के लिये बड़ी-बड़ी आशाएँ हैं अतः आप दीक्षा छोड़कर रोग शमन का उपाय करें, रोग दूर होने पर पुनः मुनिदीक्षा ग्रहण करके स्वपर कल्याण करें।” गुरु की आज्ञानुसार समंतभद्र रोगोपचार हेतु जिनमुद्रा छोड़कर सन्यासी बन गये और इधर-उधर विचरण करने लगे। एक समय वाराणसी में शिवकोटि राजा के शिवालय में जाकर राजा को आशीर्वाद दिया और शिवजी को ही मैं खिला सकता हूँ ऐसी घोषणा की। राजा की अनुमति प्राप्त कर समंतभद्र शिवालय के किवाड़ बंद कर उस नैवेद्य को स्वयं ही भक्षण कर रोग को शांत करने लगे। शनैः शनैः उनकी व्याधि का उपशम होने लगा अतः भोग की सामग्री बचने लगी तब राजा को संदेह हो गया। अतः गुप्तरूप से उसने इस रहस्य का पता लगा लिया। तब समंतभद्र से उन्होंने शिवजी को नमस्कार के लिये प्रेरित किया। समंतभद्र ने इसे उपसर्ग समझकर चतुर्विंशति तीर्थंकरों की स्तुति प्रारंभ की। जब वे चन्द्रप्रभ की स्तुति कर रहे थे कि शिव की पिंडी से भगवान् चन्द्रप्रभ की प्रतिमा प्रकट हो गई। समंतभद्र के इस माहात्म्य को देखकर शिवकोटि राजा अपने भाई शिवायन सहित उनके शिष्य बन गये। यह कथानक “राजावलिकथे” में उपलब्ध है।

अथर्ववेदगोला के एक अभिलेख में लिखा है—

ब्रह्मो भस्मकभस्मसात्कृतिपटुः पद्मावतीदेवता-दत्तोदात्तपदस्वभंशवचनव्याहृतचन्द्रप्रभः।

आचार्यस्त समंतभद्रगणभूद्धेनह काले कलां, जैनं अर्त्तं समंतभद्रमभवद्भद्रं समन्तान्मुहुः॥

अर्थात् जो अपने भस्मक रोग को भस्मसात् करने में चतुर हैं, पद्मावती नामक देवी की दिव्य शक्ति के द्वारा जिन्हें उदात्त पद की प्राप्ति होने से मंत्रवचनों द्वारा जिन्होंने चन्द्रप्रभ को प्रकट किया है और जिनके द्वारा यह कल्याणकारी जैनमार्ग इस कलिकाल में सब ओर से भद्ररूप हुआ है वे गणनायक आचार्य श्री समंतभद्र स्वामी बार-बार हम सभी के द्वारा वंद्य हैं।

आराधना कथाकोष में मूर्ति प्रकट होने के अनंतर ऐसा प्रकरण आया है कि चन्द्रप्रभ की मूर्ति प्रकट होने के इस भस्मकार को देखकर उनकी स्तोत्र रचना पूरी होने के बाद राजा शिवकोटि ने उनसे उनका परिचय पूछा। तब समंतभद्र ने उत्तर देते हुए कहा—

कांचीयां नगनाटकोऽहं, मलमलिनतनुर्लम्बिशे पांडुपिण्डः।

पुण्ड्रेण्ड्रे शाक्यभिक्षुर्दशपुरनगरे, मिष्टभोजो परिव्राट्।

वाराणस्यामभूयं शशकरधवलः, पाण्डुरांगस्तपस्वी।

राजन् ! यस्यास्ति शक्तिः स, वदतु पुरतो जैननिर्ग्रन्थवादी ॥

मैं कांची में नग्न दिगम्बर मति के रूप में रहा, शरीर में रोग होने पर पुण्ड्र नगरी में बौद्ध भिक्षु बनकर मैंने निवास किया। पश्चात् दशपुर नगर में मिष्ठान्न भोजी परिव्राजक बनकर रहा। अनंतर वाराणसी में आकर शिव तपस्वी बना। हे राजन् ! मैं जैन निर्ग्रन्थवादी हूँ। यहाँ जिसकी शक्ति वाद करने की हो वह मेरे सम्मुख आकर वाद करे। पुनश्च—



पूर्व पाटलिपुत्रमध्यनगरे, भेरी मया ताडिता ।  
पश्चात्मासवसिन्धुठक्कविषये काञ्चीपुरे वैदिशे ।  
प्राप्तोऽहं करहाटकं बहुभटं विद्योत्कटं संकटं,  
वादार्थी विचराम्यहं नरपते ! शार्दूलविक्रीडितम् ॥

मैंने पहले पटना नगर में वाद की भेरी बजाई, पुनः मालवा-सिन्धु-देश, ठक्क—ढाका (बंगाल), काञ्चीपुर और वैदिश—विदिशा—भेलसा के आसपास के प्रदेशों में भेरी बजाई । अब बड़े-बड़े वीरों से युक्त इस करहाटक नगर को प्राप्त हुआ हूँ । इस प्रकार हे राजन् ! मैं वाद करने के लिये सिंह के समान इतस्ततः क्रीड़ा करता हुआ विचरण कर रहा हूँ ।

राजा शिवकोटि समंतभद्र के इस आख्यान को सुनकर भोगों से विरक्त हो दीक्षित हो गये । ऐसा वर्णन है ।

गुरु-शिष्य परंपरा—यद्यपि समंतभद्र की गुरु-शिष्य परंपरा के विषय में बहुत कुछ अनिर्णीत ही है । फिर भी इन्हें किन्हीं प्रशस्तियों में उमास्वामी के शिष्य बलाकपिच्छ के पट्टाचार्य माना है । श्रवणबेलगोला के एक अभिलेख में भी आया है—“श्रीगृद्धपिच्छमुनिपत्न्य बलाकपिच्छः । शिष्योऽजनिष्टः” । एवं महाचार्यपरंपरायां, “समंतभद्रोऽजनि वादिसिंहः”<sup>१</sup> ।

अर्थात् भद्रबाहुश्रुतकेवली के शिष्य चंद्रगुप्त, चंद्रगुप्त के वंशज पद्मनंदि अपरनाम श्री कुन्दकुन्दाचार्य, उनके वंशज गृद्धपिच्छाचार्य, उनके शिष्य बलाकपिच्छ और उनके पट्टाचार्य श्रीसमंतभद्र हुये हैं ।

“श्रुतमुनि-पट्टावलिः” में भी कहा है—

तस्मादभूद्-योगिकुलप्रदीपो, बलाकपिच्छः स तपोमहद्भिः ।  
यदंगसंस्पर्शनमाश्रितोऽपि, वायुध्विषादीनमृतीचकार ॥ १३॥  
समंतभद्रोऽजनि भद्रभूतिस्ततः प्रणेता जिनशासनस्य ।  
यथीयवाग्वज्रकठोरपातदचूर्णीचकार प्रतिवादिशैलान्<sup>२</sup> ॥ १४॥

चन्नरायपट्टण तात्सुका के अभिलेख नं० १४६ में इन श्रुतकेवलि के ऋद्धि मानी है और वर्धमान जिन के शासन की सहस्रगुणी वृद्धि करने वाला कहा है ।

समय निर्धारण—आचार्य समंतभद्र के समय के संबंध में विद्वानों ने पर्याप्त ऊहापोह किया है । मि० लेविस राईस का अनुमान है कि ये आचार्य ई० की प्रथम या द्वितीय शताब्दी में हुये हैं । डा० ज्योतिप्रसाद जी आदि ने भी सन् १२० में राजकुमार के रूप में, सन् १३८ में मुनि पद में, सन् १८५ के लगभग स्वर्गस्थ हुये ऐसे ईस्वी सन् की द्वितीयशती को ही स्वीकार किया है । अतएव संश्रेय से समंतभद्र का समय ईस्वी सन् द्वितीय शताब्दी ही प्रतीत होता है ।

१. जैन शिलालेखसंग्रह, प्रथम भाग, लेख संख्या ४०, पद्य ८-६, पृ० २५ ।

२. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परंपरा भाग ४, पृ० ४११ ।

### समंतभद्र की रचनायें

१. बृहत्स्वयंभूस्तोत्र, २. स्तुतिविद्या-जिनशतक, ३. देवागमस्तोत्रवाप्तमीसांसद, ४. युक्त्यनुशासन, ५. रत्नकरण्डश्रावकाचार, ६. जीवसिद्धि, ७. तत्त्वानुशासन, ८. प्राकृतव्याकरण, ९. प्रमाण पदार्थ, १० कर्मप्राभृत-टीका, ११. मंघहस्तिमहाभाष्य ।

१. "स्वयंभुवा भूतहितेन भूतले" आदि रूप से स्वयंभूस्तोत्र, धर्मध्यान दीपक आदि पुस्तकों में प्रकाशित हो चुका है । यह सटीक भी छप चुका है ।

२. 'स्तुतिविद्या' इसमें भी चौबीस तीर्थंकरों की स्तुति है जो कि एक अक्षर, दो अक्षर आदि के श्लोकों में अथवा मुरजबंध, हारबंध आदि चित्रकाव्यरूप श्लोकों में एक अपूर्व ही रचना है ।

३. इस देवागमस्तोत्र में सर्वज्ञदेव नो तर्क की कसौटी पर कसकर सच्चा आप्त सिद्ध किया गया है । तत्कालीन नैरात्म्यवाद, क्षणिकवाद, ब्रह्माद्वैतवाद, पुरुष-प्रकृतिवाद, आदि की समीक्षा करते हुये स्याद्वाद सिद्धान्त की प्रतिष्ठा जैसी इस ग्रन्थ में उपलब्ध है वैसी सप्तभंगी की सुन्दर व्यवस्था अन्यत्र जैनवाङ्मय में आपको नहीं मिलेगा । यह स्तोत्र ग्रन्थ केवल तत्त्वार्थसूत्र के "मोक्षमार्गस्य" मंगलाचरण को आधार करके बना है । इसी स्तोत्र पर अकलंक देव ने अष्टशती नाम का भाष्य ग्रन्थ बनाया है और विद्यानंद आचार्य ने अष्टसहस्री नाम का जैन दर्शन का सर्वोच्च ग्रन्थ निर्मित किया है ।

४. युक्त्यनुशासन में भी परमत का खंडन करते हुये आचार्यदेव ने वीर के तीर्थ को सर्वोदय तीर्थ घोषित किया है ।

५. रत्नकरण्ड श्रावकाचार में तो १५० श्लोकों में ही आचार्यदेव ने श्रावकों के सम्पूर्ण व्रतों का वर्णन कर दिया है । इसमें अतिविसंविभाग व्रत के स्थान पर वैयावृत्य का सुन्दर स्वरूप बतलाकर इसी व्रत में देव पूजा को भी ले लिया है ।

आगे की ७ रचनायें आज उपलब्ध नहीं हैं ।

इस प्रकार से श्री समंतभद्राचार्य अपने समय में एक महान आचार्य हुए हैं । इनकी गौरव गाथा गाने के लिये हम और आप जैसे साधारण लोग समर्थ नहीं हो सकते हैं । कहीं-कहीं इन्हें भावी तीर्थंकर माना गया है ।

### श्रीअकलंकदेव आचार्य

जैन दर्शन में अकलंकदेव एक प्रखर सांक्षिक और महान दार्शनिक हुये हैं । बौद्ध दर्शन में जो स्थान भर्मकीर्ति को प्राप्त है, जैन दर्शन में वही स्थान अकलंकदेव का है । उनके द्वारा रचित प्रायः सभी ग्रन्थ जैन दर्शन और जैन न्याय विषयक हैं ।

श्रीअकलंकदेव के सम्बन्ध में अवणबेलगोला के अभिलेखों में अनेक स्थान पर स्मरण आया है ।

अभिलेख संख्या ४७ में लिखा है—

षट्कर्णवकसंकदेवविबुधः साक्षादयं भूतले ।

अर्थात् अकलंकदेव पददर्शन और तर्कशास्त्र में इस पृथ्वी पर साक्षात् बृहस्पति देव थे ।

अभिलेख नं० १०८ में पूज्यपाद के पश्चात् अकलंकदेव का स्मरण किया गया है—

“ततः परं शास्त्रविदां मुनीनामग्रेसरोऽभूदकलंकसूरिः ।  
मिथ्यान्धकारस्थगिताखिलार्थाः, प्रकाशिता यस्य बलमयूखैः<sup>१</sup> ॥”

इनके बाद शास्त्र ज्ञानी महामुनियों के अग्रणी श्री अकलंकदेव हुये जिनकी बचनरूपी किरणों के द्वारा मिथ्यान्धकार से ढके हुए अखिल पदार्थ प्रकाशित हुए हैं ।

इनका जीवन परिचय, समय, गुरुपरम्परा और इनके द्वारा रचित ग्रन्थ इन चार बातों को संक्षेप से यहाँ दिखाया जायेगा ।

जीवन दक्षिण — उत्तरार्ध-काल में जयन आश्रम के अन्त में जो प्रशस्ति है उसके आधार से ये “लघुहृष्वनृपति” के पुत्र प्रतीत होते हैं । यथा—

“जीयाच्चिरमकलंकब्रह्मा लघुहृष्वनृपतिवरतनयः ।  
अनवरतनिखिलजननुतदिद्यः प्रशस्तजनहृदयः ॥”

लघुहृष्वनृपति के श्रेष्ठ पुत्र श्री अकलंक ब्रह्मा चिरकाल तक जयशील हों, जिनको हमेशा सभी जन नमस्कार करते थे और जो प्रशस्तजनों के हृदय के अतिशय प्रिय हैं ।

ये राजा कौन थे ? किस देश के थे ? यह कुछ पता नहीं चल पाया है । हो सकता है ये दक्षिण देश के राजा रहे हों । श्री नेमिबन्धकृत आराधना कथाकोष में इन्हें मंत्रीपुत्र कहा है । यथा—

मान्यश्रेष्ठ के राजा शुभतुंग के मंत्री का नाम पुरुषोत्तम था उनकी पत्नी पद्मावती थीं । इनके दो पुत्र थे—अकलंक और निकलंक । एक दिन अष्टान्हिक पर्व में पुरुषोत्तम मंत्री ने चित्रगुप्त मुनिराज के समीप आठ दिन का ब्रह्मचर्य ग्रहण किया और उसी समय विनोद में दोनों पुत्रों को भी व्रत दिला दिया ।

जब दोनों पुत्र युवा हुए तब पिता के द्वारा विवाह की चर्चा आने पर विवाह करने से कर इन्कार दिया । यद्यपि पिता ने बहुत समझाया कि तुम दोनों को व्रत विनोद में दिलाया था तथा वह आठ दिन के लिये ही था किन्तु इन युवकों ने यही उत्तर दिया कि—पिताजी ! व्रतग्रहण में विनोद कैसा ? और हमारे लिये आठ दिन की मर्यादा नहीं की थी ।

पुनः ये दोनों बाल ब्रह्मचर्य के पालन में दृढ़प्रतिज्ञ हो गये और धर्माराधना में तथा विद्याध्ययन में तत्पर हो गये । ये बौद्ध शास्त्रों के अध्ययन हेतु “महाबोधि” स्थान में बौद्ध धर्माचार्य के पास पढ़ने लगे । एक दिन बौद्ध गुरु पढ़ाते-पढ़ाते कुछ विषय को नहीं समझा सके तो वे चिन्तित हो बाहर चले गये । वह प्रकरण सप्तभंगी का था, अकलंक ने समय पाकर उसे देखा, वहाँ कुछ अशुद्ध पाठ समझकर उसे शुद्ध कर दिया । वापस आने पर गुरु को शंका हो गई कि यहाँ कोई विद्यार्थी जैन धर्मो अवग्रम है । उसकी परीक्षा की जाने पर ये अकलंक-निकलंक पकड़े गये । इन्हें जेल में डाल दिया गया । उस समय रात्रि में धर्म की खरण लेकर ये दोनों वहाँ से भाग निकले । प्रातः इनकी खोज शुरू हुई । लंगी तलवार हाथ में लिये घुड़सवार दौड़ाये गये ।

जब भागते हुए इन्हें आहट मिली तब निकलंक ने भाई से कहा— भाई ! आप एकपाटी हैं—अतः आपके द्वारा जैन-शासन की विजय प्रभावना हो सकती है अतः आप इस तालाब के कमलपत्र में छिपकर अपनी रक्षा कीजिये । इतना कहकर वे अत्यधिक वेग से भागने लगे । इधर अकलंक ने कोई उपाय न देख अपनी रक्षा कमल पत्र में छिपकर की । निकलंक के साथ एक घोड़ी भी भागा, तब ये दोनों मारे गये ।

कुछ दिन बाद इस घटना हुई यह ऐसी है—

रत्नसंचयपुर के राजा हिमशीतल की रानी मदनसुन्दरी ने पातगुन की आप्टान्हिका में रथयात्रा महोत्सव कराना चाहा । उस समय बौद्धों के प्रधान आचार्य 'संघश्री' ने राजा के पास आकर कहा कि जब कोई जैन मेरे से शास्त्रार्थ करके विजय प्राप्त कर लेगा तभी यह जैन रथ निकल सकेगा अन्यथा नहीं । महाराज ने यह बात रानी से कह दी । रानी अत्यधिक चिंतित हो जिनमंदिर में गई और वहाँ मुनियों को नमस्कार कर बोली प्रभो ! आप में से कोई भी इस बौद्धगुरु से शास्त्रार्थ करके उसे पराजित कर मेरा रथ निकलवाइये । मुनि बोले—रानी ! हम लोगों में एक भी ऐसा विद्वान् नहीं है । हाँ, मान्यखेटपुर में ऐसे विद्वान् मिल सकते हैं । रानी बोली । गुरुवर ! अब मान्यखेटपुर से विद्वान् आने का समय कहाँ है ? वह चिंतित हो जिनेन्द्रदेव के समक्ष पहुँची और प्रार्थना करते हुए बोली—भगवन् ! यदि इस समय जैन शासन की रक्षा नहीं होगी तो मेरा जीना किस काम का ? अतः अब मैं चतुराहार का त्याग कर आपकी ही शरण लेती हूँ । ऐसा कहकर उसने कायोत्सर्ग धारण कर लिया ।

उसके निश्चल ध्यान के प्रभाव से पद्मावती देवी का आसन कंपित हुआ । उसने जाकर कहा देवि ! तुम विन्ता छोड़ो, उठो, कल ही अकलंकदेव आयेंगे जो कि तुम्हारे मनोरथ को पूर्ण करने के लिये कल्पवृक्ष होंगे । रानी ने घर आकर पत्र-तत्र किकर दीड़ाये । अकलंकदेव दगीधे में अशोकवृक्ष के नीचे ठहरे हैं सुनकर वहाँ पहुँची । भक्तिभाव से उनकी पूजा की और अश्रु गिराते हुए अपनी विपदा कह सुनाई । अकलंकदेव ने उसे आश्वासन दिया और वहाँ आये । राजसभा में शास्त्रार्थ शुरू हुआ । प्रथम दिन ही 'संघश्री' बबड़ा गया और उसने अपने द्वष्टदेव की आराधना करके तारादेवी को शास्त्रार्थ करने के लिये घट में उतारा ।

छह महीने तक शास्त्रार्थ चलता रहा किन्तु तारादेवी भी अकलंकदेव को पराजित नहीं कर सकी । अन्त में अकलंक को चिंतातुर देख चक्रेश्वरी देवी ने उन्हें उपाय बतलाया । प्रातः अकलंकदेव ने देवी से समुचित प्रत्युत्तर न मिलने से परदे के अन्दर घुसकर घड़े को लात मारी जिससे वह देवी पराजित हो भाग गई और अकलंकदेव के साथ-साथ जैन शासन की विजय हो गई । रानी के द्वारा कराई जाने वाली रथयात्रा बड़े धूमधाम से निकली और जैन धर्म की महती प्रभावना हुई । श्री मल्लिवेणप्रशस्ति में इनके विषय में विशेष श्लोक पाये जाते हैं । यथा—

तारा येन विनिजिता घटकुटीगूढावतारा समं ।

बौद्धैर्यो धृतपीठपीडितकुट्टगदेवात्तसेवांजलिः ॥

प्रायश्चित्तमिवांघ्रिवारिजरजस्नानं च यस्याचरत् ।

दोषाणां सुगतस्स कस्य विषयो देवाकलंकः कृती ॥२०॥

चूणि "यस्येदमात्मनोऽनन्यसामान्यनिरवस्था-विभक्तोपवर्णनमाकर्ण्यते ।"

राजन्साहसतुंग ! संति बह्वः श्वेतातपत्रा नृपाः

किंतु त्वत्सदृशा रणे विजयिनस्त्यागोद्यता दुर्लभाः ।

त्वद्वत्संति बुधा न संति कस्यो धावीद्वरा वागिनो ।

नावाशास्त्रविचारचातुरधियः काले कलौ मद्विधा ॥२१॥

आगे २३ वें श्लोक में कहते हैं—

माहंकारवशीकृतेन मनसा न द्वेषिणा केवलं  
नैरास्थ्यं प्रतिपन्नं नश्यति जने कारुण्यबुद्ध्या मया ।  
राज्ञः श्रीहिमशीतलस्य सदसि प्रायो विदग्धात्मनो ।  
ब्रीह्मिघान् सकलान् विजित्य सुगतः पादेन विस्फोटितः<sup>१</sup> ॥

अर्थात् महाराज हिमशीतल की सभा में मैंने सर्व बौद्ध विद्वानों को पराजित कर सुगत को पैर से टुकड़ाया । यह न तो मैंने अभिमान के बल होकर किया है न किसी प्रकार के द्वेष भाव से, किन्तु नास्तिक बनकर नष्ट होते हुये जनों पर मुझे बड़ी दया आई, इसलिये मुझे बाध्य होकर ऐसा करना पड़ा है ।

इस प्रकार से संक्षेप में इनका जीवन परिचय दिया गया है ।

समय—डा० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य ने इनका समय ईस्वी सन् की ८वीं शती सिद्ध किया है । पं० फीलाशचन्द्र सिद्धांतशास्त्री ने ईस्वी सन् ६२०-६८० तक निश्चित किया है । किन्तु पं० महेन्द्र कुमार न्यायाचार्य के अनुसार यह समय ई० सन् ७२०-७८० आता है ।

गुरुपरम्परा—देवकीर्ति की पट्टावली में श्रीकुन्दकुन्ददेव के पट्ट पर उमास्वामी अपरनाम गुरुपिच्छ आचार्य हुये । उनके पट्ट पर बलाकपिच्छ आरुढ़ हुये इनके पट्टाघोश श्री समंतभद्र स्वामी हुये । उनके पट्ट पर श्री पूज्यपाद हुये पुनः उनके पट्ट पर श्री अकलंकदेव हुये ।

“अजनिष्ठाकलंकं यज्जिनशासनमादितः । अकलंको जमौ येन सोऽकलंको महामतिः<sup>२</sup> ॥१०॥

“श्रुतमुनि—पट्टावली” में भी इन्हें पूज्यपाद स्वामी के पट्ट<sup>३</sup> पर आचार्य माना है । इसके संघ भेद की चर्चा की है ।

इनके द्वारा रचित ग्रन्थ—

इनके द्वारा रचित स्वतन्त्र ग्रन्थ चार हैं और टीका ग्रन्थ दो हैं ।

- |                   |                       |
|-------------------|-----------------------|
| १. लघीयस्त्रय     | (स्वीयज्ञविभूति सहित) |
| २. न्यायविनिश्चय  | (सवृत्ति)             |
| ३. सिद्धिविनिश्चय | (सवृत्ति)             |
| ४. प्रमाण संग्रह  | (सवृत्ति)             |

टीका ग्रन्थ—

१. तत्त्वार्थवार्तिक (सभाष्य) २. अष्टशती (देवागम विभूति)

- 
1. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा भाग, ४, पृ० ३८४
  2. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा भाग ४, पृ० ४१२ ।
  3. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा भाग ४, पृ० ३७५-३७६ ।

### लघीयस्त्रय—

इस ग्रन्थ में प्रमाणप्रवेश, नयप्रवेश और निक्षेपप्रवेश ये तीन प्रकरण हैं। ७८ कारिकाएँ हैं, मुद्रित प्रति में ७७ ही हैं। श्री अकलंकदेव ने इस पर संक्षिप्त विवृति भी लिखी है जिसे स्वोपज्ञ विवृति कहते हैं। श्री प्रभाचन्द्राचार्य ने इसी ग्रन्थ पर “न्यायकुमुदचन्द्र” नाम से व्याख्या रची है जो कि न्याय का एक अनूठा ग्रन्थ है।

**न्यायविनिश्चय**—इस ग्रन्थ में प्रत्यक्ष अनुमान और प्रवचन ये तीन प्रस्ताव हैं। कारिकाएँ ४८० हैं। इसकी विस्तृत टीका श्री वादिराजसूरी ने की है। यह ग्रन्थ ज्ञानपीठ काशी द्वारा प्रकाशित हो चुका है।

**सिद्धि विनिश्चय**—इस ग्रन्थ में १२ प्रस्ताव हैं। इसकी टीका श्री अनंतवीर्य सूरि ने की है। यह भी ज्ञानपीठ द्वारा प्रकाशित हो चुका है।

**प्रमाण संग्रह**—इसमें ६ प्रस्ताव हैं और ८७-५ कारिकाएँ हैं। यह ग्रन्थ “अकलंक ग्रन्थत्रय” में सिद्धी ग्रन्थमाला से प्रकाशित हो चुका है।

इस ग्रन्थ की प्रशंसा में धनंजय कवि ने मानमाला में एक पद्य लिखा है—

**प्रमाणमकलंकस्य, पूज्यपादस्य लक्षणम् । धनंजयकवेः काव्यं रत्नत्रयमपविचमम् ॥**

अकलंकदेव का प्रमाण, पूज्यपाद का व्याकरण और धनंजय कवि का काव्य ये अपविचम-सर्वोत्कृष्ट रत्नत्रय-तीनरत्न हैं।

वास्तव में जैन न्याय को अकलंक की सबसे बड़ी देन है प्रमाण संग्रह। इनके द्वारा की गई प्रमाण व्यवस्था दिगम्बर और पर्वतावर दोनों संप्रदायों के आचार्यों को मान्य रही है।

**तत्त्वार्थवातिक**—यह ग्रन्थ श्री उमास्वामी आचार्य के तत्त्वार्थसूत्र की टीका रूप है। तत्त्वार्थसूत्र के प्रत्येक सूत्र पर वातिकरूप में व्याख्या लिखी जाने के कारण इसका “तत्त्वार्थवातिक” यह सार्थक नाम श्री भट्टाकलंकदेव ने ही दिया है। इस ग्रन्थ की विशेषता यही है कि इसमें तत्त्वार्थसूत्र के सूत्रों पर वातिक रचकर उन वातिकों पर भी भाष्य लिखा गया है। अतः यह ग्रन्थ अतीव प्रांजल और सरल प्रतीत होता है।

**अष्टशती**—श्री स्वामी समंतभद्र द्वारा रचित आप्तमीमांसा की यह भाष्यरूप टीका है। इस वृत्ति का प्रमाण ८०० श्लोक प्रमाण है अतः इसका “अष्टशती” यह नाम सार्थक है।

जैन दर्शन अनेकांतवादी दर्शन है। आचार्य समंतभद्र अनेकांतवाद के सबसे बड़े व्यवस्थापक हैं। उन्होंने श्री उमास्वामी के तत्त्वार्थसूत्र के मंगलाचरण “मोक्षमार्गस्य नेसारं” आदि को लेकर आप्त-सच्चे देव की मीमांसा परीक्षा करते हुए ११४ कारिकाओं द्वारा स्याद्वाद की प्रक्रिया को दर्शाया है। उस पर श्री भट्टाकलंकदेव ने “अष्टशती” नाम से भाष्य बनाया है। इस भाष्य को वेष्टित करके श्री विद्यानंद आचार्य ने ८००० श्लोक प्रमाण रूप से “अष्टसहस्री” नाम का सार्थक टीका ग्रन्थ तैयार किया, इसे “कष्टसहस्री” नाम भी दिया है। जैन दर्शन का यह सर्वोपरि ग्रन्थ है। मैंने पूर्वाचार्यों और अपने दीक्षा, शिक्षा आदि गुरुओं के प्रसाद से इस “अष्टसहस्री” ग्रन्थ का हिन्दी भाषानुवाद किया है जिसका प्रथम खंड “वीर ज्ञानोदय ग्रन्थमाला” से प्रकाशित हो चुका है। अब यह दूसरा खंड आपके हाथ में है।

इस प्रकार से श्रीमद् भट्टाकलंक देव के बारे में मैंने संक्षिप्त वर्णन किया है। वर्तमान में "निकलंक का बलिदान" नाम से इनका नाटक खेला जाता है। जो कि प्रत्येक मानव के मानसपटल पर जैन शासन की रक्षा और प्रभावना की भावना को अंकित किये बिना नहीं रहता है।

बाल्यकाल में "अकलंक निकलंक नाटक" देखकर ही मेरे हृदय में एक पंक्ति अंकित हो गई थी कि—

“प्रशालनाद्धि पंकस्म दूरादस्पर्शनं वरम्”

कीचड़ में पैर रखकर धोने की अपेक्षा कीचड़ में पैर न रखना ही अच्छा है। उसी प्रकार से गृहस्थावस्था में काम कर पुनः निकलकर दीक्षा लेने की अपेक्षा गृहस्थी में न फँसना ही अच्छा है। इस पंक्ति ने ही मेरे हृदय में वैराग्य का अकुर प्रगट किया था जिसके फलस्वरूप आज मैं उनके पदचिह्नों पर चलने का प्रयास करते हुये उनके विषय में कुछ लिखने के लिये सक्षम हुई हूँ।

**श्री विद्यानन्द आचार्य—**

आचार्य विद्यानन्द ऐसे महान् तार्किक हुये हैं कि जिन्होंने प्रमाण और दर्शन सम्बन्धी ग्रन्थों की रचना करके श्रुत परम्परा को महत्वशील बनाया है। इनकी रचनाओं के अवलोकन से यह अवगत होता है कि ये दक्षिण भारत के कर्नाटक प्रान्त के निवासी थे। इसी प्रदेश को इनकी साधना और कार्य भूमि होने का सौभाग्य प्राप्त है। किंवदन्तियों के आधार से यह माना जाता है कि इनका जन्म ब्राह्मण परिवार में हुआ था। इस मान्यता की सिद्धि इनके प्रखर पांडित्य और महती विवृत्ता से भी होती है। इन्होंने वैशेषिक, न्याय, मीमांसा, वेदांत आदि दर्शनों का अध्ययन कर लिया था। इन आस्तिक दर्शनों के अतिरिक्त ये दिगूनाग, धर्मकीर्ति और प्रज्ञाकर आदि बौद्ध ग्रन्थों के भी तलस्पर्शी विद्वान् थे।

ये कब हुये हैं? इनकी गुरुपरंपरा क्या थी? इनका जीवन वृत्त क्या है? इत्यादि बातें अनिर्णीत ही हैं। फिर भी विद्वानों ने इनका समय निश्चित करने के लिये पर्याप्त प्रयत्न किया है।

शक संवत् १३२० के एक अभिलेख<sup>१</sup> में कहे गये नन्दिसंघ के मुनियों की नामावली में विद्यानन्द का नाम आता है जिससे यह अनुमान होता है कि इन्होंने नन्दिसंघ के किसी आचार्य से दीक्षा ग्रहण की है और महान् आचार्य पद को सुशोभित किया है। श्री वादिराज ने (ई० सन् १०५५) अपने “पार्ष्वनाथ चरित” नामक काव्य में इनका स्मरण करते हुये लिखा है—

“श्रुजुसूत्रं स्फुरद्भूतं विद्यानन्दस्य विस्मयः। शृण्वतमप्यलंकारं दीप्तिरंगेषु रंगतिः॥”

आश्चर्य है कि विद्यानन्द के तत्त्वार्थ श्लोकवातिक और अष्टसहस्री जैसे दीप्तिमान् अलंकारों को सुनने वालों के भी अंगों में दीप्ति आ जाती है, तो उन्हें धारण करने वालों की तो बात ही क्या है?

इस प्रकार से यह स्पष्ट हो जाता है कि इनकी कीर्ति ई० सन् की १०वीं शताब्दी में चारों तरफ फैल रही थी।

पं० दरबारीलाल जी कोठिया ने विद्यानन्द के जीवन और समय पर विशेष विचार किया है—

“विद्यानन्द भगवतरेण शिवमार द्वितीय (ई० सन् ८१०) और राचमल्ल सत्यवाक्य प्रथम (ई० सन् ८१६) के समकालीन हैं और इन्होंने अपनी कृतियां प्रायः इन्हीं के राज्य समय में बनाई हैं। विद्यानन्द और तन्वार्थ श्लोकवार्तिक को शिवमार द्वितीय के और आप्तपरीक्षा, प्रमाणपरीक्षा तथा युक्त्यनुशासनालंकरण ये तीन कृतियां राचमल्ल सत्यवाक्य प्रथम (ई० ८१६-८३०) के राज्यकाल में बनी जान पड़ती हैं। अष्टसहस्री प्लोकवार्तिक के बाद की और आप्तपरीक्षा आदि के पूर्व की रचना है—करीब ई० ८१०-८१५ में रची गयी प्रतीत होती है। तथा पत्रपरीक्षा, श्रीपुर पार्श्वनाथस्तोत्र और सत्यशासन परीक्षा ये तीन रचनाएँ ई० सन् ८३०-८४० में रची जान होती हैं। इससे भी आचार्य विद्यानन्द का समय ई० सन् ७७५-८४० प्रमाणित होता है।”

अतएव आचार्य विद्यानन्द का समय ई० सन् की नवम शती है।

इनके गृहस्थ जीवन का तथा दीक्षा गुरु का कोई विशेष परिचय और नाम उपलब्ध नहीं है।

इनकी रचनाओं को दो वर्गों में विभक्त किया गया है—

१. स्वतन्त्र ग्रन्थ और २. टीका ग्रन्थ।

### १. स्वतन्त्र ग्रन्थ—

१. आप्त परीक्षा (स्वोपज्ञ वृत्ति सहित), २. प्रमाण परीक्षा, ३. पत्र परीक्षा, ४. सत्यशासन परीक्षा, ५. श्रीपुर पार्श्वनाथ स्तोत्र, ६. विद्यानन्द महोदय।

### २. टीका ग्रन्थ—

१. अष्टसहस्री, २. श्लोकवार्तिक, ३. युक्त्यनुशासनालंकार।

१. आप्तपरीक्षा ग्रन्थ में १२४ कारिकाएँ हैं और इन्हीं ग्रन्थकर्ता द्वारा रचित वृत्ति है। इस ग्रन्थ में अर्हंत को मोक्षमार्ग का नेता सिद्ध करते हुये मोक्ष, आत्मा, संवर, निर्जरा आदि के स्वरूप और भेदों का प्रतिपादन किया है। इसमें ईश्वर परीक्षा, कपिलपरीक्षा, सुगतपरीक्षा, ब्रह्माद्वैत परीक्षा करके अर्हंत के सर्वज्ञत्व की सिद्धि की है।

२. प्रमाणपरीक्षा में प्रमाण का स्वरूप, प्रामाण्य की उत्पत्ति एवं जप्ति, प्रमाण की संख्या, विषय एवं उसके फल पर विचार किया गया है।

३. पत्रपरीक्षा नामक लघुकाव्य ग्रन्थ में विभिन्न दर्शनों की अपेक्षा “पत्र” के लक्षणों को उद्धृत कर जैन दृष्टिकोण से पत्र का लक्षण दिया गया है तथा प्रतिज्ञा और हेतु इन दो अवयवों को ही अनुमान का अंग बताया है।

४. सत्यशासनपरीक्षा की सहृत्ता के सम्बन्ध में वंजित महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्य ने लिखा है—  
“उनकी यह सत्यशासन परीक्षा ऐसा एक तेजोमय रत्न है, जिससे जैन न्याय का आकाश दमदमा उठेगा। यद्यपि इसमें आये हुये पदार्थ फुटकर रूप से उनके अष्टसहस्री आदि ग्रन्थों में खोजे जा सकते हैं पर इतना सुन्दर और व्यवस्थित तथा अनेक नये प्रमेयों का सुवचिपूर्ण संकलन, जिसे स्वयं विद्यानन्द ने ही किया, अन्यत्र मिलना असंभव है।”

1. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, भाग २, पृ० ३५२। 2. अनेकांत, वर्ष ६, किरण ११



५. विद्यानन्द महोदय नाम का यह ग्रन्थ आचार्य विद्यानन्द की सर्वप्रथम रचना है। इसके पश्चात् ही इन्होंने तन्त्रार्थ श्लोकवार्तिक और अष्टसहस्री आदि महत्वपूर्ण ग्रन्थों की रचना की है। यह ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं है पर उसका नामोल्लेख श्लोकवार्तिक आदि ग्रन्थों में मिलता है।

६. श्रीपुर या अतरिक्ष के पार्श्वनाथ की स्तुति में कुल ३० पद्य हैं। इस स्तोत्र में दर्शन और काव्य का मंगा-यमुनी संगम है। डॉ० नेमिचन्द्र जी उपोतिषाचार्य कहते हैं कि—“इस स्तोत्र में सर्वज्ञ सिद्धि, अनेकान्त-सिद्धि, आत्माभावात्मक वस्तु निरूपण, सप्तभंगीनय, सुनय, निक्षेप, जीवादिपदार्थ, मोक्षमार्ग, वेद की अपौरुषेयता का निराकरण, ईश्वर के जगत् कर्तृत्व का खंडन, सर्वथा अणिकल्प और नित्यत्व मीमांसा, कपिलाभिमत पञ्चीस तन्त्र समीक्षा, ब्रह्माद्वैत मीमांसा, चार्वाकसमीक्षा आदि दार्शनिक विषयों का समावेश किया गया है। भगवान् पार्श्वनाथ को रागद्वेष का विजेता सिद्ध करते हुये उनकी दिव्यवाणी का जयघोष किया है।”

वास्तव में ३० पद्य मात्र की रचना में इतने विषयों का समावेश करके भी काव्यत्व का निर्वाह करना आचार्य महोदय का अपना एक विलक्षण ही पांडित्य है।

७. अष्टसहस्री—जैन न्याय का यह सर्वोत्तम ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ के अध्ययन की महत्ता बतलाते हुए स्वयं श्री विद्यानन्द आचार्य कहते हैं—

“श्रोतव्याष्टसहस्री श्रुतीः किमन्यैः सहस्रसंख्यानैः।

विज्ञायेत ययैव, स्वसमय-परसमयसद्भावः” ॥

हजारों ग्रन्थों के मूलने से क्या प्रयोजन है? मात्र एक अष्टसहस्री ही सुनना चाहिये क्योंकि इस अष्टसहस्री के द्वारा ही स्वमिद्धान्त और पर मिद्धान्त का सद्भाव (स्वरूप) जाना जाता है।

श्री समंतभद्र स्वामी ने तन्त्रार्थसूत्र महाशास्त्र पर गन्धहस्तिमहाभाष्य नामक भाष्य लिखते समय प्रारम्भ में “मोक्षमार्गस्य नेतारं” इत्यादि मंगलाचरण के ऊपर ११४ कारिकाओं द्वारा आप्त की मीमांसा की है अतः उसका नाम “आप्तमीमांसास्तोत्र” है। “तथा देवागमनभोयान” से प्रारम्भ किया है अतः प्रारंभिक “देवागम” पद को लेकर इस रचना का “देवागमस्तोत्र” यह नाम भी प्रसिद्ध है।

श्री अकलंकदेव ने इस स्तोत्र पर ५०० श्लोक प्रमाण भाष्य रचना की है जिसका नाम “अष्टशती” प्रसिद्ध है।

अष्टशती समेत इस आप्तमीमांसा पर आचार्य श्री विद्यानन्द महोदय ने ८००० श्लोक प्रमाण में “अष्टसहस्री” नाम से “महाभाष्य” बनाया है। यह ग्रन्थ न्याय की प्रांजल-भाषा में रचा गया दुरूह और जटिल है। स्वयं ग्रन्थकार ने इसे “कष्टसहस्री” कहा है—

कष्टसहस्री सिद्धा साष्टसहस्रीयमत्र में पुष्यात् ।<sup>१</sup>

जो कष्टसहस्री सिद्ध है ऐसी यह अष्टसहस्री मेरे मनोरथ को पूर्ण करे।

इस ग्रन्थ में एकादश नियोग, विधिवाद, भावनावाद और इनका निराकरण तथा तत्त्वोपप्लववाद, संवेदनाद्वैत, चित्राद्वैत, ब्रह्माद्वैत, सर्वज्ञभाव आदि का निराकरण करके सर्वज्ञ सिद्धि, मोक्षतरंग की ओर उसके उपाय की सिद्धि का सुन्दर विवेचन है।

1. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परंपरा भाग २, पृ० ३६१।

2. अष्टसहस्री मूल, पृ० १५७, 3. अष्टसहस्री पृ० २६५।

प्रत्येक प्रकरण में सप्तभंगी स्याद्वाद का जैसा सुन्दर विवेचन इस ग्रन्थ में है वैसा विवेचन अन्यत्र उपलब्ध नहीं है ।

यह ग्रन्थ दश परिच्छेदों में विभक्त है । प्रथम परिच्छेद सप्तोक्त है । आठवाँ ग्रन्थ इसी में समाप्त है और आधे में नव परिच्छेद हैं ।

८. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक नाम का ग्रन्थ टीका ग्रन्थों में एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है यह उमास्वामी आचार्य के तत्त्वार्थसूत्र पर भाष्य रूप से रचा गया है । पद्यात्मक शैली में है, साथ ही पद्य वातिकों पर उन्होंने स्वयं भाष्य अथवा गद्य में व्याख्यान लिखा है । आचार्य महोदय ने इसकी रचना करके कुमारिल, धर्मकीर्ति जैसे प्रसिद्ध तार्किकों के द्वारा जैन दर्शन पर किये गए आक्षेपों का उत्तर दिया है । इस ग्रन्थ की समता करने वाला जैन दर्शन में तो क्या अन्य किसी भी दर्शन में एक ग्रन्थ भी नहीं है ।

जीव का अन्तिम ध्येय मोक्ष है । बन्धन बद्ध आत्मा को मुक्ति के अतिरिक्त और क्या चाहिये ? इस ग्रन्थ में मुक्ति के साधनभूत रत्नत्रयमार्ग का सुन्दर और गहन विवेचन किया गया है ।

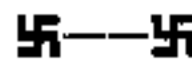
तृतीय अध्याय के प्रथम सूत्र के भाष्य में “पृथ्वी धूमती है” । इस सिद्धांत का खंडन करके पृथ्वी को स्थिर सिद्ध किया है । इस प्रकरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि आज से १००० वर्ष पूर्व भी कुछ आम्नायी वैज्ञानिक विचारधारा के अनुसार पृथ्वी को धूमती हुई मानते थे । इसी प्रकार से चतुर्थ अध्याय में ज्योतीर्लोक का बहुत ही स्पष्ट और विस्तृत विवेचन है । इस ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद पं० माणिकचन्द जी न्यायाचार्य ने किया है । ग्रन्थ प्रकाशित हो चुका है । सभी के लिये पठनीय और मननीय है ।

९. युवत्यनुशासनालंकार यह भी एक टीकाग्रन्थ है । श्री स्वामीसमंतभद्र ने ६४ कारिकाओं में “युवत्यनुशासन” नाम से यह एक स्तुति रचना की है । इसमें स्वामी ने श्री भगवान महावीर के शासन को “सर्वोदय” शासन सिद्ध किया है । श्री विद्यानन्द आचार्य ने अलंकार स्वरूप ही टीका रचकर युवत्यनुशासनालंकार यह सार्थक नाम दिया है ।

स्वामी समंतभद्र ने अद्वैतवाद, द्वैतवाद, शाश्वतवाद, अशाश्वतवाद, दैववाद, पुरुषार्थवाद, बन्धवाद, मोक्षवाद और बन्धकारण—मोक्षकारणवाद आदि प्रमेयों की समीक्षा करके स्याद्वाद की सिद्धि की है । उसी का विस्तार टीकाकार ने किया है । श्री विद्यानन्द आचार्य के प्रति अपनी श्रद्धा व्यक्त करते हुये डॉ० नेमिचन्द ज्योतिषाचार्य कहते हैं—

“अतः हमें विद्यानन्द की—श्रोताव्याप्तसहस्री श्रुतः किमन्यैः सहस्रसंख्यानैः । विज्ञायेत यद्यैव स्वसमवसर-समयसद्भावः । आदि गर्वोक्ति स्वाभावोक्ति प्रतीत होती<sup>१</sup> है ।”

वास्तव में जैसे इनकी अष्टसहस्री ग्रन्थ के प्रश्नोत्तर की शैली एक अनूठी है अनुपम है और सभी के लिये पठनीय है मननीय है, वैसे ही इनके सभी ग्रन्थ न्याय और सिद्धांत के सूक्ष्मज्ञान कराने में सर्वथा सक्षम हैं ।



## इस अष्टसहस्री ग्रंथ का अनुवाद तथा प्रकाशन क्यों ? कब ? एवं कैसे ?

लेखक—पीठाधीश्वर क्षुल्लक मोतीसागर

मोती माणक पन्ना आदि पिरोकर अथवा रंग बिरंगे फूलों से गुंथी गई माला जिस प्रकार से वक्षस्थल की शोभा बढ़ाती है उसी प्रकार से समंतभद्राचार्य ने भगवान् की भक्ति उनकी परीक्षारूप में करते हुए वेदागम स्तोत्र की रचना की। उस स्तोत्र को ही आधार बनाकर अकलंकदेव ने अष्टशती का निर्माण किया तदनंतर उसी स्तोत्र पर टीकारूप में विद्यानंद स्वामी ने अब से बारह सौ वर्ष पूर्व अष्टसहस्री का सृजन किया। अष्टसहस्री में वेदागम स्तोत्र को ऐसा गुंथा कि जिसने न्याय दर्शन का सेहरा बनकर जिनगम के भस्तक को गौरवान्वित किया।

न्यायदर्शन की शृंखला में समय-समय पर अनेक दिग्गज विद्वान् जैनाचार्यों द्वारा कड़ियाँ जोड़ते रहने से एक विशाल अर्गल बन गई जिससे उन्मत्त बावियों को बाँधना (परास्त करना) सुगम हो गया। कालचक्र निरंतर चलते हुए भी इस फौलादी सांकल को काट नहीं सका। यही कारण है कि विलासिता के इस दुर्गम समय में भी जिनमत का प्रचार-प्रसार निरंतर अद्विगल गति से हो रहा है।

### अनुवाद का बीजारोपण—

अष्टसहस्री का अनुवाद समस्त दार्शनिक जगत के लिये एक अनूठी उपलब्धि है। किसी भी मिष्टान्न को खा लेना और उसे छाकर उसका आनन्द प्राप्त करना बहुत ही सुगम है किन्तु उसके बनाने में कितना श्रम लगा यह वही जान सकता है जिसने उसे बनाया है अथवा आद्योपांत बनते देखा है व बनाने में सहयोग दिया है।

किसी भी वस्तु को बनाने वाला या किसी काम को करने वाला जब उसमें तन्मय होता है तब वह उसका स्वाभाविक आस्वाद प्राप्त कर लेता है। प्रत्युत यहाँ तक देखने में आता है कि वस्तु के उपभोक्ता से भी अधिक आनंद निर्माता को प्राप्त होता है।

ठीक यही स्थिती ग्रंथ निर्माता आचार्यों की रही है। परम निर्ग्रन्थ गुरु भगवान् कुंद-कुंद, पूज्यपाद, समंतभद्र, अकलंकदेव, जिनसेन, पुष्पदंत, भूतबली, अमृतचन्द्र, जयसेन, विद्यानंद आदि ने आरमानंद में निमग्न हो होकर उन्हीं भावों को ताड़पत्रों पर लिपीबद्ध कर दिया। यह उसी का प्रतिकूल है कि हम उनका स्वाध्याय करके अपनी आत्मानुभूति का मार्ग खोज रहे हैं। जो आनंद उन महामुनिराजों ने प्राप्त किया उसका शतांश भी हमको अनुपलब्ध है।

### अनुवाद का उद्देश्य—

जिस कार्य के बारे में सोचना भी कठिन था ऐसे इस अष्टसहस्री ग्रन्थ का भाषानुवाद पूज्य माताजी ने सहज में करके एक आश्चर्यजनक कार्य कर दिया। अधिकांश प्राचीन ग्रन्थों का सृजन शिष्यों के अध्यापन अथवा प्रश्नों के निमित्त से हुआ है। इस ग्रन्थ का भाषांतर भी माताजी द्वारा साधुओं तथा शिष्यों को अध्ययन कराने के निमित्त से ही किया गया।

विक्रम सं० २०२५ में नातिवीरनगर (श्रीमहावीरजी) राज० में सम्पन्न पंचकल्याणक प्रतिष्ठा के अनंतर नूतन आचार्य श्री धर्मसागर जी महाराज विशाल ग्रंथ को लेकर स्व० आचार्य श्री घोरसागर जी महाराज की निषीधिका के दर्शनार्थ जयपुर खानिया पधारे । जयपुर शहर के श्रावकों के अत्यधिक आग्रह के कारण श्री आदिनाथ दिगम्बर जैन मंदिर (बबशीजी), सेंहूदी चालों का चौक, रामगंज बाजार, बड़ी चौपड़ में चातुर्मास स्थापना हुई ।

### अनुवाद का शुभारंभ -

वर्षायोग में एक स्थान पर लगातार चार माह तक निश्चित ठहरने के कारण साधुओं का ध्यान अध्ययन विशेष होता है । वरिष्ठता के कारण माताजी ने आशिका संघ संबंधि अनेक दैनिक व्यवस्थाओं को सम्हालने के साथ-साथ अध्ययन कराते हुए जब हम लोगों की अष्टसहस्री का अध्ययन कराना प्रारम्भ किया तो मैंने माताजी से निवेदन किया कि इतने बड़े ग्रंथ को मूल से पढ़कर परीक्षा देना हमारे लिये कठिन है ।

माताजी ने हमारी प्रार्थना को सुनकर अनुवाद करना ही प्रारम्भ कर दिया । समय बीतने के साथ ही अनुवाद की भी तीव्र गति प्राप्त हो गई । अनुवाद कार्य समाप्ति से पूर्व वि० सं० २०२७ का आभासी चातुर्मास का समय आ गया । इस चातुर्मास का योग टोंक (राज०) को प्राप्त हुआ । चातुर्मास समाप्ति तक अनुवाद कार्य भी चरमसीमा को प्राप्त हो चुका था । अनुवाद के समापन का श्रेय टोंक जिले में स्थित टोडारामसिंह नगर को प्राप्त हुआ ।

इस अष्टसहस्री ग्रंथ में अत्यधिक कठिन समझे जाने वाले भावना नियोग अधिकार को पहले तो माताजी ने भी अनुवाद करने से यह सोचकर छोड़ दिया था कि किसी विद्वान का सहारा लेकर इसका अनुवाद करना पड़ेगा किंतु जब किसी भी विद्वान ने इस कठिन कार्य में हाथ डालने की हिम्मत नहीं की तो स्वयं माताजी ने ही आत्म-विश्वास के साथ भगवान् के समक्ष मंदिर में बैठकर मात्र दस दिन में ही उसे भी पूरा कर दिया ।

### अनुवाद समापन समारोह—

वि० सं० २०२७ के पौष माह की मुदी वारस का वह उज्ज्वल दिवस था जिस दिन अनुवाद कार्य सम्पन्न हुआ । इसके तीन दिन बाद ही आचार्य श्री धर्मसागर जी महाराज का ५७वां जन्म दिवस मनाया गया । अनुवाद कार्य की निर्विघ्न समाप्ति के हर्षोपलक्ष्य में पौष शु० १५ को विधान करके विशाल रथयात्रा के साथ अष्टसहस्री की अनुवादित हस्तलिखित कापियों को सुसज्जित सुन्दर पात्रकी में बिराजमान करके जुलूस के साथ आरती पूजनादि के द्वारा महती प्रभावना की गई ।

### प्रकाशन से पूर्व की तैयारी—

माताजी ने तो अनुवाद पूर्ण कर आचार्यों के मनोभावों का रसास्वादन प्राप्त कर लिया किन्तु व्यायदशैल के पाठक विद्यार्थी एवं स्वाध्याय प्रेमी भी अष्टसहस्री के मर्म को हृदयंगम कर सकें इस पुनीत भावना से इसे अनुवाद सहित शीघ्र प्रकाशित करने की उत्कट अभिलाषा उत्पन्न हुई । किन्तु प्रकाशन हेतु प्रेस में देने से पूर्व जो सबसे पहली समस्या सामने आई वह थी पुननिरीक्षण एवं संशोधन करके प्रेस कापी तैयार करने की । इस कार्य के लिये बड़ी आशाएँ थी परम तपस्वी पूज्य आचार्य श्री महावीर कीर्ति जी महाराज से । किन्तु उनका असमय में ही स्वर्गवास हो गया ।

तब आचार्य श्री ज्ञानसागर जी महाराज को अनुवादित कापियाँ पढ़ने के लिए दी गईं । उन्हें वृद्धावस्था तथा शारीरिक कमजोरी के कारण स्वयं पढ़ने की तो शक्ति नहीं थी अतः कुछ पृष्ठ पढ़कर सुनाये गये । जिस पर

उन्होंने अतीव संतोष व्यक्त करते हुए कई बार ये शब्द कहे कि—“अनुवाद बहुत ही सरल, स्पष्ट एवं प्रभावक हुआ है। साथ ही यह भी कहा कि माताजी स्वयं ही एक बार सूक्ष्मता से दृष्टि डालकर परिमार्जित कर लें। अतः माताजी ने अन्य कार्यों को गौण करके अपना अमूल्य समय एवं सम्पूर्ण शक्ति इसी में लगाकर कृति को पूर्ण रूप से विशुद्ध बना दिया।

### हस्तलिखित प्रति की प्राप्ति—

अनुवाद के समय तो केवल छपी हुई प्रति ही सामने थी जो कि त्रिणयसागर प्रेस बम्बई की छपी थी। वि० सं० २०२६ के अजमेर चातुर्मास के पश्चात् जब माताजी व्यावर पधारीं तब पं० हीरालाल जी सिद्धांतशास्त्री ने अष्टसहस्री के अनुवाद को देखने की अभिलाषा व्यक्त की। कुछ पृष्ठों का अवलोकन करके परम संतोष व्यक्त करते हुए इस महान् कार्य की भूरि-२ प्रशंसा की। बाद में पं० हीरालाल जी के सौजन्य से ऐलवा पन्नालाल दिगम्बर जैन सरस्वती भवन व्यावर के विशाल ग्रंथ अंडार से जिसमें कि वे सेवारत थे ४०० वर्ष प्राचीन एक हस्तलिखित अष्टसहस्री की प्रति प्राप्त हुई। उसमें छपी हुई प्रति से कुछ अधिक टिप्पणियाँ एवं पाठांतर दे रखे थे जिनसे अर्थ का विशेष स्पष्टीकरण होता है यदि यह प्रति अनुवाद से पूर्व सामने होती तो अनुवाद में जितना श्रम लगा उसमें सहायता मिलती। उस हस्तलिखित प्रति की विशेष टिप्पणियों एवं पाठांतरों को माताजी ने इस ग्रंथ में जोड़ लिया है।

### प्रकाशन का निश्चय—

जब प्रकाशन की तैयारी हो चुकि तो प्रेस की समस्या सामने आई। व्यावर में तो ऐसी कोई प्रेस उपलब्ध नहीं हुई जिसमें संस्कृत का कार्य हो सके। तब पं० अभयकुमार जी अजमेर (तत्कालीन प्रबंधक-जैन गजट साप्ताहिक) के सहयोग से केशव आर्ट्स प्रिंटर्स, हाथी भाटा अजमेर के यहाँ छपवाना प्रारम्भ हुआ। संस्कृत प्रूफ रीडिंग एवं पेज कटिंग के लिए कई लोगों से बात की किन्तु कोई उचित व्यक्ति न मिल पाने से अंततोगत्वा प्रूफ रीडिंग का कार्य हमें ही करना पड़ा। पेज कटिंग व फायनल प्रूफ रीडिंग का कार्य भार माताजी पर ही छोड़ा गया क्योंकि और कोई करने में सक्षम भी नहीं था।

### प्रकाशन व्यवस्था अजमेर से दिल्ली—

बड़ी कठिनाई से यह व्यवस्था बन पाई थी कि संध का बिहार दिल्ली के लिए हो गया। पुनः यह समस्या उपस्थित हो गई कि इतनी दूर रहकर यह काम चलाना अशक्य है अतः दिल्ली में संस्कृत का काम करने वाली अनुभवी प्रेस की खोज की गई। सच्चाट प्रेस पहाड़ी धीरज इसके लिये सक्षम रही। अजमेर से छपे हुए फर्मे व अवशेष कागज आने तक छह माह बीत गए एवं प्रेस निर्णय के बाद भी टाइप आदि की व्यवस्था में तीन माह और निकल गये। पुनः वि० सं० २०२६ में भाद्रपद माह के शुभ दिन से छपाई का कार्य मंद गति से चलने लगा।

### पूज्य माताजी का अनुवाद सौष्ठव में अपार श्रम—

पूज्य माताजी ने अनुवाद करने में जितना श्रम किया है उसके विषय में कलम से लिखना कठिन है। मूल एवं हिन्दी प्रकरणों के शीर्षक बनाना, प्रत्येक पृष्ठ के ऊपर विषय के अनुसार शीर्षक देना, मूल पंक्तियों के अर्थ के साथ टिप्पणियों के अर्थ को खोलना, अर्थ के अनंतर स्थान-स्थान पर भावार्थ एवं विशेषार्थ के द्वारा अति स्पष्ट रूप में प्रकरण के रहस्य को प्रस्फुट करना सामान्य श्रम नहीं था।

इन सबके अतिरिक्त समस्त प्रतिवादियों की विचारधारा को भस्तिष्क में रखकर सार रूप में विषय

विभाजन करते हुए ५४ सारांश बनाए, जिनकी सहायता से प्रारम्भ में थोड़ा पढ़कर भी बहुत कुछ समझा जा सकता है। मैंने तथा संवत्स्र अन्य छात्र-छात्राओं ने इन्हीं सारांशों के आधार से शास्त्री एवं व्यापतीर्थ की परीक्षाएँ दीं। बहुत सी बातों को एक सूत्र में गभित करके कहना अथवा एक सूत्र पर एक प्रश्न तैयार कर देना ये दोनों कार्य अपने-अपने स्थान पर विशेष महत्व रखते हैं।

### एक और हस्तलिखित प्रति की उपलब्धि—

अब प्रथम भाग के ३०० पृष्ठ छप गये तब दि० जैन नया मन्दिर धर्मपुरा, दिल्ली के प्राचीन शास्त्र भंडार से अष्टसहस्री की एक और हस्तलिखित प्रति श्री पन्नालाल जैन अभ्रवाल (किताब खानों) के सौजन्य से प्राप्त हुई। उसमें विस्तार पूर्वक टिप्पणियाँ दी गई हैं। इस प्रति से भी अधिकांश टिप्पणियाँ एवं साठांतर लिये गये हैं उनको अलग से दिखाने के लिये दिल्ली प्रति = दि० प्र० ऐसा संकेत उनके आगे किया है।

### पूज्य माताजी की अपार श्रमता एवं कार्य क्षमता —

नीतिकारों ने कार्य करने वाले तीन प्रकार के बतलाये हैं। एक तो वे होते हैं जो कठिनाता आदि कारणों से कार्य को करते ही नहीं हैं। दूसरे वे होते हैं जो कि विघ्न बाधाएँ आने पर प्रारम्भ किये हुए कार्य को मध्य में ही अधूरा छोड़ देते हैं। तीसरे वे होते हैं जो विघ्न बाधाओं की परवाह न करके अनेक कष्टों को सहन करते हुए कार्य को पूर्ण करके ही छोड़ते हैं अथवा पूर्ण करने में संलग्न रहते हैं।

पू० माताजी तीसरे प्रकार के व्यक्तियों में से एक हैं जिन्होंने अपने जीवन में कभी भी यह नहीं सोचा कि यह काम नहीं हो सकता है। सदैव सोचे हुए कार्य आत्मीक बल से पूर्ण किये। आपका मनोबल अपार है। उत्साह हीनता को आपके जीवन में प्रश्रय नहीं मिला। कर्मठता ही आपके जीवन का ध्येय रहा। इसी के फल-स्वरूप यह अष्टसहस्री ग्रन्थ अनुवादित होकर पाठकों के हाथों में पहुँच सका है।

### प्रस्तुत ग्रन्थ की विशेषता—

इस अष्टसहस्री की महानता के विषय में स्व० पं० श्री जुगलकिशोर मुख्त्यार द्वारा लिखित देवामम अपरनाम भाष्यमीमांसा नामक पुस्तक की प्रस्तावना में उन्होंने लिखा है—“एक बार खुर्जा के सेठ पं० मेवाराम जी ने बतलाया कि जर्मनी के एक विद्वान् ने उनसे कहा कि—“जिसने अष्टसहस्री नहीं पढ़ी वह जैनी नहीं और जो अष्टसहस्री पढ़कर जैनी नहीं बना उसने अष्टसहस्री को पढ़ा नहीं। समझा ही नहीं।” यह कितना महत्वपूर्ण वाक्य है। एक अनुभवी विद्वान् के मुख से निकला हुआ यह वाक्य इस अष्टसहस्री ग्रन्थ के गौरव को कितना अधिक स्थापित करता है। सचमुच अष्टसहस्री ऐसी ही एक अपूर्वकृति है। खेद है कि आज तक ऐसी महत्वपूर्ण कृति का कोई हिन्दी अनुवाद गौरव के अनुरूप होकर प्रकाशित नहीं हो सका।”

काश ! यदि आज पं० जुगलकिशोर जी मुख्त्यार होते तो उन्हें इस अनुवादित ग्रन्थ को देखकर कितनी प्रसन्नता होती।

इस महान् ग्रन्थ की महत्ता को स्वयं आचार्य विद्यानन्द स्वामी ने द्वितीय अध्याय के सगलावरण में इस रूप में लिखा है—

श्रोतव्याष्टसहस्रीश्रुतैः किमन्येः सहस्र संख्यानैः ।

विज्ञायेत यद्येव स्वसमयपरसमय सद्भाषः ॥

अष्टसहस्री को ही सुनना चाहिये, हजारों ग्रन्थों को सुनने/पढ़ने से क्या प्रयोजन/लाभ है। जबकि एक अष्टसहस्री से ही स्वसमय अर्थात् आत्मा—जैन सिद्धांत और उसके तत्त्वस्पर्शी रहस्यों का बोध हो जाता है तथा पर समय अर्थात् अनात्माजन्य मतावलम्बियों के सिद्धांत और भ्रांत धारणाओं का एवं कपोलकल्पनाओं का सर्वथा निराकरण हो जाता है।

**प्रस्तुत ग्रन्थ के सहत्व पर स्वयं माताजी का अभिमत—**

“कुछ महानुभावों की यह धारणा है कि न्यायशास्त्रों में आत्मा का वर्णन नहीं है किन्तु यह उनकी मात्र भ्रांति है। प्रमाण—सच्चे ज्ञान का एवं आप्त—कर्ममल रहित आत्मा का इसमें विशद वर्णन है। आत्मा या अन्य द्रव्यों को समझने के लिये स्याद्वाद ही महान आधार है जबकि यह ग्रन्थ स्याद्वाद कथनमय है।”

माताजी का कहना है कि “सप्तभंगीमय स्याद्वाद प्रक्रिया का स्थल-स्थल पर जितना अधिक विवेचन अष्टसहस्री में है उतना वर्तमान में उपलब्ध जैन सिद्धांत ग्रन्थों में किन्हीं में भी नहीं है। यह ग्रन्थ स्याद्वाद प्रक्रिया को समझने में सर्वोपरि है।”

**युग की अनुपम देन—**

ग्रन्थ रचना काल के इतिहास को देखने से ज्ञात होता है कि अग्रधान महत्कार पे देवा अथ तक अितने भी ग्रन्थ लिखे गये थे सब पुरुष वर्ग द्वारा लिखे गये या मुनियों-आचार्यों ने लिखे अथवा विद्वान् पंडितों ने लिखे। पूर्व से पश्चिम तक अथवा उत्तर से दक्षिण तक के किसी भी शास्त्र भंडार में किसी आर्विका अथवा आर्विका द्वारा लिखित एक भी ग्रंथ उपलब्ध नहीं होता।

ग्रन्थ लेखन का यह कार्य जो कि महिलाओं के द्वारा नहीं हो पाया था उसका शुभारंभ पूज्य ज्ञानमती माताजी ने किया। पूज्य माताजी के पश्चात् अन्य और भी आर्विका माताओं ने ग्रन्थ लेखन करके साहित्यधारा को प्रवाहित किया है। इस युग की यह एक बड़ी भारी ऐतिहासिक देन है कि न्याय दर्शन जैसे क्लिष्ट एवं शुष्क विषयक ग्रन्थ का अनुवाद कठिनतम संयम को धारण करने वाली गणिनी आर्विकारत्न श्री ज्ञानमती माताजी द्वारा किया जाकर इतनी सुन्दरता एवं विशेषता के साथ प्रकाशित हुआ है।

अनेक विद्वानों को यह सुनकर विश्वास नहीं होता था कि किन्हीं आर्विका जी ने अष्टसहस्री का अनुवाद किया है। किन्तु अष्टसहस्री प्रथम भाग जब सबके हाथों में पहुँचा तो सब आश्चर्यचकित रह गये। स्व० पं० कैलाशचन्द्र जी सिद्धांत शास्त्री जैसे साधुओं के बालोचक विद्वान् ने भी यह कहा कि—“सो विद्वान् मिलकर जिस काम को नहीं कर पाते उसे अकेली ज्ञानमती माताजी ने कर दिया।

**अन्य विद्वानों के अभिमत—**

अष्टसहस्री प्रथम भाग के छपे हुए कुछ पृष्ठों का अवलोकन करके पं० परमेश्वरीदास जी ललितपुर, डॉ० लालबहादुर जी शास्त्री, पं० गुलाबचंद जी जैनदर्शनाचार्य-प्राचार्य संस्कृत महाविद्यालय जयपुर, पं० बाबूलाल जी जमादार बड़ौत, पं० मूलचंदजी शास्त्री श्री महावीर जी, डॉ० ए० एन० उपाध्याय, पं० फूलचंद जी सिद्धांत शास्त्री, पं० मोतीलाल जी कोठारी फलटन आदि अनेक मूर्धन्य विद्वानों ने बड़ी प्रसन्नता एवं गौरव व्यक्त किया कि अभी भी अष्टसहस्री जैसे न्याय के महान् ग्रन्थों का अध्ययन करने वाले ही नहीं अपितु उसके अनुवाद जैसे दुर्लभ कार्य

को करने वाली पूज्य श्री ज्ञानमती माताजी जैसी परम विदुषी आधिका विद्यमान हैं जिनके कि हमें साक्षात् दर्शन हो रहे हैं ।

पं० पन्नालाल जी साहित्याचार्य ने तो माताजी के साहित्य का अवलोकन करते हुए अत्यन्त गद्गद होकर कहा कि "ज्ञानमती माताजी तो सरस्वती की अवतार हैं ।"

पं० दरबारीलाल जी कोठिया जी कि न्यायदर्शन के उत्कृष्ट विद्वान् हैं हस्तिनापुर आये तो माताजी ने वास्तव्य भाव से उन्हें कहा कि आप तो सरस्वती पुत्र हैं तो उन्होंने कहा—“माताजी ! आप तो साक्षात् ही सरस्वती हैं ऐसा कहते हुए उन्होंने अनेकबार माताजी की प्रशंसा की ।

पं० कैलाशचंद जी सिद्धान्त शास्त्री ने अष्टसहस्री का प्रकाशन भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा प्रकाशित करने के लिये अत्यधिक आग्रह किया था किन्तु दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान के अन्तर्गत स्थापित वीर ज्ञानोदय ग्रन्थमाला का यह प्रथम भाग पहला पुष्प था इसलिये ज्ञानपीठ से प्रकाशन कराने की भावना नहीं बनी ।

अष्टसहस्री के प्रथम भाग के प्रकाशन के बाद से एक-एक करके १७ पुष्पों का प्रकाशन हो गया है । इस बीच में परम पूज्य सम्मार्थ दिवाकर, तीर्थोद्धारक नूडामणी, आचार्यरत्न श्री विमलसागर जी महाराज के पास जब-जब उनके दर्शनार्थ हम लोगों में से कोई भी गये सबसे पहले उन्होंने यही पूछा कि अष्टसहस्री का आने का प्रकाशन हुआ कि नहीं । जब हम लोग निरुत्तर हो जाते तो महाराज जोर देकर कहते कि सबसे पहले अष्टसहस्री का पूरा प्रकाशन कराओ ।

एक दो बार रवीन्द्र कुमार ने कहा कि—महाराज जी ! शेष प्रकाशन तीन भागों में छपेगा उसमें बहुत बड़ी लागत लगेगी । इस पर आचार्य श्री ने हँसते हुये कहा सब काम हो जावेगा, प्रारम्भ तो करो, चिंता मत करो ।

अभी सन् १९६७ में मेरी दीक्षा के निमित्त से जब सर्वसंघ सहित आचार्य श्री हस्तिनापुर पधारे थे तब पुनः कहा कि—“अब छपने भेज दो” । छपने देने का निर्णय कर लेने के बाद भी प्रेस का निर्णय करने में पूरा साल बीत गया ।

### दूसरे भाग का प्रकाशन—

इस दूसरे भाग के प्रकाशन में आने वाले अन्तराय की कहावी भी लम्बी है । पहले भाग के छपते ही सम्राट प्रेस पहाड़ीघीरज दिल्ली में सन् १९७४ में दूसरे भाग के लिये थोड़ा कागज खरीद कर भेज भी दिया गया था किन्तु संघ का हस्तिनापुर आगमन हो जाने से प्रकाशन कार्य में व्यवधान आ गया । उसके बाद कई प्रेसों में प्रयास किया गया किन्तु प्रकाशन की कठिनता के कारण कोई तैयार नहीं हो पाता था, बीच-बीच में अर्थाभाव के कारण भी प्रयास धीमे होते रहे । अंततोगत्वा आचार्य श्री एवं पूज्य माताजी के आशीर्वाद से इस दूसरे भाग का प्रकाशन हो ही गया ।

पूज्य माताजी ने अनुवाद से लेकर प्रकाशन तक जो श्रम इसमें किया है उसको शब्दों में अभिव्यक्त करना संभव नहीं है । समयसार ग्रन्थ की टीका लिखते हुए तथा शारीरिक अस्वस्थता होते हुए भी अंतिम प्रूफ संशोधन माताजी ने किया जो कि कष्ट साध्य कार्य था किन्तु लाचारी यह थी कि माताजी के अतिरिक्त इस कार्य को करने से कोई सक्षम भी नहीं था ।



### टिप्पण संकलन—

अष्टसहस्री प्रथम भाग में मुद्रित प्रति के टिप्पण तो सभी रखे ही गये हैं साथ ही व्यावर से प्राप्त हस्त-लिखित प्रति से एवं दिल्ली से प्राप्त हस्तलिखित प्रति से लिये गये प्रमुख टिप्पण भी दिये गये हैं ।

व्यावर प्रति से ब्र० रवीन्द्रकुमार, ब्र० मालती एवं ब्र० साधुरी आदि से माताजी ने टिप्पण निकलवाए थे । बाद में उनमें से प्रमुख टिप्पण स्वयं माताजी ने छांटकर निकालने में अत्यधिक परिश्रम किया था । बाद में दोनों हस्तलिखित प्रतियों से टिप्पण प्रो० डॉ० श्यामसुन्दर जैन बड़ौत द्वारा निकलवाए गये ।

इस द्वितीय भाग में मुद्रित मूलप्रति के सारे टिप्पण व हस्तलिखित दोनों प्रतियों से लिये गये टिप्पण मिश्रित करके छपवाए गये हैं । १२५ पृष्ठ तक तो सभी टिप्पण छपे हैं । टिप्पण की बहुलता देखकर आगे के लिए यह निर्णय किया गया कि मुद्रित प्रति जो कि निर्णयसागर प्रेस बंबई से छपी थी उसके टिप्पण छोड़कर दोनों हस्तलिखित प्रतियों से लिये गये टिप्पण ही छपाये जावें अतः पृष्ठ १२६ से आगे मात्र हस्तलिखित प्रतियों के ही टिप्पण छपाये गये हैं ।

### शुभ संयोग—

संयोग की बात है कि अठारह वर्ष पूर्व पौष शुक्ला १२ वि० सं० २०२७ में माताजी ने अनुवाद पूरा किया था । पुनः पौष शुक्ला १२ को यह दूसरा भाग छपकर हाथों में आया है । इस ग्रन्थ का पहला भाग जो कि ग्रन्थमाला के पहले पुष्प के रूप में पुष्पित हुआ था वह अकेला नहीं रहा उसने माताजी की/ग्रन्थमाला की बगीची में शताधिक प्रकार के पुष्प बिना दिये जो कि दस लाख की संख्या को प्राप्त हो चुके हैं । संस्थान की ग्रन्थमाला की बगिया के उन विभिन्न रंग एवं खुशबू के फूलों की महक से सम्पूर्ण देश भक्तिधारा में मदमस्त/आप्लावित हो रहा है । जैन समाज के घर-घर में ये पुष्प आत्मा के गुलदस्ते को सुशोभित कर रहे हैं ।

अब यही आशा है कि तीसरे तथा चौथे भाग के प्रकाशन में पूर्व की तरह विलम्ब नहीं होगा । अपितु शीघ्र ही प्रकाशित होंगे ।





## टीकाकर्त्री पूज्य गणिनी आर्थिकारत्न श्री ज्ञानमती माताजी का संक्षिप्त परिचय

लेखिका—**श्री० कु० साधूरी धारत्री**

अवध प्रान्त के टिकौतनगर ग्राम में सन् १८३४ शरद पूर्णिमा की रात्रि में घरती पर एक चाँद अवतीर्ण हुआ। श्रेष्ठ धनकुमार जी के सुपुत्र श्री छोटेलाल जी की बगिया खिल उठी और श्रीमती मोहिनी देवी का प्रथम मातृत्व धन्य हो गया। कन्या के रूप में भानों कोई देवी ही वरदान बनकर आई थी। कन्या का नाम रखा गया—“मैना”।

वैसे कन्या का जन्म साधारणतया घर में कुछ समय के लिए क्षोभ उत्पन्न कर देता किन्तु विश्व में अनादिकाल से पुरुषों के समान तारियों ने भी महान् कार्य कर धरा को गौरवान्वित किया है। बल्कि यों भी कह सकते हैं कि सतियों के सतीत्व के बल पर ही धर्म की परम्परा अशुष्ण बनी हुई है।

संस्कारों का प्रभाव जीवन में बहुत महत्व रखता है। ११ वर्ष की उम्र में कुमारी मैना के जीवन पर अमिट छाप पड़ी—अकलंक निकलंक नाटक के एक दृश्य की। विवाह की खर्चा के समय जो बात अकलंक ने अपने माता-पिता से कही थी कि “कीचड़ में पैर रखकर धोने की अपेक्षा नहीं रखना ही श्रेयस्कर है।” तदनुसार मैना ने भी उसी क्षण आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत रखने का मन में संकल्प कर लिया था।

सन् १८५२ की शरद पूर्णिमा के दिन बाराबंकी में मैना ने आचार्य श्री देशभूषण जी महाराज से सप्तम प्रतिमा रूप आजन्म ब्रह्मचर्यव्रत धारण कर लिया। बहुतों ने रोका, समझाया, संघर्ष किया लेकिन स्वातन्त्र्य प्रिय कु० मैना को रोकने में सफलता नहीं मिली। वि० सं० २००६ चैत्र कृ० १ के दिन आचार्य श्री से ही श्री महावीर जी अतिशय क्षेत्र पर भुल्लिका दीक्षा प्राप्त की। आपकी दृढ़ता देखकर गुरु ने नाम रखा—“वीरमती”।

जिस समय चारित्र्य चक्रवर्ती आचार्य श्री सातिसागर जी महाराज की कुंभलगिरि में सत्लेखना हो रही थी उस समय आप भी क्षुल्लिका विशालमती माताजी के साथ कुंभलगिरि आई और आचार्य श्री की विधिवत् सत्लेखना का दृश्य साक्षात् दृष्टि से देखा। आचार्य श्री ने अपने प्रथम शिष्य मुनि श्री वीरसागर जी की आचार्य वट्ट प्रदान किया था। श्री सातिसागर जी महाराज की आज्ञानुसार “शु० वीरमती” ने आचार्य श्री वीरसागर जी के संघ में प्रवेश कर वि० सं० २०१३ वैशाख कृष्ण द्वितीया को माधोराजपुरा (राज०) में आर्थिका दीक्षा ग्रहण कर ली। आचार्य श्री वीरसागर महाराज ने दीक्षोपरान्त वीरमती का नाम परिवर्तन कर नामकरण कर दिया—**आर्थिका श्री ज्ञानमती माताजी**।

आर्थिका ज्ञानमती जी ने अपनी छोटी सी अवस्था में ही गुरु के आशीर्वाद से महान् ज्ञानार्जन कर लिया। आचार्य श्री इन्हें हमेशा यही संवोधन दिया करते थे—माताजी! मैंने जो आपका नाम रखा है उसका ध्यान रखना। २ वर्ष पश्चात् गुरुदेव भी जयपुर खानिया में समाधिस्थ हो गए। आचार्य श्री की समाधि के पश्चात् लगभग ६ वर्ष तक आपने आ० शिवसागर महाराज के संघ में ही रहकर ध्यानाध्ययन किया। अन्तर

आ० श्री की आज्ञानुसार अपने आधिका संव सहित सम्मेलनखर, कलकत्ता तथा संपूर्ण दक्षिण भारत की यात्रा हेतु मलग विहार किया ।

दीपक जिस प्रकार स्वयं जलकर भी दूसरों को प्रकाश प्रदान करता है, चंदन विषधरों के द्वारा इसे जाने पर भी सुगन्धि ही बिखराता है । उसी प्रकार पू० ज्ञानमती माताजी ने सदैव परोपकार में ही अपने जीवन की सार्थकता मानी है ।

जहाँ आपने कुमारी कन्याओं, सौभाग्यवती महिलाओं एवं विधवा महिलाओं को गृहस्थ कीचड़ से निकाल कर मोक्षमार्ग में लगाया है वहीं कई नवयुवक एवं प्रौढ़ पुरुषों को भी शिक्षा देकर त्याग के चरम शिखर पर पहुँचाया है । चारित्र्यकवर्ती आचार्य श्री शांतिसागर जी महाराज के चतुर्थ पट्ट पर विराजमान आचार्य श्री अजितसागर महाराज वर्तमान में इसके जीते-जागते उदाहरण हैं । बाल ब्र० श्री राजमल जी को सन् 1958-59 में राजवातिक, गोम्मटसार कर्मकांड, पंचाध्यायी आदि ग्रंथों का अध्ययन कराया और दीक्षा की प्रेरणा देती रहीं । उसी के फलस्वरूप अपने अथक प्रयासों के बल पर आखिर एक दिन मुनि दीक्षा के लिये ज्ञानमती माताजी ने तैयार हो कर दिया और सन् 1961 में सीकर (राज०) में आचार्य श्री शिवसागर महाराज ने उन्हें दीक्षा देकर मुनि अजितसागर बना दिया ।

देखिए ! त्याग की विशेषता और मातृ हृदय की उदारता, आधिका श्री ज्ञानमती माताजी ने तत्क्षण ही उन्हें समोस्तु करना प्रारम्भ कर दिया । क्योंकि जैनधर्म में जिनलिंग-मुनिवेष सर्वाधिक पूज्य माना गया है ।

परमपूज्य आचार्यकल्प श्री श्रुतसागर जी महाराज हमेशा कहा करते थे—

“पारस मणि तो लोहे को सोना बनाता है, पारस रूप नहीं बनाता किन्तु ज्ञानमती माताजी वह पारस हैं जो लोहे को सोना ही नहीं किन्तु पारस बना देती हैं । प्रत्युत “निजसम की बात तो जाने दो निज से महान् कर देती हैं ।” वास्तव में मैंने भी यह अनुभव किया कि पू० माताजी अपने शिष्यों की तथा दूसरों की उन्नति देख सुनकर अत्यधिक प्रसन्न होती हैं । जिस समय उदयपुर (राज०) में जून १९६७ में मुनि श्री अजितसागर महाराज को आचार्यपट्ट प्रदान किया गया उस समय ज्ञानमती माताजी हस्तिनापुर में बैठकर भी कितनी प्रसन्न होकर उनके दीर्घ जीवन एवं उज्ज्वल परम्परा की अखंडता हेतु मंगल कामना कर रही थीं ।

इसी प्रकार से आपकी शिष्याओं में से आधिका श्री जिनमती माताजी, आदिमती माताजी ने आपके मुखारविन्द से ही धर्माध्ययन करके प्रमेयकमलमार्तण्ड एवं गोम्मटसार कर्मकाण्ड जैसे ग्रन्थों का हिन्दी अनुवाद करके एक आदर्श उपस्थित किया है । कई आधिकाएँ एवं ब्रह्मचारिणी शिष्याएँ अपनी-अपनी योग्यतानुसार यत्र तत्र धर्म प्रचार में संलग्न हैं ।

### साहित्यिक क्षेत्र—

दृढ़ संकल्पी आत्मा का प्रत्येक कार्य अवश्यमेव सफल होता है । जिस प्रकार ज्ञानमती माताजी ने शिष्य निर्माण में अच्छी सफलता प्राप्त की है उसी प्रकार साहित्य निर्माण के क्षेत्र में इस युग में एक नया कीर्तिमान स्थापित किया है ।

वर्तमान शताब्दी में जैन समाज की किसी महिला ने भी साहित्यसृजन का कार्य नहीं किया था । किन्तु ज्ञानमती माताजी ने जबसे अपनी लेखनी प्रारम्भ की, तब से लेकर आज तक उन्होंने लगभग १५० ग्रन्थों की रचना

की एवं सैकड़ों संस्कृत स्तुतियाँ आदि बनाईं। जहाँ अष्टसहस्री जैसे क्लिष्टतम ग्रन्थ का हिन्दी में अनुवाद किया, अध्यात्मग्रन्थ नियमसार पर स्याद्वादचंद्रिका नामक संस्कृत टीका लिखी है वहीं बालोपयोगी बालविकास के ४ भाग तथा उपन्यास शैली में अनेकों कथानक भी लिखे हैं। जिनमें से लगभग १०० ग्रन्थों का लाखों की संख्या में प्रकाशन भी हो चुका है।

निवृत्ति मार्ग में रहते हुए भक्तिमार्ग भी आपसे अछूता नहीं रहा। उसी का प्रतिफल आज हम देख रहे हैं कि सारे हिन्दुस्तान में इन्द्रध्वज और कल्पद्रुम विधानों की धूम मची हुई है। इसी प्रकार से सर्वतोभद्र महाविधान, तीनलोक विधान, त्रैलोक्य विधान, तीसचौबीसी तथा पंचमेक आदि विधान पू० माताजी की कलम से लिखे गए हैं। उनका भी हस्तिनापुर से शुभारंभ हो चुका है। भक्ति में आदर नहीं रखने वाले कितने ही व्यक्ति इन विधानों को सुनकर भक्तिक बन जाते हैं तथा भक्तिरस में डूब कर प्रत्येक प्राणी कुछ क्षणों के लिए तो निज आत्मा में निमग्न हो ही जाते हैं। धर्म का गूढ़ से गूढ़ रहस्य इन विधानों की जयमालाओं में भरा हुआ है। आत्मरसिक मुमुक्षु के लिए किसी भी विधान की एक पुस्तक ही पर्याप्त होती है जिसके द्वारा वे चारों अनुयोगों का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं।

इस प्रकार से ज्ञानमती माताजी ने अपने जीवन में साहित्यसृजन का नवीन कार्य किया है। उनके मार्ग का अनुसरण करते हुए आज तो कई आयोगिकाओं ने ग्रन्थ निर्माण की ओर अपने कदम बढ़ाए हैं जो नारीजाति के लिए गौरव का विषय है। एककवि ने कहा भी है—

जो बतलाते नारी जीवन सगता मधुरस की लाली है।  
वह त्याग तपस्या क्या जाने कोमल फूलों की डाली है ॥  
जो कहते योगों में नारी नर के समान कब होती है।  
ऐसे लोगों को ज्ञानमती का जीवन एक चुनीती है ॥

**जम्बूद्वीप निर्माण एवं ज्ञानज्योति प्रवर्तन—**

सन् १९६५ में आयोगिका श्री ज्ञानमती माताजी ने ५ आयोगिकाओं सहित आयोगिका संघ का चातुर्मास कर्नाटक प्रान्त के श्रवणबेलगोला में किया। भगवान् बाहुबली की अमरकृति से वहाँ का इतिहास सर्वप्रसिद्ध है। उस पीतरागता छवि को हृदयान्तरित करने हेतु पू० माताजी ने एक बार 15 दिन तक मौनपूर्वक विष्णुगिरि पर्वत पर ध्यान करने का संकल्प किया। उसी ध्यान की शृंखला में एकदिन सम्पूर्ण अकृत्रिम चैत्यालयों की बंदना हुई, चित्त की यात्रा ने जम्बूद्वीप को प्रधानता दी। ध्यान की क्रिया सम्पन्न होने के पश्चात् जैनागम का आलोकन होने लगा। मन में प्रश्न उभरता कि क्या ऐसा अतिशय सम्पन्न स्थान कहीं है? हाँ, प्रश्नवाचक चिन्ह उत्तर रूप में परिवर्तित हुआ, खोज करते-करते करणानुयोग के तिलोपपणसि एवं त्रिलोकसार में सारा ज्यों का त्यों वर्णन देखने को मिला। माताजी की प्रसन्नता का पार नहीं क्योंकि उनका ध्यान आज सार्थक साकार रूप से चुका था।

इसे तो भगवान् बाहुबलि की देन, ध्यान की एकाग्रता और पूर्वभव के संस्कार ही मानना पड़ेगा क्योंकि इससे पूर्व माताजी को कोई ऐसा विकल्प नहीं था। पू० माताजी के मुखारविन्द से इस रचना का विवरण सुनकर सर्वप्रथम तो श्रवणबेलगोल के पीठाधीश्वर भट्टारक श्री चारुकीर्ति जी ने बहुत प्रसन्नता व्यक्त की। पुनः कई स्थानों पर इस निर्माण की खर्चा आई किन्तु होनहार को कोई टाल नहीं सकता, माताजी ने उत्तर प्रान्त में आकर स्थान चयन किया—हस्तिनापुर पावन तीर्थक्षेत्र का।

सन् १९७५ में दि० जैन त्रिलोक शोध संस्थान ने हस्तिनापुर में संस्था के नाम से एक भूमि खरीदकर निर्माण कार्य प्रारम्भ किया जिसमें प्रथमचरण के रूप में बीचोंबीच का ८४ फुट ऊँचा सुमेरुपर्वत सन् १९७६ में बनकर तैयार हो गया उसके १६ जिनमंदिरों की पंचकल्याणक प्रतिष्ठा २६ अप्रैल से ३ मई १९७६ तक सम्पन्न हुई। अब तो अजैन बन्धु भी इस पर्वत पर कुतुबमीनार की परिकल्पना करके बढ़ने लगे, किन्तु अनायास ही भगवान् के सामने उन सबका भी मस्तक नत हो जाता था। सुमेरु पर्वत एवं ज्ञानमती माताजी का प्रभाव था कि निर्माण कार्य आगे बढ़ता गया और ६ वर्ष की अल्प अवधि में पूरा जम्बूद्वीप बन कर तैयार हो गया।

इसी बीच ४ जून १९८२ को पू० माताजी की प्रेरणा से प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरा गाँधी ने दिल्ली के लाल किला मैदान से जम्बूद्वीप ज्ञान ज्योति का प्रवर्तन किया जिसके द्वारा १०४५ दिनों तक सम्पूर्ण भारत में जम्बूद्वीप एवं भगवान् महावीर के सिद्धान्तों का खूब प्रसार हुआ तथा अन्त में २८ अप्रैल १९८५ को हस्तिनापुर में समापन समारोह के साथ रक्षामन्त्री श्री पी० वी० नरसिंह राव, एवं सांसद श्री जे० के० जैन ने यहीं पर उस ज्ञानज्योति की अखण्ड स्थापना की जो प्रत्येक प्राणी को अहर्निश ज्ञान का सन्देश प्रदान करती है।

यही अवसर था जम्बूद्वीप में विराजमान समस्त जिन बिम्बों की प्राण प्रतिष्ठा का। अतः २८ अप्रैल से २ मई १९८५ तक जम्बूद्वीप की पंचकल्याणक प्रतिष्ठा सम्पन्न हुई।

अब तो हस्तिनापुर नगरी सचमुच में भगवान् शांतिनाथ का युग दर्शा रही है जिसे कभी राजधानी के रूप में माना जाता था। किन्तु मध्यकाल में इसकी गरिमा मात्र पुराणों तक सीमित हो गई थी, वर्तमान दशक में इसकी उन्नति देखकर कविवर दयानतराय की ये पंक्तियाँ स्मृत हो आती हैं—

**गुरु की महिमा बरणी न जाय, गुरु नाम जपो मनबचनकाय ॥**

पू० ज्ञानमती माताजी के चरण पड़ते ही यहाँ की रज पुनः चंदन बन गई और बीणा के मूक तार पुनः झंकृत होकर पूर्व इतिहास की गाथा गाने लगे—

अरे ! यह तो वही भूमि है जहाँ आदि तीर्थंकर वृषभदेव को प्रथम बार इक्षुरस का आहार राजा श्रेयांस ने दिया था और स्वप्न में सुमेरुपर्वत देखा था। शायद इसीलिए ऊँचे सुमेरु पर्वत का निर्माण यहाँ की पवित्र स्थली पर हुआ है। एक ही नहीं न जाने कितने इतिहास इस भूमि से जुड़े हैं। देखिए न ! रक्षाबंधन पर्व, महाभारत की कथा, मनोवती की दर्शन प्रतिज्ञा का इतिहास, द्रौपदी के शील का महत्व, राजा अशोक और रोहिणी का संबंध, अभिनंदन आदि पाँच सौ मुनियों का उपसर्ग, गजकुमार मुनि का उपसर्ग तथा भगवान् शांतिनाथ, कुंथुनाथ, अरहनाथ के चार-चार कल्याणक का सीमाग्य यहाँ की माटी को ही प्राप्त हुआ था उसी का पुनरुद्धार किया एक परमतपस्विनी गणिनी आर्यिकारस्त ज्ञानमती माताजी ने।

अपनी निन्दा प्रशंसा से दूर, आत्महित और जनहित की भावना से ओत-प्रोत, रत्नत्रय की इस माधिका के पास न जाने कितने लोग आकर प्रतिदिन उनसे अपना कष्ट कहकर शांति प्राप्त करते हैं।

**पूज्य माताजी की दैनिक चर्या :—**

कर्मभूमि में दिन और रात का विभाजन सूर्य और चाँद के इशारों पर होता है क्योंकि यहाँ की प्रकृति ने इसे ही स्वीकार किया है। मनुष्य सुबह से शाम तक अपनी समस्याओं से जूझता है पुनः थककर मित्रा की गोद

में स्थान प्राप्त कर लेता है । प्रातःकाल उठकर अपने धाम्ने में लग जाता है । यही क्रम सी पचास वर्ष की प्राप्त अल्पायु में चलता है पुनः कालकवलित हो जाता है ।

इस क्षणिक विनश्वर जीवन में भी महापुरुष जीवन के प्रत्येक क्षणों का उपयोग करके उसे महान बना लेते हैं ।

आयिका श्री ज्ञानमती माताजी का जीवन भी उन महापुरुषों में एक है जिन्होंने सन् १६५२ से गृह-परित्याग करके आज ३६ वर्षों में अपने को एक महान साधक की कोटि में पहुँचा दिया है । सुबह से शाम तक उनका प्रत्येक क्षण अमूल्य होता है ।

प्रातः ४ बजे उठकर प्रभु का स्मरण, अपररात्रिक स्वाध्याय, प्रतिक्रमण के पश्चात् ६ बजे तक सामायिक करती हैं । लेखन चूँकि उनके जीवन का मुख्य अंग ही है पुनः इस शीत ऋतु में पहले ६-३० बजे से ७-३० बजे तक लेखन कार्य करती हैं । वर्तमान में समयसार की दोनों टीकाओं का हिन्दी अनुवाद चल रहा है । उसके पश्चात् ७-३० बजे से त्रिमूर्ति मन्दिर, कमल मन्दिर और जम्बूद्वीप के दर्शन करके अभिषेक देखती हैं ।

प्रातः ८ बजे से पू० माताजी समस्त शिष्यों को समयसार ग्रन्थ का संस्कृत टीकाओं से स्वाध्याय कराती हैं । बाहर से आए हुए तीर्थयात्रियों को धर्मोपदेश भी सुनाती हैं और १० बजे आहारवर्ग के लिये निकलती हैं ।

अनंतर मध्याह्न में सामायिक करती हैं । पुनः २-३० बजे से विभिन्न प्रान्तों से आये हुये यात्रीगण उनके दर्शन करते हैं तथा अपनी-अपनी समस्याओं के आधार पर पू० माताजी से समाधान भी प्राप्त करते हैं । यह समय २-३० बजे से ४-१५ बजे तक रहता है । ४-१५ बजे से ५ बजे तक सामूहिक प्रतिक्रमण होता है पुनः ५ बजे माताजी अपने शिष्य शिष्याओं सहित मंदिरों के दर्शन करती हैं एवं जम्बूद्वीप की ५-७ प्रदक्षिणा लगाती हैं कभी-कभी सुमेरु पर्वत के ऊपर तक जाकर वंदना भी करती हैं ।

अनंतर मध्याह्न में सामायिक करती हैं । पुनः २-३० बजे से विभिन्न प्रान्तों से आए हुए यात्रीगण उनके उनके दर्शन करते हैं तथा अपनी-अपनी समस्याओं के आधार पर पू० माताजी से समाधान भी प्राप्त करते हैं । यह समय २-३० बजे से ४-१५ बजे तक रहता है । ४-१५ बजे से ५ बजे तक सामूहिक प्रतिक्रमण होता है पुनः ५ बजे माताजी अपने शिष्य शिष्याओं सहित मंदिरों के दर्शन करती हैं एवं जम्बूद्वीप की ५-७ प्रदक्षिणा लगाती हैं कभी-कभी सुमेरु पर्वत के ऊपर तक जाकर वंदना भी करती हैं ।

५-४५ बजे से सायंकालिक सामायिक प्रारम्भ हो जाती है जो ६-४५ तक चलती है पुनः ७ बजे से पूर्वरात्रि स्वाध्याय सुनती हैं । अनंतर स्वयं का चिंतन करके ८ बजे से रात्रि विश्राम करती हैं । यह ती मैंने स्वयं देखा है कि जब माताजी का स्वास्थ्य अनुकूल था तो उनका ४-५ घण्टे का समय साधु वर्गों को अध्ययन कराने में एवं ३-४ घण्टे लेखन में व्यतीत होता था ।

इस प्रकार पू० गणिनी आधिकारत्न श्री ज्ञानमती माताजी की संक्षिप्त जीवन झांकी मैंने प्रस्तुत की है आशा है कि हमारे पाठकगण उनके जीवनवृत्त से लाभ उठावेंगे तथा हस्तिनापुर पधार कर साक्षात् पू० माताजी के एवं उनकी अमरकृतियों के दर्शन कर धर्मलाभ प्राप्त करेंगे ।

श्री वीर के समवसूति में चंदना थीं । गणिनी बनीं जिनचरण जगवंदना थीं ।

गणिनी वही पदविभूषित को नमूं मैं । श्रीमात ज्ञानमती को नित ही नमूं मैं ॥



## प्रस्तावना



—डॉ० पं० लाल बहादुर शास्त्री-दिल्ली

अष्टसहस्री न्यायशास्त्र का एक महान ग्रन्थ है जिससे तर्क के आधार पर जिनोदित तत्वों का समर्थन करते हुए आचार्य विद्यानंदि ने एकान्तवादी (मिथ्या) मतों का पूर्णतया गहराई के साथ खण्डन किया है। तथा अपने स्याद्वाद सिद्धान्त का समर्थन करते हुये अपनी स्याद्वादी मान्यताओं का पूर्ण रूप से समर्थन किया है। यह स्याद्वादी मान्यता कोई नवीन नहीं है, वैसे तो यह अनादि कालीन है क्योंकि जब जैनधर्म अनादिकाल से है तो उसके आधार पर स्थित जैनधर्म भी अनादिकालीन है परन्तु अवसर्पिणी उत्सर्पिणी कालों के परिवर्तन से जैनधर्म (स्याद्वादी धर्म) में भी अभाव और सद्भाव रूप में परिवर्तन हुआ है। वर्तमान में यह अवसर्पिणी काल चल रहा है। इस अवसर्पिणी काल का पहला काल सुषमासुषमा था उसके बाद सुषमा (२) सुषमादुषमा (३) दुषमा सुषमा (४) दुषमा (५) दुषमादुषमा (६) इस तरह ये अवसर्पिणी काल के ६ काल हैं जिनमें क्रम से आयु, काय, शक्ति और मानसिक प्रवृत्तियों की क्रमशः घटोतरी होती जाती है। आजकल यह पाँचवाँ काल “दुषमा” चल रहा है—जिसे कलि-काल (पाप का काल) भी कहा जाता है। इसके पहले चतुर्थ काल (दुषमा सुषमा) था। इस काल के प्रारम्भ समय में और तृतीय सुषमादुषमा के अंत में तीर्थंकर भगवान् ऋषभनाथ उत्पन्न हुये थे जिन्होंने तपःपुनीत सर्वज्ञ अवस्था में अपनी दिव्य केवलज्ञान शक्ति अर्थात् सर्वज्ञता द्वारा अनेकान्त धर्म का प्रतिपादन किया था।

भगवान् आदिनाथ ऋषभ के पुत्रों ने भी अपने समय में जैन दीक्षा ही धारण की थी। भगवान् ऋषभ के पुत्र भरत की सन्तान में एक मारीच नाम का पुत्र था, जिसने जैन दीक्षा लेने के बाद उस दीक्षा से भ्रष्ट होकर अपना नया मत चलाया था और उसमें अनेक लोग उसका पालन करने लगे, उनमें भी पुनः विघटन होकर नये मतमतांतरों का प्रादुर्भाव हुआ। इस तरह जैसे-जैसे काल व्यतीत होता गया वैसे-वैसे ही मतमतांतरों की वृद्धि होती गई। इस तरह ३६३ पाखण्ड पनप गये। जिनका प्रचलन भगवान् महावीर के समय तक रहा और आज तक भी चला आ रहा है, उन्हीं पाखण्डों में सांख्य, वैशेषिक, नैयायिक, जैमिनि, चार्वाक, प्रभाकर, मीमांसक, ब्रह्माद्वैत, चिन्ताद्वैत, ज्ञानाद्वैत, सौगत (बौद्ध) आदि अनेक मतमतांतरों का जैनाचार्यों ने खण्डन किया है। प्रस्तुत ग्रंथ अष्टसहस्री में इन्हीं मतों का खण्डन है। जिसके रचयिता आचार्य विद्यानंदि है। दिगम्बर जैनधर्म में यों तो तर्कशास्त्र के अनेक ग्रन्थ हैं पर अष्टसहस्री अपने आप में एक महान एवं अद्वितीय ग्रंथ है। इस ग्रन्थ का मूलधार यद्यपि देवागम अद्वितीय ग्रन्थ है। जिसकी रचना आचार्य समंतभद्र ने की है। यह देवागम स्तोत्र भी अपने आप में अपूर्व है। स्तोत्रों में भगवान् की भक्ति ही की जाती है और भक्ति का रूप प्रशंसात्मक ही होता है। उसका उद्बोधन अनेक प्रकार के अलंकारों से किया जाता है। भक्तामर स्तोत्र मन्त्र तन्त्रों से भरपूर है परन्तु अधिकतर श्लोक अलंकारी से ही भरपूर हैं। जबकि देवागम स्तोत्र में प्रारम्भ से ही भगवान् की परीक्षा की गई है। उसका पहला श्लोक इस प्रकार है:—

देवागमनभोयान्—चामरादिविभूतयः

मायाविवर्षि दृश्यन्ते, नातस्त्वमसि नो महान् ॥१॥



अर्थ—हे भगवन् ! आपके पंचकल्याणकों में देवों का आना, आकाश में गमन करना, चमर, छत्र आदि विभूतियों का होना, यह सब मायाचारी (जादूगर आदि) आदि में भी देखा जाता है अतः इन कारणों से हम आपको बड़ा नहीं मानते—अर्थात् आपकी स्तुति नहीं करते ।

इस श्लोक से स्पष्ट है कि स्तुति करने वाले पहले भगवान् की परीक्षा करना चाहते हैं । यह स्तोत्र आचार्य समन्तभद्र की रचना है जो तर्कशास्त्र के अगाध विद्वान् थे ।

इसी परीक्षा के रूप में आपका दूसरा श्लोक भी इस प्रकार है—

**अध्यात्मं बहिरप्येष, विग्रहादिसहोदयः**

**दिव्यः सत्यो दिवौकस्स्वप्यस्ति रागादिमत्सु सः ॥२॥**

अर्थ—हे भगवन् ! आपकी अंतरंग शारीरिक महत्ता—पसीना आदि का नहीं होना तथा बहिरंग महत्ता गंधोदक की वृष्टि एवं चारों तरफ सौ सौ योजन तक सुभिन्न होना जो दिव्य है एवं सत्य है और हर एक में नहीं है वहीं भी राग द्वेषादि सहित देवों में भी पाई जाती है अतः आप इन महत्ताओं से भी महान नहीं हैं ।

इस तरह यह परीक्षात्मक स्तोत्र अपने ढंग का अलग ही स्तोत्र है । अतः कहना होगा कि यह देवागम स्तोत्र समन्तभद्र आचार्य की एक अपूर्व स्तोत्र ही रचना है ।

इस स्तोत्र को लेकर पहले आचार्य अकलंक ने अष्टशती ग्रन्थ की रचना की । इसके बाद परम पूज्य आचार्य विद्यानंद जी ने इस अष्टशती को अपने अगाध ज्ञान भण्डार से अष्टसहस्री रूप परिणत किया, अर्थात् अष्टशती का जो विस्तार था उससे दशगुणा विस्तार कर अष्टसहस्री ग्रन्थ की रचना की । इस तरह हम देखते हैं कि आचार्य समन्तभद्र का अनुगमन करके आचार्य विद्यानंद ने जो इस देवागम स्तोत्र की टीका की है वह भी अपने आप में महान है । सभी परवादियों के खण्डन में उन्होंने जिस प्रकार अपनी तर्क शक्ति को अपनाया है । उसे देखकर आश्चर्य होता है । इसी ग्रन्थ के प्रारम्भ में जो देवागम स्तोत्र का सातवाँ श्लोक है वह इस प्रकार है—

**त्वन्मतामृतबाह्यानां, सर्वथैकान्तवादिनाम्**

**आप्ताभिमानदग्धानां स्वेष्टं दूष्टेन बाध्यते ॥**

अर्थ—भगवान् ! आपके मत (अनेकान्तवाद) रूपी अमृत से जो बाह्य है और सर्वथा एकान्तवाद में संलग्न रहते हुए अपने को आप्त (सर्वज्ञ) मानने के अभिमान में दग्ध है उनका मत प्रत्यक्ष से बाधित है ।

इस श्लोक की टीका करते हुए एक पृष्ठ से लेकर 80 पृष्ठ तक बौद्ध मत का खण्डन किया है और बीच में प्रसंगवश कहीं-कहीं सांख्य एवं नैयायिक आदि का भी खण्डन किया है । इस खण्डन के प्रकरण में आचार्य विद्यानंद ने अनेक तर्कों का आश्रय लिया है । उनकी इस तर्कशक्ति को देखकर आश्चर्य ही होता है । इस खण्डन का आधार अनेकान्तवाद ही है । इसी आधार पर विद्यानंद जी ने प्राणभाव, प्रध्वंसाभाव, अन्योन्याभाव अत्यंताभाव, अभाव के इन चारों भेदों का समर्थन किया है । पुनः अवक्तव्य एकान्त का भी अनेक तर्कों से खण्डन किया है । और अनेकान्त रूप भाव अभाव की भी सिद्धि की है अर्थात् एक ही वस्तु में भाव अभाव दोनों ही धर्म रहते हैं इसको तर्क के आधार पर सिद्ध करते हुये फिर अनेकान्त धर्म की सिद्धि की है । अनेकान्त धर्म की सिद्धि में पहले “अस्ति” “नास्ति” इन दो अंगों की सिद्धि की है, इसके बाद तृतीय अंग “अवक्तव्य” की सिद्धि की है पुनः अस्तिनास्ति<sup>१</sup>, अस्तिअवक्तव्य<sup>२</sup>, नास्तिअवक्तव्य<sup>३</sup>, अस्तिनास्ति<sup>४</sup> अवक्तव्य इन शेष अंगों की सिद्धि की है । इनके विरोध में प्रतिवादियों द्वारा जो तर्क दिये गये हैं उन सभी का आचार्य विद्यानंद ने अपनी प्रज्ञा विशेषता से पूर्ण-तया गहराई के साथ खण्डन किया है । इस प्रकार स्याद्वाद धर्म को ही आचार्य विद्यानंद ने अर्थ क्रियाकारित्व

सिद्ध किया है। यह स्याद्वाद धर्म आपकी वाणी से प्रतिपादित किया गया है। जो इसे नहीं मानता है और अपने को आप्त कहता है वह आप्त के स्वाभिमान से दग्ध है वास्तविक आप्त नहीं है। इसी को लेकर स्वामी समस्तभद्र ने कहा है।

स त्वमेवासि निर्दोषो युक्तिशास्त्राविरोधवाक् ।  
अविरोधो यद्विष्टं ते प्रसिद्धेन न बाध्यते ॥

अर्थ—भगवान् तुम्हीं वस्तुतः निर्दोष हो क्योंकि आपके वचन तर्क और आगम से बाधित नहीं होते। इसलिये आपके मत विरोध रहित है और प्रत्यक्षादि प्रमाणों से बाधित नहीं है।

इस प्रकार अष्टसहस्री के रचयिता आचार्य विद्यानंदि महान् विद्वान् होने के साथ-साथ तर्कणा शक्ति से ओलप्रोत थे। पञ्चमि न्याय (तर्क) शास्त्र के रचयिता अनेक आचार्य हुये हैं पर आचार्य विद्यानंदि जी की इस विषय में पहुँच कुछ और ही है। सब पृछा जाय तो उनका नाम भी “विद्यानंदि” उनकी इस महत्ता को प्रकट कर रहा है। अर्थात् तर्क विद्या से जो सदा आनंदित रहते थे वे विद्यानंदि थे। उनके द्वारा रचित यह अष्टसहस्री ग्रन्थ इतना बुरा है कि विद्वान् होते हुये भी इसे हर कोई विद्वान् नहीं समझ सकता। इसे समझने के लिये विद्वान् को बहुत ही बौद्धिक कष्ट उठाना पड़ता है फिर भी पूर्णतया समझ में नहीं आता। इसीलिये इस अष्टसहस्री ग्रन्थ को कष्टसहस्री भी माना जाता है। स्वयं आचार्य विद्यानंदि जी ने अष्टसहस्री ग्रन्थ की टीका के अन्त में यह श्लोक लिखा है—

“कष्टसहस्री सिद्धा साष्टसहस्रीयमत्र मे पुष्पात्  
शश्वदभीष्टसहस्री, कुमारसेनोक्ति वर्धमानार्थ ॥

हजारों कष्ट से रचित यह अष्टसहस्री मेरे हजारों अभीष्टों-इच्छाओं को पूर्ण करे जो कुमारसेन के द्वारा उल्लिखित की गई है।

इस श्लोक में स्वयं जब इसके रचयिता आ० विद्यानंदि इसे कष्टसहस्री मान रहे हैं, तब स्पष्ट है कि इस अष्टसहस्री को पूर्णतः गंभीरता से समझ लेना बड़ा कष्ट साध्य काम है।

इसी कष्ट साध्य रचना अष्टसहस्री की हिन्दी टीका पूज्यगणिनी आधिकारत्न श्री ज्ञानमती माताजी ने अर्थ, भावार्थ के रूप में की है। जिसका एक भाग प्रकाशित हो चुका है। और प्रस्तुत ग्रन्थ उसका दूसरा भाग है। दि० जैन समाज में अनेक विद्वान् हुये हैं और अब भी अनेक विद्यमान हैं परन्तु आज तक इसकी हिन्दी टीका किसी विद्वान के द्वारा नहीं की गई है। अब इस ग्रन्थ का अध्ययन अध्यापन प्रायः सभी विद्वानों ने किया है। इसका कारण यही है कि इस ग्रन्थ को पढ़ने के बाद किसी को यह साहस नहीं हुआ कि हम इसका शब्दार्थ के साथ भावार्थ भी लिख सकेंगे। आज से पचपन साठ वर्ष पहले मैंने भी यह ग्रन्थ पढ़ा था। लेकिन पढ़ने के बाद फिर इस ग्रन्थ का पठन दोहराने को मेरी हिम्मत नहीं पड़ी। लेकिन जब आज ग्रन्थ को देखता हूँ और पूज्य माताजी कृत टीका को पढ़ता हूँ तो मुझे उनकी शब्द रचना और अर्थ तथा भावार्थ का उदाहरण पढ़कर अपार आनन्द होता है, और ऐसा प्रतीत होता है मानो यह मूलग्रन्थ भी जैसे माताजी के द्वारा ही लिखा गया है कभी विकल्प उठता है कि माता श्री ज्ञानमती जी अपने पूर्वभव में आ० विद्यानंदि जी की आत्मा हो न हों। लेकिन वे स्त्री पर्याप्त में भला कैसे आ सकते थे अतः माताजी के महान् ज्ञान को देखकर यह तो मानना ही होगा कि पू० माताजी ही

आज एक ऐसी विदुषी हैं जिन्होंने ऋटसहस्री वाली अष्टसहस्री की सर्वप्रथम हिन्दी टीका लिखी है। पू० माताजी को संस्कृत भाषा का परिपक्व ज्ञान है तथा गद्य-पद्य दोनों ही प्रकार से वे उसका प्रयोग करने में समर्थ हैं। यह माता ज्ञानमती ही हैं जिन्होंने व्याकरण ग्रन्थ “कातन्त्र रूपमाला” की सर्वप्रथम हिन्दी टीका लिखी है और अपने शिष्यों को उसका अध्यापन कराया है। प्राचीन आचार्यों में जिस प्रकार आचार्य विद्यानंदि अपनी महत्ता को कायम रखते हुये हैं वैसे ही पू० माता ज्ञानमती जी भी आधुनिक विद्वानों में अपनी महत्ता को संभाले हुये हैं। विद्या और ज्ञान दोनों ही एकार्थक हैं अतः विद्यानंदि और ज्ञानमती इन दोनों शब्दों की एकता को देखकर यही प्रतीत होता है मानों दोनों एक ही आत्मा हैं।

पू० ज्ञानमती माताजी ने अष्टसहस्री की ही टीका नहीं की है बल्कि अन्य ग्रन्थों की भी टीका की है। कुन्द-कुन्द कृत नियमसार की भी पू० माताजी ने न केवल हिन्दी में बल्कि संस्कृत में भी टीका लिखी है जबकि अन्य किसी आधुनिक विद्वान् ने प्राचीन ग्रन्थों की संस्कृत टीका नहीं की है। इन टीकाओं के अतिरिक्त श्री चौबीस तीर्थंकरों की स्तुति में से कुछ स्तुतियों को मैंने देखा जिसमें श्री मल्लिनाथजिन स्तुति, श्री मुनि सुदत्तानाथ स्तुति, श्री कुंभुनाथ जिनस्तुति, श्री अरुनाथ जिनस्तुति आदि हैं। ऐसे ही अनेक स्तुति रचनाएँ भी आपने संस्कृत में की हैं। इन रचनाओं में भिन्न-भिन्न संस्कृत छन्दों का उपयोग किया है—वे छन्द इस प्रकार हैं—

शिखरिणी छंद, पृथ्वीछंद, मंदाक्रान्ता, अनुष्टुप, वंशपत्रागतित छंद, हरिणी छंद, शशिकला छंद, मालिनी छंद, चन्द्रलेखा छंद, प्रभद्रक छंद, मुक् छंद, मणिगणनिकरछंद, ऋषभगजविलसित छंद, वाणिनी छंद, कामक्रीड़ा छंद, अतिरेखा छंद आदि अनेक प्रकार की छंदें हैं। आज के कवि, विद्वानों को इनमें से कई छंदों का पता भी नहीं है। किन्तु माताजी की अध्ययनशीलता इतनी विस्तृत है कि उसकी कोई तुलना नहीं कर सकता।

इन स्रोतों की तरह पू० माताजी ने अनेक पूजा विधानों की भी स्वयं रचना की है जिनमें कई विधान तो विल्कुल नये हैं। विधान रचनाओं के नाम इस प्रकार हैं—

१. श्री शान्तिनाथ पूजा विधान, २. श्री पंचपरमेष्ठी विधान, ३. श्री ऋषिमण्डल पूजा विधान, ४. श्री जम्बूद्वीप मण्डल विधान, ५. श्री पंचमेरु विधान, ६. श्री जिनगुणसंपत्ति विधान, ७. श्री तीनलोक पूजा विधान, ८. श्री त्रैलोक्य पूजा विधान, ९. श्री सर्वतोभद्र विधान, १०. श्री इन्द्रध्वज विधान, ११. श्री कल्पद्रुम विधान, १२. तीनलोक विधान, १३. तीसचौबीसी विधान, १४. तीनलोक विधान, १५. मण्डलविधान एवं हवन विधि, ये सभी विधान पू० माताजी द्वारा त्रिलोक शोध संस्थान से प्रकाशित किये गये हैं। जो अन्य किसी लायब्रेरी या पुस्तकालय में नहीं मिलेंगे। इन विधान की पुस्तकों के अतिरिक्त पू० माताजी ने और भी अनेक ग्रन्थों की रचना की है। जिनकी संख्या लगभग १५० है। वे सभी पुस्तकें बहुत उपयोगी हैं जिनमें बहुत कुछ शास्त्रीय ज्ञान भरा पड़ा है। साथ ही प्रारम्भ से लेकर युवा पीढ़ी तक उनका अध्ययन करने से पाठक शास्त्रीय ज्ञान में निपुण हो सकता है। दृष्टांत के लिये उन्होंने बच्चों को प्रारम्भिक अध्ययन के लिये बाल विकास पुस्तक के ४ भागों की रचना की है जो अपने आप में बहुत सुन्दर तथा बालकों के लिये बहुत उपयोगी है। एक पुस्तक “आत्मा की खोज” है जो सामान्य रूप से बाल युवा वृद्ध सभी को उपयोगी है।

इस तरह जैन साहित्य की रचनाओं में पूज्य माताजी का दर्जा सभी विद्वानों से ऊपर है। ग्रन्थों की जहाँ संख्या ज्यादा है वहाँ प्रत्येक ग्रन्थ की उपयोगिता भी बहुत है। पू० माताजी ने ग्रन्थ रचनाओं के साथ अनेक अपने शिष्य प्रशिष्यों का भी कल्याण किया है। पू० माताजी ने अपनी गृहस्थ अवस्था की छोटी बहिन कुमारी मनोवती जी को सन् १९६४ के आस-पास क्षुल्लिका दीक्षा दी, आज वे आर्यिका पद पर आरुढ़ हैं और अब

मनोवती की जगह अभयमती माताजी कहा जाता है, जगह-जगह विहारकर वे भी अपने उपदेशों से जन साधारण का कल्याण कर रही हैं आर्यिका रत्नमती माताजी आपकी गृहस्थावस्था की मां श्रीमती भोहिनीदेवी ने भी ६० वर्ष की वृद्धावस्था में सन् १९७१ में आर्यिका दीक्षा ग्रहण कर आर्यिका रत्नमती नाम पाकर एक महान् आदर्श उपस्थित किया तथा सन् १९७१ से लेकर आर्यिका के व्रतों को निर्दोष पालन करते हुए जनवरी १९८५ में हस्तिनापुर में आपके ही सानिध्य में समाधिमरण करके अपना जीवन सार्थक कर लिया है। धन्य है ऐसी भोहिनी मां जिन्होंने १३ संतानों को अपनी पवित्र कुक्षि से जन्म दिया, उसी में से ज्ञानमती माताजी उनकी प्रथम सन्तान हैं।

इस प्रकार अनेक कन्याओं और महिलाओं को शिक्षा प्रदान का व्रत संयम की ओर अग्रणी किया है। है। आपकी गृहस्थ अवस्था की दो बहनें भी कुमार अवस्था में ब्रह्मचर्य व्रत धारण कर जनसाधारण का उपकार कर रही हैं। इन बहनों के नाम मालती और माधुरी हैं। इस तरह गृहस्थ अवस्था के आपके छोटे भाई श्री रवीन्द्र जी ने भी कुमार अवस्था में ही ब्रह्मचर्य प्रतिज्ञा धारण कर रखा है। आप जम्बूद्वीप दिगंबर जैन त्रिलोक शोध संस्थान हस्तिनापुर के अध्यक्ष हैं। इसी जम्बूद्वीप में पू० माताजी के चरण सान्निध्य में रहकर सनातन (म० प्र०) निवासी ब० श्री भोतीचन्द्र जी आचार्य श्री विमलसागर जी से धुल्लक दीक्षा लेकर जम्बूद्वीप क्षेत्र में निवास कर अपना आत्म कल्याण कर रहे हैं। आपको भी दीक्षा की प्रेरणा पू० ज्ञानमती माताजी से ही मिली है। इस समय इस जम्बूद्वीप क्षेत्र पर आप पीठाधीश के पद पर विराजमान हैं। यह जम्बूद्वीप तीर्थक्षेत्र भी पू० माताजी की प्रेरणा और लगन से निर्माण को प्राप्त हुआ है। आज तक जैन जनता ने जम्बूद्वीप को जैन शास्त्रों में ही पढ़ा था, लेकिन अब उसका सृष्टिमान रूप देखने में आता है तो आश्चर्य होता है। इसी जम्बूद्वीप के बीच में ८४ फुट ऊँचा सुमेरु पर्वत है जिसके चारों ओर नीचे भद्रशाल वन का रूप है उसके ऊपर चलकर नंदन वन का रूप है, फिर काफी ऊपर चलकर सौमत्तस वन है, और इस वन के ऊपर पाडुंक वन है, इन सभी वनों में पूर्व, पश्चिम-उत्तर, दक्षिण चारों दिशाओं में अकृत्रिम चैत्यालयों का रूप बना हुआ है। इसी सुमेरुपर्वत के उत्तर-दक्षिण में देवकुरु-उत्तर-कुरु यह दो भोगभूमियां बनी हुई हैं। और इसी सुमेरु के पूर्व और पश्चिम में विदेहक्षेत्र का निर्माण है शेष भरत, हैमवत, हरि तीन क्षेत्र सुमेरु के दक्षिण में बने हैं तथा रम्यक्, हैरण्यवत, ऐरावत सुमेरु के उत्तर की ओर निर्मित हैं। इन सभी क्षेत्रों में सिद्धकूट बने हुये हैं जिनमें पृथक्-पृथक् सिद्ध प्रतिमाएं विराजमान हैं।

इसी जम्बूद्वीप के चारों ओर लवण समुद्र का निर्माण है जो देखने में बड़ा सुन्दर प्रतीत होता है। यह सब निर्माण कार्य पूज्य माताजी के संकल्प, शोध और प्रेरणा का फल है। यों तो हस्तिनापुर करोड़ों वर्ष पुराना तीर्थक्षेत्र है, परन्तु पू० माताजी ने हस्तिनापुर में विशाल जम्बूद्वीप तीर्थक्षेत्र का निर्माण करवाकर हस्तिनापुर तीर्थक्षेत्र में चार चांद लगा दिये हैं। यही कारण है कि आजकल हस्तिनापुर तीर्थ की भन्दना करने के लिये पृथक्-पृथक् प्रदेशों से अनेकों बसें कारें सैकड़ों यात्रियों को लेकर आती जाती हैं।

पू० माताजी ज्ञानमती में बौद्धिक विकास और धार्मिक कार्य प्रणाली के साथ-साथ संयमाचरण की भी विशेषता है। पूज्य माताजी आज से ३६ वर्ष पहले संयम के क्षेत्र में आई थी और तब से अब तक उनकी सपः साधना भी अपूर्व है। वे प्रातःकाल ४ बजे उठकर दो घण्टे तक सामायिक, प्रतिक्रमण, स्वाध्याय आदि में संलग्न रहती है। इसके बाद ग्रन्थों की टीकायें, हिन्दी, संस्कृत में अनुवाद करने में प्रवृत्त होती हैं। आज कल आप समय सार की दो टीकाओं का हिन्दी अनुवाद कर रही है। एक टीका आचार्य अमृतचन्द्र की है, दूसरी टीका आचार्य जयसेन की है। ये दोनों ही संस्कृत टीकाएं हैं। इन दोनों की हिन्दी टीकाओं की जब सुनते हैं तब श्रोताओं को अध्यात्म की समझने में बड़ी सहायता और प्रेरणा मिलती है।

पूज्य माताजी ने अपना कल्याण करने के साथ-साथ इसी स्वाध्याय, शिक्षा के आधार पर अनेक लोगों को आध्यात्मिक कल्याण से ओत-प्रोत किया है। मध्याह्न को माताजी के पास उनके सामायिक करने के बाद अनेक यात्री तथा स्थानीय लोग आते हैं और अपनी शंकाएँ, समस्याएँ माताजी से कहते हैं, पू० माताजी उन सबका समाधान करती हैं। इस प्रकार उनका समय धर्मसागर से ही व्यतीत होता है।

अपने-अपने जीवन में कई लोगों को पढ़ाया भी है और उनसे शिक्षा उनमें से अनेक लोगों ने दीक्षाएं लेकर आप्तकल्याण की ओर अपने को मोड़ लिया है। पू० आधिकारत्न श्री जानमती माताजी, आदिमती एवं जिनमती माताजी ने पू० जानमती माताजी से ही शिक्षा प्राप्त की है। उसी शिक्षा के आधार पर दोनों माताओं ने प्रमेयकमलमार्तण्ड जो न्यायशास्त्र महान ग्रन्थ है एवं गोम्मतसार कर्मकाण्ड जो कर्म प्रकृतियों में भरा हुआ है इनकी बहुत सुन्दर टीकाएँ की हैं।

इसी प्रकार पू० माताजी ने बाल ब्रह्मचारी श्री राजमल जी को तत्त्वार्थ राजवार्तिक, गोम्मतसार, कर्म-काण्ड, पंचाध्यायी, जीवकाण्ड आदि ग्रन्थों का अध्ययन कराया। साथ ही संयम में आगे बढ़ने के लिये भी प्रेरणा दी, आपकी प्रेरणा से प्रसन्न होकर राजल जी ने श्री १०८ आचार्य शिवसागर जी से निर्गुण्य मुनि दीक्षा ली। आज वे मुनि अजितसागर जी हम सबके लिये वन्दनीय हो गये हैं। आगे चलकर श्री अजितसागर जी ने महाराज को आचार्यपट्ट प्रदान किया। यह आचार्यपट्ट पू० स्व० आचार्य धर्मसागर जी का पट्ट है और आधिका जानमती जी जो पहले कभी उनकी गुरु श्री तब उन्हें पूज्य मानकर नमस्कार करती हैं। इस तरह पू० माताजी अपने आर्थिकोचित संयम का पालन करते हुये अनेक शिष्य शिष्याओं का कल्याण कर चुकी हैं।

आज इस युग में पू० माताजी ने अपने ज्ञान और संयम से जो अपना और पर का कल्याण किया है वह अपूर्व है। और उनका व्यक्तित्व भी आज सर्वोपरि है। विद्वत्ता में जहाँ वे सर्वोग्रणी हैं वहाँ संयम और अनुग्रह में भी वे बेजोड़ हैं इन्हीं पू० माताजी ने इस अष्टसहस्री ग्रन्थ की जो महान टीका की है। यह टीका आज तक किसी विद्वान या विदुषी के द्वारा नहीं की गई है। अन्य टीका, ग्रन्थों में भी यही बात है। इस अष्टसहस्री ग्रन्थ की यह हिन्दी टीका हो जाने के बाद भी आज इसे समझने वाले बहुत कम हैं फिर इस अष्टसहस्री को पू० माताजी ने अपनी बहुत उपयोगी और पहले से बहुत सरल कर दिया। इसके बाद इसका तीसरा और चौथा भाग भी छपेगा। पू० माताजी ५४ वर्ष की हैं, आयु के अनुसार तथा १८ वर्ष की वय से ही तपः साधना से उनकी शारीरिक शक्ति का हास भी हुआ है फिर भी वे ग्रन्थ एवं टीका आदि की रचना में संलग्न रहती हैं। पूज्य माताजी से सभी दर्शनाधियों का इतना अनुराग रहता है कि वे उनके दर्शन के लिए लालायित रहते हैं, और नमस्कार करते समय उनके प्रति सबको मातृत्व के रूप में अनुराग पैदा होता है और दर्शन करने के बाद अपने को धन्य समझते हैं। यह प्रस्तावना लिखकर मैं पूज्य माताजी के चरणों में नमस्कार करता हूँ।



## अष्टसहस्री का आधारभूत

### देवागमस्तोत्र

( प्रथम परिच्छेद )

देवागमनभोगानचामरादिबिभूतयः । मायाविध्वपि दृश्यन्ते नातस्त्वमसि नो महान् ॥१॥

भगवन् ! पंचकल्याणक में तब देवों का आगमन महान ।  
केवलज्ञान प्रगट होने पर नभ में अधर गमन सुखदान ॥  
छत्र, चमर आदिक वैभव सब, मायावी में भी दिखते ।  
अतः आप हम जैसों द्वारा, पूज्य-बंध नहि हो सकते ॥१॥

अध्यात्मं बहिरप्येष विग्रहादिमहोदयः । दिव्यः सत्यो दिवौकस्स्वर्ग्यस्ति रागादिमत्सु सः ॥२॥

विग्रह आदि महोदय भगवन् ! तब अध्यात्म क्षुधादि रहित ।  
बाह्य महोदय कुसुम वृष्टि गंधोदक आदिक देव रचित ॥  
दिव्य, सत्य ये वैभव फिर भी रागादिक युत सुरगण में ।  
पाये जाते हैं हे जिनवर ! अतः आप नहि पूज्य हमें ॥२॥

तीर्थकृत्समयानां च परस्परविरोधतः । सर्वेषामाप्तता नास्ति कश्चिदेव भवेद्गुरुः ॥३॥

सभी मतों में सभी तीर्थकृत, के आगम में दिखे विरोध ।  
सभी आप्त सच्चे परमेश्वर, नहि हो सकते, अतः जिनेश ॥  
इन सब में से कोई एक ही, आप्त-सत्यगुरु हो सकता ।  
चित्-सर्वज्ञ देव परमात्मा, सत्त्वहितकर जगभर्ता ॥३॥

दोषावरणयोर्हानिनिःशेषास्त्यातिशयनात् । कचिद्यथा स्वहेतुभ्यो बहिरंतर्मलक्षयः ॥४॥

किसी जीव में सर्व दोष अरु, आवरणों की हानि निःशेष ।  
हो सकती है क्योंकि जगत् में, तरतमता से दिखे विशेष ॥  
रागादिक की हानि किन्हीं में, दिखती है कुछ अंशों से ।  
जैसे हेतु से बाह्यांतर, मलक्षय होता स्वर्णों से ॥४॥

सूक्ष्मांतरितदूरार्थाः प्रत्यक्षाः कस्यचिद्व्यथा । अनुमेयत्वतोऽग्न्यादिरिति सर्वज्ञसंस्थितिः ॥५॥

सूक्ष्म वस्तु परमाणु आदि, अंतरित राम रावण आदिक ।  
दूरवर्ति हिमवन् सुमेरु ये, हैं प्रत्यक्ष किसी के नित ॥  
क्योंकि ये अनुमेय कहे हैं, जैसे अग्न्यादिक अनुमेय ।  
इस अनुमान प्रमाण कथित, सर्वज्ञ व्यवस्था है स्वयमेव ॥५॥

स त्वमेवासि निर्दोषो युक्तिशास्त्राविरोधिव्याक् । अविरोधो यद्विष्टं ते प्रसिद्धेन न बाध्यते ॥६॥

वह रागादिक दोष रहित, सर्वार्थविज्ञ प्रभु तुम्हीं कहे ।  
क्योंकि तुम्हारे वचन युक्ति, आगम से अविरोधी नित हैं ॥  
प्रत्यक्षादि प्रमाणों से तब, तत्त्व अबाधित है जग में ।  
अतः प्रभो ! यह शासन तेरा, नित अविरोधी जनगण में ॥६॥

त्वन्मतमृतबाह्यानां, सर्वथैकांतवादिनाम् । आप्ताभिमानदग्धानां, स्वेष्टं दृष्टेन बाध्यते ॥७॥

प्रभु तब मत अमृत से बाहर, दुराग्रही एकांतमती ।  
'मैं हूँ आप्त' सदा इस मद से, दग्ध हुये अज्ञानमती ॥  
उनका वह ऐकांतिक शासन, दृष्ट उन्हें फिर भी बाधित ।  
प्रत्यक्षादि प्रमाणों से वह, तत्त्व सदा निर्दित दूषित ॥७॥

कुशलाकुशलं कर्म परलोकश्च न वक्ष्यति । एकांत-ग्रह-रक्तेषु नाथ स्व-पर-वैरिषु ॥८॥

नाथ ! स्वपर वैरी एकांत-ग्रह पीडित जन के मत में ।  
शुभ अरु अशुभ क्रिया परलोका-दिक फल भी नहि बनते हैं ॥  
पुण्य पाप फल बंध-मोक्ष की नहीं व्यवस्था भी बनती ।  
क्योंकि सर्वथा नित्य-क्षणिक में, अर्थक्रिया ही नहि घटती ॥८॥

भावैकांते पदार्थनामभावानामपेन्हुवात् । सर्वात्मकमनाद्यन्तमस्वरूपमतावकम् ॥९॥

सब पदार्थ एकांतरूप से, अस्तिरूप ही यदि जग में ।  
तो अभाव का लोप हुआ फिर, चार दोष हैं प्रमुख बने ॥  
सब पदार्थ सबरूप, अनादि, अनिघन, निःस्वरूप होंगे ।  
हे भगवन् ! तब मत के द्वेषी जन के यहां न कुछ होंगे ॥९॥

कार्यद्रव्यभनादि स्यात्प्रागभावस्य निहृवे । प्रध्वंसस्य च धर्मस्य प्रध्वयेऽनन्ततां वजेत् ॥१०॥

प्रागभाव को यदि नहि मानों, सभी कार्य हो अनादि सिद्ध ।  
मिट्टी में घट सदा बना है, फिर क्या करता चक्र निमित्त ॥  
यदि प्रध्वंस धर्म नहीं मानों, किसी वस्तु का अंत न हो ।  
पिता, पितामह आदि कभी भी, अंत-मरण को प्राप्त न हों ॥१०॥

सर्वात्मकं तदेकं स्यादन्यापोह-व्यतिक्रमे । अन्यत्र समवाये न व्यपदिश्येत सर्वथा ॥११॥

यदि अन्योन्याभाव नहीं हो, एक वस्तु सब रूप बने ।  
एक समय में मनुज बने सुर पशु नारक पर्याय बने ॥  
यदि अत्यन्ताभाव न होवे, एक द्रव्य का अन्यो में ।  
हो जावे संमिश्रण फिर यह, जीव अजीव न भेद बने ॥११॥

अभावेकांत-पक्षेपि भावापन्तव-वादिनाम् । बोधवाक्यं प्रमाणं न, केन साधनदूषणम् ॥१२॥

यदि सब वस्तु अभावरूप हैं, शून्यवाद जन के मत में ।  
तब तो भाव-पदारथ किंचित्, नहि प्रतिभासित हों जग में ॥  
ज्ञान और आगम भी किंचित्, नहि प्रमाण होंगे तबतो ।  
कैसे अपने मत का साधन, परमत दूषण किससे हो ॥१२॥

विरोधान्नोभयैकात्म्यं स्याद्वाद-न्याय-विद्विषाम् । अवाच्यतैकान्तेऽप्युक्तिर्नावाच्यमिति युज्यते ॥१३॥

अस्ति नास्ति से उभयरूप ये, द्रव्य कदापि नहीं होंगे ।  
क्योंकि विरोध परस्पर इनका, स्याद्वाद विद्वेषी के ॥  
यदि एकांत अवाच्य तत्त्व है, कही कथन कैसे होगा ।  
“तत्त्व अवाच्य” यही कहना तो, वाच्य हुआ स्ववचन बाधा ॥१३॥

कथंचित्ते सदेवेष्टं कथंचिदसदेष्टं तत् । तथोभयमवाच्यं च नय-योगन्न सर्वथा ॥१४॥

हे भगवन् ! तब मत में वस्तु, तत्त्व कथंचित् “सत्” ही है ।  
वही कथंचित् “असत्” रूप ही “उभय” कथंचित् वो ही है ॥  
वह “अवाच्य” भी है नयशीली, से ही सप्तभंगयुत है ।  
वस्तु सर्वथा अस्तिरूप या, नास्ति आदि से अधटित है ॥१४॥



सर्वेव सर्व को नेच्छेत्स्वरूपादि-चतुष्टयात् । असर्वेव विपर्यासान्न चेन्न व्यधतिष्ठते ॥१५॥

अपने द्रव्य सुक्षेत्र काल अरु भाव चतुष्टय से नित ही ।  
सभी वस्तुओं अस्तिरूप ही, नास्तिरूप ही हैं वे भी ॥  
परद्रव्यादि चतुष्टय से यह कौन नहीं स्वीकार करें ।  
यदि नहि माने तब मत हे जिन ! वस्तु व्यवस्था नहीं बने ॥१५॥

क्रमापित-द्वयाद् द्वैतं सहावाच्यमशक्तितः । अवक्तव्योत्तराः शेषास्त्रयो भंगाः स्वहेतुतः ॥१६॥

क्रम से स्वपर चतुष्टय से ही, वस्तु उभय धर्मात्मक हैं ।  
युगपत् द्वय को नहि कह सकते, अतः "अवाच्य" वस्तु वह है ॥  
बचे शेष त्रय भंगों में यह, अवक्तव्य उत्तर पद हैं ।  
सत् असत् उभय पदों के आगे, अवक्तव्य निज हेतुक है ॥१६॥

अस्तित्वं प्रतिषेध्येनाविनाभाव्येक-धर्मिणि । विशेषणत्वात्साधर्म्यं यथा भेदविवक्षया ॥१७॥

एक वस्तु में अस्ति धर्म अपने प्रतिषेधी नास्ति के ।  
बिना नहि रह सकता-अविनाभावी कहलाता इससे ॥  
क्योंकि विशेषण है जैसे अन्वय हेतु व्यतिरेक बिना ।  
नहीं रहे अविनाभावी है ऐसा यह दृष्टांत बना ॥१७॥

नास्तित्वं प्रतिषेध्येनाविनाभाव्येकधर्मिणि । विशेषणत्वाद्बन्धर्म्यं यथाऽन्वय-विवक्षया ॥१८॥

एक वस्तु में नास्ति धर्म भी, स्वविरोधी अस्ति के साथ ।  
अविनाभावी ही रहता है, क्योंकि विशेषण भी वह खास ॥  
जैसे हेतु के प्रयोग में, है व्यतिरेक हेतु नित ही ।  
अन्वय हेतु के सह रहता, अविनाभावी सुघटित ही ॥१८॥

विधेयप्रतिषेध्यात्मा विशेष्यः शब्दगोचरः । साध्यधर्मो यथा हेतुरहेतुश्चाप्यपेक्षया ॥१९॥

वस्तु सदा विधिप्रतिषेधात्मक, है विशेष्य धर्मो विख्यात ।  
क्योंकि शब्द के गोचर है वह, सत् असत् रूप जग विख्यात ॥  
यथा साध्य-अग्नि का साधन घूम अग्नि का हेतु है ।  
वही अपेक्षा से हेतु भी जल के लिये अहेतु है ॥१९॥

शेषभंगाश्च नेतव्या यथोक्त-नय-योगतः । न च कश्चिद्विरोधोऽस्ति मुनीन्द्र ! तव शास्त्रे ॥२०॥

अस्ति नास्ति उभयात्मक क्रम से, तीन भंग ये कहे गये ।  
यथायोग्य नय विधि से आये, भंग चार हैं शेष कहे ॥  
अवाच्य, अस्तिअवाच्य, नास्तिअवाच्य, अस्तिनास्ति अवाच्य ।  
हे मुनीन्द्र ! तव शासन में कुछ भी विरोध नहीं दिखे कदापि ॥२०॥

एवं विधिनिषेधाभ्यामनवस्थितमर्थकृत् । नेति चेन्न यथा काय बहिरन्तर पादिभिः ॥२१॥

ऐसे विधि निषेध द्वारा जो, एकरूप से नहीं कही ।  
वह अनवस्थित वस्तु जगत् में, अर्थक्रियाकारी नित ही ॥  
यदि ऐसा नहीं मानों तो, बाह्याभ्यंतर द्वय कारण से ।  
कार्य कहा है, वह नहीं होगा, अर्थक्रिया नहीं होने से ॥२१॥

धर्म धर्मैव्य एवार्थो धर्मिणोऽनन्तधर्मणः । अंगित्वेऽन्यतमान्तस्य शेषान्तानां तदंगता ॥२२॥

अनन्त धर्म वस्तु के प्रत्येक धर्म के पृथक्-पृथक् ।  
अर्थ कहे हैं अतः वस्तु है, अनन्त धर्मात्मक शाश्वत ॥  
अनन्त धर्मों में जब एक ही, धर्म प्रधान कहा जाता ।  
तब वे शेषधर्म हो जाते, गौण यही जिन ने भाषा ॥२२॥

एकानेक-विकल्पादायुत्तरत्रापि योजयेत् । प्रक्रियां भगिनीमेतां नयैर्नय-विशारदः ॥२३॥

नय में निपुण जनों को नित ही, अनेक एक विकल्पों में ।  
नित्य क्षणिक आदिक में भी ये, सप्तभंग कर लेते हैं ॥  
सुनय विवक्षा के द्वारा प्रत्येक धर्म में सुघटित है ।  
सप्तभंग प्रक्रिया विधि यह, जिनमत में ही वर्णित है ॥२३॥

इति आप्तमीमांसायां प्रथमः परिच्छेदः ।



अष्टसहस्री ग्रंथ का मूल श्रोत

( श्रीमदुमास्वामिविरचित—तत्त्वार्थसूत्रमहाशास्त्र का मंगलाचरण )

मोक्षमार्गस्य नेतारं, भेतारं कर्मभूभृताम् ।  
ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां, वंदे तद्गुणलब्धये ॥१॥

卐   卐   卐

( श्रीमत्समंतभद्रस्वामि विरचित देवागमस्तोत्र का मंगलाचरण )

देवागम—नभोयान—चामरादि—विभूतयः ।

मायाविष्वपि दृश्यन्ते, नातस्त्वमसि नो महान् ॥१॥

卐   卐   卐

( श्रीमद्भट्टाकलंकदेव विरचित अष्टशती भाष्य का मंगलाचरण )

उद्बोपीकृतधर्मतीर्थमचलज्योतिर्ज्वलत्केवला-

लोकालोकितलोकलोकमखिलैरिन्द्रादिभिर्वंदितम् ॥

वंदित्वा परमार्हतां समुदयं गां सप्तभंगीविधि ।

स्याद्वाबामृतगभिणीं प्रतिहृतेकांतान्धकारोदयाम् ॥१॥

卐   卐   卐

( श्रीमद्विद्यानंद आचार्य विरचित अष्टसहस्री का मंगलाचरण )

श्रीवर्द्धमानमभिषंख समंतभद्र—मुद्भूतबोधमहिमानमनिन्द्यवाचम् ।

शास्त्रावताररचितस्तुतिगोचराप्त—यमीमर्तिसतं कृतिरलंकियते मास्य ॥१॥

卐   卐   卐

( स्याद्वादचितामणि नामा हिंदी टीकाकर्त्री आयका ज्ञानामती कृत मंगलाचरण )

सिद्धान्तवार्हतश्चाप्तान्, आदिब्रह्मा स वंद्यते ।

युगादौ सृष्टिकर्ता यः, ज्ञानज्योतिः स मे विश ॥१॥

卐   卐   卐



श्रीमद्विद्यानन्दस्वामिविरचिता

# अष्टसहस्री

(द्वितीय भाग)

अनुवादकर्त्री—आर्यिका ज्ञानमती

त्वन्मतामृतबाह्यानां<sup>१</sup> सर्वथैकान्तवादिनाम्<sup>२</sup> ।

आप्ताभिमानदग्धानां<sup>३</sup> स्वेष्टं<sup>४</sup> दृष्टेन<sup>५</sup> बाध्यते ॥७॥

[ जिनधर्मोऽमृतमस्तीति जैनाः ब्रुवन्ति ]

त्वन्मतमनेकान्तात्मकं वस्तु तज्ज्ञानं च । तदेवामृतम्, अमृतस्य मोक्षस्य कारणत्वात्

भगवान् अर्हन्त ही युक्ति शास्त्र से अविरोधी वचन वाले होने से और सुनिश्चिततासंभवद्बाधक प्रमाण वाले होने से सर्वज्ञ और वीतराग हैं यह बात कही गई है अतः आप ही मोक्षमार्ग के प्रणेता महान् हैं अन्य कपिल आदि नहीं हैं क्योंकि—

कारिकार्थ - हे भगवन् ! आपके मत रूप अमृत से जो बहिर्भूत है सर्वथा एकांतरूप मत को कहने वाले हैं और “मैं ही आप्त हूँ” इस प्रकार के अभिमान से जो दग्ध हैं उनका दृष्ट-मत प्रत्यक्ष प्रमाण से बाधित होता है ॥७॥

[ जैन धर्म अमृत स्वरूप है ऐसा जैन कहते हैं ]

जो आपका मत है वह अनेकांतात्मक वस्तु है, वह मत और उसका ज्ञान वही अमृत है क्योंकि अमृतरूप मोक्ष का कारण है और सर्वथा बाधारहित रूप से परितोष-संतोष को करने वाला है आपके

१ त्वन्मतमनेकान्तात्मकं वस्तु तज्ज्ञानं वा तदेवामृतममृतस्य मोक्षस्य कारणत्वात् तस्माद्बाह्यानाम् । (दि० प्र०)

२ सदसन्निस्थानित्याद्येकान्तदुराग्रहयुक्तानाम् । (दि० प्र०) ३ वयमेवाप्ता इत्यभिमानेन प्रज्वलितानाम् । (दि० प्र०)

४ नित्यत्वाद्येकान्ततत्त्वम् । ५ प्रत्यक्षेण ।

सर्वथा निर्वाधत्वेन परितोषकारित्वाच्च । ततो बाह्याः सर्वथैकान्तास्तदभिनिवेशिनश्च<sup>१</sup> वादिनः<sup>२</sup> । ते आप्ताभिमानदग्धा एव विसंवादकत्वेन<sup>३</sup> ४ तत्त्वतोऽनाप्तत्वाद्वयमाप्ता<sup>५</sup> इत्यभिमानेन<sup>६</sup> स्वरूपा<sup>७</sup> त्रपत्यावितत्वाद्गन्धा<sup>८</sup> इव दग्धा इति<sup>९</sup> समाधिवचनत्वात्<sup>१०</sup>, तेषां स्वेष्टस्य सदाद्येकान्तस्य दृष्ट<sup>११</sup> बाधनात्<sup>१२</sup> । अनेकान्तात्मकवस्तुसाक्षात्करणं बहिरन्तश्च<sup>१३</sup> सकलजगत्साक्षीभूतं<sup>१४</sup> विपक्षे<sup>१५</sup> प्रत्यक्षविरोध<sup>१६</sup> लक्षणमनेन<sup>१७</sup> दक्षयति<sup>१८</sup> \* । सदाद्येकान्तविरोध<sup>१९</sup> स्यानेकान्तात्मकवस्तुसाक्षात्करणलक्षणत्वाद्<sup>२०</sup>, बहिरिवान्तरपि तत्त्वस्यानेकान्तात्मकतया सकलदेशकालवर्तिप्राणिभिरनुभवनात्<sup>२१</sup> २२ सुनिश्चितासंभवद्बाधकप्रमाणत्वसिद्धेः । न हि किञ्चिद्<sup>२३</sup>

मत से बाह्य सर्वथा एकांत मत तथा उसके आग्रहवादी जन हैं वे आप्त के अभिमान से दग्ध ही हैं वे विसंवादकपने से वास्तव में अनाप्त हैं । “हम आप्त हैं” इस प्रकार के अभिमान से तथा आप्त के स्वरूप से व्युत् होने से एवं जले हुये के समान होने से ही वे दग्ध हैं इस प्रकार से यह समाधान रूप उपचारी वचन है क्योंकि उनके स्वमत-इष्टमत सत् आदि एकांतवाद रूप हैं, उनमें प्रत्यक्ष प्रमाण से बाधा आती है ।

“जो अनेकांतात्मक वस्तु को साक्षात्कार करने रूप सकल जगत को साक्षीभूत है एवं विपक्ष में जिसका लक्षण प्रत्यक्ष से विरुद्ध है, ऐसा अंतरंग एवं बहिरंग तत्त्व है ऐसे तत्त्व का “स्वेष्टं दृष्टेन बाध्यते” इस कथन के द्वारा समर्थन करते हैं ।”

सत् आदि रूप जो एकांत है उस एकांत से विरुद्ध जो वस्तु है वह अनेकांतात्मक वस्तु के साक्षात्करण लक्षण वाली है एवं बाह्य पदार्थों के समान अतस्तत्त्व भी अनेकांतात्मक रूप से सम्पूर्ण देशकालवर्ती प्राणियों को अनुभव में आता है क्योंकि अनेकांतात्मक वस्तु का साक्षात्करण सुनिश्चित-असंभवद्बाधक-प्रमाण से सिद्ध है । अर्थात् सत्-असत् आदि रूप जो एकांत तत्त्व है उसको बाधित करने वाला अनेकांत विद्यमान है जो कि अंतस्तत्त्व और बाह्य पदार्थों को सिद्ध करने वाला है ।

“ज्ञानरूप चेतन वस्तु या अन्य अचेतन पदार्थ आदि कोई भी वस्तु रूपान्तर से विकल सत्-असत्, नित्य-अनित्य आदि एकान्त रूप है ऐसा हम नहीं देखते हैं अंसे कि एकान्त रूप से आप बौद्ध आदि

१ आग्रहिणः । २ कपिलादयः । (व्या० प्र०) ३ तत्त्वे विप्रतिपत्तिजनकत्वेन । (व्या० प्र०) ४ परमार्थतः । (व्या० प्र०) ५ वयमाप्ता इत्यभिमानः कृत इत्युक्ते समर्थनमिदम् । (व्या० प्र०) ६ आप्तस्वरूपात् । ७ उज्जितः (दि० प्र०) ८ पातितत्वात् । (व्या० प्र०) ९ यथादग्धं वस्त्वसारम् । (व्या० प्र०) १० उपचारिवचनत्वात् । ११ प्रत्यक्षेण । (व्या० प्र०) १२ त्वमेव मोक्षमार्गस्य प्रणेता न कपिलादीति प्राक्तनमेव साध्यम् । (व्या० प्र०) १३ बहिरन्तस्त्वमन्तस्तत्त्वं च । १४ प्रतीतम् । (दि० प्र०) १५ एकान्तात्मके । (व्या० प्र०) १६ प्रत्यक्षविरोधो लक्षणं यस्येति वसः (बहिरन्तश्चेति विशेष्यमत्र) । १७ स्वेष्टं दृष्टेन बाध्यते इत्यनेन । १८ समर्थयति । १९ बाधनस्य । २० अनेकान्तात्मकमेवास्तीति कथं दक्षयतीत्याह । (दि० प्र०) २१ उपलम्भात् । (दि० प्र०) २२ अनेकान्तात्मकवस्तुसाक्षात्करणस्य । २३ सद्रूपं रूपान्तरेणान्वयेन रहितम् ।

<sup>1</sup>पान्तरविकलं सदसन्नित्यानित्याद्येककान्तरूपं <sup>2</sup>संवेदनमन्यद्वा <sup>3</sup>संपश्यामो <sup>4</sup>यथात्र <sup>5</sup>प्रतिज्ञायते<sup>6</sup>,  
<sup>7</sup>चित्रज्ञानयत्कथञ्चिद<sup>8</sup>सङ्कीर्णविशेषकात्मनः<sup>9</sup> <sup>10</sup>सुखादिचैतन्यस्य वर्णसंस्था<sup>11</sup> नाद्यात्मनः स्कन्ध-  
स्य च प्रेक्षणात्\* ।

[ चित्राद्वैतवादी चित्रज्ञानं एकरूपं साधयितुं प्रयतते ]

स्यान्मतं<sup>12</sup> "सुखादिचैतन्यमसंकीर्णविशेषा<sup>13</sup>त्मकमेव न पुनरेकात्मकं, सुखचैत<sup>14</sup>न्यादाह्लाद-  
नाकारान्मेय<sup>15</sup>बोधनाकारस्य<sup>16</sup> विज्ञानस्यान्यत्वाद्, विरुद्धधर्माध्यासस्यान्यत्वसाधनत्वाद्, अन्यथा<sup>17</sup>

स्वीकार करते हैं । अर्थात् सत् रूपांतर से विकल नहीं है मतलब सत् असत् से रहित, नित्य अनित्य से रहित नहीं है इत्यादि, क्योंकि चित्रज्ञान के समान कथञ्चित् असंकीर्ण विशेषात्मक अर्थात् विशेष—  
भिन्न-भिन्न सुखादि पर्यायों परस्पर में असंकीर्ण-संकर से रहित हैं यह कथन पर्यायाधिकनय से है, एवं असंकीर्ण विशेष होते हुए भी सभी वस्तुयों द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से एकात्मक—सामान्यात्मक सुखादि अनेक धर्मों से युक्त चैतन्यवस्तु एवं वर्ण संस्थानादि अनेक धर्म से सहित पुद्गल स्कन्ध देखे जाते हैं ।" अर्थात् सभी वस्तु एकानेकात्मक सिद्ध हैं ।

[ चित्राद्वैतवादी चित्रज्ञान को एकरूप सिद्ध करने का प्रयत्न करता है ]

चित्राद्वैतवादी—सुखादि चैतन्य असंकीर्णविशेषात्मक-प्रतिनियत भिन्न-भिन्न अनेक स्वरूप वाले ही हैं एकात्मक नहीं हैं । आह्लादनाकार सुख चैतन्य रूप से मेय-ज्ञेय, ज्ञानाकार विज्ञान भिन्न है क्योंकि विरुद्ध धर्माध्यास सदा भिन्नपने को ही सिद्ध करता है अन्यथा यदि आप विरुद्ध धर्म के होने पर भी अभिन्न मानोगे तो अखिल वस्तु एकरूप हो जावेगी ।

जैन—यह कथन असत् है । फिर आपका चित्रज्ञान भी एकात्मक नहीं बन सकेगा अर्थात् आप चित्राद्वैतवादी चित्रज्ञान को एक ही मानते हैं उसे अनेक मानना पड़ेगा क्योंकि पीताकार ज्ञान नीलादि आकार ज्ञान से भिन्न है । सुखज्ञान और ज्ञेयज्ञान के समान उसमें भी विरुद्ध धर्म पाया जाता है ।

1 यथा प्रतिष्ठादिभिः एकान्तेरूपे प्रतिज्ञा क्रियते । सदरहितमसत् । असदरहितं सत् नित्यरहितमनित्यम् अनित्यरहितं नित्यमिति लक्षणं रूपान्तररूपं सदाद्येकान्तरूपमन्तस्तत्त्वं बहिरतत्त्वं वा किञ्चिद्वस्तु तथा नहि व्यं स्याद्वादिनः पश्यामः । कस्मात् यथा चित्रज्ञानस्य कथञ्चिदसंकीर्णविशेषात्मकं कथञ्चिद्विशेषात्मकं तथा सुखादिचैतन्यस्य वर्णसंस्थानस्वभावस्कन्धं च प्रेक्ष्यते यतः । (दि० प्र०) 2 अन्तस्तत्त्वम् । 3 वाक्यतत्त्वम् । 4 यथा च प्रतिज्ञायते । इति पा० (दि० प्र०) यथा प्रतिज्ञायते । (व्या० प्र०) 5 एका-  
न्तत्वेन । 6 परैर्ज्ञादिभिः । 7 तथा च दृश्यते । 8 सुखादिपर्यायापेक्षया । आत्मशब्दोयमुभयत्र सम्बध्यते । तेन विशेषात्मन एकात्मनश्चेति योज्यम् । इत्युक्ते किं तात्पर्यम् ? द्रव्यपर्यायापेक्षया अन्तर्बस्तु बहिर्बस्तु चैकानेकात्मकं नामेत्यर्थः । 9 एकत्वं द्रव्यापेक्षया । 10 सुखादिनानाधर्मसहितचैतन्यस्य । 11 स्कन्धः—  
संस्थानमाकृतिः । पुद्गलः । 12 चित्राद्वैतवादिनः । 13 प्रतिनियतानेकस्वरूपम् । 14 एव । (व्या० प्र०) 15 ज्ञेय । (व्या० प्र०) 16 परिच्छिन्ति । स्वरूपस्य (व्या० प्र०) 17 विरुद्धधर्मत्वेभ्योभिन्नत्वे सति ।

विश्वस्यैकत्वप्रसङ्गात्' इति तदसत्<sup>1</sup>, <sup>2</sup>चित्रज्ञानस्याप्येकात्मकत्वाभावप्रसङ्गात् पीताकारसंवेदनस्य नीलाद्याकारसंवेदनादन्यत्वात्, <sup>3</sup>तद्वद्विरुद्धधर्माध्यासात् । यदि पुनरशक्यविवेचनत्वात्पीताद्याकारसंवेदनमेकात्मकमुररीक्रियते तदा सुखादिसंवेदनेन<sup>4</sup> कोपराधः कृतः ? <sup>5</sup>तस्याप्यशक्यविवेचनत्वादेवैकात्मकत्वोपपत्तेः, पीताद्याकाराणामिव <sup>6</sup>सुखाद्याकाराणां चैतन्यान्तरं<sup>7</sup> नेतुमशक्यविवेचनत्वसङ्गात्<sup>8</sup> ।

[ माध्यमिकबौद्धः कथयति ज्ञानं निरंशमेकरूपमिति ]

<sup>10</sup>तस्यैकात्मकमेव सुखादिचैतन्यं न पुनरसंकीर्णविशेषात्मक<sup>11</sup>मित्यपि न<sup>12</sup> मन्तव्यं, चित्रज्ञानस्याप्यसंकीर्णविशेषात्मकत्वाभावप्रसङ्गात्<sup>13</sup> । तथा<sup>14</sup> च सति<sup>15</sup> न तच्चित्रमेक<sup>16</sup>ज्ञानवत्<sup>17</sup> ।

अर्थात् जैसे सुखज्ञान भिन्न है और ज्ञेय पदार्थों का ज्ञान भिन्न है वैसे नील और पीत के ज्ञान भिन्न-भिन्न ही हैं ।

चित्राद्वैतवादी—चित्रज्ञान में पीतादि आकारों का विवेचन करना अशक्य है, अतः पीताद्याकार ज्ञान को हम एकरूप स्वीकार करते हैं ।

जैन—यदि आप ऐसा मानते हैं तब तो यह बताइये कि सुखादि ज्ञान ने क्या अपराध किया है ? उनमें भी अशक्य विवेचन होने से ही एकरूपता बन जाती है । पीताद्याकार के समान ही सुखाद्याकारों को भी चैतन्यान्तर प्राप्त कराने में अशक्य विवेचन का सद्भाव है अर्थात् सुखादि भिन्न चैतन्य है और ज्ञान भिन्न चैतन्य है ऐसा विवेचन करना अशक्य ही है ।

[ माध्यमिक बौद्ध ज्ञान को निरंश सिद्ध करता है ]

बौद्ध—“सुखादि चैतन्य एकरूप ही हैं किन्तु भिन्न-भिन्न विशेष रूप नहीं हैं ।” ऐसा ही मान लेना उचित होगा ।

जैन—ऐसी मान्यता भी ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने से तो चित्र ज्ञान भी असंकीर्ण विशेषात्मक—भिन्न-भिन्न नहीं बन सकेगा पुनः चित्रज्ञान को एक मान लेने पर वह चित्रज्ञान नहीं कहलायेगा, एक ज्ञान के समान । अर्थात् जैसे घट आदि एक पदार्थ के ज्ञान में यह ‘चित्रज्ञान’ है ऐसा व्यवहार नहीं होता है वैसे ही यदि चित्रज्ञान भी एक रूप है तो उसे चित्रज्ञान कैसे कहेंगे ?

- 1 जैनैरुच्यते । 2 चित्राद्वैतवादिनश्चित्रज्ञानमेकमेव वदन्ति । 3 (सुखज्ञानमेवज्ञानवत्) । 4 पीताद्याकाराणां चित्रज्ञाने । 5 सुखादि चैतन्येन इति पा० (व्या० प्र०, दि० प्र०) 6 सुखादि चैतन्यस्य । (दि० प्र०) 7 देवदत्तस्य सुखदुःखाकाराणां यज्ञदत्तसन्तानं प्रति प्रापयितुं पृथक्कर्तुमशक्यत्वात् । (दि० प्र०) 8 देवदत्तसुखाद्याकाराणां यज्ञदत्तसन्तानं प्रति पृथक्कर्तुमशक्यत्वात् । (द्वितीयैकवचनम्) । 9 सोमतः (दि० प्र०) 10 निरंशैकज्ञानवादी माध्यमिकः प्राह । 11 अनेकान्तात्मकं न । (दि० प्र०) 12 जैनः । (दि० प्र०) 13 एकात्मकत्वात् = हे संवेदनाद्वैतवादिन् चित्रज्ञानस्य भिन्नविशेषाभाव ऐक्ये सति सत् चित्रज्ञानं चित्रं नानात्मकं न भवति यथा एकज्ञानम् । (दि० प्र०) 14 चित्रज्ञानस्यैकत्वे । 15 परः । (दि० प्र०) 16 माध्यमिकः प्राह । (दि० प्र०) 17 घटाद्येकरूपदार्थज्ञाने यथा चित्रव्यवहारो न ।

चित्रज्ञाने<sup>१</sup> पीताद्याकारप्रतिभा<sup>२</sup>सस्याविद्योपकल्पितत्वादेकात्मकत्वमेव<sup>३</sup> वास्तवमिति चेत्कथमे-  
कानेकाकारयोः प्रतिभासाविशेषेपि वास्तवेतरत्वं<sup>४</sup>प्रविवेकः ? <sup>५</sup>एकाकारस्यानेकाकारेण विरो-  
धा<sup>६</sup>त्तस्यावास्तवत्वे कथमेकाकारत्वं<sup>७</sup>वास्तवत्वं स स्यात् ? <sup>८</sup>स्वप्नज्ञानेऽनेकाकारस्या<sup>९</sup>वास्त-  
वस्य<sup>१०</sup>प्रसिद्धेश्चित्र<sup>११</sup>ज्ञानेपि <sup>१२</sup>तस्यावास्तवत्वं युक्तं कल्पयितुमिति <sup>१३</sup>चेत्केशादावेका<sup>१४</sup>कारस्याध्य-  
वास्तवत्वसिद्धेः<sup>१५</sup>तत्रावास्तवत्वं कथमयुक्तम् ? <sup>१६</sup>पीताद्याकारस्य संवेदनादभेदे<sup>१७</sup>ऽनेकत्व-  
विरोधाद्भेदे<sup>१८</sup> प्रतिभासासम्भवात्, प्रतिभासे वा संवेदनान्तर<sup>१९</sup>त्वापत्तेरवास्तवत्वमेवेति

**चित्राद्वैतवादी**—चित्रज्ञान में पीतादि आकारों का जो प्रतिभास है वह अविद्या से उपकल्पित है । वास्तव में तो वह चित्रज्ञान एकात्मक ही है ।

**जैन**—तब तो एक और अनेक आकारों में प्रतिभास—ज्ञान समान होने पर भी यह वास्तविक है, यह अवास्तविक है यह विवेक (भेद) कैसे होगा ? अर्थात् यह चित्रज्ञान है और उसमें नील, पीतादि ज्ञान अनेकाकार रूप हैं दोनों ज्ञान समान हैं फिर भी चित्रज्ञान का एकाकार सच्चा है अनेकाकार झूठा है यह भेद कैसे होगा ?

**चित्राद्वैतवादी**—जो एकाकार है वह अनेकाकार से विरुद्ध है । इसीलिये वह अनेकाकार अवास्तविक है अर्थात् एकाकार ज्ञान में अनेकाकार से विरोध आना स्पष्ट ही है ।

**जैन**—तो इस प्रकार से एकाकार ही अवास्तविक क्यों न हो जावे क्योंकि अनेकाकार चित्रज्ञान में एकाकार से तो विरोध प्रत्यक्ष है ।

**चित्राद्वैतवादी**—स्वप्नज्ञान में अनेकाकार को अवास्तविकता सिद्ध है अतः एक चित्रज्ञान में भी उस अनेकाकार की अवास्तविकता मानना युक्त ही है ।

**जैन**—तब तो केश आदि में एकाकार की अवास्तविकता सिद्ध है तो उस एकाकार को भी अवास्तविक कहना अयुक्त कैसे होगा ?

**माध्यमिक**—पीतादि आकार, ज्ञान से अभिन्न हैं इसलिये यह ज्ञान है ये पीतादि आकार हैं इस रूप अनेकपने का विरोध है । यदि आप जैन पीतादि आकार को ज्ञान से भिन्न मानोगे तो प्रतिभास

१ सत्यम् । (दि० प्र०) २ प्रतिभासनस्व । इति पा० (व्या० प्र०, दि० प्र०) ३ अत्राह जैनः हे संवेदना-  
द्वैतवादिन् उभयत्र प्रकाशात्मकतया अभेदेऽप्येकस्य वास्तवमनेकस्यावस्तुभूतत्वमिति विवेकरतव कथम् । (दि० प्र०)  
४ भेदः । (दि० प्र०) ५ अनेकाकारस्य । (दि० प्र०) ६ परः । (दि० प्र०) ७ उभयत्र विरोधाविशेषात् ।  
८ उभयोरपि प्रतिभासत्वे विशेषो नास्ति तथाप्येको-वारतयः एकोवास्तव इति पृथगात्मा कथम् । (दि० प्र०)  
९ कर्तितुरगादि । (व्या० प्र०) १० लोके । ११ एकस्मिन् । १२ अनेकाकारस्य । १३ केशोंडुक । (व्या०  
प्र०) १४ मणकादि । (व्या० प्र०, दि० प्र०) १५ एकाकारे । १६ पीताद्याकारः संवेदनादभिन्नो भिन्नो वेति  
विकस्य क्रमेण दूषयति माध्यमिकः । १७ इदं संवेदनमिमे पीतादय इति । १८ यतएवं । (दि० प्र०) १९ तर्हि  
तच्चित्रज्ञानं न भवति किन्तु तत्र ज्ञानान्तरमेव स्यात् ।



चेत्<sup>१</sup>, तत एवैकाकारस्यावास्तवत्वमस्तु<sup>३</sup>, तस्यापि<sup>४</sup> पीताद्याकारप्रतिभासेभ्यो<sup>५</sup> नर्थान्तरतायामेक-  
त्वविरोधा<sup>६</sup>दर्थान्तरतायां सवित्यभावात्<sup>७</sup>, संवित्तौ<sup>८</sup> वा ज्ञानान्तरत्वप्रसक्तेर्विशेषाभावात् । ततो<sup>९</sup>  
न चित्रज्ञानेऽनेकाकारप्रतिभासस्यैव प्रेक्षावद्भिरवास्तवत्वं शक्यं कल्पयितुं, <sup>१०</sup>येनेदमेवाभिधीय-  
मानं शोभेत—

“किं<sup>११</sup> स्यात्सः <sup>१२</sup>चित्रतैकस्यां न स्यात्तस्यां <sup>१३</sup>मतावपि । <sup>१४</sup>यद्दीवं स्वयमर्थेभ्यो<sup>१५</sup> रोचते<sup>१६</sup> तत्र के वयम्<sup>१७</sup>”  
इति<sup>१८</sup> । न <sup>१९</sup>पुनरिदमपि<sup>२०</sup>

ही असम्भव हो जावेगा अथवा आप प्रतिभास मान भी लेवें तो भी ज्ञानान्तर हो जावेगा अर्थात् वह  
चित्रज्ञान ही नहीं रहेगा किन्तु दूसरा ही ज्ञान हो जावेगा, अतः वह अनेकाकार अवास्तविक है ।

जैन—उसी हेतु से आप चित्रज्ञान में एकाकार को भी अवास्तविक ही क्यों न मान लेवें ? यदि  
चित्रज्ञान पीतादि आकाररूप प्रतिभास से अभिन्न है, तब तो चित्रज्ञान में एकत्व का विरोध हो जाता  
है । तथा यदि भेद है तो संवित्ति नहीं हो सकेगी अर्थात् पीतादि आकाररूप प्रतिभास से चित्रज्ञान  
यदि भिन्न है, तो पीतादि अशेषाकार से शून्य चित्रज्ञान तो प्रतीति में भी नहीं आ सकता है अथवा  
यदि आप कहें कि पीतादि आकारों के प्रतिभास से वह चित्रज्ञान भिन्न है फिर भी उसका ज्ञान होता  
है तब तो वह भिन्न ज्ञान ही हो जावेगा । क्योंकि जब सभी ज्ञान भिन्न हैं तब इस चित्रज्ञान में ही  
क्या विशेषता रहेगी ? इसलिये चित्रज्ञान में अनेकाकार प्रतिभास—ज्ञान को ही अवास्तविक कहना  
शक्य नहीं है जिससे कि आपका यह कथन शोभित हो सके, कि—

श्लोकार्थ—क्या उस एक चित्रज्ञान में चित्रता-अनेकता हो सकती है ? अर्थात् उस एक चित्रज्ञान  
में अनेकता नहीं है और यदि ज्ञान लक्षण पदार्थों को चित्रज्ञान की एकता ही प्रतिभासित हो रही है,  
तो हम (माध्यमिक) उसका निवारण कैसे कर सकते हैं ? अर्थात् अविद्या से उपकल्पित होने से ऐसा  
प्रतिभासित होता है इसमें विचार करने वाले हम लोग नहीं हैं ।

अर्थात् आपका यह कथन शोभित नहीं हो सकता है । हम ऐसा कह सकते हैं कि—

१ न्यायात् । (दि० प्र०) २ चित्रज्ञाने । ३ संवेदनान्तरत्वापत्तेः । ४ एकाकारस्यापि । (दि० प्र०) ५ अभेदे ।  
६ पीताद्याकारप्रतिभासेभ्यश्चित्रज्ञानस्य भेदे । ७ अर्थान्तरत्वे मति पीताद्यशेषाकारशून्यस्य चित्रज्ञानस्याप्रतीय-  
मानत्वाद्धेतोः । ८ अर्थान्तरत्वेऽपि । ९ उपसंहरति जैनः । १० कुतः । (दि० प्र०) ११ सम दूषणं किम् ।  
(दि० प्र०) १२ अनेकता । १३ चित्रज्ञाने । १४ चित्रज्ञानस्यैकत्वम् । १५ ज्ञानलक्षणेभ्यः । १६ प्रति-  
भासते । १७ वयं माध्यमिका निवारकाः कथं भवामः ? १८ संवेदनाद्वैतवादिनो वयम् । (दि० प्र०) १९ अत्राह  
चित्राद्वैतवादी हे संवेदनाद्वैतवादिन् इदं पुनर्यदुक्तं त्वयातन् । (दि० प्र०) २० शोभेतेति पूर्वोक्तान्वयः । किं तत् ?  
तदाह ।—एकं चेच्चित्रता न स्याच्चित्रं चेदेकता कुतः ? एकं च तच्च तच्चित्रमेतच्चित्रतरं महदिति । अन्यच्च  
स्वयमाह ।

“किं नु स्यादेकता<sup>1</sup> न स्यात्तस्यां चित्रमतावपि । यदीदं<sup>2</sup> रोचते बुद्ध्यं चित्रायं तत्र के वयम्<sup>3</sup> ।”  
इति ।

[ निरंशैकज्ञानवादी बौद्धचित्रवाद्वैतवादिनं निराकरोति ]

ननु<sup>4</sup> चैकस्यां मतौ<sup>5</sup> ‘चित्रतापायेपि संवेदन<sup>7</sup>मात्रस्य भावान्न स्वरूपस्य<sup>8</sup> स्वतो<sup>9</sup> गति-  
विरुद्ध्यते । संवेदनमात्रस्य त्वपाये सा<sup>10</sup> विरुद्ध्यतेति चेन्न<sup>11</sup>, <sup>12</sup>तदभावेपि<sup>13</sup> नानापीतादिप्रति-  
भामसद्भावा<sup>14</sup> तदविरोधात्<sup>15</sup> । <sup>16</sup>नन्वेवं<sup>17</sup> ‘नीलवेदनस्यापि प्रतिपरमाणु भेदाशीलाणुसंवेदनः

श्लोकार्थं—क्या चित्रज्ञान में एकता है ? अर्थात् उस चित्रज्ञान में भी एकता नहीं है । यदि उस चित्रबुद्धि—ज्ञान में चित्रत्व ही प्रतिभासित हो रहा है, तो हम लोग क्या कर सकते हैं ? अर्थात् हम भी ऐसा कह सकते हैं कि यदि ज्ञान में एकपना है तो वह ज्ञान चित्रज्ञान नहीं है । यदि वह ज्ञान चित्रज्ञान है तब उसमें एकपना कैसे हो सकता है ? नहीं हो सकता, किन्तु वह ज्ञान एक भी है और चित्रज्ञान भी है यह तो बहुत ही आश्चर्य की बात है ।

(पीतादि अशेष आकार से शून्य वस्तु में ‘यह ऐसी है’ इस प्रकार समझना अशक्य है अतः चित्रज्ञान में एकत्व का वास्तविकपना कैसे सिद्ध होगा ? इस प्रकार कहने वाले चित्राद्वैतवादियों का खण्डन करते हुए निरंशज्ञानवादी कहते हैं ।)

[ निरंशज्ञानवादी बौद्ध चित्रज्ञानवादियों का खण्डन करता है ]

निरंशैकज्ञानवादी—एक चित्रज्ञान में पीतादि अनेकाकार रूप चित्रता का अभाव होने पर भी संवेदनमात्र—एकज्ञानमात्र का ही सद्भाव है क्योंकि स्वरूप का ज्ञान स्वतः विरुद्ध नहीं है, किन्तु संवेदनमात्र—ज्ञानमात्र के अभाव में तो वह ज्ञान विरुद्ध हो सकता है ।

जैन—नहीं । एक चित्रज्ञान में संवेदनमात्र का अभाव होने पर भी अनेक पीतादि के प्रतिभास का सद्भाव है अतः अनेकाकार का विरोध नहीं है अर्थात् चित्रज्ञान में तो एकत्व का ही विरोध है ।

निरंशैकज्ञानवादी माध्यमिक—यदि आप जैन इस प्रकार से एक को अनेक रूप से स्वीकार करोगे तब तो नीलज्ञान में भी प्रतिपरमाणु (परमाणु-परमाणु) से भेद मानना होगा पुनः सभी नील अणु-अणु के ज्ञान परस्पर भिन्न ही हो जावेंगे, तब उस नील परमाणु के ज्ञान में भी नाना प्रतिभास

- 1 पीताद्याकाराणां स्याद्वाच्यभिमतानाम् । 2 चित्रत्वम् । 3 चित्राद्वैतवादिनः । (दि० प्र०)  
4 पीताद्यशेषाकारशून्यस्येदन्तयात्रगन्तुमशक्यत्वात्कथमेकत्वस्य वास्तव्यत्वमिति । प्रत्यवस्थितान् चित्रज्ञानवादिनः प्रत्याचक्षाणो निरंशैकज्ञानवादी प्राहुः । 5 चित्रज्ञाने । 6 पीताद्याकाराणाम् । 7 एकस्य । 8 चित्रज्ञाने संवेदनमात्रस्वरूपस्य । 9 चित्रज्ञानात् । 10 स्वरूपस्य स्वतो गतिः । (दि० प्र०) 11 जैनः । 12 एकस्य चित्रज्ञानस्य संवेदनमात्रस्याप्यभावे । 13 अत्राह चित्राद्वैतवादी । तस्य संवेदनमात्रस्याभावेपि नानापीतादितस्याः स्वरूपस्य स्वतो गतेरविरोधात् । (दि० प्र०) 14 पीताद्यशेषाकारशून्यस्य इदन्तयात्रगन्तुमशक्यत्वात् कथमेकत्वस्य वास्तव्यत्वमिति प्रत्यवस्थितांचित्रज्ञानवादिनः प्रत्याचक्षाणो निरंशैकज्ञानवादी प्राहुः । (दि० प्र०) 15 अतश्चित्रज्ञानस्यैकत्वविरोधः । 16 निरंशैकवादी माध्यमिकः प्राह । 17 भो जैन ! त्वदुक्तप्रकारेण । एकस्यानेकत्वाङ्गीकारप्रकारेण ।

परस्परं भिन्नैर्भवितव्यम् । <sup>1</sup>तत्रैकनीलपरमाणुसंवेदनस्याप्येव<sup>2</sup> वेद्यवेदकसंविदाकारभेदात्त्रितयेन भवितव्यम् । वेद्याकारादिसंवेदनत्रयस्यापि प्रत्येकम्<sup>3</sup>परस्ववेद्याकारादिसंवेदनत्रयेण<sup>4</sup> । इति परापरवेदनत्रयकल्पनादनवस्थानात् क्वचिदेकवेदनसिद्धिः 'संविदद्वैतविद्विषाम्'<sup>5</sup> । 'क्वचिदप्येकात्मकत्वानभ्युपगमे च कुतो नानात्मव्यवस्था'<sup>6</sup> ? वस्तुन्येक<sup>7</sup>त्रापरैकवस्त्व<sup>8</sup>पेक्षयानेकत्वव्यवस्थोपपत्तेः । 'क्वचिदैक्योपगमे वा कथं चित्रमती नैक्यमविरुद्धं ? चित्राकारापायेपि तस्य'<sup>9</sup>

का सद्भाव होने से वेद्य-वेदक एवं संविदाकार के भेद से तीन रूप हो जावेंगे और वेद्याकार, वेदकाकार, संविदाकार इन तीनों में से प्रत्येक में दूसरे-दूसरे स्ववेद्याकार आदि तीन संवेदन माने जावेंगे । इस प्रकार से परापर-आगे-आगे के प्रत्येक ज्ञान में ज्ञानत्रय की कल्पना करने से अनवस्था दोष आ जावेगा । पुनः हमारे (संवेदनाद्वैतवादी के) द्वेषी आप स्याद्वादियों के यहाँ कहीं पर भी एक ज्ञान की सिद्धि नहीं हो सकेगी । तब तो ज्ञान अथवा बाह्य पदार्थ इन किसी में भी एकात्मपने को स्वीकार न करने से आपके यहाँ नाना आत्माओं की व्यवस्था भी कैसे होगी क्योंकि एक चित्रज्ञानरूप वस्तु में अपर एक वस्तु की अपेक्षा से अनेकत्व की व्यवस्था हो जावेगी अथवा यदि आप ज्ञान या बाह्य पदार्थों में कहीं पर भी एकत्व स्वीकार करेंगे तब तो चित्रज्ञान में भी एकपना अविरुद्ध क्यों नहीं हो जावेगा ? अर्थात् चित्रज्ञान में एकपना विरोध रहित ही है ऐसा सिद्ध हो जावेगा । क्योंकि चित्राकार के अभाव में भी चित्रज्ञान में एकत्व होना सम्भव है ।

जैन—ऐसा कहते हुये भी आप प्रेक्षावान् नहीं हैं । चित्राकार के अभाव में भी यदि चित्रज्ञान सम्भव है तब तो चित्रज्ञान में ज्ञानाकारवत् एक पीताकार और नीलाकार का भी अपने-अपने स्वरूप से सद्भाव सिद्ध हो गया । पुनः परस्पर की अपेक्षा से उस चित्रज्ञान में अनेकत्व ही सिद्ध हो जाता है । अतः अनेक चैतन्य से व्याप्त हुआ अनेकाकार रूप यह चित्रज्ञान अंतस्तत्त्व ज्ञानादि में एकानेकत्व सिद्ध करने के लिये उदाहरणरूप सिद्ध हो जाता है ।

भावार्थ—आचार्यश्री ने अर्हंत भगवान् के मत को अमृतस्वरूप कहा है और बतलाया है कि इस अमृतमय जैन शासन में सम्पूर्ण वस्तुयें अनेकान्त स्वरूप हैं और अनेकांत धर्म से एकांत धर्म बाधित हो जाता है । आचार्यश्री ने सुख, ज्ञान, दर्शन आदि अनेक गुणों से सहित चैतन्यतत्त्व को अनेक धर्मात्मक सिद्ध किया है और पुद्गल आदि बाह्य पदार्थों को भी आकार, गुण, पर्याय आदि की अपेक्षा अनेक धर्मात्मक माना है । इन जीव, अजीव तत्त्वों को अनेकांतरूप सिद्ध करते हुये उदाहरण में 'चित्रज्ञानवत्' कह दिया है क्योंकि आचार्यश्री चित्रज्ञान को कथंचित् एकरूप कथंचित् अनेक रूप मान रहे हैं किन्तु इस पर एकांतवादी बौद्ध चित्रज्ञान को सर्वथा एकरूप सिद्ध करने के लिये अतिसाहस करता है और जब सफलीभूत नहीं हो पाता है तब उसी का भाई ज्ञान को निरंश एक रूप मानने

1 तेषु मध्ये । 2 नानाप्रतिभाससद्भावत्वेन । 3 स्वकीय । (दि० प्र०) 4 भवितव्यमित्यन्वयः । 5 चित्राद्वैतवादिनाम् । (दि० प्र०) 6 जैनादीनाम् । 7 ज्ञाने बहिरर्थे वा । 8 तव जैनस्य । 9 चित्रज्ञाने । 10 नीलादिप्रतिभास । (व्या० प्र०) 11 ज्ञाने बहिरर्थे वा । 12 चित्रमतादैक्योपगमस्य ।

सम्भवात् ।<sup>1</sup> इति कश्चित्<sup>2</sup> 'सोप्यप्रेक्षा<sup>3</sup>पूर्ववादी, तथा<sup>3</sup> सति चित्रज्ञाने संविदा<sup>4</sup>कारवदेकस्य पीताकारस्य नीलाकारस्य च<sup>5</sup> सद्भावसिद्धौ परस्परापेक्षयानेकत्वसिद्धेरनेक<sup>6</sup>चैतन्यव्याप्तस्यानेकाकारस्य<sup>7</sup> चित्र<sup>8</sup>ज्ञानस्या<sup>9</sup>न्तरेकानेका<sup>10</sup>त्मकत्वसाधने<sup>11</sup> निदर्शनत्वोपपत्तेः ।

[ सांख्यः सुखादिकमचेतनं स्वीकरोति तस्य विचारः क्रियते ]

स्यान्मतं<sup>12</sup>, सुखादीनां<sup>13</sup> चैतन्यं व्यापकं भवत् किमेकेन स्वभावेन<sup>14</sup> भवत्यनेकेन स्वभावेन वा ? यद्येकेन<sup>15</sup> तदा तेषामेकस्वरूप<sup>16</sup>त्वापत्तिः । अथानेकेन तदा सोप्य<sup>17</sup>नेकस्वभावः परेणाने-

वाला माध्यमिक बौद्ध ज्ञान को एक निरंश रूप ही सिद्ध करना चाहता है और कहता है कि यदि आप जैन लोग ज्ञान को एकरूप नहीं मानोगे तब तो एक नीलकमल के एक दल में एक-एक अणु के प्रति भेद मानने से प्रत्येक में जानने योग्य, जानने वाला और जानना ऐसे तीन-तीन आकार मानने पड़ेंगे पुनः प्रत्येक ज्ञान के एक-एक अंश में तीन-तीन अंशों को मानते-मानते नाक में दम आ जावेगा कहीं पर भी विराम नहीं हो सकेगा इत्यादि रूप से जैनियों पर कटाक्ष कर रहा है, किन्तु जैनाचार्य इन दोषों से कब डरने वाले हैं । उन्होंने कह दिया कि भाई ! हम तो सभी वस्तुओं को कथंचित् एक, कथंचित् अनेक दोनों रूप सिद्ध करते हैं । न सर्वथा एकरूप मानते हैं, न सर्वथा अनेकरूप । दूसरी बात यह भी है कि हम ज्ञानमय चैतन्य तत्त्व और पुद्गलमय बाह्य तत्त्वों को भी मान रहे हैं । हमारे यहाँ अतवस्था पिशाचिनी का प्रवेश ही नहीं हो सकता है । आपके यहाँ भी चित्रज्ञान हो, चाहे निरंश एक ज्ञान । द्रव्य की अपेक्षा सभी एकरूप हैं एवं पर्यायों की अपेक्षा सभी ज्ञान अनेक रूप हैं । इसका स्पष्टीकरण बहुत बार किया जा चुका है ।

[ सांख्य सुखादि को अचेतन स्वीकार करता है उस पर विचार ]

सुखादिक प्रधान के परिणाम होने से अचेतन हैं इसलिये चैतन्य के साथ उनकी व्याप्ति का अभाव है ऐसा मानने वाला सांख्य कहता है—

सांख्य—सुखादिकों के साथ व्याप्त होता हुआ चैतन्य क्या एक स्वभाव से व्याप्त होता है या अनेक स्वभाव से ? यदि आप जैन कहें कि एक स्वभाव से वह चैतन्य सुखादिकों के साथ व्यापक है

1 इतः स्याद्वादी प्राह । 2 स्याद्वाचाह । (दि० प्र०) 3 चित्राकारस्यापायेपि तस्य चित्रज्ञानस्य सम्भवादिति पूर्वोक्ते सति । 4 संविदाकारस्यैकस्येति खपुस्तकपाठः । एकस्य संविदाकारस्य यथा परस्परापेक्षयानेकत्वम् । 5 स्वस्वरूपापेक्षया । 6 अनेकचैतन्यं नीलपीतादिप्रतिभासः । तत्र व्याप्तस्य । 7 वसः । (दि० प्र०) 8 विशेष्यस्य । व्यापकस्य । 9 अन्तस्तत्त्वस्य ज्ञानादेः । 10 अन्त इत्यव्ययपदत्वात् षष्ठ्यन्तं संवेदनलक्षणस्यान्तस्तत्त्वस्यानेकान्तात्मकत्वस्य साधने चित्रज्ञानस्योदाहरणत्वं घटने । (दि० प्र०) 11 अन्तस्तत्त्वमेकात्मकमस्ति, चित्रज्ञानवदिति । 12 सुखादीनां प्रधानपरिणामत्वेनाचेतनत्वमभ्युपगम्य तेषां चैतन्यव्याप्तत्वाभावं मन्वानः सांख्यः प्राह । 13 व्याप्यानाम् । 14 भवत्येकेनस्वभावेन । इति पा० (दि० प्र०) 15 ओ जैन । 16 सुखादीनाम् । (दि० प्र०) 17 सोप्यनेकस्वभावोऽपि । (दि० प्र०)

केन स्वभावेन व्यापनीय इत्यनवस्था । अथैका<sup>१</sup>दृशेन स्वभावेन सुखादयश्चैतन्येन व्याप्यन्ते<sup>२</sup> तदानेकेन स्वभावेन<sup>३</sup> सजातीयेनेत्युक्तं स्यात् । तत्र च सैवानवस्था । न च गत्यन्तरमस्ति येन सुखादिव्याप्यैकं चैतन्यं सिद्ध्येदिति । 'तदेतच्चित्रज्ञानेऽपि समानम्'<sup>४</sup> । तस्य<sup>५</sup> पीताद्याकार-  
व्यापिनः स्वयं<sup>७</sup> संवेदनाच्च दोष<sup>८</sup> इति चेत्, सुखादिव्यापिनश्चैतन्यस्य सह क्रमेण च स्वयं संवेदनात्कथमुपालम्भः स्यात् ? न हि<sup>९</sup> दृष्टेऽनुपपन्नं नाम । न<sup>१०</sup> च<sup>११</sup> सुखादीनां<sup>१२</sup> चैतन्यव्याप्त-  
त्वसंवेदनं भ्रान्तम्, अचेतनत्वग्राहिप्रभाणाभावात् । अचेतनाः सुखादयः उत्पत्तिमत्त्वाद् घटादिव-  
दित्यनुमानं सुखाद्यचेतनत्वग्राहीति चेन्न, तस्य<sup>१३</sup> प्रत्यक्षबाधितविषयत्वात् चित्समन्वितानामेव

तो सभी सुखादि एकस्वरूप हो जावेंगे । यदि आप कहें कि अनेक स्वभाव से व्यापक है तब तो वह चैतन्य भी अनेक स्वभाव वाला होकर अन्य अनेक स्वभाव से व्याप्त हो जावेगा । इस प्रकार से अनवस्था दोष आ जावेगा । अथवा एक सदृश स्वभाव से वे सुखादिक चैतन्य से व्याप्त होते हैं, तब तो अनेक स्वभाव सजातीय ही मानने होंगे और उसमें भी वही अनवस्था दोष आ जावेगा क्योंकि इनसे भिन्न अन्य कोई गति ही नहीं है कि जिससे सुखादिकों में व्यापक एक चैतन्य सिद्ध हो सके । अर्थात् आपके द्वारा माना हुआ सुखादिकों से व्याप्त एक चैतन्य सिद्ध नहीं होता ।

जैन—ये सभी दोष तो चित्रज्ञान में भी समान हैं क्योंकि पीतादि अनेक आकारों में चित्रज्ञान व्यापक होता हुआ क्या एक स्वभाव से व्याप्त होता है या अनेक स्वभाव से ? इत्यादि उपर्युक्त दूषण घटित हो जावेगे ।

बौद्ध—उन पीतादि आकारों में व्यापी चित्रज्ञान का एक-अनेक स्वभाव के बिना ही स्वयं संवेदन होने से अनुभव आने से कोई दोष नहीं आता है ।

जैन—तब सुखादिकों में व्यापी चैतन्य का युगपत् और क्रम से स्वयं संवेदन हो रहा है पुनः हमें भी आप कंसे उलाहना देते हैं ? क्योंकि दृष्ट-सुखादि में व्यापी चैतन्य का अनुभव होने पर भी उसे अनुपपन्न—गजत कहें यह बात ठीक नहीं है । सुखादिकों का चैतन्य से व्याप्त होना यह ज्ञान भ्रान्त है ऐसा भी नहीं कह सकते हैं क्योंकि सुखादि चैतन्य को अचेतन रूप से ग्रहण करने वाले प्रमाण का अभाव है ।

१ एकेन सदृशेन । (व्या० प्र०) २ तथा एकरूपताफलानवस्थायाः परिहारो भवतीत्यभिप्रायः । (दि० प्र०, व्या० प्र०) ३ एकादृशेनेति प्रतिपदम् । (दि० प्र०) ४ इतो जेनो बूते । ५ पीताद्याकाराणां चित्रज्ञानं व्यापकं भवत्किमेकेन स्वभावेनानेकेन वेत्यादिप्रकारेण । ६ व्यापकस्य चित्रज्ञानस्य । ७ एकातेकस्वभावमन्तरेणैव । ८ सुखादिव्यापिनि चैतन्येऽनुभूते । ९ दृष्टेः प्रत्यक्षात् यदगृह्यते तदस्त्वनुपपन्नं विरुद्धं नहि । (दि० प्र०) १० न ह्यनुपपन्नं किन्तुपपन्नमेवेत्यत्र उपपत्तिं दर्शयति । ११ प्रत्यक्षेण प्रतीतेऽर्थे यदि पर्यनुयुज्यते स्वभावैस्तरं वाच्यं दृष्टेः कानुपपन्नता । (व्या० प्र०) १२ भावरूपादीनाम् । (व्या० प्र०) १३ अनुमानस्य । (दि० प्र०)

सुखादीनां स्वसंवेदनप्रत्यक्षे सर्वदा प्रतिभासनात् । अनुमानविरुद्ध<sup>१</sup>श्च पक्षः । तथा हि । चेतनाः सुखादयः, स्वसंवेद्यत्वात् पुरुषवत्<sup>२</sup> । पुरुषसंसर्गात्तेषां<sup>३</sup> स्वसंवेद्यत्वात्स्वतः संवेद्यत्वमसिद्धमिति चेन्न, जातुदिदम्<sup>४</sup>संवेद्यत्वाऽप्रतीतेस्तथा<sup>५</sup> वक्तुमशक्तेः—अन्यथा<sup>६</sup> पुरुषस्य स्वसंवेद्यमुखादिसम्बन्धात्स्वसंवेद्यत्वं, न स्वत इति वदतो<sup>७</sup> निवारयितुमशक्यत्वान्, <sup>८</sup>चैतन्यविशेषेण हेतोर्व्यभिचारप्रति<sup>१०</sup>पादनाच्च<sup>११</sup> । न ततोऽचेतनत्वसिद्धिः सुखादीनाम् । न चैषां<sup>१२</sup> चेतनत्वसाधनेऽपसिद्धान्तः स्याद्वादिनां प्रसज्येत, चैतन्यजीव<sup>१३</sup>द्रव्याथदिशा<sup>१४</sup>च्चेतनत्वप्रसिद्धेः, <sup>१५</sup>सकलोप<sup>१६</sup>शमिका-

सांख्य—“सुखादिक अचेतन है क्योंकि उत्पत्तिमान् है घटादि के समान ।” इस प्रकार सुखादि को अचेतन रूप से ग्रहण करने वाला अनुमान है ।

जैन—नहीं, यह अनुमान तो प्रत्यक्ष से बाधित विषय को ग्रहण करने वाला है । चित्-चैतन्य से समन्वित ही सुखादिक पर्यायें स्वसंवेदन प्रत्यक्ष में सर्वदा प्रतिभापित हो रही हैं । आपका यह पक्ष अनुमान से विरुद्ध भी है अर्थात् प्रकरणसम है । तथाहि—“सुखादि चेतन है क्योंकि वे स्वसंवेद्य हैं अर्थात् स्वसंवेदनज्ञान से उनका अनुभव हो रहा है जैसे पुरुष चेतन है उसका स्वसंवेदनज्ञान से अनुभव होता है ।”

सांख्य—उन सुखादिकों में पुरुष के संसर्ग से स्वसंवेद्यपना होता है स्वतः संवेद्यपना असिद्ध है ।

जैन—नहीं, क्योंकि सुखादि कदाचित् भी अस्वसंवेद्यरूप में प्रतीति में नहीं आते हैं मतलब वे सर्वदा ही स्वसंवेद्यरूप प्रतीत हो रहे हैं इसलिये उन्हें पुरुष के संयोग से स्वसंवेद्य कहना शक्य नहीं है अन्यथा पुरुष में भी स्वसंवेद्य सुखादि का सम्बन्ध होने से वह पुरुष स्वसंवेद्य है स्वतः नहीं है ऐसा कहते हुये हम जैनो का भी निवारण करना शक्य नहीं होगा । अर्थात् हम ऐसा कह सकते हैं कि सुखादि स्वसंवेद्य हैं इनके संसर्ग से ही पुरुष स्वसंवेद्य हुआ है वह स्वयं स्वसंवेद्य नहीं है । ऐसा कहने पर आप हमें रोक नहीं सकेंगे ।

चैतन्य विशेष से “उत्पत्तिमत्त्वात्” हेतु में व्यभिचार दोष भी आता है इसलिये सुखादिकों में अचेतनत्व की सिद्धि नहीं होती है । इन सुखादिकों को चेतन सिद्ध करने में अपसिद्धान्त दोष भी हम स्याद्वादियों के यहां नहीं आता है । द्रव्याधिक नय की अपेक्षा से चैतन्य जीवद्रव्य में चेतनत्व प्रसिद्ध

१ सत्प्रतिपक्षः प्रकरणसम इत्यर्थः । २ यथात्माच्चेतनः । (दि० प्र०) ३ सुखादीनाम् । ४ जातुदिनामिति सम्बन्धः कार्यः । (दि० प्र०) ५ तत एवेति शेषः । तथा पुरुषसंसर्गादित्यादिप्रकारेण । ६ अस्वसंवेद्यत्वात्प्रतीतावपि तथा वक्तुं शक्यं यदि । (दि० प्र०) ७ जैनस्य । ८ उत्पत्तिमत्त्वेऽपि चैतन्यविशेषोऽचेतनत्वाभाववान्यतः । ९ उत्पत्तिमत्त्वादिति हेतोः । १० प्रागेव सांख्यमोक्षनिराकरणप्रस्तावे । (दि० प्र०) ११ किञ्च सांख्यमोक्षनिराकरणावसरे प्रोक्त एव तदनुमानदोषशेषोऽत्र द्रष्टव्यः । (दि० प्र०) १२ सुखादीनाम् । (दि० प्र०) १३ एव । (व्या० प्र०, दि० प्र०) १४ द्रव्याधिकनयापेक्षया । १५ एवं ज्ञानसुखादीनामभेदः स्यादित्युक्ते आह । १६ तर्हि सुखादीनामचेतनत्वप्रतिज्ञाकथमित्याह । (दि० प्र०)

दिभावानां सुखज्ञानादिप्रतिनियतपर्यायाथदिशादेव सुखादीनां ज्ञानदर्शना<sup>१</sup>भ्यामन्यत्ववचनात् ।

(बौद्धः सुखादिपर्यायान् ज्ञानात्मकान् एककथयति तस्य निराकरणम्)

तथापि<sup>२</sup> ज्ञानात्मकाः सुखादयो, ज्ञानाभिन्नहेतुजत्वा<sup>३</sup>द्विज्ञानान्तरवदिति<sup>४</sup> चेन्<sup>५</sup>, सर्वथा विज्ञानाभिन्नहेतु<sup>६</sup>जत्वासिद्धत्वात्<sup>७</sup>, सुखादीनां <sup>८</sup>सद्वेद्योदयादिनिमित्तत्वाद्विज्ञानस्य ज्ञानावरणा-  
न्तरायक्षयोपशमादिनिबन्धनत्वात् । <sup>९</sup>कथञ्चिद्विज्ञानाभिन्नहेतुजत्वं तु रूपालोका<sup>१०</sup>दिनानैका<sup>११</sup>-  
न्तिकं<sup>१२</sup>, यथैव हि ततो<sup>१३</sup> <sup>१४</sup>विज्ञानस्योत्पत्तिस्तथा<sup>१५</sup> रूपालोका<sup>१६</sup>दिक्षणान्तरोत्पत्तिर<sup>१७</sup>पीति  
परैः<sup>१८</sup> स्वयमभिधानात् । तदेतेन<sup>१९</sup> यदभ्यधायि<sup>२०</sup> ।

ही है और सुख, ज्ञान आदि प्रतिनियत पर्यायाधिकनय की अपेक्षा से ही सकल औपशमिक आदि भाव एवं सुखादिक, कथञ्चित् ज्ञान, दर्शनरूप उपयोग स्वभाव से भिन्न भी माने गये हैं ।

[ बौद्ध सुखादि पर्यायों को ज्ञानात्मक सिद्ध करना चाहता है उसका निराकरण ]

सौगत—“सुखादि ज्ञानात्मक हैं क्योंकि ज्ञान से अभिन्न एक हेतु से उत्पन्न होने वाले हैं, भिन्न ज्ञान के समान” ।

जैन—नहीं, सर्वथा विज्ञान से अभिन्न हेतु से उत्पन्न होना असिद्ध है क्योंकि सुखादि सातावेदनीय के उदय आदि के निमित्त से होते हैं और ज्ञान तो ज्ञानावरण एवं अंतराय के क्षयोपशम आदि के निमित्त से होता है । इसलिए सुखादिक सर्वथा ज्ञान से अभिन्न हेतुज नहीं हैं किन्तु कथञ्चित् ही हैं ऐसा कहने पर प्रश्न होता है कि कथञ्चित् विज्ञान से अभिन्न हेतु द्वारा उत्पन्न होने से तो ये सुखादि, रूप और आलोक आदि से अनैकान्तिक हो जावेंगे । अर्थात् बौद्धमत में पूर्वरूप लक्षण उत्तर रूप लक्षण के प्रति उपादान रूप है और उत्तरज्ञान लक्षण तो सहकारी है अतः अभिन्न होते हुए भी कार्य भेद स्वीकार करने से व्यभिचार आता है क्योंकि जिस प्रकार उस रूप और आलोक से विज्ञान की उत्पत्ति होती है उसी प्रकार रूप क्षणान्तर और आलोक क्षणान्तर आदि की भी उत्पत्ति होती है ऐसा स्वयं बौद्धों ने कहा है । इसलिए सुखादिक, ज्ञान रूप नहीं हैं किन्तु आप बौद्धों ने जो कहा कि—

- १ उपयोगस्वभावाभ्याम् । २ ज्ञानदर्शनाभ्यामन्यत्वेऽप्यभिन्नत्वमित्याशङ्क्य प्राहुः । ३ अनन्तरातीतज्ञानक्षण । (दि० प्र०) ४ घटज्ञानात् पटज्ञानं विज्ञानान्तरंतद्वत् । (दि० प्र०) ५ स्यादादी । (दि० प्र०) ६ आत्मा । (व्या० प्र०) ७ स्यादादीनां प्रति । (व्या० प्र०) ८ सातवेद्योदय । (दि० प्र०) ९ (न सर्वथा विज्ञाना-  
भिन्नहेतुजत्वं किं तु कथञ्चिदिति बौद्धेनोक्ते आह) । १० भो बौद्ध ! त्वमते रूपक्षणं रूपसजातीयं जनयद्विजातीय-  
स्य ज्ञानक्षणस्य सहकारिकारणं भवति । एवं सति यदज्ञानाभिन्नाह उक्तं तदज्ञानात्मकमिति । (व्या० प्र०) ११ विज्ञान-  
साधनेन । बौद्धमते पूर्वरूपलक्षणस्योत्तररूपलक्षणं प्रत्युपादानत्वेन उत्तरज्ञानलक्षणं सहकारित्वेनाभिन्नहेतुत्वेऽपि  
कार्यभेदाभ्युपगमाद्व्यभिचारसत् । १२ उत्तरक्षणभूतेन । (व्या० प्र०) १३ व्यभिचारि भवति । (दि० प्र०) १४ प्राक्तनरूपालोकादेः । (व्या० प्र०) पुरुषात् । (दि० प्र०) १५ नाकारणं विषय इत्यभ्युपगमात् । (दि० प्र०) १६ उत्तरक्षणतत्सुखादीनां विज्ञानरूपत्वेन विज्ञानाभिन्नहेतुजत्वं पूर्वार्द्धेऽुक्तं यतः । (दि० प्र०) १७ क्षणान्तरात्  
उत्पत्तिः । (दि० प्र०) १८ सौगतैः । १९ सुखादीनां ज्ञानरूपत्वाभावप्रकारेण ; २० सौगतेन ।

“तत्र<sup>१</sup> तद्रूपिणो भावास्तदतद्रूपहेतुजाः । तत्सुखादि किमज्ञानं<sup>२</sup> विज्ञानाभिन्नहेतुजम् ।”

इति तदपास्तं, सुखादीनां विज्ञानरूपत्वासिद्धेः ।

“सुख<sup>३</sup>माह्लादनाकारं विज्ञानं मेयबोधनम् । शक्तिः क्रिया<sup>४</sup>नुमेया स्याद्यूनः कान्तासमागमे ।”

इति वचनादतद्रूपाः<sup>५</sup> सुखादय इति । अतद्रूपाणां<sup>७</sup> तद्रूपोपादानत्वे सर्वस्य सर्वोपादान-  
त्वप्रसक्तिः । न<sup>८</sup> च सुखादयो<sup>९</sup> विज्ञानाभिन्नोपादानाः स्युः । विज्ञानाभिन्नसहकारित्वं<sup>१०</sup> तु  
यथा सुखादीनां तथा<sup>१२</sup> रूपादीनामपि । इति ततस्तेषां<sup>१३</sup> विज्ञानात्मकत्वसाधने रूपादीनामपि  
तथात्वसाधनं स्यात् । तदुक्तं<sup>१४</sup>—

श्लोकार्थ—तद्रूप-नील, चेतनादि, अतद्रूप-अनील, अचेतनादि, जितने भी पदार्थ हैं वे सभी तत्-  
अतत् रूप हेतु से उत्पन्न होते हैं इसलिए विज्ञान से अभिन्न हेतु से उत्पन्न हुये वे सुखादिक क्या अज्ञान  
रूप हैं ? अर्थात् नहीं हैं । इस प्रकार से आप बौद्धों का जो कथन है उसका खण्डन कर दिया है क्योंकि  
सुखादिक ज्ञान रूप नहीं हैं, प्रत्युत कथंचित् ज्ञान से भिन्न हैं यह बात सिद्ध हो गई ।

श्लोकार्थ—आत्मा में जो आल्हाद होता है उसे सुख कहते हैं, जेय पदार्थों का जानना ज्ञान है  
और शक्ति, क्रिया से अनुमेय है । युवक की शक्ति कान्ता के समागम में अनुमान से जानी जाती है ।

इस वचन से सुखादि अतद्रूप-अज्ञान रूप हैं यह बात सिद्ध हो जाती है । यदि सुखादि विज्ञान से  
अभिन्न हेतुज हैं तो उपादान की अपेक्षा से हैं या सहकारी अपेक्षा से ? यदि अतद्रूप का उपादान  
तद्रूप को मानोगे तब तो सभी, सभी के उपादान हो जावेंगे अतः सुखादिक विज्ञान से अभिन्न उपादान  
वाले नहीं हैं । यदि आप कहें कि सुखादिक में विज्ञान अभिन्न रूप से सहकारी है तब तो जैसे सुखादि  
में ज्ञान से अभिन्न सहकारीपना है वैसे ही रूपादि में भी ज्ञान से अभिन्न सहकारीपना है अतः उन  
सुखादि को ज्ञानात्मक सिद्ध करने में रूपादिकों को भी ज्ञानात्मक मानना होगा, क्योंकि कहा  
भी है—

- १ तद्रूपा नीलचेतनादयः । अतद्रूपा अनीलाचेतनादयः । २ अपि तु नैवेत्यर्थः । ३ सुखादीनां  
विज्ञानरूपत्वं कथमसिद्धमित्युक्ते आह । ४ कार्य । (दि० प्र०) ५ अज्ञानरूपाः । ६ सुखादीनां  
विज्ञानाभिन्नहेतुजत्वमुपादानापेक्षया सहकार्यपेक्षया वेति विकल्प्य क्रमेण दूषयन्ताह जैनः । ७ इन्द्रिय ।  
(दि० प्र०) ८ सुखादीनां विज्ञानरूपत्वं निराकृत्य तदुपजीवि विज्ञानाभिन्नहेतुजत्वं न सिद्धयतीति सापेक्षमाह न  
चेति । (दि० प्र०) ९ न च सुखादयो विज्ञानरूपा एव येन विज्ञानाभिन्नोपादानाः स्युः । इति पा० (दि० प्र०)  
१० सौ० हे स्याद्वादिन् यद्विज्ञानस्य कारणं तत् सुखादीनामुपादानकारणं माभूत्, परन्तु सहकारिकारणमस्तु इत्युक्ते  
स्याद्वाद्याह । यथा सुखादयो विज्ञानाभिन्नसहकारिणः तथारूपादयोपि सन्तीति । (दि० प्र०) ११ इन्द्रिय । (व्या० प्र०)  
१२ यथा विज्ञानस्य सुखादीनाञ्चेन्द्रियमेकं सहकारि तथा विज्ञानस्य रूपादीनाञ्च रसादिके एव सहकारीति भावः  
ननु नाकारणं विषय इत्युक्तत्वात् विज्ञानस्य सहकारीति नाशङ्कनीयम् । प्राक्तन रसादिकणमुत्तरसजातीयविजातीय-  
क्षणस्योपादानसहकारिभावेन यथाक्रममुत्पादकमिति स्वयं मौगतेरभ्युपगम्यतत्वात् । (दि० प्र०) १३ सुखादीनाम् ।  
(दि० प्र०) १४ श्लोकवार्तिके ।



“तत्र<sup>१</sup> तद्रूपिणो भावास्तत्रतद्रूपहेतुजाः<sup>२</sup> । तद्रूपाणि किमज्ञानं विज्ञानाभिन्नहेतुजम् ।”

इति । यदि पुनः<sup>३</sup> ‘इन्द्रियानिन्द्रियहेतुजत्वं विज्ञानाभिन्नहेतुजत्वमित्यभिधीयते’<sup>४</sup> तदपि न सुखादीनां ज्ञानत्वं साधयति, ‘द्रव्येन्द्रिया<sup>५</sup> निन्द्रियैर्व्यभिचारात्’<sup>६</sup> । इति नैकान्ततो ज्ञानात्मका सुखादयो, ‘द्रव्यार्थत एव तेषां चेतनत्वोपपत्तेः, चेतनद्रव्यादात्मनोऽनर्थान्तरभूता<sup>१०</sup> नामचेतनत्व-

**श्लोकार्थ—**‘तद्रूप, अतद्रूप जितने भी पदार्थ हैं वे सभी तद्रूप, अतद्रूप हेतु से उत्पन्न होते हैं।’ यदि आप सौगत ऐसा कहते हैं तब तो विज्ञानरूप एक अभिन्न हेतु से उत्पन्न होने वाले वे रूपादिक क्या अज्ञानरूप हो सकते हैं ? अर्थात् रूपादिक भी अज्ञानरूप नहीं हैं, किन्तु ज्ञानात्मक ही हैं ।

**शंका—**इन्द्रिय और मन रूप हेतु से उत्पन्न होना यह विज्ञान से अभिन्न हेतुजपणा है अर्थात् ज्ञान भी इन्द्रिय और मनरूप हेतु से उत्पन्न होता है सुखादि भी इन्द्रिय मनरूप हेतु से उत्पन्न होते हैं अतः दोनों ही एक हेतु से उत्पन्न होने से अभिन्न हेतुज हैं ।

**समाधान—**इस कथन से भी आप सुखादिक को ज्ञान रूप सिद्ध नहीं कर सकते क्योंकि द्रव्य इन्द्रिय और द्रव्यमन से व्यभिचार आता है अर्थात् पूर्व के इन्द्रिय और मन उत्तर द्रव्येन्द्रिय और मन के प्रति कारण हैं, तब उत्तर द्रव्येन्द्रिय और मन ये दोनों ज्ञान के साथ अभिन्न हेतुज हैं । इसलिये एकांत से सुखादि ज्ञानात्मक नहीं हैं । हां ! द्रव्याधिकनय की अपेक्षा से ही वे सुखादिक, चेतन रूप हैं क्योंकि चेतनद्रव्यरूप आत्मा से अभिन्नरूप उन सुखादिकों में अचेतनत्व का विरोध है । इसी कथन से “ज्ञान से भिन्नरूप होने से सुखादिक सर्वथा अचेतन ही हैं” ऐसा कहने वाले नैयायिकों का खण्डन हुआ समझना चाहिये क्योंकि चेतनरूप आत्मा से अभिन्न होने से ये सुखादि कथञ्चित् चेतनरूप सिद्ध हैं ।

**भावार्थ—**सांख्य सुखादि पर्यायों को एवं ज्ञान दर्शन आदि को प्रधान के परिणाम मानता है अतः इन्हें अचेतन मानता है । उसका कहना है कि ये सुख और ज्ञानादि, चेतन आत्मा के संसर्ग से चैतन्य-रूप मालूम पड़ रहे हैं, मूल में अचेतन हैं । किन्तु जैनाचार्यों ने इनका खण्डन कर दिया है क्योंकि सुखादि एवं ज्ञानादि आत्मा को छोड़कर अन्यत्र नहीं पाये जाते हैं तथा इन सुख, ज्ञान आदि के बिना आत्मा का अस्तित्व ही समाप्त हो जाता है । बौद्ध का कहना है कि सुखादि पर्यायें ज्ञानात्मक ही हैं क्योंकि एक कारण से उत्पन्न हुई हैं । इस पर जैनाचार्य का स्पष्ट कथन है कि भाई ! सुखादि के

१ रूपादिनः कथं विज्ञानरूपत्वमिति चेत् सुखादिनः कथं विज्ञानरूपत्वमित्यत्रापि समानरूपत्वात् । (दि० प्र०)

२ इति चेत् (सौगतेनोच्यते चेत्) । ३ तत् तस्मात्, रूपादि नैवाज्ञानं किन्तु ज्ञानमेव स्यादित्यर्थः । ४ इदानीं

सहकारित्वविवक्षामन्तरेणाभिधीयमानं ज्ञातव्यम् । (दि० प्र०) ५ त्वया चित्रार्द्धितवादिना । (दि० प्र०)

६ अचेतनरूपाणि द्रव्येन्द्रियाणि द्रव्यमनश्च तैः कृत्वा विज्ञानाभिन्नहेतुजत्वस्य हेतुर्व्यभिचारः । (दि० प्र०)

७ तेषां द्रव्येन्द्रियाणां प्राक्तनेन्द्रियोत्पन्नत्वेन विज्ञानाभिन्नहेतुजत्वे सत्यपि विज्ञानरूपत्वाभावात् । (दि० प्र०)

८ पूर्वैन्द्रियानिन्द्रियमुत्तरद्रव्येन्द्रियानिन्द्रियं प्रति कारणम् । तदा उत्तरद्रव्येन्द्रियानिन्द्रिययोजनेन सहाभिन्नहेतु-

जत्वात् । ९ द्रव्याधिकनयेन । १० सुखादीनाम् ।

विरोधात् । एतेन ज्ञानादर्थान्तरभूतत्वात्सुखादीनामचेतनत्वमेवेति <sup>1</sup>वदन्तो<sup>2</sup>ऽपाकृताः प्रत्येतव्याः, चेतनादात्मनोन्तर्धानत्वेन कथञ्चिच्चेतनत्वसिद्धेः ।

[ योगः आत्मानं चेतनं मन्यते तस्य निराकरणम् ]

आत्मनश्चेतनत्वमसिद्धमिति चेन्न, तस्य<sup>3</sup> प्रत्यक्ष<sup>4</sup>प्रसिद्धत्वात् । <sup>5</sup>तथात्मा चेतनः, प्रमानु-  
त्वाद्, यस्त्वचेतनः स न प्रमाता, यथा घटादिः, प्रमाता चात्मा, तस्माच्चेतन इत्यनुमानाच्च<sup>6</sup>  
तत्सिद्धम् । <sup>7</sup>प्रमितिस्वभावचेतनासमवायादात्मनि<sup>8</sup> चेतनत्वसाधने सिद्धसाध्यतेति<sup>9</sup> चेन्न, स्वयं<sup>10</sup>

कारण साक्षात्वेदनीय के उदय आदि हैं एवं ज्ञानादि के कारण ज्ञानावरण के क्षयोपशम, क्षय आदि हैं अतः ये एक हेतुज नहीं हैं । वास्तव में आत्मा में अनन्त गुण हैं किन्तु ज्ञानगुण, दर्शनगुण के अतिरिक्त शेष सब गुण अचेतन ही हैं । एक ज्ञान ही सभी को जानने वाला है, चेतन है फिर भी हम स्याद्वादियों के यहाँ सुखादि पर्यायों को आत्मा में ही होने से कथञ्चित् चेतनरूप माना है तथा उत्पत्ति के कारण भेद एवं आत्माद और जानने रूप कार्य भेद से कथञ्चित् भिन्न भी माना है । स्याद्वाद सिद्धान्त में दोनों बातें घटित हो जाती हैं ।

[ योग आत्मा को अचेतन कह रहा है उसका निराकरण ]

नैयायिक—हमारे यहाँ आत्मा का अचेतनत्व सिद्ध है ।

जैन—नहीं । वह आत्मा स्वसंवेदन प्रत्यक्ष से चेतन रूप सिद्ध है । “आत्मा चेतन है क्योंकि वह प्रमाता है जो अचेतन है वह प्रमाता भी नहीं है जैसे घटादि, और आत्मा प्रमाता है इसीलिये वह चेतन है ।” इस अनुमान से भी आत्मा को चेतनपना सिद्ध है ।

नैयायिक—प्रमिति स्वभाव चेतना के समवाय से आत्मा को चेतन सिद्ध करने में सिद्धसाध्यता ही है ।

जैन—नहीं । हमने स्वयं स्वभाव से ही आत्मा में सामान्यतया चेतनत्व सिद्ध किया है आत्मा में स्वयं चेतनत्व गुण का अभाव है घटादि के समान ।” अर्थात् आपके द्वारा स्वीकृत आत्मा “चेतना विशेष प्रमितिरूप समवाय से युक्त नहीं है क्योंकि वह सामान्य रूप से स्वतः अचेतनरूप है घट के समान ।” एवं हम जैनों ने तो कथञ्चित् तादात्म्य को ही ‘समवाय’ सिद्ध किया है ।

1 नैयायिकाः । 2 सुखादयः पक्षोऽचेतना भवन्तीति साध्यो धर्मः । ज्ञानादभिन्नभूतत्वात् । ये ज्ञानादभिन्न-  
भूतास्तेऽचेतनाः यथा घटादय इति ब्रुवन्तो यौगा विध्वस्ता जातव्या इति । (दि० प्र०) 3 चेतनत्वस्य । (दि० प्र०)  
4 प्रत्यक्षेणैव स्वसंवेदनं गृह्यते । 5 अनुमानसिद्धं दर्शयति । (व्या० प्र०) 6 आत्मनश्चेतनत्वम् । (दि० प्र०)  
7 आह यौगादिः । ज्ञानफलस्वरूपचेतनासंबन्धादात्मनि स्वाद्यादिनां चेतनत्वसाधनेऽस्माकमिष्टं सिद्धमिति चेन्न ।  
कस्मात् स्याद्वादिभिः सामान्येन चेतनत्वं साध्यते यतः । तस्य सामान्यतश्चेतनत्वाभावे सति चेतनाविशेष फलज्ञान-  
समवायाघटनात् । यथा घटादी सामान्यचेतनाभावे चेतनाविशेषप्रमिति समवायो न घटते । (दि० प्र०) 8 ज्ञानम् ।  
(दि० प्र०) 9 नैयायिकं प्रतिसिद्धसाध्यता । (दि० प्र०) 10 स्वरूपेण ।

सामान्यतश्चे<sup>१</sup>तनत्वसाधनात्, तदभावे चेतनाविशेषप्रमितिसमवायायोगात्पटादि<sup>२</sup>वत्, कथञ्चित्-  
त्तादात्म्यस्यैव समवायस्य साधनात् । <sup>३</sup>चेतनाद्यात्मनः<sup>४</sup> कथमभिन्नाः <sup>५</sup>सुखादयो, भिन्नप्रति-  
भासविरोधादिति चेन्न<sup>६</sup>, <sup>७</sup>तत्र सर्वथा भिन्नप्रतिभासस्यासिद्धत्वात्, कथञ्चित्द्विन्नप्रतिभासस्य  
कथञ्चिदभेदाविरोधात्, चित्रज्ञानवदेव <sup>८</sup>सुखाद्यात्मनः पुरुषस्यैकस्य घटनात्, <sup>९</sup>सर्वेषामेकानेका-

शंका—अच्छा ! आप आत्मा को चेतन मान लीजिये फिर भी उस चेतनरूप आत्मा से  
सुखादिक अभिन्न कैसे हो सकते हैं ? अन्यथा भिन्न-भिन्न प्रतिभास का विरोध हो जावेगा ।

समाधान—उन सुखादिकों का सर्वथा भिन्न-भिन्न प्रतिभास असिद्ध है और कथञ्चित्  
भिन्न प्रतिभास में कथञ्चित् आभंगत्व का विरोध नहीं है । चित्रज्ञान के समान ही सुखादि-  
स्वरूप पुरुष-आत्मा एक घटित होता है । सभी ने ही चित्रज्ञान को एकानेकात्मक माना है ।  
अतः बात सिद्ध हो गई कि चित्रज्ञान के समान कथञ्चित् असङ्कीर्णविशेष एकात्मरूप सुखादि चैतन्य  
देखने में आते हैं और उसी प्रकार से वर्ण संस्थानादिस्वरूप पुद्गल स्कन्ध भी देखने में आते हैं अर्थात्  
कथञ्चित् एकानेकात्मकरूप से सुख, दुःख, हर्ष, विषाद आदिरूप चैतन्य का अनुभव होता है अतः  
द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा से सुखादि कथञ्चित् आत्मा से अभिन्न हैं एवं पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा से  
कथञ्चित् भिन्न हैं यह बात सिद्ध हुई ।

भावार्थ—यौग आत्मा को चेतन न मान करके चेतनागुण के समवाय से उसे चेतन मानता है  
क्योंकि उसके यहाँ द्रव्य, गुण, कर्म आदि सब पदार्थ सर्वथा पृथक्-पृथक् हैं और तो क्या ? उसके यहाँ  
प्रत्येक वस्तु सत्त्वरूप नहीं है सत्ता के समवाय से सद्रूप है, किन्तु जैनाचार्यों का ऐसा कहना है कि  
“कथञ्चित् तादात्म्य” को छोड़कर समवाय नाम की कोई चीज सिद्ध नहीं होती है । इस समवाय का  
खण्डन स्वयं श्री विद्यानन्द महोदय ने ‘आप्तपरीक्षा’ ग्रन्थ में विशेष रूप से किया है । यदि कोई कहे  
कि चेतनरूप आत्मा से सुखादि पर्यायें भिन्न हैं क्योंकि उनका भिन्न-भिन्न अनुभव आ रहा है । इस  
पर भी आचार्य कहते हैं कि सर्वथा आत्मा से भिन्न सुख का अनुभव आता ही नहीं है अतः ये सुखादि  
पर्यायें कथञ्चित् चैतन्य से भिन्न हैं क्योंकि पर्यायें हैं कथञ्चित् चैतन्य से अभिन्न हैं क्योंकि आत्मा  
से पृथक् अन्यत्र नहीं पाई जाती हैं । यहाँ यह बात सिद्ध हो गई है कि चित्रज्ञान के समान जीवद्रव्य  
सुख ज्ञानादि पर्यायों से अनेकात्मक है और द्रव्य दृष्टि से एकरूप है अतः जीवद्रव्य एकानेकात्मक सिद्ध  
है । वैसे ही पुद्गल स्कन्ध भी रूप, रस, गंध, वर्ण, आकार आदि की अपेक्षा अनेकरूप एवं द्रव्य की  
अपेक्षा एकरूप होने से एकानेकात्मक सिद्ध हैं । यहाँ पूर्व से सम्बन्ध जोड़ लेना चाहिये कि

१ आत्मनः । २ परेष्ट आत्मा चेतनाविशेषप्रमितिसमवायभागे न भवति, सामान्यतः स्वतोऽवेनतत्वात् पटादिवत् ।

३ परो जैनाभिमतं चेतनमप्यात्मानं स्वीकृत्य दोषमाह । ४ भवत इष्टानुसारेण । (दि० प्र०) ५ अन्यथा ।

(व्या० प्र०) ६ जैनाः प्राहुः । ७ सुखादी । ८ सुखादिस्वरूपस्य । ९ वादिनाम् (व्या० प्र०) वादिप्रति-

वादिनां । (दि० प्र०)

त्मनश्चित्रज्ञानस्येष्टत्वात् । <sup>1</sup>तत्सिद्धं चित्र<sup>2</sup>ज्ञानव<sup>3</sup>त्कथञ्चिदसङ्कीर्णविशेषै<sup>4</sup>कात्मनः <sup>5</sup>सुखादिचैतन्यस्य प्रेक्षणं तथा<sup>6</sup> वर्णसंस्थानाद्यात्मनः स्कन्धस्य च<sup>7</sup> ।

[ बोद्धः प्रत्येकं परमाणून् पृथक् पृथक् मन्यते स्कन्धावस्यां न मन्यते तस्य विचारः ]

त<sup>8</sup> हि वर्णादीनामेव<sup>9</sup> प्रेक्षणं प्रत्यक्षबुद्धौ, न पुनः <sup>10</sup>स्कन्धस्यैकस्येति कल्पनमुप<sup>11</sup>पन्नं, <sup>12</sup>सर्वग्रहण<sup>13</sup>प्रसङ्गात्, स्कन्धव्यतिरेकेण वर्णादीनामनुपलम्भात् स्कन्धस्येवा<sup>14</sup>सत्त्वात् । अथ<sup>15</sup>

अनेकान्तात्मक चर-अचर वस्तुयें एकांततत्त्व को बाधित करने वाली हैं : योग सम्प्रदाय के ही नैयायिक और वैशेषिक भेद माने गये हैं ।

[ बोद्ध अणु-अणु को पृथक्-पृथक् मानता है, स्कन्ध नहीं मानता है उसका विचार ]

बौद्ध—वर्णादिक ही प्रत्यक्ष बुद्धि में प्रतिभासित होते हैं न कि एक स्कन्ध । अर्थात् परमाणुओं की स्थूल परिणति प्रचय रूप स्कन्ध, निर्विकल्प ज्ञान में प्रतिभासित नहीं होता है मात्र परमाणु ही झलकते हैं ।

जैन—आपकी यह कल्पना ठीक नहीं है अन्यथा सभी वर्ण संस्थानादि आकारों का ग्रहण ही नहीं हो सकेगा क्योंकि स्कन्धों के बिना वर्णों की उपलब्धि नहीं पायी जाती है । पुनः स्कन्धों के अभाव में उन वर्णों का भी अभाव हो जावेगा ।

बौद्ध—प्रत्यासन्न एवं परस्पर में असम्बद्ध रूपादि परमाणु प्रत्यक्ष होते हैं क्योंकि स्वकारण सामग्रीरूप चक्षु, प्रकाश आदि सामग्री के निमित्त से उनमें प्रत्यक्षज्ञान को उत्पन्न करने की सामर्थ्य पाई जाती है ।

जैन—इसी प्रकार स्वकारण सामग्री के निमित्त से स्कन्ध भी प्रत्यक्षज्ञान के विषय हैं ऐसा हम लोग एवं नैयायिक स्वीकार करते हैं अन्यथा स्वकारण निमित्त से ही स्कन्ध में प्रत्यक्षज्ञान को उत्पन्न करने की सामर्थ्य का अभाव होने पर सभी स्कन्ध (पिशाचादि) को भी प्रत्यक्षत्व का प्रसंग आ जावेगा क्योंकि दोनों में स्कन्धत्व समान है ।

- 1 तस्मात्कारणात् । (दि० प्र०) 2 यथा चित्रज्ञानस्य कथञ्चिदेकानेकात्मकस्य प्रेक्षणं सिद्धम् । 3 कथञ्चिदेकानेकात्मकस्य सुखदुःखहर्षविषादादि चेतनस्य तत् प्रेक्षणं साक्षात्करणं सर्वैकानेकानिराकरणेनासिद्धम् । यथा चित्रज्ञानस्यैकानेकात्मकत्वेन साक्षात्करणं सिद्धम् । (दि० प्र०) 4 कथञ्चिदेकानेकात्मकत्वेन सुखदुःखहर्षविषादादिरूपस्य चैतन्यस्य । 5 इदं सुखमयमात्मा इति । (दि० प्र०) 6 असंकीर्णविशेषैकात्मनस्तत्प्रेक्षणं सिद्धमिति संबन्धः कार्यः । (दि० प्र०) 7 असङ्कीर्णविशेषैकात्मनः प्रेक्षणमित्यनेनान्वयः । 8 (स्कन्धस्य कथञ्चिदेकानेकात्मकत्वं साधयति) । 9 केवलम् । 10 परमाणूनां स्थूलपरिणतिः स्कन्धः । सुगतमते तु परमाणुप्रचयरूपः स्कन्धः । 11 वर्णादीनामप्यग्रहणप्रसंगादिति भावः । (दि० प्र०) 12 सर्वेषां वर्णसंस्थानादीनाम् । 13 इति कल्पनमुपपन्नं योग्यं भवति चेत्तदा सर्वेषां वर्णानां स्कन्धस्य चानङ्गीकारो भवति स्कन्धरहितेन वर्णादीनाम् दर्शनात् । तथा सति स्कन्धस्यासत्त्वं घटते । (दि० प्र०) 14 वर्णादिव्यतिरेकेण स्कन्धस्यानुपलम्भो यथा । 15 असंबन्धाः । (ज्या० प्र०)

‘प्रत्यासन्नासं’<sup>१</sup>सृष्टा रूपादिपरमाणवः प्रत्यक्षाः, तेषां<sup>२</sup> <sup>३</sup>स्व<sup>४</sup>कारणसामग्री<sup>५</sup>वशात्प्रत्यक्षसंवि-  
ज्जननसमर्थानामेवोत्पत्तेः स्कन्धस्यपि तत<sup>६</sup> एव <sup>७</sup>परेषां प्रत्यक्षतोपपत्तेरन्यथा<sup>८</sup> सर्वस्क-  
न्धानां<sup>१०</sup> प्रत्यक्षत्वप्रसङ्गात्, स्कन्धत्वाविशेषात् । तदविशेषेपि केषाञ्चित्प्रत्यक्षत्वे परेषामप्रत्यक्ष-  
<sup>११</sup>स्वभावत्वे पिशाचशरीरा<sup>१२</sup>दीनां तथा<sup>१३</sup> स्व<sup>१४</sup>कारणादुत्पत्तेः परमाणूनामपि केषा<sup>१५</sup>ञ्चित्प्रत्य-  
क्षत्वमन्येषा<sup>१६</sup>मप्रत्यक्षत्वं तत<sup>१७</sup> एवास्तु, किमवयवि<sup>१८</sup>परिकल्पनया ? <sup>१९</sup>तस्या<sup>२०</sup>मूल्य<sup>२१</sup>दानक्र-  
यित्वात् । स<sup>२२</sup> हि <sup>२३</sup>प्रत्यक्षे स्वात्मानं न समर्पयति प्रत्यक्षतां च स्वीकर्तुमिच्छतीत्यमूल्यदान-

बौद्ध—दोनों में स्कन्धपना समान होते हुए भी कोई तो प्रत्यक्षत्व स्वभाव वाले हैं एवं कोई अप्रत्यक्षत्व स्वभाव वाले हैं । अतः पिशाच शरीर आदि प्रत्यक्षत्व-अप्रत्यक्षत्व स्वभाव वाले होने से अपने-अपने कारणरूप परमाणु से उत्पन्न होते हैं इसलिए प्रत्यक्षत्व अप्रत्यक्षत्व स्वभाव से ही किन्हीं पुंजीभूत परमाणु के प्रत्यक्षत्व एवं किन्हीं अपुंजीभूत परमाणु के अप्रत्यक्षत्व हो जावे, पुनः अवयवी की कल्पना से क्या प्रयोजन है ? क्योंकि वह अवयवी अमूल्यदानक्रयी हो जाता है अर्थात् बिना मूल्य के ही वस्तु को खरीदने योग्य हो जाता है । वह अवयवी निर्विकल्प प्रत्यक्ष में अपनी आत्मा को समर्पण नहीं करता है और प्रत्यक्ष को स्वीकार करने की इच्छा करता है इसलिये अमूल्यदानक्रयी है । अर्थात् अवयवी का प्रत्यक्षज्ञान में स्वात्मसमर्पण करना मूल्य दान है और वह स्वात्मसमर्पण न करके ही प्रत्यक्ष का विषय बनना चाहता है अतः अमूल्यदानक्रयी है क्योंकि वह अवयवी स्कन्ध तो अन्यापोह लक्षण विकल्पबुद्धि में ही प्रतिभासित होता है यदि उसका पूर्णतया विचार करें तो वह वस्तुभूत सिद्ध नहीं होता है अर्थात् यदि हम प्रश्न करें कि अवयवों में अवयवी सर्वथा एकस्वभाव से रहता है या सर्वस्वभाव से ? इत्यादि विकल्प के करने पर उसकी व्यवस्था ही नहीं बनेगी ।

जैन—आपका यह कथन असङ्गत ही है । प्रत्यासन्न और परस्पर में असम्बद्ध परमाणु भिन्न-भिन्न रूप से किसी भी व्यक्ति को किसी काल में भी नहीं दीखते हैं इसलिये वे प्रत्यक्षज्ञान के विषय नहीं हैं प्रत्युत स्कन्ध ही स्पष्टरूप से प्रत्यक्षज्ञान में अवभासित होता है । वंसा ही निश्चय होने से स्कन्ध ही प्रत्यक्षज्ञान का विषय है यह बात सुघटित सिद्ध होती है और परमाणु के समान सभी स्कन्ध समपरिणाम वाले भी नहीं हैं जिससे कि किन्हीं-किन्हीं स्कन्धों के प्रत्यक्ष होने पर सभी स्कन्ध

- १ असम्बद्धाः । २ तेषां रूपादिपरमाणूनां रूपचक्षुः प्रकाशादिसामग्री वशातः । (दि० प्र०) ३ अवयविन-  
मपरिकल्पयतां सौगतानां प्रत्यासन्ना इव अप्रत्यासन्ना अपि परमाणवः प्रत्यक्षाः स्फुरित्याशंकायामाह तेषामिति ।  
(दि० प्र०) ४ तर्हि परमाणुत्वाविशेषात्सर्वे (अप्रत्यासन्नाः) परमाणवः प्रत्यक्षाः स्फुरित्याशङ्क्यायामाह । ५ रूप-  
चक्षुः प्रकाशादिसामग्रीवशातः । ६ स्वकारणसामग्रीवशादेव । ७ नैयायिकानां स्याद्वादिनां च । ८ अतो  
वर्णदीनां नानुपलम्भः । ९ स्वकारणवशादेव स्कन्धस्य प्रत्यक्षसंविज्जननसमर्थस्वभावत्वाभावे सति । १० पिशाचा-  
दिशरीरादीनाम् । ११ (पराभिमतै सति । बौद्ध आह) । १२ प्रत्यक्षसंविज्जननसमर्थस्वभावप्रकारेण । (दि० प्र०)  
१३ प्रत्यक्षत्वाप्रत्यक्षत्वस्वभावेन । १४ स्वकारणं परमाणुः । १५ पुंजीभूतानाम् । १६ अपुंजीभूतानाम् ।  
१७ प्रत्यक्षाप्रत्यक्षस्वभावत्वात् । १८ स्कन्धः । (दि० प्र०) १९ अवयविरूपस्य स्कन्धस्य । (दि० प्र०) २० अवय-  
विनः । २१ मूल्यार्पणमन्तरेण ग्राह्यत्वात् । २२ स्कन्धः । (दि० प्र०) २३ निर्विकल्पके ।

क्रयी<sup>१</sup>, विकल्प<sup>२</sup>बुद्धावेव<sup>३</sup> तस्य प्रतिभासनाद्विवार्यमाणस्य<sup>४</sup> सर्वथानुपपन्नत्वात्<sup>५</sup> इति<sup>६</sup> मत्तं तदप्यसंगतमेव, प्रत्यासन्नासंसृष्टपरमाणूनां<sup>७</sup> तथात्वेन<sup>८</sup> कस्यचित्कदाचिन्निश्चयासत्त्वात् प्रत्यक्षतानुपपत्तेः, स्कन्धस्यैव स्फुटमध्यक्षेवभासनात् तथा निश्चयनाच्च प्रत्यक्षत्वघटनात् । न<sup>९</sup> च परमाणुवत्सर्वे स्कन्धाः सम<sup>१०</sup>परिमाणा एव, येन केषांचित्प्रत्यक्षत्वे सर्वेषां प्रत्यक्षस्वभावता स्यात्, अणुमहत्त्वा<sup>११</sup>दिपरिमाणभेदेन तेषाम<sup>१२</sup>दृश्येतरस्व<sup>१३</sup>भावभेदाद्भेदसिद्धेः । न<sup>१४</sup> चायम<sup>१५</sup>भूत्यदानक्रयी, प्रत्यक्षे स्व<sup>१६</sup>समर्पणेन प्रत्यक्ष<sup>१७</sup>तास्वीकरणात्, सर्वथा विचार्यमाणस्यापि घटनात् । विचारयिष्यते चैत<sup>१८</sup>त्पुरस्तात्<sup>१९</sup> ।

प्रत्यक्षस्वभाव वाले हो जावें अर्थात् नहीं हो सकते हैं । उनमें अणु महत्त्वादिरूप परिमाण के भेद से अदृश्य एवं दृश्य रूप (चक्षुइन्द्रिय के विषय) स्वभाव के भेद से भेद सिद्ध ही है इसलिये ये अमूल्य-दानक्रयी भी नहीं हैं । प्रत्यक्षज्ञान में स्वात्मसमर्पण करके ही प्रत्यक्षपने को स्वीकार करते हैं सर्वथा विचार करने पर सुघटित प्रतीत हो रहे हैं । द्वितीय परिच्छेद में "संतानः समुदायश्च".....इस कारिका में इसका विशेष विचार करेंगे ।

भावार्थ—बीछों का कहना है कि निर्विकल्पज्ञान में प्रत्येक वस्तु के प्रत्येक अणु-अणु ही झलकते हैं अणुओं के मिलाने से बना हुआ संघात रूप स्कन्ध नहीं झलकता है अतः स्कन्ध नाम की चीज सर्वथा काल्पनिक है वास्तव में अणु-अणु रूप ही सभी पदार्थ हैं उसके यहाँ निर्विकल्प ज्ञान में पुस्तक के प्रत्येक पन्नों के प्रत्येक अणु-अणु, अलग-अलग ही दिख रहे हैं यह बड़े आश्चर्य की बात है । वास्तव में देखा जावे तो न तो निर्विकल्प ज्ञान ही सिद्ध होता है और न उसमें परमाणु ही झलक सकते हैं । हमारे और आपके सभी के साकारज्ञान में परमाणुओं से निमित्त स्कन्धरूप स्थूल आकार ही दीखते हैं । अतः स्कन्ध का लोप करना कथमपि शक्य नहीं है । अन्यथा पुस्तकों के पेज-पेज पर लिखे हुये प्रकरणों को हम पढ़ भी नहीं सकेंगे । जब पन्नों में परमाणुओं का संघात होकर एकता होती तभी वे पन्ने-पन्ने बनकर पुस्तक रूप ले सकेंगे । सभी स्कन्ध समपरिणाम वाले भी नहीं हैं क्योंकि "संख्येया-संख्येयाश्च पुद्गलानां" इस सूत्र के अनुसार कोई स्कन्ध संख्यातप्रदेशी है कोई असंख्यात एवं कोई अनंतप्रदेशी हैं । इनमें भी किन्हीं स्कन्धों में सघन विशेष है अतः वे नहीं दिखते हैं किन्हीं में चाक्षुषत्व है अतः वे दिखते हैं । कर्म परमाणु निगोदिया जीवों के शरीर, कर्मण, तैजस शरीर अनन्तानन्त

- १ अवयविनः प्रत्यक्षत्वे स्वात्मसमर्पणं मूल्यदानं, तददस्वा प्रत्यक्षत्वग्राही । २ अन्वापोहलक्षणावाम् । ३ स्कन्धस्य । ४ अवयवी अवयवेषु सर्वार्थकेन स्वभावेन किं सर्वात्मना वर्तते इत्यादिप्रकारेण । ५ सौग-तस्य । ६ जीनाः प्राहुः । ७ भिन्नत्वेन । ८ पुंसः । ९ तथा सति सर्वेषां स्कन्धानां प्रत्यक्षता स्वादियुक्तते आह । १० तुल्यस्वभावाः । (दि० प्र०) ११ आदिशब्देन पिणाचेतरशरीरादिवतिसूक्ष्मस्थूलादिकं ग्राह्यम् । १२ स्कन्धानाम् । (दि० प्र०) १३ दृश्यः । (दि० प्र०) १४ अस्तु नाम स्कन्धानां विषयपरिमाणत्वम् । तेषां विकल्पेवभासनादव-स्तुत्वं स्यादित्यत आह । १५ स्कन्धः । १६ विषयभाव एव समर्पणम् । (दि० प्र०) १७ बौद्धमतस्वीकारेण । (व्या प्र०) १८ विषयभाव एव स्वसमर्पणमिति । १९ द्वितीयपरिच्छेदे संस्तानः समुदायश्चेति कारिकायाम् ।

[ सांख्यः स्कन्धान् एव स्वीकरोति न तु परमाणून् तस्य विचारः ]

अपरः<sup>१</sup> प्राह<sup>२</sup>—स्कन्ध एव, न<sup>३</sup> वर्णादियस्ततो न्ये सन्ति, तस्यैव<sup>४</sup> चक्षुरादिकरण<sup>५</sup> भेदा-  
द्वर्णादिभेदप्रतिभासनात्, किञ्चित्<sup>६</sup> अङ्गुलिपिहितनयनभेदादीपकलिकाभेदप्रतिभासनवदिति,  
तदप्य<sup>७</sup> सम्यक्, सत्ताद्यद्वैत<sup>८</sup> प्रसङ्गात् । शक्यं हि वक्तुं—सत्तैवैका, न<sup>९</sup> द्रव्या<sup>१०</sup> दयस्ततो र्थान्तर-  
भूताः सन्ति, <sup>११</sup> कल्पनाभेदात्तद्भेद<sup>१२</sup> प्रतिभासनावदिति । न<sup>१३</sup> चैतद्युक्तमिति निवेदयिष्यते<sup>१४</sup> ।

परमाणुओं के पिण्ड हैं फिर भी नहीं दिखते हैं । अतः स्कन्ध दृश्य और अदृश्य के भेद से दो प्रकार के हैं ऐसा समझना चाहिये ।

[ सांख्य स्कन्ध को ही स्वीकार करता है परमाणु को नहीं मानता है उसका विचार ]

सांख्य—“स्कन्ध ही है स्कन्ध को छोड़कर वर्णादिक (अणु आदि) कोई चीज नहीं है” क्योंकि स्कन्ध में ही चक्षु आदि इन्द्रियों के भेद से वर्णादि—अणु आदिरूप भेद प्रतिभासित होते हैं जैसे किञ्चित् अङ्गुली से ढके हुये नेत्र से दीपकलिका में भेद प्रतिभासित होता है ।

जैन—यह कथन भी असमीचीन है क्योंकि एक स्कन्ध ही है वर्णादि नहीं है ऐसा मानने पर तो सत्ताद्वैत आदि वादों का प्रसङ्ग आ जावेगा । हम ऐसा कह सकते हैं कि सत्ता ही एक है उस सत्ता से भिन्न द्रव्यादि, गुणादि कोई चीज नहीं है । कल्पना के भेद से ही भेद का प्रतिभास होता है । इस प्रकार से सत्ताद्वैतवादियों का ही मत सिद्ध हो जावे, परन्तु यह ठीक तो नहीं है । इसका वर्णन हम आगे करेंगे अतः चित्रज्ञान के समान सुखादिस्वरूप चैतन्य की ही केवल सिद्धि नहीं है परन्तु वर्ण संस्थान आदिस्वरूप स्कन्ध की भी सिद्धि हो रही है ।

भावार्थ—बौद्ध और सांख्य प्रायः एक दूसरे से विपरीत कहने वाले हैं । बौद्ध ने कहा था कि अणु-अणु ही दिख रहे हैं स्कन्ध कोई चीज नहीं है, तो सांख्य कहता है कि स्कन्ध ही दिख रहे हैं अणु आदि कोई चीज ही नहीं है । जो अणुआदिरूप से किसी वस्तु में भेद दिखते हैं वह केवल प्रतिभास-मात्र हैं क्योंकि किञ्चित् अङ्गुली से ढके हुये नेत्र से दीपक की लौ में भेद दिख जाता है इत्यादि । यह सांख्य सभी वस्तुओं को नित्य मानता है अतः सत्कार्यवादी है । जैनाचार्यों का कहना है कि भाई ! यदि अणु, वर्ण आदि के भेद को कल्पनामात्र कहोगे तब तो सत्ताद्वैत, ब्रह्माद्वैत, ज्ञानाद्वैत, शब्दाद्वैत आदि अद्वैत सिद्धांतों को भी स्वीकार कर लो क्योंकि ये लोग भी तो भेद को काल्पनिक कहते हैं ।

१ सांख्यः । २ स्कन्धवादी कश्चित् । (दि० प्र०) ३ रूपादयः । (व्या० प्र०) ४ पञ्चेन्द्रिय । (दि० प्र०) ५ साधन । (दि० प्र०) ६ मत्ताक् । ७ जैनः—गुणादि । (दि० प्र०) ८ एकः स्कन्ध एव वर्तते न तु वर्णादय इत्युक्ते । ९ सत्तातो जीवादि द्रव्यादयो भिन्ना न सन्ति । (दि० प्र०) १० गुणादयश्च । ११ एषा सत्ता इमे द्रव्यादय इति । १२ द्रव्यादिभेद । (दि० प्र०) १३ तर्हि सत्ताद्वैतमेवास्तिव्युक्ते आह । १४ द्वितीय परिच्छेदे । अद्वैतैकान्तपक्षेपीत्यादिना । (दि० प्र०)

‘ततश्चित्रज्ञानवत् केवलं सुखाद्यात्मनश्चैतन्यस्य प्रेक्षणं सिद्धम् । किं तर्हि ? वर्णसंस्थानाद्यात्मनः स्कन्ध<sup>२</sup>स्यापि ।

[ सर्वं वस्तु अनेकांतात्मकमिति स्पष्टयति आचार्यः ]

ततः <sup>३</sup>सूक्तं—न हि किञ्चिद्रूपान्तरविकलं सदेका<sup>४</sup>न्तरूपमसदेका<sup>५</sup>न्तरूपं वा, नित्यै<sup>६</sup>कान्तरूप<sup>७</sup>मनित्यैकान्तरूपं वा, अद्वैतैकान्तरूपं द्वैताद्येकान्तरूपं वा, संवेदनमन्तस्तत्त्वमन्यद्बहिस्तत्त्वं, संपश्यामो <sup>८</sup>यथा प्रतिज्ञायते सर्वथैकान्तवादिभिरिति । सामान्य<sup>९</sup>विशेषैकात्मनः<sup>१०</sup>

सांख्य इन अद्वैतों को स्वीकार करना नहीं चाहता है अतः आचार्यों का कहना है कि जैसे चैतन्यात्मक जीव द्रव्य अनेक धर्मस्वरूप है वैसे ही पुद्गल, स्कन्ध अनेक गुण पर्यायों की अपेक्षा अनेक धर्मात्मक ही है ।

[ सभी वस्तुएँ अनेकान्तस्वरूप हैं इस बात को आचार्य स्पष्ट करते हैं ]

अतः श्री भट्टाकलंकदेव ने ठीक ही कहा है कि कोई भी वस्तु रूपान्तर से रहित सत् एकान्तरूप या असत् एकान्तरूप, नित्य एकान्तरूप या अनित्य एकान्तरूप, अद्वैतरूप अथवा द्वैत एकान्तरूप, ज्ञानरूप अन्तरङ्ग तत्त्व अथवा केवल बाह्य पदार्थ ही हम लोगों के दृष्टिगोचर नहीं हो रहे हैं जिस प्रकार से कि सर्वथा एकान्तवादी जन स्वीकार करते हैं ।

“सामान्यविशेषात्मकरूप अनेकान्त वस्तु का ज्ञान प्रसिद्ध है अथवा एकान्तरूप वस्तु की अनुपलब्धि सर्वथा सिद्ध है यह अनेकान्तरूप प्रत्यक्षज्ञान स्पष्ट इन्द्रियज्ञान जिन्हें है ऐसे चक्षुरादिमान् जनों की अनर्हत कल्पना (अर्हत मत से विरुद्ध कल्पना) को अस्त कर देती है । इसलिये हम स्याद्वादियों को इस विषय में अनुमानाविक भिन्न प्रमाण की क्या आवश्यकता है ? अर्थात् उपर्युक्त अनेकान्त सिद्धि या एकान्त की असिद्धि अनर्हत कल्पना को अस्त कर देती है ।” सत्ताद्वैतवादी के द्वारा स्वीकृत केवल सामान्य रूप एकान्त की ही उपलब्धि होवे ऐसा नहीं किन्तु विशेष की भी उपलब्धि हो रही है । तथैव बौद्धमत की अपेक्षामात्र रखकर केवल विशेष एकान्त की भी उपलब्धि नहीं है किन्तु सामान्य भी दृष्टिगत हो रहा है और यौगमत के द्वारा स्वीकृत परस्पर में निरपेक्ष पृथक्-पृथक् रूप से सामान्य-विशेषरूप एकान्त भी प्रतीति में नहीं आते हैं क्योंकि एकात्मक अर्थात् एक जगह ही दोनों पाये जाते हैं । तथा दोनों एकरूप हैं ऐसा भी नहीं कह सकते हैं । सामान्य-विशेषरूप वस्तु है अर्थात् एक वस्तु में सामान्य-विशेष दोनों ही धर्म जात्यन्तररूप से पाये जाते हैं ।

१ रूपाद्यात्मकः स्कन्धः सिद्धो यतः । (दि० प्र०) २ चित्रज्ञानवत्प्रेक्षणं सिद्धमिति संबन्धः कार्यः । (दि० प्र०)

३ भट्टाकलङ्कदेवैः । ४ ब्रह्माद्वैतवादम् । ५ सौगतमतम् । ६ नैयायिकः । (व्या० प्र०) ७ सौगतः । (व्या० प्र०)

८ एकान्तत्वेन । ९ सामान्यविशेषाभ्यामुपलक्षितमेकं स्वरूपं यस्य सर्वथोच्यते । (व्या० प्र०)

१० सामान्यविशेषौ एकः आत्मा यस्य तत्सामान्यविशेषैकात्मकम् । तस्यानेकान्तरूपस्य वस्तुनः सामान्यविशेषाभ्यामुपलक्षितमेकं स्वरूपं यस्य तत्तथोच्यते इति वा ।



संवित्ति<sup>१</sup>रेकान्तस्यानुपलब्धिर्वा<sup>२</sup> सर्वतः सिद्धा चक्षुरादि<sup>३</sup>मतामनाहंतकल्प<sup>४</sup>नामस्तंगमयतीति किं नः<sup>५</sup> प्रमाणा<sup>६</sup>न्तरेण\* । न तावत्सामान्य<sup>७</sup>कान्तस्योपलब्धि<sup>८</sup>विशेषस्याप्युपलब्धेः । नापि विशेष<sup>९</sup>कान्तस्य<sup>१०</sup>, सामान्यस्यापीक्षणात् । न <sup>११</sup>सामान्यविशेषैकान्त<sup>१२</sup>योरेव परस्परनिरपे<sup>१३</sup>-क्षयोः, एकात्म<sup>१४</sup>नोप्युपलक्षणात् । न चैका<sup>१५</sup>त्मन एव सामान्यविशेषैकात्मनः, <sup>१६</sup>ततो जात्य<sup>१७</sup>-न्तरस्य संवित्तेः । <sup>१८</sup>सर्वं हि वस्तु सामान्यं विशेषापेक्षया विशेषः सामान्यापेक्षया वाऽप्योद्धार-<sup>१९</sup>कल्पनायां, स्वरूपेण तु सामान्यविशेषात्मकमेकम् । तस्य संवित्तिश्चक्षुरा<sup>२०</sup>दिमतामनाहंत-

प्रश्न—इन दोनों का एक वस्तु में जात्यन्तर का ज्ञान किस प्रकार से होता है ?

उत्तर—सभी वस्तु सामान्य की अपेक्षा से सामान्यरूप हैं अथवा विशेष की अपेक्षा से विशेषरूप हैं यह कथन भेदनय की विवक्षा से समझना चाहिये और स्वरूप से अर्थात् अभेदनय से सभी वस्तु सामान्य-विशेषात्मक ही हैं । ज्ञानी जनों को इस प्रकार का प्रत्यक्षज्ञान है वह अनाहंत कल्पना को अस्त कर देता है । जो चक्षु आदि इन्द्रियों से विकल हैं वे ही उस अनाहंत (अन्यमतावलम्बियों) की कल्पना को स्वीकार करते हैं विवेकीजन नहीं । अथवा एकान्ततत्त्व की अनुपलब्धि ही उस अनाहंत कल्पना को अस्त कर देती है । उसीप्रकार से अविवेकीजन ही उस एकान्ततत्त्व को मान लेते हैं विवेकीजन नहीं ।

तथाहि—सर्वथा एकान्त तत्त्व नहीं है क्योंकि हमेशा अनेकान्त की उपलब्धि हो रही है इस प्रकार वह स्वभावविरोधोपलब्धिरूप हेतु है । अर्थात् एकान्त स्वभाव से विरुद्ध अनेकान्त की उपलब्धि हो रही है ऐसा यह हेतु प्रकट करता है । अथवा सर्वथा एकान्त नहीं है क्योंकि उसकी अनुपलब्धि है । यह स्वभावानुपलब्धि हेतु है अर्थात् एकान्त स्वभाव की अनुपलब्धि है । इस प्रकार से सर्वतः चक्षु आदि इन्द्रियों के प्रत्यक्षज्ञान से सिद्धि का निश्चय होता है ।

शंका—सर्वथा एकान्त तत्त्व की कहीं पर किसी काल में उपलब्धि पाई जाती है । सभी जगह और सभी काल में आप उस एकान्त का निषेध नहीं कर सकते हैं । यदि एकान्ततत्त्व की उपलब्धि नहीं है तो फिर अनेकान्त से उसका विरोध नहीं हो सकता है क्योंकि जो वस्तु सत्-विद्यमान है उसी का किसी प्रकार से किसी के द्वारा विरोध सम्भव है इसीलिये असत् का प्रतिषेध नहीं हो सकता है उसी प्रकार से विधिपूर्वक ही प्रतिषेध होता है और जब एकान्त विधिरूप (अस्तित्व रूप) नहीं है तब उसका निषेध भी कैसे हो सकेगा ?

- १ सम्पक् परिच्छित्तिः । २ अदर्शनम् । (दि० प्र०) ३ स्पष्टेन्द्रियबोधानाम् । ४ (अनाहंतानामाहंत-मतविरुद्धानां कल्पनाम्) । ५ जैनानाम् । ६ अनुमानादिना । ७ सत्ताद्वैतवाद्यभ्युपगतस्य । ८ दर्शन-ग्रहणं वा । (दि० प्र०) ९ दौढमतपेक्षया । १० उपलब्धिरिति संबन्धः कार्यः । (दि० प्र०) ११ उपलब्धिः । (दि० प्र०) १२ योग्यमतापेक्षया । १३ पृथग्भूतयोः (जटिलाभ्युपगतयोः) । १४ तादात्म्यरूपस्य । (दि० प्र०) १५ तदात्मकस्य । बट्टमते भेदासहिष्णुरभेदस्तादात्म्यम् । (सामान्यविशेषयोरर्थावभागेन कृत्वेत्यर्थः) । १६ कथ-ञ्चित्तादात्म्यरूपस्य । (दि० प्र०) १७ नरसिंहवत् । १८ जात्यन्तरस्य संवित्तिः कथमित्युक्ते आह । १९ भेद-नयविवक्षायां । २० जैनानाम् । (दि० प्र०)

‘कल्पनामस्त<sup>१</sup>ङ्गमयति, चक्षुरादिविकलाना<sup>३</sup>मेव <sup>४</sup>तत्संभवात् । एकान्तस्यानुपलब्धिर्वा<sup>५</sup>तामस्तंगमयति तत एव । तथा हि । नास्ति सर्वथैकान्तः, सर्वदानेकान्तोपलब्धेरिति स्वभाव-  
‘विरुद्धोपलब्धिः<sup>७</sup>, नास्ति सर्वथैकान्तोऽनुपलब्धेरिति स्वभावानुपलब्धिर्वा सर्वतश्च<sup>८</sup>क्षुरादेः  
संवेदनात्सिद्धाऽध्यवसीयते । ननु<sup>९</sup> च ‘सर्वथैकान्तस्य क्वचित्कदाचिदुपलब्धौ न सर्वत्र सर्वदा  
प्रतिषेधः सिध्येत् । <sup>१०</sup>तस्यानुपलब्धौ नानेकान्तेन विरोधः, सत<sup>११</sup> एव कश्चित्कत्के<sup>१२</sup>नचिद्विरोध-  
प्रतीतेः<sup>१३</sup> । प्रतिषेधश्च<sup>१४</sup> न स्यात्, तत<sup>१५</sup> एव ।’ इति कश्चित्तदसत्, सर्वथैकान्तस्याध्यारोप्य-

**समाधान—**यह कथन ठीक नहीं है क्योंकि जो मिथ्यारूप से आरोपित किये गये सर्वथा एकान्त तत्त्व हैं उन्हीं का प्रतिषेध किया जाता है । इसीलिये एकान्त स्वभाव से विरुद्ध अनेकान्त की उपलब्धि सिद्ध है एवं एकान्त स्वभाव की अनुपलब्धि सिद्ध है अन्यथा यदि आप मिथ्यारूप आरोपित किये गये का प्रतिषेध स्वीकार नहीं करोगे तब तो आप अन्यो के द्वारा स्वीकार किये गये एवं स्वयं के लिये अविष्ट ऐसे तत्त्व का प्रतिषेध नहीं कर सकोगे और अपने इष्ट तत्त्व का नियम भी नहीं कर सकोगे । अर्थात् अन्य कल्पित तत्त्व आपकी दृष्टि में मिथ्या हैं असत् हैं । इसीलिये आप भी असत् वस्तु का प्रतिषेध नहीं कर सकोगे और अन्य मतों के निषेध (खण्डन) बिना अपने इष्ट-मान्य तत्त्व का नियम भी नहीं बना सकोगे ।

**भावार्थ—**श्री माणिक्यनन्दिआचार्य ने सूत्रग्रन्थ में कहा है कि “सामान्य-विशेषात्मा तदर्थो विषयः” सामान्य-विशेषात्मक पदार्थ ही प्रमाण का विषय है । यहाँ इसी बात को श्री अकलंकदेव एवं विद्यानंदमहोदय सिद्ध कर रहे हैं कि प्रत्यक्षप्रमाण वस्तु के सामान्य धर्ममात्र को या विशेष धर्ममात्र को ही विषय करता हो ऐसा नहीं है किन्तु सामान्य-विशेष रूप उभयधर्मों से विशिष्ट वस्तु को ही ग्रहण करता है अतः यह प्रत्यक्षप्रमाण ही एकान्त के अभाव को सिद्ध कर देता है । अथवा अनेकान्त के सद्भाव को सिद्ध कर देता है और जब प्रत्यक्षप्रमाण ही काम कर देवे, तब अनुमान आदि प्रमाणों की आवश्यकता भी क्या रहेगी ? क्योंकि प्रत्यक्ष से अग्नि को देख लेने के पश्चात् घूम हेतु से

- १ सामान्याद्येकान्तम् । (दि० प्र०) २ सदाद्येकान्तः । (दि० प्र०) ३ एकान्तवादिनाम् । (व्या० प्र०)  
४ सा अनाहृतकल्पना । ५ अनाहृतकल्पनाम् । (दि० प्र०) ६ स्वभावः सर्वथैकान्तस्तस्य विरुद्धः सर्वदाने-  
कान्तस्तस्योपलब्धिर्दृश्यते । (दि० प्र०) ७ नामहेतुः । (दि० प्र०) ८ प्रत्यक्षादेः । (दि० प्र०) ९ सर्वथैका-  
न्तस्योपलब्ध्यानुपलब्धौ वा प्रतिषेधः साध्यते इत्युक्ते सर्वथैकान्तः कदाचिदुपलब्धोऽनुपलब्धौ वा प्रतिषिध्यते इति  
प्रश्नः फलति । तथा च विवक्ष्य परो वक्ति । १० सर्वथैकान्तस्य क्वचित् कदाचिदनुपलब्धौ सत्यो सर्वत्र सर्वदानेका-  
न्तेन सह विरोधो नास्ति । (दि० प्र०) ११ सतो विद्यमानस्यैव वस्तुनः केनचित् प्रकारेण केनचिद्वस्तुना सह विरोधः  
प्रतीयते । (दि० प्र०) १२ सहानवस्थादिप्रकारेण । (व्या० प्र०) १३ अनेन स्वभावविरुद्धोपलब्धिनिरस्ता ।  
(दि० प्र०) १४ यथा नास्त्यत्र घटः । (दि० प्र०) १५ (सत एव कश्चित्केनचित्प्रतिषेधात् । यतो विधिपूर्वक एव  
निषेधो भवति । एतेन स्वभावानुपलब्धिनिरस्ता) ।

माण<sup>१</sup>स्य प्रतिषेधसाधनात् <sup>२</sup>तद्विरुद्धोपलब्धिसिद्धेस्त<sup>३</sup>त्स्वभावानुपलब्धिसिद्धेश्च, स्वयमन्यथा<sup>४</sup>  
<sup>५</sup>कस्यचिदनिष्टतत्त्वप्रतिषेधायोगादिष्टतत्त्वनियमानुपपत्तेः ।

[ प्रत्यक्षप्रमाणमेवैकांतकल्पनामपाकरोति ]

अथवा 'प्रत्यक्षमेव सामान्यविशेषात्मकमेकं वस्तु विद<sup>७</sup>धत्सर्वथैका<sup>८</sup>न्तप्रतीतिं प्रतिषेधयतीति किं नः प्रमाणान्तरेणानुमानेनानुपलब्धि<sup>९</sup>लिङ्गेन समर्थना<sup>१०</sup>पेक्षेण ? प्रयासमन्तरेणेष्टानिष्ट-  
 तत्त्वविधिप्रतिषेधसिद्धेः । न हि दृष्टाज्ज्येष्ठ<sup>११</sup> गरिष्ठमिष्टं<sup>१२</sup> <sup>१३</sup>तदभावे <sup>१४</sup>प्रमाणान्तराप्रवृत्तेः  
 समारोपविच्छेदविशेषाच्च<sup>१५</sup> \* ।

ननु च दृष्टं प्रत्यक्षमिष्टं पुनरनुमानादि प्रमाणम् । तत्र<sup>१६</sup> यथा दृष्टं ज्येष्ठम्, अनुमाना-  
 देरग्रेसरत्वात्, तथानुमानाद्यपि<sup>१७</sup> प्रत्यक्षात्, तस्यापि<sup>१८</sup> <sup>१९</sup>तदग्रेसरत्वात्, क्वचिदनुमानाद्युत्तर-

उसका अनुमान कौन करते बैठेगा ? इसी बात को आगे ग्रन्थकार ने स्पष्ट कर दिया है और कह दिया है कि सभी प्रमाणों की अपेक्षा प्रत्यक्ष प्रमाण ज्येष्ठ है गरिष्ठ है ।

[ प्रत्यक्ष प्रमाण ही एकान्त कल्पना को समाप्त कर देता है ]

अथवा प्रत्यक्षज्ञान ही सामान्य विशेषात्मक एक वस्तु को विषय करता हुआ सर्वथा एकान्तरूप प्रतीति का प्रतिषेध करता है, इसलिये हम जैनों को समर्थन की अपेक्षा रखने वाले अनुपलब्धिहेतुक भिन्न अनुमानप्रमाण से क्या प्रयोजन है ? अर्थात् कुछ भी नहीं है क्योंकि प्रत्यक्षप्रमाण से प्रयास के बिना ही इष्ट तत्त्व की विधि एवं अनिष्ट तत्त्व का प्रतिषेध सिद्ध ही है । प्रत्यक्ष प्रमाण से अनुमानादि प्रमाण ज्येष्ठ एवं गरिष्ठ नहीं हैं क्योंकि प्रत्यक्ष के अभाव में अनुमानादि की प्रवृत्ति नहीं पाई जाती है और प्रत्यक्ष ही समारोप का व्यवच्छेदक है यह भी विशेषता इसमें विद्यमान है ।

शंका—जैसे दृष्ट-प्रत्यक्ष प्रमाण है उसी प्रकार इष्ट-अनुमानादि भी प्रमाण हैं । जहाँ पर जिस प्रकार से प्रत्यक्ष महान् है अनुमानादि में अग्रेसर है, उसी प्रकार से अनुमानादि भी प्रत्यक्ष से प्रधान हैं वे भी प्रत्यक्ष के अग्रेसर हैं, क्योंकि कहीं पर अनुमानादि के उत्तरकाल में प्रत्यक्ष की प्रवृत्ति देखी

१ मिथ्या अङ्गारोप्यमाणस्य २ अङ्गारोप्यमाणस्य प्रतिषेधसिद्धिर्न भवेद्यदि । (दि० प्र०) ३ आरोप्यमाणस्यापि प्रतिषेधो न सिद्धयति चेत्तदाकस्यचिदनिष्ट तत्त्व प्रतिषेधो न घटते । (दि० प्र०) ४ अङ्गारोप्यमाणस्य प्रतिषेध-  
 सिद्धिर्न भवेद्यदि । ५ अनेकान्तैकान्तम् । (दि० प्र०) ६ अनेकान्तात्मनो वस्तुनः संवित्तिरेव । ७ विषयी-  
 कुर्वत् । ८ सामान्यात्मिकाभेद विशेषात्मिकाभेद वेत्येवम् । ९ एतेनोपलब्धिलिङ्गेनेत्यप्युक्तं बोद्धव्यम् । (दि० प्र०)  
 १० एषंभूतेन प्रमाणान्तरेण । ११ प्रत्यक्षात् । १२ अनुमानादि । १३ प्रत्यक्षाभावेऽनुमानस्य प्रवृत्तिर्न घटते  
 यतः । १४ प्रमाणान्तरावृत्ते इति पा० (दि० प्र०) यतस्ततः प्रत्यक्षं ज्येष्ठं । प्रत्यक्षे वस्तुनि संशयादिलक्षणः  
 समारोपो नास्ति यतस्ततः प्रत्यक्षं गरिष्ठम् । (दि० प्र०) १५ प्रत्यक्षं विना समारोपविच्छेदविशेषोपि न  
 स्यादित्यर्थः । १६ द्वयोः । (दि० प्र०) १७ आदिपदेन तर्कप्रत्यभिज्ञानोपमानादि । १८ अनुमानादेः ।  
 १९ तस्मात् प्रत्यक्षात् ।

कालं प्रत्यक्षस्य प्रवृत्त्युपलक्षणत्वात् । यथा<sup>१</sup> च दृष्टमविसंवादकत्वाद्गरिष्ठमिष्टात् तथेष्टमपि दृष्टात्, तदविशेषात् । ततः कथं<sup>२</sup> दृष्टमिष्टाज्ज्येष्ठं गरिष्ठं च व्यवतिष्ठते, न पुनरिष्टं दृष्टादिति न<sup>३</sup> चोद्यमनवद्यं, दृष्टस्य<sup>४</sup> लिङ्गादिविषयस्याभावेऽनुमानादेः प्रमाणान्तरस्याप्रवृत्तेः, अनुमानान्तराल्लिङ्गादिप्रतिपत्तावनवस्थाप्रसङ्गात् प्रत्यक्षस्यैव<sup>५</sup> नियतसकलप्रमाण<sup>६</sup> पुरस्सरत्वप्रसिद्धे-ज्येष्ठत्वोपपत्तेः, प्रत्यक्षस्यानुमानादिना विनैव<sup>७</sup> प्रवृत्तेरनुमानादेर्दृष्टा<sup>८</sup> पुरस्सरत्वाभावात्, ततो ज्येष्ठत्वायोगाद्, दृष्टस्यैव चेष्टाद्गरिष्ठत्वात्-समारोपविच्छेदविशेषात्<sup>९</sup> । न<sup>१०</sup> हि यादृशो दृष्टात्समारोपविच्छेदो<sup>११</sup> विशेषविषये<sup>१२</sup> १३ प्रतिनिवृत्ताका<sup>१४</sup> इक्षोऽक्षूणतया<sup>१५</sup> लक्ष्यते<sup>१६</sup> तादृशोनु-

जाती है । जिस प्रकार से प्रत्यक्ष अविसंवादी होने से अनुमान से गरिष्ठ—प्रधान है, उसी प्रकार से अनुमान भी अविसंवादक होने से प्रत्यक्ष से महान् है दोनों में समानता है इसलिये प्रत्यक्षप्रमाण अनुमान से ज्येष्ठ और गरिष्ठ है । पुनः अनुमान प्रत्यक्ष से ज्येष्ठ—गरिष्ठ नहीं है यह व्यवस्था कैसे बन सकती है ? अर्थात् कथमपि नहीं बन सकती है ।

**समाधान—**आपका यह कथन निर्दोष नहीं है क्योंकि लिगादि—हेतु आदि को विषय करने वाले प्रत्यक्षप्रमाण के अभाव में अनुमानादि भिन्न प्रमाणों की प्रवृत्ति नहीं हो सकती है । यदि आप कहें कि अनुमानान्तर से हेतु आदि को जान लेंगे तब तो अनवस्था दोष का प्रसङ्ग आ जावेगा क्योंकि प्रत्यक्ष ही निश्चित सम्पूर्ण प्रमाणों में मुख्य है यह बात प्रसिद्ध है अतएव प्रत्यक्ष ही प्रधान है । अनुमानादि प्रमाण के बिना ही प्रत्यक्ष प्रमाण की प्रवृत्ति पाई जाती है अतः प्रत्यक्ष की अपेक्षा अनुमानादि मुख्य हैं ऐसा नहीं कह सकते इसीलिये वे अनुमानादि प्रधान भी नहीं हैं प्रत्यक्ष ही अनुमान से गरिष्ठ-बलवान्-महान् है क्योंकि समारोप का विच्छेदक है । जिस प्रकार विशेष के विषय में समारोप का विनाश अक्षुण्णरूप से अन्य प्रमाणों की अपेक्षा न रखता हुआ प्रत्यक्ष प्रमाण से देखा जाता है वैसे समारोप का विनाश अनुमानादि प्रमाण से नहीं देखा जाता है । हाँ ! उन अनुमानादि से सामान्यतया समारोप का व्यवच्छेद हो सकता है न कि परिपूर्णरूप से ।

- १ यथा दृष्टादनुमानादि प्रमाणात् सकाशाद्दृष्टं प्रत्यक्षप्रमाणं गरिष्ठं भवति । तथानुमानादिप्रमाणमपि प्रत्यक्षसकामाद्गरिष्ठं भवति । कस्मात् तदविशेषात्तेन अविसंवादकत्वेन कृत्वा तयोर्दृष्टेष्टयोश्चयोर्विशेषाभावात् । (दि० प्र०)  
 २ अनुमानादि प्रमाणात् । (दि० प्र०) ३ जैनः प्रत्युत्तरयति । ४ दृष्टान्तादि । (व्या० प्र०) ५ नियतञ्च तत्सकल-प्रमाणपुरस्सरत्वञ्च प्रत्यक्षस्य नियमेन सकलप्रमाणपुरस्सरत्वमनुमानादेस्तु कादाचित्कत्वेन प्रत्यक्षपुरस्सरत्वमिति भावः । (दि० प्र०) ६ ता । (दि० प्र०) ७ ता । (व्या० प्र०) ८ दृष्टपुरस्सरत्वाभावादिति पाठः । (दि० प्र०)  
 ९ (गरिष्ठत्वे हेतुः) । १० (समारोपविच्छेदविशेषरूपं गरिष्ठत्वहेतुं भावयति) । ११ वर्णसंस्थानादिना । १२ अर्थ । (दि० प्र०) १३ निवृत्ताभिलाषः समारोपविच्छेदः । (दि० प्र०) १४ प्रतिनिवृत्ता आकाङ्क्षा (प्रमाणान्तरस्य) यस्य (प्रत्यक्षस्य) सः । १५ सम्पूर्णतया । (दि० प्र०) १६ तादृक् समारोप विनाशो विशेषविषयेऽनुमानादि प्रमाणान्नहि । (दि० प्र०)

मानादेः<sup>१</sup>, तेन<sup>२</sup> सामान्यतः समारोपस्य व्यवच्छेदनात्<sup>३</sup>, 'दृष्टस्यान्वयव्यतिरेकयोः<sup>४</sup> स्वभाव-  
भेदप्रदर्शनार्थत्वाच्च<sup>५</sup> गरिष्ठत्वसिद्धेः \* । 'प्रत्यक्षमेव हि स्वविषये सामान्यविशेषात्मक-<sup>६</sup>  
त्वान्वयस्य<sup>७</sup> विधिलक्षणस्य<sup>८</sup> सर्वथैकान्तव्यतिरेकस्य च प्रतिषेधलक्षणस्य स्वभावभेदप्रदर्शन<sup>९</sup>।  
प्रयोजनमुपलक्ष्यते साक्षात्, न पुनरनुमानादि तस्य सामान्यतस्त<sup>१०</sup>प्रदर्शनप्रयोजकत्वात्<sup>११</sup> ।

[स्वसिद्धान्तसमर्थनेनैव परमतनिराकरणं जातं किमर्थं पुनः पृथक् कारिका निराकरणं क्रियते  
इति प्रश्ने सति विचारः प्रवर्तते ।]

किमर्थं<sup>१४</sup> पुनरार्हतस्येष्टस्य<sup>१५</sup> १६प्रसिद्धेनाबाधनं भगवतोर्हतः १७परमात्मकत्वं चाभिधाय<sup>१८</sup>

“प्रत्यक्षप्रमाण अनेकान्त का अस्तित्व विधिरूप अन्वय और एकान्त के नास्तित्वरूप व्यतिरेक  
का स्वभाव मेव प्रवर्णित करता है इसीलिये वह गरिष्ठ है ।”

प्रत्यक्ष ही अपने विषय में सामान्य-विशेषात्मक अन्वयरूप विधिलक्षण और सर्वथा एकान्तरूप  
व्यतिरेक-प्रतिषेधलक्षण में साक्षात् स्वभावभेद को बतलाने में तत्पर है परन्तु अनुमानादिक तो  
सामान्यरूप से ही अन्वय-व्यतिरेक को बतलाते हैं इसीलिये प्रत्यक्ष ही सामान्य-विशेषात्मक वस्तु  
ग्रहण करने वाला होने से गरिष्ठ है, वही एकान्ततत्त्व का निषेध करता है । यह ठीक से समर्थन  
किया गया है कि “स्वेष्टं दृष्टेन बाध्यते” ।

[ अपने सिद्धान्त के समर्थन से ही परमत का निराकरण हो जाता है पुनः पृथक् कारिका के  
द्वारा परमत का निराकरण क्यों किया ? ऐसा प्रश्न होने पर विचार किया जाता है । ]

बौद्ध—आपने अर्हन्त के मत को प्रत्यक्ष प्रमाण से अबाधित सिद्ध करके भगवान् अर्हन्त को ही  
परमात्मा कहा है पुनः सामर्थ्य-अर्थापत्ति से प्राप्त भी स्वयं को असम्मत—अमान्य सर्वथा एकान्ततत्त्व  
को प्रत्यक्ष से बाधित करके कपिल आदिकों को परमात्मापने का अभाव सिद्ध किया है ऐसा आप  
(ग्रन्थकार श्री समन्तभद्र स्वामी) ने क्यों किया ? अर्थात् जब आपने अर्हन्त को परमात्मा एवं उनके

१ अनुमानादेः सकाशात् तादृशः । २ अनुमानादिना । ३ विच्छेदनात् इति पा० । (दि० प्र०, व्या० प्र०)  
४ अनेकान्तात्मकस्यास्तित्वविधिरन्वयः । ५ अनुगम । सामान्यविशेषात्मकत्वविधिव्यतिरेकसर्वथैकान्तप्रति-  
षेधः । (दि० प्र०) ६ दृष्टं प्रत्यक्षमन्वयव्यतिरेकयोः स्वभावभेदं दर्शयति ततः प्रत्यक्षस्य गरिष्ठत्वसिद्धिः ।  
७ स्वभावभेदप्रदर्शनार्थत्वादिति हेतुं भावयति । ८ ता । (व्या० प्र०) ९ सामान्यविशेषात्मकत्वात्स्वस्येति  
पाठान्तरम् । १० ता । (व्या० प्र०) ११ वसः (बहुव्रीहिः) । १२ तच्छब्देनान्वयव्यतिरेकौ । १३ अतो दृष्टमेव  
गरिष्ठं सामान्यविशेषात्मकवस्तुग्राहकमेकान्तं निषेधयतीति समर्थितमेतत् 'स्वेष्टं दृष्टेन बाध्यते' इत्यत्र ।  
१४ स त्वमेवासि निर्दोष इत्यादिना पूर्वमेशार्हच्छासनस्याबाधनमर्हतः परमात्मत्वं च सिद्धम् । पुनस्त्वन्मतामृतवा-  
ह्यानामित्यादिना सर्वथैकान्तस्य मतस्य दृष्टेन बाधनं कपिलादेः परमात्मत्वनिराकरणं च किमर्थमिति बौद्धाशङ्का ।  
१५ अनेकान्तस्य । १६ मतस्य । (दि० प्र०) १७ आप्तत्वमिति पाठान्तरम् । (दि० प्र०) १८ सत्त्वमित्यादिना ।  
(दि० प्र०)

सर्वथैकान्तस्य दृष्टेन बाधनं<sup>१</sup> स्वयमसम्मतस्य<sup>२</sup>, कपिलादीनां परमात्मत्वाभावं च सामर्थ्य-  
लभ्यमपि ब्रवीति<sup>३</sup> ग्रन्थकार इति चेत्<sup>४</sup> अनेकान्तैकान्तयोरुपलम्भानुपलम्भयोरे<sup>५</sup> कत्वप्रदर्शनार्थं<sup>६</sup>  
तावदुभयमाह<sup>७</sup> मतान्तरप्रतिक्षेपार्थं वा, यदाह \* ।

[ बौद्धः कथयति अन्वयव्यतिरेकयोर्मध्य एकतत्प्रयोगेणार्थबोधो जायते अत उभय-  
प्रयोगो निग्रहस्थानं तस्य विचारः । ]

“धर्मकीर्तिः—<sup>१०</sup>साधर्म्यवैधर्म्ययोरन्यतरेणार्थगतावुभयप्रतिपादनं<sup>११</sup> पक्षादिवचनं वा निग्र-  
हस्थानमिति<sup>१२</sup> । न तद्युक्तम् \*। कुत इति चेत्<sup>१३</sup>, साधनसामर्थ्येन विपक्षव्यावृत्तिलक्षणेन पक्षं

अनेकान्त शासन को प्रत्यक्ष से अबाधित सिद्ध किया है तब अर्थापत्ति से स्वयं ही कपिल आदि के भगवान् एवं उनका एकान्तशासन बाधित ही हो जाता है, उसे पुनरपि बाधित करने की क्या आवश्यकता थी ? तात्पर्य यह है कि “सत्त्वमेवासि” इस कारिका में अहंन्त के शासन को प्रत्यक्ष से अबाधित सिद्ध किया है एवं “त्वन्मृतामृतबाह्यानां” इत्यादि कारिका से पुनः कपिलादि के एकान्त शासन को बाधित करने की क्या आवश्यकता थी ?

जैन—“अनेकान्त और एकान्त जो कि उपलब्धि और अनुपलब्धिरूप हैं उनमें एकत्व को दिखलाने के लिये ही उन अन्वय-व्यतिरेक को आचार्य कहते हैं अथवा अन्यमतों के खण्डन करने के लिये भी कहते हैं ।”

[ बौद्ध कहता है कि अन्वय-व्यतिरेक में से किसी एक के प्रयोग से ही अर्थ का ज्ञान हो जाता है पुनः एक साथ दोनों का प्रयोग करना निग्रहस्थान है—आचार्य इस पर विचार करते हैं । ]

बौद्ध—“हमारे यहाँ धर्मकीर्ति आचार्य ने कहा है कि साधर्म्य-वैधर्म्य में से किसी एक के ही प्रयोग करने से साध्य का बोध हो जाता है, अतः अन्वय-व्यतिरेक इन दोनों का प्रतिपादन करना या पक्षादि वचनों का अर्थात् प्रतिज्ञा, निगमन आदि का प्रयोग करना तो निग्रहस्थान नाम का दोष है ।”

जैन—आपका यह कथन ठीक नहीं है ।

बौद्ध—क्यों ठीक नहीं है ?

१ जैनः । (दि० प्र०) २ मतस्य इति पा० । (दि० प्र०) ३ त्वन्मतेत्यादिना । (दि० प्र०) ४ स्वामिसमस्तभद्राचार्यः (किमर्थमित्यन्वयः) । ५ संबन्धिनोः । (व्या० प्र०) ६ एकान्तानुपलम्भ एव अनेकान्तोपलम्भानेकान्तोपलम्भ एव एकान्तानुपलम्भ इत्येकत्वम् । (व्या० प्र०) ७ अन्वयव्यतिरेकौ । ८ स्वेष्टस्य दृष्टेनाबाधनमनिष्टस्य दृष्टेन बाधनमित्युभयम् । (व्या० प्र०) ९ सौगताचार्यः । १० अन्वयव्यतिरेकयोः । ११ आदिना प्रतिज्ञानिगमनादिग्रहः । १२ असाधनाङ्गवचनं नाम । (व्या० प्र०) १३ निग्रहस्थानं पक्षं प्रसाध्यतोऽप्रसाध्यतो वेति विकल्प्य क्रमेण दूषयति सिद्धान्ती । तत्र प्रथमपक्षमाह तावत् ।

<sup>1</sup>प्रसाध्यतः केवलं वचनाधिक्योपालम्भच्छलेन पराजयाधिकरणप्राप्तिः<sup>2</sup> <sup>3</sup>स्वयं निराकृत-  
<sup>4</sup>पक्षेण प्रतिपक्षिणा <sup>5</sup>लक्षणीयेति <sup>6</sup>वचनात् । यथोक्तेन<sup>7</sup> हि साधनसामर्थ्येन स्वपक्षं  
 साध्यतः सद्वादिनः सभ्यसमक्षं जय एवेति<sup>8</sup> युक्तं<sup>9</sup>, न केवलं <sup>10</sup>वचनाधिक्योपालम्भव्याजेन  
 पराजया<sup>11</sup>धिकरणप्राप्तिः साधीयसी<sup>12</sup>, <sup>13</sup>स्वसाध्यं प्रसाध्य <sup>14</sup>नृत्यतोपि दोषाभावाल्लोकवत् ।  
 सा<sup>15</sup> च स्वयं निराकृतपक्षेण प्रतिवादिना <sup>16</sup>लक्षणीयेत्यपि न युक्तं, परेण<sup>17</sup> निराकृतपक्षस्यैव<sup>18</sup>  
 पराजयप्राप्तिर्योग्यत्वनिश्चयाल्लोकवदेव । <sup>19</sup>यदि पुनः स्वपक्षमसाध्यतो वादिनो वचनाधिक्येन

जैन — “विपक्ष से व्यावृत्तिलक्षण वाले ऐसे हेतु की सामर्थ्य से पक्ष को सिद्ध करते हुये वादी को केवल वचनाधिक्य की उलाहना के बहाने से पराजय के अधिकरण की प्राप्ति कराना एवं स्वयं वादी के द्वारा जिसका पक्ष खण्डित किया गया है, ऐसे आप (प्रतिवादी) उस (वादी) की पराजय लक्षित करें—मानें यह उचित है ? अर्थात् इस प्रकार से वादी का पराजय मानना आप प्रतिवादी को उचित है क्या ? नहीं है यहाँ ऐसी वक्रोक्ति है ।”

भावार्थ—यदि वादी ने प्रतिवादी का पक्ष खण्डित कर दिया है, तब तो अपने पक्ष की सिद्धि से ही वादी की जय होती है परन्तु वादी ने वचन अधिक बोले हैं यानी प्रतिज्ञा, उपनय, निगमन आदि का प्रयोग कर दिया है अतः उसकी पराजय हो गयी । आप, प्रतिवादी को ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि आपका पक्ष वादी के द्वारा निराकृत हो चुका है अतः आपकी ही पराजय हो जाती है ।

यथोक्त हेतु की सामर्थ्य से अपने पक्ष को सिद्ध करते हुये सद्वादी की सभासदों के समक्ष जय ही युक्त है, न कि निग्रहस्थानरूप पराजय ? इसलिखे वह वादी केवल वचन अधिक बोलने की उलाहना के छल से पराजय के स्थानरूप निग्रहस्थान को प्राप्त हुआ है । ऐसा आप सिद्ध नहीं कर सकते हैं, क्योंकि अपने साध्य को सिद्ध करने के अनंतर यदि वादी नृत्य भी करे, तो भी दोष नहीं है, लोक के समान । अर्थात् लोक में कोई भी व्यक्ति अपने कार्य-साध्य को सिद्ध करके पुनः चाहे नाचे, गाये कुछ भी करे उसके साध्य की सिद्धि में कोई दोष नहीं है और स्वयं ही जिसका पक्ष निराकृत-खण्डित हो चुका है, ऐसे प्रतिवादी के द्वारा वादी की पराजय होती है । ऐसा भी कहना ठीक नहीं है क्योंकि वादी के द्वारा प्रतिवादी का पक्ष खण्डित कर देने पर ही प्रतिवादी की पराजय मानना उचित है, लोक व्यवहार के समान ।

1 वादिनः । 2 न श्रेयसी । (व्या० प्र०) 3 स्वेन (वादिना) । 4 निराकृतः पक्षोऽस्य (प्रतिवादिनः) असौ निराकृतपक्ष-  
 स्तेन लक्षयितुं युज्यते स्वपक्षसिद्धिनिबन्धनैव, जयाधिकरणप्राप्तिर्न तु वचनाधिक्यनिबन्धनेति भावः । 5 लक्षणीयापि  
 तु न लक्षणीयेति वक्रोक्तिः । 6 धर्मकीर्तिनोक्तत्वात् । 7 विपक्षाद्व्यावृत्तिनक्षणेन । (दि० प्र०) 8 न तु  
 निग्रहस्थानम् । 9 न पुनः केवलम् इति पा० (व्या० प्र०) 10 स्वपक्षसिद्धिमन्तरेण । (व्या० प्र०)  
 11 निग्रहस्थानप्राप्तिः । 12 प्रतिवादिनः । (दि० प्र०) 13 स्वसाध्यकार्यं निर्वर्त्य नृत्यं कुर्वन्तः पुंसो दोषाभावात् ।  
 (दि० प्र०) 14 सद्वादिनः । 15 पराजयाधिकरणप्राप्तिः । वचनाधिक्योपालम्भच्छलेन । (दि० प्र०) 16 न केवलं  
 साधर्म्यवैधर्म्येणोभयमसाधनांगमित्येतत् । (व्या० प्र०) 17 वादिना । 18 प्रतिवादिनः । (व्या० प्र०) 19 द्वितीय-  
 विकल्पं दूषयति ।

प्रतिवादी पराजयप्राप्तिं लक्षयेत् तदा स्वपक्षं साधयन्नसाधयन्वा ? प्रथमपक्षे स्वपक्षसिद्धयैव परस्य पराजितत्वाद्वचनाधिक्योद्भावनमनर्थकं, तस्मिन् सत्यपि <sup>1</sup>पक्षसिद्धिमन्तरेण जयायोगात् । द्वितीयपक्षे तु युगपद्वादिप्रतिवादिनोः पराजयप्रसङ्गो जयप्रसङ्गो वा, स्वपक्षसिद्धेरभावा<sup>2</sup>-विशेषात् । स्यान्मतं<sup>3</sup> 'न स्वपक्षसिद्धसिद्धिनिबन्धनौ जयपराजयौ, <sup>4</sup>तयोर्ज्ञानाज्ञाननिबन्धनत्वात् । तत्र<sup>5</sup> साधर्म्यवचने वैधर्म्यवचनेपि <sup>6</sup>वार्थस्य <sup>7</sup>प्रतिपत्तौ <sup>8</sup>तदुभयवचनात्साधनवचनसामर्थ्याज्ञानं वादिनः स्यादेव । प्रतिवादिनस्तु <sup>9</sup>तदुद्भावयतस्तज्ज्ञानम् । <sup>10</sup>अतस्तद्धेतुको

यदि पुनः अपने पक्ष को सिद्ध न करते हुये वादी को प्रतिवादी वचनाधिक्य से पराजित कहे, तब तो हम यह प्रश्न करते हैं, कि वह प्रतिवादी अपने पक्ष को सिद्ध करते हुये वचनाधिक्य से वादी की पराजय सिद्ध करता है या अपने पक्ष को सिद्ध न करते हुये ?

यदि प्रथम पक्ष लेवें तब तो प्रतिवादी के अपने पक्ष की सिद्धि से ही पर (वादी) की पराजय हो जाती है, पुनः वचनाधिक्य को दोष कहना व्यर्थ ही है, क्योंकि वादा में वचनाधिक्य होने पर भी यदि प्रतिवादी ने अपने पक्ष की सिद्धि नहीं की है, तब तो उसकी जय नहीं हो सकती है । यदि द्वितीय पक्ष लेवें कि प्रतिवादी अपने पक्ष को सिद्ध न करते हुये वचनाधिक्य से वादी की पराजय करना चाहता है तब तो युगपत् ही वादी एवं प्रतिवादी दोनों के पराजय का प्रसंग होगा अथवा दोनों के ही जय का प्रसंग होगा क्योंकि स्वपक्ष की सिद्धि का अभाव दोनों को ही समानरूप से है ।

बौद्ध — जय और पराजय, स्वपक्ष की सिद्धि और असिद्धि के निमित्त से नहीं हैं किन्तु ज्ञान और अज्ञान के निमित्त से ही होते हैं क्योंकि साधर्म्य (अन्वय) वचन के बोलने में अथवा वैधर्म्य (व्यतिरेक) वचन के बोलने पर भी साध्य-अर्थ का ज्ञान होने पर भी उन अन्वय-व्यतिरेक रूप दोनों वचनों का प्रयोग कर देते हैं अतः वादी को हेतु वचन की सामर्थ्य का अज्ञान ही है और प्रतिवादी के तो वचनाधिक्य दोष को प्रकट करते हुये उसका ज्ञान है अतएव वादी, प्रतिवादी का जय-पराजय, ज्ञान-अज्ञान निमित्तक है । यह कथन अयुक्त कैसे हो सकता है ? अर्थात् युक्त ही है ।

जैन — इस विषय की परीक्षा करने पर आपका मत ठीक नहीं है । अन्यथा वादी-प्रतिवादी को पक्ष-प्रतिपक्ष का ग्रहण करना व्यर्थ ही हो जावेगा क्योंकि किसी एक पक्ष में भी ज्ञान-अज्ञान दोनों सम्भव हैं । शब्दादिक में नित्यत्व अथवा अनित्यत्व के ज्ञान-अज्ञान की परीक्षा में एक को (वादी को) उसका ज्ञान है और अपर (प्रतिवादी) को उसका अज्ञान है, वही जय अथवा पराजय के लिये कारण सम्भव नहीं है । ऐसा आप नहीं कह सकते, साधन की सामर्थ्य के ज्ञान-अज्ञान के समान । युगपत् साधन की सामर्थ्य का ज्ञान हो जाने पर वादी और प्रतिवादी इन दोनों में से किसका जय अथवा

1 स्वपक्ष इति पा० । (दि० प्र०) 2 द्वयोरपि वादिप्रतिवादिनोः । 3 सीगतस्य । 4 जयपराजययोर्ज्ञानाज्ञाने द्वे कारणे भवतः । यतः । (दि० प्र०) 5 ज्ञानाज्ञानयोः । (दि० प्र०) तथा सति । (व्या० प्र०) 6 साध्यस्य । 7 ईप् । (दि० प्र०) 8 साधर्म्यवैधर्म्येत्युभयवचनात् । 9 वचनाधिक्यम् । तत् साधनवचनसामर्थ्याज्ञानं प्रकटयतस्तज्ज्ञानं (साधनवचनसामर्थ्यज्ञानमिति (टिप्पण्यन्तरम्) । 10 अतः कारणात्तयोर्वादिप्रतिवादिनोस्तद्धेतुको ज्ञानाज्ञाननिमित्तौ जयपराजयौ अयुक्तौ कथं स्यातामपितु न स्यातामित्युक्तं सौमतेन । (दि० प्र०)



'तयोर्जयपराजयौ कथमयुक्तौ स्याताम् ?' इति, <sup>१</sup>तदपि न परीक्षाक्षमं वादिप्रतिवादिनोः पक्ष-  
प्रतिपक्षपरिग्रहवैयर्थ्यप्रसङ्गात् <sup>२</sup>क्वचिदेकत्रापि पक्षे ज्ञानाज्ञानयोः <sup>३</sup>'सम्भवात् । न हि शब्दादी  
नित्यत्वस्यानित्यत्वस्य वा ज्ञानाज्ञानपरीक्षायामेकस्य <sup>४</sup>तद्विज्ञानमपरस्य <sup>५</sup>तदविज्ञानं जयस्य  
पराजयस्य वा निबन्धनं न सम्भवति साधनसामर्थ्यज्ञानाज्ञानवत् । <sup>६</sup>'युगपत्साधनसामर्थ्यज्ञाने'  
च वादिप्रतिवादिनोः कस्य जयः पराजयो वा स्यात् ? <sup>७</sup>तदविशेषात् । न कस्यचिदिति  
चेत्तर्हि <sup>८</sup>'साधनवादिनो वचनाधिक्यकारिणो यथा साधनसामर्थ्यज्ञानं तथा प्रतिवादिनोपि  
वचनाधिक्यदोषोद्भावनात् तस्य तद्दोषमात्रे' <sup>९</sup>ज्ञानसिद्धेः । न हि यो यद्दोषं वेत्ति स तद्गुणमपि,  
<sup>१०</sup>कुतश्चिन्मारणशक्तौ विदितायामपि विषयद्रव्यस्य कुष्ठापनयनादिशक्तौ <sup>११</sup>'वेदनानुदयात् । ततो

किसका पराजय माना जावेगा क्योंकि साधन सामर्थ्य का ज्ञान दोनों में समानरूप से है । अर्थात् यदि  
साधन की सामर्थ्य का ज्ञान ही जय में हेतु है और अज्ञान पराजय में हेतु है तब तो वादी और  
प्रतिवादी दोनों को युगपत् साधन सामर्थ्य का ज्ञान होने से किसका जय अथवा किसका पराजय  
होगा ? क्योंकि साधन की सामर्थ्य का ज्ञान तो दोनों में समान है ।

**बौद्ध**—ऐसी स्थिति में तो किसी की भी जय एवं पराजय नहीं होगी ।

**जैन**—तब तो साधनवादी हम जैन लोग तो अधिक वचन बोलने वाले हैं, तो जिस प्रकार से  
हमें साधन की सामर्थ्य का अज्ञान है, उसी प्रकार से उसके भी वचनाधिक्यरूप दोष का उद्भावन  
करने वाले आप प्रतिवादी को भी उतने दोषमात्र का ही ज्ञान सिद्ध है किन्तु आपको साधन के गुणों  
का ज्ञान नहीं है, अतः साधन के गुण का अज्ञान होने से आपको भी कुछ अज्ञान तो रह ही गया,  
क्योंकि "जो जिसके दोष को जानता है वह उसके गुणों को भी जाने" यह नियम नहीं है, जैसे कि  
विषयद्रव्य की मारण शक्ति को जान लेने पर भी उस विषयद्रव्य की कुष्ठ आदि रोग को दूर करने की  
शक्ति का ज्ञान किसी को नहीं भी रहता है इसीलिये ज्ञान और अज्ञानमात्र से ही जय अथवा पराजय  
की व्यवस्था नहीं हो सकती है ।

**बौद्ध**—आप साधनवादी को सम्यक् साधन का प्रयोग करना चाहिये और हम दूषणवादी  
प्रतिवादी को उसमें दूषण देना चाहिये । इस प्रकार की व्यवस्था में प्रतिवादी के द्वारा सभा में वादी  
के प्रति असाधनाङ्ग वचनरूप दोष (साधर्म्य वचन का प्रयोग करने पर बंधर्म्य वचन का प्रयोग  
करना) का उद्भावन करने पर उसे ठीक से साधन वचन के अज्ञान की सिद्धि होने से उस वादी का

१ वादिप्रतिवादिनोः । (व्या० प्र०) २ तयोर्ज्ञानाज्ञाननिबन्धनत्वमपि । (व्या० प्र०) ३ नित्येऽनित्ये वा भेदेऽभेदे  
वा एकस्मिन्वचनित्यक्षे । ४ वैयर्थ्यप्रसङ्गे हेतुः । ५ वादिनः । ६ प्रतिवादिनः । ७ नो सौगत यदि साधन-  
सामर्थ्यज्ञानं जयस्य हेतुस्तदज्ञानं तु पराजयस्य तदा । ८ ज्ञानेनैव इति पा० । (दि० प्र०) ९ साधनसामर्थ्यज्ञाना-  
विशेषात् । १० जैनस्य । ११ साधनगुणे ज्ञानाभावो दूषणं चेति भावः । १२ न हि यो यद्दोषं वेत्ति स तद्गुणमपि  
विषयद्रव्यस्य कुष्ठापनेति पाठान्तरम् । (दि० प्र०) १३ ज्ञान । (दि० प्र०)

न जयः पराजयो<sup>१</sup> वा स्यात् । <sup>२</sup>स्यान्मतं <sup>३</sup>साधनवादिना साधु साधनं वक्तव्यं दूषणवादिना च तद्दूषणम् । <sup>४</sup>तत्र वादिनः प्रतिवादिना सभायामसाधना<sup>५</sup>ङ्गवचनस्योद्भावे साधु साधनाभिधानाज्ञानसिद्धेः <sup>६</sup>पराजयः प्रतिवादिनस्तु तद्दूषणज्ञाननिर्णयाज्जयः स्यात्<sup>७</sup> इति, तदप्यपेक्षलं, <sup>८</sup>विकल्पानुपपत्तेः<sup>९</sup> । स हि प्रतिवादी निर्दोषसाधनवादिनो वचनाधि<sup>१०</sup>क्यमुद्भा-  
वयेत्साधना<sup>११</sup>भासवादिनो वा ? प्रथमविकल्पे वादिनः कथं साधनस्वरूपाज्ञानम् ? तद्वचने <sup>१२</sup>इय-  
न्नाज्ञानस्यैवाभावात् । <sup>१३</sup>द्वितीयविकल्पे तु न प्रतिवादिनो दूषणज्ञानमवतिष्ठते, <sup>१४</sup>साधनाभास-  
स्यानुद्भावनत्<sup>१५</sup>द्वि<sup>१६</sup>ज्ञानासिद्धेः । <sup>१७</sup>तद्वचनाधिक्यदोषस्य ज्ञानाद्दूषणज्ञोऽसाधिति चेत्साधना-  
भासाज्ञानाद्दूषणज्ञोपीति नैकान्ततो<sup>१८</sup> वादिनं जयेत्, <sup>१९</sup>तददोषोद्भावनलक्षणस्य <sup>२०</sup>पराजयस्यापि

पराजय हो जाता है और प्रतिवादी को तो साधन वचन के दूषण के ज्ञान का निर्णय होने से उसका जय हो जावेगा ।

जैन—आपका यह कथन भी ठीक नहीं है । यदि हम इस विषय में विकल्प उठावें तब तो आपका मत सिद्ध नहीं हो सकता है । यथा आप प्रतिवादी हम निर्दोष साधनवादी-निर्दोष हेतु को कहने वाले के वचनाधिक्य दोष को प्रकट करते हैं या साधनाभास वादी के वचनाधिक्य दोष को प्रकट करते हैं । यदि आप प्रथम विकल्प स्वीकार करें तब तो हम वादी को साधन के स्वरूप का अज्ञान कैसे रहा ? क्योंकि उस हेतु के प्रयोग में हमें इयन्ता—संख्या के ज्ञान का ही अभाव है । यदि आप दूसरा विकल्प लेते हैं तो प्रतिवादी को दूषणज्ञान है ऐसी व्यवस्था नहीं बन सकती है क्योंकि वादी तो साधनाभास का प्रयोग करने वाला है और उसके साधनाभास दोष को तो आपने प्रकट नहीं किया इसलिये आप प्रतिवादी को साधनाभास का ज्ञान नहीं है यह बात सिद्ध हो जाती है । अर्थात् आप प्रतिवादी ने वादी के वचनाधिक्य दोष को ही प्रकट किया है किन्तु साधनाभास को नहीं प्रकट किया है अतः आपको साधनाभास का अज्ञान ही है ।

१ ननु यदि पुनर्वचनाधिक्यदोष साधनसामर्थ्यभावं चोद्भावयन् प्रतिवादी जयतीत्याणां कायामत्र वक्ष्यमाणमेवोत्तरं तदा-  
स्य महती द्विष्टकामितेत्यादिकं योजनीयं वादिनोक्तस्य सम्पत्साधनस्य सामर्थ्यं वचनाधिक्यं चोद्भावयतः प्रतिवादिनो  
जय इति चायुक्तं तथा सति वादिनः साधनसामर्थ्याज्ञानसिद्धेस्तद्वचनेयत्ताज्ञानस्यैवाभावात् । न वचनाधिक्यमात्रम् ।  
(दि० प्र०) २ सौगतस्य । ३ स्वसाधनवादिनेति वा पाठः । ४ एवं च व्यवस्थायां सत्याम् । ५ साधर्म्यवचने  
प्रयुक्ते वैधर्म्यवचनं प्रयुज्यमानम् साधनाङ्गं वैपरीत्यं वा । ६ वादिन इत्युपरिष्ठादन्वयः । ७ विचारणासंभवात् ।  
(दि० प्र०) ८ वक्ष्यमाणाभ्यां विकल्पाभ्यां मतस्यानुपपत्तेः । ९ उदाहरणोपनयनिगमनादिवचनाधिक्यम् ।  
१० अग्निः पक्षः । अनुपलब्धो भवतीति साध्यो धर्म्यः । द्रव्यत्वात् यथा जलगिति साधनाभासः । (दि० प्र०)  
११ एतावन्मात्रं साधनवचनमात्रं ज्ञानं वर्तते इति नियमेन नास्ति अधिकज्ञानस्यापि वैधर्म्यादेः संभवात् । (व्या० प्र०)  
१२ दूषणं स्थापयेदिति प्रथमविकल्पः । (दि० प्र०) १३ स्वसाधनाभास इति पा० । (दि० प्र०) १४ साधनाभास-  
विज्ञानासिद्धेः । १५ तेन हि प्रतिवादिना वचनाधिक्यरूपो दोष एवोद्भावितो न तु साधनाभासरूप इति साधना-  
भासज्ञानासिद्धिस्तस्य । १६ साधन । (व्या० प्र०) १७ सर्वथा । (व्या० प्र०) १८ साधनाभासे अदोषोद्भावनमेव  
लक्षणं यस्य तस्य । १९ (प्रत्युत) ।

निवारयितुमशक्तेः । अथ वचनाधिक्यदोषोद्भावेन प्रतिवादिनो जयसिद्धौ साधनाभासोद्भावनमनर्थकमिति मन्यसे, <sup>1</sup>नन्वेवं साधनाभासानुद्भावेनात्तस्य<sup>2</sup> पराजयसिद्धौ वचनाधिक्योद्भावनं कथं जथाय प्रकल्प्येत ? यदि पुनः साधनाभासं वचनाधिक्यं चोद्भावेन प्रतिवादी जयतीति मतं <sup>3</sup>तदास्य महती <sup>4</sup>द्विष्टकामिता, साधर्म्यवचनादेवार्थगतौ<sup>5</sup> वैधर्म्यवचनमनर्थकत्वाद्विष्टत्वा<sup>6</sup> साधनाभासोद्भावेन<sup>7</sup> परस्य <sup>8</sup>न्यक्कारसिद्धौ तद्वचनाधिक्योद्भावनस्यानर्थकस्यापि कामितत्वात् । अथ न वचनाधिक्यमात्रं द्विष्यते<sup>10</sup>, अर्थादापन्नस्य<sup>11</sup> <sup>12</sup>स्वशब्देनाभिधा-

**बौद्ध**—पुनः वचनाधिक्य (उदाहरण, उपनय, निगमनादि) दोष का ज्ञान होने से हम प्रतिवादी दूषणज्ञ तो हैं ही ।

**जैन**—यदि आप ऐसा कहते हैं तब तो साधनाभास का अज्ञान होने से आप अदूषणज्ञ भी हैं इसलिये आप एकान्ततः वादी को जीत नहीं सकेंगे, प्रत्युत साधनाभासरूप दोष का उद्भावन न करनेरूप पराजय को ही प्राप्त कर लेंगे यानी आपके ही पराजय का निवारण करना अशक्य हो जावेगा ।

**बौद्ध**—वादी के वचनाधिक्य दोषों के उद्भावन से ही हम प्रतिवादी का विजय सिद्ध है । पुनः साधनाभास का प्रगट करना व्यर्थ ही है ।

**जैन**—यदि आप ऐसा कहते हैं तब तो इसी प्रकार से साधनाभास दोष को न प्रकट करने से ही आप प्रतिवादी का पराजय सिद्ध हो जावेगा । पुनः वचनाधिक्य का प्रगट करना ही जय के लिये कैसे माना जा सकेगा ?

**बौद्ध**—साधनाभास और वचनाधिक्य दोनों ही दोषों को प्रकट करते हुये हम प्रतिवादी जय को प्राप्त करते हैं ।

**जैन**—यदि आप ऐसा कहें तब तो आप महान् द्वेषी सिद्ध होते हैं क्योंकि अन्वयवचन से ही साध्य का ज्ञान हो जाने पर व्यतिरेकवचन का प्रयोग व्यर्थ है इस प्रकार से जैनों से द्वेष करके साधनाभास को प्रगट करने से ही हम वादी का पराजय सिद्ध हो जाने पर पुनः हमारे वचनाधिक्य दोष का उद्भावन करना व्यर्थ होते हुए भी आप उसको चाहते हैं ।

**बौद्ध**—हम वचनाधिक्यमात्र से ही द्वेष नहीं मानते हैं किन्तु जिसका अर्थापत्ति से स्वयं बोध हो

1 नन्विदमिति पा० । (दि० प्र०) जैनो ब्रूते । (दि० प्र०) 2 प्रतिवादिनः । 3 तदा तस्येति पाठः । (दि० प्र०)

4 द्वेषविषयभूतं कामयते इत्येवंशीलः । तस्य भावो द्विष्टकामिता । 5 अर्थस्य निश्चितौ सत्याम् । (दि० प्र०)

6 द्विष्टम् इति पा० । (दि० प्र०) 7 द्वेषविषयं कृत्वा । 8 वादिनः । 9 न्यक्कारः पराजयः । 10 द्विष्यते ।

साधनाभासोद्भावेन वचनाधिक्योद्भावनस्यार्थादापन्नत्वाभावात् तद्विष्यते साधर्म्यवचने वैधर्म्यवचनस्यार्थादापन्नत्वात्तदेव द्विष्यते इति भावः । (दि० प्र०) 11 साधर्म्यवचनादेवार्थगतौ अर्थादापन्नं (स्वयमेव लब्धम्) वैधर्म्यवचनं, तस्य । 12 पुनस्तस्याभिधानं द्विष्टम् । तत्त्वात् ।

नस्य द्विष्टत्वादिति मतं तदपि न सङ्गतं, निगमनवचनदोषस्य<sup>१</sup> <sup>२</sup>प्रतिज्ञावचनदोषो<sup>३</sup> द्वाव-  
नादूगतस्या<sup>४</sup> नुद्वावनप्रसङ्गात् । प्रतिज्ञायाः पुनर्वचनं हि निगमनम् । <sup>५</sup>तच्च प्रतिज्ञावचनस्य  
<sup>६</sup>दुष्टत्वप्रतिपत्तौ दुष्टं<sup>७</sup> <sup>८</sup>सामर्थ्यात्प्रतीयते एव । अथार्थादापन्नस्यापि <sup>९</sup>निगमनवचनदुष्टत्व-  
स्यो<sup>१०</sup> द्वावममदोषो<sup>११</sup> द्वावनभयादभिमन्यते<sup>१२</sup> तर्हि साधर्म्यवचनाद्वैधर्म्यं<sup>१३</sup> स्यार्थाया<sup>१४</sup> तस्याप्य-  
साध<sup>१५</sup> नाङ्गवचनभयादभिधानं मन्यतां, <sup>१६</sup>विशेषाभावात् । न हि साधर्म्यमेव वैधर्म्यमेव वा

जावे फिर भी उसका प्रयोग किया जावे उसमें ही हमारा दोष है । अर्थात् अन्वयवचन से ही व्यतिरेक-  
वचन का ज्ञान हो जाता है फिर भी उसका प्रयोग करना दोषास्पद है ।

जैन—आपका यह कथन भी असंगत है । प्रतिज्ञावचन में दोष प्रगट करने से निगमनवचन का  
दोष भी अर्थापत्ति से ही सिद्ध होता है पुनः उसको भी प्रगट नहीं करना चाहिये क्योंकि प्रतिज्ञा को  
दुहराना ही निगमन है । प्रतिज्ञा का प्रयोग करना दोष है ऐसा कहने पर तो स्वयं ही अर्थापत्तिरूप  
सामर्थ्य से निगमन का प्रयोग दूषित हो ही जाता है पुनः उसको दूषित करना भी दोष ही है ।

बौद्ध—यद्यपि निगमन का प्रयोग दोष युक्त है ऐसा अर्थापत्ति से प्राप्त होता है तो भी उसको  
प्रगट करना उचित है क्योंकि “निगमन के प्रयोग को दूषित नहीं ठहराया है, अतः उसका प्रयोग दोष  
रहित हो सकता है ऐसा कोई न समझ लेवे” इसी डर से ही हम निगमन का प्रयोग स्वीकार कर  
लेते हैं ।

जैन—तब तो साधर्म्यवचन के प्रयोग से वैधर्म्यवचन स्वयं अर्थापत्ति से आ जाता है तो भी  
“वैधर्म्य के प्रयोग को दूषित नहीं किया अतः वह हेतु का अङ्ग हो जावेगा” इस भय से ही वैधर्म्य  
वचन का प्रयोग करना उचित है ऐसा भी आप मान लीजिये क्योंकि निगमन और व्यतिरेकवचन इन  
दोनों के प्रयोग समान ही हैं तथा अन्वय अथवा व्यतिरेक ही हेतु का अङ्ग हो ऐसा तो नहीं है ।  
पक्षधर्मत्व आदि के समान दोनों ही हेतु के अङ्ग हैं और आपने भी तो हेतु के तीन रूप माने हैं—  
पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्त्व और विपक्षव्यावृत्ति । इनमें सपक्षसत्त्व तो अन्वयरूप है और विपक्षव्यावृत्ति ही  
तो व्यतिरेकरूप है । अतः ज्ञान और अज्ञानमात्र के निमित्त से ही जय-पराजय की व्यवस्था करना  
शक्य नहीं है क्योंकि उपर्युक्त कहे हुये दोषों का प्रसंग आता ही आता है । इसीलिये स्वपक्ष सिद्धि  
और असिद्धि के निमित्त से ही जय-पराजय की व्यवस्था निर्दोष है पुनः पक्ष-प्रतिपक्ष को ग्रहण करना

१ एव । (व्या० प्र०) २ तथैवास्त्विति न वक्तव्यं सौगतेन प्रतिज्ञावयवस्येव निगमनावयवस्यापि नियमेन निराकर-  
णादितीदमत्राकृतम् । (दि० प्र०) ३ एव । (व्या० प्र०) ४ ज्ञातस्यार्थादापन्नस्य वा । ५ निगमनम् । (दि० प्र०)  
६ द्विष्टत्व इति पा० । (दि० प्र०) ७ द्विष्टसामर्थ्यात् इति पा० । (दि० प्र०) ८ निगमनवचनस्य पुनरपि  
दोषोद्भावनं कथम् ? सौगतेन प्रतिज्ञावयवस्येव निगमनावयवस्यापि नियमेन निवारणात् । ९ द्विष्टत्वस्योद्-  
भावनम् इति पा० । (दि० प्र०) १० पुनरुद्भावनम् । ११ निगमनं न दूषितं तर्हि अवोषं भविष्यतीति भयात्पुन-  
र्दूषितम् । १२ सौगतः । १३ अर्थान्तराया तस्यान्य इति पा० । (दि० प्र०) १४ (अर्थादायातस्य) । १५ वैधर्म्य-  
वचनं न दूषितं तर्हि साधनाङ्गं भविष्यतीति भयात्पुनर्वैधर्म्यवचनं प्रोक्तम् । १६ निगमनवैधर्म्यवचनयोः ।

साधनस्याङ्गः<sup>१</sup>, 'पक्षधर्मत्ववत्तदुभयस्यापि<sup>२</sup> साधनाङ्गत्वात्, साधनस्य 'त्रिरूपत्वप्रतिज्ञानात्<sup>३</sup> । ततो न ज्ञानाज्ञानमात्रनिबन्धनौ जयपराजयौ शक्यव्यवस्थौ, 'यथोदितदोषोपनिपातात्<sup>४</sup> । स्वपक्षसिद्धिसिद्धिनिबन्धनौ तु तौ निरवद्यौ<sup>५</sup>, पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहवैयर्थ्याभावात्<sup>६</sup> १० कस्यचित्कु-<sup>११</sup> तश्चिद्वत्स्वपक्षसिद्धौ सुस्थितायां<sup>१२</sup> परस्य पक्षसिद्धेरसंभवात् सकृत्तजय<sup>१३</sup> पराजययोरप्रसक्तेः । न<sup>१४</sup> हि वादिना साध्याविनाभावनियमलक्षणेन हेतुना स्वपक्षसिद्धौ विधातुं शक्यायामपि<sup>१५</sup> प्रतिज्ञोदाहरणादिवचनमनर्थकमपजयाय<sup>१६</sup> प्रकल्प्यते, १७ तद्विधाताहेतुत्वात्ततः १८ प्रतिपक्षा-  
सिद्धेः, प्रतिपाद्या<sup>१९</sup> शयानुरोधतस्तत्प्रयोगात्<sup>२०</sup> प्रतिपत्तिविशेषस्य प्रयोजनस्य सद्भावात् । नापि<sup>२१</sup> हेतोर्विरुद्धतोद्भावनान्नैव प्रतिवादिनः स्वपक्षसिद्धौ सत्यामपि २२ दोषान्तरानुद्भावनं

व्यर्थ नहीं होगा । वादी और प्रतिवादी दोनों में से किसी एक के स्वपक्ष की सिद्धि व्यवस्थित होने पर दूसरे की पक्ष सिद्धि असम्भव है अतः एक साथ दोनों को जय अथवा पराजय का प्रसंग नहीं आ सकता है । जब हम वादी साध्य के साथ अविनाभावी नियम लक्षण वाले हेतु से स्वपक्ष की सिद्धि कर देते हैं तब प्रतिज्ञा उदाहरण आदि वचन यद्यपि अनर्थक हैं फिर भी हम वादी का आप पराजय उतने मात्र से सिद्ध नहीं कर सकते क्योंकि प्रतिज्ञादि वचन हमारे साध्य की सिद्धि में किसी प्रकार का विधात नहीं करते हैं और पुनः स्वपक्ष की सिद्धि के हो जाने पर प्रतिपक्ष की असिद्धि सुतरां घटित हो जाती है क्योंकि प्रतिपाद्यविषय के आशय के अनुरोध से—निमित्त से उनका प्रयोग होता है अतः इनसे ज्ञान विशेष रूप प्रयोजन का ही सद्भाव पाया जाता है ।

तथा हम वादी के द्वारा प्रयुक्त हेतु में विरुद्धता दोष को प्रगट करने से ही आप प्रतिवादी के स्वपक्ष की सिद्धि हो जाने पर भी दोषान्तर (प्रतिज्ञा, उदाहरणादि) को प्रगट न करना आप प्रतिवादी के पराजय के लिये नहीं है । अर्थात् वादी ने हेतु का प्रयोग किया और प्रतिवादी ने उसे विरुद्धहेत्वाभास सिद्ध करके ही अपने पक्ष की सिद्धि कर दी परन्तु वचनाधिक्यरूप दोषों का उद्भावन तो नहीं किया फिर भी उसे प्रतिवादी का पराजय नहीं कहा जा सकता है जैसा कि आप बौद्ध

- १ पक्षधर्मवदिति पाठ० । (दि० प्र०) २ पक्षधर्मत्ववत्त्वेनाय सपक्षे सत्त्वं, विपक्षादुपावृत्तिश्चेत्यपि ग्राह्यम् । ३ साधर्म्यवैधर्म्येत्येतदुभयस्य । ४ पक्षधर्मत्वं सपक्षे सत्त्वं विपक्षादुपावृत्तिः । (व्या० प्र०) ५ हेतोस्त्रिष्वपि रूपेषु निर्णयस्तेन वर्णितः । असिद्धविपरीतार्थव्यभिचारिविपक्षत इति सौगतेरुक्तत्वात् । (व्या० प्र०) ६ पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहवैयर्थ्यादियथोदितः । ७ कथमयुक्तौ । (दि० प्र०) ८ जयपराजयौ । (दि० प्र०) ९ पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहमफलमेव । (दि० प्र०) १० वादिप्रतिवादिनोर्मध्ये । ११ साधनात् । (दि० प्र०) १२ सुस्थितौ इति पा० । (दि० प्र०) १३ जयपराजयाऽप्रसक्तेः इति पा० । (व्या० प्र०) १४ सौमताण्ड्या निराकरोति जैनः । १५ जैनपक्षयोदाहरणमनर्थकम् । १६ पराजयाय । १७ स्वपक्षसिद्धिविनाशाऽनिमित्तत्वात् । (दि० प्र०) १८ स्वपक्षसिद्धौ जातायाम् । १९ शिष्याभिप्रायवशाद्वा प्रतिपक्षविप्रायवशात्तस्य प्रतिज्ञोदाहरणादि वचनस्य प्रयोगउच्चारणं घटते । एतदेवार्थं स्पष्टयति । तस्य प्रतिपाद्यस्य परिज्ञानलक्षणस्य प्रयोजनस्य सत्त्वमस्ति । (दि० प्र०) २० प्रतिपाद्यविशेषलक्षणं प्रयोजनस्य सत्त्वमस्ति यतः । (दि० प्र०) २१ वादिनोक्तस्य । २२ बौद्धमतपक्षेया प्रतिज्ञोदाहरणादि दोषान्तरम् ।

<sup>1</sup>तस्य पराजयाय प्रकल्प्यते<sup>2</sup>, <sup>3</sup>तत एव । एतेन<sup>4</sup> स्वपक्षसिद्धौ कृतायामपि परपक्षनिराकरणं, तस्मिन्वा<sup>5</sup> स्वपक्षसाधनाभिधानं न वादिप्रतिवादिनोर्जयप्राप्तिप्रतिबन्धकमिति प्रतिपादितं<sup>6</sup> बोद्धव्यम् । तदेवं साधर्म्यवैधर्म्ययोरन्यतरेणार्थगती तदुभयवचनं वादिनो निग्रहाधिकरणमित्य-युक्तं च <sup>7</sup>व्यवस्थितम् ।

[ बौद्धो ब्रूते वादकाले प्रतिज्ञाप्रयोगो निग्रहस्थानं जैनाचार्यास्तत्कथनं निराकुर्वन्ति ]

<sup>8</sup>प्रतिज्ञादिवचनं निग्रहस्थानमित्येतत्कथमयुक्तमिति चेदुच्यते । <sup>9</sup>प्रतिज्ञानुपयोगे<sup>10</sup> <sup>11</sup>शास्त्रा-दिष्वपि<sup>12</sup> नाभिधीयेत, <sup>13</sup>विशेषाभावात् । न हि शास्त्रे प्रतिज्ञा<sup>14</sup> नाभिधीयते एव अनियत-

वचनाधिक्य दोष के अज्ञान से ही पराजय स्वीकार करते हैं । अतः आपकी इस मान्यता से प्रतिवादी का पराजय मानना ठीक नहीं है क्योंकि प्रतिज्ञा, उदाहरणादि स्वपक्ष की सिद्धि में बाधक नहीं है ।

इसी कथन से स्वपक्ष की सिद्धि कर देने पर परपक्ष का निराकरण हो जाता है अथवा परपक्ष का निराकरण हो जाने पर स्वपक्ष सिद्धि का कथन हो जाता है । यह बात वादी और प्रतिवादी के जय का प्रतिबन्धक-बाधक नहीं है ऐसा प्रतिपादन किया गया समझना चाहिये । अर्थात् वादी जब स्वपक्ष सिद्धि करके पक्ष का निराकरण कर देता है तब उसकी जय हो जाती है । अथवा जब प्रतिवादी परपक्ष का निराकरण करके स्वपक्ष की सिद्धि कर देता है तब उसकी जय हो जाती है । इसमें कोई बाधक नहीं है । इस प्रकार से "साधर्म्य-वैधर्म्य इन दोनों में से किसी एक के प्रयोग करने से ही साध्य की सिद्धि हो जाती है अतः दोनों का प्रयोग करना वादी के लिये निग्रह स्थानरूप दोष है" यह कथन युक्त नहीं है ऐसा व्यवस्थित हो जाता है ।

[ बौद्ध कहता है कि वादकाल में प्रतिज्ञा का प्रयोग करना निग्रहस्थान है । जैनाचार्य

इस कथन का निराकरण करते हैं । ]

बौद्ध—प्रतिज्ञा उदाहरण आदि वचन निग्रहस्थान हैं हमारा यह कथन अयुक्त क्यों है ?

जैन—सुनिये ! "यदि प्रतिज्ञा का प्रयोग अनुपयोगी है तब तो शास्त्रादि में भी उसका प्रयोग नहीं करना चाहिये क्योंकि दोनों में कोई अन्तर नहीं है ।" अर्थात् वादकाल और शास्त्र दोनों में कोई अन्तर नहीं है आपके यहाँ शास्त्र में या अनियत—वीतरागकथा में प्रतिज्ञा नहीं कही जाती है

1 प्रतिवादिनः । 2 दोषान्तरानुद्भावनस्य । (दि० प्र०) 3 प्रतिज्ञोदाहरणादिवचनस्य स्वपक्षसिद्धिविधाता-हेतुत्वात् । 4 तेन स्वपक्षसिद्धौ । इति पा० । (दि० प्र०) 5 परपक्षनिराकरणे । 6 प्रतिबन्धकमित्युक्तं बोद्धव्यम् । इति पा० । (व्या० प्र०) प्रतिबन्धकमिति बोद्धव्यम् । इति पा० । (दि० प्र०) 7 न तद्युक्तमिति भाष्योक्तं सुव्यवस्थितम् । 8 परः । निगमन । (दि० प्र०) 9 पूर्वतोऽयमग्निमान् इति । (दि० प्र०) 10 प्राक्तन-समनन्तरभाष्यसामर्थ्यविवरणरूपेण प्रतिज्ञावचनं न दोषावहमित्युक्ता पुनरिदानीमुत्तरभाष्यानुसारेण प्रतिज्ञावचनं दोषावहमित्यत्र द्वयान्तरमुद्भावयन्तीति यावत् । (दि० प्र०) 11 यदि वादे प्रतिज्ञा निरर्थका तदा शास्त्रादिष्वपि न प्रतिपाद्यते । (दि० प्र०) 12 अनियतकथा । (व्या० प्र०) 13 वादशास्त्रयोः । 14 स्याद्वादी । यदि प्रतिज्ञा-नुपयोगिनी अनुपकारिणी भवति तदा शास्त्रकारैः शास्त्रादिष्वपि नाङ्गीक्रियेत । शास्त्रे वादे चोभयत्र विशेषो नास्ति । (दि० प्र०)

<sup>१</sup>कथायां वा<sup>२</sup>, अग्निरत्र धूमात्, वृक्षोयं शिशपात्वादित्यादिवचनानां शास्त्रे<sup>३</sup> दर्शनात्<sup>४</sup>, विरुद्धोयं हेतुरसिद्धोयमित्यादिप्रतिज्ञावचनानामनियतकथायां प्रयोगात्<sup>५</sup> । परानुग्रहप्रवृत्तानां शास्त्रकाराणां प्रतिपाद्यावबोधनाधीनधियां<sup>६</sup> शास्त्रादौ प्रतिज्ञाप्रयोगो युक्तिमानेव, उपयोगित्वा<sup>७</sup> तस्येति<sup>८</sup> चेद्वादेपि सोस्तु, तत्रापि तेषां <sup>९</sup>तादृशत्वात्, <sup>१०</sup>वादेपि <sup>११</sup>विजिगीषुप्रतिपादनायाचार्याणां<sup>१२</sup> प्रवृत्तेः । <sup>१३</sup>नियतकथायां<sup>१४</sup> प्रतिज्ञाया न प्रयोगो युक्तः, <sup>१५</sup>तद्विषय<sup>१६</sup>स्यार्थाद्गम्यमानत्वात्निगमनादिवदिति चेत्तत्<sup>१७</sup> एव <sup>१८</sup>शास्त्रादिष्वपि<sup>१९</sup> । न हि तत्र<sup>२०</sup> जिगीषवो न प्रतिपाद्याः<sup>२१</sup> प्रतिज्ञादिविषयो वा सामर्थ्यान्न गम्यते । <sup>२२</sup>शास्त्रादावजिगीषूणां<sup>२३</sup>मपि प्रतिपाद्यत्वात् प्रतिज्ञादेर-

ऐसा तो है नहीं । “अग्निरत्र धूमात्” “वृक्षोयं शिशपात्वात्” यहाँ अग्नि है क्योंकि धुआँ है, यह वृक्ष है, क्योंकि शिशपा है इत्यादि वचन शास्त्र में पाये जाते हैं और “यह हेतु विरुद्ध है, यह असिद्ध है” इत्यादि प्रतिज्ञा वचनों का अनियत कथा में प्रयोग पाया जाता है ।

बौद्ध—जो परानुग्रह में प्रवृत्त है एवं प्रतिपाद्य-शिष्य को समझाने में जिनकी बुद्धि तत्पर है ऐसे शास्त्रकारों का शास्त्रों में प्रतिज्ञा का प्रयोग करना युक्तिमान् ही है क्योंकि वह उपयोगी है । अर्थात् शिष्यों को ज्ञान करानेरूप कार्य को करने वाला है ।

जैन—यदि ऐसी बात है तो वादकाल में भी उस प्रतिज्ञा का प्रयोग किया जावे । वादकाल में भी आचार्य आदि शास्त्रकार परानुग्रह आदि में प्रवृत्त होते हैं । क्योंकि वाद में भी विजिगीषु-जीतने के इच्छुक जनों को प्रतिपादन करने के लिये ही आचार्यों की प्रवृत्ति होती है ।

बौद्ध—नियत कथा (जल्प-वितंडारूप) में प्रतिज्ञा का प्रयोग युक्त नहीं है क्योंकि उसका विषय अर्थापत्ति से ज्ञान लिया जाता है निगमन आदि के समान ।

जैन—पुनः उसी प्रकार से शास्त्रादि में भी प्रतिज्ञा का प्रयोग युक्त नहीं है क्योंकि शास्त्रादि में विजिगीषु शिष्य नहीं हैं ऐसा तो है नहीं अथवा प्रतिज्ञा आदि का विषय अर्थापत्ति से नहीं जाना जाता है ऐसा भी नहीं है ।

- १ वीतरागकथायाम् । (व्या० प्र०) २ अवादे । नियमरहितायां सर्वैः क्रियमाणायांगोष्ठम् । (दि० प्र०) ३ सौगतः । (दि० प्र०) ४ शास्त्रे प्रतिज्ञाभिधीयते एवेत्यत्रायं हेतुः । ५ अनियतकथायां च प्रतिज्ञाभिधीयते इत्यत्रायं हेतुः । ६ पराधीन । (व्या० प्र०) ७ शिष्यबोधलक्षणकार्यकारित्वात् । (दि० प्र०) ८ प्रतिज्ञाप्रयोगस्याह जैनः तर्हि वादेऽपि सः प्रतिज्ञा प्रयोगो भवतु । तत्रापि वादेपि तेषां वादिनां तादृशत्वात् । प्रतिपाद्यवबोधनाधीनत्वात् । (दि० प्र०) ९ परानुग्रहप्रवृत्तत्वात् । १० तादृशत्वमेव दर्शयति । ११ वादे जिगीषुः । इति पा० (व्या० प्र०, दि० प्र०) प्रतिवादी । (दि० प्र०) १२ प्रतिवादि प्रतिबोधार्थम् । (दि० प्र०) १३ परः प्राह जल्पवितंडारूपायाम् । १४ वादे । (दि० प्र०) १५ प्रतिज्ञावचनम् । (व्या० प्र०) १६ तस्याः प्रतिज्ञाया अर्थोभिप्रायवशाद्गम्यते निष्चीयते । यथा निगमनादिरर्थाद्गम्यते । (दि० प्र०) १७ जैनः । १८ अत्राह स्याद्वादी यत एव तत् एव शास्त्रादिष्वपि प्रतिज्ञाप्रयोगो भाव्यत इत्यनियतकथायां वादे प्रतिज्ञादिनः प्रतिपाद्यान् नहि कोऽर्थः प्रतिवादिन एव शिष्याः । (दि० प्र०) १९ प्रतिज्ञाप्रयोगो न युक्त इति । २० शास्त्रादौ । २१ न केवलं जिगीषूणाम् । (दि० प्र०) २२ सौगतः प्राह । २३ श्रोतृसम्यग्दीनाम् । (दि० प्र०)

प्रयोगे केषाञ्चिन्मन्दधियां प्रकृतार्था<sup>1</sup>प्रतिपत्तेर्गम्यमानस्य<sup>2</sup> विषयस्यापि प्रयोगः, <sup>3</sup>तत्प्रति-  
पत्त्यर्थत्वादिति <sup>4</sup>चेज्जिगीषवः<sup>5</sup> किमु मन्दमतयो न सन्ति ? येन <sup>6</sup>तथा तेषामप्रतिपद्यमानानां  
प्रतिपत्तये प्रतिज्ञादिप्रयोगो न स्यात् । <sup>7</sup>इति विशेषाभावादेव शास्त्रादौ वादे च प्रतिज्ञादेरभि-  
धानभनभिधानं वाभ्युपगन्तव्यमविशेषेणैव । ननु च प्रतिज्ञायाः प्रयोगेपि <sup>8</sup>हेत्वादिवचनमन्तरेण  
साध्याप्रसिद्धेर्व्यर्था प्रतिज्ञा हेत्वादिवचनादेव च साध्यप्रसिद्धेर्निगमनादिकमकिञ्चित्करमेवेति  
<sup>9</sup>कश्चित्सोपि यत्सत्तत्सर्वं क्षणिकं, यथा घटः, संश्व<sup>10</sup> शब्द इति त्रिलक्षणं<sup>11</sup> हेतुमभिधाय<sup>12</sup>  
<sup>13</sup>यदि समर्थयते, कथमिव <sup>14</sup>सन्धामतिशेते<sup>15</sup> ? \* <sup>16</sup>स्वहेतुसमर्थनमन्तरेण <sup>17</sup>तदभिधानेपि

बौद्ध—शास्त्रादि में अजिगीषु-जीतने की इच्छा नहीं रखने वाले भी शिष्यों को समझाया जाता है क्योंकि प्रतिज्ञादि का प्रयोग न करने पर कोई मंदबुद्धि वाले शिष्यों को प्रकृत अर्थ का बोध नहीं भी होगा अतः गम्यमान भी प्रतिज्ञादि का प्रयोग उन मंदबुद्धि शिष्यों को समझाने के लिये किया जाता है ।

जैन—पुनः वादकाल में विजिगीषु क्या मंदमति नहीं हो सकते कि जिससे उसी प्रकार अप्रतिपाद्यमान शिष्यों को बोध कराने के लिये प्रतिज्ञा आदि का प्रयोग न किया जावे ? अर्थात् वहाँ भी किया जाना चाहिये । इसमें कोई भी विशेषता न होने से ही शास्त्रादि और वादकाल इन दोनों में समान रूप से ही प्रतिज्ञादि का प्रयोग करना चाहिये अथवा दोनों में ही नहीं करना चाहिये क्योंकि दोनों ही समान हैं ।

बौद्ध—प्रतिज्ञा का प्रयोग करने पर भी हेतु और दृष्टान्त के प्रयोग के बिना साध्य की सिद्धि नहीं की जा सकती है अतः प्रतिज्ञा व्यर्थ ही है क्योंकि हेतु आदि के प्रयोग से ही साध्य की सिद्धि होती है अतः निगमन आदि अकिञ्चित्कर ही हैं ।

जैन—आप बौद्ध भी “जो सत् है वह सभी क्षणिक है जैसे घट और शब्द सत् है इस प्रकार से त्रिलक्षण वाले हेतु को कहकर यदि समर्थन करते हैं (यदि हेतु के समर्थन के अनन्तर साध्य-साधन की व्याप्ति का समर्थन करते हैं) तब वह हेतु किस प्रकार से प्रतिज्ञा का उल्लंघन

1 प्रारब्धार्थपरिज्ञानात् । (दि० प्र०) साध्यार्थम् । (व्या० प्र०) 2 अर्थाद्गम्यमानस्य प्रतिज्ञादिविषयस्य । 3 तेषां मन्दधियाम् । 4 तर्हि । (दि० प्र०) 5 (जैनः) वादे । 6 यथा शास्त्रादौ मन्दबुद्धिप्रतिपत्त्यर्थं प्रतिज्ञादिप्रयोगः । 7 एवम् । (दि० प्र०) 8 आदिशब्देन दृष्टान्तग्रहः । 9 बौद्धः । 10 उपनयः । (दि० प्र०) 11 पक्षधर्मत्वादि । (व्या० प्र०) 12 पूर्व धर्मिण्यस्तित्वं प्रतिपाद्य । (व्या० प्र०) 13 हेतुसमर्थनानन्तरं यदि साध्यसाधनयोर्व्याप्ति समर्थयते तदा । 14 प्रतिज्ञाम् । 15 न स्वीकरोतीत्यर्थः । प्रतिज्ञावद्धेतुरपि व्यर्थो भवतीत्यर्थः । 16 सहेतुसम-  
र्थनम् इति पा० । (व्या० प्र०) 17 तस्य हेतोः ।



तदर्थप्रतिपत्तेः<sup>१</sup> । <sup>२</sup>तावतार्थप्रतिपत्तौ <sup>३</sup>समर्थनं वा<sup>४</sup> निगमनादिकं<sup>५</sup> \* कथमतिशयीत<sup>६</sup> ?  
अकिञ्चित्करत्वाविशेषात्<sup>७</sup>, यतः<sup>८</sup> पराजयो न भवेत् \*, ताथागतस्य हेत्वाद्यभिधाने <sup>९</sup>तत्समर्थ-  
नाभिधाने वा । <sup>१०</sup>हेत्वाद्यनभिधाने कस्य समर्थनमिति <sup>११</sup>चेत्तथा सन्धाया<sup>१२</sup> अथनभिधाने क्व  
हेत्वादिः<sup>१३</sup> प्रवर्तताम् ? <sup>१४</sup>गम्यमाने <sup>१५</sup>प्रतिज्ञाविषये एवेति<sup>१६</sup> चेद्गम्यमानस्य<sup>१७</sup> हेत्वादेः  
समर्थनमस्तु । गम्यमानस्यापि हेत्वादेर्मन्द<sup>१८</sup>प्रतिपत्त्यर्थं वचनमिति चेत्तथा <sup>१९</sup>सन्धावचने  
कोऽपरितोषः ?

कर सकता है अर्थात् वह हेतु किस प्रकार से प्रतिज्ञा को स्वीकार नहीं करता है ? अन्यथा प्रतिज्ञा  
वत् हेतु भी व्यर्थ हो जावेगा ।”

उस हेतु का कथन करने पर भी यदि उस हेतु का समर्थन नहीं करोगे तो साध्य-अर्थ का ज्ञान  
नहीं होगा । तथा च यदि आप कहें कि—“हेतु मात्र से ही साध्य को प्रतिपत्ति होती  
है तब तो समर्थन भी निगमनादि से अतिशयमान् कैसे हो सकेगा ?” क्योंकि समर्थन और निगमन  
दोनों ही अकिञ्चित्कर होने से समान ही हैं “जिससे कि पराजय न हो सके अर्थात् होगा ही होगा ।”  
आप बौद्ध को हेतु आदि का कथन करना अथवा उसका समर्थन करना दोनों में से किसी एक का  
प्रयोग उचित है । अतः हेतु को न कहकर मात्र समर्थन ही कह देना चाहिये ।

बौद्ध—तब तो हेतु आदि के न कहने पर समर्थन किसका करेंगे ?

जैन—यदि ऐसी बात है तब तो उसी प्रकार से प्रतिज्ञा का प्रयोग किये बिना भी हेतु आदि की  
प्रवृत्ति कहाँ होगी ?

बौद्ध—अर्थापत्ति से प्रकरण आदि के निमित्त से तो प्रतिज्ञा का विषय गम्यमान ही है ।

जैन—उसी प्रकार से गम्यमान हेतु आदि का भी समर्थन हो जावे ।

बौद्ध—यद्यपि हेतु आदि गम्यमान जाने हुए हैं फिर भी मंदमति को समझाने के लिये उनका  
प्रयोग उपयोगी है ।

- १ तस्य हेतोरर्थः साध्यं तस्य निश्चयो न संभवति यतः । (दि० प्र०) २ ओ सौगत साधनमात्रात् । ३ कर्तुं ।  
४ वाणब्दोत्र निगमनस्य समुच्चये न केवलं हेतुरेवेत्यर्थः । ५ निगमनादेः समर्थनं कथमतिशयिष्यदित्यर्थः । ६ कर्म ।  
७ समर्थननिगमनयोः । ८ कुतः । (दि० प्र०) ९ तत्समर्थनानभिधाने वा हेत्वाद्यनभिधाने तत्समर्थनाभिधाने कस्य  
समर्थनमिति चेत् । इति पा० । (दि० प्र०) १० ओ जैन, त्वया हेतुं कथयित्वा यदि समर्थयते तदा दूषणं, परन्तु  
हेत्वाद्यनभिधाने । ११ इतो जैनः । १२ तथा संधा इति पाठः । (दि० प्र०) १३ साध्यः । (दि० प्र०)  
१४ अर्थाद्गम्यमाने । प्रकरणादिवशेनैवेत्यर्थः । १५ लक्षण । (दि० प्र०) १६ हेतुः प्रवर्तते । (दि० प्र०) १७ ननु  
प्रयुक्तस्य । (व्या० प्र०) १८ मन्दमतिप्रतिपत्त्यर्थम् इति पा० । (व्या० प्र०) १९ सन्धा प्रतिज्ञा मर्यादा  
इत्यमरः ।

[ जैनाचार्येण कथितं समर्थनमपि वचनाधिक्यं नामदूषणं भविष्यति न हि बौद्धस्य  
समर्थनस्य समर्थनं कृत्वा तद्दोषं न मन्यते । ]

स्यान्मतं<sup>१</sup>, <sup>२</sup>समर्थनं नाम<sup>३</sup> हेतोः साध्येन <sup>४</sup>व्याप्तिं प्रसाध्य <sup>५</sup>धर्मिणि <sup>६</sup>भावसाधनम्<sup>७</sup> ।  
<sup>८</sup>यथा यत्सत् कृतकं वा तत्सर्वमनित्यं यथा घटादिः, सन् कृतको वा शब्द इति । सन्<sup>९</sup>  
कृतको वा शब्दः, यश्चैवं स सर्वो नश्वरो यथा घटादिरिति वा, <sup>१०</sup>प्रयोगक्रमनियमाभावा-  
दिष्टार्थः<sup>११</sup> सिद्धे<sup>१२</sup> रूभयत्राविशेषात्, प्राक् सत्त्वं धर्मिणि प्रसाध्य साधनस्य पश्चादपि साध्येन

[ जैनाचार्य कहते हैं कि समर्थन भी वचनाधिक्य नामका दूषण ही जाएगा,  
तब बौद्ध समर्थन का समर्थन करके उसको दोष नहीं मानता है । ]

**जैन**—उसी प्रकार से मंदमति को समझाने के लिये ही प्रतिज्ञा का प्रयोग स्वीकार करने में आपको क्या असंतोष है ?

**बौद्ध**—हेतु की साध्य के साथ अविनाभावरूप व्याप्ति को सिद्ध करके धर्मों में हेतु के अस्तित्व को सिद्ध करना ही समर्थन का लक्षण है अर्थात् समर्थन, वचनाधिक्य नाम का दूषण नहीं है क्योंकि समर्थनपक्ष धर्मत्व आदि में अंतर्भूत हो जाता है । यथा जो सत् अथवा कृतक है वह सभी अनित्य है जैसे घटादि । सन् अथवा कृतक शब्द है यह उपनय प्रयोग है या सत् अथवा कृतक शब्द है और जो इस प्रकार है वह सभी नश्वर हैं जैसे घटादि ।

**भावार्थ**—नैयायिकों के यहाँ सोलह पदार्थों में 'निग्रहस्थान' अंतिम पदार्थ माना गया है उस निग्रहस्थान के उनके यहाँ २२ भेद माने हैं । उन २२ भेदों के अंतर्गत ११वें और १२वें निग्रहस्थानों के नाम 'न्यून' और 'अधिक' हैं । यहाँ बौद्ध भी 'वचन अधिक बोलना' इसको निग्रहस्थान कह रहे हैं । इनका कहना है कि अन्वय और व्यतिरेक इन दो के प्रयोग में किसी एक का ही प्रयोग करना उचित है दोनों के प्रयोग करने से निग्रहस्थान नाम का दोष आता है । नैयायिक ने अनुमान के ५ अवयव माने हैं प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन । उनका कहना है कि इन पाँचों में से यदि एक

- १ सौगतस्य समर्थनं निग्रहाय न भवतीति प्राह । २ समर्थनं नाम वचनाधिक्यं नाम दूषणं न भवति यतः समर्थनं पक्षधर्मत्वादावन्तर्भवति । ३ किम् । (व्या० प्र०) ४ साध्यसाधनयोः संबन्धधर्मिणि भावसाधनं समर्थनम् । (दि० प्र०) ५ शब्दादौ । ६ अस्तित्वसाधनम् । ७ हेतोः समर्थनं किमित्युक्ते साध्येन कृत्वा संबन्धं साधयित्वा धर्मिणि पक्षतादौ अग्न्याद्यर्थसाधनं हेतुसमर्थनं ज्ञेयम् । यथा शब्दः पक्षोऽनित्यो भवतीति साध्यो धर्मः । सत्त्वान् कृतकत्वाद्वा । यत्सत् कृतकं वा तत्सर्वमनित्यं यथा घटादिः । सत् कृतको वा शब्द इति उपनयः । अथवा सन् कृतको वा शब्दोयं-यश्चैवं स सर्वोनश्वरो यथा घटादि इति वा प्रतिपादनानुक्रमनियमाभावात् । अभिप्रायार्थः सिद्धयत्युभयत्र पूर्वोक्तप्रकार-योर्द्वयोर्विशेषाभावात् । (दि० प्र०) ८ अथ धर्मिणि भावसाधनपूर्वकं हेतोः साध्येन व्याप्तिं प्रसाधयति । (दि० प्र०) ९ हेतोः समर्थनं किमित्युक्ते स्याद्वाचाह । सौगतमतमाश्रित्य हेतोः समर्थनं प्रपञ्चयति । (दि० प्र०) १० व्याप्ति-प्रसाधनपूर्वकमेव धर्मिण्यस्तित्वप्रसाधनं साधनस्येत्यस्य नियमस्याभावात् । (व्या० प्र०) ११ इष्टः शणिकत्वम् । १२ उदाहरणद्वयनिरूपणप्रकारद्वये ।

<sup>1</sup>व्याप्तिप्रसाधनस्याविरोधात्<sup>2</sup> । <sup>3</sup>व्याप्तिप्रसाधनं पुनर्विपर्यये<sup>4</sup> <sup>5</sup>बाधकप्रमाणोपदर्शनम्<sup>6</sup> ।  
<sup>7</sup>यदि पुनः सर्वं सत्कृतकं वा<sup>8</sup> प्रतिक्षणविनाशि न<sup>9</sup> <sup>10</sup>स्यान्नित्ये क्रमयोगपद्याभ्यामर्थक्रिया-  
विरोधात् । अर्थक्रियासामर्थ्यं <sup>11</sup>सत्त्वलक्षणमतो <sup>12</sup>व्यावृत्तमित्यसदेव<sup>13</sup> <sup>14</sup>तत्स्यात् । <sup>15</sup>सर्वसाम-  
र्थ्योपाख्या<sup>16</sup> विरहलक्षणं हि <sup>17</sup>निरुपाख्यमिति<sup>18</sup> । एवं<sup>19</sup> <sup>20</sup>साधनस्य<sup>21</sup> <sup>22</sup>साध्यविपर्यये बाधक-  
प्रमाणानुपदर्शने<sup>23</sup> <sup>24</sup>विरोधाभावादस्य<sup>25</sup> विपक्षे नित्ये वृत्तेरदर्शनेपि <sup>26</sup>सन् कृतको वा स्यान्नित्य-

भी अवयव नहीं है तो 'न्यून' नाम का निग्रहस्थान हो जावेगा । जैन अनुमान के मुख्य दो अवयव मानते हैं—प्रतिज्ञा और हेतु, क्योंकि आचार्यों का कहना है कि वादकाल में विद्वान् लोग पूर्ण व्युत्पन्न रहते हैं । उनके लिये उदाहरण आदि की आवश्यकता नहीं है किन्तु शास्त्र में शिष्यों को समझाने के लिये जैनाचार्य पाँचों ही अवयवों को मान लेते हैं । किन्तु यहाँ बौद्ध इतना बुद्धिमान् बन रहा है उसका कहना है कि अनुमान के प्रयोग में एक हेतु का ही प्रयोग करना चाहिये प्रतिज्ञा का प्रयोग भी निग्रहस्थान है । जैनाचार्यों ने उसे समझाया कि भाई ! प्रतिज्ञा के प्रयोग बिना मात्र हेतु के प्रयोग से धर्मी में संदेह बना ही रहेगा । तथा च यदि ऐसा ही है तब तुम पक्षधर्मत्व आदि त्रिलक्षण वाले हेतु का प्रयोग करके उसका समर्थन क्यों करते हो वह समर्थन भी वचनाधिक्य दोष से सहित होने से निग्रह-स्थान हो जावेगा । अथवा हेतु और समर्थन इन दो के प्रयोग की अपेक्षा, मात्र समर्थन का ही प्रयोग करो प्रतिज्ञा के समान हेतु का प्रयोग भी न करो तब उसने कहा कि हेतु को कहे बिना समर्थन किसका करेंगे ? पुनः आचार्यों ने भी यही कहा कि प्रतिज्ञा के प्रयोग बिना किसकी सिद्धि के लिए हेतु का प्रयोग होगा ? इत्यादि प्रश्नोत्तर मालिका से यही निष्कर्ष निकलता है कि अनुमान प्रयोग में प्रतिज्ञा का प्रयोग अतिआवश्यक है एवं प्रसंगोपात्त उदाहरण-अन्वय व्यतिरेक उपनय, निगमन इनका प्रयोग भी निग्रहस्थान नहीं होता है ।

1 तनु हेतोः साध्येन व्याप्ति प्रसाध्यधर्मिणि भावसाधनं समर्थनमित्युक्ता यथा यत्सदित्यादिना व्याप्तिमात्रं धर्मिणी भावसाधनं चोक्तं न पुनर्व्याप्ति प्रसाधनमतस्तत्कथमित्या शंकायामाह व्याप्तीति । (दि० प्र०) 2 उभयथा समर्थ-नेपि भाष्यकथनं संघटते इति शेषः । 3 हेतुसमर्थनं प्रतिपाद्य पुनर्व्याप्तेः साधनम् । 4 विपक्षे यथा बौद्धस्य क्षणिकत्वसाधने नित्यम् । 5 सत्त्वस्य । 6 व्यापकानुपलब्धेरिति । 7 एतदेव समर्थयति । 8 अस्तु । (दि० प्र०) 9 तर्हि नित्यं स्यात् नित्यस्य क्रमयोगपद्याभ्यामर्थक्रिया विरुद्धचेत्ते । (दि० प्र०) 10 तदेति शेषः । 11 (अनित्यत्वेनाभिमतत्वं सर्वस्मात्) । 12 व्यावृत्तमतो सदेव । इति पा० । (दि० प्र०) 13 अतः सत्त्वलक्षणार्थक्रियासामर्थ्यं व्यावृत्तान्नित्यमसदेव भवेत् । (दि० प्र०) 14 (सर्वम्) । 15 स्वभाव । (दि० प्र०) 16 सजातीयविजातीयकार्य-कारणसामर्थ्यमुपाख्या स्वभाव इति यावत् । 17 यतः । (दि० प्र०) 18 यदि पुनरित्याद्युक्तप्रकारेण । (दि० प्र०) 19 सति । (दि० प्र०) 20 सत्त्वस्य । 21 स्याद्वादी आह । सत्त्वादिति साधनस्य साध्यं किं क्षणिकं तस्य विपर्यये नित्ये बाधकप्रमाणस्याप्रकाशने विरोधो नास्ति । नित्ये सत्त्वादित्यस्य हेतोः प्रकाशने कृते सति नित्योपि सन् स्यात् कृतको वा स्यादिति संदेहस्य प्रवृत्तिरेव । यत एवं ततोऽन्वये सन्देहो भवतु तथापि व्यतिरेकस्य संदेहोदयं हेतुर्हेत्वाभासयु-स्यात् । (दि० प्र०) 22 नित्ये । 23 सति । 24 विपक्षेण सह साधनस्य । 25 सत्त्वादिति हेतोः । 26 घटादि-पदार्थः ।

श्चेत्यनिवृत्तिरेव शङ्कायाः । ततो<sup>१</sup> व्यतिरेकस्य<sup>२</sup> सन्देहादनैकान्तिको हेत्वाभासः स्यात् । न<sup>३</sup> ह्यदर्शनमात्राद्<sup>४</sup> व्यावृत्तिः<sup>५</sup>, विप्रकृष्टेष्वर्थेष्वसर्वदर्शनोद्दर्शनस्याभावासाधनात्<sup>६</sup>, अर्वाग्दर्शनेन<sup>१०</sup> सतामपि<sup>११</sup> केषाञ्चिदर्थानामदर्शनात् ।<sup>१२</sup> बाधकं<sup>१३</sup> पुनः प्रमाणम् । यस्य क्रमयौगपद्याभ्यां न योगो<sup>१४</sup>, न तस्य<sup>१५</sup> क्वचित्सामर्थ्यम् । अस्ति<sup>१६</sup> चाक्षणिके सः<sup>१७</sup> । इति<sup>१८</sup> अवर्तमानमसामर्थ्यमसल्लक्षणमाकर्षति<sup>१९</sup> । तेन<sup>२०</sup> यत्सत्कृतकं वा तदनित्यमेवेति सिध्यति । तावता<sup>२२</sup> च<sup>२३</sup>

प्रयोग क्रम के नियम का अभाव होने से इष्ट क्षणिकत्व की सिद्धि दोनों जगह समान है । पहले धर्मी में हेतु के सत्त्व को सिद्ध करके पश्चात् हेतु की साध्य के साथ व्याप्ति सिद्ध करने में विरोध नहीं है क्योंकि दोनों प्रकार से समर्थन में भी भाव्य कथन सङ्घटित होता है । हेतु का समर्थन करके पुनः व्याप्ति को सिद्ध करना इसलिये है कि विपर्यय (विपक्ष-बौद्ध के क्षणिकत्व को सिद्ध करने में नित्य यह विपक्ष है) में बाधक प्रमाण को दिखलाना । यदि पुनः सभी सत् अथवा कृतक प्रतिक्षण विनाशी न होवें-नित्य हो जावें, तब तो नित्य में क्रम और युगपत् के द्वारा अर्थक्रिया का विरोध हो जावेगा क्योंकि अर्थक्रिया की सामर्थ्य ही सत्त्व का लक्षण है । अनित्य-रूप से स्वीकृत सभी पदार्थों से यदि वह सत्त्व लक्षण व्यावृत्त हो जावे तब तो वे सभी पदार्थ असत् ही हो जावेंगे पुनः सर्व सामर्थ्य रूप स्वभाव से रहित वस्तु निरुपाख्य-निःस्वभाव ही हो जावेगी ।

जैन—इस प्रकार से सत्त्व हेतु नित्य रूप विपरीत साध्य में नहीं है ऐसा बाधक प्रमाण न दिखाने पर विपक्ष के साथ हेतु के विरोध का अभाव है अर्थात् आपका सत्त्वहेतु विपक्षनित्य से व्यावृत्त नहीं हुआ एवं इन सत्त्वादिक हेतुओं की विपक्षनित्य में वृत्ति नहीं दीखने पर भी ये घट पटादि पदार्थ सत् अथवा कृतक हों और नित्य भी होवें इस प्रकार से शङ्का की निवृत्ति (अभाव) नहीं होगी । अर्थात् नित्य पदार्थ में भी सत्त्व का सद्भाव हो जावेगा अतः नित्य में उस सत्त्व के सद्भाव को दूर करने के लिये बाधक प्रमाण को दिखाना ही चाहिये ऐसा नियम है ।

१ नित्यात् । २ सत्त्वलक्षणसाधनव्यावृत्तिः । ३ सन्देहादनैकान्तिकः । सत्त्वादित्ययं हेतुः । ४ नित्ये सत्त्वकृतकत्वयोरदर्शनमात्रात् । ५ नित्यात्सत्त्वादेः साधनस्य । ६ आह सौगतो नित्ये सत्त्वं न दृश्यतेऽतोद्दर्शनमात्रात् सत्त्वादिति साधनस्य नित्ये निवृत्तिरेव । स्याद्वाच्यं नहि । कुतोऽस्मदादेः छयात्स्यादर्शनमात्रं देशकालस्वभावविप्रकृष्टेष्वर्थेष्वभावं न साधयति यतः । (दि० प्र०) ७ परमाण्वादिवृत्तिः । (व्या० प्र०) ८ किञ्चिज्ज्ञस्यादर्शनं नित्ये सत्त्वाभावं न साधयति यतः । ९ पूर्वभाग्दर्शना नरेण । १० असर्वदर्शनेन । (दि० प्र०) ११ विप्रकृष्टानाम् । १२ बाधकप्रमाणेन शङ्काया निवृत्तिः कृत इत्याशङ्क्यामाह । १३ नित्यवस्तुनः । १४ योगः संवन्धः । (दि० प्र०) १५ साध्यधर्मो कार्यः । १६ नित्यः पक्षः सत्त्वं न भवतीति साध्यो धर्मः क्रमयौगपद्याभ्यां तस्यायोगात् । (दि० प्र०) १७ क्रमयौगपद्यायोगः । १८ अर्थक्रियाकरणासामर्थ्यम् । १९ नित्ये । २० कारणेन । (दि० प्र०) २१ विपक्षे बाधकप्रमाणमात्रेणैव । २२ विपर्यये बाधकप्रमाणोपदर्शनेन । (दि० प्र०) २३ विपक्षे बाधकप्रमाणमात्रेणैव साधनधर्मे सति नियमेन साध्यधर्मस्य सद्भावः स्वभावहेतुलक्षणं भवति । कार्यहेतोस्तु वक्ष्यमाणप्रकारेण । अन्यथा-साध्यधर्मस्य साधर्म्यमात्रान्वयसाधनादि धर्मस्यासाधारणं लक्षणं भवतीत्यर्थः । (दि० प्र०)

साधनधर्ममात्रान्वयः<sup>१</sup> २साध्यधर्मस्य ३स्वभावहेतुलक्षणं सिद्धं भवति । ४अत्राप्य<sup>५</sup>दर्शनम<sup>६</sup>-  
प्रमाणं<sup>७</sup> यतः ८क्रमयोगपद्यायोगस्यैवासा<sup>९</sup>मर्थ्येन<sup>१०</sup> व्याप्त्यसिद्धेः पूर्वस्यापि हेतोः सत्त्वादेन<sup>११</sup>  
व्याप्तिसिद्धिः । १२पुनरिहापि १३साधनोपगमेनवस्थाप्रसङ्ग<sup>१४</sup> इति न चोद्यम्<sup>१५</sup>, इष्टस्याभाव-  
१६साधनस्यादर्शनस्य १७प्रमाणत्वाप्रतिषेधात् । १८यददर्शनं<sup>१९</sup> २०विपर्ययं साधयति हेतोः<sup>२१</sup> २२साध्य-  
विपर्यये २३तदपि २४विरुद्धप्रत्युपस्थानाद्बाधकं<sup>२५</sup> प्रमाणमुच्यते । २६एवं हि स हेतुः<sup>२७</sup> साध्याभावेऽसन्

पुनः नित्यरूप पदार्थ से सत्त्व लक्षण हेतु की व्यावृत्ति में संदेह होने से अत्र का 'सत्त्वात्' यह हेतु अनैकान्तिक हेत्वाभास हो जावेगा क्योंकि नित्य पदार्थ में सत्त्व अथवा कृतकत्व के अदर्शनमात्र-न दिखने मात्र से ही उस नित्य से सत्त्वादि हेतु की व्यावृत्ति नहीं हो सकती है । अर्थात् जैन कहते हैं कि आप बौद्धों ने 'सत्त्वात्' हेतु का साध्य क्षणिक माना है । पुनः क्षणिक से विपरीत नित्य साध्य में बाधक प्रमाण को नहीं दिखाया है इसलिये 'सत्त्वात्' हेतु से नित्य को साध्य करने में विरोध नहीं आता है । नित्य में सत्त्व हेतु को प्रकाशित करने पर नित्य में भी ये नित्य पदार्थ सत् हो सकते हैं या कृतक हो सकते हैं इस प्रकार से संदेह बना ही रहेगा और तब व्यतिरेक के संदेह से यह हेतु हेत्वाभास ही हो जावेगा ।

विप्रकृष्ट पदार्थ असंबंधी—अल्पज्ञ को नहीं दिखते हैं अतः न दिखने मात्र से उनका अभाव नहीं हो सकता है । यथा पूर्व भाग को देखने वाले मनुष्य ने पश्चिम भाग नहीं देखा है तो भी वह पश्चिम-भाग विद्यमान है उसी प्रकार से कोई पदार्थ विद्यमान होते हुये भी दीखते नहीं हैं । इतनेमात्र से उनका अभाव सिद्ध नहीं कर सकते हैं ।

बौद्ध — नित्य वस्तु में बाधक प्रमाण विद्यमान है, यथा जिसमें क्रम या युगपद् से अर्थक्रिया नहीं है उसकी कहीं भी साध्य रूप कार्य में सामर्थ्य नहीं है अर्थात् जिसमें क्रम अथवा युगपद् से अर्थक्रिया नहीं हो सकती है वह कहीं पर भी साध्य की कोटि में नहीं रखा जा सकता है और अक्षणिक-नित्य में क्रम एवं युगपद् का अभाव है इस प्रकार प्रवर्तमान असामर्थ्य (अर्थ क्रिया का न करना) नित्य में

- १ मात्रणशब्दः कान्त्स्वर्थः । यावन्तः साधन (सत्त्व) धर्मास्तावत्सुसाध्यधर्मस्यान्वय इत्यर्थः । २ क्षणिकत्वस्य । ३ सत्त्वादिति । ४ बाधकप्रमाणेपि । ५ तत्रापि इति पा० । (दि० प्र०) ननु सौगतः । (दि० प्र०) ६ नित्ये विपक्षे । क्रमयोगपद्ययोगस्य । पक्षप्रत्यक्षात् सत्त्वं क्षणिकं न दृश्यते तथाऽदर्शनात् सत्त्वं क्षणिकं न दृश्यते तस्माददर्शनं प्रमाणं न । (दि० प्र०) ७ सौगतस्य । (दि० प्र०) ८ क्रमयोगपद्याभ्यामर्थ्यैवानामर्थ्येन । इति पा० । (दि० प्र०) ९ सत्त्वकृतकत्वादेः । १० असत्त्वत्वक्षणेन । (दि० प्र०) ११ अनित्येन । (दि० प्र०) १२ साधनस्यानुपलब्धिसाधनं सौगतस्याप्रमाणम् । १३ साधनोपगमे इति वा पाठः । १४ स्याद्वादी । (दि० प्र०) १५ सौगतो वक्ति इति न चोद्यमित्यादि । १६ दृश्यानुपलब्धिलक्षणस्य । १७ ता । (दि० प्र०) १८ प्रमाणत्वाप्रतिषेधमेव दर्शयति । १९ नित्ये क्रमयोगपद्ययोगस्यादर्शनम् । २० दृश्यविपर्ययत्वम् (क्षणिकम्) । २१ क्रमयोगपद्यायोगलक्षणस्य । २२ साध्यस्य असामर्थ्यस्य विपर्यये सामर्थ्ये सत्त्वक्षणे । २३ एवमपि । (दि० प्र०) २४ क्रमयोगपद्यायोगेन विरुद्धः क्रमयोगपद्ययोगः । २५ क्षणिके । (दि० प्र०) २६ अदर्शनस्य विपक्षे बाधकप्रमाणत्वप्रतिपादन-प्रकारेण । २७ नित्यमर्थक्रियाकारि न भवति, क्रमयोगपद्यायोगादित्यर्थं हेतुः साध्यस्य असामर्थ्यस्य अभावे क्षणिक स्वरूपेण ।

सिध्येद्यदि तत्र<sup>1</sup> प्रमाणवता स्वविरुद्धेन<sup>2</sup> <sup>3</sup>बाध्येत । <sup>4</sup>अन्यथा <sup>5</sup>तत्रास्य<sup>6</sup> बाधकासिद्धौ संशयो दुर्निवारः । न च <sup>7</sup>सर्वानुपलब्धिर्भावस्य<sup>8</sup> बाधिका, दृश्यानुपलब्धेरेव तद्बाधकत्वात्<sup>9</sup> । <sup>10</sup>तत्र <sup>11</sup>सामर्थ्यं <sup>12</sup>क्रमाक्रमयोगेन<sup>13</sup> व्याप्तं सिद्धं, प्रकारान्तरासंभवात् । तेन<sup>14</sup> <sup>15</sup>व्यापकधर्मानुपलब्धि-  
रक्षणिके सामर्थ्यं बाधत इति क्रमयोगपद्यायोगस्य सामर्थ्याभावेन व्याप्तिसिद्धेन निवस्थाप्रसङ्ग  
इति <sup>16</sup>स्वभावहेतोः समर्थनम्<sup>17</sup> । <sup>18</sup>कार्यहेतोरपि, यत्कार्यं लिङ्गं कारणसाधनायोपादीयते

असत् लक्षण को आकर्षित करता है अर्थात् नित्य में अर्थक्रिया क्रम से अथवा युगपत् संभव नहीं है अतः नित्य पदार्थ सत् रूप सिद्ध न होकर असत् रूप ही सिद्ध होते हैं । इसीलिये जो सत् अथवा कृतक है वह अनित्य ही है ऐसा सिद्ध हो जाता है उतने मात्र से-विपक्ष में बाधक प्रमाण मात्र से ही साधन धर्ममात्र का अन्वय साध्यधर्म-क्षणिकत्व में स्वभावहेतुलक्षण को सिद्ध करता है अर्थात् क्षणिकत्व ही वस्तु का स्वभाव है यह बात सिद्ध हो जाती है । यहाँ बाधक प्रमाण में भी अदर्शन अप्रमाण है क्योंकि उसमें क्रम एवं युगपत् का अभाव है अतः सामर्थ्य के अभाव में व्याप्ति की सिद्धि न होने से पूर्व के भी सत्त्वादि हेतु की व्याप्ति सिद्ध नहीं है ।

पुनः यहाँ भी साधन को स्वीकार करने पर अनवस्था का प्रसंग आता है ऐसा कहना भी उचित नहीं है क्योंकि दृष्टरूप अभाव हेतु जो कि दृश्यानुपलब्धि रूप अदर्शन है उसके प्रमाणत्व का निषेध नहीं है । जो नित्य में क्रम अथवा युगपत् से अर्थक्रिया का न होना है वह न होना ही विपर्यय-क्षणिक को सिद्ध करता है । वह भी विरुद्ध का प्रत्युपस्थान न करने से बाधक प्रमाण कहा जाता है । इस प्रकार अदर्शन का विपक्ष में बाधक प्रमाण है ऐसा प्रतिपादन करने से वह हेतु साध्य के अभाव में यदि असत् रूप सिद्ध होता है अर्थात् नित्य पदार्थ अर्थक्रियाकारी नहीं है क्योंकि क्रम अथवा युगपत् का उनमें अभाव है यदि यह हेतु साध्य के अभाव में असत् सिद्ध होवे तब वह क्षणिक में प्रमाण वाले स्वविरुद्ध क्रम-युगपद् के योग से बाधित होवे, अन्यथा उस क्षणिक में यदि यह हेतु बाधक सिद्ध नहीं होता है तो संशय का निवारण करना कठिन ही है क्योंकि सभी अनुपलब्धियाँ भाव-सत्त्व की बाधक नहीं हैं, किन्तु दृश्यानुपलब्धि ही बाधक है और उस दृश्यानुपलब्धि से अस्तित्व में बाधा सिद्ध होने पर अर्थक्रियाकारित्वलक्षण सामर्थ्य की क्रम-युगपद् के साथ व्याप्ति सिद्ध है क्योंकि प्रकारांतर का

1 क्षणिके । 2 क्रमयोगपद्यायोगेन । 3 गभीकृतादृश्यानुपलब्ध्यप्रमाणपक्षोऽयं तत्र दृश्यानुपलब्धिपक्षे प्रमाणान्तरान्वेषणं स्यात्तदा चानवस्था प्रसंगस्तस्मादृश्यानुपलब्धिरेषा । (दि० प्र०) 4 अन्यथाहेतुः साध्याभावेऽसत् स्वविरुद्धेन प्रमाणेन यदि न विरुद्धयते तदा तत्र विपर्यये बाधकप्रमाणोपदर्शने हेतोः बाधकासिद्धौ सत्त्वा संशयो दुर्निषेधः स्यात् । पुनराह सौगतः नित्ये सत्त्वं नास्त्येवेति असत्लक्षणसत्त्वस्य बाधकं प्रमाणं कथं न कथमपि । (दि० प्र०) 5 क्षणिके । 6 हेतोः । (दि० प्र०) 7 अदृश्य । (दि० प्र०) 8 सत्त्वस्य । 9 भावः । (दि० प्र०) 10 दृश्यानुपलब्धेरेव तद्बाधकत्वे सति । 11 अर्थक्रियाकारित्वलक्षणम् । 12 अक्रमो योगपद्यम् । 13 व्यापकेन । (दि० प्र०) 14 कारणेन । (व्या० प्र०) 15 तेन कारणेनार्थस्य क्रमयोगपद्यलक्षणव्यापकधर्मानुपलम्भः नित्ये सत्त्वं बाधते । एवं सत्त्वाभावेन क्रमयोगपद्याभावो व्याप्त इति सिद्धयति । (दि० प्र०) 16 सत्त्वादित्यादेः । 17 स्यात् । (दि० प्र०) 18 इदं वक्ष्यमाणं समर्थनम् ।

तस्य<sup>१</sup> तेन कार्यकारणभावप्रदर्शनं<sup>२</sup> <sup>३</sup>प्रमाणाभ्याम्<sup>४</sup> । यथेदमस्मिन् सति भवति सत्स्वपि<sup>५</sup>  
 तदन्येषु समर्थेषु तद्धेतुषु<sup>६</sup>, <sup>७</sup>तदभावे न भवतीति । एवं <sup>८</sup>ह्यस्यासन्दिग्धं <sup>९</sup>तत्कार्यत्वं समर्थितं  
 भवति<sup>१०</sup> । <sup>११</sup>अन्यथा केवलं <sup>१२</sup>तदभावे न भवतीत्युपदर्शनेऽन्यस्यापि<sup>१३</sup> तत्राभावे<sup>१४</sup> सन्दिग्धमस्य<sup>१५</sup>  
 सामर्थ्यं स्यात्<sup>१६</sup>, <sup>१७</sup>अन्यत्तत्र<sup>१८</sup> समर्थं, <sup>१९</sup>तदभावे<sup>२०</sup> तत्र<sup>२१</sup> भूतमिति शङ्कायाः प्रतिनिवृत्त्य-  
 भावात् । <sup>२२</sup>एतन्निवृत्तौ <sup>२३</sup>पुनर्निवृत्तौ<sup>२४</sup> <sup>२५</sup>यदृच्छासंवादो <sup>२६</sup>मातृविवाहोचितदेशजन्मनः पिण्ड-

अभाव है । इसीलिए व्यापक धर्म की अनुपलब्धि ही नित्य में अर्थक्रियाकारित्वलक्षण सामर्थ्य को  
 बाधित करती है अर्थात् जहाँ पर क्रम अथवा युगपत् का अभाव है वहाँ पर अर्थक्रियाकारित्वलक्षण  
 सामर्थ्य भी नहीं है ।

इस प्रकार से क्रम और युगपत् के अभाव की अर्थक्रिया के अभाव के साथ व्याप्ति सिद्ध है अतः  
 अनवस्था दोष का प्रसङ्ग नहीं आता है । इस प्रकार से सत्त्व आदि हेतु स्वभाव हेतु हैं इस बात का  
 समर्थन कर दिया है एवं कार्यहेतु का भी समर्थन सिद्ध है । जो कार्यहेतु कारण को सिद्ध करने के  
 लिये ग्रहण किया जाता है उसका उसके साथ अन्वय-व्यतिरेकरूप प्रमाण के द्वारा कार्यकारणभाव  
 दिखलाना ही कार्यहेतु है जैसे कि जो धूमहेतु जिस अग्नि के होने पर होता है और उस अग्नि से  
 भिन्न अन्य समर्थ पवन ईंधन आदि हेतुओं के होने पर भी उस अग्नि के अभाव में नहीं होता है ।  
 इसी प्रकार से इस धूम को संदेहरहित अग्नि का कार्यपना समर्थित होता है, अन्यथा मूल कारण  
 (अग्नि) के अभाव धूम नहीं होता है इस प्रकार केवलव्यतिरेक को कहने पर अन्य भी पवन ईंधन  
 आदि सहकारीकारण को भी उस धूमकार्य की उत्पत्ति में कारण मानना पड़ेगा एवं संदेह बना  
 ही रहेगा ।

“अन्य पवनादि कारण उस धूम आदि कार्य की उत्पत्ति में समर्थ है क्योंकि पवनादि के अभाव  
 में वह धूम लक्षण कार्य नहीं होता है ।” इस शङ्का का अभाव नहीं हो सकेगा एवं शङ्का की निवृत्ति  
 हो जाने पर अर्थात् अग्नि के अभाव में धूम का अभाव प्रतीत ही है अग्नि में ही धूम रूप कार्य को

- १ कारणस्य । (दि० प्र०) २ इदमस्मिन्नित्यादिनोक्तान्वयव्यतिरेकलक्षणभावाभावप्रमाणाभ्यां कृत्वा कारणस्य  
 कार्येण सह कार्यकारणत्वप्रकाशनं यत् । तत्कार्यहेतोः समर्थनं भवति । (दि० प्र०) ३ अन्वयव्यतिरेकाभ्याम् ।  
 ४ प्रत्यक्षामुपलंभाभ्यां तयोः कार्यकारणभावत्वं सिद्धयति । (दि० प्र०) ५ अन्यन्येषु पवनेन्धनादिषु । ६ धूमहेतुषु ।  
 ७ वन्धभावे । ८ कार्यहेतोः । (दि० प्र०) ९ वह्निकार्यत्वम् । १० कारणस्य । (दि० प्र०) ११ अन्वयाभावे ।  
 १२ मूलकारणा (वह्नि) भावे । १३ सहकारिकारणस्य पवनेन्धनादेः । १४ कार्योत्पत्तौ । १५ विवक्षितकारणस्य  
 वह्नेः । १६ कारणम् । (दि० प्र०) १७ पवनादिकारणम् । १८ धूमरूपकार्योत्पत्तौ । १९ पवनाद्यभावे ।  
 २० तदभावात् इति पा० । (दि० प्र०) २१ धूमलक्षणं कार्यम् । २२ अन्यभावे धूमनिवृत्तेः प्रतीयमानत्वादग्नेरेव तत्र  
 धूमकार्यजनने सामर्थ्यं न त्वन्यस्येत्याशङ्क्यामाह । २३ कार्यस्य । २४ पुनर्निवृत्तिः इति पा० । (दि० प्र०) एतस्या-  
 भावे पुनरभावे पुनरभावः । अयं यदृच्छासंवाद उच्यते । स च दृष्टान्तेन दाढ्यते । (दि० प्र०) २५ भा । (दि० प्र०)  
 २६ मातृविवाह उचितो यत्र ।

खर्जूरस्य देशान्तरेषु <sup>1</sup>मातृविवाहाभावेऽभाववत्<sup>2</sup> । <sup>3</sup>एवं <sup>4</sup>समर्थितं तस्य<sup>5</sup> कार्यं<sup>6</sup> सिध्यति ।  
 सिद्ध<sup>7</sup> स्वसंभवेन<sup>8</sup> तत्संभव<sup>9</sup> साधयति, कार्यस्य कारणाव्यभिचारात् । <sup>10</sup>अव्यभिचारि<sup>11</sup> च  
<sup>12</sup>स्वकारणैः सर्वकार्याणां <sup>13</sup>सदृशो न्यायः <sup>14</sup>इति । <sup>15</sup>अनुपलब्धेरपि समर्थनं, <sup>16</sup>प्रतिपत्तुरुप-  
<sup>17</sup>लब्धिलक्षणप्राप्तस्यानुपलब्धिसाधनं<sup>18</sup>, <sup>19</sup>तादृशस्यैवानुपलब्धेरसद्व्यवहारसिद्धेः<sup>20</sup>, अनुपलब्धि-  
 लक्षणप्राप्तस्य<sup>21</sup> प्रतिपत्तुः<sup>22</sup> <sup>23</sup>प्रत्यक्षोपलब्धिनिवृत्तावप्यभावसिद्धेः । <sup>24</sup>तत्रोपलब्धिलक्षणप्राप्तिः  
<sup>25</sup>स्वभावविशेषः <sup>26</sup>कारणान्तरसाकल्यं च स्वभावविशेषः । <sup>27</sup>यन्न त्रिविधेन<sup>28</sup> विप्रकर्षेण

उत्पन्न करने की सामर्थ्य है अन्य में नहीं इस प्रकार से शङ्का का अभाव हो जाने पर पुनः यदृच्छा  
 संवाद की भी निवृत्ति हो जाती है जैसे 'मातृविवाहोचित देश में उत्पन्न होने वाले पिण्डखर्जूर का  
 देशान्तर में मातृविवाह के अभाव में अभाव है' यह यदृच्छासंवाद है उसका भी अभाव हो जाता है ।

इस प्रकार अन्वय व्यतिरेक से समर्थित उस अग्निरूप कारण का कार्य धूम है यह सिद्ध हो  
 जाता है । धूम अग्नि से उत्पन्न सिद्ध होकर ही अग्नि के सदभाव को सिद्ध करता है क्योंकि कार्य  
 कभी भी अपने कारण को व्यभिचारित नहीं करता है अतः सभी कार्यों का अपने-अपने कारणों से  
 अव्यभिचारीपना है इसमें अन्वय व्यतिरेक ही न्याय है अर्थात् सभी कार्यों का अपने-अपने कारणों  
 के साथ अन्वय व्यतिरेक पाया जाता है । इस प्रकार से कार्यहेतु का समर्थन कर दिया गया है ।

पुनः अनुपलब्धि हेतु का समर्थन करते हैं—

प्रतिपत्ता—ज्ञाता पुरुष को उपलब्धिलक्षणप्राप्त पदार्थ में ही अनुपलब्धि हेतु होता है क्योंकि  
 उपलब्धिलक्षणप्राप्त पदार्थ की ही अनुपलब्धि होने से उसी में ही 'असत्' यह व्यवहार सिद्ध है क्योंकि  
 अनुपलब्धिलक्षण प्राप्त परमाणु पिशाचादि जो अदृश्य पदार्थ हैं उनको ज्ञाता पुरुष प्रत्यक्ष से उप-  
 लब्ध नहीं कर सकते फिर भी उन पदार्थों का अभाव नहीं कहा जा सकता है अर्थात् परमाणु आदि

- १ देशान्तरस्वमातृविवाह इति पा० । (दि० प्र०) २ इति यदृच्छासंवादः । ३ अन्वयव्यतिरेकरूपेण । ४ कार्यम् ।  
 (दि० प्र०) ५ अग्नेः कारणस्य । ६ सत् । (दि० प्र०) ७ सिद्धयति स्वसंभवे न इति पा० । (दि० प्र०) ८ विद्यमान-  
 त्वेन । (दि० प्र०) ९ विवक्षितकारणस्य । (दि० प्र०) १० अव्यभिचारोपि सर्वत्र कार्यकारणे कथमित्युक्ते आह ।  
 ११ अविनाभावे । (दि० प्र०) १२ सर्वकार्याणां स्वकारणैरव्यभिचारे सति न्यायः सदृशस्तन्तुभ्यः घट उत्पद्यते मृदो  
 घट उत्पद्यते इति मुक्तम् । (दि० प्र०) १३ अन्वयव्यतिरेकाभ्यामेवेत्यर्थः । १४ इति कार्यहेतुसमर्थनम् । १५ हेतोः ।  
 १६ पुरुषस्य प्राप्ति स्वभावविशेषस्य घटादेर्वस्तुनोऽनुपलब्धिसाधनं घटते । (दि० प्र०) १७ संबन्धिनः । (दि० प्र०)  
 १८ वस्तुनः । अनुपलब्धेरिति साधनस्योपलब्धिलक्षणप्राप्त्यानुपलब्धित्वसाधनम् । (दि० प्र०) १९ उपलब्धिलक्षण-  
 प्राप्तस्यानुपलब्धिर्घटते । उपलब्धिलक्षणप्राप्तस्यैव घटादेरनुपलब्धिनामहेतोः सकाशादभावो व्यवहारः सिद्धयति ।  
 (दि० प्र०) २० सकाशात् । (दि० प्र०) २१ परमाण्वादेरदृश्यस्य । २२ प्रतिपत् इति पा० । (व्या० प्र०)  
 २३ लक्षण । (व्या० प्र०) २४ एवं सति । (व्या० प्र०) २५ उपलब्धिलक्षणप्राप्तस्य वस्तुनः स्वरूपम् । २६ कारणान्तरं  
 बक्षुरादि । २७ वस्तु । (व्या० प्र०) २८ देशकालस्वभावभेदात् ।



विप्रकृष्टं<sup>१</sup> यदनात्म<sup>२</sup>रूपप्रतिभासविवेकेन<sup>३</sup> प्रतिपत्तृप्रत्यक्षप्रतिभासिरूपं स<sup>४</sup> तादृशः<sup>५</sup>  
 सत्स्वन्येषूपलम्भकारणेषु<sup>६</sup> तथानुपलब्धोऽसद्व्यवहारविषयः<sup>७</sup> । ततोऽन्यथा<sup>८</sup> सति<sup>९</sup> लिङ्गे<sup>१०</sup>  
 संशयः ।<sup>११</sup> अत्रापि<sup>१२</sup> सर्वमेवंविधमसद्व्यवहारविषयः<sup>१३</sup> इति व्याप्तिः—<sup>१४</sup> कस्यविद<sup>१५</sup> सतो<sup>१६</sup>  
 भ्युपगमेऽस्यस्य<sup>१७</sup> तल्लक्षणाविशेषात् । न<sup>१८</sup> ह्येवंविधस्यासत्त्वानभ्युपगमेऽस्य<sup>१९</sup> तस्य<sup>२०</sup> यागः ।  
 न<sup>२१</sup> ह्येवंविधस्य<sup>२२</sup> सतः सत्स्वन्येषूपलम्भकारणेष्वनुपलब्धिः<sup>२३</sup> । अनुपलभ्यमानं त्वीदृशं<sup>२४</sup>

अदृश्य पदार्थों को कोई भी ज्ञाता प्रत्यक्ष से उपलब्ध कर ही नहीं सकता है। अतएव उनका अभाव भी नहीं किया जा सकता है क्योंकि जो पदार्थ प्राप्त करने योग्य हैं उन्हीं का सद्भाव या अभाव करना शक्य है अर्थात् अनुपलब्धि के दो भेद हैं (१) उपलब्धिलक्षणप्राप्त की अनुपलब्धि (२) अनुपलब्धिलक्षणप्राप्त की अनुपलब्धि। इनके दूसरे नाम हैं दृश्यानुपलब्धि और अदृश्यानुपलब्धि। जो पदार्थ दिखने योग्य हैं जैसे घट-पट आदि पदार्थ, यदि ये पदार्थ उपलब्ध न हों तो उनका अभाव बतलाना दृश्यानुपलब्धि है। जो पदार्थ दिखने योग्य नहीं हैं जैसे परमाणु अथवा भूत पिशाचादि ये पदार्थ दिखने योग्य नहीं हैं अतः इनका अभाव कहना अदृश्यानुपलब्धि है। वहाँ उपलब्धिलक्षण-प्राप्तिरूप स्वभाव विशेष और कारणान्तर-चक्षु आदि की सकलता रूप स्वभाव विशेष हैं।

जो तीन प्रकार के विप्रकृष्ट (देश, काल, स्वभाव) से परोक्ष नहीं हैं। जो अनात्मरूप प्रतिभास से रहित होने से ज्ञाता के प्रत्यक्ष में प्रतिभासित होने योग्य है वह उस प्रकार है। एवं चक्षु आदि अन्य उपलम्भ कारण के होने पर भी जो उस प्रकार से अनुपलब्ध है। तीन प्रकार के परोक्ष स्वभाव से परोक्ष रूप नहीं है एवं अन्यरूप प्रतिभास से रहित होने से प्रतिपत्ता—ज्ञाता को प्रत्यक्ष रूप से प्रतिभासने योग्य हैं। इसी अनुपलब्धि के विषयभूत पदार्थ में “असत्” व्यवहार होता है।

उस दृश्यानुपलब्धि से भिन्न अदृश्यानुपलब्धि से भिन्न अदृश्यानुपलब्धि को हेतु बनाने में संशय पाया जाता है और इसीलिये इस अनुपलब्धि हेतु में भी “सभी वस्तु इस दृश्यानुपलब्धिरूप हैं और उसमें ही “असत्” व्यवहारविषयक व्याप्ति देखना चाहिये।

यहाँ किसी का कहना है कि अनुपलब्ध-अदृश्यानुपलब्धि रूप पदार्थ में ही ‘असत्’ व्यवहार हो

१ एतदर्थः क इत्युक्ते आह । २ अनात्मा अन्यपदार्थः । ३ अष्टव्यावृत्तिर्घट इति । ४ राहित्येन ।  
 ५ उपलब्धिलक्षणप्राप्तिरूपः स्वभावविशेषः कारणान्तरसाकल्यं च स्वभावविशेष इत्यर्थः । ६ चक्षुरादिषु ।  
 ७ विविधेन विप्रकर्षेण विप्रकृष्टत्वप्रकारेण, अनात्मरूपप्रतिभासविवेकेन प्रतिपत्तृप्रत्यक्षप्रतिभासित्वप्रकारेण चानुप-  
 लब्धः । ८ अनुपलब्धिविषयः । ९ उपलब्धिलक्षणप्राप्तस्यानुपलब्धेः सकाशात् । १० अनुपलब्धिलक्षणप्राप्तस्यानुप-  
 लम्भप्रकारेण । ११ अनुपलब्धिलक्षणे । १२ न केवलं सत्त्वादिलक्षणे । १३ वस्तु । १४ उपलब्धिलक्षणप्राप्तस्यानु-  
 पलम्भरूपम् । १५ द्रष्टव्या । १६ ननु अनुपलब्धस्यैवासद्व्यवहारहेतुत्वात् कथमुपलब्धिलक्षणप्राप्तस्य तत्सङ्गतमित्या-  
 शङ्क्य व्याप्तिं समर्थयति । १७ शशविषाणादेः । १८ सर्वदा । १९ घटादेः । २० उपलब्धिलक्षणप्राप्तियोग्यः शशो  
 विषाणं च । २१ उपलब्धिलक्षणप्राप्तस्य । २२ असद्व्यवहारस्य । २३ शशविषाणे । २४ उपलब्धिलक्षणप्राप्तस्य  
 शशविषाणादेः । २५ किन्तूपलब्धिरेव । २६ उपलब्धिलक्षणप्राप्तम् । (व्या० प्र०)

<sup>1</sup>नास्तीत्येतावन्मात्रनिमित्तोयमसद्व्यवहारः, <sup>2</sup>अन्यस्य <sup>3</sup>तन्निमित्तस्याभावादिति । तच्चैवं <sup>4</sup>त्रिविधस्य हेतुः समर्थनं न उपान्तर्ह, <sup>5</sup>विपक्षव्यावृत्तिरूपत्वात्, <sup>6</sup>तृतीयस्यैव <sup>7</sup>रूपस्यासपक्षा-  
<sup>8</sup>सत्त्वलक्षणस्यैव <sup>9</sup>प्रतिपादनात् । <sup>11</sup>तदवचने <sup>12</sup>साधनाङ्गस्य <sup>13</sup>त्रिरूपलिङ्गस्यावचनादसा-  
धनाङ्गवचनं निग्रहाधिकरणं प्रसज्येत । निगमनादेस्तु हेतुरूपातिरिक्त <sup>14</sup>त्वादभिधानमनर्थकं,  
<sup>15</sup>त्रिरूपहेतुना साध्यार्थप्रतिपत्तेर्विहितत्वात् । ततो निगमनादीनतिशेते <sup>16</sup>एव <sup>17</sup>समर्थनमिति ।

सकता है । उपलब्धिलक्षणप्राप्त-दृश्यानुपलब्धि में 'असत्' शब्द का व्यवहार नहीं हो सकता है ऐसी आशंका होने पर व्याप्ति का समर्थन करते हैं ।

यदि कदाचित् अदृश्यानुपलब्धि रूप असत् (शश विषाण आदि में) सर्वदा असत् व्यवहार स्वीकार करने पर तो दृश्यानुपलब्धिरूप अन्य घटादि पदार्थ में भी असत् व्यवहार मानना पड़ेगा क्योंकि दोनों का लक्षण समान ही है । एवंविध-उपलब्धिलक्षणप्राप्त का असत्त्व स्वीकार न करने पर अन्यत्र शश विषाण में भी 'असत्' व्यवहार का योग नहीं होगा ।

एवंविध-उपलब्धिलक्षणप्राप्त शश विषाण आदि सत् की अन्य उपलब्ध कारण के होने पर अनुपलब्धि नहीं है किन्तु उपलब्धि ही है क्योंकि अनुपलब्ध्यमान पदार्थ इस प्रकार-उपलब्धिलक्षण प्राप्त नहीं हैं, इस प्रकार एतावन्मात्र निमित्तक यह असत् व्यवहार है क्योंकि अन्य-अदृश्यानुपलब्धि लक्षण पदार्थ में "असत्" व्यवहार का निमित्त नहीं है । इस प्रकार इन तीन हेतु-स्वभाव हेतु, कार्य-हेतु, अनुपलब्धि हेतु का समर्थन किया ।

यह तीन प्रकार के हेतु का समर्थन रूपान्तर (भिन्न रूप) भी नहीं है प्रत्युत यह समर्थन विपक्ष से व्यावृत्ति रूप ही है क्योंकि तीसरा ही रूप असपक्ष-विपक्ष से असत्त्व-व्यावृत्तिरूप है पूर्वोक्त समर्थन प्रकार से ही ऐसा हमने प्रतिपादन किया है । एवं तृतीय रूप समर्थन 'विपक्षाद्व्यावृत्ति' को न कहने पर सिद्धि के लिये अवयवभूत तीन रूप वाले हेतु का प्रयोग न करने से असाधनाङ्ग वचन नामक निग्रह स्थान का प्रसङ्ग प्राप्त हो जावेगा अतः उपर्युक्त हेतु का समर्थन करना ही चाहिये, किन्तु निगमन आदि तो हेतु रूप से भिन्न हैं अतः उनका प्रयोग करना अनर्थक ही है क्योंकि त्रिरूपहेतु के द्वारा ही साध्य के अर्थ का ज्ञान होता है ऐसा कहा गया है अतएव हमारा मान्य समर्थन निगमन आदि से अतिशयवान्-विशेष ही है अर्थात् हमारे मान्य समर्थन का प्रयोग तो करना ही पड़ेगा किन्तु निगमन आदि का प्रयोग निग्रहस्थान है ।

1 उपलब्धिलक्षणप्राप्तस्यानुपलब्धिमात्रनिमित्तः । 2 अदृश्यानुपलब्धिलक्षणस्य । 3 असद्व्यवहारनिमित्तस्य । नास्तीति निमित्तं यस्य तस्य । 4 स्वभावकार्यानुपलब्धिरूपस्य । (दि० प्र०) 5 समर्थनस्य । (व्या० प्र०) 6 विपक्ष-व्यावृत्तिरूपस्य । 7 असपक्षो विपक्षः । 8 विपक्षोऽविद्यमानस्यान्यथानुपपन्नत्वस्य समर्थनप्रतिपादनात् । (दि० प्र०) 9 विपक्षव्यावृत्तिलक्षणस्य । (दि० प्र०) 10 पूर्वोक्तसमर्थनप्रकारेण । 11 तृतीयरूपसमर्थनस्यावचने । 12 समर्थनम् । (दि० प्र०) 13 सिद्ध्यङ्गस्य । 14 अधिकत्वात् (दि० प्र०) 15 पक्षधर्मत्वं सपक्षे सत्त्वं विपक्षाद् व्यावृत्तिरिति त्रिरूप हेतुः । (दि० प्र०) 16 निगमनादिभ्योऽतिशयवद्भवति । 17 कर्तुं । (दि० प्र०)

[ जैनाचार्या अन्यथानुपपन्नस्यैव बौद्धस्य हेतुलक्षणत्वं साधयन्ति ]

<sup>1</sup>तदेतदपि स्वदर्शनानुरागमात्रं सौगतस्य निगमनादेरपि साधनावयवत्वात्, प्रतिज्ञाहेतू-  
दाहरणोपनयनिगमनान्यवयवा इति <sup>2</sup>परैरभिधानात्, <sup>3</sup>निगमनस्योपनयस्य<sup>4</sup> वा <sup>5</sup>संगरस्ये-  
वावचने<sup>6</sup> न्यूनाख्यस्य निग्रहस्थानस्य प्रसक्तेः, हीनमन्यतमेनापि<sup>7</sup> <sup>8</sup>न्यूनमिति वचनात् ।  
<sup>9</sup>यदि पुनः साधनावयवत्वेऽपि निगमनादेर्वचनमयुक्तं, हेत्वादिनैवार्थं<sup>10</sup>प्रत्यायनादिति मतं <sup>11</sup>तदा  
समर्थनस्य<sup>12</sup> हेतुः परदेऽपि <sup>13</sup>निर्दोषहेतुप्रयोगादेव साध्यप्रसिद्धेस्तदभिधानमनर्थकं कथं न भवेत् ?  
यतः समर्थनं निगमनादीनतिशयीत<sup>14</sup> । <sup>15</sup>हेतोर्विपक्षव्यावृत्तिसाधनलक्षणस्य<sup>16</sup> समर्थनस्यावचने  
<sup>17</sup>रूपान्तरसत्त्वेऽपि गमकत्वासम्भवाद्निगमनाद्यवचनेऽपि<sup>18</sup> गमकत्वोपपत्तेः<sup>19</sup> समर्थनं निगमनादीन-

जैन—आप बौद्ध का यह सभी कथन केवल अपने मत के अनुरागमात्र का पोषक है क्योंकि निगमन आदि भी हेतु के अवयवरूप से स्वीकार किये गये हैं। “प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनान्यवयवा इति” अनुमान के प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन ये पांच अवयव हैं इस प्रकार नैयायिकों के यहाँ भी कथन किया गया है। इन नैयायिकों के यहाँ निगमन अथवा उपनय का भी प्रतिज्ञा के समान ही प्रयोग न करने में न्यून-हीन नाम का निग्रहस्थान प्राप्त होता है क्योंकि इन पांच अवयवों में से एक का प्रयोग भी कम होने पर “न्यून” नामक निग्रह स्थान कहा गया है।

बौद्ध—निगमन आदि साधन के अवयव हैं फिर भी उनका प्रयोग करना अयुक्त है क्योंकि हेतु आदि से ही अर्थ-साध्य का निर्णय हो जाता है।

जैन—तब तो हम ऐसा कह सकते हैं कि समर्थन भी भले ही हेतु का रूप हो फिर भी निर्दोष हेतु के प्रयोग से ही साध्य की सिद्धि हो जाती है अतः उस समर्थन का भी प्रयोग करना अनर्थक क्यों नहीं हो जावेगा जिससे कि आपका समर्थन निगमन आदि की अपेक्षा अतिशयवान-विशेष हो सके ? अर्थात् नहीं हो सकता है।

बौद्ध—हेतु का समर्थन जो कि विपक्षव्यावृत्ति साधनलक्षणरूप है उसका प्रयोग न करने पर रूपांतर पक्षधर्म, सपक्षसत्त्व के होने पर भी वह हेतु गमक नहीं है और निगमन आदि का प्रयोग न करने पर भी हेतु गमक है अतएव समर्थन, निगमन आदि की अपेक्षा विशेष ही है।

1 (योग आह) । 2 नैयायिकैः । 3 परैरभिहितं पञ्चरूपं युक्तिरहितमिति सौगताशंकायां भवदुक्तं रूपञ्च युक्ति-  
रहितमित्यभिप्रायं मनसि कृत्य प्राहुः निगमनस्येति । (दि० प्र०) 4 प्रतिज्ञायाः । (दि० प्र०) 5 प्रतिज्ञायाः ।  
6 यथा संगरस्यावचने न्यूनाख्यं तथा । 7 पञ्चानामवयवदानां मध्ये । 8 न्यूनं नाम निग्रहस्थानम् । 9 हे सौगत ।  
10 साध्यार्थपरिज्ञानात् । (व्या० प्र०) 11 इतो जैनः प्राह । 12 विपक्षाद्व्यावृत्तिलक्षणस्य । 13 अव्यभिचारि ।  
(व्या० प्र०) 14 अपि तु नातिशयीत । 15 सौगतः प्राह । 16 सौगतभते साधनलक्षणं हेतुः किं विपक्षाद व्यावृत्ति-  
रेव । ईदृशस्य स्वसाध्यसाधने समर्थस्य समर्थनस्यानुच्चारणे पक्षधर्मत्वसपक्षे सत्त्वनाम सत्त्वेऽपि सद्भावेऽपि स्वसाध्य-  
साधकत्वं न स्यात् । (दि० प्र०) 17 पक्षधर्मत्वसपक्षसत्त्वयोः सत्त्वेऽपि । 18 सौगतः । (दि० प्र०) 19 समर्थन-  
सद्भावात् । (व्या० प्र०)

शयीतेति चेत् 'हन्त हतोसि, पक्षधर्मत्वसपक्षसत्त्वयोर्हेतुरूपत्वापायापत्तेः, अन्यथानुपपन्नत्वस्यैव<sup>१</sup> तथा<sup>३</sup> हेतुलक्षणत्वसिद्धेः, <sup>४</sup>तस्यैव समर्थनरूपत्वात्, <sup>५</sup>तद्भावे <sup>६</sup>एव हेतोः <sup>७</sup>प्रयोजकत्वदर्शनात् पक्षधर्मत्वाद्विप्रयोगे <sup>८</sup>वादिनोऽसाधनाङ्गवचनस्य<sup>९</sup> <sup>१०</sup>निग्रहस्थानत्वप्रसक्तेः । <sup>११</sup>प्रतिपाद्यानुरोधतः पक्षधर्मत्वादिवचनात् निग्रहप्राप्तिरिति चेत् <sup>१२</sup>तथा निगमनादिवचनादपि सा<sup>१३</sup> मा भूत्, <sup>१४</sup>सर्वथातिशयासत्त्वात्<sup>१५</sup> । <sup>१६</sup>यदि <sup>१७</sup>पुनरयं निर्बन्धः<sup>१८</sup> <sup>१९</sup>प्रतिपाद्यानुरोधतोप्यतिरिक्तवचनम्<sup>२०</sup>—साधनाङ्गवचनं निग्रहस्थानमिति तदा सत्त्वमात्रेण <sup>२१</sup>नश्वरत्वसिद्धावुत्पत्तिमत्त्वकृतकत्वादिव-

जैन—हन्त ! बड़े खेद की बात है कि आप बिना मौत ही मर गये क्योंकि पक्षधर्म, सपक्षसत्त्व तो हेतु के रूप रहे नहीं किन्तु हमारे द्वारा मान्य “अन्यथानुपपन्न” रूप ही हेतु का लक्षण सिद्ध हो गया जो कि आपके कथनानुसार विपक्षव्यावृत्ति लक्षण समर्थन नाम वाला है क्योंकि उस अन्यथानुपपन्नलक्षण के सद्भाव में ही वह हेतु प्रयोजनीभूत है अतः पक्षधर्मत्व आदि का प्रयोग करने पर वादी आप बौद्ध के यहाँ असाधनाङ्ग नाम का निग्रहस्थान प्राप्त हो जावेगा अर्थात् विपक्ष से व्यावृत्ति लक्षण एक ही रूप वाला हेतु साधन का अङ्ग सिद्ध हो जाने से पुनः पक्षधर्म और सपक्षसत्त्व ये दोनों ही साधन के अङ्ग नहीं रहे अतः इनका प्रयोग भी असाधनाङ्ग नाम का दोष हो गया जो कि आपके यहाँ निग्रहस्थानरूप दोष माना है ।

बौद्ध - प्रतिपाद्य—शिष्यों के अनुरोध से पक्षधर्मत्व आदि का कथन करना निग्रहस्थान नहीं हो सकता है ।

जैन—उसी प्रकार शिष्यों के अनुरोध से ही निगमन आदि के भी प्रयोग करने पर उस निग्रहस्थान की प्राप्ति नहीं होना चाहिये क्योंकि सर्वथा ही दोनों में कोई अन्तर नहीं है । यदि आपका यह आग्रह हो कि—शिष्यों का अनुरोध होने पर भी अधिक वचन (निगमन आदि) का प्रयोग असाधनाङ्गवचन नामक निग्रहस्थान है । तब तो “सत्त्वमात्र से ही नश्वरपने की सिद्धि के हो जाने पर

१ जैनः प्राह । २ जैनोक्तस्य । ३ विपक्षव्यावृत्तिलक्षणसमर्थनस्य समकत्वप्रकारेण । ४ अन्यथानुपपन्नत्वस्यैव । (दि० प्र०) ५ अन्यथानुपपन्नत्वसपक्षसत्त्वस्य सद्भावे । तदभावे हेतोः प्रयोजकत्वाददर्शनादिति पाठान्तरम् । ६ तदभावे तु हेतोरप्रयोजकत्वमेवेत्यर्थः । ७ साधकत्व । (व्या० प्र०) ८ सौगतस्य । ९ विपक्षाद्व्यावृत्तिलक्षणहेतोरेकस्यैव साधनाङ्गत्वात् पक्षधर्मत्वसपक्षसत्त्वरूपस्यासाधनाङ्गत्वम् । १० तथा अन्यथानुपपन्नत्वाभावे पक्षधर्मत्वसपक्षसत्त्वविपक्षव्यावृत्तिप्रयोगे सत्यपि सौगतादेः पक्षधर्मत्वादिकमसाधनाङ्गाधिकरणत्वान्निग्रहस्थानं प्रसजति । (दि० प्र०) ११ सौगत आह । १२ जैनः प्राह । १३ निग्रहप्राप्तिः । १४ स्या० हे सौगत ! तवास्माकञ्च पक्षधर्मत्वादिवचननिग्रहादिवचनाभ्यां सर्वथापि भेदासंभवात् । (दि० प्र०) १५ अतिशयो, विशेषः । १६ हे सौगत । १७ हे सौगत ! यदि तवायमाग्रहः शिष्याणां व्युत्पत्तिपर्यन्तं नाधिकवचनं ततः परमसाधनाङ्गवचनत्वात् निग्रहस्थानं भवति सर्वथा तदा तथापि सत्त्वमात्रेण शब्दस्य शक्तिरिति सिद्धौ सत्यामुत्पत्तिमत्त्वादि वचनमधिकविशेषणग्रहणान्निग्रहस्थानमायाति । (दि० प्र०) १८ आग्रहः । १९ अधिकम् । (दि० प्र०) २० निगमनादिकम् । २१ शब्दो नश्वरः, सत्त्वादिति रीत्या ।

चनमतिरिक्तविशेषणो<sup>१</sup>पादानात्<sup>२</sup> कृतकत्वप्रयत्नान्तरीयकत्वाविषु<sup>३</sup> च कप्रत्ययातिरेकाद<sup>४</sup>-  
साधनाङ्गवचनं पराजयाय प्रभवेत् । 'क्वचित्पक्षधर्मत्वप्रदर्शनं'<sup>५</sup>, संश्व<sup>६</sup> शब्द इत्यविगा<sup>७</sup>-  
नात्<sup>१०</sup> \* । यस्य<sup>११</sup> निरुपाधि<sup>१२</sup> सत्त्वं<sup>१३</sup> प्रसिद्धं तं प्रति शुद्धः<sup>१४</sup> स्वभावहेतुः प्रयुज्यते, नश्वरः<sup>१५</sup>  
शब्दः सत्त्वादिति<sup>१६</sup> । यस्य<sup>१७</sup> १८ त्वनर्थान्तरभूतविशेषणं<sup>१९</sup> सत्त्वं प्रसिद्धं<sup>२०</sup> तं प्रति सोनर्थान्तरभूत-  
विशेषणं<sup>२१</sup> एवोत्पत्तिमत्त्वादिति<sup>२२</sup> । यस्य<sup>२३</sup> २४ पुनरर्थान्तरभूतविशेषणं<sup>२५</sup> सत्त्वं<sup>२६</sup> संप्रसिद्धं तं

उत्पत्तिमत्त्व, कृतकत्व आदि वचन अधिक विशेषण रूप ही ग्रहण किये गये होने चाहियें और कृतकत्व, प्रयत्नान्तरीयकत्व—प्रयत्न के अनन्तर होना आदि में भी 'क' प्रत्यय के अधिक होने से असाधनांग वचन रूप दोष हो जावेगा जो कि आपका ही पराजय कर देगा । कहीं अनुमान में भी पक्षधर्म का बिखलाना पराजय के लिये हो हो जावेगा क्योंकि "संश्व शब्दः" इस प्रकार के उपनय के प्रयोग से ही विसंवाद नहीं रहता है ।" अर्थात् "शब्द नश्वर है क्योंकि सत्त्वरूप है" इस सत्त्वहेतु से ही शब्द का नश्वरत्व सिद्ध हो गया है पुनः "उत्पत्तिमत्त्वात्" "कृतकत्वात्" "प्रयत्नान्तरीयकत्वात्" इत्यादि हेतुओं का प्रयोग व्यर्थ है एवं "कृतक" शब्द में 'क' प्रत्यय भी स्वार्थ में हुआ उसका भी प्रयोग व्यर्थ ही है । यदि इनका प्रयोग किया जाता है तो असाधनाङ्ग वचन का निग्रहस्थान हो जाता है तथा 'संश्व शब्दः' इस उपनयलक्षण पक्षधर्म को दिखाना आप सौगत के लिये असाधनाङ्ग वचन होने से पराजय के लिये ही हो जाता है ।

बौद्ध—जिस अद्वैतवादी योगाचार के यहाँ उपाधिरहित सत्त्व प्रसिद्ध है उसी के प्रति शुद्ध स्वभावहेतु का प्रयोग किया जाता है जैसे "शब्द नश्वर है क्योंकि सत्त्वरूप है" और जिन सांख्य या जैनो के यहाँ अनर्थान्तरभूत विशेषण है जिसका अर्थात् अभिन्नविशेषणवाला सत्त्व प्रसिद्ध है । उनके प्रति वह अनर्थान्तरभूत विशेषण ही "उत्पत्तिमत्त्वात्" इस प्रकार प्रयुक्त किया जाता है ।

जिस नैयायिक के यहाँ अर्थान्तरभूतविशेषणवाला सत्त्व प्रसिद्ध है उनके प्रति अर्थान्तरभूत-विशेषणरूप "कृतकत्वात्" इस हेतु का प्रयोग किया जाता है क्योंकि पर व्यापार की अपेक्षा रखने

- १ सत्त्वादतिरिक्तविशेषणमुत्पत्तिमत् कृतकत्वादिकम् । (व्या० प्र०) २ उत्पत्तिमत्त्वं कृतकत्वञ्च सत्त्वस्य विशेषणम् । (व्या० प्र०) ३ शब्दोऽनित्यः तात्त्वोष्टव्यापारानान्तरीयकत्वात् । (दि० प्र०) ४ अतिरेक आधिक्यम् । ५ अनुमाने । ६ क्वचित्पक्षधर्मप्रदर्शनम् । इति पा० । (दि० प्र०) ७ संश्व शब्द इत्युपनयेनैवावि-प्रतिपत्तेः (अविगानतः) पक्षधर्मस्य प्रदर्शनमतोधिकम् । तत एव पराजयाय । ८ उपनयप्रदर्शनम् । (दि० प्र०) ९ अविप्रतिपत्तितः । (दि० प्र०) १० निसन्वेहात्पक्षधर्मप्रदर्शनम् । (दि० प्र०) ११ प्रागुक्तं सर्व परिहरन् सौगतो वक्ति, यस्य अद्वैतवादिनो योगाचारस्येत्यर्थः । १२ उत्पत्तिमत्त्वकृतकत्वादिविशेषणरहितम् । १३ स्वाभाविकम् । (दि० प्र०) १४ शब्दः इति पा० । (दि० प्र०) १५ कथम् । (दि० प्र०) १६ गम्यत्वादित्यधिकः पाठः खपुस्तके । १७ सांख्यस्य जैनस्य वा । १८ अभिन्न । वसः । (दि० प्र०) १९ अनर्थान्तरभूतं विशेषणं (उत्पत्तिमत्त्वम्) यस्य तत् । २० सिद्धम् इति पा० । (दि० प्र०) २१ वसः । प्रयुज्यते नश्वरः शब्द उत्पत्तिमत्त्वात् । (दि० प्र०) २२ नातिरिक्तम् । २३ नैयायिकस्य । २४ भिन्नः । (दि० प्र०) २५ (कृतकत्वम्) । २६ पुनरर्थान्तरभूतविशेषण एव कृतकत्वादित्यपेक्षित । इति पा० । (दि० प्र०)

प्रत्यर्थान्तरभूतविशेषण एव कृतकत्वादिति<sup>१</sup>, अपेक्षितपरव्यापारो हि भावः कृतक इति वचनात् । तथा कृतकत्वात्प्रयत्नानन्तरीयकत्वादित्यादिषु च स्वार्थिकस्य कप्रत्ययस्याभिधानमपि<sup>२</sup> तादृशशब्दप्रसिद्ध्यनुसारिण<sup>३</sup> प्रति नातिरिक्तमुच्यते<sup>४</sup>, 'अन्यथाप्रयोगे'<sup>५</sup> 'तदपरितोपात्' । तथा च यत्सत्तत्सर्वं क्षणिकं यथा घट इतीयता<sup>६</sup> 'शब्देऽप्यविगानेन'<sup>७</sup> सत्त्वप्रतिपत्तावपि संश्व शब्द इति पक्षधर्मप्रदर्शनं नातिरिक्तवचनं, 'तदन्तरेण'<sup>८</sup> 'तत्प्रतिपत्तुमशक्तं प्रति तथा वचना'<sup>९</sup>।

बाला भाव ही कृतक कहलाता है ऐसा हमारे यहाँ कथन है अतः यह हेतु अधिक नहीं है उसी प्रकार से "कृतकत्वात्" "प्रयत्नानन्तरीयकत्वात्" इत्यादिकों में स्वार्थिक (स्वार्थ में) "क" प्रत्यय का कथन भी उस प्रकार के 'क प्रत्ययांत' शब्द की प्रसिद्धि का अनुसरण करने वाले वादी के प्रति अधिक प्रयोग रूप नहीं है क्योंकि अन्यथा प्रयोग में उन-उन वादियों को संतोष नहीं होगा, अर्थात् किसी को 'सत्त्वात्' इतने मात्र से ही साध्य की सिद्धि होती है । पुनः किसी-किसी को "उत्पत्तिमत्त्वात्" इस हेतु से साध्य की सिद्धि होती है । उन-उन वादियों की साध्य सिद्धि के लिये ही उपर्युक्त हेतुओं का प्रयोग वचनाधिक्य नाम के दोष से दूषित नहीं होता है अतः हमारे यहाँ असाधनाङ्ग नाम का निग्रह-स्थान नहीं होता है । तथा च—

"यत्सत्तत्सर्वं क्षणिकं यथा घटः" जो सत् है वह सभी क्षणिक है जैसे घट । इतने मात्र प्रयोग से शब्दों में अविसंवादरूप से सत्त्व का ज्ञान हो जाने पर भी "संश्व शब्दः" और सत् रूप शब्द है इस प्रकार पक्षधर्म का कथन भी अधिक वचनरूप दोष नहीं है क्योंकि उस प्रयोग के बिना साध्य को समझाने में जो असमर्थ हैं उनके प्रति उस प्रकार का प्रयोग किया जाता है एवं जो उस पक्षधर्म प्रयोग के बिना भी समझने में समर्थ हैं उनके प्रति उस पक्षधर्म का प्रयोग नहीं किया है क्योंकि "विदुषां वाच्यो हेतुरेव हि केवलः" विद्वानों के लिये केवल हेतु का प्रयोग करना चाहिये ऐसा कथन पाया जाता है अर्थात्—

दृष्टांत में साध्य को नहीं समझने वालों के लिये पक्ष और हेतु दोनों का कथन करना चाहिये किन्तु विद्वानों के लिये केवल हेतु का ही प्रयोग करना उचित है ।

१ ननु योगो जैनापेक्षया उत्पत्तिमत्त्वात् कृतकत्वादिति पृथग्हेतुद्वयं कुतोऽभिधीयते । तयोरेकतराभिधानेऽपि प्रयोजन-सिद्धेरविशेषादिति नाशंकनीयम् । तत्प्रसिद्धा तथाभिधाने दोषाभावात्तथाहि जैनस्य तावदुत्पत्तिमत्त्वमेव प्रसिद्धम् । उत्पादस्यैव धौव्ययुक्तं सदिति वचनाद्योगस्य कृतकत्वम् । अपेक्षितपरव्यापारो हि भावः कृतक इति वचनात् । (दि० प्र०) २ तादृशः कप्रत्ययान्त इत्यर्थः । ३ वादिनम् । ४ नातिरिक्तमिति वाक्यं पूर्वमपि योज्यम् । ५ तत्तद्वादिसाध्यप्रसिद्ध्यभावप्रकारेण । कस्यचित्सत्त्वादित्यनेन साध्यसिद्धिरस्ति कस्यचित्तु उत्पत्तिमत्त्वादित्यनेन साध्यसिद्धिरिति । ६ अन्यथा कप्रत्ययस्यानुच्चारणे तादृशशब्दप्रसिद्ध्यनुसारिवादिनो संतोषात् । (दि० प्र०) ७ तत्तद्वादिनः । ८ प्रयोगेण । ९ धर्मिणि । (व्या० प्र०) १० घट इति यथा शब्देऽपि विनाशेन इति पा० । (दि० प्र०) ११ संश्व शब्द इति पक्षधर्मदर्शनं विना । (दि० प्र०) १२ साध्यम् । (दि० प्र०) १३ तदन्तरेणापि ।

च्छक्तं प्रति 'तदवचनात्, "विदुषां<sup>२</sup> वाच्यो हेतुरेव हि केवलः<sup>३</sup>" इति वचनात् पराजयाय कस्य<sup>४</sup>-  
चित्प्रभवेत् इति वदन्तः सौगताः प्रतिपाद्यानुरोधतः साधर्म्यवचनेपि वैधर्म्यवचनं तद्वचनेपि च  
साधर्म्यवचनं पक्षादिवचनं वा नेच्छन्तीति किमपि महाद्भुतम् । तथा 'तदिष्टौ वा तद्वचनं  
निग्रहाधिकरणमित्य<sup>५</sup>युक्तमेव<sup>७</sup> व्यवतिष्ठते । किञ्च<sup>८</sup> 'क्वचित्पक्षधर्मत्वप्रदर्शनं<sup>१०</sup> संश्व शब्द  
'इत्यविगानात्<sup>१२</sup>, त्रिलक्षणवचनसमर्थनं च<sup>१३</sup> 'असाधनाङ्गवचनमपजयप्राप्ति<sup>१५</sup>रिति<sup>१६</sup>  
व्याहृतं<sup>१७</sup> \*, संश्व शब्द इति वचनमन्तरेणापि शब्दे 'सत्त्वप्रतीतेस्तस्य<sup>१९</sup> निग्रहस्थानत्व-

इस प्रकार के वचन से हम बौद्धों के लिये पक्ष-धर्म प्रयोग आदि पराजय के लिये नहीं हो सकते हैं ।

जैन—इस प्रकार कहते हुये आप बौद्ध लोग शिष्यों के अनुरोध से साधर्म्य के प्रयोग में भी वैधर्म्य के प्रयोग को और वैधर्म्य के प्रयोग में भी साधर्म्य के प्रयोग को अथवा पक्षादि वचनों को स्वीकार नहीं करते हैं यह तो एक महान् आश्चर्य ही है अथवा यदि कहें कि हम उपर्युक्त कथन को भी शिष्यों के अनुरोध से स्वीकार कर लेते हैं अर्थात् अन्वय कथन के करने पर भी व्यतिरेक प्रयोग को और व्यतिरेक के कहने पर भी अन्वय प्रयोग को अथवा पक्ष आदि प्रयोग को स्वीकार कर लेते हैं तब तो "वचनाधिक्य" निग्रहस्थान है ये आपके उलाहना के वचन अयुक्त सिद्ध हो जाते हैं क्योंकि कहीं-शब्द धर्मी में पक्षधर्म को दिखलाना "संश्व शब्द इत्यविगानात्" और "शब्द सद्रूप है इसमें किसी प्रकार का विसंवाद नहीं है ।" यह कथन भी खण्डित हो जाता है ।

"त्रिलक्षणवचन का समर्थन भी खण्डित हो जाता है क्योंकि असाधनाङ्ग वचन से अपजय की प्राप्ति हो जाती है ।"

भावार्थ—कहीं पर पक्षधर्म को दिखलाना "संश्व शब्द इत्यविगानात्" और त्रिलक्षणवचन का भी समर्थन करना तथा असाधनाङ्गवचन अपजय की प्राप्ति के लिये है यह भी कहना, यह सब आपका कथन बाधित हो जाता है अर्थात् "सर्व क्षणिकं सत्त्वात्" इतने मात्र से शब्द में सत्त्व की प्रतीति हो जाती है फिर "संश्व शब्दः" इस वाक्य से पक्ष को दुहराना वचनाधिक्य दोष रूप से बाधित ही हो जाता है ।

- 1 संश्व शब्द इति पक्षधर्मावचनात् । 2 तदभावे हेतुभावी हि दृष्टान्ते तदवेदिनः । व्याप्येते विदुषामित्यादि ।  
3 शिष्यः । (दि० प्र०) 4 सौगतस्य । (व्या० प्र०) 5 प्रतिपाद्यानुरोधतः साधर्म्यवचनेपि वैधर्म्यवचनं तद्वचनेपि च साधर्म्यवचनं पक्षादिवचनं नेत्यादीष्टौ सत्याम् । 6 इति वचः । 7 विरुद्धम् । (दि० प्र०) 8 सौगतः । (दि० प्र०) 9 शब्दे धर्मिणि । 10 इति व्याहृतमित्यपेक्षान्वयः । 11 सर्व क्षणिकं, सत्त्वादित्येतावता शब्दे सत्त्वप्रतीतेः संश्व शब्द इति पक्षधर्मस्याविगानमित्यर्थः । 12 अविवादात् । (दि० प्र०) 13 इत्यपि व्याहृतम् । कया ? असाधनाङ्गवचनादपजयप्राप्तयेत्यर्थः । 14 अस्माकं सौगतानाम् । (दि० प्र०) 15 स्याद्वादी । (दि० प्र०) 16 इति हेतोः । 17 विरुद्धम् । (व्या० प्र०) 18 अविगानादिति भाष्यस्य शब्दविवरणमेव तत् । (दि० प्र०) 19 पक्षधर्मप्रदर्शनस्य । (दि० प्र०)

प्रसङ्गात् । प्रतिज्ञावचनवदसाधनाङ्गत्वा<sup>1</sup>त्तस्यानिग्रहस्थानत्वे<sup>2</sup> वा <sup>3</sup>संग्रहवचनादेरप्यपजय-  
प्राप्तिविरोधात्पक्षधर्मप्रदर्शनमसाधनाङ्गवचनादपजयप्राप्त्या व्याहतमेव<sup>4</sup> । त्रिलक्षणवचनसमर्थन-  
व<sup>5</sup>, तदन्तरेणापि<sup>6</sup> त्रिलक्षणवचनस्य साधनाङ्गत्वसिद्धौ प्रतिज्ञादिवचनस्य <sup>7</sup>साधनाङ्गत्व-  
सिद्धेरन्यथा<sup>8</sup> तस्य<sup>9</sup> प्रतिज्ञादिवचन<sup>10</sup>वदपजयप्राप्तिनिबन्धनत्वप्रसक्तेः । ततस्तद्व्याहृति<sup>11</sup>  
परिजिहीर्षता<sup>12</sup> गम्यमानस्यापि<sup>13</sup> वचनं नासाधनाङ्गवचनं वादिनो निग्रहाधिकरणमिति प्रति-  
पत्तयम् । <sup>14</sup>नन्वेवमप्रस्तुतस्यापि<sup>15</sup> नाटकादिघोषणस्य <sup>16</sup>द्वादशलक्षणप्ररूपणस्य<sup>17</sup> वा निग्रहा-

‘संश्च शब्दः’ सत् रूप शब्द है इस प्रकार के वचन प्रयोग के बिना भी शब्द में सत्त्व प्रतीति हो जाती है अतः यह प्रयोग निग्रहस्थान को प्राप्त हो जाता है अथवा यदि आप यों कहें कि प्रतिज्ञा-  
वचन के समान साधनाङ्ग न होने पर भी वह पक्षधर्म प्रयोग निग्रहस्थानरूप नहीं है तब तो प्रतिज्ञा-  
वचन आदि से भी अपजय प्राप्ति का विरोध होने से पक्षधर्म का प्रदर्शन करना और असाधनाङ्ग-  
वचन से अपजय प्राप्ति होता है ऐसा कहना यह सब व्याहत-विरुद्ध ही है ।

त्रिलक्षणवचन समर्थन भी खण्डित हो जाता है क्योंकि समर्थन के बिना भी त्रिलक्षणवचन हेतु का अङ्ग सिद्ध है अतः प्रतिज्ञादिवचन भी हेतु के अङ्ग सिद्ध हो जाते हैं अन्यथा यदि ऐसा नहीं मानो तो त्रिलक्षणवचन समर्थन भी प्रतिज्ञादिवचन के समर्थन के समान पराजय की प्राप्ति का कारण हो जावेगा । यदि आप बौद्ध समर्थन और पक्षधर्मत्व प्रदर्शन के विरोध को दूर करना चाहते हैं तब तो गम्यमान भी प्रतिज्ञादिवचन जो कि असाधनाङ्गवचन होने से वादी के लिये निग्रहस्थान है ऐसा ही स्वीकार नहीं करना चाहिये ।

बौद्ध—इस प्रकार से अप्रस्तुत भी नाटक आदि घोषण अथवा द्वादशलक्षण-प्ररूपणरूप (पाँच इन्द्रियां और पाँच उनके विषय, मन एवं धर्माद्यतन इन 12 आयतन) को भी निग्रहस्थान प्राप्त नहीं हो सकेगा ।

भावार्थ—दिल्ली प्रति की टिप्पणी में ‘द्वादशांग लक्षण’ शब्द से द्वादश निदान लिये हैं यथा अविद्या के निमित्त से संस्कार होते हैं, संस्कार से विज्ञान, विज्ञान से नामरूप, नामरूप से षडायतन,

1 संश्च शब्द इति पक्षधर्मस्य । 2 सौगतमतापेक्षया । 3 का । निगमनवचन । (व्या० प्र०) 4 सौगतस्य । (दि० प्र०) 5 व्याहतमेवेति पूर्वोक्तेनान्वयः । 6 समर्थनम् । (दि० प्र०) 7 साध्यसिद्धयंगत्व । (व्या० प्र०) 8 समर्थनसहितत्वेन । 9 त्रिलक्षणवचनसमर्थनस्य । 10 प्रतिज्ञादिवचनसमर्थनवदित्यर्थः । 11 समर्थनपक्षधर्मत्व-प्रदर्शनयोर्ब्याहृतिम् । 12 बौद्धेन । 13 प्रतिज्ञादेः । 14 बौद्धः । 15 साध्यत्वेनारब्धस्यापि नाटकालंकाराद्युच्चारणस्य । (दि० प्र०) 16 पञ्चेन्द्रियाणि शब्दाद्या विषयाः पञ्चमानसम् । धर्माद्यतनमेतानि द्वादशायतनानि वै । 17 (1) अविद्या प्रत्ययाः संस्काराः । (2) संस्कारप्रत्ययं विज्ञानम् । (3) विज्ञानप्रत्ययं नामरूपम् । (4) नामरूपप्रत्ययं षडायतनम् । (5) षडायतनप्रत्ययः स्पर्शः । (6) स्पर्शप्रत्यया वेदना । (7) वेदनाप्रत्यया तृष्णा । (8) तृष्णा प्रत्ययमुपादानम् । (9) उपादानप्रत्ययो भवः । (10) भवप्रत्यया जातिः । (11) जातिप्रत्ययं जरामरणम् । (12) इति बृद्धबौद्धाभ्युपगतद्वादशाङ्गलक्षणप्ररूपणस्य । एतस्य द्वादशाङ्गस्य विवरणं दशम-परिच्छेदेज्ज्ञानाच्चेद् ध्रुवो बन्ध इत्येतत्कारिकाव्याख्याने वक्ष्यमाणं दृष्टव्यम् । (दि० प्र०)



धिकरणत्वं न स्यादिति चेदेवमेतत्<sup>1</sup> । <sup>2</sup>तथान्यस्यापि प्रस्तुतेतरस्य वादिनोक्तावितरस्य<sup>3</sup> स्वपक्षमसाधयतो विजयासंभवान्निग्रहस्थानमयुक्तम्<sup>4</sup> \* । स्वपक्षं साधयतस्तु<sup>5</sup> तत्सिद्ध्यैव<sup>6</sup> <sup>7</sup>विजयसंभवादितरस्य<sup>8</sup> पराजयप्राप्तेर्नाप्रस्तुतादिवचनं निग्रहस्थानम् । <sup>9</sup>साधनाङ्गस्यावचनं<sup>10</sup> \* वादिनो निग्रहस्थानं, <sup>11</sup>स्वेष्टसाधनवचनमभ्युप<sup>12</sup>गम्याप्रतिभया<sup>13</sup> <sup>14</sup>तूष्णीभावादित्यप्यनेन<sup>15</sup> प्रत्युक्तम्<sup>16</sup> । प्रतिवादिनो<sup>17</sup> व्यदोषोद्भावनं दोषस्यानुद्भासनं<sup>18</sup> वानेन प्रत्युक्तं \* <sup>19</sup>न्यायस्य समा-

षट् आयतन से स्पर्श, स्पर्श से वेदना, वेदना से तृष्णा, तृष्णा से उपादान, उपादान से भव, भव से जाति, जाति से जरामरण इस प्रकार से वृद्ध बौद्धों ने द्वादशांग लक्षण का प्ररूपण किया है। बौद्ध अप्रस्तुतवचन और इन द्वादश लक्षण कथन को निग्रहस्थान नहीं मानता है। इस पर जेनाचार्य कहते हैं।

जेन—हाँ ! बात तो यही है। “तथा प्रतिज्ञावचन से अन्य भी अप्रस्तुत प्रकरणवादी के द्वारा कहे जाने पर इतर—प्रतिवादी यदि स्वपक्ष को सिद्ध न करके दूषण देता है तब तो अपने पक्ष को सिद्ध न कर सकने से उसकी विजय असंभव है। वादी ने अप्रस्तुत वचन बोला है अतः निग्रहस्थान को प्राप्त हुआ है ऐसा आप नहीं कह सकते हैं।” स्वपक्ष को सिद्ध करते हुये प्रतिवादी की तो स्वपक्ष की सिद्धि से ही विजय हो जाती है और वादी की पराजय हो जाती है अतः अप्रस्तुतवचन निग्रहस्थान के लिये तो नहीं हो सकते हैं।

“और साधनाङ्ग का कथन न करना निग्रहस्थान है” एवं प्रतिज्ञादिरूप अपने इष्ट साधन-वचन को स्वीकार करके प्रतिभाशक्ति के न होने से न बोल सकना-चुप बैठना निग्रहस्थान है इत्यादि उपर्युक्त कथन से इन सबका भी खण्डन हो जाता है।

भावार्थ—कोई कहते हैं कि अनुमान के सभी अङ्गों में से किसी अपने इष्ट सिद्धि के अङ्ग को न कहना या कारण प्रतिज्ञा आदिक हैं उन्हें स्वीकार तो कर लेना परन्तु बुद्धि अल्प होने से उनका प्रयोग ठीक से न कर सकना निग्रहस्थान है तो आचार्य कहते हैं कि ऐसा भी नहीं कह सकते क्योंकि जय-पराजय की व्यवस्था स्वपरपक्ष सिद्धि-असिद्धि पर ही अवलम्बित है।

“तथा प्रतिवादी के लिये भी अदोषोद्भावन अथवा दोषानुद्भासन (प्रतिवादी के दोषों को प्रकट न करना अथवा उस प्रतिवादी के दोषों को न समझना) नाम का निग्रहस्थान है। इस मान्यता का भी खण्डन कर दिया गया है।”

- 1 जैनोक्तिः । 2 प्रतिज्ञावचनप्रकारेण । 3 वादिन उक्तावितरस्येति वाच पाठः । इतरस्य प्रतिवादिन इत्यर्थः । 4 वादिनः । 5 प्रतिवादिनः । 6 स्वपक्षसिद्ध्या । 7 प्रतिवादिनः । (दि० प्र०) 8 वादिनः । (दि० प्र०) 9 साधनस्य स्वेष्टसिद्धेरङ्गानि कारणानि प्रतिज्ञादीनि । तेष्वन्यतमस्य । 10 ता । (दि० प्र०) 11 प्रतिज्ञादिकम् । 12 प्रतिज्ञाय । 13 बुद्धिराहित्येन । 14 वीद्वाभिमतम् । 15 उक्तन्यायेन । 16 निराकृतम् । (व्या० प्र०) 17 वादिना निर्दोषसाधने प्रयुक्ते सति । 18 प्रतिवादिनो निग्रहाधिकरणम् । अनुद्भावनमिति वा पाठः । 19 पूर्वोक्तस्यैव ।

नत्वात् । 'किमेवं<sup>२</sup> वादिना कर्तव्यमिति चेत्, विजिगीषुणोभयं कर्तव्यं स्वपरपक्षसाधनदूषणम् \* । ततः<sup>३</sup> किमिति चेत्, अतो<sup>४</sup>न्यतरेणासिद्धान्तकास्तिकवचनेपि<sup>५</sup> जल्पापरिसमाप्तिः \*, 'कस्यचित्स्वपक्षसिद्धेरभावात् । कथं तर्हि वादपरिसमाप्तिर्वादिप्रतिवादिनोरिति चेत्, निराकृतावस्थापितविपक्षस्वपक्षयोरेव<sup>७</sup> जयेतरव्यवस्था, नान्यथा \* । तदुक्तं—

“स्वपक्षसिद्धिरेकस्य<sup>८</sup> निग्रहोन्यस्य वादिनः । नासाधनाङ्गवचनं<sup>९</sup> नादोषोद्भावनं<sup>१०</sup> द्वयोः<sup>११</sup> ॥”

इति । तथा तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकेऽप्युक्तं—

बौद्ध—पुनः इस प्रकार से वादी को क्या करना चाहिये ?

जैन—विजिगीषु को स्वपक्षसाधन और परपक्षदूषण दोनों ही करना चाहिये ।

बौद्ध—पुनः उससे क्या होगा ?

जैन—“वादी और प्रतिवादी को इन दोनों में से किसी एक के प्रयोग के द्वारा असिद्ध अनैकांतिक दोष के आ जाने पर भी जल्प-वाद की परिसमाप्ति महीं होगी” क्योंकि किसी को भी अपने पक्ष की सिद्धि नहीं हो सकेगी ।

भावार्थ—जब वादी स्वपक्ष की सिद्धि न करके परपक्ष का खण्डन कर देगा तब वादी के लिये स्वपक्ष की सिद्धि न होने से असिद्ध दोष आवेगा और जब स्वपक्ष की सिद्धि करके भी परपक्ष का खण्डन नहीं करेगा तब विपक्ष में भी जय का संदेह होने से अनैकांतिक दोष हो जावेगा । इसलिये स्वपक्षसिद्धि और परपक्षखण्डन दोनों ही करने चाहिये एक नहीं ।

बौद्ध—पुनः वादी प्रतिवादी में वाद की परिसमाप्ति कैसी होगी ?

जैन—“परपक्ष का निराकरण एवं स्वपक्ष का व्यवस्थापन करने से ही जय-पराजय की व्यवस्था होती है अन्यथा नहीं हो सकती है ।” कहा भी है—

श्लोकार्थ—वादी प्रतिवादी दोनों में से एक के अपने पक्ष की सिद्धि होने से जय की प्राप्ति और अन्यवादी का निग्रह होने से पराजय की प्राप्ति होती है अतः वादी एवं प्रतिवादी दोनों के लिये ही असाधनाङ्ग वचन भी निग्रहस्थान नहीं है और न दोषों को प्रगट न करनेरूप अदोषोद्भावन ही निग्रहस्थान है ।

भावार्थ—जब वादी परपक्ष का खण्डन कर देता है तब वादी का जय और प्रतिवादी का पराजय हो जाता है और जब प्रतिवादी अपने पक्ष को स्थापित कर देता है तब उसका जय और वादी का पराजय सिद्ध हो जाता है । तथा श्लोकवार्तिक में भी कहा है—

१ बौद्धः पृच्छति । २ प्रतिज्ञादिवचनस्यानिग्रहस्थानत्वे सति । ३ विजिगीषुणोभयं स्वपरपक्षसाधनदूषणं कर्तव्यं अतस्ततः किमित्यर्थः । (व्या० प्र०) ४ वादिप्रतिवादिनोर्मध्ये । ५ जल्पो, वादः । ६ साधनदूषणाभावे । (व्या० प्र०) ७ वादिप्रतिवादिनो । (व्या० प्र०) ८ वादिप्रतिवादिनोर्मध्ये एकस्य । यदा वादी निराकृतविपक्षस्तदा वादिनो जयः प्रतिवादिनः पराजयः । यदा प्रतिवादी अवस्थापितस्वपक्षस्तदा तस्य जयो वादिनस्तु पराजय इत्यर्थः । ९ निग्रहस्थानम् । १० 'च' इत्यध्याहार्यम् । ११ वादिप्रतिवादिनोः ।

“स्वपक्षसिद्धिपर्यन्ता शास्त्रीयार्थविचारणा । वस्तुवाश्रयत्वतो यद्वत्सौकिकार्थविचारणा” इति ।

<sup>2</sup>इति दर्शयन्नुभयमाह \* ग्रन्थकारः श्रीस्वामिसमन्तभद्राचार्यः । ‘स त्वमेवासि निर्दोषः’

<sup>3</sup>इति, त्वन्मतामृतबाह्यानामित्यादि<sup>4</sup> च, गम्यमानस्यापि वचने ‘दोषाभावात्’ ।

ननु च सर्वथैकान्तवादिनामपि कुशलाकुशलस्य कर्मणः परलोकस्य च ‘प्रसिद्धेराप्तत्वोप-  
पत्तेर्महत्त्वं’<sup>7</sup> किं नः<sup>8</sup> स्तुतमित्याशङ्क्यामिदमाहुः<sup>9</sup>—

इलोकार्थ—अपने पक्ष की सिद्धिपर्यन्त ही शास्त्रीय अर्थ की विचारणा होती है क्योंकि जिस प्रकार से लौकिक अर्थ की विचारणा वस्तु के आश्रय पर्यन्त ही है । अर्थात्—धनप्राप्ति पर्यन्त ही लौकिक अर्थविचारणा होती है । अतः विजिगीषु को स्वपक्षसाधन और परपक्षदूषण दोनों ही करना चाहिये । इस प्रकार से ग्रन्थकार श्री स्वामीसमन्तभद्राचार्यवर्य दोनों को दिखलाते हुये कहते हैं “सत्त्वमेवासि निर्दोषः” इस कथन से स्वपक्ष की सिद्धि की है एवं “त्वन्मतामृतबाह्यानां” इत्यादि कारिका में परपक्ष को दूषित किया है क्योंकि गम्यमान—जाना गया होने पर भी उसका कथन करने में दोष नहीं है ।

भावार्थ—बौद्ध ने यह आशङ्का की थी कि “सत्त्वमेवासि निर्दोषः” इस कारिका में आप जैन अपने जैनमत को प्रत्यक्षादि प्रमाणों से अबाधित एवं भगवान् अहन्त को ही परमात्मा सिद्ध कर चुके हैं पुनः सामर्थ्य—अर्थापत्ति से परपक्ष का खण्डन एवं कपिल आदि सर्वज्ञ नहीं है ऐसा कथन हो जाता है पुनरपि उनका खण्डन करने की क्या आवश्यकता है ? जबकि हम बौद्धों के यहाँ अन्वय-व्यतिरेक प्रयोग में से किसी एक के करने से ही साध्य की सिद्धि मानी है और दोनों के प्रयोग को वचनाधिव्य नाम का दोष (निग्रहस्थान) माना है । इस पर जैनाचार्यों ने अनेक युक्ति प्रतियुक्तियों के द्वारा इस बात को सिद्ध करके बताया है कि अन्वय-व्यतिरेक या प्रतिज्ञा उदाहरण आदि के प्रयोग करने पर वचनाधिव्य दोषरूप निग्रहस्थान होना एवं उससे जय-पराजय की व्यवस्था करना गलत है, प्रत्युत जय-पराजय की व्यवस्था तो स्वपक्ष की सिद्धि एवं परपक्ष के खण्डन करने में ही निश्चित है वह स्वपक्षसिद्धि और परपक्षखण्डन चाहे वादी करें अथवा प्रतिवादी करें दोनों के लिये ही उसी बात पर ही जय-पराजय की व्यवस्था अवलम्बित है ।

उत्थानिका—सर्वथा एकान्तवादियों के यहाँ भी कुशल-पुण्य, अकुशल-पापरूप क्रियायें एवं परलोक की प्रसिद्धि होने से उनके भगवान् में भी आप्तपना घटित होता है अतः वे भी महान् हैं पुनः आप समन्तभद्र आचार्य उनकी स्तुति क्यों नहीं करते हैं ? भगवान् के द्वारा ऐसी आशङ्का करने पर ही मानो श्री स्वामीसमन्तभद्राचार्यवर्य कहते हैं—

1 धनप्राप्तिपर्यन्तम् । 2 स्वपरपक्षसाधनदूषणं कर्तव्यं विजिगीषुणेत्येतत् । 3 इति स्वपक्षसाधनम् । 4 इति परपक्ष-  
दूषणम् । 5 वादिनः स्वपक्षसाधने कृते सति यद्यपि परपक्षनिराकरणं स्वयमेव निश्चीयमानं तथापि तस्य प्रतिपादने  
दोषो नास्तीति यतः । (दि० प्र०) 6 घटनात् । (दि० प्र०) 7 सर्वज्ञत्वसिद्धेः । (दि० प्र०) 8 स्वामिभिरिति शेषः ।  
(दि० प्र०) 9 समन्तभद्रस्वामिनः ।

<sup>1</sup>कुशलाकुशलं कर्म <sup>2</sup>परलो<sup>3</sup>कश्च<sup>4</sup> न क्वचित्<sup>5</sup> ।

<sup>6</sup>एकान्तग्रहरक्तेषु <sup>7</sup>नाथ <sup>8</sup>स्वपरवैरिषु<sup>9</sup> ॥८॥

<sup>10</sup>कायवाङ्मनःक्रिया कर्म, <sup>11</sup>त्रिविधो योग <sup>12</sup>आस्रवः । <sup>13</sup>तद्विद्विधः<sup>14</sup> <sup>15</sup>कुशलाकुशल-  
भेदात्, “कायवाङ्मनःकर्म योगः, <sup>16</sup>स आस्रवः, शुभः पुण्यस्याऽशुभः पापस्य” इति  
<sup>17</sup>वचनात् । <sup>18</sup>प्रेत्यभावः परलोकः । <sup>19</sup>तद्धेतुर्वा धर्मोऽधर्मश्च<sup>20</sup>, कारणे कार्योपचारात्<sup>21</sup> ।

कारिकार्थ—हे नाथ ! नित्य अथवा अनित्य आदि एकान्त मान्यता का दुराग्रह करने वाले ऐसे स्व एवं पर के बैरी-शत्रु मिथ्यादृष्टि जनों में से किसी के यहाँ भी कुशल-पुण्य, अकुशल-पाप क्रियायें तथा परलोकादि की व्यवस्था भी नहीं बन सकती है ॥८॥

काय, वचन एवं मन की क्रिया की कर्म कहते हैं ।

त्रिविध योग—काययोग, वचनयोग और मनोयोग को आस्रव कहते हैं अर्थात् जिस योग से कर्म “आस्रवति” आते हैं उस कर्मगमकारण को आस्रव कहते हैं । उस आस्रव के दो भेद हैं—कुशल-पुण्यरूप, अकुशल-पापरूप अथवा सुख-दुःखरूप भी दो भेद हैं । “कायवाङ्मनःकर्मयोगः, स आस्रवः, शुभः पुण्यस्याऽशुभः पापस्य” इति वचनात् । ये सूत्र महाशास्त्र तत्त्वार्थसूत्र में कहे गये हैं ।

प्रेत्यभाव का नाम परलोक है अर्थात् प्रेत्य-मरकर, भावो-जन्म लेना, एक गति से दूसरी गति को प्राप्त करना परलोक है । अथवा परलोक के हेतु धर्म और अधर्म भी परलोक शब्द से कहे जा सकते हैं क्योंकि कारण में कार्य का उपचार कर दिया जाता है । कारिका में च शब्द है उससे मोक्ष और उसके कारणों का भी ग्रहण हुआ समझना चाहिये । ये सभी तत्त्वादि व्यवस्थायें एकान्त मत—हठरूपी, ग्रह-पिशाच से सहित नित्य अथवा अनित्य आदि एकान्त अभिप्राय के वशीभूत हुये वादियों

1 पुण्यपापलक्षणम् । (दि० प्र०) 2 कायवाङ्मनः क्रियाकर्मत्रिविधो योगास्रवस्तत्कर्म द्विविधं कुशलाकुशलभेदात् कायवाङ्मनः कर्मयोगः स आस्रवः शुभः पुण्यस्याऽशुभः पापस्येति सूत्रवचनात् । (दि० प्र०) 3 मृत्वा गत्यन्तर-प्राप्तिः परलोकस्तद्धेतुं धर्मोऽधर्मश्च कारणे कार्यस्योपचारात् । (दि० प्र०) 4 चकारान्निःश्रेयसस्वर्गादिपरिग्रहः । (दि० प्र०) 5 एकान्तग्रहरक्तेषु मध्ये कस्मिंश्चित् । 6 एतत्सर्वं नित्यानित्याद्येकान्ताभिनिवेशपरवशीकृतेषु वादिषु मध्ये क्वचिन्न संभवति । कुतस्तेषां स्ववैरित्यान् । तत्त्वोपप्लववादिवत् । स्ववैरित्वमसिद्धमिति चेत् । तत्साध्यति जैनः स्ववैरिणस्ते परस्यानेकान्तस्य वैरित्वात्तद्वन् । (दि० प्र०) 7 हे स्वामिन् । (दि० प्र०) 8 परलोककारणं धर्माधर्मौ च परलोकः । कुतः कारणे सति कार्यमुपचर्यते यतः । (दि० प्र०) 9 कारिकायां धर्माधर्मौ न गृहीतौ तथापि तत्कारणस्यास्रवस्य ग्रहणात् तत्कार्ययोर्धर्माधर्मयोर्ग्रहणमुपचर्यते । (दि० प्र०) 10 (कायवाङ्मनसामालम्बनेनात्मप्रदेणपरिस्पन्दलक्षणा) । 11 काययोगो वाग्योगो मनोयोगश्चेति त्रिविधः । 12 आस्रवति कर्म येन योगेन स आस्रवः कर्मगमकारणमित्यर्थः । 13 कारणम् । (दि० प्र०) 14 प्रत्येकम् । (दि० प्र०) 15 पुण्यपापभेदात्सुखदुःखभेदाद्वा । 16 योग एव । 17 तत्त्वार्थसूत्रकारवचनात् । 18 प्रेत्य मृत्वा भावो गत्यन्तरप्राप्तिः प्रेत्यभावः । 19 परलोकहेतुः । 20 (परलोकः) । 21 स्वीकृतस्य कुशलाकुशलादेः परलोकादिश्च परस्यानेकान्ततत्त्वस्य विरोधिषु । (दि० प्र०)

चण्डादिः श्रेयसादि<sup>१</sup> परिग्रहः । एतत्सर्वमेकान्तग्रहणको<sup>२</sup> नित्यैकान्ताद्यभिनिवेशपरवशी-  
कृतेषु<sup>३</sup> मध्ये न<sup>४</sup> क्वचित्संभवति, तेषां स्ववैरित्वात्<sup>५</sup> तत्त्वोपप्लववादिवत् । स्ववैरिणस्ते<sup>६</sup>,  
परवैरित्वात्तद्वत् । किं पुनः स्वं को वा परः ? <sup>७</sup>पुण्यं <sup>८</sup>पापं च कर्म <sup>९</sup>तत्फलं <sup>१०</sup>कुशलम-  
कुशलं च स्वं, तत्सम्बन्धः<sup>१२</sup> परलोकादिश्च<sup>१३</sup>, तस्य<sup>१४</sup> स्वयमेकान्तवादिभिरिष्टत्वात् । परः  
पुनरनेकान्तः, तस्य<sup>१५</sup> तैरनिष्टत्वात् । <sup>१६</sup>तद्वैरित्वं तु तेषां <sup>१७</sup>तत्प्रतिषेधाभिधानात् । <sup>१८</sup>तत्स्व-  
वैरित्वं साधयति, यस्मात् कर्मफलसंबन्ध<sup>१९</sup> परलोकादिकमेकान्तवादिनां प्रायेणेष्टं <sup>२०</sup>तदनेकान्त-  
प्रतिषेधेन <sup>२१</sup>बाध्यते \* ।

में किसी एक में भी संभव नहीं है क्योंकि वे स्ववैरी हैं तत्त्वोपप्लववादी के समान । और वे स्ववैरी इसलिये हैं क्योंकि पर-अनेकान्त के वैरी हैं तत्त्वोपप्लववादी के समान ।

प्रश्न—स्व और पर किसे कहते हैं ?

उत्तर—पुण्य और पाप कर्म-क्रियायें और उनका फल एवं कुशल और अकुशल सुख और दुःख ये “स्व” कहलाते हैं । उनसे सम्बन्ध रखने वाले परलोकादि भी “स्व” हैं क्योंकि इनको स्वयं एकान्त-वादियों ने स्वीकार किया है तथा अनेकान्त को “पर” कहते हैं क्योंकि उन एकान्तवादियों को यह अनिष्ट है और अनेकान्त का वैरीपना तो उनके द्वारा अनेकान्त का प्रतिषेध होने से उनमें घटित ही है अर्थात् वे अनेकान्त का प्रतिषेध करते हैं अतः अनेकान्त के वैरी-तद्वैरी हैं और अनेकान्त का वैरीपना ही उनके स्ववैरीपने को भी सिद्ध कर देता है क्योंकि—

कर्म, कर्म का फल और उससे सम्बन्धित परलोकादिक प्रायः एकान्तवादियों को इष्ट हैं पुनः वह सब व्यवस्था उसके द्वारा अनेकान्त का प्रतिषेध होने से बाधित हो जाती है । अर्थात् पर एकान्तवादी सभी लोग स्वयं कर्म, उसका फल एवं परलोकादि को प्रायः स्वीकार करते हैं और अनेकान्त का विरोध करते हैं अतः अनेकान्त के द्वेषी होने से ही वे परवैरी कहलाये एवं परवैरी होने से ही वे स्ववैरी भी सिद्ध हो जाते हैं क्योंकि अनेकान्त को स्वीकार किये बिना उन एकान्तवादियों के यहाँ

- १ आदिना मोक्षादिग्रहणम् । २ पुण्यपापपरलोकादिकम् । ३ वादिषु । ४ कस्मिंश्चित् । (दि० प्र०) ५ स्वय-  
मङ्गीकृतस्य परलोकादिः । ६ तेषां स्ववैरित्वमसिद्धमिति चेदाह । ७ अनेकान्तमतवैरित्वात् । ८ श्रीमद्विद्या-  
नन्दसूरयः कारिकाया एव व्याख्यानं कृत्वाऽनन्तरं चक्षमाणाध्यानुसारेण कुशलाकुशलं कर्म परलोकश्चेति कारिकां  
प्रकारान्तरेण व्याचिख्यानवः प्राहुः । पुण्यमिति पुण्यं । सद्देशशुभायुर्नामिगोत्राणि पुण्यमिति सूत्राभिमतम् । (दि० प्र०)  
९ प्रश्नस्तम् । अनोपपत्त्यापमिति सूत्राभिमतस्वरूपम् । (दि० प्र०) १० पुण्यपापरूपकर्मफलम् । ११ सुखं दुःखं च ।  
१२ तेन पुण्यपापरूपेण धर्माधर्मिण सम्बन्धः कार्यकारणलक्षणो यस्य सः परलोकादिः । १३ स्वमिति सम्बन्धः ।  
१४ कुशलाकुशलादिपूर्वोक्तस्य । १५ अनेकान्तस्य । एकान्तवादिभिः । (दि० प्र०) १६ परवैरित्वमनेकान्तवैरित्वं  
वा । १७ स अनेकान्तः । १८ तत् परवैरित्वं, स्वस्य स्वकीयस्य वैरित्वम् । १९ यतः (कर्मधारयः) । २० कर्म-  
फलादिकम्भनन्तरोक्तम् । २१ यस्मादेतत्पराभिमतं कर्मफलादिकमेकान्तनिषेधेन बाध्यते तस्मात्परवैरित्वं, स्ववैरित्वं  
साधयति, (यतस्ते बाधितमपि स्वपक्षं स्वीकुर्वन्ति) ।

[ शून्यवाद्यद्वैतवादिनोः परलोकादिव्यवस्था नास्ति । ]

ननु<sup>१</sup> च शून्यवादिभिरद्वैतावलम्बिभिश्च<sup>२</sup> तस्यानिष्टत्वात्कथं सर्वेषामेकान्तवादिनां<sup>३</sup> तदिष्टमिति चेन्न, तैरपि<sup>४</sup> संवृत्त्या<sup>५</sup> प्रायेणेष्टत्वात् । कथं पुनरनेकान्तप्रतिषेधेन<sup>६</sup> तद्वा-  
ध्यते इति चेत् क्रमाक्रमयोः<sup>७</sup> प्रतिषेधात्, तयोरनेकान्तेन<sup>८</sup> व्याप्तत्वात्<sup>९</sup> तत्प्रतिषेधेन<sup>१०</sup>  
तत्प्रतिषेधसिद्धेः<sup>११</sup> । क्रमाक्रमप्रतिषेधे<sup>१२</sup> चार्थक्रियाप्रतिषेधः, तस्यास्ताभ्यां व्याप्तत्वात् ।  
अर्थक्रियाप्रतिषेधे च कर्मादिक<sup>१३</sup> विरुध्यते, तस्य<sup>१४</sup> तथा व्याप्तत्वात् ।<sup>१५</sup> यदि वानेकान्त-

पुण्यपापादि कर्म, उनके फल एवं परलोकादि बन ही नहीं सकते हैं । इसी बात का आचार्य आगे स्पष्टीकरण करते हैं—

[ शून्यवादी और अद्वैतवादी जनों के यहाँ परलोकादि व्यवस्था नहीं है । ]

शंका - शून्यवादी एवं अद्वैतवादियों ने तो कुशलाकुशल कर्म, परलोक आदि को स्वीकार ही नहीं किया है पुनः आपने ऐसा कैसे कहा कि ये सब "कुशलाकुशलं कर्म" आदि सभी एकान्तवादियों को इष्ट हैं ? अर्थात् यदि शून्यवादी परलोकादि को स्वीकार कर लें तब तो उनके शून्यवाद का ही अभाव हो जावेगा तथैव अद्वैतवादी भी यदि परलोकादि को स्वीकार करेंगे तब तो उनके यहाँ द्वैत की आपत्ति आ जावेगी । अतः इन लोगों के लिये ये पुण्य-पापादि तत्त्व और परलोकादि व्यवस्था अनिष्ट ही है पुनः आप यह नहीं कह सकते हैं कि सभी एकान्तवादियों को ये तत्त्व मान्य हैं ।

समाधान — आपका यह कथन ठीक नहीं है क्योंकि उन लोगों ने भी संवृति से माया अथवा मिथ्यारूप से प्रायः इन कुशलाकुशल एवं परलोकादि को मान ही लिया है ।

शंका — अनेकान्त के प्रतिषेध से वह बाधित कैसे होता है ? अर्थात् अनेकान्त को न मानने से पुण्य-पाप एवं परलोकादि बाधित कैसे हो जाते हैं ?

समाधान — नित्य एकान्त अथवा अनित्य एकान्त आदि में क्रम और अक्रम का प्रतिषेध (विरोध) पाया जाता है क्योंकि ये क्रम और गुणपत् अनेकान्त से ही व्याप्त हैं अतः उस अनेकान्त

१ तदस्य । २ तत्त्वोपप्लवचादिभिः । ३ कर्मफलपरलोकादेरनिष्टत्वेनाङ्गीकारात् । यतः शून्यवादिनां परलोका-  
वाङ्गीकारे शून्याभावः, अद्वैतवादिनां च परलोकाङ्गीकारे द्वैतापत्तिरतस्तेषामनिष्टत्वम् । ४ परलोकादिकम् ।  
(दि० प्र०) ५ कल्पनया । स्या० एवं न । कस्मात्तरेकान्तवादिभिः कल्पनया कर्मतत्फलादेर्वादिजल्पेनाङ्गीकृतत्वात् ।  
(दि० प्र०) ६ साधया मिथ्यारूपेण वा । ७ कर्मकर्मफलम् । (दि० प्र०) ८ नित्यैकान्तेऽनित्यैकान्ते वा । ९ स्याद्वा-  
दिभिर्गुक्त्याऽसंभवत्वप्रदर्शनात् । १० क्रमाक्रमयोः । ११ व्यापकेन । १२ तस्य अनेकान्तस्य । १३ प्रतिषेधे इति  
पा० । (दि० प्र०) १४ तयोः क्रमाक्रमयोः । १५ व्यापकनिवृत्तौ व्याप्यनिवृत्तेः सुसिद्धत्वात् । १६ कार्यकरणमर्थ-  
क्रिया । १७ क्रिया । (दि० प्र०) १८ कर्मादिकस्य । (दि० प्र०) १९ प्रकारान्तरेणाहुः स्याद्वादिभिः ।

प्रतिषेधेन<sup>१</sup> २क्षणिकाद्येकान्तविरोधः<sup>३</sup> ४तदेकान्तस्यानेकान्ताविनाभावित्वात्<sup>५</sup> । ६तस्यापि स्वरूपेण<sup>७</sup> सत्त्वेऽनेकान्तरूपेण ८चासत्त्वव्यवस्थायामनेकान्तस्य<sup>९</sup> दुर्निवारत्वात्तदविनाभावित्वं<sup>१०</sup> सिद्धमेव, अन्यथा ११तद्व्यवस्थानुपपत्तेः । इति परवैरित्वात्स्ववैरित्वम् । १२तथा च कथं कर्मादिकमनाश्रयं<sup>१३</sup> न विरुध्यते ? १४ततो<sup>१५</sup> अनुष्ठानमभिमतव्याघातकृत्<sup>१६</sup>, सबसन्नित्यानित्याद्ये-  
कान्तेषु १७कस्यचित्<sup>१८</sup> कुतश्चित्<sup>१९</sup> कदाचित्<sup>२०</sup> वदचित्प्रादुर्भावासंभवात्<sup>२१</sup> \* ।

का प्रतिषेध करने से इन क्रम-युगपत् का भी विरोध सिद्ध हो जाता है क्योंकि व्यापक की निवृत्ति होने पर व्याप्य की निवृत्ति का होना प्रसिद्ध है अथवा अनेकान्त प्रतिषेध के द्वारा क्षणिक आदि एकान्त तत्त्व का विरोध सिद्ध है क्योंकि एकान्त का अनेकान्त के साथ अविनाभाव सिद्ध है । उन क्षणिक आदि एकान्तों का स्वरूप से सत्त्व और अनेकान्तरूप से असत्त्व व्यवस्थापित करने पर अनेकान्त ही सिद्ध हो जाता है क्योंकि उसका निवारण नहीं हो सकता है अतः एकान्त का अनेकान्त के साथ अविनाभाव सिद्ध ही है अन्यथा उसकी व्यवस्था नहीं बन सकेगी इसीलिये वे एकान्तवादी पर के बैरी होने से स्व के बैरी सिद्ध ही हैं इस प्रकार से उन्हें परवैरी स्वीकार करने पर उनके द्वारा मान्य पुण्य पापादि कर्म अनाश्रित होने से विरुद्ध क्यों नहीं होंगे ? अर्थात् पुण्य-पापादि क्रियाओं का आश्रय अनेकान्त है उसको न मानने से वे कर्म परलोकादि भी अनाश्रित हो जाने से विरोध को प्राप्त हो जाते हैं ।

“इसीलिये उन लोगों के तपश्चर्या, दीक्षा, जप आदि के अनुष्ठान भी अभिमत, स्वकर्मक्षय आदि का व्याघात करने वाले ही हो जायेंगे क्योंकि सत्-असत्, नित्य-अनित्य, एक-अनेक आदि एकान्ततत्त्व की मान्यता में किसी क्रिया आदि का किसी अनुष्ठान आदि से कदाचित् किसी भी संसारी अवस्था में किसी जीव में प्रादुर्भाव होना असम्भव हो जायेगा ।” अर्थात् सर्वथा सत्-असत् आदि एकान्त में किसी भी अनुष्ठान के द्वारा कोई भी क्रिया सम्भव नहीं है यदि क्रिया संभव होगी तो सर्वथा एकान्त घटित नहीं होगा ।

१ यदानेकान्त इति पा० । (दि० प्र०) २ क्षणिकैकाद्येकम् इति पा० । (दि० प्र०) ३ अभावः (व्या० प्र०) ४ (इष्टः इति शेषः) । ५ अनेकान्तस्य निवारणे न क्षणिकनित्याद्येकान्तनिवारणं यद्भवति तत् किमित्युक्ते आह एकान्तस्याने-  
कान्तेनाविनाभावित्वात् । (दि० प्र०) ६ (क्षणिकाद्येकान्तस्य) । ७ क्षणिकादिरूपेण । ८ वेति पा० । (दि० प्र०) ९ ततः क्षणिकैकान्तस्याप्यनेकान्तत्वमायातम् । १० (एकान्तस्यानेकान्तेनाविनाभावित्वम्) । ११ (सा अर्थक्रिया) । १२ परवैरित्वे । १३ कर्मदिराश्रयो ह्यनेकान्तः । तद्वैरित्वे कर्मादिकमनाश्रयमेव । १४ कर्मादिकं विरुध्यते यतः । १५ तपोजपाद्याचरणम् । १६ अभिमतं स्वकर्मक्षयादि । १७ कर्मदिः । १८ अनुष्ठानात् । १९ संसारिदशायाम् । २० आत्मनि । २१ कर्मदिः ।

[ शून्यवादी ब्रूते असद्वस्तुष्वेव पुण्यपापादि व्यवस्था घटते तस्य विचारः ]

'ननु'<sup>२</sup> च 'कस्यचित्कर्मणः पुण्यपापाख्यस्य कुतश्चिदनुष्ठानात्कायादिव्यापारलक्षणात्क्व-  
चिदात्मनि'<sup>३</sup> कदाचित्संसारिदशायां जन्म'<sup>४</sup> मा भूत् सर्वथा 'सतस्तदघटनात्, 'कर्मफलस्य  
वा शुभाशुभपरलोकलक्षणस्य'<sup>७</sup> 'कर्म'<sup>८</sup>विशेषात्<sup>१०</sup>, तत्त्वज्ञानादेर्वा'<sup>११</sup> निश्चयेयस्य'<sup>१२</sup> सर्वथा<sup>१३</sup>  
सद्भावाविशेषात् । 'तस्या'<sup>१५</sup>सतस्तु<sup>१६</sup> ततो<sup>१७</sup> 'जन्मास्तु, प्रागसतः पश्चात्प्रादुर्भाविदर्शनात्,  
इति चेन्न, 'उभयत्र तद्विरोधाविशेषात्<sup>२०</sup> । न हि सर्वात्मना<sup>२१</sup> सर्वस्य<sup>२२</sup> भूतावेव जन्म विरुद्ध-

[ शून्यवादी कहता है कि असद्वस्तु में ही पुण्यपापादि व्यवस्था बनती है उस पर विचार ]

**योगाचार या माध्यमिक बौद्ध**—कायादि व्यापारलक्षण किसी अनुष्ठानविशेष से किसी जीव-  
आत्मा में कदाचित् संसारी अवस्था में किन्हीं पुण्य-पापादि क्रियाओं की उत्पत्ति मत होवे क्योंकि  
सर्वथा सत्—विद्यमान का जन्म असम्भव है । अथवा शुभ-अशुभरूप परलोकलक्षण, कर्मफल की भी  
उत्पत्ति नहीं हो सकती है क्योंकि कर्म विशेष हैं । अर्थात् कर्मादिकों को जैनियों ने द्रव्य रूप से नित्य  
स्वीकार किया है इसलिये सर्वथा नित्य में उत्पत्ति घटित नहीं हो सकती है । अथवा तत्त्वज्ञान,  
अनुष्ठान आदि एवं मोक्ष आदि का प्रादुर्भाव भी नहीं बन सकता है क्योंकि नित्य पदार्थों का सर्वदा  
ही सद्भाव पाया जाता है । अतएव नित्य एकान्त में उपर्युक्त तत्त्व, परलोकादि की व्यवस्था नहीं  
बन सकती है किन्तु हम बौद्धों के यहाँ तो उन पुण्य-पाप, परलोकादि की व्यवस्था बन जाती है  
क्योंकि वे असत् हैं तथा असत् पदार्थों का ही किन्हीं कारणों से प्रादुर्भाव हो सकता है क्योंकि जो  
पहले नहीं हैं उन्हीं की पुनः उत्पत्ति देखी जाती है ।

**जैन**—यह कथन ठीक नहीं है क्योंकि सर्वथा सत् अथवा सर्वथा असत् दोनों ही पक्ष में उन  
परलोकादि का विरोध समान ही है । "क्योंकि सर्वात्मरूप से सभी का सत्त्व स्वीकार करने से ही  
उत्पत्ति का विरोध ही ऐसा नहीं है, अपितु सर्वथा बौद्धाभिमत अभाव (असत्) पक्ष में भी उत्पत्ति  
का विरोध है अन्यथा मिथ्या प्रतिभास की उपरति नहीं हो सकेगी ।"

१ सौगतमतपूर्वपक्षीकरणमुच्चेत भाष्यं भाषयन्ति ननु चेति । (दि० प्र०) २ योगाचारो माध्यमिको वा ।  
३ कायादिव्यापारो लक्षणं यस्य । ४ पुण्यपापाख्यस्य । ५ कर्मजन्मनोऽघटनात् । (दि० प्र०) ६ पुण्यपाप-  
लक्षण । (दि० प्र०) ७ जन्म मा भूदिति सम्बन्धः । ८ कर्मादिकं तु द्रव्यत्वेन जैनैर्नित्यमङ्गीक्रियते । ९ सर्वथा  
सतस्तदघटनात् । १० आवरणविशेषात् । ११ आदिपदेनानुष्ठानादेः । १२ जन्म मा भूदित्येव सम्बन्धः । यतः  
सर्वथा सत्त्वेनाविशेषात् । १३ च । अधिकः पाठः । (दि० प्र०) १४ परलोकादेः । बौद्धमते सर्वथाऽभाव इष्टः । अत  
एवं (वक्ष्यमाणं) प्राह माध्यमिकः । १५ मोक्षस्यापि जन्म मा भूत कुतः सर्वथा सत्त्वेन विशेषाभावात् । (दि० प्र०)  
१६ कर्मणः पुण्यपापाख्यस्य कर्मफलस्य शुभाशुभपरलोकलक्षणस्य निःश्रेयसस्य च तच्छब्देन ग्रहणम् । तस्य कार्यस्य ।  
(दि० प्र०) १७ कुतश्चित्कारणात् । १८ अनेन तु तच्छब्देनानुष्ठानस्य कर्मविशेषस्य तत्त्वज्ञानादेश्च पूर्वोक्तस्य  
ग्रहणम् । (दि० प्र०) १९ सर्वथा सदसतोः पक्षयोः । २० परलोकादिजन्मविरोधाविशेषात् । २१ वस्तुनः ।  
(व्या० प्र०) २२ सत्त्वे ।



मपि तु 'सर्वथा<sup>१</sup>ऽभावेपि<sup>२</sup>, 'व्यलीकप्रतिभासानामनुपरमप्रसङ्गात्<sup>३</sup> \* । ननु च 'शून्य-  
वादिनः<sup>४</sup> स्वप्नदशायामिवान्यदापि<sup>५</sup> व्यलीकप्रतिभासानां 'कर्मादीनां<sup>६</sup> 'कथमनुपरमप्रसङ्गो  
यतः संवृत्या कर्मादिजन्माविरुद्धं न भवेदिति चेन्न, 'साध्यसमत्वादुदाहरणस्य<sup>७</sup> । <sup>१३</sup>यथैव  
<sup>१४</sup>स्वप्नदशायां व्यलीकप्रतिभासानामहेतुकत्वादनुपरमप्रसङ्गः शून्यवादिनां तथा<sup>१५</sup> <sup>१६</sup>स्वप्ना-  
वस्थायामपि, <sup>१७</sup>तदविशेषात् । <sup>१८</sup>तेषामविद्यावासनाहेतुकत्वादहेतुकत्वमसिद्धमिति चेन्न, <sup>१९</sup>अना-

**माध्यमिक**—हम शून्यवादियों के यहाँ स्वप्नदशा के समान ही अन्यदा-जाग्रत अवस्था में भी व्यलीक-मिथ्या प्रतिभासरूप कर्मादि-परलोकादिकों के अभाव का प्रसंग कैसे नहीं होगा जिससे कि संवृति से कर्मादिकों की उत्पत्ति अविरुद्ध न होवे ? अर्थात् संवृति-कल्पनामात्र से कर्म आदि का प्रादुर्भाव होना विरोध रहित ही है ।

**जैन**—यह ठीक नहीं है, आपका उदाहरण साध्यसम दोष से दूषित है । अर्थात् "असत्य प्रतिभासरूप कर्मादिक कदाचित् उपरति को प्राप्त हो जाते हैं क्योंकि वे संवृति से उत्पन्न हुये हैं स्वप्नादि के प्रतिभास के समान ।" इस प्रकार इसमें यह जो उदाहरण है वह साध्य के समान ही असिद्ध है क्योंकि 'स्वप्नादि के प्रतिभास कदाचित् उपरति-विराम को प्राप्त होते हैं' यह साध्य ही सिद्ध नहीं है । अतएव यह उदाहरण साध्यसम है क्योंकि जंसे शून्यवादी के यहाँ जाग्रतदशा में व्यलीक प्रतिभास अहेतुक हैं अतः उनकी अनुपरति का प्रसंग प्राप्त होता है, अर्थात् वे कभी भी नष्ट नहीं हो सकते हैं तथैव स्वप्नदशा में भी वे प्रतिभास उपरत नहीं होते हैं । क्योंकि दोनों अवस्थाओं में ही अहेतुकपना समान है ।

१ स्या० सर्वस्य कर्मादिः सर्वथासत्त्वे केवलं जन्मविरुद्धं न । किन्तु सर्वथा सत्त्वेपि विरुद्धम् । कुतः असद्रूपप्रतिभासानां कर्मादीनामनुपरमदोषसंभवात् । कोर्थः निर्हेतुकाः अविद्यमानाः सन्तोऽर्था उत्पद्यन्ते चेत्तदा सदैवोत्पद्यन्ताम् । (दि० प्र०)  
२ बोद्धाभिभते (जन्म न घटते इत्यन्वयः) । ३ अन्यथा संवृत्याजन्म विरुद्धमिति चेत् । संवृत्या सदसतोः जन्मास्तु इति चेन्न । (व्या० प्र०) ४ व्यलीको मिथ्या । ५ घटादि न । (व्या० प्र०) ६ माध्यमिकस्य । ७ सौमतादेर्मम शून्यवादिनः यथा स्वप्नावस्थायां तथा जाग्रदशायामप्यसद्रूपप्रादुर्भावानां कर्मादीनामनुपरमदूषणं कथं स्यान्न कथमपि । कल्पनया कृत्वा कर्मादिजन्मविरुद्धं कुतो न भवेदपितु विरुद्धमेव । (दि० प्र०) ८ जाग्रदशायाम् । ९ क्रिया । (दि० प्र०) १० नेत्यर्थः । (दि० प्र०) ११ स्या० एवं न कुतः स्वप्नदशायामित्युदाहरणकर्माद्यर्थानां जन्मेति साध्येन नृत्यत्वात् । (दि० प्र०) १२ कर्मादयो व्यलीकप्रतिभासाः कदाचिदुपरमन्ते, तेषां संवृत्या जनितत्वात्, स्वप्नादिप्रतिभासप्रतिदीदमुदाहरणं साध्यसममसिद्धमिति यावत् । कथम् ? स्वप्नादिप्रतिभासाः कदाचिदुपरमन्ते इति साध्यमेव न सिद्धं यतः । १३ (साध्यसमत्वमेव दर्शयन्ति यथेति) । १४ स्वापदशायामिति पा० । (दि० प्र०) १५ यथा जाग्रदशायां तथा स्वप्नदशायामपि व्यलीकप्रतिभासानामर्थानामनुपरमप्रसंगो भवतु कुतस्तेन निर्हेतुकत्वेन विशेषाभावात् । (दि० प्र०) १६ तर्हि स्याद्वादिनां स्वप्नावस्थायां प्रतीयमानाहेतुकप्रतिभासानां कथमनुपरम इति नाशकनीयं तत्राहेतुकत्वानभ्युपगमात् । वातादिदोषवैषम्याद्दृष्टसंस्कारपिशाचादीनां हेतूनां सद्भावात् । (दि० प्र०) १७ (अहेतुकत्वविशेषात्) । १८ अत्राह शून्यवादी तेषां व्यलीकप्रतिभासानामर्थानाम् । (दि० प्र०) १९ स्या० हे शून्यवादिन् ! भवदभ्युपगताऽनाद्यविद्यावासना सद्रूपाऽसद्रूपा वेति विकल्पः । (दि० प्र०)

द्यऽविद्यावासनाया अप्यसत्त्वे 'वितथप्रतिभासहेतुत्वविरोधात्' खपुष्पवत्, सत्त्वे वा सर्वथा शून्यवादानवतारात् । संवृतिसत्त्वात्तस्याः<sup>२</sup> शून्यवादावतार इति चेत्तर्हि परमार्थतोऽसत्यऽ-  
विद्या<sup>३</sup> कथं वितथप्रतिभासहेतुः स्यात् ? 'स्वरूपेण सदेव'<sup>४</sup> हि किञ्चिद्वितथप्रतिभासानपि<sup>५</sup>  
जनयद्दृष्टं, यथा चक्षुषि 'तिमिरादिकं, न पुनरसत्स्वरविषाणम् । इति सर्वशून्यवादिनो<sup>६</sup>  
व्यलोकप्रतिभासानुपरमप्रसङ्ग एव, अहेतुकत्वात् । ततो<sup>७</sup> नाभावैकान्ते<sup>१०</sup> ११ कस्यचित्कुतश्चि-

बौद्ध—जितने भी मिथ्या प्रतिभास हैं वे अविद्या-वासना हेतुक हैं अतः उनका अहेतुकपना असिद्ध है ।

जैन—अनादि अविद्या की वासना भी तो असत्-रूप है अतः वह असत्य प्रतिभास में हेतु है यह कथन विरुद्ध है आकाशपुष्प के समान । अथवा अनादि अविद्या को सत्-रूप मान लेवें तब तो आपके यहाँ सर्वथा 'शून्यवाद' बन ही नहीं सकेगा ।

बौद्ध—वह अविद्या तो संवृति-माया से सत्-रूप है अतः शून्यवाद बन ही जाता है ।

जैन—तब तो परमार्थ से असत्-रूप अविद्या असत्य प्रतिभास का हेतु कैसे होगी ? अर्थात् असत्य से ही असत्य का निर्णय कैसे होगा ? क्योंकि स्वरूप से सत्-रूप ही कोई वस्तु असत्य प्रतिभासों को भी उत्पन्न करती हुई देखी जाती है जैसे चक्षु में तिमिर, मोतियाबिन्दु आदि रोग विद्यमान—सत्-रूप हैं और तभी वे गलत प्रतिभास को करा सकते हैं, गंध के सींग आदि असत् पदार्थ असत्य प्रतिभास को नहीं करा सकते । इसी प्रकार से सर्वशून्यवादियों के यहाँ व्यलीक प्रतिभासों की उपरति (अभाव) का प्रसंग नहीं है अर्थात् हमेशा असत्य प्रतिभास ही होते रहेंगे क्योंकि वे अहेतुक सिद्ध हैं—बिना कारण के ही होने वाले हैं । पुनः अभाव एकान्तरूप शून्यवाद में भी किसी भी कारण से कभी भी किसी जीव में भी कोई भी क्रियाएँ एवं परलोकादि घटित नहीं हो सकते हैं क्योंकि कथञ्चित् सत्-असत्-रूप अनेकान्त का आप शून्यवादियों के यहाँ निषेध है सर्वथा भावैकान्त-नित्यैकान्त के समान । अर्थात् जैसे सर्वथा नित्यपक्ष में पुण्य-पाप—परलोकादि सम्भव नहीं हैं उसी प्रकार से सर्वथा अनित्यपक्ष में भी सम्भव नहीं हैं ।

१ व्यलीक । (दि० प्र०) २ (अविद्याया संवृत्या, मायया अथशार्थत्वेनेत्यर्थः) (सत्त्वात् शून्यवादः स्यादिति) ।

३ असती अविद्या इति पदभेदः । अविद्यमाना । (दि० प्र०) ४ सन्दिग्धानैकान्तिकत्वे सत्याह । ५ शून्यवादः

पञ्चः स्वरूपं न भवतीति साध्यो धर्मः । वितथप्रतिभासजनकत्वान् यद्वितथप्रतिभासजनकं तत्सत् चक्षुषि तिमिरा-  
दिकम् । (दि० प्र०) ६ अपि ना सत्यानपि । ७ सदेव तिमिरादिकं वितथप्रतिभासान् जनयति । ८ माध्यमिकता-

मसौगतस्य । (दि० प्र०) ९ यत्त एवं—तस्मात् । (दि० प्र०) १० शून्यैकान्तवादे । ११ कर्मणः ।

‘त्कदाचित्क्वचिज्जन्म’<sup>१</sup> संभवति, ‘सदसदनेकान्तप्रतिषेधाद्भावैकान्तवत्’<sup>२</sup> । न केवलं<sup>३</sup> स्वभावनेरात्म्ये एवायं दोषः<sup>४</sup> किं<sup>५</sup> त्वन्तरुभयत्र<sup>६</sup> वा ‘निरन्वयसत्त्वेपि’<sup>७</sup> ✽, कार्यस्य<sup>८</sup> निर्हेतु-  
कत्वाविशेषाज्जन्मविरोधसिद्धेः<sup>९</sup>, जन्मनि<sup>१०</sup> वा तस्यानुपरतिप्रसङ्गात्<sup>११</sup> ।

[ बौद्धः कार्यं सकारणकं साधयति तस्य विचारः ]

‘नन्वन्तस्तत्त्ववादिनो योगाचारस्य’<sup>१२</sup> पूर्वविज्ञानादुत्तरविज्ञानस्योत्पत्तेः सौत्रान्तिकस्य चान्तर्बहिस्तत्त्वोभयवादिनः<sup>१३</sup> पूर्वार्थक्षणादुत्तरार्थक्षणस्य प्रादुर्भावात्कुतो निष्कारणत्वं<sup>१४</sup> कार्य-

“केवल स्वभावनेरात्म्यवादी-शून्यवादी के यहाँ ही यह दोष नहीं है, किन्तु निरन्वय सत्त्वरूप अन्तस्तत्त्ववादी, विज्ञानाद्वैतवादी एवं निरन्वय सत्त्वरूप अन्तर्बहिस्तत्त्ववादियों के यहाँ भी यही दोष आता है ।” क्योंकि कार्य का अहेतुकपना समान होने से परलोकादि की उत्पत्ति का विरोध सिद्ध ही है । अथवा निरन्वय सत्त्व में भी परलोकादि का जन्म—प्रादुर्भाव मानो तब तो उनके सर्वदा सद्भाव का ही प्रसङ्ग बना रहेगा । अर्थात् वे कार्य अहेतुक होने से सदा होते ही रहेंगे, उनका कभी भी विराम-अभाव नहीं होगा, किन्तु जहाँ-कहाँ अभाव पाया जाता है ।

भावार्थ—बौद्धों में चार भेद हैं—सौत्रान्तिक, माध्यमिक, योगाचार एवं वैभाषिक । सौत्रान्तिक ने अन्तरङ्ग एवं बहिरङ्ग पदार्थों को मानकर उन्हें क्षणिक माना है । माध्यमिक ने सभी जगत् को शून्यरूप ही माना है एवं योगाचार एक ज्ञानमात्र ही तत्त्व मानते हैं अतः वे विज्ञानाद्वैतवादी हैं ।

[ बौद्ध कार्य को सकारणक सिद्ध कर रहे हैं उस पर विचार ]

बौद्ध (योगाचार)—हमारे यहाँ पूर्वविज्ञान से उत्तरविज्ञान की उत्पत्ति मानी है अतः कार्य सहेतुक ही है ।

बौद्ध (सौत्रान्तिक)—पुनः हमने तो अन्तर्बहिः उभय द्वैतत्व को स्वीकार किया है अतः पूर्वार्थ-क्षण से उत्तरार्थक्षण की उत्पत्ति होती है पुनः कार्य निष्कारण कैसे रहा ?

१ अनुष्ठानात् । (दि० प्र०) २ संसारिदशायाम् । (दि० प्र०) ३ आत्मनि । (दि० प्र०) ४ अभावैकान्तपक्षः कर्मादिकं न जनयतीति साध्यो धर्मः । (दि० प्र०) ५ यथा भावैकान्ते कस्यचित्कुतश्चित्कदाचित्क्वचिज्जन्म न संभवति, सदसदनेकान्तप्रतिषेधात् । ६ केवलं तत्त्वोपप्लवमाध्यमिकसौगताभ्युपगते स्वभावशून्ये मते अयं दोषो न । किन्त्वन्तस्तत्त्ववादिनः योगाचारस्यान्तर्बहिरुभयवादिनः सौत्रान्तिकस्य सौमत्स्य निरन्वयसत्त्वाङ्गीकारे मतेपि अयं पूर्वोक्तो दोषः । (दि० प्र०) ७ शून्यवादे । ८ जन्मविरोधलक्षणः । ९ ज्ञाने निरन्वयसत्त्वे । १० ज्ञानबाह्यार्थ-योनिरन्वयसत्त्वे वा । ११ निरन्वयक्षणक्षये । १२ ज्ञानाद्वैतलक्षणोत्तरक्षणकार्यस्य बहिरर्थोत्तरक्षणकार्यस्य च । १३ कमदिः । (दि० प्र०) १४ कार्यस्य । १५ निरन्वयसत्त्वेपि उत्तरक्षणलक्षणकार्यजन्मनि । १६ कार्यस्य । (दि० प्र०) १७ परः । (दि० प्र०) १८ योगाचारबहिर्गतिं वस्तु नास्ति । (व्या० प्र०) १९ सौत्रान्तिकेऽनुमेयं स्यात् । (व्या० प्र०) २० निःकारणक्षणत्वं कार्यस्येति, पाठः । (व्या० प्र०)

स्येति चेन्न, <sup>1</sup>कार्यकाल<sup>2</sup>मप्राप्नुवतः<sup>3</sup> कारणत्वानुपपत्तेश्चिरतरातीतवत्<sup>4</sup> \* <sup>5</sup>कार्यकालं<sup>6</sup>  
प्राप्नुवतोपि<sup>7</sup> <sup>8</sup>कारणत्वाददर्शनादन्यथा<sup>9</sup> सर्वस्य <sup>10</sup>समानक्षणवर्तिनस्तत्कारणत्वप्रसङ्गात्<sup>11</sup> ।  
यस्य <sup>12</sup>भावाभावयोः कार्यस्य भावाभावात् तदेव कारणमिति <sup>13</sup>कल्पनायां, <sup>14</sup>सत्यभवतः<sup>15</sup> <sup>16</sup>स्वय-  
मेव नियमेन पश्चाद्भवतस्तत्कार्यत्वं<sup>17</sup> विरुद्धं \*, <sup>18</sup>तत्र <sup>19</sup>तदकारणत्वसाधना<sup>20</sup>दन्य<sup>21</sup>कार्यवत्<sup>22</sup>,

जैन—ऐसा कथन ठीक नहीं है। पूर्वक्षणलक्षण कारण “कार्यकाल को प्राप्त न होता हुआ कारणरूप नहीं हो सकता है बहुत काल के बीते हुये कारण के समान।” तथा कार्यकाल को प्राप्त करते हुये को भी कारणपना मानों तो दिखता नहीं है। जैसे गाय के दायें-बायें सींग में कार्य-कारण-पना नहीं है क्योंकि एक साथ रहने वाले में कार्यकारणभाव संभव नहीं है, अन्यथा कार्यकाल को प्राप्त करते हुये सभी को अनियम से कारणरूप मान लेंगे तब तो सभी कारण कार्य के साथ समान-क्षणवर्ती हैं अतः सभी कार्य भी कारणरूप हो जावेंगे।

बौद्ध—जिसके होने एवं न होने पर कार्य का होना एवं न होना निश्चित हो उसे ही कारण कहते हैं इस प्रकार से हम सौगत की कल्पना है।

जैन—पुनः कारणरूप से स्वीकृत जो “पूर्वक्षण है उसके होने पर उत्तरक्षण लक्षण कार्य तो नहीं होता है और स्वयमेव (पूर्वक्षणरूप कारण के बिना ही) नियम से पश्चात् होता है तब तो उस कारण का वह कार्य है यह कथन विरुद्ध है”, क्योंकि उत्तरक्षण लक्षण कार्य के लिये वह अकारण ही रहा अन्य कार्य के समान। अर्थात् पूर्वक्षण उत्तरक्षण के लिये कारण नहीं है क्योंकि उसके अभाव में भी उस उत्तरक्षण की उत्पत्ति देखी जाती है अथवा उस कार्य को उस कारण का अकार्यत्व सिद्ध है अन्य कार्य के समान। अर्थात् वह उत्तरक्षण कार्य पूर्वक्षण निमित्तक नहीं है क्योंकि पूर्वक्षण के

1 पूर्वक्षणलक्षण कारणं कार्यकालमप्राप्य वा कार्यं करोतीति द्विधा विकल्प्य क्रमेण दूषयन्नाह । 2 स्या० सौग-  
ताभ्युपगतं पूर्वक्षणस्वरूपं कारणमुत्तरक्षणरूपं कार्यं प्राप्नोति वा न वा । (दि० प्र०) 3 पूर्वक्षणस्य । (व्या० प्र०)  
4 क्षण । (दि० प्र०) 5 द्वितीयविकल्पः । 6 यथा घटलक्षणकार्यं प्राप्नुवतः तन्तुगदंभादि लक्षणस्य कारणत्वं  
न दृश्यते । अन्यथा दृश्यते चेत्तदा सर्वस्य समानक्षणवर्तिनोऽविवक्षितस्य कारणस्य विवक्षितकार्यकारणत्वं प्रसजति  
तथा नास्ति लोके । (दि० प्र०) 7 क्षणिकवस्तुनः । (व्या० प्र०) 8 सव्येतरगोविषाणवत् । 9 कार्यकालं प्राप्नुवतः  
सर्वस्यानियमेन कारणत्वे । 10 कार्येण सह । 11 विवक्षितकार्यम् । (दि० प्र०) 12 स्या० हे सौगत ! यस्य  
सत्ये कार्यस्य संभवः यस्यासत्त्वे कार्यस्यासंभवो घटते तदेव कारणमिति कल्पनायां क्रियमाणायां सत्यां तथापि कारणे  
सति अभवतः कार्यस्य स्वयमेव निश्चयेन पश्चात्संजायमानस्य पूर्वक्षणलक्षणकारणकार्यत्वं निषिद्धम् । कुतो यत्सौ-  
गताभ्युपगतं कारणं स्वयं विनश्य कार्यं जनयति तस्याकारणत्वघटनात् । यथाऽन्यकार्यजनकस्य कारणस्य कारणत्वं  
न घटते । अथवा कार्यस्य सौगताभ्युपगतकारणात् । अकार्यत्वसंभवात् तद्वत् । यथाऽन्यकार्यस्य । (दि० प्र०)  
13 सौगतस्य । 14 कारणत्वेनाभिमाने पूर्वक्षणे । 15 उत्तरक्षणलक्षणस्य कार्यस्य । 16 पूर्वक्षणरूपकारण-  
मन्तरेण । 17 पूर्वक्षणकार्यत्वम् । 18 उत्तरक्षणलक्षणे कार्ये । 19 विवक्षितकारणस्य । (व्या० प्र०) 20 पूर्वक्षण-  
मुत्तरक्षणस्य कारणं न भवति, तदभावेऽपि तस्योत्पादादित्यनुमानात् । 21 यसः । (व्या० प्र०) 22 ईप् ।  
(व्या० प्र०)

तस्य<sup>१</sup> वा <sup>२</sup>तदकार्यत्वसिद्धेस्तद्वत्<sup>३</sup> । कार्यमेव<sup>४</sup> <sup>५</sup>तदनन्तरं संभवतीति<sup>६</sup> चेत्, कालान्तरेपि किन्तु स्यात् ? <sup>७</sup>तदभावाविशेषात् <sup>८</sup>समनन्तरवत् \* । कालान्तरेपि किञ्चिद्भवत्येव<sup>९</sup> <sup>१०</sup>मूषिकाऽलक्षविषविकारवद्भावि राज्यादि<sup>११</sup> निमित्तकरतलरेखादिवच्चेति<sup>१२</sup> चेत्, <sup>१३</sup>समर्थं सत्य-  
भवतः<sup>१४</sup> पुनः कालान्तरे भाविनस्तत्प्रभवाभ्युपगमे<sup>१५</sup> कथमक्षणिकेऽर्थक्रियानुपपत्तिः, <sup>१६</sup>तत्स-

होने पर तो हुआ नहीं और स्वयमेव पश्चात् हो जाता है अन्य कार्य के समान । जैसे गेहूँ का अङ्कुर गेहूँरूप बीज के होने पर नहीं होता है उसी प्रकार वह जोरूप बीज के होने पर भी नहीं हुआ अतः उस गेहूँ के अङ्कुर के लिये दोनों ही बीज कारण नहीं हैं । वह अङ्कुर जैसे जो बीज का कार्य नहीं है वैसे ही गेहूँ के भी बीज का कार्य नहीं है ।

**बौद्ध**—कार्य ही तदनन्तर-पूर्वक्षण क्षण के अनन्तर ही उत्पन्न हो जाता है इसीलिये यह कार्य इस कारण से उत्पन्न हुआ है ऐसा कहा जाता है ।

**जैन**—“पुनः वह कार्य कालान्तर में क्यों नहीं हो जाता क्योंकि तत्—पूर्वक्षण का अभाव दोनों में ही समान है समनन्तर के समान अर्थात् पूर्वक्षण कारण नष्ट हो जाने पर” उत्तरक्षण कार्य उत्पन्न हुआ तब तो नष्ट हुआ पूर्वक्षण कारण कैसे रहा ? यदि मानों तो उससे पहले के भी दो, तीन, चार आदि क्षण नष्ट हो चुके हैं वे भी उस कार्य के कारण क्यों नहीं कहे जाते हैं ?

**बौद्ध**—कोई कार्य कालान्तर में भी होता ही है, जैसे मूषिका एवं अलक्ष (उन्मत्त) कुत्ते का विषविकार । इनके काटने पर कालान्तर में ही विष चढ़ता है एवं जैसे भावी राज्यादि के लिये होने वाली हाथ की रेखायें आदि । (आप जैन इन दोनों ही उदाहरणों में प्रत्यक्ष कारण का अविनाभाव स्वीकार करते हैं ।)

**जैन**—“समर्थ कारण के होने पर तो न होवे पुनः कालान्तर में होवे फिर भी उस कारण से यह कार्य उत्पन्न हुआ है ऐसा स्वीकार करने पर अक्षणिक-नित्य में भी अर्थक्रिया क्यों नहीं हो जावेगी क्योंकि कार्य के प्रति अकारणपता सत्त्व-नित्य और असत्त्व-अनित्य दोनों ही पक्ष में समान

१ विवक्षितकार्यस्य । २ तत्, तस्य पूर्वक्षणनिमित्तकं कार्यरूपत्वमुत्तरक्षणस्य कथं न ? तस्मिन् सत्यभावात्, स्वयमेव च पश्चाद्भावात् । ३ अन्यकार्यवत् । ४ तत्कार्यमेव इति पा० । (दि० प्र०) ५ (सौगत आह) पूर्व-  
क्षणक्षयानन्तरम् । ६ आह सौगतः । पूर्वक्षणलक्षणकारणसमयादनन्तरसमये यत्कार्यं संभवति । तत् । तस्यैव कारणस्य कार्यमेव इति चेत् । स्या० दीर्घकालान्तरेपि तत्कार्यं किं न भवेत् कुत उभयप्रकारस्याभावो न विशिष्यते मतः । (दि० प्र०) ७ तस्य पूर्वक्षणस्य । ८ काले । (व्या० प्र०) ९ कार्यम् । (व्या० प्र०) १० उन्मत्तः श्वा अलक्षः । अलक्ष इति पुस्तकान्तरे । ११ बसः । (व्या० प्र०) १२ अत्रोदाहरणे पूर्वस्मिन् जैनैर्दृष्टकारणस्याविनाभावः स्वी-  
क्रियते । १३ कारणे (जैनः प्राह) । १४ स्या० कारणे समर्थे सति कार्यं न भवति कालान्तरे भवति तथापि सौगत-  
स्तत्कार्यमभ्युपगच्छति चेत्तदा सांख्याभ्युपगते सर्वथा नित्येऽर्थक्रिया कथं नोत्पद्यतेऽपितृत्पद्यत एव । कुतः तयोः सर्वथा-  
नित्यक्षणिकयोः सत्त्वासत्त्वाभ्यां विशेषाभावात् । (दि० प्र०) १५ विवक्षितक्षणे । (दि० प्र०) १६ (अक्षणिके नित्य-  
त्वात्कार्योत्पादकत्वं न घटते, नित्ये क्रियाविरोधात्, क्षणिके तु असत्त्वादेवेत्यविशेषः) ।

त्वासत्त्वयोरविशेषात्<sup>१</sup> \* । <sup>२</sup>स्वसत्ताक्षणात्पूर्व<sup>३</sup> पश्चाच्चासति समर्थे <sup>४</sup>कारणे <sup>५</sup>स्वकाल-  
नियताऽर्थक्रियोपपद्यते<sup>६</sup>, न पुनः <sup>७</sup>शाश्वत्सतीति<sup>८</sup> कुतो नियमः ? <sup>९</sup>कारणसामर्थ्यपेक्षिणः  
फलस्य <sup>१०</sup>कालनियमकल्पनायाभचलपक्षेपि<sup>११</sup> समानः परिहारः \* । <sup>१२</sup>यथैव हि, क्षणिकं कारणं  
यद्यदा यत्र यथोत्पत्तिस्तु कार्यं तत्तदा तत्र <sup>१३</sup>तथोत्पादयति<sup>१४</sup>, <sup>१५</sup>तस्यैवंविधसामर्थ्यसद्भावाद्  
<sup>१६</sup>तत्सामर्थ्यपेक्षिणः कार्यस्य स्वकालनियमः <sup>१७</sup>सिध्यतीति कल्प्यते तथा नित्यमपि कारणं  
यद्यदा यत्र यथा फलमुत्पत्तिस्तु तत्तदा तत्र <sup>१८</sup>तथोपजनयति, <sup>१९</sup>तस्य तादृशसामर्थ्ययोगात्

ही है ।” अर्थात् अक्षणिक में नित्यपना होने से कार्य का उत्पाद नहीं घटता है क्योंकि नित्य में क्रिया का विरोध है और क्षणिक में असत् होने से कार्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती है क्योंकि पूर्वक्षण का नष्ट हुआ कारण कार्य का जनक कैसे होगा ?

बौद्ध—स्वसत्ताक्षण अपने अस्तित्व के पूर्व और पश्चात् में तो समर्थ कारण नहीं हैं किन्तु अपने वर्तमान मात्र काल में विद्यमान हैं । उसके स्वकीय वर्तमान काल में नियत-निश्चित भोजूद होने से अर्थक्रिया बन जाती है—

किन्तु शाश्वत्-सत्—नित्य कारण में वह अर्थक्रिया नहीं हो सकती है ।

जैन—इस प्रकार का नियम कैसे होगा कि क्षणिक में तो अर्थक्रिया हो जावे और नित्य में न हो सके ?

बौद्ध—“कारण सामर्थ्य की अपेक्षा रखने वाले फलरूप कार्य में काल का नियम है । अर्थात् जब समर्थ कारण होता है भले ही वह विनष्ट हो चुका है फिर भी उसी अनन्तर क्षण में कार्य उत्पन्न हो जाता है अतः काल ही क्षणिक में अर्थक्रिया का नियामक है ।

जैन—यदि आप काल के नियम को कल्पना करते हैं तब तो अचल—नित्य पक्ष में भी परिहार समान ही है ।” अर्थात् नित्यपक्ष में भी समर्थरूप कारण के होने पर ही कार्य होता है सर्वत्र नहीं अतः नित्यवाद में भी समर्थकारण का काल कार्य का नियामक होने से नित्य में भी अर्थक्रिया संभव है । ऐसा मान लेना चाहिये ।

१ (कार्यं प्रत्यकारणत्वेन) । २ क्षणिककारणस्य सत्ता । ३ पुनः नित्ये स्वसत्ताक्षणात् पूर्व पश्चाच्च विद्यमाने स्वकालनियताऽर्थक्रिया नोपपद्यते सौगतस्येति नियमः कस्माज्जायते न जायतेऽस्माभिः । (दि० प्र०) ४ किन्तु स्वकी-  
यवर्तमानकाले सति । ५ स्वकालो वर्तमानः । ६ अर्थस्य क्रियाकार्यम् । (व्या० प्र०) ७ नित्ये कारणे । ८ एवम् ।  
(व्या० प्र०) ९ कार्यस्य । (व्या० प्र०) १० सौगतमते । ११ नित्यपक्षे । १२ भवन्मते । १३ कर्तृभूतं क्षणिकं  
कारणमिति पूर्वोक्तान्वयः । १४ तथोत्पादनायाऽतीतस्य इति पा० । (दि० प्र०) १५ क्षणिकरूपस्य कारणस्य ।  
१६ कारण । (दि० प्र०) १७ इति सौगतेन कालनियमः कल्प्यते यथा तथा जैननित्यमित्यादि । १८ इति ।  
(दि० प्र०) १९ नित्यस्य कारणस्य ।

<sup>1</sup>तत्सामर्थ्यापेक्षिणः फलस्य<sup>2</sup> कालनियमः किञ्च कल्पयितुं शक्यः<sup>3</sup> ? शाश्वतिकस्य<sup>4</sup> प्रति-  
कार्यं सामर्थ्यभेदादनित्यत्वप्रसङ्ग इति चेत्, <sup>5</sup>क्षणिकस्याप्येकस्य युगपदनेककार्यकारिणः<sup>6</sup> प्रति-  
कार्यं सामर्थ्यभेदादनेकत्वप्रसङ्गात् । <sup>7</sup>क्षणवर्तिन <sup>8</sup>एकस्मात्कारणस्वभावमभेदयतां<sup>9</sup> विचित्र-  
<sup>10</sup>कर्मणामुत्पत्तौ<sup>11</sup> कूटस्थेपि<sup>12</sup> किं न स्यात्<sup>13</sup> क्रमशः कार्योत्पत्तिः ? \* <sup>14</sup>तस्यापि तथाविधैक-  
स्वभावत्वात्<sup>15</sup> ।

बौद्ध—हमारे मत में जिस प्रकार से जो कार्य जब जहाँ पर जिस प्रकार से उत्पन्न होना चाहता है तब वह क्षणिक कारण उसी समय वहाँ पर उसी प्रकार से उस कार्य को उत्पन्न कर देता है क्योंकि उस क्षणिकरूप कारण में इस प्रकार की सामर्थ्य पाई जाती है अतएव उस क्षणिक कारण-रूप सामर्थ्य की अपेक्षा रखने वाले कार्य में स्वकाल—अपने समय का नियम सिद्ध ही है ।

जैन—यदि आपकी ऐसी मान्यता है तब तो इसीप्रकार से नित्यपक्ष में भी जिस समय जहाँ जिस प्रकार से जो कार्य उत्पन्न होने का इच्छुक है वह नित्य कारण भी उसी समय वहीं पर वैसे ही कार्य को उत्पन्न कर देता है क्योंकि उस नित्य कारण में वैसी ही सामर्थ्य का योग है अतः उस नित्यकारणरूप सामर्थ्य की अपेक्षा करने वाले कार्य में काल का नियम हो सकता है ऐसी कल्पना नित्य में शक्य क्यों नहीं है ? अर्थात् नित्य पक्ष में भी हम ऐसी कल्पना कर सकते हैं कोई बाधा नहीं है ।

बौद्ध—जो शाश्वतिक नित्य है उसमें प्रत्येक कार्य की उत्पत्ति के लिये सामर्थ्य भेद मान लेने से अनित्यत्व का प्रसङ्ग आ जावेगा । अर्थात् नित्य पक्ष में सभी पदार्थ चाहे कारणरूप हों, चाहे कार्य-रूप हों नित्य ही हैं जैसे कि आत्मा आकाश आदि पदार्थ नित्य हैं पुनः नित्यकारण नित्य एक है अनेक कार्यों की उत्पत्ति में उस कारण में सामर्थ्य भेद मानना ही पड़ेगा ।

जैन—ऐसा नहीं कह सकते क्योंकि क्षणिक भी एक कारण युगपत् उपादान और सहकारीरूप से अनेक कार्य को करने वाला है अतः उसमें भी प्रत्येक कार्य के प्रति सामर्थ्य भेद होने से अनेकपने का प्रसङ्ग प्राप्त हो जावेगा क्योंकि “क्षणवर्ती एक कारण से कारणस्वभाव में भेद न मानते हुये भी विचित्र—अनेक कार्यों की उत्पत्ति तो आप मान लेते हैं पुनः कूटस्थ नित्य में क्रमशः कार्य की उत्पत्ति क्यों नहीं मानने हैं ?” क्योंकि वह भी उसी प्रकार के एक स्वभाववाला है । अर्थात् नित्य-कारण भी क्रमभावी अनेक कार्य को उत्पन्न करने के स्वभाववाला है ।

1 कारण । (दि० प्र०) 2 कार्यस्य । (दि० प्र०) 3 सौगतैः । (दि० प्र०) 4 आह सौगतः नित्यस्य कार्यं कार्यं प्रतिसामर्थ्यं भिद्यते तस्मात्तस्यानित्यत्वं प्रसजतीति चेत् । (दि० प्र०) कूटस्थनित्यस्य । (व्या० प्र०) 5 कारणस्य । 6 उपादानत्वं सहकारित्वमिति द्वयरूपेण । 7 (हे सौगत) क्षणिकात् । 8 कारणात् । 9 कारणभेदमकुर्वताम् । 10 अनेककार्याणाम् । 11 युगपत् । (व्या० प्र०) 12 नित्ये । (व्या० प्र०) 13 कूटस्थादपि कारणादेकस्मात्कारणस्वभावमभेदयतामित्यादि योज्यम् । 14 नित्यस्य । (दि० प्र०) 15 नित्यस्यापि क्रमभाष्यनेककार्योत्पादनस्वभावत्वात्, यथा क्षणिकस्य ।

[ बौद्धो-नित्यपक्षे कार्यस्योत्पत्तिं न मन्यते तस्य विचारः ]

<sup>1</sup>कथमत्रोत्पत्तिर्नाम ? तत्र<sup>2</sup> समानः पर्यनुयोगः, <sup>3</sup>सदसतोरनुत्पत्ते<sup>4</sup>निष्पन्नखपुष्प-  
वत्<sup>5</sup> \* । नित्यं कथमुत्पद्यते सत्त्वान्निष्पन्नवदिति<sup>6</sup> <sup>7</sup>पर्यनुयुज्यते, न पुनः क्षणिकं कथं <sup>8</sup>प्रादुर्भ-  
वेत् ? असत्त्वात्खपुष्पवदिति पर्यनुयोगार्हमिति<sup>9</sup> पक्षपातमात्रम्<sup>10</sup> । <sup>11</sup>सतः <sup>12</sup>पुनर्गुणान्तराधान-<sup>13</sup>  
मनेकं<sup>14</sup> <sup>15</sup>क्रमशोप्यनुभवतः किं <sup>16</sup>विरुद्ध्यते, ? \* । <sup>17</sup>नन्वेकत्वं<sup>18</sup> विरुद्ध्यते<sup>19</sup> । स<sup>20</sup> हि गुणा-

[ बौद्ध नित्यपक्ष में कार्य की उत्पत्ति नहीं मानता है उस पर विचार ]

बौद्ध—“इस नित्यपक्ष में कार्य की उत्पत्ति कैसे होगी ?

जैन—आपके अनित्य—क्षणिक में उत्पत्ति कैसे होगी ? यह समान ही प्रश्न चलेगा क्योंकि सर्वथा सत् अथवा असत् की उत्पत्ति हो नहीं सकती है जैसे निष्पन्न आत्मा की उत्पत्ति नहीं हो सकती एवं आकाश पुष्प की भी उत्पत्ति नहीं हो सकती अर्थात्” सर्वथा सत्-विद्यमान की उत्पत्ति नहीं हो सकती, जैसे आत्मा आदि निष्पन्न पदार्थ उत्पन्न नहीं होते तथैव सर्वथा असत्-अविद्यमान की भी उत्पत्ति नहीं हो सकती जैसे आकाश के फूल आदि नहीं उत्पन्न होते हैं । “नित्य कैसे उत्पन्न होगा क्योंकि वह सत् रूप है निष्पन्न आत्मा आदि के समान ।”

इस प्रकार आपने प्रश्न किया है तथैव पुनः “क्षणिक कैसे उत्पन्न होगा असत् होने से आकाश फूल के समान” ऐसा भी आप बौद्ध क्यों नहीं प्रश्न करते हैं अर्थात् ऐसा भी प्रश्न आपको करना चाहिये । और नहीं करने में केवल पक्षपातमात्र ही कारण है अन्य कुछ नहीं ।

“पुनः नित्य वस्तु में गुणान्तराधान—सुख-दुःख आदि अनेकों का क्रमशः अनुभव होता क्या विरुद्ध है ? अर्थात् अविरुद्ध हो है” तात्पर्य यह है कि नित्य आत्मा में भी सुख-दुःख आदि अनेकों गुणों का अनुभव क्रम से ही हो रहा है इसमें कुछ भी विरोध नहीं आता है ।

बौद्ध—उस नित्य में एकत्व का विरोध है हम आपसे प्रश्न करते हैं कि वे नित्य आत्मादि पदार्थ गुणान्तराधान ज्ञान से ज्ञानान्तर भावरूप अनेकों का क्रमशः अनुभव करते हुये यदि वे एक स्वभाव

1 बौद्धः शङ्कते, हे स्याद्वादिन् अत्र नित्ये कथमुत्पत्तिर्नामिति । 2 स्याद्वादी उत्तरयति—तत्र क्षणिके कथमुत्पत्तिः स्यादिति सम आचयोः पर्यनुयोगः (प्रश्नः) । 3 सर्वथा सतोऽप्यनुत्पत्तौ निष्पन्न- (आत्मादि) वदिति दृष्टान्तः, सर्वथाऽसतोऽनुत्पत्तौ खपुष्पं दृष्टान्तो ज्ञेयः । 4 क्रमेण सर्वथा सतोऽनुत्पत्तौ निष्पन्न- (द्वन्द्वः) । (दि० प्र०) 5 पुरुषवत् । (व्या० प्र०) 6 सौगतेन । 7 प्रादुर्भवति इति पा० । (दि० प्र०) 8 इति पर्यनुयोगार्हं नेति सौगतेनोक्ते स्याद्वादी आह इति मौगतोक्तं पक्षपातमात्रमिदं । 9 पक्षमात्रमिति पा० । (दि० प्र०) 10 नित्यस्य । 11 शक्तिविशेषः । (दि० प्र०) 12 गुणान्तरं सुखदुःखादि । 13 आधानं स्वीकारः । 14 प्राप्नुवतः सतः । 15 अपि तु न किमपि । 16 सांख्यमतमालम्ब्य स्याद्वाद्याह । हे सौगत ! सतो नित्यस्यनेकं गुणान्तरातिशयं क्रमेणाप्यनुभवतः किं विरुद्ध्यते इति मया पृच्छते भवान् । (दि० प्र०) 17 नित्यस्य । 18 सौगतः सत्त्वक्षणस्थ नित्यस्यैकत्वं विरुद्ध्यते । पुनराह स्याद्वादी स हि सत् अनेकं गुणान्तराधानमनुभवतु परन्तु एकेन स्वभावेनानुभवेत् । अनेकेन स्वभावेन वेति सांख्यप्रतिप्रश्नः । (दि० प्र०) 20 नित्य आत्मादिपदार्थः ।



न्तराधानमेकेन<sup>१</sup> क्रमशोऽनुभवन्<sup>२</sup> यद्येकेन स्वभावेनानुभवेत्तदा<sup>३</sup> तस्यैकस्वभावतापत्तिः<sup>४</sup>,  
अन्यथा<sup>५</sup> निर्हेतुकत्वप्रसङ्गात्<sup>६</sup>,<sup>७</sup> तदनुभवनस्य<sup>८</sup> नियमायोगात्<sup>९</sup> । अथानेकेन स्वभावेन तद-  
नुभवेत्तदा<sup>१०</sup> कथमेकस्वभावता तस्य<sup>११</sup> । अनेकस्वभावस्य<sup>१२</sup> ततो<sup>१३</sup> भेदात्तस्यैकरूपत्वे<sup>१४</sup> १५ कुतोऽय-  
मस्यानेकस्वभावः ? संबन्धात्तस्य<sup>१६</sup> १७ इति कस्यापि<sup>१८</sup> स सिद्धिः<sup>१९</sup> परपक्षेऽप्यैर्गुणान्तराधा-  
नानुभवनहेतुः किमेकेन स्वभावेन स्यादनेकेन वेति स एव पर्यनुयोगोऽनवस्था च । इति  
२० कश्चित् सोपि<sup>२१</sup> दूषणाभासवादी<sup>२२</sup>, २३ स्वयमिष्टस्यैकस्य ज्ञानस्य ग्राह्यग्राहकाकार<sup>२४</sup> वैश्वरूप्य-

से उन गुणों का अनुभव करते हैं तब उन सभी भिन्न गुणों को एक स्वभाव की आपत्ति आ जावेगी  
अन्यथा वे नित्य पदार्थ निर्हेतुक ही जावेंगे क्योंकि नित्य अनुभव में नियामक का अभाव है । पुनः  
यदि आप कहें कि वे नित्य पदार्थ अनेक स्वभाव से उन गुणान्तरों (भिन्न-भिन्न गुणों) का अनुभव  
करते हैं तब तो नित्य आत्मादि को एक स्वभावता कैसे रहेगी ? और यदि आप जैन अनेक स्वभाव  
को उस नित्य से भिन्न मानें तब तो वह नित्य एक स्वभाव रूप ही जावेगा पुनः उसके अनेक स्वभाव  
कैसे हो सकेंगे ? यदि आप कहें कि सम्बन्ध से वह अनेक स्वभाव उस नित्य के हैं तो पुनः वह सम्बन्ध  
नित्य स्वभावों से गुणान्तराधान के अनुभव का हेतु है । तब पुनः यह बतलाइये कि वह सम्बन्ध एक  
स्वभाव से उन गुणान्तरों का अनुभव करता है या अनेक स्वभाव से ? वही-वही प्रश्न पुनः होता  
रहेगा । तथा च अनवस्था भी आ जावेगी और इस प्रकार से आप जैन कभी भी नित्य वस्तु की सिद्धि  
नहीं कर सकेंगे ।

जैन—आप बौद्ध केवल दूषणाभासवादी हैं अर्थात् आप गुणों में दोषों का आरोप करने वाले  
हैं क्योंकि परपक्ष-नित्य में दिये गये दूषण सभी स्वपक्ष-अनित्य में भी समान हैं । स्वयं आपके द्वारा  
इष्ट—स्वीकृत एक ज्ञान में (विज्ञानाद्वैत) में ग्राह्य-ग्राहकाकाररूप अनेकपने को विरोध का प्रसंग  
आ जावेगा क्योंकि उपर्युक्त प्रकृत प्रश्न उसमें भी समानरूप से किये जा सकेंगे ।

१ ज्ञानाज्ञानान्तरभावरूपम् । २ स नित्यो गुणान्तराधानमेकेनानेकेन वा स्वभावेनानुभवेदिति विकल्प्य क्रमेण  
दूषयति । ३ गुणान्तरस्य पूर्वोक्तं सह । ४ तस्यानेकगुणान्तराधानानुभवस्य निश्चयासंभवात् । (दि० प्र०)  
५ क्रमभाष्यनेकगुणान्तरानुभवनस्य हेतूनां स्वभावानामभावादेकस्वभावस्यैवांगीकृतत्वात् । (दि० प्र०) ६ नित्यस्य ।  
७ नित्यानुभवनस्य । ८ कारणभूतस्वभावमन्तरेणापि गुणान्तराधानानुभवनं यदि घटेत् तर्हि तस्य द्रव्यक्षेत्रकाल-  
भावनियमो मा भूदिति भावः । (दि० प्र०) ९ एकेन स्वभावेन संभवतो गुणान्तराधानस्यानेकत्वमस्ति चेति नियाम-  
कस्याभावात् । १० स्याद्वादी वदति सोप्येवं जल्पकः सौगतः दूषणाभासवादी भवति । कोऽर्थः यथा सौगतेन  
नित्यवादिनो दूषणं दत्तं तथा तस्याप्यायाति । (दि० प्र०) ११ नित्यस्यात्सादेः । १२ नित्यात् । १३ नित्यस्य ।  
१४ तस्यैकस्वभावत्वे इति पा० । (व्या० प्र०) १५ आत्मा । (व्या० प्र०) १६ नित्यस्य । १७ अनेकस्वभावः ।  
१८ जैनस्य । १९ नित्यस्वभावैः । २० सौगतः (इतो जैनो ब्रूते) । २१ स्याद्वादी वदति सोप्येवं जल्पकः सौगतः  
दूषणाभासवादी भवति । कोऽर्थः यथा सौगतेन नित्यवादिनो दूषणं दत्तं तथा तस्याप्यायाति । (दि० प्र०) २२ परपक्षे  
प्रयुक्तस्य दूषणस्य स्वपक्षेऽपि समानत्वात् । २३ सौगतेन । २४ वैश्वरूप्यं नानारूपत्वम् ।

विरोधप्रसङ्गात्, <sup>1</sup>प्रकृतपर्यनु<sup>2</sup>योगस्याविशेषात् <sup>3</sup>। क्षणस्थायिनः<sup>4</sup> <sup>5</sup>कस्यचिदेव ग्राह्यग्राहका-  
कारवैश्वरूप्यान्भ्युपगमेपि<sup>6</sup> <sup>7</sup>तन्निर्विकल्पकान्<sup>8</sup> ग्राह्यग्राहकाकारविवेक<sup>9</sup> परोक्षं<sup>10</sup> विभ्राणस्य  
<sup>11</sup>सामर्थ्यप्राप्तेः \*, <sup>12</sup>संवेदनस्यैकस्य प्रत्यक्षपरोक्षाकारतया <sup>13</sup>वैश्वरूप्यसिद्धेः <sup>14</sup>संविद्रूपतया

**क्षणस्थायी**—किसी संवेदन में ग्राह्य-ग्राहकाकार वैश्वरूप्य स्वीकार न करने पर भी संवित-  
ज्ञान—प्रत्यक्षज्ञान ग्राह्य-ग्राहकाकार से भेदरूप परोक्ष को प्राप्त होता हुआ सामर्थ्य से प्राप्त है।  
क्योंकि एक निर्विकल्प प्रत्यक्षज्ञान में ही प्रत्यक्ष-परोक्षाकारपना होने से वैश्वरूप—अनेकरूप सिद्ध है।

**बौद्ध**—संविद्रूप से संवेदन में प्रत्यक्षता ही है और ग्राह्य-ग्राहकाकार से पृथक् होने से भी  
प्रत्यक्षता ही है न पुनः परोक्षता, कि जिससे वैश्वरूप्य अनेकाकार उपर्युक्त प्रश्न के योग्य होवे अर्थात्  
उपर्युक्त प्रश्न-संवेदनाद्वैत एक स्वभाव से ग्राह्य-ग्राहकाकार को स्वीकार करता है या अनेक  
स्वभाव से ? इत्यादि प्रश्न हमारे यहाँ आप नहीं कर सकते हैं क्योंकि हमने विज्ञानाद्वैत को निरंश  
एकरूप माना है।

**जैन**—नहीं। उस प्रकार एक बार भी वैसा प्रतिभास नहीं होता है जैसे कि निरंश एकरूप ब्रह्म  
का प्रतिभास नहीं होता है। अर्थात् निर्विशेष सामान्यरूप से ब्रह्माद्वैत भी प्रतिभासित नहीं होता है

1 स हि गुणान्तराधानमित्यादिपर्यनुयोगस्य । यतोत्रापि स सर्वोपि पर्यनुयोगः संघटते । 2 ज्ञानं ग्राह्यग्राहकाकार-  
मेकस्वभावेन स्वीकरोत्यनेकेन वा इत्यादि । ज्ञानं प्रत्यक्षपरोक्षाकारावेकस्वभावेन स्वीकरोत्यनेकेन वेत्यादि ।  
(दि० प्र०) 3 यद्वृषणं सौगतेन सांख्यस्य दत्तं तत्सौगतस्याप्यायाति कथमित्युक्ते स्याद्वाचाह । सौगताभ्युप-  
गतमेकं संविन्मात्रं कर्तृग्राह्यग्राहकाकारवैश्वरूपं क्रमणोज्जुभवत् । अनेकेन स्वभावेनानुभवेत् एकेन वेति प्रश्नः ।  
वक्ष्येकेन तदा तस्यैक स्वभावतापत्तिः । अथानेकेन कथमेकस्वभावस्तस्या । = संवेदनाद्ग्राह्यग्राहकाकारं भिन्नमिति  
चेत्तदा तस्यैक स्वरूपत्वे सत्यस्येदमिति व्यपदेशः कुतः । संबन्धात्तस्य तदिति कल्पनायां क्रियमाणायां परैः । स्या०  
संसंबन्धः स्वस्वभावीः ग्राह्यग्राहकाकारवैश्वरूप्यानुभवन् हेतुः । एकेन स्वभावेनानेकेन वा स्यादिति प्रश्नः । अत्रा-  
प्युत्तरं ततो नित्यार्थादनेकस्वभावो भिन्न इति चेत्तदा नित्यार्थस्यैकस्वरूपत्वे सत्यास्यायमनेकस्वभाव इति  
व्यपदेशः कथं स इति प्रश्ने सौगत आह हे स्या० ! संबन्धात्तस्य स इति कल्पनायां क्रियमाणायाम् । स्या० संसंबन्धः  
स्वस्वभावीः कृत्वा किमनेकेन स्वभावेनैकेन वा गुणान्तराधानानुभवन् हेतुः स्यादिति प्रश्नः । यद्यनेकेन तदा तस्य कुत  
एकस्वभावः । अथैकेन तदा तस्याप्येकस्वभावतापत्तिः । ततः संबन्धादनेक स्वभावो भिन्न इति चेत्तदा संबन्धस्य  
एकस्वरूपत्वे सति अस्यायमिति व्यपदेशः कुतः । संबन्धात्तस्य स इति कल्पनायाः पुनः पुनः स एव प्रश्नः ।  
एकमनवस्था च स्यात् । उभयत्र विशेषाभावात् । (दि० प्र०) 4 विरुद्धधत्तामेवासमदिष्टस्य ज्ञानस्य  
ग्राह्यग्राहकाकारवैश्वरूप्यं तस्य निरंशत्वादिति माध्यमिकमतमाश्रित्य । (दि० प्र०) 5 संवेदनस्य । 6 एवम-  
नभ्युपगमेपि यदि विरोधो जैनैर्दीयते तर्हि केन दार्यते परं त्वस्माकं मते ज्ञानस्य ग्राह्यग्राहकाकारौ नेष्टौ स्तः ।  
7 अनुभूत । (दि० प्र०) 8 प्रत्यक्षज्ञानस्य । 9 पृथग्भावम् । 10 विशेषणम् । 11 (परोक्षतां विभ्राणस्यैव  
ज्ञानस्य (परोक्षस्य) ग्राह्यग्राहकाकाररूपेण भेदः सामर्थ्यप्राप्तोस्ति, न प्रत्यक्षस्य) । 12 निर्विकल्पकस्य । 13 ता ।  
(दि० प्र०) 14 सौगतः । (दि० प्र०)

संवेदनस्य प्रत्यक्षतैव <sup>१</sup>ग्राह्यग्राहकाकारविविक्ततयापि<sup>२</sup> प्रत्यक्षता, न पुनः परोक्षता यतो वैश्वरूप्यं <sup>३</sup>प्रकृतपर्यनुयोगयोग्यं भवेदिति चेन्न, <sup>४</sup>तथा<sup>५</sup> सकृदप्यप्रतिभासनाद्ब्रह्मा<sup>६</sup>द्वैतवत्<sup>७</sup>, ग्राह्यग्राहकाकाराक्रान्तस्यैव सर्वदा वेदनस्यानुभवात् । ततः<sup>८</sup> संवेदनमेकभनेकं प्रत्यक्षपरोक्षाकारौ विभ्राणं<sup>९</sup> <sup>१०</sup>सामर्थ्यप्राप्तमेव, <sup>११</sup>अन्यथा <sup>१२</sup>शून्यसंविदोविप्रति<sup>१३</sup>षेधात्<sup>१४</sup> \* । <sup>१५</sup>ग्राह्यग्राहकाकारशून्यतया हि शून्यम् । <sup>१६</sup>संवेदनमात्रमुपय<sup>१७</sup>तस्मात्संविदुपपद्यते<sup>१८</sup>, न पुनः <sup>१९</sup>संविन्मात्र-

तथैव आपका संवेदनाद्वैत भी प्रतिभासित नहीं होता है क्योंकि सदैव ही ग्राह्य-ग्राहकाकार से आक्रान्त-सहित ही वेदन-ज्ञान का अनुभव होता है । अतएव एक ही ज्ञान प्रत्यक्ष और परोक्षाकार को धारण करते हुये अनेकरूप अर्थापत्ति—सामर्थ्य से प्राप्त है । अन्यथा “शून्यवाद और संवित् का परस्पर में विरोध होने से दोनों का निराकरण हो जावेगा ।”

अर्थात् इस प्रकार से प्रत्यक्ष-परोक्ष आकार को धारण करता हुआ सत् रूप ज्ञान अनेक सामर्थ्य से सिद्ध है फिर भी यदि आप स्वीकार नहीं करेंगे तब तो शून्यवाद का प्रसंग आ जावेगा और जब आप संवित्—ज्ञानमात्र को ही स्वीकार करेंगे तब शून्यवाद का विरोध हो जावेगा क्योंकि संवेदन-ज्ञान का असत्त्व होना शून्य है और ज्ञान का अनुभव होना संवित् है । इन दोनों का परस्पर में विरोध है ।

जो ग्राह्य-ग्राहकाकार से रहित है उसे शून्य कहते हैं और संवेदनमात्र को स्वीकार करते हुये वह संवित् उत्पन्न होती है । पुनः उस संविन्मात्र को भी “असत्” ऐसा कहते हुये बौद्ध के यहाँ विरोध आता है और उनके स्वमत की सिद्धि नहीं होती है केवल प्रलापमात्र का ही प्रसंग आता है ।

१ पृथक्तया । २ शून्यतया । (दि० प्र०) ३ संविद्वैतमेकेन स्वभावेनानेकेन वा ग्राह्यग्राहकाकारं स्वीकरोतीति । ४ (इतो जैनः ग्राह्य, ग्राह्यग्राहकाकारतयापि प्रत्यक्षत्वे) । ५ स्या० एवं न । कुतः । संवेदनस्य प्रत्यक्षता प्रतिपाद्यते यथा सौगर्तः । तथा एकवारमपि न प्रतिभासते लोके । यथा ब्रह्माद्वैतस्य प्रत्यक्षता न प्रतिभासते । (दि० प्र०) ६ निर्विशेषत्वेन यथा ब्रह्माद्वैतं न प्रतिभासते । ७ ग्राह्यग्राहकाकारविविक्ततया राहित्येन संवेदनस्य प्रत्यक्षता न संभवति यतः । (दि० प्र०) ८ ग्राह्यग्राहकाकारविविक्ततया संवेदनस्य प्रत्यक्षता न संभवति यतः । ९ ग्राह्यग्राहकाकारविविक्ततया प्रत्यक्षमेवाकारं विभ्रयात् । (दि० प्र०) १० युक्तिबलात् । (दि० प्र०) ११ ग्राह्यग्राहकाकारविविक्ततयापि प्रत्यक्षमेवाकारं विभ्रयाद्यदि । १२ एवं प्रत्यक्षपरोक्षाकारौ विभ्राणं सदानेकं ज्ञानं सामर्थ्यप्राप्तमपि यदि नेष्यते तदा शून्यवादप्रसङ्गः । स च संविन्मात्राभ्युपगमेन विरुध्यते । १३ संवेदनस्यासत्त्वं शून्यं, संवेदनस्यानुभवः संवित् । तयोः परस्परं विरोधात् । (संविद्रूपं मन्यते सौगर्तः शून्यवादश्चोपपाद्यते इति परस्परविरोधः) । १४ संवेदनमेव नास्ति कथं संवेदनानुभव इति विरोधः । १५ (परस्परविरोधमेव दर्शयति) । १६ ग्राह्यग्राहकाकाररहितमित्यर्थः (दि० प्र०) १७ अभ्युपगच्छतः । उपवर्णयतः इति पाठान्तरम् । १८ (संवेदनमात्रम्) । १९ स्वाभिमतं संविन्मात्रमुपयत्तस्तु तत्संविन्मात्रं संविदुपपद्यते सिध्यति । परन्तु तत्संविन्मात्रमपि यदि न स्वीकुर्यात् किन्तु असदित्युपवर्णयेत्तदा तस्य संविन्नं सिध्येत्, यतः परस्परं संविदसतोविप्रतिषेधः । तत एव च स्वेष्टासिद्धि-बौद्धस्य ।

मप्यसदुपवर्णयतो<sup>1</sup>, <sup>2</sup> विप्रतिषेधात्स्वेष्टासिद्धेः<sup>3</sup> प्रलापमात्रप्रसक्तेः ।

[ कारणं कार्यकाले विद्यते न वा ? ]

<sup>4</sup>तदयं \* योगाचारः सौत्रान्तिको वा सर्वथा <sup>5</sup>शून्यं संविदद्वैतं<sup>6</sup> वानिच्छन्, क्षणस्थायि कारणं स्वसत्तायां<sup>7</sup> कार्यं कुर्वदभ्युपगच्छन् <sup>8</sup>क्रमोत्पत्तिमुपरुणद्धि<sup>9</sup> <sup>10</sup>सकलजगदेकक्षणवृत्ति-प्रसङ्गात्<sup>11</sup> \* । <sup>12</sup>कालान्तरे कार्यं कुर्वत्कारणं क्षणिकमभ्युपगच्छतां<sup>13</sup> नायं दोष इति चेन्न,

अर्थात् सर्वथा शून्यवाद में अथवा सर्वथा संवेदनाद्वैत में प्रत्यक्ष-परोक्षाकार अनेकरूप का सद्भाव है अतएव उपर्युक्त प्रश्नों की निवृत्ति नहीं हो सकती है इसका समर्थन किया है ।

[ कारणकार्य के काल में रहता है या नहीं ? ]

“अतएव आप”—योगाचार अथवा सौत्रान्तिक सर्वथा शून्य अथवा सर्वथा संवेदनाद्वैत को स्वीकार न करते हुये कहें कि—

“क्षणस्थायी एकक्षणवृत्ति कारण स्वसत्ता में (स्वकाल-वर्तमान काल में) कार्य को करता है तब तो क्रम से कार्योत्पत्ति का विरोध आता है । अन्यथा सकल जगत् को एकक्षणमात्र ही रहने का प्रसंग आ जावेगा ।” अर्थात्—योगाचार संवेदनाद्वैतवादी है वह सर्वथा शून्यवाद को स्वीकार नहीं करता है और सौत्रान्तिक अन्तर्बाल्य उभयतत्त्ववादी है अतः वह संवेदनाद्वैत स्वीकार नहीं करता है ।

पुनः दोनों कहते हैं कि कारण एकक्षणमात्र रहता है और अपने अस्तित्व काल में ही कार्य को कर डालता है । आचार्य कहते हैं कि तब तो कारण के बाद कार्य होता है ऐसा क्रम नहीं बनेगा और सम्पूर्ण जगत् के सभी कारण कार्य एक समय में ही हो जावेंगे, किन्तु ऐसा दिखता नहीं है ।

बौद्ध—हम लोग क्षणिक कारण को कालान्तर में कार्य को करने वाला मानते हैं इसलिये यह दोष नहीं आता है ।

“जैन—नहीं, ऐसा मानने पर भी आपके यहाँ यदि कारण कार्य के काल को प्राप्त करता है तथा क्षणभङ्गुर है इस कथन के भङ्ग-अभाव का प्रसङ्ग प्राप्त होता है । एवं कारण दो क्षण रहने से

1 असदित्युपवर्णनं बलादायातं यतो ग्राह्यग्राहकाकारं नास्ति । 2 संवेदनमेव नास्ति कथं संवेदनानुभव इति विरोधः । (दि० प्र०) 3 ग्राह्यग्राहकाकारविविक्ततायापि प्रत्यक्षस्य संवेदनमात्रस्यानुभवः स्वेष्टः (तस्यासिद्धिर्यतो विप्रतिषेधः परस्परम्) । 4 सर्वथा शून्यवादे संविदद्वैते वा प्रत्यक्षपरोक्षाकारो वैश्वरूप्यसद्भावश्च प्रकृतपर्यनुयोगस्या-निवृत्तिहेतुः समर्थितो यतः । 5 सर्वथा शून्यमनिच्छन् योगाचारः । संविदद्वैतं वानिच्छन् सौत्रान्तिकः । (दि० प्र०) 6 मध्यक्षणमात्रम् । (व्या० प्र०) 7 वर्तमानकाले । (व्या० प्र०) 8 आवृणोति । 9 सौगतः । यस्मात्किञ्चित्कारणं स्वसत्ताक्षण एव कार्यकारीतीत्यभ्युपगमे सकलसमानक्षणानामेक क्षणएवोपपन्नञ्च सक्तं तस्मात्क्रमोत्पत्ति निवारयति । (व्या० प्र०) निषेधयति । (दि० प्र०) 10 अन्यथा । 11 एकक्षणवृत्ति इति पा० । (दि० प्र०) 12 सौगतः । (दि० प्र०) 13 सौगतानाम् ।

तेषामपि कारणस्य कार्यकालप्राप्तौ<sup>१</sup> २क्षणभङ्गभङ्गानुषङ्गात्<sup>३</sup>, ४तदप्राप्नुवतस्तत्कृतौ<sup>५</sup> व्य-  
लीक<sup>६</sup>कल्पनाविशेषेण कूटस्थानतिशायनात् \* । यथैव हि कूटस्थमपरिणामित्वात्क्रमयौगपद्या-  
भ्यामर्थक्रियायामसमर्थमपि व्यलीककल्पना क्रमाक्रमवृत्त्याकार्यपरम्परां कुर्वदभ्युपगम्यते  
नित्यैकान्तवादिभिः सांख्यादिभिस्तथा क्षणिकमपि स्वसत्ताक्षणात्पूर्वं पश्चाच्चात्यन्तमसत्सर्व-  
थार्थक्रियायामसामर्थ्यं प्रथयदपि संवृत्त्या क्रमाक्रमवृत्तिकार्यमालां ७निर्वृत्तयेदुररीक्रियते क्षणिक-  
वादिभिः । इति ८कूटस्थादनतिशायनं क्षणिकस्य सिद्धमेव । ततः सुभाषितं \* समन्तभद्रस्वा-  
मिभिः कुशलाद्यसंभूतिरेकान्तग्रहरक्तेष्विति \*, ९परस्पर<sup>१०</sup>निर<sup>११</sup>पेक्ष<sup>१२</sup>सदसदुभयं<sup>१३</sup>कान्तनित्या<sup>१४</sup>-

नित्यरूप सिद्ध हो जाता है । यदि आप कहें कि कार्यकाल को प्राप्त न करके ही कारण कार्य को करता है, तब इस कथन में भी व्यलीक—असत्त्व कल्पना समान होने से आप कूटस्थ-नित्य का उलंघन नहीं कर सकते ।”

अर्थात् आप बौद्धों के यहाँ कारण कार्यकाल को प्राप्त होता हुआ कार्य को सिद्ध करता है या कार्यकाल को प्राप्त न करते हुये कार्य को करता है ? प्रथम पक्ष में तो दो क्षण ठहरने के कारण नित्य हो जाता है और आपके क्षणिकवाद में विरोध आ जाता है । यदि द्वितीय पक्ष लें तो नष्ट हुआ कारण कार्य को कैसे उत्पन्न करेगा ? यही समझ में नहीं आता है ।

जिस प्रकार से कूटस्थ-नित्य (कारण) अपरिणामी होने से क्रम अथवा युगपत् के द्वारा अर्थ-क्रिया को करने में असमर्थ होते हुये भी असत्त्व कल्पना के द्वारा क्रम और युगपत् से युक्त कार्यों को करता है ऐसा नित्यैकान्तवादी सांख्यों ने स्वीकार किया है । उसी प्रकार से क्षणिक भी स्वसत्ताक्षण—अपने अस्तित्व काल के पूर्व और पश्चात् अत्यन्त “असत्” होते हुये सर्वथा अर्थक्रिया को करने में अपनी असमर्थता को प्रगट करता है फिर भी वह असत् हुआ कारण क्रम और युगपत् से होने वाले कार्यों को संवृत्ति से करता है । यदि आप ऐसा स्वीकार करते हैं तब तो फिर कूटस्थ नित्य की अपेक्षा आपका क्षणिक कुछ भी विशेषता (अन्तर) नहीं रखता है यह बात सुचारु रूप से सिद्ध हो जाती है ।

१ सर्वदा शून्यवादे संविदद्वैते वा प्रत्यक्षपरोक्षाकारः वैश्वरूपसद्भावश्च प्रकृतपर्यनुयोगस्यानिवृत्तिः हेतुः सम्प्रितो यतः । (दि० प्र०) २ क्षणभङ्गस्वभावभङ्गानुषङ्गादित्यर्थः । ३ ततश्च नित्यत्वं स्यात् । ४ कार्यकालमप्राप्नुवतः कारणस्य कार्यकृती । ५ कार्यकरणे । (दि० प्र०) ६ मिथ्या । (व्या० प्र०) ७ निर्वृत्तये यदुररीक्रियते इति पा० । (दि० प्र०) निष्पादनाय । (दि० प्र०) ८ कूटस्थ नातिक्रामति । तत्सदृशं भवतीत्यर्थः । (दि० प्र०) ९ अनुष्ठानमित्यादिभाष्योक्ताऽऽदिशब्दगृहीतस्य परस्परनिरपेक्षसदसदद्येकान्तवादिनोपि कुशलाद्यसंभूतिः प्रकटयति । १० इदानीमनुष्ठानमित्यादि भाष्योक्तादि शब्दगृहीतपरस्य निरपेक्षसदसदुभयैकान्तनित्यानित्योभयैकान्ताद्येकान्तेषु तदसंभूतिः प्रदर्शनायमाहुः परस्परेति । (दि० प्र०) ११ एकान्तग्रहरक्तेषु सदसदुभयैकान्तादिषु पक्षः कुशलाकुशलादिकं कर्म न संभवतीति साध्यो धर्मः । परस्परनिरपेक्षन्यायवतिवात् । यथाऽद्वैतैकान्तवादिषु । (दि० प्र०) १२ पृथिव्यादि । (दि० प्र०) १३ प्रागभावादि । (दि० प्र०) १४ उभयैकान्तं योगमते ।

नित्यो<sup>१</sup>भयंकान्तवादिनोपि<sup>२</sup> तदसंभवाद<sup>३</sup>द्वैतैकान्ता<sup>४</sup>दिवादिवत्<sup>५</sup> । तदेवं सर्वथैकान्तवादिनां दृष्टेष्टविरुद्धभाषित्वादज्ञानादिदोषाश्रयत्वसिद्धेराप्तत्वानुपपत्तेस्त्वमेव भगवन्नहं सर्वज्ञो वीतरागश्च युक्तिशास्त्राविरोधिवाक्यत्वेन निर्दोषतया निश्चितो महामुनिभिस्तत्त्वार्थशासनारम्भेभिष्युतः<sup>६</sup>, तत्सिद्धिनिवन्धनत्वादिति तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालङ्कारे व्यासतः समर्थितं प्रतिपत्तव्यम् । ननु च<sup>७</sup> भाव एव पदार्थानामिति<sup>८</sup> निश्चये दृष्टेष्टविरोधाभावात्तद्वादिनो<sup>९</sup> निर्दोषत्वसिद्धेराप्तत्वोपपत्तेः स्तुत्यताऽस्त्विति भगवत्पर्यनुयोगे<sup>१०</sup> सतीबाहुः—

“इसलिये श्री समन्तभद्रस्वामी ने ठीक ही कहा है कि एकांतग्रह रक्त—मिथ्यादृष्टियों में कुशल-अकुशल परलोक आदि की उद्भूति नहीं हो सकती है ।”

उसी प्रकार से परस्पर निरपेक्ष सदसत् रूप उभयैकान्त, नित्यानित्य रूप उभयैकान्तवादियों के यहाँ भी वे कुशल-अकुशल परलोक आदि सभी बातें असम्भव हैं, जैसे कि अद्वैतवादी जनों के यहाँ यह सभी पुण्य-पापादि एवं परलोक आदि असम्भव ही हैं । इस प्रकार से सभी सर्वथा—एकांतवादी जन दृष्टेष्ट-प्रत्यक्ष और परोक्ष से विरुद्ध वचन बोलने वाले हैं, अतः उनमें अज्ञानादि दोषों का आश्रय सिद्ध है, इसीलिये वे आप्त नहीं हो सकते हैं ।

अतएव हे अहं ! हे भगवन् ! आप ही सर्वज्ञ और वीतराग हैं, क्योंकि आपके वचन युक्ति और शास्त्र से अबिरोधी हैं और आप निर्दोष हैं, यह बात निश्चित है । अतएव महामुनि उमास्वामी के द्वारा महाशास्त्र तत्त्वार्थसूत्र के आरम्भ में आपकी स्तुति की गई है, क्योंकि वह स्तुति ही सिद्धि के लिये कारण स्वरूप है और इस बात को “तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालङ्कार” में विस्तार से समर्थन किया गया है उसे देखना चाहिये ।

उत्थानिका—सभी पदार्थ सत् रूप ही हैं ऐसा निश्चय करने पर प्रत्यक्ष एवं परोक्ष से विरोध नहीं आता है अतः भाववादियों को निर्दोषपना सिद्ध होने से वे भी आप्त हैं इसलिये हे समन्तभद्र ! आपकी स्तुति के योग्य वे भी होंगे, क्या बाधा है ? इस प्रकार से भगवान् के द्वारा प्रश्न करने पर ही मानो श्री समन्तभद्र स्वामी कहते हैं—

१ आत्माकाशादि । (दि० प्र०) २ शब्दबुद्धिकर्मादि । (दि० प्र०) ३ कुशलादि संभूति । (दि० प्र०) ४ पूर्वोक्तो-  
भय पक्षोपक्षिप्तदोषानुषंगत् । (दि० प्र०) ५ सदेकान्ते प्रोक्तदोषानुषङ्गात् । (दि० प्र०) ६ यथाऽद्वैतादिवादिषु  
कुशलाद्यसंभवः । ७ त्वन्मृतामृतबाह्यानामित्यादिनादृष्टविरुद्धभाषित्वस्य समर्थितत्वात्कुशलाकुशलं कर्मेत्यादिना  
दृष्टविरुद्धभाषित्वस्य समर्थितत्वात्सद् वयमिदानीमुपसंहरन्ति । तदेवमिति । (दि० प्र०) ८ महान् इति पा०  
(व्या० प्र०) ९ शास्त्रम् । (व्या० प्र०) १० तत्त्वार्थपरिसमाप्तिहेतुत्वात् । (दि० प्र०) ११ श्री समन्तभद्राः !  
अस्तित्वमेव । (दि० प्र०) १२ पञ्चविंशतितत्त्वानाम् । (दि० प्र०) १३ प्रत्यक्षानुमान । (दि० प्र०) १४ कपि-  
लस्य । (दि० प्र०) १५ प्रश्नोपयोगः पृच्छा चेत्यमरः ।

भावेकान्ते<sup>१</sup> <sup>२</sup>पदार्थानामभावा<sup>३</sup>नामपन्हवात्<sup>४</sup> ।

<sup>५</sup>सर्वात्मकमनाद्यन्तमस्वरूपमतावकम्<sup>६</sup> ॥६॥

पदार्थाः, प्रकृत्यादीनि पञ्चविंशतितत्त्वानि ।

“मूलप्रकृतिरविकृति<sup>८</sup>महदाद्याः<sup>९</sup> प्रकृतिविकृतयः<sup>१०</sup> सप्त । षोडशकश्च<sup>११</sup> विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः”

कारिकार्थ—हे भगवन् ! यदि आप से भिन्न—अन्य मतावलम्बियों के यहाँ सभी पदार्थ सर्वथा भावेकान्त—नित्यरूप ही माने जावेंगे तब तो अभाव—प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, इतरेतराभाव और अत्यन्ताभावरूप अभावों का नाश हो जाने से सभी पदार्थ सर्वात्मक, अनादि, अनन्त और अस्वरूप-स्वरूप रहित—शून्यरूप हो जावेंगे ।

विशेषार्थ—अभाव के चार भेद हैं—प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, इतरेतराभाव और अत्यन्ताभाव । प्राक्—पहले नहीं होना अर्थात् कारण में कार्य का नहीं होना प्रागभाव है जैसे मिट्टी में घड़े का अभाव, बीज में वृक्ष का अभाव एवं संसारी आत्मा में परमात्मा का अभाव देखा जाता है । इस प्रागभाव का अभाव—नाश करके ही कार्य उत्पन्न होता है कर्मसहित आत्मा में परमात्म अवस्था का प्रागभाव है अंतरंग बहिरंग सामग्री भव्यत्व काललब्धि आदि एवं रत्नत्रय की पूर्णता आदि के होने से उस परमात्म अवस्था के प्रागभाव का अभाव होकर यह आत्मा ही परमात्मा बन जाती है, मृत्तिका को अंतरङ्ग बहिरङ्ग सामग्री, स्निग्धता, कुम्भकार, चाक आदि के मिलने से घट के प्रागभाव का अभाव होकर वह मिट्टी ही घटरूप परिणत हो जाती है । यदि इस प्रागभाव का लोप कर दिया जावे तो घट, पट, वृक्ष, परमात्मत्व आदि सभी कार्य अनादिकाल से स्वयं विद्यमान ही रहेंगे परन्तु ऐसा तो देखा नहीं जाता है । अतः प्रागभाव का मानना उपयुक्त ही है । तथैव प्रध्वंस-नाश का अभाव—प्रध्वंसाभाव है । जैसे घड़े में कपाल—टुकड़ों का अभाव है इसे प्रध्वंसाभाव कहते हैं । इस प्रध्वंसाभाव का अभाव-नाश करके ही घट फूटकर उसके कपाल—टुकड़े बनेंगे । यदि घट के प्रध्वंसाभाव का अभाव अर्थात् घट का प्रध्वंस होना नहीं मानोगे तो कभी भी घट कार्य का नाश न होने से जो सभी पदार्थ कार्यरूप हैं वे अनन्त काल तक वैसे ही बने रहेंगे पुनः किसी मनुष्य का प्रध्वंस न होने से वह शाश्वतिक हो

१ अस्तित्वमेवेति निश्चयैकान्ते । (दि० प्र०) २ प्रकृत्यादि पञ्चविंशतेः । (दि० प्र०) ३ इतरेतर प्राक्प्रध्वंसा-त्यन्ताभावसंज्ञकानाञ्चतुर्णामभावानाम् नाङ्गीकारात् किं दूषणमित्याह । हे जिनेन्द्र ! अन्योन्याभावानङ्गीकारे तावकं सांख्यादिमतं व्यक्ताव्यक्तलक्षणयोः कार्यकारणयोरैक्ये सति सर्वात्मकं स्यात् । तथा प्रागभावानङ्गीकारे अनाद्यत्वं स्यात् । तथा प्रध्वंसाभावानङ्गीकारे कार्यस्यानन्तत्वं स्यात् । तथाऽत्यन्ताभावानङ्गीकारे वस्तुनोऽग्न्यरूपत्वं स्यात् । कोर्थः । चेतनस्याचेतनत्वमचेतनस्य चेतनत्वं प्रसंग इत्यायाति । (दि० प्र०) ४ प्रागभावः, प्रध्वंसाभाव, इतरेतराभावोऽत्यन्ताभावश्चेति चत्वारोऽभावाः । ५ सर्वेषां पदार्थानां सर्वात्मकत्वमनादित्वमनन्तत्वमस्वरूपत्वं (अस्वभावत्वं) चेति चत्वारो दोषाः क्रमेण प्रत्येकाभावापह्नवे । ६ तावकीनभिन्नमतावकम् । परमतमित्यर्थः । ७ मूलप्रकृतिः प्रधानम् । ८ अकार्यम् । ९ महानहङ्कारश्च पञ्च तन्मात्राणि (गन्धरसरूपस्पर्शशब्दाः) चेति सप्त । १० कारणकार्यरूपाः । ११ पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि, पञ्च कर्मेन्द्रियाणि, पञ्च महाभूतानि मनश्चेति षोडशको विकारः कार्यरूप एव ।

इति वचनात् । 'तेषामस्तित्वमेवेति निश्चयो भावैकान्तः । तस्मिन्नभ्युपगम्यमाने सर्वेषा-  
मितरेतराभावादीनामभावानामपन्हवः<sup>३</sup> स्यात् । ततः 'सर्वात्मकत्वादिप्रसङ्गः'<sup>४</sup> ।

जावेगा फिर तो अपने दादा, पड़दादा, आदि सभी बुजुर्ग अनन्त पीढ़ी वाले विद्यमान ही दीखेंगे एवं संसारी आत्मा के भी संसार अवस्था का प्रध्वंस न होने से कभी भी किसी को मुक्ति नहीं मिल सकेगी किन्तु ऐसा देखा नहीं जाता है ।

तथैव इतरेतराभाव—एक पर्याय में दूसरी पर्याय का अभाव । मनुष्य पर्याय में देव पर्याय का अभाव है, घट में पट का अभाव, चीकी में घड़ी, पुस्तक आदि का अभाव है यदि इसे नहीं गाना जावेगा तो किसी की मनुष्य पर्याय में देव पर्याय, नारक पर्याय, तिर्यचपर्याय सभी पर्यायों दिखने लगेंगी तब तो उस मनुष्य का नरसिंह से भी अधिक भयंकररूप दीखने लगेगा एवं सभी वस्तुयें सर्वात्मक—सर्वरूप हो जावेंगी ।

संसारावस्था में भी मनुष्य पर्याय में सिद्धत्व पर्याय भी प्रगट हो जावेगी अथवा मुक्त जीव में मनुष्य पर्याय, देव पर्याय प्रगट हो जावेगी किन्तु ऐसा है नहीं ।

उसी प्रकार से अत्यन्त—परिपूर्णरूप से एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य में अभाव अत्यन्ताभाव कहलाता है जैसे संसारावस्था में जीव के साथ कर्मरूप पुद्गलों का संबंध तो है किन्तु यह जीव कभी भी पुद्गल जड़रूप नहीं बनता है । पुद्गल भी जीव के साथ एक क्षेत्रावगाही—दूध और पानी के समान एकमेक होकर भी चैतन्य अवस्था को कभी भी प्राप्त नहीं कर सकता है । यदि इस अत्यन्ताभाव को न माना जावे तो किसी भी द्रव्य का कुछ निजीस्वरूप सिद्ध नहीं होगा एवं किसी भी मतावलम्बी का कोई निजी तत्त्व-सिद्धान्त सिद्ध नहीं होगा फिर तो जीव, पुद्गल आदि छहों द्रव्यों में खिचड़ी हो जावेगी एवं सांख्य के सिद्धान्त में जैन, बौद्ध, वैशेषिक, चार्वाक सिद्धान्त बलात् प्रवेश कर जावेंगे पुनः सभी के सभी तत्त्व एकमेक खिचड़ी बन जावेंगे किसी द्रव्य या किसी मत को पृथक् करना ही कठिन हो जावेगा अतएव चारों ही अभावों को नि संकोचरूप से मान लेना चाहिये ।

भाववादी सांख्यों के यहाँ प्रकृति आदि २५ तत्त्व हैं ।

अर्थ—मूलप्रकृति (प्रधान) अविकृति (अकार्य) रूप है और प्रकृति के सात विकार हैं । अर्थात् प्रकृति से महान्, महान् से अहंकार और अहंकार से ५ तन्मात्राएँ—गंध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द ये सात उत्पन्न होती हैं । ये सातों कारणरूप भी हैं तथा ५ ज्ञानेन्द्रिय—स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र तथा ५ कर्मेन्द्रिय—वाक्, पाणि, पाद, पायु एवं उपस्थ, पांच भूत—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश तथा मन ये सोलह गण कार्यरूप ही हैं । पुरुष न प्रकृतिरूप है न विकृतिरूप है । इन २५ तत्त्वों में प्रकृतितत्त्व कारणरूप हैं । पुरुषतत्त्व कार्य-कारण से रहित है अर्थात् प्रकृति से बुद्धि उत्पन्न होती है उस बुद्धि से अहंकार और अहंकार से ५ तन्मात्राएँ, ५ ज्ञानेन्द्रिय, ५ कर्मेन्द्रिय और मन ये १६ पदार्थ उत्पन्न होते हैं । इनमें ५ तन्मात्राओं से पंचभूत उत्पन्न होते हैं ।

१ पदार्थानाम् । (दि० प्र०) २ सर्वेषामितरेतरादीनामभावानाम् इति पा० । (दि० प्र०) ३ लोपः । (दि० प्र०)

४ आदिपदेन अनादित्वानन्तत्वास्वभावकत्वानि दूषणानि ग्राह्याणि । ५ दूषणः । (व्या० प्र०)



[ इतरेतराभावाभावे सांख्यमते प्रकृतेः व्यक्ताव्यक्तभेदी कथं भवेताम् ? ]

तत्र<sup>१</sup> व्यक्ताव्यक्तयोस्तावदितरेतराभावस्यापह्नवे व्यक्तस्याव्यक्तात्मकत्वे सर्वात्मिकत्वम् ।  
तथा च—

“हेतुमदनित्यमव्यापि<sup>२</sup> सक्रियमनेकमाश्रितं<sup>३</sup> लिङ्गम्<sup>४</sup> ।

सावयवं<sup>५</sup> परतन्त्रं<sup>६</sup> व्यक्तं<sup>७</sup> विपरीतमव्यक्तम्<sup>८</sup>”<sup>९</sup>

इति<sup>१०</sup> व्यक्ताव्यक्तलक्षणभेदकथनविरोधः<sup>११</sup> ।

[ अत्यन्ताभावाभावे प्रकृतिपुरुषो एकात्मको स्याताम् । ]

प्रकृतिपुरुषयोरत्यन्ताभावनिल्लवे प्रकृतेः पुरुषात्मकत्वे सर्वात्मिकत्वमेव । तथा च

इस प्रकार इन 25 तत्त्वों को सांख्यों ने अस्तित्व रूप माना है नास्तित्वरूप नहीं । उनका सदैव अस्तित्व ही निश्चित करना भावैकान्त है । उस भावैकान्त को स्वीकार करने पर सभी पदार्थों में इतरेतराभाव आदि अभावों का अपन्हव हो जावेगा और तब सभी पदार्थ सर्वात्मिक, अनादि अनन्त आदिरूप हो जावेंगे । प्रकृति के दो भेद हैं एक व्यक्त जो घटादि कार्यरूप है दूसरा अव्यक्त प्रधान रूप है ।

[ इतरेतराभाव न मानने से सांख्य के यहाँ प्रकृति के व्यक्त अव्यक्त भेद कैसे बनेंगे ? ]

उसमें पहले व्यक्त और अव्यक्त में इतरेतराभाव का अपन्हव करने पर व्यक्त को अव्यक्तपना हो जाने से सर्वात्मिक दोष आवेगा अर्थात् व्यक्त तो अव्यक्त बन जावेगा और अव्यक्त व्यक्त बन जावेगा । पुनः सभी वस्तु सबरूप हो जावेंगी ।

श्लोकार्थ - जो हेतुमान्, अनित्य, अव्यापि, सक्रिय अनेक प्रधानाश्रित, लिङ्ग-प्रकृति को अनुमान से सिद्ध करने वाला अवयव सहित परतन्त्र (प्रधानाश्रित) है वह व्यक्त प्रधान है और उससे विपरीत लक्षणवाला अव्यक्त प्रधान है । इस प्रकार व्यक्त एवं अव्यक्त में लक्षणभेद होने से भेद है यह कथन विरुद्ध हो जावेगा, क्योंकि सभी सर्वात्मिक रूप हो जाते हैं ।

[ अत्यन्ताभाव के अभाव में प्रकृति और पुरुष एकरूप हो जावेंगे ]

तथा च प्रकृति और पुरुष में अत्यन्ताभाव को न मानने से प्रकृति पुरुषरूप हो जावेगी और पुरुष प्रकृतिरूप हो जावेगा । अतः सभी वस्तु को सर्वात्मिकरूप हो जाने का ही दोष आ जावेगा ।  
तथा च—

१ एवञ्च सति (व्या० प्र०) २ महदादि घटादिच कार्यं व्यक्तम् । प्रधानमव्यक्तम् । ३ कार्यरूपम् । (दि० प्र०)

४ प्रधानाश्रितम् । ५ प्रकृत्यनुमापकम् । ६ प्रधानाधीनम् । ७ एवंभूतं व्यक्तम् । ८ उक्तात् । (दि० प्र०)

९ प्रधानम् । १० ग्रन्थविरोधात् । (व्या० प्र०) ११ सर्वस्य सर्वात्मिकत्वात् ।

१४४ त्रिगुणमविवेकि<sup>२</sup> ३ विषयः सामान्यमचेतनं<sup>४</sup> प्रसवधर्मि<sup>५</sup> ।

व्यक्तं तथा प्रधानं ६ तद्विपरीतस्तथा<sup>७</sup> च पुमान् ।”

इति ८ तल्लक्षणभेदकथनव्याधातः ।

[ प्रागभावाभावे महदाद्या न भविष्यति । ]

प्रागभावस्यापह्नवे महदहङ्कारादेर्विकारस्यानादित्वप्रसङ्गः । तथा च

**श्लोकार्थ—**जो सत्त्व, रज, तम इन तीन गुणों से सहित है, अविवेकी-भेद रहित है, विषय—भीम्यरूप है, सामान्य है, अचेतन एवं प्रसवधर्मी—महदादि को उत्पन्न करने वाला है वह व्यक्त और अव्यक्त दोनों से ही विलक्षण पुरुष है । इस प्रकार इन तीनों का लक्षण भिन्न-भिन्न होने से भेद प्रसिद्ध ही है और अत्यन्ताभाव का अभाव करने से सभी वस्तु (प्रधान और पुरुष) सर्वात्मक, सभी रूप हो जावेंगे ।

**भावार्थ—**इतरेतराभाव यदि नहीं माने तो किसी ने कहा आप मनुष्य हैं उस समय आप में दूसरी पर्याय का अभाव न करने से आप घोड़ा, हाथी आदि सभी रूप बन जावेंगे उसका निवारण इतरेतराभाव के बिना कौन कर सकेगा ? तथैव अत्यन्ताभाव का सर्वथा अभाव करने से चेतन अचेतन बन जावेगा एवं अचेतन चेतन हो जावेगा पुनरपि सभी पदार्थ सभीरूप ही हो जावेंगे एवं अपने मूल स्वभाव को छोड़ देने से स्वभाव शून्य अस्वरूप हो जावेंगे ।

[ प्रागभाव के अभाव में महान् अहंकार आदि कार्य नहीं होंगे । ]

उसी प्रकार प्रागभाव का निह्वन करने पर महान् अहंकार आदि विकार अनादि हो जावेंगे । अर्थात् मिट्टी में घड़े का प्रागभाव है यदि प्रागभाव को नहीं मानोगे तब तो सदैव मिट्टी में घड़ा बना रहेगा सभी कारणों में—बीजादिकों में अङ्कुररूप कार्य स्पष्टरूप तैयार ही रहेगा । पुनः सभी वस्तुयें सदैव विद्यमान रूप ही दीखेंगी किन्तु ऐसा है नहीं ।

**श्लोकार्थ—**तथा च “प्रकृति से महान् (सृष्टि के अंत पर्यंत रहने वाली बुद्धि) महान् से अहंकार उससे १६ गण होते हैं तथा उस षोडश में पंच तन्मात्रा से पाँच भूत उत्पन्न होते हैं ।” इस प्रकार आप सांख्यों के द्वारा मान्य सृष्टि के क्रम का विरोध हो जावेगा ।

१ सत्त्वरजस्तमोगुणयुक्तम् । २ भेदरहितम् । ३ आत्मनो भीम्यरूपम् । ४ साधारणम् । (दि० प्र०) ५ प्रसूते इति प्रसूतिर्वा प्रसवः । प्रधानं कारणं प्रसवधर्मीति महदादिकार्योत्पादकम् । व्यक्तं प्रसवधर्मीति कार्यरूपम् । अथवा कारणरूपं कथम् ? महतोहङ्कारस्ततः पञ्च तन्मात्राणि, पञ्च तन्मात्रेभ्यः पञ्च भूतान्युत्पद्यन्ते इति कारणत्वं तस्य । ६ व्यक्तप्रधानाभ्यां विपरीतः । ७ व्यक्ताव्यक्तयोरेवलक्षणत्वे सति । ८ व्यक्ताव्यक्तपुरुषाणाम् ।

१“प्रकृतेर्महान्ततोऽङ्कारस्तस्माद्गणः२ षोडशकः ।

तस्मादपि षोडशकात् ३पञ्चभ्यः ४पञ्च भूतानि”

इति सृष्टिक्रमकथनं विप्रतिषिध्यते<sup>५</sup> ।

[ प्रध्वंसाभावस्याभावे सर्वेषामनन्तत्वं भविष्यति । ]

प्रध्वंसाभावस्यापन्हवे ‘तस्यानन्तत्वप्रसङ्गात्’, १पृथिव्यादीनि पञ्च महाभूतानि पञ्चसु तन्मात्रेषु २लीयन्ते—पृथिव्या गन्धरूपरसस्पर्शशब्दतन्मात्रेषु प्रवेशात्, सलिलस्य रसादिषु, तेजसो रूपादिषु, वायोः स्पर्शशब्दतन्मात्रयोः, आकाशस्य शब्दतन्मात्रेणुप्रवेशात्, तन्मात्राणां च

[ प्रध्वंसाभाव के अभाव में सभी कार्यों का अन्त नहीं होगा । ]

प्रध्वंसाभाव का अपन्हव करने पर सभी पदार्थ अनन्त रूप हो जावेंगे । अर्थात् घट में कपाल का न होना प्रध्वंसाभाव है । प्रध्वंसाभाव का अभाव करके घट से कपाल उत्पन्न होते हैं यदि प्रध्वंसाभाव का लोप कर देंगे तो घट अनन्तकाल तक बना रहेगा उसका कभी अन्त नहीं होगा । पुनः पृथ्वी आदि पाँच महाभूत, पाँच तन्मात्राओं में लीन होते हैं । तथाहि—पृथ्वी का गंध, रूप, रस, स्पर्श शब्दरूप तन्मात्राओं में प्रवेश हो जाता है । रसादिक में जल का प्रवेश हो जाता है । रूपादिक में अग्नि का समावेश होता है तथा स्पर्श और शब्दरूप तन्मात्रा में वायु का समावेश एवं शब्द में आकाश का समावेश स्वीकार किया जाता है । पाँच तन्मात्रा, पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय और मन इन सोलह गण का अहंकार में अंतर्भाव हो जाता है । अहंकार का महान् में एवं महान का प्रकृति में समावेश हो जाता है । इस प्रकार से जो आप सांख्यों के मत में संहार क्रम का वर्णन है वह अति व्याकुल हो जावेगा । पुनः सभी वस्तु अस्वरूप हो जावेगी क्योंकि कोई भी पदार्थ ‘स्व’ अपने असाधारणस्वरूप से व्यवस्थित नहीं रह सकेगा ।

१ अस्य व्याख्यानं जगदुत्पादिकाप्रकृतिः प्रधानं बहुधानकं त्रैलोक्यमिति प्रकृतेरभिधानानि । ततः प्रकृतेर्महानुत्पद्यते । आसर्गप्रलयस्थायिनीबुद्धिर्महान् । ततो महतः सकाशादहंकार उत्पद्यते । अहं ज्ञाता । अहं सुखी । अहं दुःखी-स्यादिप्रत्ययविषयः ततो अहङ्काराद्गन्धरसरूपस्पर्शशब्दाः पञ्च तन्मात्राः स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुश्रोत्राणि पञ्च-बुद्धीन्द्रियाणि वाक्पादपाणिपागुपस्थानि पञ्चकर्मेन्द्रियाणि मनश्चेति षोडशगणा उत्पद्यन्ते । तेषु षोडशगणेषु पञ्च-तन्मात्रेभ्यः पञ्चभूतानि समुत्पद्यन्ते तद्यथा गन्धरसरूपस्पर्शशब्देभ्यः पृथ्वी । रसरूपस्पर्शशब्देभ्योर्जलम् । रूपस्पर्श-शब्देभ्यस्तेजः । स्पर्शशब्दाभ्यां वायुः । शब्दाश्चाकाशः समुत्पद्यत इति सृष्टिक्रमः । एतानि चतुर्विंशति तन्त्रानि पञ्च-विंशतिको जीवः । षड्विंशतिकः परम् इति निरीश्वरसांख्याः षड्विंशतिको महेश्वरः सप्तविंशतिकः परम इति शेष-रसांख्याः इति धर्मबुद्धिस्तवव्याख्याने कथितमिहावगन्तव्यम् । (दि० प्र०) २ आसर्गप्रलयस्थायिनी बुद्धिर्महान् । ३ पञ्चतन्मात्रेभ्यः । ४ पञ्चभ्यो गन्धादिभ्यस्तन्मात्रेभ्यः पञ्चभूतानि । (दि० प्र०) ५ विरुद्धते । ६ महदहं-कारादेर्विकारस्यनित्यत्वं प्रसजति । (दि० प्र०) ७ अनन्तत्वं कथमित्युक्ते आह । (दि० प्र०) ८ अतः सांख्या-भ्युपगतं संहारनिवेदनम् । (दि० प्र०) ९ लयं प्ररूपयति । (व्या० प्र०)

पञ्चानां बुद्धीन्द्रियाणां कर्मेन्द्रियाणां च मनसा सह षोडशकस्य गणस्याहङ्कारेऽन्तर्भावस्तस्य<sup>१</sup> च महतिमहत्ः प्रकृताविति संहारनिवेदनमतिव्याकुलं<sup>२</sup> स्यात् । ततः <sup>३</sup>सर्वमस्वरूपं, स्वेनासाधारणेन रूपेण कस्यचित्तत्त्वस्य व्यवस्थानाघटनात्<sup>४</sup> । <sup>५</sup>तच्च—

“सर्वस्योभयरूपत्वे<sup>७</sup> <sup>८</sup>तद्विशेषनिराकृतेः<sup>९</sup> । <sup>१०</sup>चोदितो दधि खादेति <sup>११</sup>किमुष्टं नाभिधावति”  
इति दूषणास्पदमतावकं मतं, न तव भगवतोर्हतः, <sup>१२</sup>कथञ्चिदभावापह्नवाभावात्<sup>१३</sup> ।

[ सांख्योऽभावं भावरूपं साधयति तस्य विचारः ]

ननु च व्यक्ताव्यक्तयोरितरेतराभावस्य तत्स्वभावस्य<sup>१४</sup> प्रकृतिपुरुषयोरत्यन्ताभावस्य च तद्रूपस्य महदहङ्कारादीनां प्रागभावस्य च <sup>१५</sup>स्वकारणस्वभावस्य महाभूतादीनां प्रध्वंसाभावस्य

इस प्रकार वस्तुस्वरूप के नियामक चारों ही अभावों का अभाव होने से कुछ भी वस्तु व्यवस्था सुवर्धित नहीं होगी ।

**श्लोकार्थ**—सभी पदार्थों को उभयरूप मान लेने पर अर्थात् “एक का एक में अभाव” इसका लोप होने पर पदार्थ अन्यरूप हो जावेंगे । पुनः किसी ने कहा कि दही खाओ ! तब वह ऊँट को भी खाने के लिये क्यों नहीं दौड़ेगा ? क्योंकि दही और ऊँट में इतरेतराभाव नहीं है अतः दही में ऊँट का अभाव नहीं है और ऊँट में दही का अभाव नहीं है ॥

इसीलिये सर्वथा वस्तु को “सद्भाव रूप” ही मानना यह आपसे भिन्न अन्य—सांख्यादिकों का मत अनेक दूषणों का स्थानस्वरूप है । हे भगवन् ! आप अर्हतदेव का मत दूषणास्पद नहीं है क्योंकि आपके यहाँ कथञ्चित् अभावापह्नव का अभाव है अर्थात् स्याद्वाद मत में कथञ्चित् अभाव को भी वस्तु का धर्म माना है ।

[ सांख्य भाव को अभावरूप सिद्ध कर रहा है उस पर विचार ]

**सांख्य**—हमारे यहाँ व्यक्त और अव्यक्त में इतरेतराभाव तत्स्वभाव रूप है और प्रकृति एवं पुरुष में अत्यन्ताभाव—तद्रूप ही है । तथैव महान्, अहंकार आदि में प्रागभाव का स्वकारण स्वभाव

१ अहंकारस्य । (दि० प्र०) २ विरुद्धम् । (दि० प्र०) ३ तत्त्वम् । (दि० प्र०) ४ वस्तुस्वरूपनियामकानां चतुर्णामभावानामभावात् । ५ अभावापह्नववादिनां मतम् । ६ महदादेः । (व्या० प्र०) ७ अभावस्यानङ्गीकारे सर्वस्य वस्तुन उभयरूपत्वं भवति । घटः पटो भवति तथा सति तस्य विशेषगुणस्य निराकरणं जातम् । तथा सति सर्वम् स्वरूपं भवितुमर्हति सर्वस्योभयरूपत्वे तद्विशेषनिराकृतेः । (व्या० प्र०) ८ (अतावकं मतं दूषणास्पदमित्यस्य हेतुरयम्) । ९ सर्वस्य सत्यस्य व्यक्ताव्यक्तोभय, सदसदुभय, द्रव्यपर्यायोभय,—भावानुभयादिरूपत्वे तयोर्विशेषस्यान्यतरस्य निराकरणात् । किन्तुवेकरूपत्वे यथा दधि स्वरूपेण सत्तथा पररूपेणापि सत् । (तथा च दधि खाद इति चोदितः प्रेरितः पुमान् उष्ट्रं प्रति भक्षितुं किं न धावति—दध्युष्ट्रयोरेकरूपत्वादिति भावः) । १० प्रेरितः । (व्या० प्र०) ११ सर्वोत्पत्तिव्यतिरेकविशेषात् । (व्या० प्र०) १२ स्वरूपाद्यपेक्षया । (व्या० प्र०) १३ अभावस्यापि वस्तुधर्मत्वेन स्याद्वादिभिः स्वीकारात् । १४ व्यक्ताव्यक्तस्वभावस्य । १५ महदहङ्कारकारणस्वभावस्य ।

च <sup>१</sup>स्वान्तर्भावाश्रयस्वरूपस्य <sup>२</sup>सांख्यैरभ्युपगमादभावापह्नवासिद्धेः कथं सर्वात्मकत्वादिदोष इति चेन्न, <sup>३</sup>तथा भावैकान्तविरोधात् सर्वस्य <sup>४</sup>भावाभावात्मकत्वप्रसक्तेः । न <sup>५</sup>हि वयमपि <sup>६</sup>भावादर्थान्तरमेवाभावं संगिरामहे, <sup>७</sup>तस्य नीरूपत्वप्रसङ्गात्, नास्तीतिप्रत्ययजनकत्वरूप-सद्भावादभावस्य <sup>८</sup>नीरूपत्वाभावोपगमे तस्य <sup>९</sup>भावस्वभावत्वसिद्धेः <sup>१०</sup>प्रत्ययाभिधान <sup>११</sup>विषयस्यार्थ <sup>१२</sup>क्रियाकारिणः <sup>१३</sup>पदार्थस्य भावस्वभावत्वप्रतिज्ञानात् <sup>१४</sup>नास्तित्वस्य <sup>१५</sup>वस्तु-धर्मत्वादस्तित्ववत् । वस्तुनोस्तीतिप्रत्ययविषयो हि <sup>१६</sup>पर्यायोस्तित्वं, नास्तीतिप्रत्ययविषयस्तु <sup>१७</sup>

है एवं महाभूतादि में प्रध्वंसाभाव स्वान्तर्भावाश्रयरूप है अर्थात् स्व-महाभूत उसमें अन्तर्भाव और उस अन्तर्भाव का आश्रयरूप है । जहाँ-जहाँ महाभूत लीन होते हैं वह महाभूत कारण द्रव्य है और इसी-लिये हमारे यहाँ यह अभाव स्वभावरूप होने से अभाव का लोप असिद्ध है । पुनः सर्वात्मकत्व आदि दोष भी कैसे आ सकेंगे ?

जैन—तहीं, ऐसा मानने पर आपके भावैकान्त में विरोध आवेगा । अर्थात् जब हमारे यहाँ अभाव स्वभावरूप ही है तो अभाव के लोप का प्रसंग कैसे आवेगा ? पुनः सभी पदार्थ भावाभावात्मकरूप हो जावेंगे क्योंकि हम जैन भी भाव से भिन्न ही अभाव को नहीं मानते हैं अन्यथा वह अभाव निःस्वरूप हो जावेगा, किन्तु वह अभाव “नास्ति” इस प्रकार के ज्ञान को उत्पन्न करनेरूप सद्भाव स्वभाव वाला है । अभाव में नीरूपत्व—लुप्टभाव का अभाव स्वीकार करने पर उस अभाव में भाव स्वभावत्व सिद्ध ही है क्योंकि “नास्ति” इस प्रकार के ज्ञान और शब्द के विषयभूत सभी अभाव अर्थक्रियाकारी हैं । अतः वे अभाव पदार्थरूप होने से भावस्वभाव ही हैं ऐसा हमारे यहाँ स्वीकार किया है ।

‘नास्तित्व’ भी वस्तु का धर्म है अस्तित्व के समान । अर्थात् वस्तु में “अस्ति” इस ज्ञान के विषयरूप पर्याय को अस्तित्व कहते हैं एवं “नास्ति” इस ज्ञान की विषयभूत पर्याय को नास्तित्व कहते हैं ।

१ (स्वस्य महाभूतस्यान्तर्भावः स्वान्तर्भावः । तस्याश्रयः) यत्र महाभूतानि लीवन्ते स महाभूतकारणद्रव्यमित्यर्थः । (स स्वरूपं यस्य स, तस्य प्रध्वंसाभावस्य) । २ अस्माकं सांख्यानामभावानङ्गीकारो न सिद्धयति यतः । (दि० प्र०) ३ तथा सति । ४ वस्तुनः । (व्या० प्र०) ५ आशङ्क्य । (व्या० प्र०) ६ जैनः । ७ तर्हि स्याद्भावादिनामभावः क इत्युक्तं आह । वयमपि स्याद्भाविनोपि । अर्थाद्भिन्नमभावं न प्रतिजानीमः कुतस्तस्याद्यदिभिन्न-स्याभावस्य निःस्वभावत्वात् । एवं स्याद्भाविनां नास्तीति ज्ञानोत्पादकत्वस्वरूपसद्भावात् । अभावस्य निःस्वभा-वत्वाभावाङ्गीकारे सति सोऽभावोऽर्थस्वभाव एवेति सिद्धयति । (दि० प्र०) ८ अन्यथा अभावस्य निःस्वभावत्व-प्रसङ्गात् । ९ लक्षणम् । (व्या० प्र०) १० ता । (व्या० प्र०) ११ अभावस्य । (दि० प्र०) १२ ता । (व्या० प्र०) १३ नास्तीति प्रतीत्यभिधानयोजनकस्येत्यर्थो वा । १४ ज्ञानशब्दयोगे चिरस्य । नास्तित्वं । तासः । (दि० प्र०) १५ निर्वर्तं भूतलमिति शब्दविषयस्य । ज्ञानलक्षणम् । (दि० प्र०) १६ प्रत्ययाभिधानविषयार्थक्रिया-कारिणः । नास्तीतिप्रत्ययभिधानयोजनकस्य । (दि० प्र०) १७ अभावाविपदार्थस्य । १८ जैनः । (दि० प्र०) १९ भावस्वभावत्वं कथमित्युक्ते आह । (दि० प्र०) २० धर्मः । २१ वस्तुनः पर्याय इति संबन्धः । (दि० प्र०)

नास्तित्वम् । <sup>1</sup>निष्पर्यायद्रव्यैकान्तपक्षे सर्वात्मकत्वाद्विदोषानुषङ्गः \* कथं परिहर्तुं शक्यः ?  
<sup>2</sup>सर्वविवर्तात्मकस्यैकस्यानाद्यनन्तस्य<sup>3</sup> प्रधानस्येष्टत्वात् <sup>4</sup>तद्व्यतिरेकेण सकलविशेषाणां<sup>5</sup>  
 तत्त्वतोऽसंभवात्सिद्धसाधनमिति<sup>6</sup> चेन्न<sup>7</sup>, प्रकृतिपुरुषयोरपि विशेषाभावानुपपन्नात्<sup>8</sup>, सत्ता-  
 व्यतिरेकेण तयोरप्रतिभासनात्सत्ताद्वैतप्रसङ्गात्<sup>9</sup> ।

[ ब्रह्माद्वैतवादी सर्वं जगत् सद्रूपं मन्यते, तस्य विचारः ]

<sup>10</sup>तदेवास्तु<sup>11</sup>, <sup>12</sup>चेतनेतरविशेषाणामविद्योपकल्पितत्वादिति चेत् <sup>13</sup>कुतः <sup>14</sup>पुनर्विशेषान-

यदि ऐसा न माना जावे तो “निष्पर्याय रूप ही द्रव्य को मान लेने पर द्रव्यैकान्त पक्ष में सर्वा-  
 त्मकत्व आदि दोषों का प्रसंग आ जावेगा ।” पुनः उन दोषों का परिहार करना शक्य कैसे होगा ?  
 अर्थात् पर्यायरहित मात्रद्रव्य को ही स्वीकार करने पर सभी द्रव्य सबरूप हो जावेंगे ।

सांख्य—हमारे यहाँ प्रधान सर्वविवर्तात्मक (सभी पर्यायरूप) एक, अनादि और अनन्त स्वीकार  
 किया गया है क्योंकि उस प्रधान को छोड़कर वस्तुतः सकल विशेष भेदरूप-महान् अहंकार आदि  
 असंभव ही हैं अतएव आपका दोषारोप कथन हमारे लिये सिद्ध-साधन ही है । अर्थात् हमें आपके द्वारा  
 सर्वात्मक आदि दोषारोप की चिन्ता नहीं है यह दूषण हमारे लिये भूषण ही है क्योंकि सभी पर्यायों  
 प्रधानात्मक-व्यक्तात्मक ही हैं । अर्थात् हमारे यहाँ सभी पदार्थ प्रधानरूप ही हैं ।

जैन—नहीं, यदि आप ऐसा कहेंगे तब तो प्रकृति और पुरुष में भी विशेषाभाव—भेद के अभाव  
 का प्रसंग प्राप्त होगा क्योंकि सत्ता के बिना उन दोनों का प्रतिभास नहीं होता है अर्थात् प्रकृति एवं  
 पुरुष दोनों “सत् रूप” ही हैं और उन दोनों को यदि आपने सद्रूप से एक माना तब तो आप सत्ताद्वैत-  
 वादी-ब्रह्माद्वैतवादी बन जावेंगे क्योंकि ब्रह्माद्वैतवादी सभी चेतन-अचेतन जगत् को एक ‘सत्’ स्वरूप  
 परमब्रह्मरूप ही मानते हैं ।

[ ब्रह्माद्वैतवादी संपूर्ण जगत् को सत् रूप मानते हैं उस पर विचार ]

सत्ताद्वैतवादी—सत्ताद्वैत का प्रसङ्ग आ जावे, ठीक है इसमें आप की हानि ही क्या है ? क्योंकि

। (पर्यायो विवर्तः) । 2 सांख्यः । 3 अत्राह सांख्यः । सकल विवर्तस्वरूपमद्वितीयभाद्यन्तरहितं प्रधानमिष्टम् ।  
 अतः प्रधानरहितेन सर्वविशेषाणां परमार्थतोऽसंभवात् । अस्माकं साधनं सिद्धमिति चेत्—स्या० एवं न । कुतः ।  
 हे सांख्यभ्रवदभ्युपगतयोः प्रकृतिपुरुषयोरपि इयं प्रकृतिः अयं पुरुष इति विशेषस्याभावानुपपन्नात् । कोऽर्थस्तावपि  
 प्रधाने पतितो पुनः कुतः सत्तारहितेन तयोः प्रकृतिपुरुषयोरप्रतिभासनात् । एवं सति सांख्यस्य सत्ताद्वैतप्रसंग  
 आयाति । (दि० प्र०) 4 प्रधानव्यतिरेकेण । 5 महदादीनाम् । 6 सिद्धस्यैव सर्वात्मकत्वाद्विदोषस्य साधनम् ।  
 7 जैनः । 8 भेदः । (व्या० प्र०) 9 सांख्यस्य ब्रह्माद्वैतवादप्रसङ्गात् । 10 आह सांख्यः सत्ताद्वैतमेव भवतु ।  
 अयं चेतनोऽयमचेतन इति विशेषाज्जाद्यविद्यावशादुपकल्पिता यतः लोके इति चेत्—स्या० विशेषात् पुनः कुतः  
 प्रमाणात् भवान् निराकुर्वीत । न तावत् प्रत्यक्षात् कुतः । तस्य प्रत्यक्षस्य वस्तुसद्भावनिश्चयकत्वात् । असद-  
 भूतस्य विशेषस्य प्रतिषेधे प्रवृत्तेरसंभवात् । (दि० प्र०) 11 सत्ताद्वैतमेवास्त्विति ब्रह्माद्वैतवादी प्रत्यवतिष्ठते ।  
 12 चेतनादितरे येऽचेतनविशेषास्तेषाम् । 13 (जैनः प्राह) कुतः प्रमाणात् । 14 भेदान् । (व्या० प्र०)

'पन्हुवीत'<sup>२</sup> \* ? न तावत्प्रत्यक्षात्, तस्य<sup>३</sup> 'विधायकत्वनियमात्, विशेषप्रतिषेधे प्रवृत्त्य-  
योगात् । नाप्यनुमानादागमाद्वा, तस्यापि<sup>४</sup> 'प्रतिषेधकत्वानिष्टे, अन्यथा<sup>५</sup> प्रत्यक्षस्यापि प्रति-  
षेधकत्वप्रसङ्गात्<sup>६</sup> । स्वयं न कुतश्चित्प्रमाणादयं<sup>७</sup> विशेषानपन्हुते<sup>८</sup> । किं तर्हि ? 'तत्साधन-  
व्यभिचारात्' \* । 'वस्तुविशेष'<sup>१२</sup> साधनवादिना<sup>१३</sup> हि न<sup>१४</sup> 'कारणभेदस्तत्साधन'<sup>१५</sup> प्रयोक्तव्यं,  
<sup>१६</sup> 'तस्याभेदवादिनं प्रत्यसिद्धत्वात् नापि<sup>१७</sup> 'विरुद्धधर्माध्यासः'<sup>१८</sup>; तत एव । किं तर्हि ? 'संवि-

जितने भी चेतन-अचेतन भेद विशेष हैं वे सब अविद्या के द्वारा ही उपकल्पित हैं, वास्तव में यह सारा  
विश्व सत् रूप मात्र ही है ।

जैन—यदि ऐसी बात है तब तो यह बतलाइये कि आप किस प्रमाण से विशेष भेदों का लोप  
करेंगे ?

प्रत्यक्ष प्रमाण से तो आप कर नहीं सकते हैं क्योंकि वह प्रत्यक्ष विधायक मात्र है । अर्थात् वह  
प्रत्यक्ष केवल वस्तु के अस्तित्व को ही कहता है, वह किसी का निषेधक नहीं है । अतएव विशेष के  
प्रतिषेध में उसकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती है । तथैव अनुमान अथवा आगम से भी विशेष का अभाव  
सिद्ध नहीं है क्योंकि उनको भी आपने प्रतिषेधक नहीं माना है, किन्तु विधायक ही माना है । अन्यथा,  
प्रत्यक्ष भी प्रतिषेधक हो जावेगा क्योंकि वे अनुमान और आगम प्रत्यक्ष मूलक हैं ।

सत्ताद्वैतवादी—किसी भी प्रमाण से हम विशेषों-भेदों का अपन्हुव नहीं करते हैं ।

जैन—तब कैसे करते हो ?

सत्ताद्वैतवादी—जितने भी साधन (हेतु) भेदों को सिद्ध करने वाले हैं वे सब व्यभिचारी हैं ।  
यथा वस्तुविशेषवादी बौद्ध के द्वारा भेद को सिद्ध करने के लिये कारणभेदरूप हेतु का प्रयोग करना  
भी उचित नहीं है क्योंकि हम अभेदवादी के प्रति वह असिद्ध है । अर्थात् बौद्ध सभी वस्तु को भिन्न-  
भिन्न रूप से भेदरूप ही मानते हैं । यह मान्यता ब्रह्माद्वैतवादी के प्रति असिद्ध है । यदि 'विरुद्ध-  
धर्माध्यास' रूप हेतु का प्रयोग करें तो भी हम लोगों के प्रति असिद्ध है ।

प्रश्न—फिर क्या सिद्ध है ?

१ ब्रह्माद्वैती । २ निराकुर्वीत । (दि० प्र०) ३ अस्तित्वप्रतिपादकः । (दि० प्र०) ४ आहुविधात् प्रत्यक्षं न  
निषेद्धं विपश्चितः । नैकत्वे नागमस्तेन प्रत्यक्षेण प्रबाध्यते । ५ किन्तु विधायकत्वनियमात् । ६ अनुमानस्यागमस्य  
च प्रतिषेधानिष्टिर्न भवति चेत्तदा निविकल्पकप्रत्यक्षस्यापि प्रतिषेधकत्वं प्रसजति । (दि० प्र०) ७ प्रत्यक्षमूलत्वाद-  
नुमानागमयोः । ८ ब्रह्माद्वैती । ९ सत्ताद्वैतावलम्बी साध्यः । (दि० प्र०) १० तत्साधनं, विशेषसाधनम् ।  
११ (तत्साधनव्यभिचारमेव दर्शयति ब्रह्माद्वैती । तत्र कारणभेदस्तत्साधनं विरुद्धधर्माध्यासो वेति विकल्प्य क्रमेण  
दूषयति) । १२ घटपटादिभेदः । (दि० प्र०) १३ सौगतेन । १४ विषयविशेषः । (दि० प्र०) १५ कारणभेदस्य ।  
(दि० प्र०) १६ मृत्पिण्डत्वादि । (दि० प्र०) १७ घटपटादीनाम् । (व्या० प्र०) १८ भेदसाधनम् । १९ ब्रह्माद्वैते  
भेदवेदिज्ञानाकारः संविग्निर्भासः ।

संविन्निर्भासभेदाद्भावस्वभावभेदः<sup>१</sup> प्रकल्प्येत । स<sup>२</sup> पुनरभेदेऽप्यात्मनः<sup>४</sup> खण्डशः प्रतिभासनात् \*  
व्यभिचारी । ननु ज्ञानात्मनः<sup>७</sup> खण्डशः प्रतिभासनस्य विभ्रान्तत्वात्तत्त्वतस्तस्यैकत्वात्  
तेन व्यभिचारः । तदुक्तम्

८०॥ अविभागोपि बुद्ध्यात्मा<sup>९</sup> १० विपर्यासितदर्शनः<sup>११</sup> । ग्राह्यग्राहकसंवित्तिभेदवानिव लक्ष्यते<sup>१२</sup>

इति चेत्<sup>१२</sup>, १३ तदन्यत्रापि १४ विभ्रमाभावे १५ कोशपानं १६ विधेयम् \* । शक्यं हि वक्तुं,  
१७ संविन्निर्भासभेदः<sup>१८</sup> १९ कुतश्चित्प्रतिपत्तुर्विभ्रम एव, तत्त्वतः संविन्मात्रस्याद्वयस्य<sup>२०</sup> व्यव-  
स्थितेः ।

उत्तर—संवित् ज्ञान में भिन्न-भिन्न पदार्थों का प्रतिभास भेद होने से भाव-वस्तु के स्वभाव में भेद की कल्पना की जाती है सो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि अभेद में भी अर्थात् चित्राद्वैतरूप एकत्व में भी यह संवित्निर्भास-विज्ञानभेद पाया जाता है । वहाँ पर भी आत्मा के एकत्व का खण्ड-खण्ड रूप से प्रतिभास देखा जाता है ।

अतः आपने जो उपर्युक्त हेतु भेद को सिद्ध करने के लिये दिये हैं वे व्यभिचारी हैं । [ऐसा चित्राद्वैतवादी बौद्ध के प्रति ब्रह्माद्वैतवादी ने कहा है]

चित्राद्वैतवादी—ज्ञानस्वरूप का खण्ड-खण्ड रूप से जो प्रतिभास है वह विभ्रान्त है । वास्तव में वह ज्ञान एक ही है इसलिये हमारे चित्राद्वैत से व्यभिचार नहीं आता है । कहा भी है—

श्लोकार्थ—अविभाग स्वरूप भी एक ज्ञानात्मा मिथ्यादर्शन से युक्त पुरुषों के द्वारा ग्राह्य-ग्राहक संवित्तिरूप भेद सहित के समान लक्षित किया जाता है-जाना जाता है ।

ब्रह्माद्वैती—“तब तो चित्रज्ञान स्वरूप से अन्यत्र-हमारे ब्रह्माद्वैत-सत्ताद्वैत में भी विभ्रम से ही भेद कल्पना मानी है यदि आप बौद्ध उसका अन्वय करते हैं तो आपको शपथ खानी चाहिये ?” अर्थात्-हम ऐसा कह सकते हैं कि जैसा आपने कहा है “ज्ञान में जो प्रतिभास भेद हैं वे किसी-अविद्या-रूप कारण से आता—जानने वाले को विभ्रम ही है तत्त्वतः ज्ञानमात्र अद्वैत ही व्यवस्थित होता है । जैसे—

१ भावो, वस्तु । २ संविन्निर्भासभेदः । ३ चित्रैकज्ञानस्याभेदेऽपि । (व्या० प्र०) ४ ज्ञानस्वरूपस्य । (व्या० प्र०) ५ इति चित्राद्वैतवादिनं प्रत्यवादीद्वयवादी । ६ चित्राद्वैतवादी ग्राह । ७ ज्ञानस्वरूपस्य । ८ एकः । ९ ज्ञान-स्वरूपः । बुद्धिस्वरूपम् । (दि० प्र०) १० मिथ्यादर्शनैः पुरुषैः । ११ पुरुषैः । (व्या० प्र०) १२ इतो ब्रह्मवादी । १३ चित्रज्ञानस्वरूपादन्यत्र ब्रह्माद्वैते । १४ आह सत्ताद्वैतवादी तस्मादन्यत्र ब्रह्माद्वैते विभ्रमो नास्ति । अत्रास्माभिः शपथ कार्यः । (दि० प्र०) १५ दिव्यपानम् । १६ सौगतेन । १७ संवित्तिभाव इति, इति पाठः । (दि० प्र०) १८ चेतनेतरभेदवदेव ज्ञानाकारः । (दि० प्र०) १९ अविद्यारूपकारणात् । २० ब्रह्मरूपस्य ज्ञानमात्रस्य । (दि० प्र०)



“यथा विशद्धमाकाशं तिमिरोपप्लुतो नरः । सङ्क्षीर्णमिदं <sup>१</sup>मात्रानिभिन्नाभिरभिमन्यते” ॥१॥

तथैवममलं<sup>३</sup> ब्रह्म <sup>४</sup>निर्विकल्पमविद्यया । <sup>५</sup>कलुषत्वमिवायन्नं भेदरूपं<sup>६</sup> प्रपश्यति ॥२॥”

इति वचनात् । तथा चासिद्धं <sup>७</sup>विशेषसाधनं<sup>८</sup> न<sup>९</sup> साध्यसाधनायालम् । <sup>१०</sup>तदेकं<sup>११</sup> चक्षुरादि-  
ज्ञानप्रतिभासभेदवशाद्ग्राह्यादिव्यपदेशभागे ग्राह्यग्राहकसंवित्तिवत्<sup>१२</sup> \* । <sup>१३</sup>चक्षुरादिज्ञानप्रतिभास-  
भेदोप्यसिद्ध <sup>१४</sup>एवाभेदवादिन इति <sup>१५</sup>चेद्ग्राह्यग्राहकसंवित्तिप्रतिभासभेदोपि <sup>१६</sup>भेदवादिनः किमे-  
कत्र<sup>१७</sup> ज्ञानात्मनि सिद्धः<sup>१८</sup> ? संवृत्या सिद्ध इति चेत्समः <sup>१९</sup>समाधिः । <sup>२०</sup>योपीतरेतरा<sup>२१</sup>भाव-

इत्युक्तार्थ—आकाश विशुद्ध-निर्मल है फिर भी तिमिर-रोग से युक्त मनुष्य भिन्न-भिन्न अनेक रेखाओं से युक्त के समान ही उसे देखता है ॥१॥

उसी प्रकार से हमारे यहाँ भी यह उत्पादादि रहित निर्मल एवं निर्विकल्प परमब्रह्म का स्वरूप है परन्तु अविद्या से ही कलुषता को प्राप्त होकर भेदरूप के समान ही मनुष्य उसे देखते हैं ॥२॥

इसलिये संविन्निर्भास—ज्ञान प्रतिभास के भेद से भेद को सिद्ध करना यह हेतु भी विशेषरूप साध्य को सिद्ध करने में समर्थ नहीं है इसलिये असिद्ध है ।

यह एक ही ब्रह्म चक्षु आदि ज्ञानप्रतिभास के भेद के निमित्त से रूपादि व्यपदेश को प्राप्त करते वाला है ग्राह्य-ग्राहक संवित्ति के समान ।

अर्थात् जैसे प्रतिभास भेद के निमित्त से एक ही चित्रज्ञान ग्राह्य-ग्राहक व्यपदेश (नाम) को प्राप्त होता है । उसी प्रकार ब्रह्म भी प्रतिभास भेद के निमित्त से ही नाना व्यपदेश—नाम को प्राप्त होता हुआ देखा जाता है, वास्तव में एक ही है ।

बौद्ध—चक्षु आदि ज्ञान के प्रतिभास का भेद भी अभेदवादियों के लिये असिद्ध ही है ।

ब्रह्माद्वैती—तब तो ग्राह्य-ग्राहक संवित्ति के प्रतिभास का भेद भी आप भेदवादी—चित्राद्वैतवादी बौद्धों के यहाँ एक ज्ञानात्मा में सिद्ध है क्या ? अर्थात् फिर तो आपके यहाँ भी प्रतिभास भेद असिद्ध ही है ।

१ रेखाभिः । २ कृष्णनीलाभिः । (दि० प्र०) ३ उत्पादादिरहितम् । ४ घटादिभेदस्वरूपरहितम् । ५ उत्पादादिमत्त्वम् । (व्या० प्र०) ६ घटादि । (व्या० प्र०) ७ संविन्निर्भासभेदादिति । ८ ता । (व्या० प्र०) ९ सत्ताद्वैतवाद्याह । हे भेदवादिन् ! संविन्निर्भासभेद इति विशेषसाधनं स्वयमसिद्धं सत् स्वसाध्यस्य भेदाख्यस्य साधनाय समर्थं न भवति = आह सवेदनाद्वैतवादी, हे अद्वैतवादिन् ! तव कथमित्युक्ते स आह । तद् ब्रह्मस्वरूपमेकमेव चक्षुरादिज्ञानप्रतिभासभेदाद्ग्राह्यादिसंज्ञाभासभवति । यथा तव एकमेव ज्ञानं संविन्निर्भासभेदात् ग्राह्यग्राहकसंवित्ति-संज्ञाभासभवति । (दि० प्र०) १० ब्रह्म । ११ विशेषसाधनं न भेदसाधनं साध्यसाधनायालं न भवेत्ततः । (दि० प्र०) १२ प्रतिभासभेदवशादेकं चित्रज्ञानं ग्राह्यादिव्यपदेशभागे यथा तथा ब्रह्म नानाव्यपदेशभागे । १३ आह सौगतः । १४ ब्रह्मवादिनः । १५ अद्वैतवादिनः । (दि० प्र०) १६ सौगतस्य । १७ प्रश्ने । (दि० प्र०) १८ अपि तु नैव सिद्धः । १९ सौगतब्रह्मवादिनोरुभयोरैव संवृत्या भेदस्याङ्गीकाराविशेषात् । २० ब्रह्मवादी योगाशङ्का निराकुर्वन्नाह योपीति (योगः) । २१ प्रत्ययः । (दि० प्र०)

<sup>1</sup>प्रत्ययाद्भावस्वभावभेद<sup>2</sup> साधयेत्तस्य इतरेतराभावविकल्पोपि<sup>3</sup> कथमयथार्थो<sup>4</sup> न स्याद्वर्णा-  
दिविकल्पवत्<sup>5</sup> \* । <sup>6</sup>वर्णादिप्रत्ययो<sup>7</sup> भावस्वभावभेदं स्वसाध्यमर्थमन्तरेणैव<sup>8</sup> <sup>9</sup>भावाद्व्य-  
भिचारित्वादयथार्थो<sup>10</sup>, न <sup>11</sup>पुनरितरेतराभावप्रत्यय<sup>12</sup> <sup>13</sup>इत्यशक्यव्यवस्थं, तस्य<sup>14</sup> <sup>15</sup>भावा-  
भावयोरभेदेपीतरेतरा<sup>16</sup>भावप्रत्ययेन<sup>17</sup> व्यभिचारात् । न<sup>18</sup> हि <sup>19</sup>वस्तुव्यतिरिक्तमसन्नाम<sup>20</sup>,  
<sup>21</sup>प्रमाणस्यार्थविषयत्वात् \* । <sup>22</sup>प्रत्यक्षमभावविषयं <sup>23</sup>भवत्येव, <sup>24</sup>तस्येन्द्रियैः <sup>25</sup>संयुक्तविशेषण-

बौद्ध—हमारे यहाँ तो संवृति—कल्पज्ञान से भेद सिद्ध है ।

ब्रह्मद्वैत—तब तो समान ही समाधान है हम भी अविद्या-कल्पना से ही प्रतिभास भेद मानते हैं और आप भी संवृति—कल्पना से मानते हैं । तथा च—

जो योगमतावलम्बी इतरेतराभाव के ज्ञान से भाव स्वभाव—पदार्थों में स्वभावभेद को सिद्ध करता है उसके यहाँ भी इतरेतराभाव रूप विकल्पज्ञान भी अयथार्थ—असिद्ध क्यों नहीं होगा वर्णादि के विकल्पज्ञान के समान ? अर्थात् योग वर्णादि भेद के ज्ञान को व्यभिचारी स्वीकार करके भी कहता है कि चित्रज्ञान में वर्णों का ज्ञान भेद को व्यवस्थापित नहीं करता है ।

योग—वर्णादि ज्ञान “भावस्वभाव भेद रूप” अपने साध्य पदार्थ के बिना ही होता है अतएव वह व्यभिचारी होने से अयथार्थ है, किन्तु इतरेतराभावरूप ज्ञान वैसा नहीं है अर्थात् वस्तु में स्वभाव भेद नहीं है फिर भी वर्णादि का ज्ञान भेदरूप उत्पन्न होता है अतः पदार्थ में भेद हुये बिना भी ज्ञान में भेद होने से वह वर्णादि ज्ञान व्यभिचारी होने से असत्य है, किन्तु इतरेतराभावरूप ज्ञान असत्य नहीं है ।

ब्रह्मवादी—यह व्यवस्था करना अशक्य ही है वह इतरेतराभाव भावाभाव के अभेद में भी उत्पन्न होता है इसलिये इतरेतराभाव के ज्ञान के साथ वह इतरेतराभाव ही व्यभिचरित होता है । अर्थात् शुद्ध भूतल भावरूप है एवं घट का नास्तित्व अभावरूप है इन भाव और अभाव के अभेद में भी इतरेतराभाव ज्ञान उत्पन्न होता है उससे व्यभिचार आता है ।

वस्तु को छोड़कर असत् नाम की कोई वस्तु नहीं है क्योंकि प्रमाण (ज्ञान) पदार्थ को ही विषय करता है । अर्थात् ब्रह्मद्वैतवादी भाव और अभाव में अभेद को सिद्ध करता है ।

1 ज्ञानात् । (दि० प्र०) 2 ता बहुः । (व्या० प्र०) 3 विकल्पो ज्ञानम् । 4 असिद्धः । 5 यथा वर्णादिज्ञानम् । 6 योगः प्राह । 7 रूपरसादि । (दि० प्र०) 8 स्वसाध्यमन्तरेणैव इति पा० । (दि० प्र०) 9 भवति । (दि० प्र०) 10 असत्यः । (दि० प्र०) 11 चेति अधिकः पाठः । (दि० प्र०) 12 संवेदनाद्वैतवाद्याह । एकमेव ब्रह्माभ्युपगच्छतः । अद्वैतवादिनः यथा वर्णादिविकल्पोऽसत्यः तथा इतरेतराभावप्रत्ययोपि । (दि० प्र०) 13 ब्रह्म-वादी प्राह, इति योगस्य कथनमशक्यव्यवस्थमिति । 14 इतरेतराभावस्य । 15 शुद्धभूतलत्वं भावो, घटना-स्तित्वमभावः, तयोः । 16 भावाभावयोरभेदेपीतरेतराभावप्रत्यय उत्पद्यते । तेन व्यभिचारः । 17 अस्मिन् भूतले घटो नास्तीति प्रत्ययेन । (दि० प्र०) 18 भावाभावयोरभेदं साधयति ब्रह्मवादी । 19 भाववाद्याह । वस्तु-रहितमन्यत् असन्नास्ति । कुतः प्रमाणमर्थमेव गृह्णाति नत्वभावं यतः । (दि० प्र०) 20 भिन्नं भावः । (दि० प्र०) 21 भाव । (व्या० प्र०) 22 आह योगः । 23 सन्मात्रविषयत्वात्प्रत्यक्षमिति हेत्वन्तरम् । 24 अभावस्य । 25 इन्द्रियैः संयुक्ते भूतले, भूतले घटाभावोस्तीति विशेषणसंबन्धसद्भावात् ।

संबन्धसद्भावाद्, घटाभावविशिष्टं भूतलं गृह्णामीति प्रत्ययादिति चेन्न, <sup>1</sup>तस्य भूतलादि-  
भावविषयत्वात् । <sup>2</sup>अभावदृष्टौ हि <sup>3</sup>तदवसानकारणाभावाद्भावदर्शनमनवसरं प्राप्नोति \*,

[ ब्रह्माद्वैतवादी प्रत्यक्षप्रमाणं भावपदार्थग्राहकमेव साधयति तस्य विचारः ]

क्रमतोऽनन्तरूपभावाप्रतिपत्तावेवोपक्षीणशक्तिकत्वप्रसङ्गात् । <sup>4</sup>प्रत्यक्षस्य <sup>5</sup>क्वचित्-  
प्रतिपत्त्या स्मर्यमाणस्य घटस्याभावप्रतिपत्तौ <sup>6</sup> <sup>7</sup>तदपररूपस्यानन्तस्यास्मर्यमाणत्वं <sup>8</sup> भाव-  
दर्शनावसरकारणमिति चेन्न, प्रत्यक्षस्य <sup>9</sup> स्मरणानपेक्षत्वात्, <sup>10</sup>तस्य स्मृत्यपेक्षायामपूर्वार्थ-

**योग**—प्रत्यक्षप्रमाण अभाव को विषय करने वाला है ही क्योंकि वह अभाव इंद्रियों से संयुक्त विशेषण सम्बन्ध के सद्भाव को ग्रहण करता है । “घट के अभाव से विशिष्ट भूतल को ग्रहण करता है” इस प्रकार का ज्ञान पाया जाता है । अर्थात् भूतल इंद्रियों से संयुक्त है उस भूतल में घटाभाव है इस प्रकार के विशेषण रूप सम्बन्ध का सद्भाव है ।

[ ब्रह्माद्वैतवादी प्रत्यक्षप्रमाण को भावपदार्थ का ग्रहण करने वाला ही सिद्ध करते हैं उस पर विचार ]

**ब्रह्माद्वैती**—नहीं, प्रत्यक्ष ने तो भूतलादिभाव को ही विषय किया है न कि अभाव को । और यदि प्रत्यक्ष के द्वारा अभाव का देखना स्वीकार करने तब तो उसके अवसान-समाप्ति के कारणों का अभाव होने से प्रत्यक्ष को भावरूप पदार्थों के देखने का अवसर ही नहीं मिलेगा । क्योंकि क्रम से अनन्त पररूप अभाव को जानने में ही इस प्रत्यक्ष की शक्ति क्षीण हो जावेगी । पुनः वस्तु के सद्भाव को कैसे जानेगा ?

**भावार्थ**—कोई मनुष्य कमरे में प्रवेश करके वहाँ घड़े के अभाव को प्रत्यक्षज्ञान से देखकर घड़े के अभाव को जानता है पुनः वहाँ कमरे में मेज, कुर्सी आदि अनेक पदार्थों का अभाव है वह प्रत्यक्ष-ज्ञान सभी अनन्त पदार्थों के अभाव को ही जानता हुआ बैठेगा । वहाँ कमरे में शुद्ध भूतल है या पुस्तकें हैं इत्यादि सद्भावरूप पदार्थों को कब जानेगा ? क्योंकि उसकी शक्ति तो अभाव पदार्थ को जानने में ही समाप्त हो जावेगी ।

**योग**—प्रत्यक्षप्रमाण किसी देश में जाता के द्वारा स्मरण किये गये घट के अभाव को जानेगा पुनः अन्य-अन्य अनन्त अपररूप जो कि जाता के द्वारा स्मर्यमाण (स्मरण किये गये) नहीं हैं उनको नहीं जानेगा । अतएव भाव सद्भाव रूप पदार्थों के जानने का अवसर उसे मिल ही जावेगा ।

1 भाववाद्याह । यदुक्तमभाववादिना तन्न कुतः प्रत्यक्षं भूतलादि तदभावमेव गृह्णाति यतः । अभावग्रहणे तेषाम-  
भावानामनन्तानां समाप्तिकारणाभावात् भावदर्शनं ग्रहणावसरं न लभते । पुनः कुतः क्रमेण अनन्तरूपाऽभावातां  
ग्रहणेऽस्मर्यत्वमायाति प्रत्यक्षस्य यतः । (दि० प्र०) 2 ब्रह्माद्वैती ब्रूते, अभावदृष्टौ प्रत्यक्षेणाङ्गीक्रियमाणायाम् ।  
3 अभावः । परिसमाप्तिः । (दि० प्र०) 4 आह योगः । 5 देशो । 6 सत्याम् । (दि० प्र०) 7 तस्मात्,  
घटादिभूतलादेः । 8 तस्मात् स्मर्यमाणघटादपरलक्षणस्यानन्तस्य प्रयोजनाभावात् । अस्मर्यमाणत्वमेव भावदर्शन-  
स्यावसरकारणमस्तीति चेत् । अभाववादिना व्यवस्थापितम् । (दि० प्र०) 9 प्रत्यक्षमात्रस्मेत्वर्थः । 10 प्रत्यक्षस्य ।  
(दि० प्र०)

साक्षात्कारित्वविरोधात् । <sup>1</sup>भावप्रत्यक्षं<sup>2</sup> किञ्चित्तु स्मरणनिरपेक्षं योगिप्रत्यक्षवत् । किञ्चित्तु<sup>3</sup> स्मरणापेक्षं <sup>4</sup>सुखादिसाधनार्थव्यवसायवत्<sup>5</sup> । क्वचिदभावप्रत्यक्षं <sup>6</sup>स्मरणनिरपेक्षं, योगिनोऽभावप्रत्यक्षं यथा । <sup>7</sup>क्वचिदभावप्रत्यक्षं<sup>8</sup> पुनः <sup>9</sup>प्रतिषेध्यस्मरणापेक्षमेव, तथा प्रतीतेः । इति <sup>10</sup>चेन्न, स्मरणापेक्षस्य विकल्पज्ञानस्य <sup>11</sup>प्रत्यक्षत्वविरोधादनुमानादिवत् ।

**भावार्थ—**किसी ने किसी दिन कमरे में घड़ा देखा था आज उस कमरे में आया और पुनः घट को नहीं देखकर उसका स्मरण करता है अतः उस व्यक्ति का प्रत्यक्ष उस घट के अभाव को जान लेता है किन्तु अनन्त पदार्थों का वहाँ अभाव होते हुये भी उनका स्मरण तो वह व्यक्ति करता नहीं है अतः उन अनन्त अभावरूप पदार्थों को जानने में उसकी शक्ति लगती ही नहीं है पुनः वह शुद्ध भूतल के सद्भाव आदिरूप से वस्तु के सद्भाव को भी ग्रहण कर लेता है ।

**ब्रह्माद्वैती—**आप ऐसा नहीं कह सकते हैं क्योंकि प्रत्यक्षज्ञान स्मरण की अपेक्षा नहीं रखता है और यदि प्रत्यक्षज्ञान भी स्मृति की अपेक्षा रखता है ऐसा स्वीकार करो तब तो यह अपूर्वार्थ का साक्षात्कारी है यह कथन विरुद्ध हो जावेगा ।

**योग—**कोई भाव प्रत्यक्ष तो स्मृति निरपेक्ष है योगी प्रत्यक्ष के समान और पुनः कोई भाव प्रत्यक्ष स्मृति की अपेक्षा रखता है जैसे सुखादि साधन के लिये अर्थ व्यवसाय । वैसे ही कहीं पर अभाव प्रत्यक्ष भी स्मृति निरपेक्ष है जैसे कि योगियों का अभाव प्रत्यक्ष । तथैव पुनः कहीं पर अभाव प्रत्यक्ष प्रतिषेध करने योग्य स्मरण की अपेक्षा भी रखता है क्योंकि उस प्रकार की प्रतीति होती है ।

**भावार्थ—**प्रत्यक्ष के दो भेद हैं—(१) सद्भाव रूप पदार्थ को ग्रहण करने वाला प्रत्यक्ष । (२) अभाव रूप पदार्थ को ग्रहण करने वाला प्रत्यक्ष । पुनः भावग्राही प्रत्यक्ष के भी दो भेद हैं—(१) स्मृति निरपेक्ष, (२) स्मृति सापेक्ष । तथैव अभावग्राही प्रत्यक्ष के भी दो भेद हैं—(१) स्मृति निरपेक्ष, (२) स्मृति सापेक्ष । स्मृति निरपेक्ष भाव प्रत्यक्ष एवं स्मृति निरपेक्ष अभाव प्रत्यक्ष ये दोनों ज्ञान तो योगियों के पाये जाते हैं एवं स्मृति सापेक्ष दोनों ज्ञान हम और आप जैसे साधारण लोगों में पाये जाते हैं । जैसे—सद्भावग्राही प्रत्यक्ष से सुखादि को साधनभूत वस्तु को देखकर और

1 योगः ग्राह, पदार्थप्रत्यक्षं द्विधा । अभावप्रत्यक्षमपि द्विधा । 2 अर्थः । भावस्य पदार्थस्य ग्राहकं प्रत्यक्षम् । (दि० प्र०) 3 भावप्रत्यक्षम् । 4 सुखादिसाधनं वस्तु दृष्ट्वा पूर्वानुभूतसुखसाधनत्वं स्मृत्वा इदं वनितादिकं सुखसाधनमिति प्रत्ययः प्रत्यक्षज्ञानं यथा भवति । 5 इदमाहारादिकं भक्ष्यं सुखसाधनार्थं विषादिकं दुःखसाधनार्थं भवतीति निश्चयवत् । (दि० प्र०) 6 क्वचिदभावप्रत्यक्षं स्मरणनिरपेक्षं योगिनोऽभावप्रत्यक्षं यथा । (दि० प्र०, व्या० प्र०) 7 भूतलादौ । 8 घटाभावस्य ग्राहकं प्रत्यक्षम् । (दि० प्र०) 9 घटः । (व्या० प्र०) 10 ब्रह्माद्वैती । 11 सुखसाधनभूतं वनितादिकं वस्तु दृष्ट्वा पूर्वानुभूतसुखसाधनत्वं स्मृत्वा इदं वनितादिकं सुखसाधनमिति प्रत्ययः प्रत्यभिज्ञानमेव ननु प्रत्यक्षभूतम् । भूतलं दृष्ट्वा घटं स्मृत्वाऽत्र घटो नास्तीति ज्ञानमपि प्रत्यभिज्ञानमेव न तु प्रत्यक्षमिति भावः । तथा च प्रमेयकमलमार्तण्डे द्वितीयपरिच्छेदे इतरेतराभावनिराकरणप्रघट्टके प्रतिपादितम् । भूतलसंसृष्ट-घटदर्शनाहितसंस्कारस्य च पुनर्घटासंसृष्टभूभागदर्शनानन्तरं तथाविधं घटस्मरणे सति । अस्यात्राभाव इति प्रतिपत्तिः प्रत्यभिज्ञानमेवेति । (दि० प्र०)

प्रत्यक्षस्य <sup>१</sup>सकलकल्पनाविषयत्वा<sup>२</sup>त्स्मृत्यपेक्षायामनवस्थाप्रसङ्गात्<sup>३</sup>, <sup>४</sup>स्मृतेः पूर्वानुभवा-  
पेक्षत्वात्पूर्वानुभवस्याप्यपरस्मृत्यपेक्षत्वात्<sup>५</sup>, सुदूरमपि गत्वा <sup>६</sup>कस्यचिदनुभवस्य स्मृतिनिर-  
पेक्षत्वे <sup>७</sup>प्रकृतानुभवस्यापि स्मृतिसापेक्षत्वकल्पनावयर्थ्यात् । न<sup>८</sup> च स्मृतिः <sup>९</sup>पूर्वानुभूतार्थ-  
विषया <sup>१०</sup>कथञ्चिदप्यपूर्वार्थि<sup>११</sup> ज्ञानमुपजनयितुमलं, <sup>१२</sup>तस्यास्त<sup>१३</sup>प्रत्यभिज्ञान<sup>१४</sup>मात्रजननसाम-  
र्थ्यप्रतीतेर्दृष्टे<sup>१५</sup> सजातीयार्थेपि स्मृतेः <sup>१६</sup>सादृश्यप्रत्यभिज्ञानजनकत्वसिद्धेः । पूर्वानुभूते घटे  
स्मृतिस्ततो विजातीयेर्यान्तरे<sup>१७</sup> <sup>१८</sup>तदभावे <sup>१९</sup>विज्ञानमुपजनयतीति शिलाप्लवं कः श्रद्धधीतान्यत्र

पूर्व के अनुभव किये गये सुख के साधनभूत पदार्थों का स्मरण करके “यह स्त्री-पुत्र आदि सुख के कारण हैं” इस प्रकार का ज्ञान उत्पन्न होता है वह “भावग्राही प्रत्यक्षज्ञान” स्मृति सापेक्ष कहलाता है और कहीं शुद्धभूतलादि में घट के अभाव का स्मरण करके ही अभाव प्रत्यक्ष होता है अतः स्मृति सापेक्ष है ।

ब्रह्मद्वैतवादी—यह कथन ठीक नहीं है । क्योंकि स्मरण की अपेक्षा रखने वाले विकल्पज्ञान में प्रत्यक्षपने का विरोध है । जैसे अनुमानादि ज्ञान स्मृति की अपेक्षा नहीं रखते हैं अतः प्रत्यक्ष नहीं हैं ।

दूसरी बात यह है कि प्रत्यक्षप्रमाण सकल कल्पना के विषय से रहित है । अर्थात् निर्विकल्पज्ञान है । फिर भी उसमें यदि स्मृति की अपेक्षा स्वीकार करोगे तब तो अनवस्था का प्रसंग प्राप्त होगा क्योंकि स्मृति पूर्व के अनुभव की अपेक्षा रखती है और पुनः पूर्व का अनुभव अपर स्मृति की अपेक्षा रखता है । अतएव बहुत दूर जाकर भी किसी न किसी अनुभव को स्मृति से निरपेक्ष अन्तिम अनुभव मानने पर प्रकृत अनुभव के लिये भी स्मृति सापेक्ष कल्पित करना व्यर्थ ही है ।

योग—पूर्व के अनुभूत पदार्थ को विषय करने वाली स्मृति कथञ्चित् भी अपूर्वार्थ (अभावरूप पदार्थ) के विषय में ज्ञान को उत्पन्न करने में समर्थ नहीं है, यदि ऐसा कहो तो ठीक नहीं है । वह स्मृति उस अपूर्वार्थ—अभाव पदार्थ में प्रत्यभिज्ञानमात्र को उत्पन्न करने में समर्थ है, किन्तु प्रत्यक्ष को उत्पन्न करने में समर्थ नहीं है । क्योंकि देखे गये सजातीय पदार्थ में भी स्मृतिसादृश्यप्रत्यभिज्ञान को उत्पन्न करने में सिद्ध है ।

ब्रह्मद्वैत—पूर्वानुभूत घट में स्मृति हो और पुनः वह स्मृति विजातीय अर्थान्तर-घटरहित भूतल में जो कि विजातीय अर्थान्तरभूत है उस अभाव में विज्ञान को (घटाभाव प्रत्यक्ष को) उत्पन्न करे । इस प्रकार की मान्यता तो शिला को पानी में तैराने के समान जड़ात्मा योग के सिवाय और

१ इयं भवति, इदं न भवतीति । २ विकलत्वात् इति पा० । (दि० प्र०) ३ च । (व्या० प्र०) ४ अनवस्थामेव दर्शयति । ५ योगमतापेक्षया पूर्वानुभवः प्रत्यक्षरूपोऽस्ति यतः । ६ अस्त्यस्य । ७ घटाद्यभावग्राहकस्य । ८ योगः । ९ घटः । (दि० प्र०) १० दृष्टसजातीयोर्थो पूर्वार्थस्तत्र ज्ञानं जनयत्येव इत्याशङ्क्यामाह । (दि० प्र०) ११ अभावे । १२ इति चेन्नेत्यध्याहार्यमत्र । १३ तत्, तस्मिन्पूर्वार्थे । १४ न तु प्रत्यक्षजनकत्वसिद्धिस्ततः । १५ सर्वथा । (दि० प्र०) १६ पूर्वव्यक्त्यनुभवसमये तद्गतं सादृश्यमप्यनुभूयते एव । तत एव पूर्वार्थत्वमिति भावः । १७ घटरहिते भूतले । १८ विजातीयेर्यान्तरे । १९ (घटाभावप्रत्यक्षम्) ।

<sup>1</sup>जडात्मनः । <sup>2</sup>ततः स्मृतिनिरपेक्षमेव सर्वं प्रत्यक्षम् । <sup>3</sup>तच्च यद्यभावविषयं स्यात्तदा भावदर्शनमनवसरमेव, <sup>4</sup>तत्कारणाभावात् । प्रतिपत्तिर्भाविदिदृक्षा भावदर्शनकारणमित्यपि न सम्यक्, पुरुषेच्छानपेक्षत्वात्प्रत्यक्षस्य, सत्यामपि घटदिदृक्षायां<sup>5</sup> <sup>6</sup>तद्विकले प्रदेशे <sup>7</sup>दर्शनाभावादसत्यामपि<sup>8</sup> सति घटे दर्शनसद्भावात् । इति न प्रत्यक्षमभावं प्रत्येति, तस्य<sup>9</sup> सन्मात्रविषयत्वात्तत्रैव<sup>10</sup> प्रमाणत्वोपपत्तेरव्यभिचारात्<sup>11</sup> ।

[ अनुमानप्रमाणेनाप्यभावस्य ज्ञानं भवन्तीति ब्रह्माद्वैतवादी ब्रूते । ]

<sup>12</sup>सकलशक्तिविरहलक्षणस्य <sup>13</sup>निरुपाख्यस्य<sup>14</sup> <sup>15</sup>स्वभावकार्यद्विरभावात्कुतस्तत्प्रमितिः<sup>16</sup> \*

कौन श्रद्धान करेगा ? अतएव सभी प्रत्यक्ष स्मृति निरपेक्ष ही हैं यह बात सिद्ध हो जाती है । यदि वे प्रत्यक्षज्ञान अभाव को विषय करने वाले हो जावेंगे । तब तो उन्हें भावरूप पदार्थों को ग्रहण करने का अवसर ही नहीं मिलेगा क्योंकि उस भाव के कारणों का अभाव है । अर्थात् पहले उस कमरे में घट को देखा था अब वह नहीं है अतः उस घट का स्मरण हुआ पुनः घट से भिन्न शुद्धभूतल को देखकर घट के अभाव ज्ञान को उत्पन्न करे यह कथन पानी में पत्थर की शिला को तैराने के समान ही अज्ञानस्वरूप है ।

योग—ज्ञाता की जो पदार्थों को देखने की इच्छा है वह भाव-पदार्थ को देखने में कारण है ।

ब्रह्माद्वैती—यह कथन भी समीचीन नहीं है क्योंकि प्रत्यक्षज्ञान पुरुष की इच्छा की अपेक्षा से रहित है । घट को देखने की इच्छा के होने पर भी घट से रहित प्रदेश में घट के दर्शन का अभाव है और इच्छा के होने पर भी यदि घट विद्यमान है तो वह दीख जाता है । अतः प्रत्यक्ष प्रमाण अभाव को विषय नहीं करता है । वह सत्तामात्र को ही विषय करता है और उसी विषय में ही वह प्रमाणीक है तथा व्यभिचार दोष से रहित है ।

प्रश्न (योग)—प्रत्यक्ष से अभाव की प्रतिपत्ति न हो तो न सही किन्तु अनुमान से तो होगी ही होगी ।

[ अनुमान प्रमाण से भी अभाव का ज्ञान नहीं होता है ऐसा ब्रह्माद्वैतवादी कहते हैं । ]

उत्तर (ब्रह्माद्वैती)—सकलशक्तिविरहलक्षणनिरुपाख्य—अभाव को स्वभावलिङ्ग और कार्यरूप लिङ्ग से जानने का अभाव है तो किस प्रकार से अभाव का ज्ञान आनुमानिक होगा ?

1 योगात् । 2 प्रत्यक्षस्य स्मृतिसापेक्षत्वेऽपूर्वार्थिज्ञात्कारित्वं विरुद्धं यतः । 3 प्रत्यक्षम् । (दि० प्र०) 4 अभावदर्शनम् । (दि० प्र०) 5 घटाद्यर्थदृष्टुमिच्छायाम् । (दि० प्र०) 6 घटः । (दि० प्र०) 7 घटस्य । (व्या० प्र०) 8 दिदृक्षायाम् । (व्या० प्र०) 9 प्रत्यक्षस्य । (दि० प्र०) 10 सन्मात्रे । (दि० प्र०) 11 निःस्वभावस्याभावस्य । (दि० प्र०) 12 मास्तु प्रत्यक्षादभावप्रतिपत्तिः । अनुमानात् संभवतीत्युक्ते आह । 13 निःस्वभावस्याभावस्य । 14 अर्थक्रियालक्षणसकलशक्तिरहितस्य निःस्वभावस्य वस्तुनः स्वभावकार्यानुपलब्धिलिङ्गानामभावात् । अनुमानेनापि अभावनिश्चितिर्न भवेत् । (दि० प्र०) 15 स्वभावलिङ्गस्य कार्यरूपलिङ्गस्य च । 16 नेति पाठः । (दि० प्र०)

स्यादानुमानिकी ? न हि निरुपाख्यस्य स्वभावः <sup>१</sup>कश्चित्संभवति, भावस्वभावत्वप्रसङ्गात् । नापि <sup>२</sup>कार्यं, <sup>३</sup>तत एव । इति कुतः स्वभावात्कार्याद्वा <sup>४</sup>हेतोस्तत्प्रमितिः ? <sup>५</sup>अनुपलब्धिः <sup>६</sup>पुनस्तस्यासिद्धिमेव <sup>७</sup>व्यवस्थापयेदिति ततोपि <sup>८</sup>न तत्प्रमितिः । <sup>१०</sup>भावानामनुपलब्धेस्तत्प्रमितिरित्यपि <sup>११</sup>न सम्यक्, <sup>१२</sup>ततो <sup>१३</sup>भावान्तरस्वभावस्यैवाभावस्यावभासनात् । एतेन <sup>१४</sup>विरोधिलिङ्गा <sup>१५</sup>निरुपाख्यस्याभावस्य <sup>१६</sup>प्रमितिरपास्ता । सदुपलम्भकप्रमाणपञ्चक <sup>१७</sup>निवृत्तेस्तत्प्र

तुच्छाभावरूप अभाव का कोई भी स्वभाव संभव नहीं है, अन्यथा उसे भाव स्वभाव का प्रसंग आ जावेगा । वह कार्यरूप भी नहीं है, अन्यथा वही भाव स्वभाव का प्रसंग आवेगा । इसलिये स्वभाव-हेतु अथवा कार्यहेतु से किस प्रकार से उस अभाव की प्रमिति होगी ?

यदि आप कहें कि अनुपलब्धि हेतु से अभाव का ज्ञान होगा यह भी ठीक नहीं है क्योंकि वह अनुपलब्धि हेतु तो अभाव की असिद्धि को ही व्यवस्थापित करेगा । अर्थात् अनुपलब्धि हेतु तो यही कहेगा कि अभाव-तुच्छाभाव नहीं है । अतएव इस अनुपलब्धि से भी उस अभाव का ज्ञान नहीं होगा ।

शंका—पदार्थों की अनुपलब्धि से उस अभाव का ज्ञान हो जावेगा ।

समाधान—यह भी कथन ठीक नहीं है क्योंकि उस अनुपलब्धि से भावान्तर स्वभाव भूतल-लक्षण आदि स्वरूप का ही अभाव प्रतिभासित होता है न कि तुच्छाभावरूप अभाव ।

तथा च इसी कथन से उनका भी खंडन कर दिया गया समझना चाहिये कि जो विरोधी लिंग से-अभाव विरोधी भावलिंग से तुच्छाभावरूप अभाव का ज्ञान स्वीकार करते हैं ।

शंका—सदुपलम्भकप्रमाण पंचक की प्रवृत्ति न होने से उस अभाव का ज्ञान होता है । अर्थात् “यहाँ घट का अभाव है शुद्धभूतल की उपलब्धि होने से” अथवा “यहाँ शीतस्पर्श नहीं है क्योंकि अग्नि विद्यमान है ।” सत्ता को ग्रहण करने वाले प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, उपमान, अर्थापत्ति इन पांच प्रमाणों की निवृत्ति हो जाने से घट के अभाव का ज्ञान स्वयं हो जाता है ।

समाधान—यह कथन भी मिथ्या है । वह सदुपलम्भकप्रमाण पंचक निवृत्ति भी तुच्छाभावरूप अभाव में ज्ञान को उत्पन्न नहीं कर सकती है क्योंकि आत्मा-पुरुष सदुपलम्भकप्रमाण पंचक रूप से प्रसज्य प्रतिषेधरूप अभाव का प्रमाणपने से विरोध है ।

१ अन्यथा । (दि० प्र०) २ लिङ्गरूपम् । ३ भावस्वभावत्वप्रसङ्गात् । ४ अभावप्रमितिलिङ्गजा । ५ अभाव-ज्ञानेनुपलब्धिहेतुः । ६ हेतुः । (दि० प्र०) ७ अभावस्य । ८ तुच्छाभावो नास्तीति । ९ अनुपलब्धेः । (दि० प्र०) १० घटादीनाम् । (दि० प्र०) ११ का । (दि० प्र०) १२ भावत्वे सत्यनुपलब्धेरिति हेतोः । १३ भूतललक्षणादेः । १४ अभावप्रमितिजनकस्याभावप्रमाणस्य लक्षणं सामान्यतो विशेषतश्च, ‘प्रत्यक्षादेरनुत्पत्तिः प्रमाणाभाव उच्यते । सात्मनोऽपरिणामो वा विज्ञानं वान्वयस्तुनि’ इति यदुक्तं भट्टेन तत्सर्वं क्रमेण दूषयन्नाह द्विती । १५ अभावविरोधी भावो यतः । १६ यदुक्तं भक्तेन । अभावप्रमितिजनकस्याभावप्रमाणस्य लक्षणं सामान्यतोविशेषतश्च । प्रत्यक्षादेरनुत्पत्तिः प्रमाणाभाव उच्यते । सात्मनोऽपरिणामो वा विज्ञानञ्चान्वयस्तुनीत्येतत्सर्वं क्रमेण दूषयन्नाह । (दि० प्र०) १७ अस्त्यत्र घटाभावः शुद्धभूतलोपलम्भादिति । नास्त्यत्र शीतस्पर्शः, अग्नेरिति च ।

मिति रित्यपि मिथ्या, तस्या<sup>१</sup> अपि <sup>२</sup>निरुपाख्यत्वे <sup>३</sup>क्वचित्प्रमितिजननासंभवात्, आत्मनः<sup>४</sup> सदुपलम्भकप्रमाणपञ्चकरूपत्वेनापरिणामस्य<sup>५</sup> प्रसज्यप्रतिषेधरूपस्य<sup>६</sup> <sup>७</sup>प्रमाणस्वविरोधात् । यदि <sup>८</sup>पुनरन्यवस्तुविज्ञानरूपा<sup>९</sup> <sup>१०</sup>तद्विवृतिस्तदा न <sup>११</sup>ततो निरुपाख्यस्य प्रमितिः, <sup>१२</sup>वस्त्वन्तररूपस्यैवाभावस्य सिद्धेः । न च प्रकारान्तरमस्ति किञ्चित् । इति कुतस्तत्प्रमितिः ?

भावार्थ—नञ् समास के दो अर्थ हैं (१) पर्युदास निषेध (२) प्रसज्य निषेध । सदृश को ग्रहण करने वाला पर्युदास है और सर्वथा निषेध को करने वाला प्रसज्य है । यथा—“अब्राह्मणमानय” कहने पर ‘ब्राह्मण के सदृश को’ यह अर्थ “पर्युदास” निषेध कहलावेगा एवं सर्वथा निषेध को ही कहने वाला “प्रसज्य” कहलावेगा । यहाँ अभाव का अर्थ प्रसज्य प्रतिषेध नहीं करना ।

यदि पुनः अन्य वस्तु के विज्ञानरूप उन प्रमाणपञ्चक का अभाव है तब तो उस अन्य वस्तु के विज्ञान से तुच्छाभावरूप ज्ञान नहीं हुआ, प्रत्युत वह अभाव तो वस्त्वन्तररूप ही सिद्ध हो गया । अर्थात् घट से भिन्न भूतलरूप जो अन्य वस्तु का विज्ञान है वह घट के अभावरूप है । उस भूतललक्षण अन्य वस्तु के ज्ञान से तुच्छाभाव का ज्ञान नहीं होता है क्योंकि अभाव तो वस्त्वन्तररूप है और अन्य कोई प्रकार है ही नहीं । इसलिये किस प्रमाण से उस तुच्छाभावरूप अभाव की प्रमिति होगी ?

भावार्थ—सांख्य अभाव पदार्थों को स्वीकार न करके मात्र सभी पदार्थों को भावस्वरूप ही स्वीकार करता है । इस पर जैनाचार्यों ने सांख्य के सामने यह दूषण उपस्थित किया है कि प्रागभाव आदि अभावों के माने बिना प्रकृति पुरुष आदि सब एकरूप हो जावेंगे । पुनश्च सांख्य ने कहा कि हमें इसमें कोई विरोध नहीं है । हम तो स्वयं सम्पूर्ण विश्व को प्रधानात्मक मानते हैं ।

इस पर जैनाचार्य ने कहा कि तब तो प्रकृति और पुरुष दोनों भी एकरूप हो जावेंगे और सत्ताद्वैतवाद का भी प्रसंग आ जावेगा । इस पर सत्ताद्वैतवादी बहुत ही प्रसन्न होकर सामने आता है और सांख्य बंधु की सहायता करते हुये कहता है कि भाई ! बात बिल्कुल ठीक है, वास्तव में अभाव नाम की कोई चीज है ही नहीं । देखो ! प्रत्यक्ष प्रमाण भी अभाव को ग्रहण नहीं कर सकता है अतएव अभाव को मानना बिल्कुल ही गलत है । अब आगे इस बात पर जैनाचार्य विचार करेंगे । ध्यान रहे ये सांख्य और अद्वैतवादी केवल भावैकान्तवादी ही हैं ।

१ सदुपलम्भकप्रमाणपञ्चकनिवृत्तेरपि । (दि० प्र०) २ निःस्वभावत्वे । ३ अभावे । ४ पुरुषस्य । ५ अभावस्य । ६ द्वौ नञौ तु समाख्याती पर्युदासप्रसज्यकौ । पर्युदासः सदृशाही प्रसज्यस्तु निषेधकृत् । १। यथा अब्राह्मणमानयेत्यस्य ब्राह्मणसदृशमानयेत्वर्थः पर्युदासे । प्रसज्ये तु सर्वथा निषेध एव भवति । ७ आत्मनोऽपरिणामः केन प्रमाणेन गृह्यते ? न केनापि । लोके परिणाम एव दृश्यते, यथा मृत्पिण्डस्याभावाद् घटोत्पादः, तथा परिणमनस्वभावत्वात् । ८ यथा घटादन्यद्भूतलम् । ९ प्रधानत्वं विधेयत्र प्रतिषेधे प्रधानता । पर्युदासः सविज्ञेयो यत्रोत्तरपदेन नञ् । अप्राधान्यं विधेयत्र प्रतिषेधे प्रधानता । प्रसज्य प्रतिषेधोऽयं क्रियया सह यत्र नञ् । (दि० प्र०) १० घटनिवृत्तिः । ११ भूतल-लक्षणान्यवस्तुविज्ञानात् । १२ भूतललक्षणस्य । (व्या० प्र०)



[ जैनाचार्या जगन्मानात्वं साधयन्ति । ]

मा भूत्तिरुपाख्यस्याभावस्य प्रत्यक्षतोऽन्यतो वा प्रमाणात्प्रतिपत्तिस्तथापि न सत्ताद्वैतस्य सिद्धिः, वस्तुनानात्वस्यैव ततः<sup>१</sup> <sup>२</sup>परिच्छित्ते<sup>३</sup>रित्य<sup>४</sup>परस्तस्यापि<sup>५</sup> वस्तुनो नानात्वं <sup>६</sup>बुद्ध्या-  
दिकार्यनानात्वात्प्रतीयेत<sup>७</sup> \*, नान्यथा, <sup>८</sup>अतिप्रसङ्गात् । <sup>९</sup>तदपि व्यभिचार्यैव, <sup>१०</sup>विपक्षेपि  
भावात् । तथा<sup>११</sup> हि स्वभावाभेदेऽपि विविधकर्मता<sup>१२</sup> दृष्टा युगपदेकार्थोपनिबद्धदृष्टिविषय-  
क्षणवत्<sup>१३</sup> \* । न ह्येकत्र नर्तक्यादिक्षणे युगपदुपनिबद्धदृष्टीनां प्रेक्षकजनानां विविधं <sup>१४</sup>कर्म

[ जैनाचार्य जगत् को नानारूप सिद्ध कर रहे हैं । ]

जैन—तुच्छाभावरूप अभाव की प्रतिपत्ति प्रत्यक्ष प्रमाण अथवा अन्य प्रमाण से मत होवे फिर भी आपके सत्ताद्वैत-ब्रह्माद्वैत की सिद्धि तो नहीं हो सकती है क्योंकि उन प्रमाणों से वस्तु में नानापने का ही ज्ञान होता है । “और वस्तु में नानापना बुद्धि आदि कार्य में नानापना होने से प्रतीति में आ रहा है ।”

वह प्रतीति अन्यथा भी नहीं है, नहीं तो अतिप्रसंग दोष आ जावेगा । अर्थात् बुद्धि आदि कार्य में नानापना के बिना भी नानापना सिद्ध होने पर लोक में एकरूप ही कुछ भी नहीं रहेगा ।

अद्वैतवादी—यह नानात्व हेतु व्यभिचारी ही है क्योंकि विपक्ष-एकत्व में भी उसका सद्भाव है । तथाहि—

“स्वभाव से अभेद होने पर भी विविध कर्मता-अनेक कार्य देखे जाते हैं जैसे कि युगपत् एक पदार्थ में लगी हुई दृष्टि के विषयभूतक्षण ।”

एक ही नर्तकी आदि क्षण में युगपत् लगी है दृष्टि जिनकी ऐसे प्रेक्षक जनों के अनेक प्रकार के कार्य, बुद्धि-ज्ञान, व्यपदेश, सुख आदि कार्य असिद्ध नहीं हैं कि जिससे उसके स्वभाव में अभेद होने पर भी विविध कार्यपना न होवे । अर्थात्-नृत्य करने वाली एक है और युगपत् देखने वाले अनेक हैं अतः अनेकों को उस नृत्य का ज्ञान एवं उसमें सुखादि का अनुभव हो रहा है । उसी प्रकार से वस्तु अभेदरूप एक है फिर भी बुद्धि में भी अनेक प्रतिभास होने से अनेकपने का आभास हो रहा है । वस्तुतः वस्तु एक सत्तामात्र परमब्रह्म स्वरूप ही है ।

१ नानात्वस्यैव न तत्परिच्छित्तेरित्यपर इति वा पाठः । (दि० प्र०) २ प्रमाणात् । (दि० प्र०) ३ सत्ताद्वैतवादी वदति । इति पूर्वोक्तप्रकारेणापरः वस्तुनानात्ववादी कश्चित्कथयति तस्यापि प्रतिवादिनः वस्तुनो नानात्वं बुद्ध्यादि-  
कार्यनानात्वाभिप्रेक्षीयते चेत्तदाऽतिप्रसंगः । पुनराह सत्ताद्वैतवादी तत् बुद्ध्यादिकार्यनानात्वं व्यभिचारि । कुतः विपक्षेपि  
वस्तुनः एकत्वेऽपि तस्य हेतोः संभवात् । (दि० प्र०) ४ जैनादिः । ५ इदं दूषणम् । (दि० प्र०) ६ लक्षण ।  
(दि० प्र०) ७ बुद्ध्यादयश्च ताः कार्यरूपास्तेषाम् । ८ बुद्ध्यादिकार्यनानात्वमन्तरेणापि वस्तुनानात्वसिद्धौ लोके  
एकमेव किञ्चित्तु स्यात् । ९ समर्थनम् । १० एकत्वे । ११ हेतोर्व्यभिचारित्वं स्पष्टयन्ति श्रीमद्वकलंकदेवाः ।  
(दि० प्र०) १२ नानाकार्यता । १३ युगपदेकार्थोपनिबद्धदृष्टीनां पुरुषाणां संबन्धाविषयलक्षण एव नानाकार्यकारी  
यथा । (दि० प्र०) १४ कार्य । (दि० प्र०)

<sup>1</sup>बुद्धिद्वयपदेशसुखादिकार्यमसिद्ध<sup>2</sup>, येन <sup>3</sup>तस्य स्वभावाभेदेऽपि विविधकर्मता न भवेत् ।  
<sup>4</sup>शक्तिनानात्वं प्रसवविशेषात्<sup>6</sup> । स<sup>7</sup> चेद्व्यभिचारी, <sup>8</sup>कुतस्तद्गतिः<sup>9</sup> \* ? <sup>10</sup>तस्यापि  
 शक्तिनानात्वोपगमात्<sup>11</sup> बुद्ध्यादिः प्रसवविशेषो <sup>12</sup>व्यभिचारीति चेन्न<sup>13</sup>, अनवस्थाप्रसङ्गात्,

“जैन—नर्तकी आदि क्षण में भी शक्तियाँ अनेक हैं क्योंकि उनका प्रसव-कार्य विशेष पाया जाता है । अर्थात् जिस समय एक नर्तकी नृत्य कर रही है उसमें स्वभाव से अभेद है । यह कथन असिद्ध है क्योंकि उस नर्तकी में अनेक शक्तियों का सद्भाव देखा जा रहा है तभी तो प्रेक्षक जनों के हृदयों में अनेक भावनाएँ उत्पन्न हो रही हैं । अतएव हमारा यह “कार्य नानात्व हेतु” ठीक ही है ।

अद्वैतवादी—नहीं । वह हेतु व्यभिचारी है ।

जैन—यदि आप इस हेतु को व्यभिचारी मानोगे तो शक्ति नानात्व का ज्ञान भी कैसे होगा ? ”

उस नर्तकी के एक क्षण में भी अनेक शक्तियों को स्वीकार करने पर बुद्धि आदिक कार्यविशेष व्यभिचारी नहीं हैं ।

सत्ताद्वैती—ऐसा नहीं, अन्यथा अनवस्था का प्रसंग आ जावेगा । नर्तकी आदि क्षण में नृत्य करते समय उसके एक क्षण में नानाशक्तियाँ हैं उनमें से एक शक्ति में भी बुद्धि सुख आदि कार्यनानात्व की कल्पना करने से उसमें भी नाना शक्तियों का प्रसंग प्राप्त होगा । पुनः उनमें से भी एक शक्ति में बुद्धि आदि कार्यनानात्व की कल्पना करने पर उस एक शक्ति में भी अनेक शक्तियों की कल्पना करनी पड़ेगी । इस अनवस्था के प्रकार से बहुत दूर भी जाकर के बुद्धि आदि कार्यविशेष के सद्भाव

1 नर्तक्यादिभूषणनिबद्धदृष्टीनां पुरुषाणां सम्बन्धी विषयक्षण (बोद्धं प्रति) एक एव नानाकार्यकारी यथा ।  
 2 श्लाघनादिवचन । करणाङ्गहारादिः । (दि० प्र०) 3 नर्तक्यादिकक्षणस्य । 4 ननु नर्तक्यादिकक्षणस्य स्वभावा-  
 भेदोऽसिद्धः, शक्तिनानात्वस्य सद्भावात् । अतः कार्यनानात्वसाधनं कथं व्यभिचारीत्युक्ते आह सत्ताद्वैती ।  
 5 नर्तक्यादेकार्थे । 6 प्रसवः, कार्यम् । 7 (प्रसवविशेषः) । 8 व्यभिचारित्वे प्रसवविशेषस्य कुतस्तस्य  
 शक्तिनानात्वस्य गतिः सिद्धा । 9 प्रसवविशेषाद्वस्तुनानात्वमासिधत् व्यभिचारसंभवात् । शक्तिनानात्वं तु ततो हेतोः  
 सिद्धचत्वेव निर्दोषत्वादित्याशङ्क्यामाह । (दि० प्र०) 10 जैनः (नर्तकीक्षणस्य) । 11 सत्ताद्वैतवाद्याह । प्रसव-  
 विशेषोव्यभिचारी=वस्तुनानात्ववाद्याह । एवं न ।=सत्ताद्वैतवाद्याह । तस्य प्रसवविशेषस्य कुतो गतिः ।=वस्तु-  
 नानात्ववाद्याह । तस्यापि प्रसवविशेषस्यापि शक्तिनानात्वोपगमात् गतिरस्तीत्यतः बुद्ध्यादिः प्रसवविशेषोव्यभि-  
 चारीति चेत् ।=सत्ताद्वैतवाद्याह । एवं न । कुतः । अनवस्थाप्रसङ्गात् । कथमनवस्था इत्युक्त आह । एकस्मिन्  
 नर्तकीक्षणे नानाशक्तयः एकस्यामेकस्यां शक्तौ बुद्ध्यादिकार्यनानात्वं तस्मात् शक्तिनानात्वं प्रसजति । तथा बुद्ध्यादि-  
 कार्यत्वेऽपि नानाशक्तयः । तत्राप्येकस्यामेकस्यां बुद्ध्यादिकार्यनानात्वात् शक्तिनानात्वं प्रसजति इत्यनवस्थापादनम् । एवं  
 सुदूरमपि गत्वाऽनवस्थादोषपरिहारमिच्छता वस्तुनो नानात्ववादिना एकस्मिन्नर्तक्यादिकक्षणे बुद्ध्यादिप्रसवविशेषसद्-  
 भावेऽपि शक्तिनानात्वाभावः प्रथमत एवाभ्युपगन्तव्यः । एवं शक्तिनानात्वाऽभावस्याङ्गीकारे कृते सति असौ बुद्ध्यादि-  
 कार्यनानात्वादिति हेतुः कथं न व्यभिचारी अपितु व्यभिचार्येव इति कुतो वस्तुनानात्वगतिः । न कुतोऽपि । (दि० प्र०)  
 12 नर्तक्यादिकक्षणेन । 13 सत्ताद्वैती ।

नर्तक्यादिकक्षणैकशक्तावपि<sup>१</sup> <sup>२</sup>बुद्ध्यादिकार्यनानात्वाच्छक्तिनानात्वप्रसङ्गात्<sup>३</sup> तथा तच्छक्ता-  
वपि<sup>४</sup> । <sup>५</sup>इति मुद्गरमपि गत्वा बुद्ध्यादिप्रसवविशेषसङ्गावेपि शक्तिनानात्वाभावे कथं नासौ  
व्यभिचारी स्यात् ? इति कुतो वस्तुनानात्वगतिः ?

[ सत्ताद्वैतवादी सर्ववस्तु एकस्वरूपं साक्षयितुं यतते तस्य विचारः ]

<sup>७</sup>केवलम<sup>८</sup>विद्या<sup>९</sup> <sup>१०</sup>स्वभावदेशकालावस्थाभेदानाञ्जमनि<sup>११</sup> परत्र<sup>१२</sup> वा सतः<sup>१३</sup> स्वयमसतो  
<sup>१४</sup>मिथ्याव्यवहारपदवीमुपनयति<sup>१५</sup> यतः <sup>१६</sup>क्षणभङ्गिनो <sup>१७</sup>भिन्नसंसृतयः स्कन्धा<sup>१८</sup> <sup>१९</sup>विकल्परन्त-  
न्यथा<sup>२०</sup> वा इति \* सत्ताद्वैतवादी विशेषानपन्हुवीत तद्रूपादिस्कन्धानां<sup>२१</sup> <sup>२२</sup>द्रव्यादिपदार्थानां

में भी शक्तिनानात्व का अभाव स्वीकार करने पर तो यह कार्यविशेष हेतु व्यभिचारी क्यों नहीं होगा ? अर्थात् यह हेतु व्यभिचारी ही है । और इस प्रकार से वस्तु में अनेकपने का ज्ञान कैसे सिद्ध होगा ? अर्थात् नहीं सिद्ध होगा ।

[ सत्ताद्वैतवादी सभी वस्तु को एकस्वरूप सिद्ध करना चाहता है उस पर विचार ]

“स्वभाव, देश, काल एवं अवस्था से जो भेदरूप हैं, जो कि अपने में अथवा पर में विद्यमानरूप प्रतिभासित हो रहे हैं । अथवा पाठ भेद से ऐसा अर्थ करना कि जो भेद अपने और पर में अविद्यमानरूप हैं उन्हें स्वयं असत् रूप केवल अविद्या ही मिथ्या व्यवहार पदवी को प्राप्त कराती है अर्थात् यह सब भेद असत् रूप हैं ऐसा बताती है । इसी कारण से बौद्धों के द्वारा भिन्न-भिन्न सन्तानरूप, क्षण-भंगुर स्कन्ध अनुमित किये जावें और नैयायिक अथवा सांख्यों के द्वारा अन्यथा—नित्यरूप एक संत-  
तियाँ विकल्पित—अनुमित की जावें यह ठीक नहीं है ।”

अर्थात् बौद्ध पांच स्कन्ध को स्वीकार करता है वह भी कल्पनामात्र है एवं सांख्य या योग नित्य एक संतान स्वीकार करते हैं वह कल्पनारूप असत् ही है । इस प्रकार से सत्ताद्वैतवादी कहता है । उसी को स्पष्ट करता है ।

- १ नर्तक्यादिकक्षणस्य नानाशक्तयः सन्ति । तासां मध्ये एकशक्तौ । २ एकनर्तक्यादिकक्षणे इव प्रसक्ता । (दि० प्र०)  
३ त्वोपगमात् । बुद्ध्यादिः । प्रसवविशेषोऽव्यभिचारीति चेदिति पाठः । (दि० प्र०) ४ एकशक्तावागतनानाशक्तिषु  
मध्ये विवक्षितैकशक्तौ ताः शक्तयः । तासु प्रत्येकमपीत्यर्थः । ५ (अनवस्थाप्रकारेण) । ६ प्रसवविशेषः । ७ पुनः  
सत्ताद्वैतवादी स्वमतं व्यवस्थापयति । (दि० प्र०) ८ वस्तुनानात्वाभावे देशकालावस्थाभेदाः कथं घटन्ते इत्याशङ्क्या-  
माह । ९ कर्त्री । (दि० प्र०) १० बालकादिपर्माय । (दि० प्र०) ११ एव इति । (दि० प्र०) १२ घटादी ।  
(दि० प्र०) १३ विद्यमानान् पदार्थान् । १४ मार्गम् । (दि० प्र०) १५ अविद्या । १६ सौमताभ्युपगतानि क्षणविन-  
श्वराणि विज्ञानादि पञ्चस्कन्धाश्च आदिशब्देन सांख्यानां प्रकृत्यादि पञ्चविंशतितत्त्वानि अन्येषामपि मतानां तत्त्वानि  
कुतो भवेयुर्न कुतोपि । (दि० प्र०) १७ (वसः) । १८ विज्ञानं वेदना संज्ञा संस्कारो रूपमेव चेति पञ्चस्कन्धा बौद्धा-  
भिमताः । १९ (बौद्धाभिमताः) । २० योगाद्यभिमता अक्षयिका नित्या एकसंततयश्च (तेपि मिथ्यैवेत्यर्थः) ।  
२१ सौगतोक्तानाम् । २२ नैयायिकोक्तानाम् ।

वा निरुपाख्याभावानामिव<sup>1</sup>, परमार्थतः<sup>2</sup> क्षणिकत्वाक्षणिकत्वतदनुभयानुभय<sup>3</sup>रूपत्वादिविशेष-  
साधनेपि<sup>4</sup> साधनव्यभिचारात्<sup>5</sup>, 'सोपि'<sup>6</sup> 'प्रतिभासकार्याद्यभेदेपि'<sup>7</sup> 'कस्यचिदेकत्वं'<sup>8</sup> 'साध्य-  
तोति साध्यसाधनयोरभेदे किं केन'<sup>9</sup> 'कृतं'<sup>10</sup> 'स्यात्'<sup>11</sup> ? 'पक्षविपक्षादेरभावात्'<sup>12</sup> \* । कस्यचिद्धि  
सन्मात्रदेहस्य परब्रह्मणस्तद्वादी<sup>13</sup> एकत्वं<sup>14</sup> 'प्रतिभासनात्तत्कार्यात्तत्स्वभावाद्वा'<sup>15</sup> 'साध्येद-  
न्यतो'<sup>16</sup> वा ? तच्च साधनं साध्यादभिन्नमेव, अन्यथा द्वैतप्रसङ्गात् । साध्यसाधनयोरभेदे च<sup>17</sup>

बीदों के द्वारा अभिमत विज्ञान, वेदना, संज्ञा, संस्कार और रूप ये पांच स्कन्ध एवं नैयायिक  
के द्वारा स्वीकृत द्रव्यादि नवपदार्थ अथवा तुच्छाभावरूप अभावों में विशेषभेद की सिद्धि नहीं हो  
सकती है । तथैव परमार्थतः क्षणिकत्व, अक्षणिकत्व, नित्य, तदनुभय—स्वतन्त्ररूप नित्यानित्य एवं  
अनुभय—दोनों से शून्यरूप तत्त्व में भी विशेषभेदों की सिद्ध करने के लिये जो भी हेतु प्रयुक्त किये  
जाते हैं वे व्यभिचारी ही हैं ।

जैन--इस प्रकार से जो सत्ताद्वैतवादी विशेषों—भेदों का अपन्हुव-लोप करते हैं यह भी ठीक  
नहीं है क्योंकि प्रतिभास और उसके कार्यादि में अभेद होने पर भी किसी ब्रह्मविशेष में यदि आप  
एकत्व को सिद्ध करते हैं, तब तो साध्य और साधन में भी अभेद रहा । पुनः किस हेतु से किस साध्य  
की सिद्धि आप कर सकेंगे ? क्योंकि सत्ताद्वैतवादी के मत में तो पक्ष, विपक्ष आदि का ही अभाव है ।

हम आपसे प्रश्न करते हैं कि किसी सत्तामात्र देहवाले परमब्रह्म के एकत्व को आप प्रतिभास-  
मान हेतु से सिद्ध करते हो या तत्कार्य हेतु से अथवा तत्स्वभावहेतु से या अन्य किसी हेतु से ?

अर्थात् आप सम्पूर्ण जगत के चेतनाचेतन पदार्थ को परमब्रह्म स्वरूप ही सिद्ध करना चाहते हो  
तब उस एक स्वरूप के सिद्ध करने में आप क्या हेतु देते हो ?

(1) सब पदार्थ सत्स्वरूप ही प्रतिभासित हो रहे हैं । अथवा (2) उस परमब्रह्म के कार्य हैं । या  
(3) उसके स्वभाव हैं । अथवा (4) अन्य किसी हेतु से उसके एकत्व को सिद्ध करते हो ? कहिये  
यदि आप इन हेतुओं से सिद्ध करते हो तब तो ये सभी हेतु साध्य (परमब्रह्म) से अभिन्न ही हैं ।

- 1 यथा निरुपाख्याभावानां (नैयायिकाद्यभिमतानां) विशेषसाधनव्यभिचारः । 2 तदनुभयं नैयायिकाभिमतम् ।  
3 तदनुभयं, शून्यवाद्यभिमतम् । 4 ते च ते विशेषाश्च तेषां साधनेपि । 5 सर्वं वस्तुक्षणिकं सत्त्वादित्यस्य हेतोः  
विपक्षे नित्येजातत्वं कथं सर्वमक्षणिकं सत्त्वादित्यो तेन व्यभिचारित्वं द्वैतवादिना क्रियमाणकल्पनाया विपक्षेपि  
साधारणत्वात् । (व्या० प्र०) 6 सोपि अद्वैतवादी प्रतिभासनात् कार्यात्तत्स्वभावादित्यादि साधनानामभेदेपि परम-  
ब्रह्मणः । एकत्वं साधयति । (दि० प्र०) 7 सत्ताद्वैतवादीत्यतः प्रभृत्याह जैनः । सोपि सत्ताद्वैतवादी । 8 (सत्ता-  
द्वैतवाद्युक्तं परमतनिराकरणं स्वयमपि स्वीकृत्य जैनोद्युता सत्ताद्वैतमतं दूषयति) । प्रतिभासश्च तत्कार्यादि च तयो-  
रभेदे । 9 ब्रह्मणः । 10 हेतोः । (व्या० प्र०) 11 साधितम् । 12 नैव । (व्या० प्र०) 13 सत्ताद्वैतवादिमते ।  
14 च । (व्या० प्र०) यदादिकार्याणां कारणभेदाभावात् । (दि० प्र०) 15 ब्रह्मवादी । 16 साध्यम् । (व्या० प्र०)  
17 यदादयोऽभिन्नाः, प्रतिभासकार्यत्वात् । 18 कारणभेदाभावादित्यादिहेतोर्वा । 19 भिन्नं चेत् । (दि० प्र०)  
20 सिद्धे सति ।

किमेकत्वं केन प्रतिभासकार्यादिना निर्णीतं<sup>१</sup> स्यात्, पक्षस्य विपक्षस्य सपक्षस्य चाभावात् । साध्यधर्माधारतया हि प्रसिद्धो धर्मी पक्षः । स च सर्वेषामर्थानां<sup>२</sup> धर्मिणामप्रसिद्धौ<sup>३</sup> ततो-  
न्यत्वेन<sup>४</sup> साध्यधर्मस्य चैकत्वस्यासंभवे कथं प्रसिध्येन्नम ? विपक्षश्च<sup>५</sup> तद्विरुद्धस्ततोऽन्यो<sup>६</sup>  
वा नाद्वैतवादिनोस्ति । तथा सपक्षश्च साध्यधर्माविनाभूतसाधनप्रदर्शनं<sup>७</sup> फलस्तस्य<sup>८</sup> दूरो-  
त्सारित एव ।<sup>९</sup> तत्प्रसिद्धौ वा भेदवादप्रसिद्धिः । पराभ्युपगमात्पक्षादिसिद्धेरदोष इति चेन्न,  
स्वपरविभागासिद्धौ पराभ्युपगमस्याप्यसिद्धेः । एतेन<sup>१०</sup> यदुक्तं, सर्वेर्थाः प्रतिभासान्तः प्रविष्टाः  
<sup>११</sup> प्रतिभाससमानाधिकरणतयाऽवभासमानत्वात्<sup>१२</sup> प्रतिभासस्वात्मवदिति<sup>१३</sup> ब्रह्माद्वैतस्य साधनं<sup>१४</sup>  
तदपि प्रत्याख्यातम् ।

अन्यथा यदि नहीं मानोगे तो द्वैत का प्रसंग आ जावेगा । तथा साध्य-साधन में अभेद होने पर  
किन्हीं प्रतिभास कार्य आदि हेतुओं से क्या एकत्व का निर्णय हो सकेगा ? अर्थात् नहीं हो सकेगा  
क्योंकि आप अद्वैतवादियों के यहाँ तो पक्ष, सपक्ष और विपक्ष का ही अभाव है ।

साध्यधर्म का आधार होने से जो प्रसिद्ध है वही धर्मी पक्ष कहलाता है । सत्ताद्वैतवादियों के यहाँ  
तो सभी पदार्थ धर्मरूप से अप्रसिद्ध ही हैं और उस धर्मी से यदि साध्यधर्म भिन्न है तब उस धर्मी  
और साध्य में एकत्व ही असम्भव है, तब वह धर्मी पक्ष प्रसिद्ध कैसे कहलावेगा ? उसी प्रकार से  
विपक्ष भी उस पक्ष से विरुद्ध है अथवा उससे भिन्न ही सिद्ध होता है जो कि अद्वैतवादियों के यहाँ  
असम्भव है एवं सपक्ष भी पक्ष से भी भिन्न ही रहता है क्योंकि साध्य के साथ अविनाभूत हेतु को  
दिखलाना ही उसका फल है । इसलिये वह सपक्ष भी अद्वैतवादियों के यहाँ दूर से ही समाप्त हो  
जाता है और यदि इनकी भिन्न-भिन्न सिद्धि मानों तब तो भेदभाव ही प्रसिद्ध हो जाता है ।

सत्ताद्वैतवादी—दूसरों के द्वारा स्वीकृत होने से हम भी उन पक्षादि को सिद्ध मानकर प्रयोग  
कर देते हैं । अतः कोई दोष नहीं आता है ।

जैन—आप ऐसा भी नहीं कह सकते क्योंकि आपके यहाँ स्वपर का विभाग ही असिद्ध है ।  
पुनः पर के द्वारा स्वीकृत पक्ष आदि की सिद्धि भी नहीं हो सकेगी ।

आपने जो कहा है कि “सभी पदार्थ प्रतिभास के अन्तःप्रविष्ट हैं क्योंकि प्रतिभास—ब्रह्म के  
समानाधिकरणरूप से अवभासित होते हैं जैसे प्रतिभास का स्वरूप” । आपके इस कथन को भी पक्ष,  
विपक्ष, सपक्ष के अभाव कथन से ही निराकरण कर दिया गया समझना चाहिये ।

१ अपि तु न स्यात् । २ सत्ताद्वैते । ३ ब्रह्माद्वैतवादिनः सर्वे भामारामादयो धर्मरूपान् सन्ति । ततोऽर्थेभ्यः भिन्नत्वेन  
प्रतिभासान्तः प्रविष्टा इत्येकत्वसंक्षणत्वसाध्यधर्मस्य चासंभवे कथं पक्षो घटेते । (दि० प्र०) ४ धर्मिण्यः ।  
५ पक्षः । ६ पक्षविरुद्धः । विरुद्धधर्माभ्यासाद्वैतोः । ७ उक्तलक्षणात्पक्षात् । ८ एकानेकात्मकः । (दि० प्र०)  
९ अद्वैतवादिमते सपक्षोपि पक्षादन्यो न सिद्ध्येदित्यर्थः । १० भिन्नत्वसाधकः । ११ अद्वैतवादिनः । (दि० प्र०)  
१२ भिन्नत्वसिद्धौ । १३ पक्षसपक्षविपक्षभावकथनेन । १४ प्रतिभासो ब्रह्म । तत्समानमेकमधिकरणं येषां ते  
तेषां भावस्तथा । १५ ज्ञानेन । एकः । (व्या० प्र०) १६ ज्ञानस्य स्वरूपवत् । (दि० प्र०) १७ साधकमनुमानम् ।  
(दि० प्र०)

[ सत्ताद्वैतवादी वेदात् एकब्रह्म साधयितुं प्रयत्ने तस्य विचारः ]

<sup>1</sup>आम्नायात्तत्सिद्धिरित्यप्यसंभाव्यं<sup>2</sup>, <sup>3</sup>तस्यापि <sup>4</sup>साध्यादभेदे <sup>5</sup>साधनत्वायोगात् । ततः<sup>6</sup> साध्यसाधनयोरभेदे किं सत्ताद्वैतं केनानुमानेनागमेन प्रत्यक्षेण वा प्रमाणेन साधितं स्यात्, <sup>7</sup>पक्षसपक्षविपक्षाणां आम्नायस्येन्द्रियादेयवानुमानागमप्रत्यक्षज्ञानात्मकप्रमाणकारण<sup>8</sup>-स्याभावान्नैव<sup>9</sup> तत्कृतं<sup>10</sup> स्यात् । न <sup>11</sup>बवच्चिदसाधना<sup>12</sup> साध्यसिद्धिः, अतिप्रसङ्गात्<sup>13</sup> \* । साधनं हि प्रमाणं साध्यते निश्चीयतेऽनेनेति । तद्वहिता न साध्यस्य प्रमेयस्य सिद्धिः, शून्य-<sup>14</sup>

[ सत्ताद्वैतवादी आगम से एक ब्रह्म की सिद्धि करना चाहता है उस पर विचार ]

**ब्रह्माद्वैतवादी-** आम्नाय-वेद से उस ब्रह्माद्वैत की सिद्धि हो जाती है ।

**जैन-** यह कथन भी असंभव है क्योंकि आपका वह आगम भी साध्य-परमब्रह्म से अभिन्नरूप हो है अतः वह आगम भी ब्रह्म की सिद्धि करने में असमर्थ ही है । अतएव साध्य-साधन में अभेद के स्वीकार करने पर आपका सत्ताद्वैत किसी अनुमान से अथवा आगम से अथवा किसी प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध हो सकता है क्या ? अर्थात् नहीं हो सकता है क्योंकि पक्ष, सपक्ष और विपक्ष अनुमान प्रमाण में कारण हैं । तथा वेद आगम प्रमाण में कारण हैं उसी प्रकार से इन्द्रियादिक प्रत्यक्ष प्रमाण में कारण हैं ।

उपर्युक्त अनुमान, आगम और प्रत्यक्ष प्रमाण के कारणों का अभाव होने से उन-उन प्रमाणों से वह परमब्रह्म सिद्ध नहीं हो सकेगा । "क्योंकि कहीं पर भी साधन रहित साध्य की सिद्धि नहीं हो सकती है । अन्यथा अतिप्रसंग दोष आ जावेगा । जिसके द्वारा साध्य सिद्ध किया जाता है—निश्चित किया जाता है वही साधन है अतएव वह प्रमाण है अर्थात् सच्चा ज्ञान है । क्योंकि साधन प्रमाण से रहित साध्यरूप प्रमेय की सिद्धि नहीं हो सकती है । अन्यथा शून्यवाद आदि की भी सिद्धि का प्रसंग आ जायेगा ।

**ब्रह्माद्वैत—**स्वरूप का स्वयमेव ही ज्ञान हो जाता है । पुनः हेतु आदि के प्रयोग की आवश्यकता ही क्या है ?

1 वेदात् । 2 सर्वं वै खल्विदं ब्रह्मेत्याद्यागमाद् ब्रह्माद्वैतसिद्धिरस्तु । (दि० प्र०) 3 आगमस्य । (दि० प्र०) 4 ब्रह्मणः । 5 तस्यापि साध्यादभेदे तत्साधनत्वविरोधात्साध्यस्वात्मवत्प्रत्यक्षात्तत्सिद्धिरनेनैव प्रयुक्ता । इति अधिकः पाठः । (दि० प्र०) 6 यत् एवम् । (दि० प्र०) 7 अत्र सपक्षास्मायेन्द्रियादिकं भाष्ये आदिशब्दाद् गृहीतं प्रतिपत्तव्यं द्वितीयार्थे । (दि० प्र०) शब्दरूपरूपस्य । (दि० प्र०) 8 (पक्षसपक्षविपक्षा अनुमानप्रमाणे कारणम् । आम्नायः आगमकारणम् । इन्द्रियादि तु प्रत्यक्षे कारणम्) । 9 सर्वस्य सर्वार्थैकरूपत्वात् । (दि० प्र०) 10 तत्, ब्रह्म । कृतं, साधितम् । अथवा तैः प्रमाणैः कृतं साधितं तत्कृतम् । 11 पक्षे । (दि० प्र०) 12 प्रमाणरहिता । (दि० प्र०) 13 अन्यथा । (दि० प्र०) 14 सत्ता स्वयमेव प्रकाशत इति शंका निराकरोति । (व्या० प्र०)

तादिसिद्धिप्रसङ्गात् । स्वरूपस्य स्वतो गतिरिति तु संविदद्वैतवादिनोपि<sup>१</sup> <sup>२</sup>समानम् । किं  
 धुना, सर्वस्य स्वेष्टत्वं प्रत्यक्षादिप्रमाणाभावेपि व्यवतिष्ठेत, <sup>३</sup>स्वरूपस्य स्वतो गतेः । इत्य-  
 तिप्रसङ्ग<sup>४</sup> एव, पुरुषाद्वैतवदनेकान्तवादस्यापि<sup>५</sup> सिद्धेः, <sup>६</sup>संविदद्वैतवदनेकसंवेदनस्यापि सिद्धेः ।  
<sup>७</sup>इति न सत्ताद्वैतं निष्पर्यायि<sup>८</sup> शक्यमभ्युपगन्तुम् । विचारयिष्यते चैतत् प्रपञ्चतोऽग्रे । तदलम-  
 तिप्रसङ्गेन । <sup>९</sup>ततो भावा<sup>१०</sup> एव नानात्मादय<sup>११</sup> इति भावैकान्तोऽभ्युपगम्यताम्<sup>१२</sup> । तत्र<sup>१३</sup> च  
 सर्वात्मकत्वादिदोषानुषङ्गः परिहर्तुमशक्यः ।

जैन—यह उत्तर तो संवेदनाद्वैतवादी के लिए भी समान ही है अर्थात् वे भी कहते हैं कि ज्ञान स्वयं प्रकाशित होता है । अधिक कहने से क्या ? सर्व मतावलंबियों के यहाँ “स्वरूपस्य स्वतो गतिः” स्व-स्व अभिमत तत्त्वों की प्रत्यक्ष आदि प्रमाण के अभाव में भी व्यवस्था बन जायेगी । क्योंकि स्वरूप का स्वयमेव बोध होता है । अतः इस कथन से तो अतिप्रसंग दोष ही उपस्थित होता है । पुनः आपके पुरुषाद्वैत के समान हम जैनियों का अनेकान्तवाद भी सिद्ध ही हो जायेगा । क्योंकि संवेदनाद्वैत के समान अनेक संवेदन की भी सिद्धि पाई जाती है अर्थात् प्रमाण का अभाव तो दोनों जगह समान ही है दोनों की मान्यता भी स्वयं ही सिद्ध क्यों न हो जावे ? इसलिये यहाँ अतिप्रसंग से बस होवे । इस प्रकार से भाव-पदार्थ ही नानात्मक है अतः भावैकान्त को ही स्वीकार करना चाहिये ऐसा जो सांख्यों का कहना है उसमें भी सर्वात्मकत्वादि दोषों का परिहार करना अशक्य ही है ।

भावार्थ—सत्ताद्वैतवादी का कहना था कि प्रत्यक्ष अनुमान या आगम प्रमाण से अभाव का ज्ञान नहीं होता है अतः सारा जगत् एक सत्-ब्रह्मस्वरूप ही है । किन्तु जैनाचार्य जगत् को नानारूप सिद्ध कर रहे हैं । सत्ताद्वैतवादी ने सारे भेदों को केवल अविद्या से सिद्ध करना चाहा था किन्तु जैनाचार्यों का कहना है कि तुम्हारा सन्मात्रशरीरधारी परमब्रह्म न प्रत्यक्ष से सिद्ध होता है न अनुमान से और न आगम से । क्योंकि तुम जिससे एक अद्वैतब्रह्म को सिद्ध करना चाहते हो उसी से द्वैत हो जाता है । यदि कहो कि ब्रह्मस्वरूप की स्वयं सिद्धि है तब तो विज्ञानाद्वैत की भी स्वयं सिद्धि है ऐसा योगाचार बौद्ध कहते हैं एवं हम जैन लोग भी अनेकान्ततत्त्व की स्वयं सिद्धि मान रहे हैं क्या बाधा है ? अतः सत्ताद्वैतवादी भी अभाव का लोप करके मात्र सत्ताद्वैत की स्थापना नहीं कर सकता है ।

१ न केवलमद्वैतवादिनः साध्यमिकस्यापि । (व्या० प्र०) २ संवित्स्वयमेव प्रकाशते इति मतम् । ३ तत्रतत्त्व । (व्या० प्र०) ४ (व्यवतिष्ठेतेत्यादिः पूर्वोक्त एवातिप्रसङ्गः) । ५ पुरुषः । (व्या० प्र०) ६ (प्रमाणाभावस्योभयत्र समानत्वात्) । ७ हेतोः । (व्या० प्र०) ८ पर्यायो, भेदः । ९ स्वमतोक्तदोषपरिजिहीर्षया सांख्यैः सत्ताद्वैतेऽङ्गीकृते तस्याप्यशक्यव्यवस्थारूपमापादितं यतः । १० प्रधानादि । (व्या० प्र०) ११ सांख्यपरिकल्पितः । (व्या० प्र०) १२ (सांख्यैः न सत्ताद्वैतम्) । १३ भावैकान्ते ।

## एकांत शासन में दूषण का सारांश\*

हे भगवन् ! आपके शासन रूपी अमृत से बहिर्भूत 'मैं आप्त हूँ' इस प्रकार के अभिमान से जो दग्ध हैं उन एकांतवादियों का शासन प्रत्यक्षादि प्रमाणों से बाधित ही है।

१. ज्ञानाद्वैतवादी बौद्ध—सुखादि चैतन्य ज्ञान एक निरंश रूप ही है भिन्न-भिन्न रूप नहीं।

२. चित्राद्वैतवादी—एक चित्रज्ञान में पीतादि आकारों का विवेचन करना भगवन् होने से पीतादि आकार ज्ञान को हम एक ही मानते हैं एवं जो यह नील पीतादि भिन्न-भिन्न प्रतिभास हैं वह संवृति (अविद्या) से उपकल्पित है/अवास्तविक ही है।

३. सांख्य—सुखादि अचेतन हैं क्योंकि उत्पत्तिमान हैं घट के समान। एवं सुखादिकों में पुरुष के संसर्ग से स्वसंवेद्यपना होता है।

४. यौग—आत्मा को चेतनत्व असिद्ध है। प्रमिति स्वभाव चेतना के समवाय से ही हमने आत्मा को चेतन माना है।

५. बौद्ध—वर्णादि रूप परमाणु ही निर्विकल्प ज्ञान में झलकते हैं किन्तु स्कन्ध नहीं झलकता है।

६. सांख्य—स्कन्ध ही ज्ञान गोचर हैं क्योंकि अणु आदि कोई चीज ही नहीं है। चक्षु आदि इंद्रियों के भेद से स्कन्ध के अणु आदि भेद प्रतिभासित होते हैं। जैसे किंचित् अंगुलियों से ढके हुये नेत्र से दीपकलिका में भेद दिखाई देता है। इत्यादि रूप से जो एकांतवादियों का पूर्वपक्ष है उसका जैनाचार्य खण्डन करते हैं।

प्रथम पक्ष का खण्डन करते हुये कहते हैं कि ज्ञान को निरंश मानना सर्वथा गलत है उसमें वेद्य-वेदकाकार एवं संविदाकार तो हैं ही अतः तीन अंश तो सहज ही हो जाते हैं। एवं दूसरे पक्ष का खण्डन करते हुये कहते हैं कि आप चित्रज्ञान को एक रूप कहते हैं, उसमें नील पीत आदि अनेक आकार भी कहते हैं किन्तु स्याद्वाद के बिना यह बात सिद्ध नहीं है तथा अद्वैत भी सिद्ध नहीं होता है।

तृतीय पक्ष में भी बाधा है क्योंकि चैतन्य से समन्वित ही सुखादि स्वसंवेदन प्रत्यक्ष में सर्वदा प्रतिभासित होते हैं। पुरुष के संसर्ग से सुखादि में चेतनता मानने से तो पुरुष में चैतन्य गुण स्वतः नहीं हो सकेगा उसे भी संसर्ग से मानना आपको यह इष्ट नहीं है।

हमारे यहाँ द्रव्याधिकनय की अपेक्षा से चैतन्य जीव द्रव्य में चेतनत्व प्रसिद्ध ही है। सुख, ज्ञान आदि प्रतिनियत पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से सकल औपशमिक आदि भाव एवं सुखादि, ज्ञानदर्शन रूप उपयोग स्वभाव से भिन्नपना भी माना गया है अतएव आत्मा के सुखादि ज्ञानात्मक ही हैं।

\* यह सारांश पृष्ठ २६ पर पढ़ना चाहिये।



चतुर्थ प्रश्न के उत्तर में आत्मा चेतन स्वभाव वाला है यह बात स्वसंवेदन प्रत्यय से सिद्ध है क्योंकि स्वयं चेतनत्व के अभाव में चेतना विशेष का समवाय सम्बन्ध सम्भव नहीं है कारण कि चेतना समवाय के पहले आत्मा चेतन है या अचेतन ? यदि अचेतन है तो उसमें ही चेतनत्व का समवाय क्यों ? आकाश में क्यों नहीं है ? यदि चेतन है तो उस चेतन में चेतना का समवाय क्या हुआ ? अतः कथंचित् तादात्म्य को छोड़कर समवाय कोई चीज नहीं है ।

जो पाँचवाँ प्रश्न है उसके समाधान में आचार्य कहते हैं कि प्रत्यक्ष ज्ञान में वर्ण संस्थान आदि के आकार नहीं दोख सकेंगे क्योंकि स्कन्धों के बिना वर्णों की उपलब्धि नहीं पाई जाती है ।

इस पर यदि आप कहें कि अवयवी स्कन्ध निर्विकल्पप्रत्यक्ष में अपना समर्पण नहीं करता है और प्रत्यक्ष का विषय बनना चाहता है अतः यह अमूल्य दानक्रयी है ।

आपका उपर्युक्त कथन भी असंगत है, क्योंकि प्रत्यासन्न और परस्पर में असंबद्ध परमाणु भिन्न-भिन्नरूप से किसी भी मनुष्य को किसी काल में भी नहीं दीखते हैं, प्रत्युत स्कन्ध ही स्पष्ट रूप से प्रत्यक्ष ज्ञान में झलकते हैं । सभी स्कन्ध प्रत्यक्ष भी नहीं हैं कुछ-कुछ स्कन्ध चक्षु इन्द्रिय आदि के विषय हैं एवं कोई अचाक्षुष हैं अतः ये स्कन्ध प्रत्यक्ष ज्ञान में आत्मसमर्पण करते हैं इसलिये अमूल्य-दानक्रयी नहीं हैं प्रत्युत परमाणु ही अमूल्यदानक्रयी हैं ।

अनन्तर अब छठे प्रश्न का उत्तर देते हुये कहते हैं कि सांख्य ने स्कंध ही माना है परमाणुओं को सर्वथा नहीं माना है । इस मान्यता में भी सत्ताद्वैतवादी का प्रसंग आ जावेगा । हम कह सकते हैं कि सत्ता एक ही है उस सत्ता से भिन्न द्रव्यादि / गुणादि कोई चीज नहीं है, कल्पना के भेद से हो भेद का प्रतिभास होता है किन्तु यह मान्यता ठीक तो है नहीं, अतएव सुखादि स्वरूप चैतन्य की एवं वर्ण, संस्थान आदि स्वरूप स्कंध की भी सिद्धि हो रही है ।

अतएव श्री भट्टाकलंकदेव ने ठीक ही कहा है कि कोई भी वस्तु रूपान्तर से रहित सत् एकांतरूप, या असत् एकांतरूप, नित्यैकान्त अथवा अनित्यैकान्तरूप, अद्वैतैकान्त या द्वैतैकान्तरूप, ज्ञानरूप, अंतरंग तत्त्व या बाह्य पदार्थरूप ही हम लोगों के दृष्टिगोचर नहीं हो रही है । प्रत्युत सामान्य-विशेषात्मकरूप अनेकान्त वस्तु ही ज्ञान गोचर है । अतएव एकांत तत्त्व की अनुपलब्धि ही उस अनाहंत कल्पना को अस्त कर देती है इसलिये सभी एकांत शासन प्रत्यक्षादि से बाधित ही हैं ।

अथवा अनेकान्त की उपलब्धि ही एकांत का अभाव सिद्ध कर देती है ।

उपसंहार—ज्ञानाद्वैतवादी, चित्राद्वैतवादी, बौद्ध, सांख्य, योग आदि अपनी-अपनी एकांत मान्यता को कह चुके हैं । जैनाचार्यों ने उन सबका खंडन करके यह सिद्ध किया है कि वस्तु एकांतरूप से उपलब्ध ही नहीं है अथवा वस्तु सर्वत्र अनेकान्तरूप ही उपलब्ध हो रही है । इसी कथन पर बौद्ध ने वचनाधिक्य दोष देकर पराजय करना चाहा था उसका आगे के सार में विशद वर्णन है ।

## जय पराजय व्यवस्था का सारांश\*

एकांत की अनुपलब्धि अथवा अनेकांत की उपलब्धि ही अन्य मतों की कल्पना को समाप्त कर देती है ऐसा सुनकर बौद्ध कहता है कि अन्वय-व्यतिरेक धर्म वाले हेतु में से किसी एक का ही प्रयोग उचित है क्योंकि दोनों का प्रतिपादन करना या प्रतिज्ञा निगमन आदि का प्रयोग करना तो वचना-धिक्य दोष होने से निग्रह स्थान नाम का दोष है। अतः वचनाधिक्य दोष से वादी पराजित हो जाता है एवं वचनाधिक्य रूप दोष का उद्भावन करने से प्रतिवादी की जय हो जाती है।

इस पर जैनाचार्य प्रश्न करते हैं कि आप यथोक्त—सच्चे हेतु की सामर्थ्य से अपने पक्ष को सिद्ध करके वचनाधिक्य दोष से वादी का पराजय करते हैं या अपना पक्ष बिना सिद्ध किये? यदि प्रथम पक्ष लेवें तब तो अपने पक्ष की सिद्धि से ही वादी का पराजय हुआ न कि वचनाधिक्य से। यदि आप दूसरा पक्ष लेवें कि प्रतिवादी अपने पक्ष को सिद्ध न करके वादी का पराजय करना चाहता है तब तो युगपत् वादी एवं प्रतिवादी का पराजय अथवा दोनों का ही जय हो जावेगा क्योंकि स्वपक्ष सिद्धि दोनों में नहीं है इत्यादि अनेक दोष आते हैं अतएव साधर्म्य, वैधर्म्य हेतु, प्रतिज्ञा, निगमन, उदाहरण आदि स्वपक्ष में बाधक नहीं हैं। वादी जब स्वपक्ष की सिद्धि करके पर पक्ष का निराकरण कर देता है तब उसकी जय एवं दूसरे की पराजय हो जाती है। अथवा जब प्रतिवादी परपक्ष का निराकरण करके स्वपक्ष की सिद्धि कर देता है तब उसकी जय एवं दूसरे की पराजय हो जाती है। अथवा प्रतिवादी जब परपक्ष का निराकरण करके स्वपक्ष की सिद्धि कर देता है तब उसकी जय, इतर की पराजय हो जाती है। अतः जय पराजय की व्यवस्था की सिद्धि असिद्धि पर ही अवलंबित है।

उपसंहार—बौद्ध का कहना है कि जब अपने पक्ष के सिद्ध करने से ही अन्यमत का निराकरण हो जाता है पुनः पृथक् से अन्य के निराकरण की क्या आवश्यकता थी। आप अन्वय-व्यतिरेक दोनों बोलते हैं अतः वचन अधिक बोलने से निग्रह स्थान को प्राप्त हो गये हैं। इस पर जैनाचार्यों ने स्पष्ट कह दिया है कि स्वपक्ष की सिद्धि और असिद्धि पर ही जय-पराजय की व्यवस्था अवलंबित है, वचन अधिक बोलने से पराजय नहीं हो सकता है।

## एकांतवाद में पुण्य पापादि के अभाव का सारांश\*

हे नाथ ! नित्य अथवा अनित्य आदि एकांत मान्यताओं के दुराग्रही स्वपरवैरी मिथ्यादृष्टि जनों में किसी के यहाँ भी पुण्य पापादि क्रियायें एवं परलोकादि भी सिद्ध नहीं हो सकते हैं।

\* यह सारांश पृष्ठ ५६ पर आठवीं कारिका के पहले पढ़ना चाहिये।

\* यह सारांश पृष्ठ ७५ पर नवमीं कारिका से पहले पढ़ना चाहिये।

यदि कोई कहे कि शून्यवादी एवं अद्वैतवादियों ने कुशल, अकुशल कर्म एवं परलोक आदि को माना ही नहीं है अन्यथा शून्यवाद का ही अभाव हो जावेगा और अद्वैत में द्वैतवाद भी हो जावेगा। पुनः आपने ऐसा क्यों कहा कि "सभी एकांतवादियों के यहाँ ये दुर्घट हैं।" सो आपका यह कथन भी ठीक नहीं है क्योंकि उन लोगों ने भी संवृति से या अविद्या से प्रायः पुण्य-पाप, सुख-दुःखादि कर्म एवं परलोक गमन आदि को माना ही है। तथा सर्वथा सत् अथवा सर्वथा असत् या सर्वथा नित्य, अनित्य आदि किसी भी एकांत में परलोकादि संभव नहीं हैं। सर्वथा सत् की उत्पत्ति ही असंभव है, सर्वथा असत् की उत्पत्ति भी असंभव है जैसे आकाश पुष्प।

एवं कूटस्थ नित्य अपरिणामी आत्मा आदि भी क्रम या युगपत् से अर्थ क्रिया को करने में असमर्थ हैं। तथैव सर्वथा क्षणिक वस्तु भी अपने अस्तित्वकाल के पूर्व और पश्चात् अत्यन्त असत् होते हुये सर्वथा अर्थक्रिया को करने में असमर्थ है अतः स्याद्वाद में ही सभी व्यवस्थायें सुधटित हैं।

उपसंहार—आचार्यों ने यहाँ यह स्पष्ट किया है कि एकांत के हठाग्रही जनों के यहाँ पुण्य-पापादि की परम्परा असंभव है। अतएव वस्तु अनंतप्रसरितक है अतः अनेकांत धर्म ही निर्दोष है।

## भावैकांत के खंडन का सारांश\*

सांख्य भावरूप ही सभी तत्त्व मानता है अभाव को मानता ही नहीं है।

सांख्य—हमारे यहाँ व्यक्त और अव्यक्त में इतरेतराभाव तत्त्वभावरूप है, प्रकृति एवं पुरुष में अत्यन्ताभाव तद्रूप ही है तथैव महान् अहंकार आदि में प्रागभाव स्वकारण स्वभाव है एवं महाभूतादि में प्रध्वंसाभाव स्वांतर्भावाश्रयरूप है। अर्थात् स्वमहाभूत उसमें अंतर्भाव, उस अंतर्भाव का आश्रयरूप है। जहाँ-जहाँ महाभूत लीन होते हैं वह महाभूत कारण द्रव्य है। अतएव हमारे यहाँ ये अभाव स्व-भावरूप होने से हम अभाव को मानते ही नहीं हैं।

जैन—ऐसा मानने पर तो आपका भावैकांत नहीं रहता है। एवं सभी पदार्थ भावाभावात्मक सिद्ध होने से आप जैन बन जायेंगे। यदि सर्वथा भाव स्वभाव ही मानोगे तब तो आपके यहाँ अनेक दोष आते ही हैं।

अभाव के ४ भेद हैं। प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, इतरेतराभाव और अत्यन्ताभाव।

यदि प्रागभाव अर्थात् मिट्टी में घड़े के प्रागभाव को न मानें तो सभी कार्य अनादि हो जावेंगे। यदि प्रध्वंसाभाव का लोप करते हैं तो सभी वस्तु अनंतरूप हो जावेंगी तथा इतरेतराभाव के बिना सभी वस्तु सर्वात्मक हो जायेंगी एवं अत्यन्ताभाव का लोप करने पर सभी वस्तुयें सर्वात्मक हो जावेंगी अतएव किसी वस्तु में निजी स्वरूप की व्यवस्था न होने से सभी वस्तुयें निःस्वरूप हो जावेंगी।

\* यह सारांश पृष्ठ १०० का है। कारिका दसवीं के पहले पढ़ना चाहिये।

आप सांख्य के यहाँ प्रकृति के दो भेद हैं—व्यक्त, अव्यक्त । व्यक्त के महान् अहंकार आदि कार्य होते हैं, अव्यक्त को प्रधान कहते हैं । प्रकृति के २४ एवं पुरुष तत्त्व मिलाकर सांख्यों ने २५ तत्त्व मात्र अस्तिरूप माने हैं । उनमें व्यक्त और अव्यक्त में इतरेतराभाव का लोप करने पर व्यक्त को अव्यक्त-पना आने से सर्वात्मक दोष आ जावेगा । आपके द्वारा मान्य व्यक्त अव्यक्त के भिन्न-भिन्न लक्षण धटित नहीं होंगे । प्रकृति और पुरुष में अत्यन्ताभाव के न मानने से प्रकृति पुरुष रूप हो जावेगी और पुरुष प्रकृतिरूप हो जावेगा । कुछ तभी वस्तु पर्यात्मक हो जावेगी । तथा च—

प्रकृति से महान् (सृष्टि के अन्त तक रहने वाली बुद्धि) उससे अहंकार, उससे १६ गण तथा उन षोडश में ५ तन्मात्रा से ५ भूत उत्पन्न होते हैं यह सृष्टि का क्रम नहीं बन सकेगा ।

प्रध्वंसाभाव का अपन्हव करने पर सभी पदार्थ अनन्त हो जावेंगे । अर्थात् आपके यहाँ पृथ्वी आदि ५ महाभूत ५ तन्मात्राओं में लीन होते हैं ।

पृथ्वी का स्पर्श रस गंध रूप शब्द इन तन्मात्राओं में प्रवेश होता है रसादि में जल का, रूपादि में अग्नि का तथा स्पर्श शब्द स्वरूप तन्मात्रा में वायु का समावेश एवं शब्द में आकाश का समावेश हो जाता है १६ गण का अहंकार में, अहंकार का महान् में, महान् का प्रकृति में प्रवेश हो जाता है ।

प्रध्वंसाभाव के अभाव में यह संहार का क्रम दुर्घट है । अतएव आपके यहाँ सभी वस्तु अपने असाधारण स्वरूप से व्यवस्थित न होने से अस्वरूप हो जावेंगी क्योंकि वस्तु स्वरूप के नियामक चारों ही अभावों का अभाव होने से कुछ भी वस्तु की व्यवस्था नहीं बनेगी । अर्थात् मनुष्य में मनुष्य पर्याय का सद्भाव एवं नरक गति का अभाव धर्म है, यदि नहीं मानोगे तो वह मनुष्य नारकी भी हो जावेगा । “चोदितो दधि खादेति किमुष्टं नाभिधावति” किसी ने कहा कि दही खावो, यदि दही में अन्य वस्तु की अपेक्षा अभाव धर्म नहीं है तब तो वह ऊंट को खाने के लिये क्यों नहीं दौड़ेगा ? अतः आपका भावैकान्त ठीक नहीं है ।

सांख्य—हमारे यहाँ सभी पर्याय प्रधानात्कम ही हैं अतः सर्वात्मक आदि दोषों की हमें चिन्ता नहीं है ।

जन—तब तो आपके यहाँ प्रकृति एवं पुरुष दोनों सत् रूप ही हैं । उन दोनों को यदि आपने सत् रूप माना तो आप सत्ताद्वैतवादी बन जावेंगे ।

सत्ताद्वैत में भी चेतनाचेतन भेद अविद्या से ही कल्पित हैं । उन भेदों का लोप आप किस प्रमाण से करते हैं ? क्योंकि प्रत्यक्ष एवं आगम को आपने विधायक ही माना है निषेधक नहीं माना है । तथा अद्वैत को सिद्ध करने में आगम आदि जो भी आप स्वीकार करेंगे उनसे द्वैत का ही प्रसंग आवेगा ।

योग ने अभाव को तुच्छा भावरूप माना है । यह भी मान्यता गलत है ।

“न भावः अभावः” इस तत्र समास के २ अर्थ हैं । पर्युदास प्रतिषेध, प्रसज्य प्रतिषेध । “अब्राह्मणमानय” कहने से ब्राह्मण से भिन्न क्षत्रियादिक का ज्ञान होना पर्युदास निषेध है, सर्वथा निषेध करने वाला प्रसज्य प्रतिषेध है । सर्वथा निःस्वभाव अभाव जैनों को द्रष्टा नहीं है प्रत्युत भावान्तररूप ही अभाव द्रष्टा है । अतः भावैकान्त श्रेयस्कर नहीं है ।

उपसंहार—आचार्यों ने यह स्पष्ट किया है कि एकान्त के हठाग्रही जनों के यहाँ पुण्य पापादि व्यवस्था असम्भव है । प्रत्येक वस्तु अनन्त धर्मात्मक है अतः अनेकान्त धर्म ही निर्दोष है ।

संप्रति <sup>१</sup>घटादेः <sup>२</sup>शब्दादेशच प्रागभावप्रध्वंसाभावनित्त्ववादिनं<sup>३</sup> प्रति दूषणमुपदर्शयन्तः कारिकामाहुः ।—

**‘कार्यद्रव्यमनावि स्यात्’ प्रागभावस्य ‘नित्वे ।**

**प्रध्वंसस्य च धर्मस्य ‘प्रचयवेऽनन्ततां’ व्रजेत् ॥१०॥**

[ चार्वाकिण प्रागभावस्य निराकरणं जैनानामेव तस्य व्यवस्थापनञ्च ]

<sup>१</sup>कार्यं<sup>१०</sup> स्यात्प्रलाभात्प्रागभवनं<sup>११</sup> प्रागभावः । स च तस्य <sup>१२</sup>प्रागनन्तरपरिणाम<sup>१३</sup> एवेत्येके<sup>१४</sup>

उत्थानिका—अब घटादिक और शब्दादिक में प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव का नित्व करने वालेवादियों के प्रति दूषण को दिखलाते हुये आचार्य श्री समन्तभद्र स्वामी कारिका को कहते हैं—

( यहाँ विद्यानन्दि सूरिवर्य के अभिप्राय से चार्वाक के प्रति कथन है एवं भट्टकलंक देव के अभिप्राय से सांख्य और मीमांसक के प्रति कथन है । )

कारिकार्थ—हे भगवन् ! यदि प्रागभाव का नित्व करेंगे तब तो संपूर्ण कार्य अनादि सिद्ध हो जावेगा और यदि प्रध्वंसाभाव का अभाव करेंगे तब तो सभी वस्तु की पर्यायें अनन्तपने को प्राप्त हो जावेंगी ॥१०॥

[ चार्वाक के द्वारा प्रागभाव का निराकरण एवं जैनानामेव द्वारा प्रागभाव का व्यवस्थापन किया जाता है । ]

जैन—कार्य का आत्मलाभ—अपनी उत्पत्ति के पहले न होता प्रागभाव है । और वह कार्योत्पत्ति के पहले का अनन्तर परिणाम (अंतिम परिणाम) ही है ।

चार्वाक—ऐसा न मानने पर तो आप जैनो के यहाँ उसके पहले अनादि परिणाम सन्तति में कार्य के सद्भाव का प्रसंग आ जावेगा क्योंकि प्राक्-अन्तिम परिणाम लक्षण प्रागभाव का वहाँ पर अभाव है ।

भाषार्थ—घट की उत्पत्ति के पूर्व मृत्पिण्ड, शिवक, छत्रक, स्थास, कोश, कुशूल आदि अनेक पर्यायें हैं यानी कुम्भकार ने चाक पर मृत्पिण्ड को घड़ा बनाने के लिये रखा, चाक घूम रहा है । उसकी जितनी भी पर्यायें हैं वे प्रागभावरूप नहीं हैं किन्तु घटोत्पत्ति की अनन्तर समयवर्ती पर्याय जो कि

१ घटादेः । (व्या० प्र०) २ आत्मादेः । (व्या० प्र०) ३ विद्यानन्दिसूरिवर्याभिप्रायेण चार्वाकं प्रति, भट्टकलङ्क-देवाभिप्रायेण तु सांख्यं मीमांसकं च प्रति । ४ घटादिपर्यायः । (दि० प्र०) ५ कार्यस्यात्मलाभात्प्रागभवनं प्रागभावस्तस्य । (दि० प्र०) ६ आलापे । (दि० प्र०) ७ नित्वे । ८ कार्यद्रव्यमेव । (दि० प्र०) ९ इतश्चार्वाकः प्रत्यवतिष्ठते । १० घटलक्षणस्य । (व्या० प्र०) ११ व्यक्त्यभावो न तु शक्त्यभावः । (व्या० प्र०) १२ कुशूलः, मृत्पिण्डः । (व्या० प्र०) १३ प्राक्परिणाम इत्युक्तेत्यन्तव्यवहितपूर्वपरिणामस्यापि प्रागभावत्वं स्यादित्यनन्तरेत्युक्तम् । १४ जैनाः ।

<sup>१</sup>तेषां <sup>२</sup>तत्पूर्वनादिपरिणामसन्तती <sup>३</sup>कार्यसद्भावप्रसङ्गः<sup>४</sup> । <sup>५</sup>तत्रेतरैतरा<sup>६</sup>भावरूपस्य<sup>७</sup>  
<sup>८</sup>तदभावस्योपगमात्त्राय<sup>९</sup> दोष इति <sup>१०</sup>चेत् <sup>११</sup>तदनन्तरपरिणामेपि<sup>१२</sup> <sup>१३</sup>तत् <sup>१४</sup>एव कार्यस्याभाव-  
 सिद्धेः किमर्थः प्रागभावः <sup>१५</sup>परिकल्प्यते ? <sup>१६</sup>कार्यस्य<sup>१७</sup> <sup>१८</sup>प्रागभावाभावस्वभावत्वसिद्ध्यर्थमिति

अन्तिम क्षणरूप है वही घड़े का प्रागभाव है । इसपर चार्वाक ने यह आक्षेप प्रगट किया है कि पुनः घट के अन्तिम क्षण के सिवाय बाकी पूर्व की अनेक पर्यायों में प्रागभाव के न होने से उनमें घटरूप कार्य की उत्पत्ति का प्रसंग प्राप्त हो जावेगा । और यदि आप जैन ऐसा कहें कि—

उन अनादि परिणाम सन्तति में इतरेतराभाव रूप अभाव के होने से कार्योत्पत्ति के पूर्व कार्य को अनादिपने का दोष नहीं आ सकता है । अर्थात् अनादि पूर्वपरिणाम सन्तति और कार्य का परस्पर में इतरेतराभाव है अतएव उन-उन पूर्व की पर्यायों में घट का उत्पाद संभव नहीं है ।

यदि ऐसी बात है तब तो तदनन्तर परिणाम के होने पर भी उसी इतरेतराभाव से ही कार्य का अभाव सिद्ध हो जावेगा पुनः आप जैनों ने किसलिये प्रागभाव की कल्पना की है ?

जैन—घट लक्षण कार्य में मृत्पिण्ड लक्षण प्रागभाव का अभाव स्वभाव सिद्ध करने के लिये ही प्रागभाव का कथन है अर्थात् प्रागभाव का अभाव होकर ही कार्य का उत्पाद होता है ।

चार्वाक—कार्य से पूर्व की पर्याय-अनन्तर मृत्पिण्ड लक्षण से रहित उससे पूर्व-पूर्व की अखिल पर्यायों में कार्यस्वभाव का प्रसंग क्यों नहीं हो जावेगा ? यदि आप ऐसा कहें कि प्रागभाव का अभाव-स्वभाव समान होने पर भी कोई ही पर्याय कार्यरूप से दृष्ट है न कि इतर सभी पर्यायों । यह कथन भी केवल आपका दुराग्रहमात्र ही है । यदि आप जैन ऐसा कहें कि—

१ जैनानाम् । २ तस्मात् प्रागनन्तरपरिणामात्पूर्वा अनादिपरिणामास्तेषां सन्ततिस्तस्याम् । ३ प्रागनन्तरपरिणामात् ये पूर्वपरिणामास्तेषां प्रागभावाभाव स्वभावात्तेषु कार्योत्पत्तिरस्तु इति शंकां निराकरोति तत्रेतरैत्यादिना । (व्या० प्र०) ४ प्रागनन्तरपरिणामलक्षणस्य प्रागभावस्य तत्राभावात् । प्रसङ्गमिति पाठान्तरम् । ५ कार्योत्पत्तिशङ्कामनन्तरोक्तां निराकुर्वन्नाह जैनस्तत्रेत्यादि । तत्र अनादिपरिणामसन्तती । ६ (अनादिपूर्वपरिणामसन्ततेः कार्यस्य च परस्परमितरेतराभावः । स एव तदभावो विवक्षितकार्याभावस्तस्य) । ७ मृत्पिण्डः घटो न भवति घटो न भवति घटो मृत्पिण्डो न भवति । (व्या० प्र०) ८ कार्यम् । (दि० प्र०) ९ (कार्यस्यानादित्वलक्षणः) । १० तर्हि । (व्या० प्र०) ११ सौगतः प्राक् । (दि० प्र०) १२ अत्राह सौगतः । तेषां स्याद्वादिनां तत्तस्मात् प्रागनन्तरपरिणामलक्षणप्रागभावात्पूर्वमनादिकाले परिणामः । पर्यायस्तेषां मालायां कार्यं भवतु = स्याद्वाद्याह । तत्र कार्यसद्भावे इतरेतराभावलक्षणः प्रागभावोऽस्माभिरभ्युपगम्यते तस्मादयं दोषो नेति चेत् = सौगतः । कार्यानन्तरपरिणामेपि तत् एव इतरेतराभावादेव कार्यस्याभावः सिद्धयतु किमर्थो निरर्थकः प्रागभावः परिकल्प्यते । (दि० प्र०) १३ इतरेतराभावात् । १४ मृत्पिण्डः । इतरेतराभावरूपस्य कार्याभावस्योपगमादेव । (दि० प्र०) १५ जैनैः । १६ घटलक्षणस्य । १७ स्याद्वाद्याह । प्रागभावस्याभावस्वभाव एव कार्यम् । तदर्थं कार्यनिमित्तं प्रागभावः परिकल्प्यते इति चेत् = सौगतः एवं सति कार्यादिनन्तरलक्षणे न एकेन पूर्वपर्यायेण रहितेषु कार्यात् पूर्वोत्तरसंभूतेषु समस्तपर्यायेषु कार्यस्वभावत्वं कथं न प्रसज्येत । कार्यात्पूर्वोत्तराखिलपरिणामेषु प्रागभावाभावस्य स्वभावत्वेन कृत्वा समानेपि कश्चन एकोऽभिमतः पर्यायः कार्यम् । न पुनरन्ये पर्याया इत्याग्रहमात्रं स्याद्वादिनां । (दि० प्र०) १८ प्रागभावो, मृत्पिण्डलक्षणः ।

चेत् <sup>१</sup>कथमेवं कार्यात्पूर्वपर्यायेण<sup>२</sup> रहितेषु <sup>३</sup>तत्पूर्वोत्तराखिलपरिणामेषु कार्यस्वभावत्वं न प्रस-  
ज्येत<sup>४</sup> ? प्रागभावाभावस्वभावत्वाविशेषेपि <sup>५</sup>कश्चिदेवेष्टः पर्यायः <sup>६</sup>कार्यं, न पुनरितरे परि-  
णामा इत्यभिनिवेशमात्रम्<sup>७</sup> । <sup>८</sup>स्यादाकृतं<sup>९</sup> 'कार्यात्प्रागनन्तरपर्यायस्तस्य'<sup>१०</sup> प्रागभावः ।  
<sup>११</sup>तस्यैव प्रध्वंसः कार्ये घटादि । न पुनरितरेतराभावो<sup>१२</sup>, येन तत्पूर्वोत्तरसकलपर्यायाणां घटत्वं  
<sup>१३</sup>प्रसज्येत । न <sup>१४</sup>च <sup>१५</sup>तेषां प्रागभावप्रध्वंसरूपतास्ति, <sup>१६</sup>तदितरेतराभावरूपतोपगमात्<sup>१७</sup>, <sup>१८</sup>इति

कार्य के पूर्व की जो अनन्तर पर्याय है वही कार्य का प्रागभाव है । अभाव और उसी प्रागभाव का प्रध्वंस-अभाव होना ही घटादि की उत्पत्तिरूप कार्य है न कि इतरेतराभाव कार्य है जिससे कि उन पूर्वोत्तर सकल पर्यायों को घटपने का प्रसंग आवे । अर्थात् नहीं आ सकता है किन्तु उन पूर्व-पूर्व पर्यायों में प्रागभाव की प्रध्वंसरूपता नहीं है क्योंकि उन पूर्व-पूर्व पर्यायों में इतरेतराभावरूपता स्वीकार की गई है ।

भावार्थ—उन-उन पूर्वोत्तर पर्यायों में प्रागभाव का अभाव नहीं हो पाया है अतएव कार्य बन नहीं सकता इसीलिये उनमें इतरेतराभाव है । यह सब आप स्याद्वादियों का कथन सुगत मत का अनुसरण कर रहा है अर्थात् बौद्धों ने ऐसा माना है कि पूर्वक्षण का विनाश ही उत्तरक्षण की उत्पत्ति है । उसके अनुसार ही आपकी मान्यता सिद्ध हो जाती है और पुनः स्वमत का विरोध हो जाता है क्योंकि आपके यहाँ प्रागभाव को अनादि माना है । तथा च घट के पूर्व की अनन्तर पर्यायमात्र को प्रागभाव स्वीकार करने पर वह अनादि स्वीकारता विरुद्ध हो जाती है ।

जैन — द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा से हम प्रागभाव को अनादि मानते हैं ।

चार्वाक—तो फिर क्या इस समय मृदादि द्रव्य प्रागभाव रूप है ? यदि उस प्रकार से आप स्वी-  
कार करें तो घट में प्रागभाव का अभाव स्वभाव कैसे घटेगा ? क्योंकि द्रव्य का अभाव असम्भव ही है  
अर्थात् वह अनादि अनन्त है पुनः प्रागभाव को नित्यपना प्राप्त होने से कदाचित् धी घट की उत्पत्ति नहीं  
हो सकेगी । और यदि आप कहें कि घट से पूर्व की सभी पर्यायें अनादि सन्ततिरूप हैं इसलिये घट  
का प्रागभाव अनादि है । तब तो जैसे पूर्व की अनन्तर पर्याय के नष्ट होते ही घट उत्पन्न हो जाता  
है उसी प्रकार से अनन्तर पर्याय से पूर्व-पूर्व की व्यवहित पर्यायों के नष्ट होने पर भी घड़े की उत्पत्ति  
का प्रसंग आ जावेगा । पुनः ऐसा होने पर घट को अनादिपना सिद्ध हो जावेगा क्योंकि पूर्व-पूर्व पर्याय  
की निवृत्ति-अभावपरम्परा भी अनादि है ।

१ चार्वाकः । २ अन्तरेण मुत्पिण्डलक्षणेन । ३ सूत्रमात्रम् । कपालादि । (व्या० प्र०) ४ पूर्वोत्तरपर्यायाणां प्रागभावाभावत्वाविशेषात् । ५ पृथुबुध्नोदराकाररूपः । ६ घटलक्षणम् । ७ जैनस्य । ८ जैनस्य । ९ स्याद्वाद्याह । हे सौगत ! त्वामिप्राथ एव स्यात् । (दि० प्र०) १० कार्यस्य । ११ प्रागभावस्य । १२ कार्यम् । १३ का । (दि० प्र०) १४ आशङ्क्य घटस्य । ता । (दि० प्र०) १५ तत्पूर्वोत्तरपर्यायाणाम् । १६ तेषां पूर्वोत्तरपर्यायाणाम् । १७ तत् तेषु पर्यायेषु अन्योन्याभावत्वाङ्गीकारात् । (दि० प्र०) १८ इत्याकृतमिति संबन्धः ।

<sup>१</sup>तदेतदपि सुगतमतानुसरणं<sup>२</sup> स्याद्वादिनामायातं, <sup>३</sup>स्वमतविरोधात् । प्रागभावो ह्यनादिरिति <sup>४</sup>तन्मतम् । <sup>५</sup>तच्च घटस्य पूर्वान्तरपर्यायिमात्रप्रागभावस्योपगमे विरुध्यते । <sup>६</sup>द्रव्यार्थादेशादनादिः<sup>७</sup> प्रागभावोऽभिमत इति चेत् <sup>८</sup>किमिदानीं<sup>९</sup> मृदादिद्रव्यं प्रागभावः ? तथोपगमे कथं प्रागभावाभावस्वभावता<sup>१०</sup> घटस्य घटेत ? द्रव्यस्याभावासंभवात्<sup>११</sup> । <sup>१२</sup>तत एव न जातुचिद् घटस्योत्पत्तिः स्यात् । <sup>१३</sup>यदि पुनः <sup>१४</sup>पूर्वपर्यायाः<sup>१५</sup> सर्वेऽप्यनादिसन्ततयो घटस्य प्रागभावोऽनादिरिति <sup>१६</sup>मतं <sup>१७</sup>तदापि प्रागनन्तरपर्यायनिवृत्ताविव <sup>१८</sup>तत्पूर्वपर्यायनिवृत्तावपि घटस्योत्पत्तिप्रसङ्गः ।

जैन—पूर्व की अनन्तर पर्याय ही घट का प्रागभाव नहीं है और न मिट्टी आदि द्रव्यमात्र ही घट का प्रागभाव है । तथा न उस घट के पूर्व की सकल सन्तति ही है ।

चार्वाक—तब आपके यहाँ घड़े का प्रागभाव क्या है ?

जैन—हमारे यहाँ तो द्रव्यपर्यायात्मक ही प्रागभाव है । वह कथञ्चित् द्रव्य की अपेक्षा से अनादि है और वही कथञ्चित् पर्याय की अपेक्षा से सादि है । इसलिये हम स्याद्वादियों का सिद्धान्त (दर्शन) निराकुल-निर्दोष ही है ।

भावार्थ—जैनाचार्यों ने कार्य होने की पूर्व की अन्तिम एक क्षणवर्ती पर्याय को प्रागभाव माना है । उस पर चार्वाक दोषारोपण करता है क्योंकि यह चार्वाक प्रागभाव को मानता ही नहीं है । उसका कहना है कि यदि पूर्व की अन्तिम क्षण पर्याय को ही प्रागभाव कहोगे तो प्रागभाव का अभाव-नाश करके कार्य उत्पन्न होता है अतः कुम्भकार ने चाक पर मिट्टी का पिण्ड रखा है उससे शिवक, छत्रक, स्थास आदि पर्याय हो रही हैं उनमें प्रागभाव तो आपने माना नहीं है अतः वहाँ उन पर्यायों में भी प्रागभाव का अभाव होने से घट बन जाना चाहिये । और यदि आप जैन उन पर्यायों में इतरेतराभाव की कल्पना करके कार्य का निषेध करो तब तो अन्तिम पर्याय में भी पूर्व पर्यायों से इतरेतराभाव है अतः अन्त में भी कार्य नहीं बनेगा एवं आप जैनों के यहाँ बौद्धमत के अनुसरण का भी प्रसङ्ग आ जावेगा, क्योंकि बौद्धों के यहाँ भी पूर्व क्षण का विनाश होकर ही उत्तरक्षण की उत्पत्ति होती है और आपने भी पूर्व अव्यवहित क्षणरूप प्रागभाव का नाश

१ सौगत आह यदुक्तं स्याद्वादिना प्रागनन्तरपरिणामलक्षणप्रागभावविनाशे कार्यं जायते । तदेतत्सुगतमतप्रवेशः समायातः स्याद्वादिनाम् । यथा सुगतमतावलम्बिनां समनन्तरक्षणः स्वयं विनश्योत्तरक्षणं जनयतीति । तथा सति स्याद्वादिनां स्वमतं विरुध्यते ।—तर्हि स्याद्वादिमतं किमिति स्वयमाशङ्क्याह । प्रागभावो हि अनादिरिति मतम् । तच्च मतं घटस्य पूर्वान्तरपर्यायिमात्ररूपप्रागभावस्यांगीकारे कृते सति विरुध्यते । (दि० प्र०) २ पूर्वक्षणविनाश एवोत्तरक्षणस्योत्पत्तिरिति सुगतमतम् । ३ पूर्वोत्तरपर्यायेषु । घटस्याभावः । (दि० प्र०) ४ जैनमतम् । ५ प्रागभावास्थानादित्वस्वीकारः । ६ जैनः । ७ ता । (व्या० प्र०) ८ सौगतः । प्रश्ने । (दि० प्र०) ९ चार्वाकः । १० मृदाद्रव्यस्याभावाभावस्वभावता । (दि० प्र०) ११ द्रव्यस्यानाद्यनन्तत्वात् । १२ यतः प्रागभावस्य नित्यत्वमायातम् । १३ स्याद्वादी । (दि० प्र०) १४ घटात् । १५ तृतीयविकल्पः । (व्या० प्र०) । १६ जैनस्य । १७ सौगतः । (दि० प्र०) । १८ तत्तस्मात् विवक्षितपर्यायेणाव्यवहितपूर्वपूर्वी यो (व्यवहितः) द्रव्यपर्यायस्तस्य निवृत्तौ ।



तथा सति घटस्थानादित्वं <sup>१</sup>पूर्वपर्यायनिवृत्तिसन्ततेरप्यनादित्वात् । <sup>२</sup>ननु च न प्रागनन्तरपर्यायः प्रागभावो घटस्य, नापि मृदादिद्रव्यमात्रं<sup>३</sup>, न च <sup>४</sup>तत्पूर्वसकलपर्यायसन्ततिः<sup>५</sup> । किं तर्हि ? <sup>६</sup>द्रव्यपर्यायात्मा<sup>७</sup> प्रागभावः । <sup>८</sup>स च <sup>९</sup>स्यादनादिः <sup>१०</sup>स्यात्सादिरिति स्याद्वादिदर्शनं <sup>११</sup>निराकुलमेवेति चेन्न,

[ नैयायिको जैनाभिमतप्रागभावं निरस्य स्वस्य निःस्वभावरूपं प्रागभावं समर्थयति ]

<sup>१२</sup>एवमप्युभयपक्षो<sup>१३</sup>पक्षिप्तदोषानुषङ्गात् । द्रव्यरूपतया तावदनादित्वे <sup>१४</sup>प्रागभावस्यानन्तत्वप्रसक्तेः<sup>१५</sup> सर्वदा कार्यानुत्पत्तिः स्यात् । पर्यायरूपतया च <sup>१६</sup>सादित्वे <sup>१७</sup>प्राग<sup>१८</sup>भावा<sup>१९</sup>त्पूर्वमप्यु<sup>२०</sup>-

मान करके ही उस घट की उत्पत्ति मानी है । इस पर जैनाचार्यों ने कहा है कि हम स्याद्वादियों के यहाँ ये दोष नहीं आते हैं क्योंकि न तो हमने पूर्व-पूर्व की सभी पर्यायों में इतरेतराभाव माना है और न बौद्ध के समान पूर्वक्षण का निर्मूल नाश होकर उत्तरक्षण का उत्पाद ही माना है । हमने तो कथञ्चित् ऋजुसूत्रनय की अपेक्षा से पूर्व के अन्तिम क्षणवर्ती कारणरूप पर्याय का विनाश माना है उसमें द्रव्यरूप मिट्टी का नाश नहीं हुआ है और वह मिट्टी ही अपने मूल मृत्स्वभाव को न छोड़कर घटरूप उत्तरपर्याय से उत्पन्न हो जाती है अतएव पूर्वपर्याय का नाश एवं उत्तरपर्याय का उत्पाद तो ठीक है किंतु द्रव्यरूप मिट्टी का नाश और उत्पाद नहीं हुआ है बौद्ध तो जड़मूल से मिट्टी का ही नाश मानकर उत्तरक्षण में घटकार्य मानते हैं जो कि सर्वथा असम्भव है । एवं पूर्व-पूर्व की सभी पर्यायों में भी कथञ्चित् प्रागभाव है इतरेतराभाव नहीं है फिर भी उन पर्यायों—स्थास, कोश, कुशूल आदि के साथ अन्तिम क्षण के विनाश का होना भी आवश्यक है जब घट बनेगा । अतः हमारे यहाँ प्रागभाव प्रमाण की अपेक्षा से द्रव्य पर्यायात्मक एवं द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से अनादि है तथा सूक्ष्म ऋजुसूत्रनय की अपेक्षा से अन्तिम क्षणवर्ती पर्यायरूप सादि है कोई बाधा नहीं है ।

[ नैयायिक के द्वारा जैनाभिमत प्रागभाव का खण्डन एवं तुच्छाभावरूप प्रागभाव का समर्थन ]

नैयायिक—आपका यह कथन भी ठीक नहीं है क्योंकि इस प्रकार की मान्यता से तो उभय पक्ष में दिये गये दोषों का प्रसङ्ग प्राप्त होता है । यदि द्रव्यरूप से अनादि मानोगे तब तो प्रागभाव की अनन्तपने का प्रसङ्ग प्राप्त होता है यानी प्रागभाव का कभी भी नाश न होने से हमेशा ही कार्य की उत्पत्ति नहीं हो सकेगी और यदि पर्यायरूप से सादि मानोगे तब तो प्रागभाव के पश्चात् जिस प्रकार घट की उत्पत्ति होती है उसी प्रकार प्रागभाव के पूर्व में भी घट की उत्पत्ति हो जावेगी उसे

१ अभावः । (दि० प्र०) २ स्याद्वादी । (दि० प्र०) ३ घटस्य प्रागभावः । ४ तस्मात् घटात् । (दि० प्र०)  
 ५ घटस्य प्रागभावः । ६ द्रव्यपर्यायी आत्मा स्वरूपं यस्यार्थस्य सः । कथञ्चिद्द्रव्यात्मा कथञ्चित्पर्यायात्मा ।  
 ७ अर्थः । (दि० प्र०) ८ प्रागभावः । (दि० प्र०) ९ द्रव्यापेक्षया । १० पर्यायापेक्षया । ११ निर्वाधम् । (दि० प्र०)  
 १२ योगः । प्रागभावस्य द्रव्यपर्यायात्मकत्वोपि । (दि० प्र०) १३ द्रव्यपर्यायापेक्षयानादिसादीति पक्षद्वयम् ।  
 १४ द्रव्यस्य । (दि० प्र०) १५ विनाशरहितत्वप्रसक्तेः । १६ प्रागभावस्य । (व्या० प्र०) १७ मृत्पिण्डात् घटस्य । (दि० प्र०) १८ प्रागनन्तरपर्यायरूपात् । १९ अनन्तकार्यसन्ततौ । २० घटस्य ।

त्पत्तिः पश्चादिव कथं निवार्येत ? न च गत्यन्तरमस्ति । 'ततो'<sup>१</sup> न<sup>२</sup> भावस्वभावः<sup>३</sup> प्राग-  
भावः, 'तस्य' भावविलक्षणत्वात्पदार्थविशेषणसिद्धेः<sup>४</sup> ।

[ चार्वाको नैयायिकाभिमतं प्रागभावं खंडयति ]

इत्यन्ये तेषां न<sup>५</sup> समीचीनवाचः, सर्वथा<sup>१०</sup> भावविलक्षणस्याभावस्य ग्राहकप्रमाणा-  
भावात् । 'स्वोत्पत्तेः'<sup>१२</sup> प्राग्नासीद् घट इति प्रत्ययोऽसद्विषयः, सत्प्रत्ययविलक्षणत्वात् । यस्तु

कौन रोक सकेगा ? क्योंकि इन दोनों विकल्पों के सिवाय और कोई गति नहीं है । इसलिये प्रागभाव भावस्वभाव नहीं है क्योंकि वह भाव से विलक्षण है और वह पदार्थ का विशेषण सिद्ध है । अर्थात् नैयायिक अभाव को भावरूप न मानकर उसे तुच्छाभावरूप मानते हैं और उसे भावरूप पदार्थों का विशेषण मानते हैं ।

[ चार्वाक के द्वारा नैयायिकाभिमत प्रागभाव का खण्डन ]

चार्वाक—ऐसा कहनेवाले आप नैयायिक भी समीचीन विचारवाले नहीं हैं क्योंकि सर्वथा भाव से विलक्षण अभाव को ग्रहण करने वाला कोई भी प्रमाण नहीं है ।

नैयायिक—ऐसा नहीं है, क्योंकि प्रागभाव को ग्रहण करने वाला अनुमान प्रमाण विद्यमान है । यथा—“अपनी उत्पत्ति से पहले घट नहीं है इस प्रकार का असत् को विषय करने वाला ज्ञान पाया जाता है क्योंकि वह असत् विषयक ज्ञान सत्प्रत्यय से विलक्षण है । जो सत् को विषय करने वाला है वह सत् प्रत्यय से विलक्षण नहीं है । जैसे “सद्द्रव्य” इत्यादि का ज्ञान । और वह अभाव सत् प्रत्यय से विलक्षण है इसीलिये असत् को विषय करने वाला है ।”

चार्वाक—यह कथन भी ठीक नहीं है क्योंकि प्रागभावादि में प्रध्वंसाभावादि नहीं हैं इस प्रत्यय के साथ व्यभिचार दोष आता है । अर्थात् प्रागभाव आदि में प्रध्वंसाभाव आदि नहीं है इस प्रकार का ज्ञान प्रध्वंसाभाव के अभावरूप होने से सत् को विषय करने वाला है, फिर भी “सत्प्रत्यय से विलक्षण है” यहाँ पर यह हेतु है और यह हेतु सत्प्रत्यय से विलक्षण होने पर भी प्रागभावादि में असत् को विषय करने वाला नहीं है । यदि आप कहें कि वह भी असत्-अभाव को विषय करने वाला है इसलिये उपर्युक्त दोष नहीं है । यह भी नहीं कह सकते हैं, क्योंकि अभाव में अनवस्था का प्रसङ्ग प्राप्त हो जावेगा ।

१ अभावस्य भावस्वभावत्वेऽङ्गीक्रियमाणेऽनेकदूषणप्रसङ्गो यतः । २ यौगः । (दि० प्र०) ३ प्रागभावो न भावस्वभावो भावविलक्षणत्वात् । व्यतिरेके बुद्ध्यादिवत् । ४ प्रागन्तरपर्यायलक्षणम् । वसः । (दि० प्र०) ५ प्रागभावस्य । (दि० प्र०) ६ षट्पदार्थेभ्यो द्रव्यादिभ्यः । (दि० प्र०) ७ अभावस्य । ८ नैयायिकाः । ९ प्रमाणभावस्यासिद्धत्वा-  
योगात् । (दि० प्र०) १० उपादेयरूपेण चोपादानस्यापि । (दि० प्र०) ११ अत आह स्याद्वादी तेषां यौगाः न सुन्दरगिरः । कुतः सर्वथापदार्थविकल्पाभावग्राहकं प्रमाणमेव नास्ति लोके यतः । (दि० प्र०) १२ भावविलक्षणस्या-  
भावस्य ग्राहकप्रमाणं दर्शयति यौगः ।

सद्विषयः, स न सत्प्रत्ययविलक्षणो, यथा सद्द्रव्यमित्यादिप्रत्ययः, सत्प्रत्ययविलक्षणश्चायं, तस्मादसद्विषयः' इत्यनुमानं प्रागभावस्य ग्राहकमिति चेन्न<sup>१</sup>, प्रागभावादी नास्ति प्रध्वंसाभावादिरिति <sup>२</sup>प्रत्ययेन <sup>३</sup>व्यभिचारात् । 'तस्याप्यसद्विषयत्वात्<sup>४</sup> दोष इति चेन्न, अभावानवस्थाप्रसङ्गात्<sup>५</sup> । 'स्यान्मतं, भावे भूभागादी नास्ति कुम्भादिरिति प्रत्ययो <sup>६</sup>मुख्याभावविषयः<sup>७</sup> प्रागभावादी<sup>१०</sup> नास्ति <sup>८</sup>प्रध्वंसादिरित्युपचरिताभावविषयः<sup>१२</sup> । ततो नाभावानव-

**भावार्थ—**“प्रागभावादि में प्रध्वंसाभावादि नहीं है” इसका भाव यह है कि प्रागभाव जुदा है और प्रध्वंसाभाव जुदा है । अब दोनों के पृथक्पने को विषय करने वाले ज्ञान का विषय इतरेतराभाव होगा क्योंकि इतरेतराभाव से ही एक दूसरे में एक दूसरे का अभाव प्रख्यापित किया जाता है । पुनः ऐसी स्थिति में इस प्रत्यय को विषयभूत करने वाला जो इतरेतराभाव है वह प्रागभाव से भिन्न है इस प्रकार इतरेतराभाव ने प्रागभाव एवं प्रध्वंसाभाव को भिन्न कर दिया उसी प्रकार यह इतरेतराभाव भी अपने आप को प्रागभावादि से भिन्न करने के लिये अन्य दूसरे इतरेतराभाव की अपेक्षा रखेगा एवं दूसरा तीसरे को, तीसरा चौथे की इत्यादि रूप से अनवस्था दोष आ जावेगा ।

**यौग—**भूतल आदि के सद्भाव में कुम्भादि नहीं हैं इस प्रकार का ज्ञान मुख्य अभाव को विषय करने वाला है । पुनः प्रागभावादि में प्रध्वंसाभावादि नहीं हैं यह प्रत्यय उपचरित-अभाव को विषय करने वाला है । अतः अभाव में अनवस्थादि दोष नहीं आते हैं ।

**चार्वाक—**यह कथन भी अयुक्त है । तब तो प्रागभावादि में परमार्थरूप से संकर दोष का प्रसङ्ग आ जाता है क्योंकि उपचरित अभाव के द्वारा चारों ही अभावों में परस्पर में व्यतिरेक-भिन्नपना सिद्ध नहीं हो सकता है अन्यथा सभी जगह मुख्य-अभाव की कल्पना भी व्यर्थ ही हो जावेगी । अर्थात् मुख्य अभाव-इतरेतराभाव आदि के न होने से सभी घट पटादि में एकत्व सिद्ध हो जावेगा और भी जो आप यौगों ने कहा है कि “प्रागभावादि भावस्वभाव नहीं है क्योंकि सर्वदा भाव-पदार्थ के विशेषण होते हैं ।” अर्थात् घट का प्रागभाव, पट का प्रागभाव आदि भावरूप पदार्थ के विशेषण हैं । आपका यह अनुमान भी सम्यक् नहीं है क्योंकि आपका हेतु पक्ष में अव्यापक दोष से दूषित है । “प्रध्वंसादि में प्रागभाव नहीं है” इत्यादिरूप से यह अभाव अभाव का भी विशेषण है । यह बात प्रसिद्ध ही है और गुणादि से भी व्यभिचार आता है क्योंकि वे गुणादि सर्वदा भाव के विशेषण होने पर

१ चार्वाकः । २ प्रागभावादी नास्ति प्रध्वंसादिरिति प्रत्ययस्य प्रध्वंसाभावाभावरूपतया सद्विषयत्वेऽपि सत्प्रत्ययविलक्षणत्वादित्ययं हेतुरत्र वर्तते यतः । ३ सत्प्रत्ययविलक्षणत्वेऽपि प्रागभावादावसद्विषयत्वं नास्ति यतः । ४ यौगः सत्प्रत्ययविलक्षणत्वादिति हेतोरभावविषयत्वाद्दोषो न । (दि० प्र०) ५ अभावग्राहकत्वात् । ६ पञ्चमस्याभावस्याभावचतुष्टयाद्व्यावृत्ताभावान्तरपरिकल्पनानुषङ्गात् । प्रागभावादी नास्ति प्रध्वंसादिरिति प्रत्ययस्याभावविषयत्वे सोप्यभावः प्रकृते (प्रागभावे) नास्तीति प्रत्ययेनासद्विषयेण व्यावर्तयितव्य इत्यनवस्था । ७ यौगस्य । ८ अन्ते वर्तमानस्याभावस्यैव मुख्यत्वं । (दि० प्र०) ९ प्रत्ययः । (दि० प्र०) १० अभावेऽभावसमारोपणं उपचरितत्वं । (दि० प्र०) ११ इति, प्रत्ययः । १२ प्रागभावादी प्रध्वंसाभावादिरुपचरितः ।

प्रागभावसिद्धिः ]

स्थेति, 'तदप्युक्तं, परमार्थतः प्रागभावादीनां साङ्ख्यप्रसङ्गात् । न <sup>२</sup>तदुपचरितेनाभावेन <sup>३</sup>परस्परमभावानां व्यतिरेकः <sup>४</sup> सिध्येत्, <sup>५</sup>सर्वत्र <sup>६</sup>मुख्याभावपरिकल्पनानर्थक्यप्रसङ्गात् <sup>७</sup> । <sup>८</sup>तदप्युक्तं, न <sup>१०</sup>भावस्वभावः प्रागभावादिः, सर्वदा <sup>११</sup>भावविशेषणत्वादिति <sup>१२</sup>, तदपि न सम्य-  
गनुमानं, हेतोः <sup>१३</sup>पक्षाव्यापकत्वात्, <sup>१४</sup>न प्रागभावः प्रध्वंसादावित्यादेरभावविशेषणस्याप्यभा-  
वस्य प्रसिद्धेः, गुणादिना व्यभिचाराच्च, <sup>१५</sup>तस्य सर्वदा <sup>१६</sup>भावविशेषणत्वेऽपि भावस्वभावत्वात् ।

भी भावस्वभावरूप हैं । अर्थात् गुण द्रव्य-पदार्थ के ही आश्रित रहते हैं अतः वे भी पदार्थ के विशेषण हैं फिर भी सत्प्रत्यय वाले हैं अभावरूप नहीं हैं और आपने अभाव को भी पदार्थ का ही विशेषण माना है अतः अभाव का लक्षण गुणों में चले जाने से व्यभिचार दोष आता है ।

योग—“रूपं पश्यामि” इत्यादि व्यवहार से गुण स्वतंत्र भी प्रतीति में आ रहे हैं अतः हमेशा वे गुण भाव-पदार्थ के ही विशेषण हों ऐसा नहीं है । अर्थात् योग ने गुण को भी एक स्वतंत्र पदार्थ स्वीकार किया है । उसके नव पदार्थों में गुण पदार्थ भी है ।

चार्वाक—यदि ऐसा कहो तब तो “अभावस्तत्त्वं” इस प्रकार से अभाव की भी स्वतन्त्ररूप से प्रतीति होने से वह अभाव भी हमेशा भाव-पदार्थ का विशेषण सिद्ध नहीं होगा । यदि आप कहें कि सामर्थ्य से ही उस अभाव विशेषण के विशेष्यरूप द्रव्यादिकों का संप्रत्यय-ज्ञान हो जाता है अतः सदा पदार्थ का विशेषणरूप ही अभाव सिद्ध है तब तो उसी प्रकार से गुणादि भी हमेशा ही पदार्थ के ही विशेषण होंगे क्योंकि उन गुणों का विशेष्य जो द्रव्य है वह भी सामर्थ्य-अर्थापत्ति से ही जान लिया जावेगा अर्थात् गुणों का वर्णन करने पर वे किनके हैं ? ऐसा प्रश्न होते ही द्रव्य के हैं यह अर्थापत्ति स्वयं आ जाती है ।

भावार्थ—नैयायिक अभाव को सर्वथा तुच्छाभावरूप मानते हैं वे कहते हैं कि यह प्रागभाव मृत्पिण्ड “पहले घट नहीं था” यह ज्ञान अभाव विधायक है और सद्भावरूप ज्ञान से सर्वथा विपरीत है एवं यह प्रागभाव सत्प्रत्यय पदार्थों का विशेषण है इस मान्यता पर सर्वथा अभाव को न मानने वाले चार्वाक ने ही मध्य में नैयायिक से प्रश्नोत्तर कर डाले हैं जैनचार्वाक तो तटस्थता से सुन रहे हैं । चार्वाक ने कहा कि प्रध्वंसाभाव, इतरेतराभाव में प्रागभाव नहीं है इस वाक्य में यह प्रागभाव सद्भावरूप पदार्थ का विशेषण न होकर अभाव का ही विशेषण बन जाता है तथा गुणादि से भी

१ स्वाद्धादी । (दि० प्र०) २ यत एवं ततोऽभावानामव्यवस्थितिनं । कोर्थः व्यवस्थितिरेव उपचरितश्चासावभावश्चोप-  
चरिताभावस्तेन । उपचरितेनाभावेन वा पाठः । (दि० प्र०) ३ चतुर्णाम् । ४ भेदः । (व्या० प्र०) ५ अन्यथा ।  
६ घटादावभावेषु वा । ७ मुख्योऽभावोऽतरेतराभावः । ८ तथा सति घटपटादीनामैक्यं स्यात् । ९ योगेन ।  
१० वसः । (व्या० प्र०) ११ ता । (व्या० प्र०) १२ घटस्य प्रागभाव इत्येवंप्रकारेण । १३ भागासिद्धत्वादित्यर्थ-  
पक्षैकदेशे वर्तमानो हेतुर्भागासिद्ध इति योगैः स्वयमभिधानात् । अभावाभावस्य भावविशेषणत्वयोगात् । (व्या० प्र०)  
१४ पक्षाव्यापकत्वं दर्शयति । १५ गुणादेः । (दि० प्र०) १६ घटस्य रूपमित्येवम् ।

रूपं <sup>१</sup>पश्यामीत्यादिव्यवहारेण गुणस्य स्वतन्त्रस्यापि प्रतीतेर्न सर्वदा <sup>२</sup>भावविशेषणत्वमस्येति <sup>३</sup>चेत्तर्ह्यभावस्तत्त्वमित्यभावस्यापि <sup>४</sup>स्वतन्त्रत्वप्रतीतेः शश्वद्भावविशेषणत्वं मा <sup>५</sup>सिधत् । <sup>६</sup>सामर्थ्यात्तद्विशेष्यस्य <sup>८</sup>द्रव्यादेः संप्रत्ययात्सदा भावविशेषणमेवाभाव इति <sup>९</sup>चेत्तथैव <sup>१०</sup>गुणादिः सन्ततं भावविशेषणमस्तु, <sup>११</sup>तद्विशेष्यस्य द्रव्यस्य सामर्थ्यादिगम्यमानत्वात् । <sup>१२</sup>किञ्च प्रागभावः सादिः सान्तः परिकल्प्यते सादिरनन्तो वानादिरनन्तो वाऽनादिः सान्तो वा ? प्रथमे विकल्पे

व्यभिचार दोष आता है क्योंकि वे गुण सर्वथा भाव—पदार्थ के विशेषण होकर भी अभाव ज्ञान को विषय करने वाले नहीं हैं, सद्भावरूप ही हैं जैसे जीव का ज्ञान गुण और पुद्गल के रूप, रसादि गुण । इस पर नैयायिक ने झट से कह दिया कि हमारे यहाँ गुण पदार्थ के विशेषण नहीं हैं किन्तु स्वयं ही पदार्थ हैं अर्थात् नैयायिक ने ६ पदार्थ माने हैं—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, समवाय और विशेष । एवं सभी को सर्वथा पृथक्-पृथक् ही माना है उनके यहाँ जीव द्रव्य से ज्ञान गुण, अग्नि से उष्णगुण सर्वथा पृथक् ही है, समवाय सम्बन्ध से उस द्रव्य में गुण का सम्बन्ध होता है इत्यादि ।

तथा च दूसरी बात यह है कि हम आपसे यह प्रश्न करते हैं कि आप प्रागभाव को सादि सांत मानते हैं या सादि अनन्त अथवा अनादि अनन्त या अनादि सांत, इन चारों विकल्पों में से कौन सा विकल्प स्वीकार करते हैं ?

यदि पहला विकल्प स्वीकार करो कि प्रागभाव सादि सांतरूप है, तब तो प्रागभाव के पहले भी घट की उपलब्धि का प्रसङ्ग आ जावेगा क्योंकि उस घट के विरोधी प्रागभाव का वहाँ पर अभाव है अर्थात् प्रागभाव के पूर्व प्रागभाव का सद्भाव नहीं है क्योंकि वह सादि है । यानी घट का विरोधक प्रागभाव था, वह अपने अस्तित्व से पहले है नहीं अतः जैसे प्रागभाव का अभाव होने पर घट उत्पन्न होता है वैसे ही प्रागभाव के न होने पर भी उसका अभाव ही है पुनः पहले भी घट उत्पन्न हो जावेगा ।

प्रागभाव सादि अनन्तरूप है ऐसा दूसरा विकल्प स्वीकार करने पर प्रागभाव के काल में घट की अनुपलब्धि का प्रसङ्ग प्राप्त होगा क्योंकि प्रागभाव की उत्पत्ति के अनन्तर वह अविनाशी होने से अनन्तरूप है । अर्थात् अब घट का प्रागभाव उत्पन्न हो जाता है तब उसके बाद भी घट की उत्पत्ति नहीं हो सकती है क्योंकि प्रागभाव का विनाश हो तब घटरूप कार्य की उत्पत्ति होवे परन्तु प्रागभाव तो अनन्त—अविनाशी है ।

१ आह यौगः हे स्याद्वादिन् ! मम हेतोरगुणादिना व्यभिचारो यदुच्यते भवता तन्न । कथं नेत्याह । यदा गुणगुणिनो-  
रभयोविवक्षा त्रियते तदा गुणादिभावविशेषणं न सर्वदा भावविशेषणं कुतः रूपं पश्यामीत्यादिव्यवहारे गुणः स्वाधीनः  
प्रतीयते यतः । (दि० प्र०) २ गुणादेः । ३ स्याद्वादी । (दि० प्र०) ४ घटादिविशेष्योच्चारणरहितत्वेन । ५ मा  
भूत् । (व्या० प्र०) ६ अभावस्तत्त्वम् । कस्य ? द्रव्यस्येति सामर्थ्यात् । ७ यौगः । (दि० प्र०) ८ अभावः ।  
(दि० प्र०) ९ चार्वाकः । १० स्याद्वादी । (दि० प्र०) ११ गुणादिविशेष्यस्य । कस्य गुणादिरिति प्रश्ने द्रव्यस्येति  
सामर्थ्यादिगम्यत्वात् । १२ दूषणान्तरम् ।

<sup>1</sup>प्रागभावात्पूर्वं घटस्योपलब्धिप्रसङ्गः, <sup>2</sup>तद्विरोधिनः प्रागभावस्याभावात्<sup>3</sup> । द्वितीये प्रागभाव-  
काले घटस्यानुपलब्धिप्रसक्तिः, <sup>4</sup>तस्यानन्तत्वात् । तृतीये तु <sup>5</sup>सदानुपलब्धिः<sup>6</sup> । चतुर्थे पुन-  
र्घटोत्पत्तौ<sup>7</sup> प्रागभावस्याभावे घटोपलब्धिवदशेषकार्योपलब्धिः<sup>8</sup> स्यात्, सर्वकार्याणामुत्पत्त्यमा-  
नानां प्रागभावस्यैकत्वात्<sup>9</sup> । <sup>10</sup>यावन्ति कार्याणि <sup>11</sup>तावन्तस्तत्प्रागभावाः । तत्रैकस्य<sup>12</sup> प्रागभा-  
वस्य विनाशेऽपि शेषोत्पत्त्यमानकार्यप्रागभावानामविनाशान्न घटोपलब्धौ सर्वकार्योपलब्धिरिति  
<sup>13</sup>चेत्तद्व्यनन्ताः<sup>14</sup> प्रागभावास्ते <sup>15</sup>स्वतन्त्रा <sup>16</sup>भावतन्त्रा वा ? स्वतन्त्राश्चेत्कथं न भाव-

और यदि आप तृतीय पक्ष लेवें कि प्रागभाव अनादि अनन्त है, तब तो घट की सदा अनुपलब्धि  
ही रहेगी अर्थात् कभी भी घट उत्पन्न ही नहीं हो सकेगा, क्योंकि घट का प्रागभाव तो अनादि अनन्त  
है । जब प्रागभाव का नाश होवे तब घट उत्पन्न होवे किन्तु अनादि अनन्त प्रागभाव का नाश ही  
असम्भव है पुनः घट आदि कोई भी कार्य उत्पन्न ही नहीं हो सकेंगे ।

तथा प्रागभाव अनादि सांत है ऐसा चौथा विकल्प लेवें तब तो घट की उत्पत्ति के समय प्रागभाव  
का अभाव होने पर जैसे घट की उपलब्धि होती है वैसे ही अशेष सभी कार्यों की उपलब्धि—उत्पत्ति  
का प्रसङ्ग आ जावेगा, क्योंकि उत्पन्न होने वाले सभी कार्यों का प्रागभाव एक ही है ।

योगः—ऐसा नहीं कहना क्योंकि जितने कार्य हैं उतने ही उनके प्रागभाव हैं । अतः एक प्रागभाव  
के विनाश होने पर भी शेष सभी उत्पन्न होने वाले कार्यों के प्रागभाव का विनाश नहीं होता है ।  
अतएव घट कार्य की उत्पत्ति के होने पर सम्पूर्ण कार्यों की उत्पत्ति का प्रसङ्ग एक साथ नहीं होता  
है । अर्थात् घट का प्रागभाव नष्ट होकर घट बना उस समय पट, मठ आदि का प्रागभाव नष्ट नहीं  
हुआ है अतः सम्पूर्ण कार्य एक साथ ही उत्पन्न होवें ऐसा दोष नहीं आता है ।

चार्वाकः—तब तो प्रागभाव अनन्त हो गये । पुनः वे अनन्तप्रागभाव स्वतन्त्र—अनाश्रित हैं या  
भावतन्त्र—पदार्थ के आश्रित हैं ?

यदि आप इन अनन्त प्रागभावों को स्वतन्त्र कहें तब तो वे भावस्वभाव क्यों नहीं होंगे,  
कालादि के समान । अर्थात् जैसे काल, आकाश आदि स्वतन्त्र पदार्थ हैं वैसे ही प्रागभाव भी  
स्वतन्त्र होने से पदार्थरूप ही सिद्ध हो गये न कि पदार्थ के विशेषणरूप । और यदि आप कहें कि  
भाव के हैं अर्थात्

वे अनन्त प्रागभाव भावतन्त्र हैं तब पुनः वे उत्पन्न हो चुके पदार्थों के आश्रित हैं या उत्पन्न  
होने वाले पदार्थों के आश्रित हैं ? प्रथम पक्ष स्वीकार करना तो उचित नहीं है क्योंकि उत्पन्न

1 पञ्चादिव । 2 घटविरोधिनः । 3 (प्रागभावात्पूर्वं प्रागभावाभावोक्तिः, प्रागभावस्य सादित्वात्) । 4 प्रागभावस्य  
उत्पत्त्यनन्तरमविनाशित्वात् । 5 घटस्य । 6 तस्यानन्तत्वात् । (दि० प्र०) 7 सत्याम् । (दि० प्र०) 8 पटादौ ।  
(दि० प्र०) 9 योगमते । (दि० प्र०) 10 योगः । 11 कार्यम् । (दि० प्र०) 12 एवं च सति । (दि० प्र०)  
13 चार्वाकः । 14 अपरिमिताः । (दि० प्र०) 15 अनाश्रिताः । 16 पदार्थः । (दि० प्र०)

<sup>१</sup>स्वभावाः <sup>२</sup>कालादिवत् ? <sup>३</sup>भावतन्त्राश्चेत्किमुत्पन्नभावतन्त्रा उत्पत्त्यमानभावतन्त्रा वा ?  
न तावदादिविकल्पः, समुत्पन्नभावकाले <sup>४</sup>तत्प्रागभावविनाशात् । द्वितीयविकल्पोपि न श्रेयान्,  
प्रागभावकाले स्वयमसत्तामुत्पत्त्यमानभावानां <sup>५</sup>तदाश्रयत्वायोगात्<sup>६</sup>, अन्यथा<sup>७</sup> प्रध्वंसाभाव-  
स्यापि प्रध्वस्तपदार्थाश्रयत्वापत्तेः<sup>८</sup> । न<sup>९</sup> चानुत्पन्नः प्रध्वस्तो <sup>१०</sup>वार्थः <sup>११</sup>कस्यचिदाश्रयो नाम,  
<sup>१२</sup>अतिप्रसङ्गात् । <sup>१३</sup>यदि पुनरेक एव प्रागभावो <sup>१४</sup>विशेषणभेदाद्भिन्न उपचर्यते घटस्य प्राग-  
भावः पटादेवेति । <sup>१५</sup>तथोत्पन्नपदार्थाविशेषणतया<sup>१६</sup> <sup>१७</sup>तस्य विनाशोप्युत्पत्त्यमानार्थ<sup>१८</sup>विशेषणत्वे-  
नाविनाशान्नित्यत्वमपीति मतं, तदा प्रागभावाद्विचतुष्टयकल्पनापि मा भूत्, <sup>१९</sup>सर्वत्रैकस्यैवा-  
भावस्य विशेषणभेदात्तथा<sup>२०</sup> भेदव्यवहारोपपत्तेः । कार्यस्यैव पूर्वेण कालेन <sup>२१</sup>विशिष्टोर्थः प्राग-

हो चुके पदार्थों के काल में ही तो प्रागभाव का विनाश हो चुका है अर्थात् प्रागभाव का विनाश  
होकर ही तो कार्य हुआ है पुनः उत्पन्न हुये पदार्थ के आश्रित वे प्रागभाव कैसे रहेंगे जब घट बना  
तो उसका प्रागभाव नष्ट हो जाने पर बना है पुनः वह प्रागभाव उत्पन्न हुये घट के आश्रित कैसे  
रहेगा ?

दूसरा विकल्प भी श्रेयस्कर नहीं है क्योंकि प्रागभाव के काल में स्वयं असत्-अविद्यमानरूप—  
उत्पन्न होने वाले पदार्थों का वह अभाव आश्रय कैसे लेगा ? अर्थात् स्वयं आत्मलाभ को प्राप्त हुआ  
अस्तित्व पदार्थ ही किसी को आश्रय आदि दे सकेगा जैसे कि भित्ति के होने पर ही चित्र बनता  
है । अन्यथा यदि स्वयं अविद्यमानरूप पदार्थ भी उस अभाव को आश्रय देने लगें तब तो प्रध्वस्त—  
नष्ट हुये पदार्थ भी प्रध्वंसाभाव को आश्रय देने लगेंगे किन्तु अनुत्पन्न अथवा प्रध्वस्त पदार्थ किसी  
को आश्रय देवें ऐसा देखने में नहीं आता है । यदि मानोगे तो अतिप्रसङ्ग दोष आ जावेगा । अर्थात्  
गधे के सींग आदि भी प्रागभाव-प्रध्वंसाभाव को आश्रय प्रदान करने लगेंगे क्योंकि जैसे अनुत्पन्न  
एवं प्रध्वस्त पदार्थ असत्-रूप हैं, वैसे ही गधे के सींग भी असत्-रूप हैं । असत्-रूप से दोनों समान  
ही हैं कोई अन्तर नहीं है एवं नहीं बने हुये अथवा नष्ट हो चुके खंभे भी महल आदि को आश्रय देने  
लगेंगे असत्-रूप खम्भों से भी महल बन जावेगा ।

- १ वसः । (दि० प्र०) २ यथा कालाकाशदिगादयः स्वतन्त्राः सन्तोभावस्वभावाः तथा प्रागभावाः कथनम् । (दि० प्र०)  
३ तव मते सर्वदा भावविशेषणानामेवाभावत्वस्वीकारात् । ४ भावः । (दि० प्र०) ५ प्रागभावः । (दि० प्र०)  
६ (स्वयमात्मलाभं प्राप्त एव पदार्थः कस्यचिदाश्रयत्वाविधर्मविशिष्टः स्यात्, सति कुड्ये चित्रमिति न्यायात्) ।  
७ (स्वयमसतोपि तदाश्रयत्वं चेत्) । ८ आशंक्य । (दि० प्र०) ९ तन्नेवमिष्टापादनमेवेत्युक्ते आह । १० समुच्चयेन  
वा शब्दः । ११ प्रागभावस्य प्रध्वंसाभावस्य वा । (दि० प्र०) १२ खरविषाणादेरपि प्रागभावप्रध्वंसाभावाश्रयत्वानु-  
पङ्गात्, उत्पन्नप्रध्वस्तयोरसत्त्वेन खरविषाणरूपस्याभावस्य समानत्वात् । किञ्चैवमनुत्पन्नः प्रध्वस्तो वा स्तम्भः प्रासा-  
दादेराश्रयः स्यात् । १३ चार्वाक आह — हे योग । १४ घटादि । (दि० प्र०) १५ (तथा चेत्यर्थः) । १६ तदोत्पन्नम्  
इति पा० । (दि० प्र०) भिन्नत्वप्रकारेण । वसः । (दि० प्र०) १७ प्रागभावस्य । (दि० प्र०) १८ वसः । (दि० प्र०)  
१९ अर्थः । सर्वत्र प्रागभावादिवु । (दि० प्र०) २० (प्रागभावादेरेकत्वेपि विशेषणभेदाद्भेदोपचारप्रकारेण) ।  
२१ अभावलक्षण । (व्या० प्र०)

भावः, परेण<sup>१</sup> विशिष्टः<sup>२</sup> प्रध्वंसाभावः, नानार्थविशिष्टः स<sup>३</sup> एव चेतरेतराभावः, <sup>४</sup>कालत्रये-  
प्यत्यन्तनानास्वभावभाव<sup>५</sup>विशेषणोत्पन्ताभावः<sup>६</sup> स्यात्, <sup>७</sup>प्रत्ययभेदस्यापि <sup>८</sup>तथोपपत्तेः सत्तै-  
कत्वेपि द्रव्यादिविशेषणभेदाद्भेदव्यवहारवत् । यथैव हि सत्प्रत्ययाविशेषाद्विशेषलिङ्गाभावा-  
देकत्वं<sup>९</sup> सत्तायामिष्टं<sup>१०</sup> भवद्भि<sup>११</sup> स्तथैवासत्प्रत्ययाविशेषाद्विशेषलिङ्गाभावाद<sup>१२</sup> सत्तायामप्येकत्व-  
मस्तु । <sup>१३</sup>अथ <sup>१४</sup>प्राग्नासीदित्यादिप्रत्ययविशेषादसत्ता<sup>१५</sup> चतुर्भेदेष्यते तर्हि <sup>१६</sup>प्राग्नासीत्पश्चाद्भू-  
विष्यति सम्प्रत्यस्तीति कालभेदेन, पाटलीपुत्रेस्ति चित्रकूटेऽस्तीति देशभेदेन, घटोस्ति पटो-  
स्तीति द्रव्यभेदेन, रूपमस्ति रसोस्तीति गुणभेदेन, प्रसारणमस्ति गमनमस्तीति कर्मभेदेन च<sup>१७</sup>

तथा च हे नैयायिक ! यदि आप कहें कि एक ही प्रागभाव विशेषण के भेद से ही भिन्न-भिन्न उपचरित होता है जैसे घट का प्रागभाव अथवा पट का प्रागभाव इत्यादि, तब तो उत्पन्न हुये पदार्थों के विशेषणरूप से उस प्रागभाव का विनाश हो जाने पर भी उत्पत्तस्यमान—उत्पन्न होने वाले पदार्थों के विशेषणरूप से नष्ट नहीं होगा अतः वह प्रागभाव नित्य भी हो जायेगा तब तो प्रागभाव आदि चार अभावों की भी कल्पना क्यों की जावे ? क्योंकि सर्वत्र एक ही अभाव में विशेषण के भेद से उस प्रकार प्रागभावादिरूप से भेद का व्यवहार बन जावेगा । यथा—

कार्य के ही पूर्वकाल से विशिष्ट जो पदार्थ है वह प्रागभाव है और जो कार्य के ही पश्चात् काल से विशिष्ट है वह प्रध्वंसाभाव है । एवं वही अभाव नाना पदार्थों से विशिष्ट होने से इतरे-तराभावरूप है और जो अभाव तीनों कालों में भी अत्यन्त नानास्वभाव-भावरूप विशेषण से विशिष्ट होने से अत्यन्ताभाव हो जावेगा क्योंकि प्रत्यय—ज्ञान में भेद भी उसी प्रकार विशेषण के भेद से भेदरूप देखा जाता है जैसे कि सत्ता के एक होते हुये भी द्रव्यादि विशेषण के भेद से भेद व्यवहार पाया जाता है क्योंकि आप योग ने जिस प्रकार से सत्प्रत्यय समान होने से एवं विशेष लिङ्ग का अभाव होने से सत्ता में एकत्व स्वीकार किया है । उसी प्रकार से असत्-अभाव प्रत्यय समान होने से एवं विशेष लिङ्ग का अभाव होने से असत्ता—अभाव में भी एकपत्ता हो जावे बाधा क्या है ?

योग—“प्राग्नासीत्” इत्यादि पहले नहीं था इत्यादिक प्रत्यय-ज्ञानविशेष देखा जाता है अतएव असत्ता (अभाव) के चतुर्भेद हो जाते हैं ।

१ उत्तरेण कालेन । (व्या० प्र०) २ अर्थः । (व्या० प्र०) ३ अभावः । (व्या० प्र०) ४ सर्वथा भिन्नस्वभावः अत्यन्तनानास्वभावो भावो गन्धात्मादिः । ५ रूपात्मादि आत्मद्रव्यपुद्गलद्रव्यादि । (व्या० प्र०) ६ अभावः । (व्या० प्र०) ७ प्राग्नासीद्घटः प्रध्वस्तो वेत्यादेः । ८ विशेषणभेदप्रकारेण । ९ यौगैः । (व्या० प्र०) १० अपरसा-मान्यस्य । (व्या० प्र०) ११ सांख्ययौगादिभिर्भाववादिभिः । (दि० प्र०) १२ अभावे । १३ भाववादी । (दि० प्र०) १४ अभावः । (दि० प्र०) १५ अभावः । (दि० प्र०) १६ अभाववादी । (दि० प्र०) १७ (योगमते द्रव्यादित्रिक-वृत्तित्वादेव सत्तायाः सामान्यादिषु नोक्तम्) ।



<sup>१</sup>प्रत्ययविशेषसङ्ख्यात् <sup>२</sup>प्राक्सत्तादयः<sup>३</sup> सत्ताभेदाः किमु नेष्यन्ते ? अथ <sup>४</sup>प्रत्ययविशेषात्-  
द्विशेषणान्येव भिद्यन्ते, <sup>५</sup>तस्य तन्निमित्तकत्वात्, न तु सत्ता । ततः सैकंवेति मतं <sup>६</sup>तर्हि <sup>७</sup>तत  
एवाभावभेदोपि मा भूत्, सर्वथा विशेषाभावात् । न <sup>८</sup>चैकोप्यभावः <sup>९</sup>क्षित्यादिविवर्तघट-  
शब्दादिव्यतिरेकेण<sup>१०</sup> प्रत्यक्षतः <sup>११</sup>प्रतिभासते । केवलं <sup>१२</sup>गतानुगतिकतया लोकः पृथिव्यादिभूत-  
चतुष्टयविषयमेव<sup>१३</sup> <sup>१४</sup>प्रागभावादिविकल्पमात्रवशात्प्रागभावादिव्यवहारं प्रवर्तयति <sup>१५</sup>द्रव्यादिवि-

चार्वाक—तब तो पहले था, पश्चात् होगा, वर्तमान में है, इस प्रकार काल भेद से प्रत्यय—ज्ञान-  
विशेष का सद्भाव देखा जाता है एवं पटना में है, चित्रकूट में है इत्यादि देशभेद से तथैव घट है, पट  
है इत्यादि द्रव्यभेद से और रूप है, रस है इत्यादि गुणभेद से तथा च प्रसारण है, गमन है इत्यादि  
क्रिया के भेद से भी ज्ञानविशेष का सद्भाव पाया जाता है । प्राक्सत्ता—प्रागभाव आदिरूप से सत्ता—  
भाव के भी भेद आप क्यों नहीं स्वीकार करते हैं ?

मौग—ज्ञान विशेष से उस भाव—सत्ता के विशेषण ही भेद को प्राप्त होते हैं क्योंकि वह ज्ञान-  
विशेष उन विशेषणों में निमित्तमात्र है न कि सत्ता, और इसीलिये वह सत्ता एक ही है ।

चार्वाक—उसी हेतु से ही अभाव में भी भेद कल्पना मत होवे, क्योंकि सत्ता और असत्ता दोनों  
में कोई अन्तर नहीं है अर्थात् अभाव ज्ञानविशेष से ही वे अभाव विशेषण भेद को प्राप्त हो जाते हैं ।  
अतः अभाव ज्ञानविशेष निमित्त हैं न कि असत्ता ।

और दूसरी बात यह है कि एक भी अभाव पृथ्वी आदि की पर्यायरूप घट एवं शब्दादि से  
अतिरिक्त हुआ प्रत्यक्ष से प्रतिभासित नहीं होता है । अर्थात् घटाभाव आदिरूप शब्द ही सुनने में आते  
हैं किन्तु अभाव पृथक् रूप से प्रतीति में नहीं आता है ।

केवल यह लोक—संसार के प्राणी गतानुगतिकरूप से पृथ्वी आदि भूत-चतुष्टय के विषय को ही  
प्रागभावादिविकल्पमात्र के निमित्त से प्रागभावादिरूप से व्यवहृत कराते हैं । जैसे कि द्रव्यगुण  
कर्मादि के विकल्पमात्र से वैशेषिकमत में द्रव्य गुण कर्मादि व्यवहार होता है अथवा जिस प्रकार से  
नैयायिक के मत में प्रमाणादि के विकल्प-ज्ञान से प्रमाणादि व्यवहार होता है । सांख्य के मत में

१ सामान्यविशेषसमवायेषु परैः सत्ताया अनभ्युपगमात्तत्र प्रत्ययविशेषः सद्भावो न प्रदर्शितः । (दि० प्र०) २ पूर्व  
पश्चात्सत्तादि । (दि० प्र०) ३ प्रागासीदित्यादयः । ४ सत्ता । प्रागासीदिति कालादीनि । (दि० प्र०) ५ प्रत्यय-  
विशेषस्य विशेषणनिमित्तकत्वात् । ६ भिद्यन्ते । (दि० प्र०) ७ अभावप्रत्ययविशेषस्य विशेषणभेदहेतुकत्वात् ।  
८ अभाववाचाह । हे भाववादिन् ! यद्येवं तर्हि तत एव प्रत्ययविशेषादेव तद्विशेषणान्येव भिद्यन्ते तस्यतन्निमित्त-  
कत्वादभावभेदोपि मा भवतु कुतः भावाभावयोः सर्वथापि विशेषो नास्ति यतः । (दि० प्र०) ९ अथ चार्वाक आह ।  
(दि० प्र०) १० भेदेन । (दि० प्र०) ११ घटाभावादिशब्द एव श्रूयते न त्वभावः पृथग्भावेन प्रतीयते । १२ गताना-  
नुगतित्यस्य सः, तस्य भावस्तत्ता, तथा । १३ वसः । (दि० प्र०) १४ विकल्पो ज्ञानम् । १५ आदिपदेन  
गुणकर्मादयः ।

कल्पमात्राद्द्रव्यादिव्यवहारवत्<sup>१</sup>, <sup>२</sup>प्रमाणादिप्रकृत्यादि<sup>३</sup>रूप<sup>४</sup>स्कन्धादिविकल्पमात्रात्तद्व्यवहार-  
वच्च<sup>५</sup> । ततो न प्रागभावः कश्चिदिह<sup>६</sup> प्रतीयते प्रध्वंसाभावादिवत्<sup>७</sup> ।

[ अधुना जैनाचार्यः प्रागभावस्य निह्वंसे हानिं प्रदर्श्य नयप्रमाणाभ्यां तं साधयति ]

<sup>९</sup>इति प्रागभावादिनिह्वंसे कृत्वा <sup>१०</sup>पृथिव्यादिकार्यद्रव्यमभ्युपगच्छेच्चार्वाकोनेनो<sup>११</sup>पाल-  
भ्यते<sup>१२</sup>, न पुनः सांख्योन्यो<sup>१३</sup> वा, तस्य कार्यद्रव्यानभ्युपगमात्, <sup>१४</sup>तिरोभावाविर्भाववत्परिणा-

प्रकृत्यादि विकल्पमात्र से वंसा व्यवहार होता है अथवा बौद्ध के मत में रूप, स्कन्ध आदि के विकल्प से रूप, स्कन्ध आदि व्यवहार होता है । उसी प्रकार से प्रागभावादि के विकल्प से प्रागभावादि व्यवहार होता है । इसीलिये प्रध्वंसाभावादि के समान कोई प्रागभाव भी प्रतीति में नहीं आता है ।

[ अब जैनाचार्य प्रागभाव के दोष से हानि उलटते हुये नय और प्रमाण के द्वारा प्रागभाव को सिद्ध करते हैं ]

जैन—इस प्रकार से प्रागभावादि का लोप करके पृथ्वी आदि कार्य द्रव्य को स्वीकार करते हुये आप चार्वाक भी इस उपर्युक्त कारिका के द्वारा उलाहना के ही पात्र हैं न कि केवल सांख्य या अन्य सत्ताद्वैतवादी ही उलाहना के पात्र हैं । अर्थात् जिस प्रकार से आप चार्वाक ने सांख्य एवं सत्ताद्वैत-वादी को उलाहना दी है तद्वत् आप स्वयं भी उन दोषों से बच नहीं सके हैं, आप भी दोष सहित ही हैं, क्योंकि आपने कार्यद्रव्य को स्वीकार ही नहीं किया है ।

एवं तिरोभाव आविर्भाव के समान परिणाम को स्वीकार करने पर भी भावस्वभाव प्रागभाव आदि की स्वीकृति का भी सद्भाव पाया जाता है । अर्थात् सांख्यों ने जैसे आविर्भाव तिरोभाव को स्वीकार करने से प्रागभाव आदि अभावों को भावस्वभाव ही मान लिया है । उसी प्रकार आप सत्ताद्वैतवादियों के यहाँ भी परिणाम स्वीकार किया गया है अतः आप भी प्रागभाव आदिकों को

१ चार्वाको वदति । यथा वैशेषिको लोकः द्रव्यगुणकर्मादि पट्द्रव्यविकल्पमात्राद् द्रव्यादिव्यवहारं प्रवर्तयति । एवं पुनः प्रमाणप्रमेयसंशयादि षोडशपदार्थवादी नैयायिको लोकः १ प्रकृतिमहदादिपञ्चविंशतिः पदार्थवादी सांख्यः । रूप-स्वन्धादिवादी सौगतः । तत्तद्विकल्पात्तत्तद्व्यवहारं प्रवर्तयति । यतो विकल्पमात्रात्प्रागभावादि व्यवहारप्रवृत्तिः । तत इह कार्यादौ कश्चित्प्रागभावो न प्रतीयते । यथा प्रध्वंसाभावादिः = आह स्याद्वादी । एवं चार्वाकः प्रागभावादि निह्वंसे विधाय पृथिव्यादि कार्यद्रव्यं मन्यमानः आचार्यैः स्वाभिभिर्न उपलभ्यतेऽपि तु दूष्यते = सांख्ययौगादिषु निदूष्यते । कुतस्तस्य सांख्यादेः कार्यद्रव्यस्य नाङ्गीकारात् । (दि० प्र०) २ (वैशेषिकमते) । ३ नैयायिकापेक्षया । ४ सांख्या-पेक्षया । ५ बौद्धमतापेक्षया । ६ क्रमेण नैयायिकसांख्यबौद्धाभिमतप्रमाणादि, प्रकृत्यादि, रूपस्कन्धादि निदर्शनं ज्ञेयम् । ७ लोके । (दि० प्र०) ८ प्रध्वंसस्य निराकरिष्यमाणत्वात् । ९ इतो जैन आह इतीत्यादि । १० घटादि । (दि० प्र०) ११ कार्यद्रव्यमनादि स्यादित्यादिकारिकया । १२ दूष्यते । (दि० प्र०) १३ अन्यः सत्ताद्वैतवादी । १४ यथा तिरोभावाविर्भावाभ्युपगमे सांख्यस्य भावस्वभावप्रागभावान्नाभ्युपगमस्तथापरिणामोपगमे सत्ताद्वैतवादिन इति वाक्यार्थ आत्मन आकाशः संभूत आकाशाद्वायुरित्यादि श्रुतिवलेनानिर्वाच्याविद्याद्वितमसचिबस्य प्रभवतो विवर्त्ता यस्येत्यादि वचनाद्वैतवादिना परिणामोभ्युपगम्यते । (दि० प्र०)

मोपगमेपि भावस्वभावप्रागभावाद्यभ्युपगमस्यापि <sup>१</sup>सद्भावात् । <sup>२</sup>तत्र <sup>३</sup>प्रागभावस्य प्रसिद्ध-  
स्याप्यपलपनं निह्वः । तस्मिन्क्रियमाणे कार्यद्रव्यं पृथिव्यादिकमनादि<sup>४</sup> स्यात् । प्रध्वंसस्य  
च धर्मस्य स्वभावस्य प्रच्यवोऽपलापः । तस्मिन्विधीयमाने <sup>५</sup>तदनन्ततां व्रजेत्<sup>६</sup> । न चानाद्य-  
नन्तं पृथिव्यादिकं प्रागभावाद्यपह्नववादिनाभ्युपगन्तुं<sup>७</sup> शक्यते, <sup>८</sup>स्वमतविरोधाल्लौकायतिकत्व-  
हानिप्रसङ्गात् । <sup>९</sup>कथं <sup>१०</sup>पुनः <sup>११</sup>प्रागभावः प्रसिद्धः, <sup>१२</sup>तस्योक्तदूषणविषयतया व्यवस्थित्यभावा-

भावस्वभाव मान लीजिये । इस प्रकार से आप चार्वाक को उलाहना देने के अनन्तर उस प्रसिद्ध प्रागभाव का अपलाप करना निह्व है और उस प्रागभाव का निह्व—लोप करने पर पृथ्वी आदि कार्यद्रव्य अनादि हो जावेंगे ।

प्रध्वंसरूप स्वभाव का प्रच्यव—अपलाप करने पर वे कार्यद्रव्य अनन्तपने को प्राप्त हो जावेंगे, परन्तु प्रागभावादि का अपह्नव करने वाले वादियों के द्वारा भी पृथ्वी आदि कार्यद्रव्य को अनादि अनन्तरूप स्वीकार करना क्षम्य नहीं है क्योंकि उनके यहाँ स्वमत विरोध आ जायेगा और पुनः "लौकायतिकपने" की भी हानि हो जावेगी । अर्थात् चार्वाक का दूसरा नाम लौकायतिक भी है । जो लोकव्यवहार को प्राप्त करे वह लौकायतिक है इस व्युत्पत्तिजन्य अर्थ की भी हानि का प्रसङ्ग हो जावेगा ।

चार्वाक—आपका प्रागभाव प्रसिद्ध कैसे है ? क्योंकि ऊपर कहे गये दोषों से दूषित होने से उसकी व्यवस्था ही नहीं बन सकती है ।

जैन—आप ऐसा नहीं कह सकते हैं क्योंकि हम स्याद्वादियों के द्वारा स्वीकृत प्रागभाव में उपर्युक्त दोषों को अवकाश ही नहीं है । नैयायिकादिकों के द्वारा अभिमत भावविशेषणरूप अभाव का तो हम जैनियों ने भी निराकरण कर दिया है । अर्थात् नैयायिकों का कहना है कि अभाव भावरूप नहीं है वह तो भाव का विशेषण है परन्तु ऐसा तो हम भी नहीं मानते हैं क्योंकि ऋजुसूत्रनय की अपेक्षा से ही पूर्व का अनन्तरस्वरूप-अव्यवहितरूप कार्य का उपादानपरिणाम ही प्रागभाव है । अर्थात् घट का प्रागभाव अनन्तर-अन्तिमक्षणवर्ती मृत्पिण्ड ही है ।

पुनः जो आपने दूषण दिया था कि पूर्व-पूर्व की अनादि परिणाम सन्तति (स्थास, कोश, कुशूल आदि) में कार्य (घट) के सद्भाव का प्रसङ्ग आ जावेगा सो भी कथन ठीक नहीं है, क्योंकि हमने मृत्पिण्ड के प्रध्वंसरूप प्रागभाव के विनाश को ही कार्यरूप से स्वीकार किया । उसका विशेष वर्णन द्वितीय परिच्छेद में "कार्योत्पादः क्षयो हेतोः" इस ५८वीं कारिका के द्वारा करेंगे ।

। सांख्यस्य । (दि० प्र०) २ चार्वाकस्यैवोपालभ्यत्वे सति । ३ अनेन श्लोकेन चार्वाक उपात्मभ्यत इति प्रतिपाद्येदानीं श्लोकार्थं कथयन्ति तत्र प्रागभावस्येति । (दि० प्र०) ४ घटादि । (दि० प्र०) ५ कार्यद्रव्यम् । (दि० प्र०) ६ भवतु को दोषः । (दि० प्र०) ७ चार्वाकाणाम् । (दि० प्र०) ८ लोकव्यवहारमयतेऽभ्युपगच्छतीति लौकायतिकः । ९ शङ्कते चार्वाकः (लौकायतिकः) । १० आक्षेपे । (व्या० प्र०) ११ नापि । (व्या० प्र०) १२ प्रागभावस्य । (दि० प्र०)

दिति चेन्न, स्याद्वादिभिरभीष्टे प्रागभावे <sup>१</sup>यथोक्तदूषणानवकाशात्, नैयायिकादिभिरभिमतस्य<sup>२</sup> तु तस्य <sup>३</sup>तैरपि <sup>४</sup>निराकरणात् । <sup>५</sup>ऋजुसूत्रनयार्पणाद्धि<sup>६</sup> <sup>७</sup>प्रागभावस्तावत्कार्यस्योपादा<sup>८</sup>-  
नपरिणाम<sup>९</sup> एव पूर्वोत्तरात्मा । न च तस्मिन्<sup>१०</sup> पूर्वानादिपरिणामसन्ततो कार्यसद्भावप्रसङ्गः,  
<sup>११</sup>प्रागभावविनाशस्य कार्यरूपतोपगमात्, कार्योत्पादः क्षयो हेतोरिति <sup>१२</sup>वक्ष्यमाणत्वात् । <sup>१३</sup>प्राग-  
भावतत्प्रागभावादेस्तु<sup>१४</sup> पूर्वपूर्वपरिणामस्य सन्तत्यानादेर्विवक्षित<sup>१५</sup>कार्यरूपत्वाभावात् । न<sup>१६</sup>

प्रागभाव और उसके पहले भी प्रागभाव आदि जो कि पूर्व-पूर्व पर्यायरूप हैं तथा सन्तति के वनेका से जो अनादि हैं उनमें विवक्षित कार्यरूपता का अभाव है । इसलिये पहले जो आपने अनादि परिणाम सन्ततियों में विवक्षितकार्य के इतरेतराभाव को कल्पित करके दोष दिया था वह भी ठीक नहीं है, क्योंकि प्रागभाव और उसके पहले के भी प्रागभावादि में हमने इतरेतराभाव माना ही नहीं है जिससे कि आपके द्वारा इतरेतराभाव के पक्ष में दिये गये दूषण आ सकें । अर्थात् इन दूषणों को अवकाश हमारे यहाँ नहीं है और इस प्रकार से प्रागन्तर परिणाम—अव्यवहित-पर्याय को प्रागभाव स्वीकार करने पर उस प्रागभाव के अनादिपने का भी विरोध नहीं है क्योंकि प्रागभाव और उनके पूर्व-पूर्व प्रागभावादिक जो कि प्रागभाव की सन्तान माला—परम्परारूप से हैं उनकी अपेक्षा से प्रागभाव के अनादिपना भी सिद्ध ही है ।

इस प्रकार से सन्तान से सन्तानी सर्वथा भिन्न है अथवा सर्वथा अभिन्न है ? इत्यादि दोषों से सन्तान में दूषण देना योग्य नहीं है । अर्थात् हमने सन्तान से सन्तानी को—द्रव्य से पर्यायों को कथञ्चित् भिन्न एवं कथञ्चित् अभिन्नरूप से ही स्वीकार किया है क्योंकि पूर्व-पूर्व के प्रागभावस्वरूप जो भावक्षण हैं जो कि अपरामृष्टभेदरूप हैं उन्हें ही सन्तानरूप से माना है, परन्तु सन्तानी क्षण की अपेक्षा से तो (पर्यायों की अपेक्षा से तो) प्रागभाव के अनादिपना न होने पर भी कोई दोष नहीं है । अर्थात् पर्याय की अपेक्षा से तो प्रागभाव सादि ही है । द्रव्यदृष्टि से ही अनादि है, क्योंकि ऋजु-सूत्रनय की अपेक्षा से तो उस प्रकार से वह प्रागभाव सादि ही इष्ट है अर्थात् यह नय तो क्षणध्वंसि—एक समयवर्ती पर्याय को ही विषय करता है । अतः ऋजुसूत्रनय की अपेक्षा से सादि मानने में कोई दोष नहीं है ।

१ प्रत्यक्षतो न प्रतिभासते इत्येवम् । २ अभावो न भावरूपस्तस्य भावविशेषणत्वादिति भावविशेषणरूपस्य । ३ स्याद्वादिभिः । ४ वस्तुसामान्यशक्त्यापेक्षो वर्तमानपर्यायमृजुं प्रगुणं सूत्रयति गमयतीत्ययमृजुसूत्रनयोऽतीतानागतयो-  
विनष्टानुत्पन्नत्वे न व्यवहाराभावात् । (व्या० प्र०) ५ प्रागन्तरपरिणामादिरूपेण चतुर्थी विक्तये यदुक्तं दूषणं  
आवर्तकेण तत्सर्वं तद्विकल्पाभ्युपगमपुरस्सरं परिहरन्नाह जैनः । ६ अर्पणा विवक्षा । ७ घटस्य । ८ तद्रूप । (व्या० प्र०)  
९ मृत्पिण्डरूपः । १० तथा सतीत्यर्थः । ११ मृत्पिण्डप्रध्वंसस्य । १२ द्वितीयपरिच्छेदे । १३ अथ पूर्वानादिपरिणा-  
मस्य स्वस्वपूर्वस्वरूपप्रागभावाभावरूपत्वात् कार्यरूपत्वमस्त्येव ततः कथं न तत्र कार्यसद्भाव इति चेदाह जैनः ।  
१४ घटस्य प्रागभावो मृत्पिण्डः । मृत्पिण्डलक्षणप्रागभावस्य मृच्छकलम् । तस्यान्यदित्येवम् । १५ विवक्षितकार्यं  
प्रागन्तरपरिणामताशस्वरूपघटलक्षणम् । १६ पूर्वानादिपरिणामसंततो । पूर्वपूर्वपरिणामसंततो । अस्य प्रागभावस्य  
संततिषु कार्यस्थ । (दि० प्र०)

च <sup>१</sup>तत्रास्येतरेतराभावः<sup>२</sup> <sup>३</sup>परिकल्प्यते, येन <sup>४</sup>तत्पक्षोपक्षिप्तदूषणावतारः<sup>५</sup> स्यात् ।  
 नाप्येवं<sup>६</sup> प्रागभावस्यानादित्वविरोधः, प्रागभावतत्प्रागभावादेः <sup>७</sup>प्रागभावसन्तानस्यानादित्वो-  
 पगमात् । न <sup>८</sup>श्चात्र <sup>९</sup>सन्तानिभ्यस्तत्त्वान्यत्वपक्षयोः<sup>१०</sup> <sup>११</sup>सन्तानो <sup>१२</sup>दूषणार्हः, <sup>१३</sup>पूर्वपूर्वप्रागभा-  
 वात्मकभावक्षणानामेवापरासृष्टभेदानां<sup>१४</sup> <sup>१५</sup>सन्तानत्वाभिप्रायात् । <sup>१६</sup>सन्तानिक्षणापेक्षया तु  
<sup>१७</sup>प्रागभावस्यानादित्वाभावेऽपि<sup>१८</sup> न दोषः, तथा <sup>१९</sup>ऋजुसूत्रनयस्येष्टत्वात् । तथास्मिन्पक्षे <sup>२०</sup>पूर्व-

तथा सन्तान की अपेक्षा से प्रागभाव की अनादि मानने पर सभी अनादि सन्ततिरूप पूर्व-पूर्व पर्यायों घट का प्रागभाव है ऐसा कहने पर भी प्रागनन्तर—अव्यवहित पर्याय की निवृत्ति के समान उन पूर्व-पूर्व पर्याय की निवृत्ति (अभाव) होने पर भी घट की उत्पत्ति का प्रसङ्ग नहीं आता है कि जिससे उन पूर्व-पूर्व पर्यायों की निवृत्ति (अभाव) की परम्परा अनादि होने से आप उस घड़ेरूप कार्य को भी अनादि सिद्ध कर सकें । अर्थात् नहीं कर सकते क्योंकि घट से पूर्व के अशेष क्षण—पर्यायों भी जो कि उन-उन की प्रागभावरूप हैं, उन सभी पर्यायों का अभाव होने पर ही घट की उत्पत्ति होती है ऐसी हमारी मान्यता है क्योंकि प्रागनन्तर क्षण की निवृत्ति न होने पर तदन्य-क्षण की निवृत्ति की तरह समस्त उन-उन प्रागभावों के निवृत्ति की असिद्धि होने से उन-उन प्रागभावों में घटोत्पत्ति का प्रसङ्ग असम्भव है ।

अर्थात् यदि प्रागनन्तर पर्यायरूप प्रागभाव का अभाव (प्रध्वंस) नहीं होवे किन्तु समस्त पूर्व-पूर्व के अन्य प्रागभावों का अभाव हो जावे फिर भी घटकार्य उत्पन्न नहीं हो सकता है अतः घटकार्य की उत्पत्ति के लिये यह आवश्यक है कि उन सब प्रागभावरूप से इष्ट अनादि सन्ततियों के अभाव के साथ-साथ प्रागनन्तररूप अन्तिम पर्याय का भी निवृत्ति—अभाव होना चाहिये सभी विवक्षित घटकार्य की उत्पत्ति हो सकती है ।

और व्यवहारनय (द्रव्याधिक नय) की विवक्षा करने से तो मृदादि द्रव्य घटादि के प्रागभाव है" ऐसा कथन करने पर भी प्रागभाव का अभाव स्वभावपना घट में दुर्घट नहीं है कि जिससे "द्रव्य का अभाव (विनाश) असंभव होने से कदाचित् भी घट की उत्पत्ति नहीं हो सकती ।" आपका यह कथन

१ (प्रागभावतत्प्रागभावादी) । २ (विवक्षितकार्यस्य) । ३ प्रागभावविनाशरूपताया एव व्यावर्तकत्वात् (प्रागभाव-विनाशरूपतैवेतरेतराभावं व्यावर्तयति) । ४ इतरेतराभावपक्षोपक्षिप्तप्रागभाववैयर्थ्यलक्षणदूषणावतारः । ५ प्रागभा-वादितत्प्रागभावादिरूपप्रागभावसन्तानस्यैव विवक्षितकार्यव्यावर्तकत्वात् । (दि० प्र०) ६ प्रागनन्तरपरिणामस्य प्राग-भावत्वप्रकारेण । ७ द्रव्यस्य । ८ एवं सति । ९ पर्यायेभ्यः । १० तत्त्वमभेदः, अन्यत्वं तु भेदः । (कश्चिच्चिदभेद-भेदाक्षयोरित्यर्थः) । ११ द्रव्यम् । १२ अभेदे सन्तानि एव, न सन्तानः । भेदे संबन्धासिद्धिद्वयोः ? । १३ द्रव्यम् । (दि० प्र०) १४ अविवक्षितभेदानाम् । १५ न खलु जैनाः सन्तानद्रव्यात्सन्तानिनः पर्यायाः सर्वथाभिप्रा इत्यामनन्ति किं तर्हि नानापर्यायात्मकद्रव्यलक्षणसन्तान इति । (व्या० प्र०) १६ अनादित्वाभाव एवेष्टः । पर्यायापेक्षया सादित्वं वर्तते इति भावः । १७ प्रागनन्तरपरिणामस्य । (दि० प्र०) १८ प्रागनन्तरपरिणामस्यैव प्रागभावत्वात् । (दि० प्र०) १९ क्षणध्वंसिपर्यायार्थग्राहिणः । २० घटात् । (दि० प्र०)

पर्यायाः सर्वेऽप्यनादिसंततयो घटस्य प्रागभाव इति <sup>१</sup>वचनेऽपि न प्रागनन्तरपर्यायनिवृत्ताविव  
<sup>२</sup>तत्पूर्वपर्यायनिवृत्तावपि<sup>३</sup> घटस्योत्पत्तिप्रसङ्गो, येन <sup>४</sup>तस्यानादित्वं <sup>५</sup>पूर्वपर्यायनिवृत्तिसंततेर-  
 प्यनादित्वादापाद्यते, <sup>६</sup>घटात्पूर्वक्षणानामशेषाणामपि <sup>७</sup>तत्प्रागभावरूपाणामभावे<sup>८</sup> घटोत्पत्त्य-  
 न्युपगमात्, <sup>९</sup>प्रागनन्तरक्षणानिवृत्तौ <sup>१०</sup>तदन्यतमक्षणानिवृत्ताविव <sup>११</sup>सकलतत्प्रागभावनिवृत्त्य-

सुघटित होवे अर्थात् आपका यह कथन सुघटित नहीं है क्योंकि जो कार्य से रहित एवं पूर्वकाल से विशिष्ट मृदादिद्रव्य हैं उन्हीं में ही घटादिक का प्रागभाव स्वीकार किया गया है पुनः उस मृदादि द्रव्य का कार्य की उत्पत्ति के होने पर विनाश सिद्ध ही है ।

कार्य से रहित मृदादि द्रव्य के विनाश के बिना कार्य सहितरूप से घट की उत्पत्ति नहीं हो सकती है, क्योंकि कार्य की उत्पत्ति ही उपादानात्मक प्रागभाव का क्षय है ऐसा आगे कहेंगे । अर्थात् घट के बनने के पूर्व में अन्तिम क्षणवर्ती मृत्पिण्ड ही घट के लिये उपादानरूप है अतः वही प्रागभाव है और उस अन्तिम मृत्पिण्ड पर्याय का क्षय—विनाश ही घटरूप कार्य की उत्पत्ति है ।

इसी प्रकार से प्रमाण की विवक्षा से प्रागभाव द्रव्यपर्यायात्मक है ऐसा कथन करने पर भी उभय पक्ष में उपक्षिप्त दोषों का प्रसङ्ग हम जैनियों के यहाँ शक्य नहीं है । अर्थात् "सकलादेशः प्रमाणाधीनः" इस कथन के अनुसार प्रमाण द्रव्य और पर्याय दोनों की अपेक्षा रखता है क्योंकि प्रागभाव को द्रव्यरूप के समान ही पर्यायरूप सन्तति की अपेक्षा से भी अनादि स्वीकार किया गया है ।

और वह प्रागभाव अनादि है अतः अनन्त है ऐसा भी आप एकान्त से नहीं कह सकते हैं । अर्थात् प्रागभाव को अनादि मानने पर अनन्तपना भी प्राप्त होता है जैसे कि आकाश अनादि होने से अनन्त है इसीलिये कार्य की उत्पत्ति नहीं होगी । यह दोषारोपण भी सिद्ध नहीं हो सकता है क्योंकि भव्यजीवों का संसार अनादि होते हुये भी सांत—अन्त सहित है यह बात प्रसिद्ध ही है । अन्यथा यदि ऐसा नहीं मानो अर्थात् जो अनादि है वह अनन्त ही है ऐसा एकान्त स्वीकार करो तब तो किसी भी जीव को मुक्ति की प्राप्ति नहीं हो सकेगी क्योंकि जीवों का संसार तो अनादि ही है ।

एवं जो सांत है वह सादि ही है ऐसा भी एकान्त नहीं ले सकते हैं क्योंकि किसी का संसार अन्त सहित होते हुये भी अनादिरूप से प्रसिद्ध है । इसलिये प्रागभाव अनादि एवं सांत है इस प्रकार से सिद्ध हो जाने पर सदा ही कार्य की अनुत्पत्ति अथवा घट से पूर्व-पूर्व में भी उस घट की आपत्ति दुनिवार नहीं है । अर्थात् इन आपत्तियों का निवारण करना कठिन नहीं है । इसलिये नय, प्रमाण की अपेक्षा से प्रागभावभाव स्वभाव है, तुच्छाभावरूप नहीं है यह बात सिद्ध हो गई ।

१ पूर्वचार्याकोक्ततृतीयविकल्पाभ्युपगमेपीत्यर्थः । २ अनन्तरपूर्वपर्यायात्पूर्वपर्यायास्तत्पूर्वपर्यायाः । ३ अनन्तरपर्याय-  
 निवृत्ति बिना ततश्च । (दि० प्र०) ४ घटस्य । ५ अभावः । (दि० प्र०) ६ (प्रागनन्तरपर्यायिणापि सहिताना-  
 मित्यर्थः) । ७ ता । (दि० प्र०) ८ सति । (दि० प्र०) ९ सद्भावे । (दि० प्र०) १० पूर्वप्रागभावानां मध्ये ।  
 ११ तत्, घटादि ।

सिद्धेर्घटोत्पत्तिप्रसङ्गासंभवात्<sup>१</sup> । <sup>२</sup>व्यवहारनयार्पणात् मृदादिद्रव्यं घटादेः प्रागभाव इति  
<sup>३</sup>वचनेपि प्रागभावाभावस्वभावता घटस्य न दुर्घटा यतो द्रव्यस्याभावासंभवात् जातुचिदुत्पत्ति-  
 र्घटस्य <sup>४</sup>स्यात्, <sup>५</sup>कार्यरहितस्य <sup>६</sup>पूर्वकालविशिष्टस्य मृदादिद्रव्यस्य घटादिप्रागभावरूपतोप-  
 गमात्, <sup>७</sup>तस्य च कार्योत्पत्तौ <sup>८</sup>विनाशसिद्धेः, <sup>९</sup>कार्यरहितताविनाशमन्तरेण कार्यसहिततयो-

**भावार्थ—**प्रागभाव को सादि एवं अनादि मानने पर जो दोष प्रगट किये गये हैं वे दोष जैनियों की मान्यता में अवकाश ही प्राप्त नहीं कर सकते हैं क्योंकि पदार्थ अनादि होने पर सादि होता है और सादि होने पर भी अनादि होता है । अतः घट की न तो पूर्व में भी उत्पत्ति हो सकती है और न सर्वदा अनुत्पत्ति ही । इसीलिये प्रागभाव भावस्वरूप ही है, तुच्छाभावरूप नहीं ऐसा समझना चाहिये । वह प्रागभाव भाव के समान एक, अनेक स्वभाव वाला भी है, क्योंकि द्रव्य की अपेक्षा से एकस्वभाव-वाला है एवं शक्ति की अपेक्षा से अनेकस्वभाववाला भी है । अतः एकत्वरूप एकांतपक्ष में दिये गये दोष अथवा अनेकत्वरूप एकांतपक्ष में दिये गये दोषों का हमारे यहाँ अवकाश ही नहीं है ।

**नैयायिक—**प्रागभाव को भाव स्वभाव स्वीकार करने पर “प्राग्भासीत् कार्यं” पहले कार्य नहीं था इस प्रकार का नास्तित्व प्रत्यय कैसे हो सकेगा ।

**जैन—**हो सकता है इसमें कोई भी विरोध नहीं है क्योंकि हमारे यहाँ कार्य का अभाव भावांतर-रूप से स्वीकार किया गया है और उस भावांतररूप—प्रागनन्तर पर्याय में नास्तित्व—असत्प्रत्यय के होने में कोई विरोध नहीं है जैसे कि घटरहित भूतल में घट के नास्तित्व का ज्ञान देखा जाता है ।

इस प्रकार नय, प्रमाण से अर्पित प्रसिद्धि को प्राप्त जो प्रागभाव है उसका अपलाप करना निवृत्त कहलाता है ।

**विशेषार्थ—**चार्वाक ने नैयायिक से ४ प्रश्न किये हैं कि यह प्रागभाव सादि सांत है, सादि अनन्त है, अनादि अनन्त है अथवा अनादि सांत है ?

प्रागभाव को सादि सांत कहने पर तो प्रागभाव के पूर्व मृत्पिण्ड में प्रागभाव नहीं है क्योंकि वह सादि होने से अन्तिम क्षण में समाप्त हो गया है तो पुनः जहाँ प्रागभाव नहीं है वहाँ घट बन जावेगा, कारण घट की उत्पत्ति का विरोधी तो प्रागभाव ही है अतः अनादिकाल से मिट्टी में प्रागभाव के न होने से हमेशा घट बनता रहने से घट की परम्परा अनादि हो जावेगी । यदि प्रागभाव को सादि अनन्त कहो तो प्रागभाव का कभी नाश न होने से मिट्टी ही घरी रहेगी विचारा घट कभी भी नहीं

१ सर्वघटप्रागभावानामभावाऽघटनात् घटोत्पत्तिप्रसङ्गो न संभवति यतः । (दि० प्र०) २ व्यवहारो, द्रव्याधिकनयः ।  
 ३ प्रागुक्तद्वितीयविकल्पे । ४ (किन्तु मुघटैव) । ५ (मृदादिद्रव्यशब्देन) । ६ (घटमपेक्ष्य) । ७ (कार्यरहितस्य पूर्व-  
 कालविशिष्टस्य मृदादिद्रव्यस्य) । ८ कार्यरहितस्येति विशेषणं समर्थयति । ननु कार्यसहितपूर्वकालविशिष्टस्य मृदादि-  
 द्रव्यस्येत्यादि वक्तव्यं किमर्थं कार्यरहितस्येत्युच्यते । मृत्पिण्डस्यैव घटरूपेणाविर्भावात् तत्र एव सत् । (व्या० प्र०)  
 ९ हेत्वन्तरम् । ता । (व्या० प्र०)

त्पत्त्ययोगात्, कार्योत्पत्तेरेवोपादानात्मकप्रागभावक्षयस्य<sup>१</sup> <sup>२</sup>वक्ष्यमाणत्वात् । तथा <sup>३</sup>प्रमाणा-  
पेक्षाद्द्रव्यपर्यायात्मा <sup>४</sup>प्रागभाव इत्यभिधानेपि नोभयपक्षोपश्लिष्टदोषानुषङ्गः, प्रागभावस्य  
द्रव्यरूपतयेव <sup>५</sup>पर्यायरूपतयाप्यनादित्वनिरूपणात् । <sup>६</sup>न <sup>७</sup>चानादेरनन्ततत्कान्तः<sup>८</sup> <sup>९</sup>सिध्यति,  
भव्यजीवसंसारस्यानादित्वेपि सान्तत्वप्रसिद्धेः, <sup>१०</sup>अन्यथा कस्यचिन्मुक्त्ययोगात् । नापि सान्तस्य  
सादित्वकान्तः, कस्यचित्संसारस्य सान्तत्वेप्यनादित्वप्रसिद्धेः । ततो न <sup>११</sup>सर्वदा कार्यानुत्पत्तिः  
पूर्वमप्युत्पत्तिर्वा घटस्य <sup>१२</sup>दुर्निवारा स्यात् । ततो <sup>१३</sup>भावस्वभाव एव प्रागभावः । स <sup>१४</sup>चैकानेक-

बन सकेगा । यदि प्रागभाव को अनादि अनन्त कहो तब तो मिट्टी में अनादिकाल से घट का प्रागभाव  
यानी घट नहीं होने देनेरूप शक्ति विद्यमान है और अब उसको अनन्त कहने से उसका नाश ही  
नहीं होगा अतः मिट्टी से घट कभी भी नहीं बन सकेगा, एवं बीज से वृक्ष कभी भी नहीं बनेगा । यदि  
चौथे विकल्परूप प्रागभाव को अनादि सांत कहो तब तो जैसे मिट्टी से घट उत्पन्न होता है वैसे ही  
विश्व के सारे कार्य एक साथ हो जावेंगे क्योंकि जैसे आप नैयायिकों के यहाँ सत्ता एक है वैसे ही  
प्रागभाव भी एक ही है । इस पर नैयायिक झट बोल पड़ा कि नहीं नहीं ! हमने प्रागभाव अनन्त  
माने हैं । इस पर भी प्रश्न होते हैं कि वे अनन्त प्रागभाव स्वतन्त्र हैं या पदार्थ के आश्रित ?

यदि पदार्थों के आश्रित हैं तो भी उत्पन्न हो चुके घट पट आदिकों के आश्रित हैं या उत्पन्न  
होने वाले पदार्थों के ? इत्यादि दूषण आते हो जाते हैं । यदि नैयायिक कहें कि प्रागभाव विशेषण  
के भेद से ही भिन्न-भिन्न हैं तब तो प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अन्योन्याभाव और इतरेतराभावरूप से  
४ अभाव भी मत मानों एक अभाव ही इन विशेषण के भेदों से ही भेदरूप बनता रहेगा । अतः सत्ता  
को भी आप नैयायिक एक न मानकर पदार्थों के विशेषण भेद से एवं द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से अनन्त  
भेदरूप मानिये और यदि सत्ता को एक, निरंश, सर्वव्यापी अखण्ड मानते हैं तो अभाव भी एक  
मानिये । और तो क्या आप अंधपरम्परा से भले ही अभाव मानें किन्तु आपका एक भी अभाव सिद्ध  
नहीं होता है ।

१ 'कार्योत्पत्तेरेव' इति प्रागुक्त एवकारोत्रैव श्रेयः । २ उपादानस्वभावप्रागभावक्षय एव कार्योत्पत्तिरित्यग्रे वक्ष्यते  
यतः । आचार्यैः । (दि० प्र०) ३ (सकलादेशः प्रमाणाधीन इत्युक्तत्वात्प्रमाणं हि पर्यायं द्रव्यं चापेक्षते । उभय—  
(पर्यायद्रव्य) मुख्यविवक्षयेत्यर्थः) । ४ चतुर्थविकल्पोऽयम् । ५ पर्यायसन्तत्यपेक्षया । ६ प्रागभावस्यानादित्वेऽनन्तत्वं  
स्यादाकाशवत् । ततएव कार्यानुत्पत्तिरेवेति दूषणे उक्ते सत्याह जैनः । ७ आह परः हे स्याद्वादिन् ! प्रागभावस्याना-  
देरन्तो नास्ति सर्वथा । स्या० एवं न घटते -- कस्यचिदनन्तः कस्यचिदनन्त इति दर्शयत्वात् । (दि० प्र०) ८ पर्याया-  
पेक्षयाप्यनादित्वनिरूपणादित्यनेन पर्यायरूपतया सादित्वे प्रागभावात्पूर्वमप्युत्पत्तिः । पञ्चादिव कथं विनिवार्येत ।  
इति चार्वाकेण पर्यायपक्षे प्रागुक्तं दूषणं परिहृत्य द्रव्यपक्षे प्रथममुक्तं दूषणं परिहरन्नाह न चानादेरिति । (दि० प्र०)  
९ प्रतिवादिनो जैनस्यापेक्षया । (दि० प्र०) १० सान्तत्वाभावे कस्यचिदात्मनः मुक्तिर्न स्यात् । (दि० प्र०) ११ स्या०  
यत एवं ततः घटस्य सर्वदा कार्यानुत्पत्तिर्दुर्निवारा न सर्वदोत्पत्तिर्वा दुर्निवारा न किन्तु ते स्वकालयोभ्यतावशात् घटते ।  
(दि० प्र०) १२ परिहर्तुमशक्य । (व्या० प्र०) १३ वसः । (व्या० प्र०) १४ स च स्याद्वाद्यभ्युपगतः प्रागभावोऽनेक-  
स्वभावोऽस्ति । यथा योगाद्यभ्युपगतोऽभावस्वभावोऽनेकस्वभाव इति । (दि० प्र०)



स्वभावो 'भाववदेवेति न तदेकत्वानेकत्वैकान्तपक्षभावी दोषोवकाशं लभते । न च भाव-  
स्वभावे प्रागभावे प्राग्भासीत्कार्यमिति नास्तित्वप्रत्ययो विरुध्यते, तदभावस्य भावान्तररूप-  
त्वात् तत्र च नास्तित्वप्रत्ययाविरोधान्, <sup>२</sup>घटविविक्तभूभागे<sup>३</sup> घटनास्तित्वप्रत्ययवत् । तदेवं  
प्रसिद्धस्यैव प्रागभावस्यापलपनं निह्नवः ।

[ चार्वाकः प्रध्वंसाभावं न मन्यते तं निरस्य जैनाचार्याः प्रध्वंसाभावं समर्थयन्ति ]

परस्य प्रध्वंसाभावः कथं प्रसिद्ध इति चेन्नयप्रमाणार्पणादिति ब्रूमः । <sup>४</sup>तत्र ऋजुसूत्र-

सर्वथा अभाव का लोप होते देख अब जैनाचार्य बोल उठे । वे कहते हैं कि हम अभाव को न  
तुच्छाभावरूप मानते हैं और न पदार्थ के विशेषणरूप ही मानते हैं । हम तो अभाव को भावांतर-  
भिन्नभावरूप ही मानते हैं जैसे "दीपस्तमः पुद्गलभावतोऽस्ति" प्रकाश का अभाव अर्थात् अंधकार  
का सद्भाव हो गया है दोनों ही पुद्गल की पर्यायें हैं ।

एवं चार्वाक ने नैयायिक पर जो दोषारोपण किया है वह चार्वाक भी दोषों से बच नहीं सकता ।  
तथा जो चार प्रश्न करके दोष दिये गये हैं वे दोष भी हमारे यहाँ असम्भव हैं । हमने प्रथम एवं  
चतुर्थ विकल्परूप से प्रागभाव को माना है अर्थात् सादि सांत और अनादिसांतरूप प्रागभाव हम  
मानते हैं । सादि अनन्त और अनादि अनन्तरूप द्वितीय और तृतीय विकल्प हम नहीं मानते हैं  
क्योंकि सूक्ष्म ऋजुसूत्रनय की अपेक्षा से प्रागभाव सादि सांत है एवं उसके पूर्व-पूर्व की पर्यायें सभी  
प्रागभाव हैं इसमें सभी पर्यायों में घट उत्पन्न होने का प्रसंग नहीं है क्योंकि उन पूर्व-पूर्व पर्यायों का  
विनाश होने पर भी यदि अन्तिमपर्याय क्षण का विनाश नहीं हुआ है तो घट कार्य नहीं होगा ।

यदि कोई दोषारोपण करे कि अनादि प्रागभाव अनन्त ही होने सांत कैसे रहेगा ? जैसे सुमेरु-  
पर्वत, जीवद्रव्य आदि पदार्थ अनादि होकर अनन्त ही हैं । सो यह कथन भी ठीक नहीं है किन्हीं  
भव्य जीवों का संसार अनादि होकर भी अन्त सहित है अनन्त नहीं है एवं बीज वृक्ष की परम्परा  
अनादि होकर भी बीज को जला देने से अब अन्त सहित हो जाती है । अतः स्याद्वाद सिद्धांत में  
प्रागभाव भाव स्वभाव है और एक-अनेकस्वभाव भी है उसका लोप करना अहितकर है ।

[ चार्वाक प्रध्वंसाभाव को नहीं मानता है उसका खण्डन करके आचार्य प्रध्वंसाभाव का  
समर्थन करते हैं ]

चार्वाक—हमारे यहाँ प्रध्वंसाभाव की सिद्धि नहीं मानी है अतः आप उसका अस्तित्व कैसे सिद्ध  
कर सकेंगे ?

जैन—ऐसा नहीं कहना क्योंकि नय और प्रमाण की अपेक्षा से ही प्रध्वंसाभाव भी सिद्ध ही है ।  
सुनिये ! उसमें ऋजुसूत्रनय की अपेक्षा से उपादेय क्षण—कार्यरूप कपालमाला है वही उपादान —

१ सत्तावत् । (दि० प्र०) २ हेत्वन्तरम् । (दि० प्र०) ३ रहितम् । (दि० प्र०) ४ नयप्रमाणार्पणयोर्मध्ये ।  
(दि० प्र०)

नियार्पणात्तावदुपादेयक्षण<sup>२</sup> एवोपादानस्य प्रध्वंसः । न चैवं तदुत्तरक्षणेऽपि प्रध्वंसस्या-  
भावात्पुनरुज्जीवनं<sup>३</sup> घटादेः प्रसज्येत, कारणस्य<sup>४</sup> कार्योपमर्दनात्मकत्वाभावात्<sup>५</sup>, उपादा-  
नोपमर्दनस्यैव कार्योत्पत्त्यात्मकत्वात्, प्रागभावप्रध्वंस<sup>६</sup> योऽरूपादानोपादेयरूपतोऽप्यगमात्प्रागभावो-  
पमर्दनेन प्रध्वंसस्यात्मलाभात् । कथमभावयोऽरूपादानोपादेयभाव इति चेत् भावयोः कथम् ?  
<sup>१०</sup>यद्भावे एव यस्यात्मलाभस्तदुपादानमितरदुपादेयमिति चेत्तर्हि<sup>११</sup> प्रागभावे<sup>१२</sup> कारणात्मनि  
पूर्वक्षणवर्तिनि सति<sup>१३</sup> प्रध्वंसस्य कार्यत्मिनः स्वरूपलाभोपपत्तेः<sup>१४</sup> स्तयोऽरूपादानोपादेयभावोऽस्तु,

घट का प्रध्वंस है अर्थात् घट का प्रध्वंसाभाव उसकी कपालमाला है । यदि प्रध्वंस न होता तो कभी भी कार्य द्रव्य का अन्त न होता, परन्तु अन्त देखा जाता है अतएव प्रध्वंस का अस्तित्व सिद्ध ही है ।

शंका—यदि उपादेयक्षण ही उपादान का प्रध्वंस है तब तो तदुत्तर क्षणरूप जो कपालमाला के जो और भी खण्ड हैं उनमें प्रध्वंस का अभाव होने से अर्थात् प्रध्वंस का लक्षण घटित न होने से घट की पुनरुत्पत्ति—पुनः घट के उत्पन्न होने का प्रसङ्ग प्राप्त होगा । अर्थात् घट के नाश होने से कपाल-माला की उत्पत्ति हुई है वही घट का प्रध्वंस है । अब उस कपालमाला के जो और-और नवीन २ टुकड़े होते हैं वे उस घट के प्रध्वंस तो हैं नहीं वे तो कपाल के प्रध्वंस से ही हुये हैं अतः वहाँ उपादान—घट के प्रध्वंस का अभाव होने से उनमें उपादानरूप घट की पुनः उत्पत्ति प्राप्त हो जायेगी ।

समाधान—यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि कारण कार्य का उपमर्दक नहीं होता है, प्रत्युत उपादान का उपमर्दन करके ही कार्य उत्पन्न होता है । एवं प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव में उपादान-उपादेयरूपता स्वीकार की गई है । अतः प्रागभाव के उपमर्दन से प्रध्वंस की उत्पत्ति होती है । अर्थात् घट के प्रध्वंस से जो कपाल उत्पन्न हुये हैं वे घटरूप उपादान कारण से उत्पन्न हुये हैं और इन कपालों के जो उत्तरक्षण—अन्य २ खण्ड हैं वे कपालमालारूप अपने उपादान से उद्भूत हुये हैं अतः ये कार्य हैं । अब इनमें घट की उत्पत्ति इसलिये नहीं हो सकती है कि घटरूप कारण में कार्य की उपमर्द-नात्मकता नहीं है कार्य में ही अपने कारण के उपमर्दनात्मकरूप धर्म की आधारता है, अतः उत्तर-क्षणों में घट की पुनरुत्पत्ति का प्रसङ्ग नहीं होता है ।

प्रश्न—दोनों ही अभावों में उपादान, उपादेयभावरूप कारण-कार्यभाव कैसे हो सकता है ?

- १ विवक्षातः । (दि० प्र०) २ घटलक्षणोपादेयार्थ एव प्रागभावात्मककारणस्य प्रध्वंसः आह परः । तस्मात् घट-  
लक्षणोपादेयक्षणादुत्तरोत्तरक्षणेऽपि प्रध्वंसाभावस्याभावात् घटादेः पुनरुज्जीवनं प्रसज्यते । स्या० एवं न । कुतः कारण-  
कार्यस्योपमर्दकं न भवति यतः तथा कार्य कारणस्योपमर्दकं भवत्येव यतः । (दि० प्र०) ३ प्रकृत । (व्या० प्र०)  
४ घटस्य । (व्या० प्र०) ५ कपालः । (व्या० प्र०) ६ विनाशः (व्या० प्र०) । ७ तथापि प्रकृतपर्यन्तुयोगस्य कः  
परिहार इत्याशंकायामाहुः प्रागभावेति । (दि० प्र०) ८ कपालापेक्षया । (दि० प्र०) ९ स्याद्वादी । (दि० प्र०)  
१० यस्मिन् सत्येव । (दि० प्र०) ११ कपाल, घट । (दि० प्र०) १२ कपालानां स्वरूपे । (दि० प्र०) १३ मृदादि-  
द्रवरूपप्रध्वंसः । (दि० प्र०) १४ प्रागभावप्रध्वंसाभावयोः । (दि० प्र०)

तुच्छयोरेवाभावयोस्तद्भावविरोधात्<sup>१</sup> । तथा<sup>२</sup> व्यवहारन्यादेशान्मृदादिद्रव्यं<sup>३</sup> घटोत्तरकाल-  
वर्ति घटाकारविकलं घटप्रध्वंसः । स अनन्तः समवतिष्ठते । तेन घटात् पूर्वकालवर्ति  
मृदादिद्रव्यं घटस्य प्रागभाव एव, न पुनः प्रध्वंसः, <sup>४</sup>तथा घटाकारमपि तत्तस्य प्रध्वंसो  
मा भूत्, घटाकारविकलमिति विशेषणात् । <sup>५</sup>नन्वेवं घटोत्तरकालवर्तिघटाकारविकलसन्ता-  
नान्तरमृदादिकमपि तद्घटप्रध्वंसः स्यादिति चेन्न, द्रव्यग्रहणात् । <sup>६</sup>वर्तमानपर्यायाश्रयरूपमेव<sup>७</sup>

उत्तर—तब तो हम आपसे भी प्रश्न करते हैं कि वह उपादान उपादेयरूपता भावों में कैसे होती है ?

प्रश्न—जिसके होने पर ही जिसकी उत्पत्ति होती है वह उपादान है एवं दूसरा उत्पन्न होने वाला उपादेयरूप है ।

उत्तर—तब तो कारणस्वरूप पूर्वक्षणवर्ती प्रागभाव के होने पर कार्यात्मक प्रध्वंस की उत्पत्ति होती हुई देखी जाती है, अतएव इन दोनों अभावों में उपादान-उपादेय भाव हो सकता है । क्या बाधा है ? किन्तु नैयायिक के द्वारा अभिमत निःस्वभावरूप तुच्छाभाव में तो उपादान-उपादेयभाव का विरोध ही है ।

उसी प्रकार व्यवहार नय (द्रव्याधिक नय) की अपेक्षा से घट से उत्तरकालवर्ती एवं घटाकार से विकल जो मृदादिद्रव्य हैं, वही घट का प्रध्वंस है और वह अनन्त है, यही व्यवस्था सुघटित है और 'च' शब्द से सादि भी है । इसीलिये घट से पूर्वकालवर्ती मृदादि द्रव्य घट का प्रागभाव ही है किन्तु प्रध्वंस नहीं है । इस प्रकार से घटाकार भी मृदादिद्रव्य उस घट का प्रध्वंस नहीं हो सकता है, क्योंकि "घटाकार विकल" यह विशेषण दिया गया है ।

शंका—यदि आपने इस प्रकार से प्रध्वंस का लक्षण स्वीकार किया है, तब तो घट के उत्तर-कालवर्ती एवं घटाकार से रहित जो अनन्त अनेक भिन्न २ सन्तानरूप मृदादि द्रव्य हैं, जो कि घटाकाररूप से परिणत नहीं हैं, वह भी उस घट के प्रध्वंस हो जावेंगे ।

समाधान—नहीं ! क्योंकि हमने द्रव्य को ग्रहण किया है । वर्तमान पर्याय का आश्रयरूप जो अन्वयी मृदादि द्रव्य है, वही उस पर्याय का द्रव्य माना गया है, न कि सन्तानान्तररूप मृदादिद्रव्य है, क्योंकि वह सन्तानान्तररूप मृदादि द्रव्य अपनी भूत अथवा भावीपर्याय का ही अन्वयी है वह विव-

१ तुच्छरूपयोरेव इति पा० । (दि० प्र०) उपादानोपादेयभावत्वं विरुद्धघते यतः । (दि० प्र०) २ यथा ऋजुमूत्र-  
नयार्पणादुपादेयक्षण एवोपादानस्य प्रध्वंसः । (दि० प्र०) ३ यत्सत्तद्द्रव्यं पर्यायो का यद्द्रव्यं तज्जीवपुद्गलादिभेदेन  
षोढा । पुद्गलद्रव्यं द्विविधमणुस्कन्धभेदात् । तत्र स्कन्धद्रव्यं पृथिव्यादिभेदेनानेकधा । तत्र पृथिवी द्रव्यमपि मृदादि  
भेदेनानेकधा । इत्युल्लेखेन प्रवृत्ताद्व्यवहारनयात् । (दि० प्र०) ४ यथा घटात्पूर्वकालवर्तिमृदादिद्रव्यं घटस्य प्रध्वंसो न  
स्यात् तथेत्यादि । (दि० प्र०) ५ अत्राह चार्वाकादिः । हे स्याद्वादिन् ! यदि भवदभिप्रायेण घटाकारविकलं घट-  
प्रध्वंसः स्यात्तदा एवं न स्यात् । विवक्षितमृदादिप्रकारेण । (दि० प्र०) ६ द्रव्यस्य वर्तमान इति पा० । (दि० प्र०),  
प्रध्वंस्यमानपर्याय इति पा० । (व्या० प्र०), यसः । (दि० प्र०) ७ घटस्य । (व्या० प्र०)

हि मृदादिकं <sup>१</sup>तद्द्रव्यमन्वयीष्यते, न पुनः सन्तानान्तरं, <sup>२</sup>तस्य स्वपर्यायमेवातीतमनागतं वा प्रत्यन्वयिनस्तद्द्रव्यत्वविरहात् । तदेवं प्रसिद्धः प्रध्वंसो <sup>३</sup>वस्तुधर्मः । तस्य प्रच्यवोऽपह्लव एव चार्वाकस्य । <sup>४</sup>तस्मिन् कार्यद्रव्यं पृथिव्यादिकमनन्ततां व्रजेदिति समस्तभद्रस्वामिनामभिप्रायः । वृत्तिकारास्त्वकलङ्कदेवा एवमाचक्षते कपिलमतानुसारिणां प्रागभावानभ्युपगमे घटावेरनादि-  
त्वप्रसङ्गात् <sup>५</sup>पुरुषव्यापारानर्थक्यं स्यात् । न च पुरुषव्यापारमन्तरेण घटादि <sup>६</sup>भवदुपल-  
भ्यते जातुष्विति कार्यद्रव्यं तदापादनीयम् <sup>७</sup> । तच्च प्रागभावस्य निह्लवेऽनादि स्यादिति सूक्तं दूषणम्, आपाद्यस्याप्युद्धात्यवदूषणत्वोपपत्तेः ।

क्षितघट का द्रव्य नहीं है । इसलिये प्रध्वंसाभाव वस्तु का धर्म है, यह बात सिद्ध हो जाती है । एवं चार्वाक उस प्रध्वंसाभाव का प्रच्यव—अपह्लव—लोप ही करता है अतएव उसके यहाँ प्रध्वंस का अपह्लव करने पर पृथ्वीआदि कार्यद्रव्य अनन्तपने की प्राप्ति हो जाते हैं ।

इस प्रकार से श्री स्वामी समंतभद्राचार्य के अभिप्रायानुसार कथन किया गया है ।

**भावार्थ** - घट में प्रध्वंसाभाव—नष्ट का अभाव होने से कपालमाला नहीं हुई है उस प्रध्वंसाभाव का अभाव—नाश करके कपाल होंगे इस प्रध्वंसाभाव को भी चार्वाक मानने को तैयार नहीं है । तब आचार्य प्रमाण-नय की विवक्षा से इसे भी सिद्ध करते हैं कि ऋजुसूत्रनय की अपेक्षा से उपादानरूप घट का विनाश होकर उपादेयरूप कपाल उत्पन्न हुये हैं । यहाँ प्रागभाव को उपादानरूप घट एवं प्रध्वंस को उपादेयरूप टुकड़े समझना क्योंकि प्रागभावरूप घड़े का उपमर्दन करके प्रध्वंसरूप टुकड़े हुये हैं । यदि कोई कहे कि प्रागभाव और प्रध्वंस दोनों ही अभावरूप हैं पुनः अभावों में ही उपादान, उपादेयभाव कैसे हुआ ? तब आचार्य कहते हैं कि हमारे यहाँ तुच्छाभावरूप अभाव नहीं है अतः कोई बाधा नहीं है । “व्यवहारः द्रव्याधिकनय से घट के उत्तरकाल में होने वाला घट के आकार से रहित मिट्टी द्रव्य ही घट का प्रध्वंस माना गया है” वह सादि और अनंत है ।

इस पर कोई कहता है कि इस लक्षण से तो कंभार के घर में या खेतों में बहुत सी मिट्टी पड़ी हुई है वह घट के आकार से रहित है उसमें भी घट के प्रध्वंसरूप कपाल हो जावें । आचार्य कहते हैं ऐसा नहीं कहना हमने “घट के उत्तर काल में होने वाला” ऐसा विशेषण दिया है अतः कार्य का विनाश होना ही प्रध्वंस है उसका लोप करने पर तो कभी भी कोई कार्य नष्ट होने से सभी कार्य अनंतकाल बने रहेंगे । अतः चार्वाक को प्रध्वंस भी वस्तु का धर्म ही मानना चाहिये ।

१ विवक्षितघटः । (व्या० प्र०) २ तस्य सन्तानान्तरस्य कोर्षो विवक्षितात् अन्यघटस्यातीतं स्वपर्यायमेव प्रागभावः । अनागतं स्वपर्यायमेव प्रध्वंसः । कुतः प्रत्यन्वयिनः विवक्षितघटस्य सन्तानान्तरघटद्रव्यत्वशून्यत्वात् । (दि० प्र०)  
३ घटाद्यात्मकमृद्द्रव्य । (व्या० प्र०) ४ प्रध्वंसापह्लवे सति । (दि० प्र०) ५ अनादित्वं भवतु को दोषमुद्धावयति । (व्या० प्र०) ६ मूलकारेण चार्वाकं प्रतिवृत्तिकारेण सांख्यं प्रतिदूषणमुक्तमिति विरोध आह । (व्या० प्र०) ७ जायमानं सत् । (दि० प्र०) ८ दूषणतया आरोपणीयम् । (दि० प्र०)

[ अब अकलंकदेव के अभिप्रायानुसार प्रागभाव का लोप करने वाले सांख्य का खंडन करते हैं ]

अब वृत्तिकार श्री अकलंकदेव इस प्रकार से कहते हैं कि कपिनमत का अनुसरण करने वाले सांख्यों के यहाँ “प्रागभाव को स्वीकार न करने पर घटादि को अनादिपने का प्रसंग होने से घटादि की उत्पत्ति में पुरुष का व्यापार व्यर्थ हो जावेगा ।”

पुरुष व्यापार के बिना कदाचित् भी घटादिक होते हुये नहीं देखे जाते हैं । इस प्रकार से सांख्यों के प्रति कार्य द्रव्य का युक्ति से प्रतिपादन करना चाहिये ।

प्रागभाव के निह्वन करने पर वह कार्यद्रव्य अनादि हो जावेगा । यह दूषण ठीक ही कहा गया है, क्योंकि आपाद्य—जो सांख्य है, उसके यहाँ भी उद्भाव्य के समान—चार्वाक मत के समान ही दूषण प्राप्त होते हैं । अर्थात् जिनके लिये दोषों का आपादन करना—कहना है, ऐसा सांख्य यहाँ पर आपाद्य माना गया है और जिसके प्रति दोष उद्भावित—प्रगट किये जा चुके हैं ऐसा चार्वाक यहाँ पर उद्भाव्य कहा गया है ।



## प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव की सिद्धि का सारांश

चार्वाक प्रागभाव को स्वीकार ही नहीं करता है जैनाचार्य का कहना है कि “कार्य का अपनी उत्पत्ति के पहले न होना” प्रागभाव है। वह “कार्योत्पत्ति के पहले का अनन्तर (अन्तिम) परिणाम ही है” जैनों की इस मान्यता को चार्वाक स्वीकार नहीं करता है।

**चार्वाक**—आप जैनों के यहाँ प्राक् के अन्तिम परिणाम को ही प्रागभाव कहने से उसके पहले की अनादि परिणाम सन्तति में कार्य के सद्भाव का प्रसंग आ जावेगा। अर्थात् कुम्भकार ने घट बनाने के लिये मृत्पिण्ड को बना कर रखा, चाक घूम रहा है घटोत्पत्ति के पूर्व शिवक, छत्रक, स्थास, कोश, कुशूल आदि अनेक पर्याय हैं वे प्रागभाव रूप नहीं हैं क्योंकि अन्तिम क्षण में ही आपने प्रागभाव माना है अतः उनमें घट की उत्पत्ति का प्रसंग आ जावेगा।

यदि आप कहें कि अनादि पूर्व परिणाम सन्तति और कार्य का परस्पर में इतरेतराभाव है अतएव उन-उन पूर्व पर्यायों में घट का उत्पाद सम्भव नहीं है तब तो अनन्तर परिणाम के होने पर भी इसी इतरेतराभाव से ही कार्य (घट) का अभाव सिद्ध हो जावेगा। अतः प्रागभाव की कल्पना व्यर्थ ही है।

**जैनाचार्य**—हम स्याद्वादियों के यहाँ इन दोषों को अवकाश नहीं है क्योंकि ऋजुसूत्र नय की अपेक्षा से पूर्व का अनन्तर स्वरूप-अव्यवहित रूप कार्य का उपादान परिणाम ही प्रागभाव है। पुनः जो आपने दूषण दिया है कि “पूर्व-पूर्व की अनादि परिणाम सन्तति में—स्थास, कोश, कुशूल आदि में कार्य-घट के सद्भाव का प्रसंग आवेगा” सो भी कथन ठीक नहीं है क्योंकि हमने मृत्पिण्ड के प्रध्वंस रूप प्रागभाव के विनाश को ही कार्य रूप से स्वीकार किया है अतएव प्रागभाव और उसके पहले के भी प्रागभावादि जो कि पूर्व-पूर्व पर्याय रूप हैं तथा सन्तति की अपेक्षा से जो अनादि है उनमें विवक्षित घट रूप कार्यरूपता का अभाव है अतः जो आपने “अनादि परिणाम सन्ततियों में विवक्षित कार्य का अविनाभाव कल्पित किया था” वह भी गलत है क्योंकि प्रागभाव और उसके पहले के भी भावादि में हमने इतरेतराभाव माना ही नहीं है। अतः आपके द्वारा आरोपित दोष असम्भव है। प्रागनन्तर-अव्यवहित पर्याय को ही प्रागभाव मानने पर हमारे यहाँ अनादि का भी विरोध नहीं है क्योंकि प्रागभाव और उनके पूर्व-पूर्व प्रागभावादि जो कि प्रागभाव की संतानमाला रूप से हैं उनकी अपेक्षा से प्रागभाव अनादि है। इस प्रकार संतान से संतानी सर्वथा भिन्न है या अभिन्न? इत्यादि दोष हमारे यहाँ नहीं हैं क्योंकि हमने सन्तान से सन्तानी को—द्रव्य से पर्यायों को कथंचित् भिन्न एवं कथंचित् अभिन्न रूप माना है क्योंकि पूर्व-पूर्व के प्रागभाव रूप जो भाव क्षण हैं एवं जो भेद विवक्षा से रहित हैं उन्हें ही सन्तान रूप से माना है किन्तु सन्तानी क्षण रूप पर्यायों की अपेक्षा से तो प्रागभाव को अनादि नहीं मानने से कोई दोष नहीं है। अर्थात् पर्याय की अपेक्षा से प्रागभाव सादि ही है, द्रव्य दृष्टि से अनादि है क्योंकि ऋजुसूत्र तो क्षणध्वंस एक समयवर्ती पर्याय को ही विषय करता है।

यदि प्रागनन्तर पर्याय रूप प्रागभाव का प्रध्वंस नहीं हुआ है और चाहे समस्त अन्य प्रागभावों की निवृत्ति हो जाती है तो भी विवक्षित कार्य (घट) नहीं होता है कारण उन सब प्रागभाव से इष्ट

अनादि संतति की निवृत्ति के साथ-साथ प्रागनन्तर पर्याय की भी निवृत्ति होनी चाहिये तभी घट कार्य उत्पन्न होता है अतः अनादि संतति में घटोत्पत्ति प्रसंग दोष हमारे यहाँ कथमपि शक्य नहीं है। एवं “मृदादि द्रव्य घटादि के प्रागभाव हैं” ऐसा द्रव्यार्थिक नय से कहने पर भी प्रागभाव का अभावस्वभाव घट में दुर्घट नहीं है कि जिससे द्रव्य का अभाव असम्भव होने से कदाचित् भी घट की उत्पत्ति न हो सके अर्थात् घटोत्पत्ति सुघटित ही है क्योंकि मृदादि द्रव्य से घट पर्याय रूप कार्य की उत्पत्ति के होने पर मृत्पिण्ड रूप पर्याय का विनाश सिद्ध ही है अर्थात् कार्य की उत्पत्ति ही उपादानात्मक प्रागभाव का क्षय है। प्रागभाव को अनादि होने से अनन्तपने का दोष आवे यह भी शक्य नहीं है क्योंकि भव्य जीवों का संसार अनादि होते हुये भी सांत देखा जाता है।

**नैयायिक—**प्रागभाव भाव स्वभाव न होकर भाव से विलक्षण है और वह पदार्थ का विशेषण सिद्ध है। अभाव चार भेद रूप हैं किन्तु सत्प्रत्यय एक होने से सत्ता एक ही है।

**जैन—**यह सभी कथन गलत हैं प्रागभाव भाव स्वरूप है तुच्छाभाव रूप नहीं है। वह भाव (सत्ता) के समान एक अनेक स्वभाव वाला भी है द्रव्य की अपेक्षा से एक स्वभाव एवं शक्ति की अपेक्षा से अनेक स्वभाव वाला है।

प्रध्वंसाभाव का लक्षण आदि चार्वाक प्रध्वंसाभाव को नहीं मानता है उसको समझाते हुये जैनाचार्य कहते हैं कि हमारे यहाँ नय प्रमाण की अपेक्षा से प्रध्वंसाभाव भी सिद्ध है। मुनिये ! ऋजुसूत्रनय की अपेक्षा से उपादेय क्षण कार्यरूप कपाल माला है वही उपादान रूप घट का प्रध्वंस है। घट के प्रध्वंस से जो कपाल उत्पन्न हुये हैं वे घटरूप उपादान कारण से हुए हैं। इन कपालों के जो उत्तर क्षण रूप अन्य-अन्य खण्ड हैं वे कपालमाला रूप अपने उपादान से उत्पन्न हुये हैं अतः ये कार्य हैं। “अब इनमें घटोत्पत्ति प्रसंग” इसलिये नहीं है कि घट रूप कारण कार्य का उपमर्दन नहीं करते हैं किन्तु कार्य ही अपने कारण का उपमर्दक माना गया है। अतएव उत्तरक्षणों में पुनः घटोत्पत्ति के प्रसंग आदि दोष हमारे यहाँ सम्भव नहीं हैं।

प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव उपादान उपादेयरूप हैं अभाव में उपादान, उपादेय भाव कैसे होगा ? यह प्रश्न भी हमारे यहाँ नहीं होता है क्योंकि हमने अभाव को भावान्तर रूप से माना है न कि तुच्छाभाव रूप। नैयायिकाभिमत निःस्वरूप-तुच्छाभाव रूप अभाव में तो उपादान उपादेयभाव दुष्कर ही है।

मीमांसक के यहाँ भी प्रागभाव को स्वीकार न करने पर शब्द अनादि हो जावेंगे पुनः तालु कंठ आदि के प्रयत्न निष्फल हो जावेंगे। इत्यादि प्रागभाव के लोप करने पर कार्य अनादि हो जावेंगे। एवं प्रध्वंसाभाव के न मानने पर सभी कार्य अनन्त हो जावेंगे। अतः दोनों ही भाव स्वभाव हैं, वस्तु के धर्म हैं।

**उपसंहार—**चार्वाक ने प्रागभाव को नहीं माना है एवं नैयायिक प्रागभाव को भाव स्वभाव नहीं मानते हैं। जैनाचार्यों ने इन दोनों को वास्तविक रीति से प्रागभाव का लक्षण समझाया है। प्रध्वंसाभाव को भी चार्वाक स्वीकार नहीं करता है। जैनाचार्यों ने उसे यह बताया है कि प्रध्वंस को माने बगैर घड़ा कभी फूटेगा ही नहीं। परन्तु ऐसा होता नहीं अतः प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव ये दोनों ही वस्तु के धर्म हैं ऐसा समझना चाहिये।

[ मीमांसकाभिमतशब्दनित्यत्वस्य निराकरणं ]

एतेन मीमांसकानां शब्दस्य प्रागभावानभ्युपगमेऽनादित्वप्रसङ्गात् पुरुषव्यापारानर्थक्यं स्यादित्युक्तं प्रतिपत्तव्यम् । शब्दस्याभिव्यक्तौ पुरुषव्यापारस्योपयोगान्नानर्थक्यमिति चेन्न, ततः प्राक् तदावेदकप्रमाणाभावादभिव्यक्तिकल्पनानुपपत्तेः । कलशादेर्हि समन्धकारावृततनोः प्रदीपव्यापारात्पूर्वं सद्भावावेदकप्रमाणस्य 'स्पर्शनप्रत्यक्षादेः संभवादुपपत्त्या प्रदीपेनाभिव्यक्तिकल्पना, न पुनः शब्दस्य, तदभावात्<sup>१</sup> । <sup>२</sup>प्रत्यभिज्ञानादेस्तद्भावावेदकस्य<sup>३</sup> प्रमाणस्य भावा-

[ मीमांसकाभिमत शब्द नित्यत्व का खंडन ]

मीमांसकों के यहाँ भी प्रागभाव को स्वीकार न करने पर शब्द को अनादिपने का प्रसंग आवेगा तथा पुरुष व्यापार—तालु आदि प्रयत्न निष्फल हो जावेंगे । इसी उपर्युक्तकथन से यह भी दोष समझ लेना चाहिये ।

**भावार्थ—**यदि सांख्य अथवा मीमांसक प्रागभाव एवं प्रध्वंसाभाव का अपलाप करते हैं तो इनमें अनादित्व एवं अनन्तत्व का प्रसंग आ जाता है, क्योंकि पुरुष व्यापार के बिना कभी भी घटादिकार्य होते हुये नहीं देखे जाते हैं । इसी प्रकार मीमांसकों ने जो शब्द को नित्य माना है और प्रागभाव नहीं माना है, उन्हें भी उसका प्रागभाव स्वीकार करना चाहिये, नहीं तो तालु एवं ओष्ठ आदि का व्यापार सब व्यर्थ हो जावेगा ।

**मीमांसक—**शब्द की अभिव्यक्ति में पुरुष का व्यापार उपयोगी है, अतः अनर्थक नहीं है ।

**जैन—**नहीं ! पुरुष व्यापार के पहले उन शब्दों का आवेदक—बताने वाला प्रमाण नहीं पाया जाता है । अतएव अभिव्यक्ति की कल्पना नहीं बन सकती है क्योंकि अंधकार से ठके हुये जो कलश आदि हैं प्रदीप व्यापार से पूर्व उनके सद्भाव को कहने वाला स्पर्शन प्रत्यक्ष आदि प्रमाण संभव है अतएव प्रदीप के द्वारा उन कलश आदिकों की अभिव्यक्ति होती है यह कल्पना बन जाती है किन्तु शब्द में नहीं हो सकती है क्योंकि उसके सद्भाव को कहने वाले दर्शन प्रत्यक्षादि प्रमाणों का अभाव है ।

अर्थात् अन्धकार से आच्छादित घट आदि पदार्थ प्रदीप के पहले भी स्पर्शनइन्द्रिय के प्रत्यक्ष-प्रमाण आदि से जाने जाते हैं, अतः उनकी प्रगटता दीपक के द्वारा मानना उचित है, किन्तु इस प्रकार से तालु आदि के द्वारा शब्दों की प्रगटता मानना युक्त नहीं है, क्योंकि तालु आदि व्यापार के पहले उन शब्दों को सिद्ध करने वाला कोई भी प्रमाण नहीं है ।

**मीमांसक—**उन शब्दों के सद्भाव को कहने वाले प्रत्यभिज्ञान आदि प्रमाण विद्यमान हैं अतः कोई दोष नहीं आता है ।

१ आगम । (व्या० प्र०) २ तात्वादिव्यञ्जकात् पूर्व शब्दसद्भावग्राहकप्रमाणम् । (दि० प्र०) ३ परः । शब्दः । (दि० प्र०) ४ अर्थापत्तिः । (दि० प्र०)



ददोष इति चेन्न, तस्य <sup>१</sup>विरुद्धत्वात्, <sup>२</sup>शब्दस्याभिव्यक्तेः पूर्वं सर्वथा सत्त्वात्साध्याद्विपरीतेन कथञ्चित्सत्त्वेन व्याप्तत्वादन्यथा प्रत्यभिज्ञायमानत्वाद्यनुपपत्तेः । ततोभिव्यङ्ग्य-विलक्षणत्वान्न शब्दस्याभिव्यक्तिकल्पना युक्ता । <sup>३</sup>एतेन कुम्भकारादिव्यापाराद् घटाद्यभि-व्यक्तिकल्पना <sup>४</sup>प्रत्युक्ता । कल्पयित्वापि <sup>५</sup>तदभिव्यक्तिं तस्याः प्रागभावोद्भोक्तृत्वम् । तथा हि । सतः शब्दस्य ताल्वादिभिरभिव्यक्तिः प्रागसती क्रियते, न पुनः शब्द एवेति स्वरुचिचिरचितदर्शनप्रदर्शनमात्रम् । ननु च मीमांसकैः शब्दस्यापौरुषेयत्वप्रदर्शनान्नासौ

जैन—ऐसा भी आप नहीं कह सकते हैं, क्योंकि प्रत्यभिज्ञानादि प्रमाण विरुद्ध हैं कारण कि इस प्रत्यभिज्ञानादि प्रमाण की व्याप्ति शब्द की अभिव्यक्ति के पहले सर्वथा सत्त्वरूप साध्य से विपरीत, कथञ्चित्सत्त्व के साथ पाई जाती है । यदि ऐसा नहीं मानो तो प्रत्यभिज्ञायमान हेतु की उपपत्ति नहीं हो सकेगी । अर्थात् शब्द को नित्य साध्य करने में आपका साध्य तो “सर्वथा नित्य” है । पुद्गल-द्रव्य की अपेक्षा शब्द सत्त्वरूप है, तथा पर्याय की अपेक्षा असत्त्वरूप है, एवं नित्य की कथञ्चित् सत् के साथ व्याप्ति हो जाती है अतः आपका हेतु विरुद्धहेत्वाभास है और सर्वथा नित्यरूप शब्द को प्रत्य-भिज्ञानप्रमाण भी ग्रहण नहीं कर सकेगा ।

इसीलिये अभिव्यंग्य—प्रकट होने योग्य जो घट पटादि पदार्थ हैं उनसे विलक्षण होने से शब्द में अभिव्यक्ति की कल्पना करना युक्त नहीं है, किन्तु उस शब्द का सत्त्व तो नित्य ही है, ऐसी ही कल्पना ठीक हो सकती है ।

और इसी कथन से ही “कुम्भकार आदि के व्यापार से घटादिरूप कार्यों की अभिव्यक्ति होती है न कि उत्पत्ति” ऐसी कल्पना करने वाले सांख्यों का भी खंडन किया गया समझना चाहिये ।

अथवा “उस शब्द की अभिव्यक्ति की कल्पना करके भी उस अभिव्यक्ति का प्रागभाव तो स्वीकार करना ही चाहिये (अन्यथा सर्वथा ही शब्द श्रवण का प्रसंग हो जावेगा क्योंकि श्रावणत्व-रूप अभिव्यक्ति नित्य ही है । ) और वंसा मान लेने पर विद्यमानरूप-सत्त्वरूप शब्द की तालु आदि के द्वारा अभिव्यक्ति जो प्रागसत्त्वरूप थी वही की जाती है किन्तु शब्द ही नहीं किये जाते हैं । यह कथन तो स्वरुचिचिरचितदर्शन—अपने मन के अनुकूल बनाये गये शास्त्रों का प्रदर्शन करना मात्र ही है ।”

१ ताल्वादिव्यापारात्पूर्वं शब्दस्य सद्भावः प्रत्यभिज्ञायमानत्वादित्यस्य हेतोः । (व्या० प्र०) २ आह मीमांसकः, हे स्याद्वादित् ! शब्दाभिव्यक्तेः प्राक् शब्दस्य सद्भावग्राहकं प्रत्यभिज्ञानादिकं प्रमाणमस्ति तद्वलाच्छब्दाभिव्यक्तिः कल्पनाकरणे न दोषः । स्या० न । कुतः । तस्य प्रत्यभिज्ञानस्य विरुद्धत्वात् कथमित्याह । हे मीमांसक ! शब्दाभि-व्यक्तेः प्राक् शब्दस्य सर्वथा सत्त्वं कथञ्चित् सत्त्वं वेति विचारः । सर्वथा सत्त्वं चेत्तदाऽपरिणामित्वात् स एवायं शब्द इति पूर्वोत्तरकालकोटिद्वयग्राहकलक्षणस्य प्रत्यभिज्ञानस्य गृहीतुं न शक्यम् । कथञ्चित्सत्त्वं चेत्तदा स्याद्वादप्रवेशे न स्वमतहानिः । — एवं प्रत्यभिज्ञानस्य शब्दाभिव्यक्तेः प्राक् सर्वथा सत्त्वाच्छब्दात्कथञ्चित्सत्त्वेन विपरीतेन व्याप्तत्वात् — अन्यथा प्रत्यभिज्ञानस्य कथञ्चित्सत्त्वेन व्याप्तत्वं बिना प्रत्यभिज्ञानत्वमेव न जायते । (दि० प्र०) ३ मीमांसकानां पुरुषस्य ताल्वादिव्यापारात् शब्दाभिव्यक्तिप्रकारेण । (दि० प्र०) ४ सांख्यस्य । (दि० प्र०) ५ शब्दः । (दि० प्र०)

प्रागसन् क्रियते । 'तदभिव्यक्तिस्तु पौरुषेयी । सा प्रागसती क्रियते इति कथं स्वरुचिविरचितस्य दर्शनस्य<sup>२</sup> प्रदर्शनमात्रं, <sup>३</sup>प्रमाणशक्तिविरचितस्य<sup>४</sup> तथा दर्शनस्य प्रदर्शनादिति चेन्न, <sup>५</sup>शब्दादभिन्नायास्तदभिव्यक्तेरप्यपौरुषेयत्वात् । तस्याः पौरुषेयत्वात्प्रागसत्त्वे तदभिन्नस्य शब्दस्यापि ततः <sup>६</sup>एव प्रागसत्वमनुमन्यतां, विशेषाभावात् । शब्दाद्भिन्नैवाभिव्यक्तिरिति चेत् ।

अर्थात्—आपने जब अभिव्यक्ति का प्रागभाव स्वीकार कर लिया है पुनः ऐसा कहें कि ताल्वादिमात्र अभिव्यक्ति को ही करते हैं शब्द को नहीं । यह एक स्वदर्शन का हो व्यामोह है, क्योंकि शब्द में और उसकी अभिव्यक्ति में परस्पर में धर्म-धर्मिभाव होने से अभिन्नता है । अतः प्रागसती — पहले अभावरूप अभिव्यक्ति का होना इसका तात्पर्य यह है कि ताल्वादि द्वारा शब्द की उत्पत्ति ही होती है न कि प्रगटता ।

मीमांसक—हम लोगों ने शब्द को अपौरुषेय (नित्य) स्वीकार किया है अतः वह शब्द प्रागसत्-रूप से—पहले असत्-रूप थे पुनः किये नहीं जाते हैं परन्तु उन शब्दों की अभिव्यक्ति तो पौरुषेयी-पुरुष-व्यापारकृत है अतः वह शब्द की अभिव्यक्ति प्रागभावरूप है और वही की जाती है । इस प्रकार का जो कथन है वह मनगढ़न्त रूप शास्त्रों का प्रदर्शन मात्र है, ऐसा कैसे कहा जायेगा अर्थात् प्रामाणिक क्यों नहीं रहेगा । तथा "अभिव्यक्ति प्रागभावरूप है अतः वह की जाती है, पुनः शब्द प्रागभावरूप नहीं होने से नहीं किये जाते हैं" यह हमारा सिद्धान्त प्रमाणशक्ति से रचित सहित ही है और उसी के अनुसार हमारा कथन है ।

जैन—आपका यह कथन भी युक्तियुक्त नहीं है क्योंकि वह अभिव्यक्ति शब्द से तो अभिन्न ही है, अतः वह भी अपौरुषेय हो जावेगी । अर्थात् शब्द की अभिव्यक्ति शब्द से अभिन्न होने से वह भी पुरुषव्यापारकृत सिद्ध नहीं हो सकेगी । यदि आप कहें कि वह अभिव्यक्ति प्रागभावरूप होने से पौरुषेय है तब तो उस अभिव्यक्ति से अभिन्न जो शब्द है, वे भी पौरुषेय हो जावेंगे । पुनः उन शब्दों का भी प्रागभाव स्वीकार कीजिये क्योंकि दोनों ही समान हैं अर्थात् दोनों ही पौरुषेय एवं अनित्य सिद्ध हो गये हैं ।

भावार्थ—शब्द तो मीमांसकमत की अपेक्षा अपौरुषेय हैं, अतः उनका प्रागभाव तो ही नहीं सकता । जब इनका प्रागभाव नहीं है, तो ये असत् भी नहीं हो सकते एवं जब असत् नहीं हैं, तब शब्दों को असत् मानकर तालु आदिकों के द्वारा उनकी उत्पत्ति मानना सर्वथा अयुक्त है तथा च अभिव्यक्ति पौरुषेयी-(पुरुषकृत) है, वह अनित्य होने से प्रागभावरूप मानी गई है । अतः तालु आदि व्यापार से यह अभिव्यक्ति ही की जाती है, शब्द से नहीं यह मीमांसक का कथन हुआ ।

१ शब्दः । (दि० प्र०) २ मतस्य । (व्या० प्र०) ३ पौरुषेयापौरुषेयत्वाभ्याम् । (दि० प्र०) ४ आह स्या० हे मीमांसक ! भवदभ्युपगताच्छब्दाच्छब्दाभिव्यक्तिरभिन्नाभिन्ना वेति विचारः । (दि० प्र०) ५ अभिव्यक्तिः प्रागसती क्रियते न पुनः शब्द एवेति प्रकारेण । (दि० प्र०) ६ मीमांसकेन धर्मधर्मिणोस्तादात्म्याभ्युपगमात् । (दि० प्र०)

[ अभिव्यक्तिं चतुर्धा विकल्प्य क्रमशः तासां निराकरणं ]

सा यदि<sup>१</sup> श्रवणज्ञानोत्पत्तिः, सैव कथं प्राक्सती यत्नतः कर्तव्या ? तस्याः प्राग-  
सत्त्वे शब्दस्याश्रावणत्वापत्तेर्नित्यत्वविरोधः, प्रागश्रावणत्वस्वभावत्यागेनोत्तरश्रावणत्वस्वभा-  
वोत्पत्तेः<sup>२</sup> कथञ्चिदनित्यत्वमन्तरेणानुपपत्तेः । अथ<sup>३</sup> श्रवणज्ञानोत्पत्तेरभावेऽपि<sup>४</sup> पूर्वं शब्दस्य  
श्रावणत्वमेवेष्टं, किमनया<sup>५</sup> श्रवणज्ञानोत्पत्त्याभिव्यक्त्या ? स्यान्मतं, न शब्दधर्मः श्रवण-  
ज्ञानोत्पत्तिः, तस्याः कर्मस्थक्रियात्वाभावात् । किं तर्हि ? पुरुषस्वभावः, कर्तृस्थक्रिया-  
त्वादिति, 'तदप्ययुक्तं, कर्तृवत्तस्याः' प्राक्सत्त्वापत्तेरविशेषात्तद्व्यापारानर्थक्यात्<sup>६</sup> । श्रवण-

इस पर जैनाचार्य कहते हैं कि जब शब्द की अभिव्यक्ति शब्द से अभिन्न है तब इसे पौरुषेय मानकर प्रागभावरूप कहना तो ठीक नहीं है क्योंकि शब्द से अभिन्न होने से अभिव्यक्ति भी अपौरुषेयी ही होनी चाहिये यदि कहें कि अभिव्यक्ति तो पौरुषेयी है तब तो इस स्थिति में उससे अभिन्न शब्द भी पौरुषेय (पुरुषकृत) हो जावेंगे, पुनः उनमें भी प्रागभाव मानना होगा । एवं तब शब्द भी हम जैनियों की मान्यता के समान अनित्य एवं पुरुषकृत ही सिद्ध होगा न कि नित्य अपौरुषेय ।

[ अभिव्यक्ति के चार भेद करके क्रमशः चारों का खण्डन करते हैं ]

“यदि आप इन उपर्युक्त दोषों को दूर करने के लिये यह कहें कि वह अभिव्यक्ति शब्द से भिन्न ही है । वह श्रवणज्ञानोत्पत्तिरूप अभिव्यक्ति शब्द में पहले यदि सत्स्वरूप है पुनः वह प्रयत्न पूर्वक क्यों की जाती है ।” और यदि वह श्रवणज्ञानोत्पत्तिरूप अभिव्यक्ति शब्द में पहले असत्स्वरूप है तब तो शब्द-शब्द में अश्रावणोत्पत्ति का प्रसंग आ जावेगा । एवं नित्यत्व का विरोध हो जावेगा । अर्थात् पहले अश्रावणपना रहने पर एवं पश्चात् श्रावणपना के आने पर तो श्रावणत्वधर्म का उत्पाद और अश्रावणत्व का विनाश होने से अनित्यपना सिद्ध हो जाता है, क्योंकि पहला अश्रावणत्वस्वभाव का त्याग होने से ही उत्तरश्रावणत्वस्वभाव की उत्पत्ति होती है और वह कथञ्चित् अनित्यत्व के बिना सम्भव नहीं है ।

यदि श्रवणज्ञानोत्पत्तिरूप अभिव्यक्ति के अभाव में भी पहले शब्द में श्रावणत्व—सुनाई देना ही इष्ट है, तब तो इस श्रवणज्ञानोत्पत्तिरूप अभिव्यक्ति से क्या प्रयोजन है ?

भावार्थ—यदि यह अभिव्यक्ति श्रवणज्ञानोत्पत्तिरूप है, तो पुनः इस विषय में प्रश्न हो सकता है कि यह श्रवणज्ञानोत्पत्तिरूप अभिव्यक्ति शब्द में पहले थी या नहीं ? यदि नहीं थी, तो इस पक्ष में शब्द में अश्रावणोत्पत्ति—शब्द का नहीं सुनाई देना होने से अनित्यत्व का प्रसंग आ जाता है

१ अभिव्यक्तिः । (दि० प्र०) २ ता । (दि० प्र०) ३ मीमांसकः । (दि० प्र०) ४ तर्हि । (दि० प्र०) ५ स्याद्वादी । (दि० प्र०) ६ मीमांसकआह क्रिया द्वेषा । एका कर्मस्थक्रियाज्या कर्तृस्था । सा श्रवणज्ञानोत्पत्तिः कर्मस्थाक्रिया न भवति । किन्तु कर्तृस्था भवतीति चेत् । स्या० तदप्ययुक्तं । कुतः यथा कर्त्तापुरुषः प्राक्सत् तथा श्रवणज्ञानोत्पत्तेरपि प्राक्सत्त्वघटनात् । (दि० प्र०) ७ ता । (दि० प्र०) ८ पुरुषः । (दि० प्र०)

ज्ञानोत्पत्तियोग्यता शब्दस्याभिव्यक्तिरिति चेत्तर्हि योग्यतायां समानश्चर्चः । योग्यतापि हि यदि शब्दधर्मत्वाच्छब्दादभिन्ना तदा कथं तद्वत्सती<sup>१</sup> पुरुषप्रयत्नेन क्रियेत ? अथ शब्दाद्भिन्ना, श्रोत्रस्वभावत्वात्तस्या<sup>२</sup> इति मतिस्तथापि न सा<sup>३</sup> प्रागसती श्रोत्रस्य<sup>४</sup> नभोदेश-लक्षणस्य सर्वदा सत्त्वात्<sup>५</sup> तत्स्वभावभूताया योग्यतायाः प्रागपि सत्त्वात् । एतेनात्मधर्मो<sup>६</sup> योग्यता शब्दाद्भिन्नेति निरस्तं, नित्यत्वादात्मनः प्रागसत्त्वासम्भवात् । अथ भिन्नाभिन्ना

क्योंकि शब्द जब तक अपने पूर्वकालीन श्रावणत्वस्वभाव का परित्याग नहीं कर देगा, तब तक उसमें श्रावणस्वभावता नहीं आ सकती है और यह परिवर्तन कथंचित् अनित्यता के बिना असंभव ही है । यदि इस दोष का परिहार करने के लिये यह कहें कि श्रावणज्ञानोत्पत्ति के पहले भी शब्द में श्रावणस्वभावता विद्यमान है, तब तो श्रावणज्ञानोत्पत्तिरूप अभिव्यक्ति को मानने की क्या आवश्यकता है ?

**मीमांसक**—श्रावणज्ञानोत्पत्तिरूप क्रिया शब्द का धर्म नहीं है, क्योंकि उस श्रावणज्ञानोत्पत्ति में “शब्दं शृणोमि” इत्यादिरूप से कर्मस्थ क्रिया का अभाव है ।

**जैन**—तब वह क्या है ?

**मीमांसक**—वह श्रावणज्ञानोत्पत्तिरूप क्रिया पुरुष का स्वभाव है क्योंकि वह कर्तृस्थ क्रियारूप है । अर्थात् श्रोताजनों के आश्रित है ।

**जैन**—यह कथन भी अयुक्त ही है क्योंकि कर्त्ता-आत्मा के समान इस कर्तृस्थ क्रिया में प्राक्—पहले सत् की आपत्ति समान ही है । पुनः तालु आदि व्यापार भी अनर्थक ही जावेंगे अर्थात् जैसे आत्मा पहले से ही सत् रूप है, वैसे ही वह कर्त्ता में स्थित क्रिया भी पहले सत् रूप ही माननी पड़ेगी, पुनः तालु, ओष्ठ से बोलनेरूप पुरुष व्यापार व्यर्थ ही रहेगा ।

**मीमांसक**—श्रावणज्ञानोत्पत्ति की जो योग्यता है वही शब्द की अभिव्यक्ति है ।

**जैन**—“तब तो योग्यता में भी समान ही प्रश्न होंगे ।” तथैव वह योग्यता भी यदि शब्द का धर्म होने से शब्द से अभिन्न है, तब तो वह उसी प्रकार शब्द के समान ही नित्य होने से वह भी विद्यमान—सत् रूप ही है पुनः पुरुष प्रयत्न के द्वारा कैसे की जाती है ?

यदि “वह शब्द से भिन्न है, क्योंकि वह श्रोत्र का स्वभाव है” ऐसा मानों फिर भी वह पहले असत् रूप नहीं है क्योंकि उस आकाश देश लक्षण कर्णेन्द्रिय का सदा ही सत्त्व पाया जाता है और उस शब्द की स्वभावभूत योग्यता का अस्तित्व भी पहले से ही विद्यमान है ।

जो कहते हैं कि योग्यता आत्मा का धर्म है और वह शब्द से भिन्न है इसका खण्डन भी इसी कथन से कर दिया समझना चाहिये क्योंकि आत्मा नित्य है और उसका प्रागभाव भी असंभव है ।

१ शब्दवत् । (दि० प्र०) २ धर्मः । (व्या० प्र०) ३ योग्यता । (दि० प्र०) ४ कारणस्य । (व्या० प्र०) ५ शब्दः । (दि० प्र०) ६ शब्दादभेदाभेदप्रकारेण । श्रोत्रस्वभावात्मिकाया योग्यताया निषेधद्वारेण । पुरुषस्वभावम् । (दि० प्र०)

श्रवणज्ञानोत्पत्तिस्तद्योग्यता चाभिव्यक्तिः शब्दादिति मतं तदप्यसत्यं, पक्षद्वयोक्तदोषानु-  
षङ्गात् सर्वथा तस्याः प्रागभावायोगात्, तद्योगे वा शब्दवदेव श्रोत्रप्रमात्रोरपि प्रागसतोः  
प्रयत्नेन करणप्रसङ्गादन्यथा<sup>१</sup> स्वरुचिविरचितदर्शनप्रदर्शनमात्रप्रसक्तेः । आवरणविगमोभि-  
व्यक्तिरिति चेत् तदावरणविगमः प्राक्किमभूत् ? भूतौ वा किं यत्नेन ? <sup>२</sup>विशेष-  
स्याधानमभिव्यक्तिरिति चेन्ननु विशेषाधानमपि तादृगेव, <sup>३</sup>कर्मकतृकरणानां प्रागभावा-  
भावात् । आवरणविगमविशेषाधानयोहि <sup>४</sup>शब्दपुरुषश्रोत्राणां स्वरूपत्वे तेषां याज्ञिकरपि

**मीमांसक**—वह श्रवणज्ञानोत्पत्ति एवं उसकी योग्यता इन दोनों रूप अभिव्यक्ति शब्द से भिन्ना-  
भिन्नरूप है ।

**जैन**—यह कथन भी असत्य ही है, क्योंकि श्रवणज्ञानोत्पत्तिरूप पक्ष में एवं उसकी योग्यतारूप  
पक्ष इन दोनों में ही पक्ष में दिये गये दोषों का प्रसंग आ जावेगा, क्योंकि सर्वथा—शब्द से भिन्ना-  
भिन्न प्रकार से उन दोनों ही अभिव्यक्तियों में प्रागभाव का अभाव है । अथवा यदि आप उन दोनों  
में प्रागभाव का योग मानोगे तब तो शब्द के समान ही श्रोत्र-कर्णेन्द्रिय और प्रमाता-आत्मा इन दोनों  
का भी प्रागभाव मान करके इनको भी प्रयत्नपूर्वक करने का प्रसंग आ जावेगा । अन्यथा स्वरुचि-  
विरचितदर्शनमात्र का ही आप प्रदर्शन करते हैं न कि वास्तविकसिद्धांत का ।

**भावार्थ**—शब्द श्रोत्र और प्रमाता नित्य हैं, उनके धर्म को अभिव्यक्ति कहते हैं । वह अभिव्यक्ति  
नित्य है एवं उसके नित्य होने से उसमें प्रागभाव का अभाव है । यदि आप उस अभिव्यक्ति में  
प्रागभाव का सद्भाव मानों तब तो शब्द श्रोत्र और प्रमाता में भी प्रागभाव के होने से उनको भी  
प्रयत्नपूर्वक करने का प्रसंग प्राप्त होगा जो कि आपको अनिष्ट है क्योंकि आप शब्द, श्रोत्र एवं आत्मा  
को सर्वथा नित्य ही मानते हैं ।

तथा च यदि आप कहें कि शब्द, श्रोत्र और प्रमाता इनमें प्रागभाव होते हुये भी अभिव्यक्ति  
ही यत्न से की जाती है न कि ये तीनों—शब्द, श्रोत्र और प्रमाता—आत्मा, तब तो आप अपने  
मनगढ़ित सिद्धांत का ही पोषण करते हैं न कि वास्तविक ।

**मीमांसक**—शब्द के आवरण का विगम—दूर हो जाना ही अभिव्यक्ति है ।

**जैन**—“यदि ऐसी बात है तब तो उस शब्द में आवरण का विगम तालुआदिक व्यञ्जक व्यापार  
के पहले था क्या ? और यदि था तो पुनः यत्न से क्या प्रयोजन ?” अर्थात् तालु आदि व्यापार  
शब्द के कारककारण हैं व्यञ्जककारण नहीं हैं, यही बात सुघटित होती है ।

**मीमांसक**—शब्द में विशेषता (श्रूयमाणत्वरूपता) का होना ही अभिव्यक्ति है ।

१ तयोस्तद्विन्नत्वपक्षे तयोः श्रोत्रप्रमातृधर्मत्वसंभवेन तद्वच्छ्रोत्रप्रमात्रोरपि प्रागसत्त्वसंभवात्प्रयत्नेन करणप्रसंग इति  
भावः । (दि० प्र०) २ कारणम् । (दि० प्र०) ३ शब्दपुरुषश्रोत्राणाम् । (दि० प्र०) ४ शब्दपुरुषश्रोत्राणां मीमांस-  
कैरपि । (दि० प्र०)

नित्यत्वोपगमात्कथं<sup>१</sup> प्रागभावः संभवेत् ? संभवे वा प्रयत्नकार्यत्वप्रसङ्गः अभिव्यक्तिवत्<sup>२</sup> । पुरुषप्रयत्नेन अभिव्यक्तिः प्रागसती क्रियते, न पुनस्तत्स्वरूपः<sup>३</sup> शब्दः पुरुषः श्रोत्रं चेति स्वरुचिचिरचितदर्शनप्रदर्शनमात्रम् ।

[ सांख्याभिमतभिव्यक्तिपक्षस्य निराकरणं ]

एवं हि<sup>४</sup> कपिलमतानुसारिणां घटादेरभिव्यक्तिः प्रागसती चक्रदण्डादिभिः क्रियते न पुनर्घटादिरित्यपि शक्यं प्रदर्शयितुम्<sup>५</sup> । यतोत्र न कश्चिद्विशेषहेतुस्तात्वादयो

जेन—“तब तो विशेषाधान-विशेषता का होना भी उसी प्रकार से प्रश्न का विषय है, क्योंकि कर्म (शब्द), कर्ता (आत्मा) और करण (श्रोत्र) में प्रागभाव का अभाव है,” क्योंकि आवरण का दूर होना और विशेषता का होना ये दोनों ही शब्द श्रोत्रेन्द्रिय और पुरुष के स्वभाव हैं । इन शब्द, श्रोत्र और पुरुष को आप याज्ञिकजनों ने भी नित्यरूप से स्वीकार किया है, न कि केवल सांख्याओं ने ही । पुनः उनमें प्रागभाव कैसे संभव होगा ? अथवा यदि उनमें आप प्रागभाव को मानें तब तो अभिव्यक्ति के समान उस शब्द को भी प्रत्यनपूर्वक करने का प्रसंग आ जावेगा ।

यदि आप कहें कि अभिव्यक्ति तो प्राक् असत् रूप है और पुरुषप्रयत्न के द्वारा की जाती है, किन्तु उसस्वरूप शब्द पुरुष और श्रोत्रेन्द्रिय प्रयत्नपूर्वक नहीं किये जाते हैं, सो आपका यह सभी कथन स्वरुचिचिरचितदर्शन का प्रदर्शनमात्र है ।

विशेषार्थ—मीमांसकलोग शब्द को नित्य, सर्वगत, निरंश और एक मानते हैं उनका कहना है कि शब्द तो सर्वथा नित्यरूप ही हैं परन्तु वे सदा इसलिये सुनाई नहीं देते हैं कि उनकी अभिव्यक्ति—प्रकटता सर्वदा नहीं रहती है, पुरुष के तात्वादि प्रयत्न से शब्दों की प्रकटता की जाती है शब्द नहीं किये जाते हैं ।

इस पर जेनाचार्यों ने उस अभिव्यक्ति के चार अर्थ किये हैं एवं चारों में दोष दिखाया है । अर्थात् वह शब्दों की प्रकटतारूप अभिव्यक्ति, श्रवणज्ञानोत्पत्तिरूप—सुनाई देनेरूप है, या श्रवण-ज्ञानोत्पत्ति की योग्यता रूप—सुनाई देने की योग्यता रूप है, या आवरणविगम रूप—शब्दों के ढकने वाली वायु के दूर होने रूप है या विशेषता के होनेरूप—शब्दों में सुननेरूप विशेषता के होनेरूप है ? यदि सुनाई देनेरूप प्रथम पक्ष लेवो तो वह सुनाई देनेरूप शब्द की प्रकटता शब्द से अभिन्न है या भिन्न ? यदि अभिन्न कहो तब तो शब्द नित्य हैं वैसे ही वह प्रकटता भी नित्य ही हो जावेगी । अथवा प्रकटता पुरुषकृत अनित्य है तो शब्द भी उससे अभिन्न होने से पुरुषकृत अनित्य हो जावेंगे परन्तु

१ आवरणविगमविशेषाधाने द्वे शब्दादीनां स्वरूपे । (दि० प्र०) २ शब्दपुरुषश्रोत्राणां क्रियमाणावरणविगमविशेषा-  
धानयोरभिव्यक्तेस्तेष्वभिन्नत्वात् । आशंक्य । (दि० प्र०) ३ साक्षाभिव्यक्तिः स्वरूपं यस्य शब्दादेस्तत्स्वरूपः ।  
वसः । (दि० प्र०) ४ अरे मीमांसक ! भवदुक्तन्यायेनानेन कपिलमतमपि निराकुलं स्यादित्यभिप्रायं मनसि कृत्वाहुः ।  
एवं हीति । (दि० प्र०) ५ कुतः यस्मात् कारणात् । (व्या० प्र०)

व्यञ्जका, न पुनश्चक्रादयोपीति, ते वा घटादेः कारका, न पुनः शब्दस्य ताल्वादयो-  
पीति । न हि व्यञ्जकव्यापृतिनियमेन व्यङ्ग्यं सन्निधापयति । सन्निधापयति च ताल्वा-  
दिव्यापृतिनियमेन<sup>१</sup> शब्दम् । ततो नासौ ताल्वादीनां<sup>३</sup> व्यङ्ग्यश्चक्रादीनां घटादिवत् ।  
नायं दोषः सर्वगतत्वावर्णानामित्यपि वार्तं, प्रमाणबलायात्तत्वाभावात्, अन्यत्रापि तथा-  
भावानुषङ्गात् । शक्यं हि वक्तुं घटादीनां सर्वगतत्वाच्चक्रादिव्यापारान्नियमेनोपलब्धि-

आप मीमांसक इन दोनों बातों को स्वीकार करने को तैयार नहीं हो अतः यदि दूसरा विकल्प लेवो  
कि वह अभिव्यक्ति शब्द से भिन्न है । इस पर भी प्रश्न होता है कि वह भिन्न अभिव्यक्ति पहले तो  
असत् रूप है, पुरुष प्रयत्न से की जाती है तो वह पुरुष का प्रयत्न होने के पहले शब्द में विद्यमान है  
या नहीं ? यदि पहले शब्द में नहीं है और पुनः आई तो शब्द पहले न सुनाई देने के स्वभाव वाले थे  
पीछे अभिव्यक्ति के होने पर सुनाई देने लगे अतः अनित्य हो गये । यदि अभिव्यक्ति पहले ही थी तो  
अभिव्यक्ति के पहले ही शब्द सुनाई देना चाहिये था । यदि आप कहें कि वह अभिव्यक्ति शब्द का  
धर्म न होकर पुरुष का धर्म है तब तो वह अभिव्यक्ति भी पुरुष के समान नित्य हो जावेगी ।

यदि मूल का दूसरा प्रश्न लेवो कि अभिव्यक्ति सुनाई देने की योग्यता रूप है तो उसमें भी दो प्रश्न  
उठते हैं कि योग्यता शब्द से अभिन्न है या भिन्न ? यदि अभिन्न है तो वह शब्द के समान नित्य होने  
से पुरुष के द्वारा ताल्वादि से नहीं की जावेगी यदि शब्द से भिन्न है तब तो वह या तो श्रोत्रेन्द्रिय का  
स्वभाव रहेगी या आत्मा का स्वभाव हो जावेगी ? यदि श्रोत्रेन्द्रिय का स्वभाव कहो तो मीमांसक के  
यहाँ श्रोत्रेन्द्रिय आकाश रूप है और आकाश नित्य है । अतः श्रोत्रेन्द्रिय की धर्मरूप योग्यता भी शाश्वत  
नित्य हो जावेगी । यदि आत्मा का धर्म कहो तो भी आत्मा भी तो आपके यहाँ नित्य ही है अतः  
उसका धर्म-अभिव्यक्ति भी नित्य ही रहेगी । यदि आप कहें कि वह श्रवणज्ञानोत्पत्ति और उसकी  
योग्यता दोनों ही शब्द से भिन्नाभिन्न रूप हैं तो भाई ! आप तो कथंचित् पद्धति को मानते नहीं हैं ।  
अतः भिन्न पक्ष एवं अभिन्न पक्ष दोनों ही पक्षों के दोष आपके ऊपर आ जावेंगे । पुनः उस अभिव्यक्ति  
का प्रागभाव वन ही नहीं सकेगा । यदि जबरदस्ती प्रागभाव मानोगे तो भी जैसे शब्द नित्य हैं वैसे  
ही श्रोत्रेन्द्रिय और आत्मा भी नित्य हैं इन तीनों के ही प्रागभाव मानना पड़ेगा और तीनों को ही  
पुरुषप्रयत्न के द्वारा मानना पड़ेगा ।

यदि आप मूल के तीसरे विकल्प शब्द के आवरण का दूर होना मानते हो तो भाई ! प्रश्न यह  
होगा कि वह आवरण शब्द से भिन्न है अभिन्न ? यदि अभिन्न है और पुरुष के ताल्वादिव्यापार से

१ स्याद्वादी मीमांसं प्रति अनुमानं रचयति । शब्दः पक्षः ताल्वादीनां व्यङ्ग्यो न भवति, किन्तु व्युत्पाद्यो भवतीति  
साध्यो धर्मः । ताल्वादिभिन्नियमेन सन्निधाप्यत्वात् । यद्येषां नियमेन सन्निधाप्यं न तत्तेषां व्यङ्ग्यम् । यथा चक्रादीनां  
घटादिः । सन्निधापयति च ताल्वादि व्यापृतिनियमेन शब्दम् । तस्मान्नासौ ताल्वादीनां व्यङ्ग्यम् । (दि० प्र०)  
२ न हि व्यञ्जकव्यापृतिनियमेन व्यङ्ग्यं सन्निधापयति इत्यत्र नियमो नास्ति यतः । सन्निधापयति च ताल्वादिव्या-  
पृतिनियमेन शब्दमित्यत्र चास्ति नियमो यतः । (दि० प्र०) ३ आह—मीमांसं ताल्वादीनां वर्णव्यङ्ग्या एव न तु  
व्युत्पाद्या इत्ययं दोषो न कुतः । वर्णः सर्वगतानित्यायतः—स्या० हे मीमांसक इत्यपि ते वचः फल्गुप्रायः । कुतः  
प्रमाणाभावात् । तथा अन्यत्र सांख्यमते घटादीनामपि सर्वगतत्वप्रसंगात् । (दि० प्र०)

रिति । इष्टत्वाददोषोयं कापिलानामिति चेन्न, कारणव्यापारेष्वपि चोद्यानिवृत्तेः, चक्रादीन्यपि कारणानि स्वव्यापाराणां नियमेन सन्निधापकान्यभिव्यञ्जकानि भवन्तु, तेषां<sup>१</sup> सर्वगतत्वादेवेति चोद्यस्य निवर्तयितुमशक्यत्वात् । एतेनावस्था<sup>२</sup> प्रत्युक्ता । स्वव्यापारोत्पादने हि कारणानां<sup>३</sup> व्यापारान्तराणि कल्पनीयानि तथा<sup>४</sup> तदुत्पादनेपीत्यनवस्था स्यात्, न पुनः स्वव्यापाराभिव्यक्तौ, तत्सन्निधिमात्रादेव तत्सिद्धेरन्यथा व्यञ्जककारकयोर-

दूर होता है तब तो शब्द अनित्य हो गये । यदि भिन्न है तो शब्दों का तो कुछ होगा नहीं अतः वे शब्द कभी भी सुनाई नहीं देंगे ।

तथा चौथे विकल्प “विशेषता का होना अभिव्यक्ति है” इसमें भी ये ही विकल्प उठते रहेंगे । इन तृतीय, चतुर्थ विकल्परूप अभिव्यक्ति को शब्द, पुरुष और श्रोत्रेन्द्रिय का स्वभाव कहोगे तो ये दोनों अभिव्यक्तियाँ भी नित्य ही रहेंगी पुनः पुरुष के ताल्वादि से इनकी प्रकटता हो नहीं सकेगी । जबरदस्ती मानोगे तो शब्द, पुरुष और श्रोत्रेन्द्रिय को भी पुरुषप्रयत्न से ही मानना होगा । यदि आप यही हठ पकड़े रहेंगे कि पुरुष के ताल्वादिप्रयत्न से शब्दों की प्रकटता ही की जाती है, नित्य शब्द, आत्मा एवं कर्णेन्द्रिय नहीं किये जाते हैं, तब तो ज्ञात होता है कि आप दुराग्रहरूपी पिशाच से ग्रसित हो गये हैं । हम जैतों के यहाँ तो २२ प्रकार की पुद्गल वर्गणाओं में एक भाषावर्गणा भी है वह संपूर्ण लोक में ठसाठस भरी हुई है । पुरुष के वीर्यतिराय और मतिश्रुतज्ञानावरण के क्षयोपशम तथा अंगोपांग नाम कर्म के उदय से पुरुष के प्रयत्न के द्वारा वे उत्पन्न हो जाती हैं । एवं शब्द वर्गणायें पौद्गलिक हैं “शब्द बंध सौक्ष्म्य .....” इत्यादि सूत्र से वे पुद्गल की पर्यायें हैं अतः श्रोत्रेन्द्रिय या पुरुष का धर्म नहीं है । इसलिये घट, पट, आत्मा, आकाशादि के समान शब्द विद्यमानरूप हैं एवं जैसे अंधकार से घट पट आदि ढक जाते हैं वैसे ही शब्द आवारक वायु से ढके हुये हैं । अभिव्यञ्जक वायु-प्रकट करने वाली वायु से (पुरुष के मुख के बाहर बोलते समय जो वायु निकलती है उससे) प्रकट हो जाते हैं यह कल्पना निःसार है ।

[सांख्य के द्वारा मान्य अभिव्यक्ति पक्ष का निराकरण]

इसी प्रकार से जैसे कि आपने शब्द की अभिव्यक्ति मानी है, तथैव कपिलमतानुसारी सांख्यों के यहाँ भी घटादिकों की प्रागभावरूप अभिव्यक्ति ही चक्रदण्डादि के द्वारा की जाती है, किन्तु घटादि नहीं किये जाते हैं क्योंकि वे तो पहले भी सत् रूप ही थे यह भी वर्णन करना शक्य होगा क्योंकि यहाँ आगे कहे हुये अर्थ में भी “कोई भी विशेषहेतु भेद को करने वाला नहीं है कि ताल्वादि शब्द के व्यञ्जक हैं किन्तु चक्रदण्डादि घट के व्यञ्जक नहीं हैं, कारक ही हैं ।” अर्थात् तालु आदि शब्द के व्यञ्जक ही हैं कारक नहीं हैं । पुनः चक्रदण्डादिक घट के कारक ही हैं व्यञ्जक नहीं हैं, ऐसा भेद प्रकट करने वाला कोई भी हेतु नहीं है ।

१ स्वव्यापाराणाम् । (दि० प्र०) २ एतेनावस्थाप्युक्ता इति पा० । (दि० प्र०) ३ एतेन चोद्यानिवृत्तिदूषणप्रतिपादनेनानवस्था दूषणमप्युक्तम् । तदेवाह । कारणानि चक्रादीन्यन्यव्यापारानाश्रित्य स्वव्यापारानुत्पादयन्ति । ते च व्यापाराज्यान् व्यापारान् ते चान्यान् इत्यनवस्था । (दि० प्र०) ४ कारणस्य । (दि० प्र०)



विशेषप्रसङ्गात्<sup>१</sup> । कारणव्यापाराणां<sup>२</sup> च कारणेभ्यो भेदैकान्तो वा<sup>३</sup> स्यादभेदैकान्तो वा ? तदभेदैकान्ते तद्वतोनुपयोगः, तावतेतिकर्तव्यतास्थानात् । व्यवहारिणामभिमतकार्य-संपादनमेव हीतिकर्तव्यता । तस्याः<sup>४</sup> स्थानं यदि व्यापारेभ्य एवैकान्ततो भिन्नेभ्यो भावा-द्भवेत्तदा किं 'व्यापारवतान्यत्साध्यं'<sup>५</sup>, यतस्तस्योपयोगः क्वचिदुपपद्यते<sup>६</sup> ? तद्वतो<sup>७</sup> 'व्यापा-

अथवा वे चक्रादिक घटादि के कारक हैं, पुनः तालु आदिक शब्द के कारक नहीं हैं किन्तु व्यञ्जक ही हैं । "क्योंकि व्यञ्जकव्यापार नियम से व्यञ्ज्य - व्यक्त होने योग्य को ही प्रकाशित करें, ऐसा कोई नियम नहीं है किन्तु कारण भी होते हैं ।" और ताल्वादि व्यापार नियम से शब्द को प्रकाशित करते हैं, इसीलिये ये शब्द ताल्वादि से व्यक्त होने योग्य नहीं हैं । जैसे कि चक्रादि घट को व्यक्त नहीं करते हैं, किन्तु कारणरूप होकर बताते हैं ।

मीमांसक—“हमारे यहाँ वर्ण सर्वगत हैं, अतः यह दोष नहीं आता है ।

जैन—यह कथन ठीक नहीं है ।" क्योंकि वर्ण सर्वगत हैं यह बात प्रमाण के बल से सिद्ध नहीं होती है । अन्यथा "अन्यत्र-घटादिकों में भी सर्वगतपने का प्रसंग आ जावेगा ।" हम ऐसा कह सकते हैं कि नियम से घटादिकों की चक्रादि व्यापार से उपलब्धि होती है क्योंकि सत् रूप घटादि सर्वगत हैं ।

मीमांसक—“सांख्यों को यह भी इष्ट होने से कोई दोष नहीं है ।

जैन—ऐसा नहीं कह सकते हैं क्योंकि कारणव्यापार में भी प्रश्न की निवृत्ति नहीं हो सकेगी अर्थात् केवल कारण-कार्य में प्रश्न होने ऐसी बात नहीं है किन्तु कारणव्यापार में भी प्रश्न उठाये जा सकेंगे ।"

चक्रादि कारण भी नियम से अपने व्यापाररूप भ्रमण आदि के सन्निधापक-प्रकाशक, अभिव्यञ्जक ही होंगे, क्योंकि वे सर्वगत ही हैं । इस प्रकार के प्रश्न को भी रोका नहीं जा सकेगा । "इसी कथन से ही अवस्था—आपकी व्यवस्था का खण्डन कर दिया गया है ऐसा समझना चाहिये ।" अर्थात् आपके तत्त्व की व्यवस्था न बनने से अनवस्था आ जाती है, क्योंकि भ्रमण आदिरूप अपने व्यापार को उत्पन्न करने में कारणों के भिन्न-भिन्न व्यापार कल्पित करना चाहिये, उसी प्रकार से उसके उत्पादन में भी भिन्न-भिन्न व्यापारों की कल्पना करना चाहिये, इत्यादि प्रकार से उत्पादन पक्ष में अनवस्था का प्रसंग आता है, किन्तु अपने व्यापार की अभिव्यक्ति के पक्ष में अनवस्था नहीं आती

१ इति । (दि० प्र०) २ ता । (दि० प्र०) ३ कश्चिच्चिद्भेदात्प्रयत्ने स्याद्वादानुसरणप्रसङ्गात् । (दि० प्र०) ४ परिसमाप्तिः । (दि० प्र०) ५ यत्साध्यं तद्व्यापारेणैव साधितम् । अन्यत्साध्यं किं यद्व्यापारवता साध्यते । तस्य व्यापारवतः यतः कुतः कस्मिंश्चित्कार्ये सार्थकत्वमुपपद्यतेऽपितु न कुतोऽपि । (दि० प्र०) ६ कार्ये । (दि० प्र०) ७ व्यापारवतः सकाशात्तद्व्यापाराभिन्ना इत्येकान्ताभ्युपगमे यथा मीमांसकानां शब्दादभिन्ना शब्दाभिपक्तिस्तात्वादिभिः क्रियते इति पक्षे यद्दूषणं तद्व्याख्यायति — कारणात् । (दि० प्र०) ८ कारणात् । (व्या० प्र०) ९ यथाभिप्यक्तेः शब्दादभिन्नायाः शब्दवत्सा प्रसङ्गं तथा व्यापारवतः सकाशादभिन्नानां दूषणप्रसङ्गः । (व्या० प्र०)

राणामभेदैकान्तेभिव्यक्तिवत्प्रसङ्गस्तद्वत्<sup>१</sup> इव व्यापाराणां सर्वदा सद्भावः । तेषां प्राग-  
भावे वा व्यापाराः प्रागसन्तः क्रियन्ते, न पुनस्तदव्यतिरेकिणोपि तद्वन्त<sup>२</sup> इति स्वरुचिविर-  
चित्तदर्शनप्रदर्शनमात्रम् । एतेनावस्था<sup>३</sup> प्रत्युक्ता । तद्विशेषकान्ते तद्वतोनुपयोगः, तावन्ते-  
तिकर्तव्यतास्थानात् । अभेदैकान्ते पूर्ववत्प्रसङ्गः । परिणामेऽप्येव पर्यनुयोगः । परिणा-  
मिनो बहुधानकस्य परिणामा घटादयोत्यन्तभिन्ना<sup>४</sup> वा स्युरभिन्ना वा ? कथञ्चिदभेदा-

है । अर्थात् कारककारण तो व्यापार आदि से कार्य को उत्पन्न करते हैं किन्तु व्यञ्जककारणों की उपस्थितिमात्र से ही कार्य हो जाता है, जैसे चक्रादिक के घूमने आदि व्यापार से घटरूप कार्य बनते हैं किन्तु व्यञ्जककारण दीपक आदि की सन्निधिमात्र से ही घटादि का प्रकाशनरूप कार्य हो जाता है । व्यञ्जककारण को कुछ व्यापार नहीं करना पड़ता है, क्योंकि उस कारक की सन्निधिमात्र से ही उस कार्य की सिद्धि होती है । अन्यथा व्यापाराभिव्यक्ति की सिद्धि होने से व्यञ्जक और कारक इन दोनों ही पक्ष में समानता का ही प्रसंग आ जावेगा । एवं ऐसा भी प्रश्न हो सकता है कि कारण-व्यापार सर्वथा अपने कारणों से भिन्न है या अभिन्न ? यदि एकांत से भिन्न ही स्वीकार करें, तब तो तद्वान्-व्यापारवान् कारण का कोई भी उपयोग नहीं होगा, क्योंकि उतने व्यापारमात्र से ही इतिकर्तव्यता हो जावेगी । “क्योंकि, व्यवहारी कारणों का अभिमतकार्य संपादन करना ही इति-कर्तव्यता है ।” अर्थात् कार्यपूर्ण होने तक ही कारण माने जाते हैं, पश्चात् उन कारणों की इतिश्री—समाप्ति हो जाती है ।

यदि उस इतिकर्तव्यता की स्थिति एकांततः कारण से भिन्नरूप व्यापारों से ही होवे, तब तो उस व्यापार वाले कारण के द्वारा अन्य साध्य क्या रहा कि जिससे उस व्यापारवान् कारण का कहीं पर उपयोग हो सके ? अर्थात् उसका कहीं भी उपयोग नहीं हो सकता है ।

और यदि व्यापारवान् व्यापारों से सर्वथा अभिन्न ही है, ऐसा पक्ष लेवो तब तो अभिव्यक्तिवान् का प्रसंग हो जावेगा, क्योंकि तद्वान् के समान व्यापारों का सर्वदा ही सद्भाव है ।

अथवा यदि सांख्य अतिप्रसंग दोष को दूर करने के लिये कहें कि हम उनका प्रागभाव मानते हैं, तब तो व्यापार तो प्रागभावरूप हैं और वे किये जाते हैं किन्तु तद्वान्—व्यापारवान् से अभिन्न जो कारण हैं वे नहीं किये जाते हैं । यह कथन तो केवल स्वरुचिविरचित्तदर्शन का प्रदर्शन करना मात्र ही है । इसी कारणव्यापार के निराकरणरूप कथन से ही आपकी अवस्था-व्यवस्था का खण्डन कर दिया गया समझना चाहिये । पुनः अनवस्था का ही प्रसंग आता है ।

भाषार्थ—मीमांसक वर्णों को नित्य एवं सर्वगत मानता है एवं उनकी अभिव्यक्ति का ही प्रागभाव मानता है जैनाचार्य इसी मान्यता को पुनरपि दूषित करते हैं । जैनाचार्यों ने कहा है कि सांख्यों ने भी कुंभकार के चक्र, दण्ड आदि से घट की उत्पत्ति नहीं मानी है प्रत्युत आविर्भाव—अभि-

१ कारणस्य यथा । (व्या० प्र०) २ चक्रदण्डादिपदार्थाः । (व्या० प्र०) ३ कारणस्य कार्यकारित्वम् । (व्या० प्र०)

४ प्रधानात् । (व्या० प्र०)

अथ गे स्याद्वादानुसरणप्रसङ्गात् । तत्र<sup>१</sup> परिणामानां तदभिन्नानां क्रमशो वृत्तिर्मा<sup>२</sup> भूत्, परिणामिनोऽक्रमत्वात्<sup>३</sup> । ततो भिन्नानां व्यपदेशोपि मा भूत्—प्रधानस्यैते परिणामा इति, संबन्धासिद्धेरनुपकारकत्वात्<sup>४</sup> । न हि नित्यं प्रधानं परिणामानामुपकारकं, तस्य क्रमयोग-पद्याभ्यामुपकारकत्वायोगात् । नापि परिणामेभ्यस्तस्योपकारः<sup>५</sup>, तस्य<sup>६</sup> तत्कार्यत्वेनानित्य-त्वापत्तेः । तैस्तस्योपकारेपि<sup>७</sup> सर्वं सम्भलभनवस्था<sup>८</sup> च । यावन्तो हि परिणामास्ता-

व्यक्ति ही मानी है उसी प्रकार से उनके यहाँ भी घट पट आदि कार्य सर्वगत हो जाते हैं तब भीमांसक ने कह दिया कि बाधा ही क्या है सभी रोटी, पक्वान्न, खेती, धान्य की फसल आदि रूप कार्यों को सांख्य के सिद्धान्तानुसार सर्वगत मान लो क्या बाधा है ? क्योंकि सांख्य ने सभी कार्यों का आविर्भाव माना है और पहले वे उन कार्यों का तिरोभाव मानते हैं तिरोभाव का अर्थ है मौजूद वस्तु का किसी चीज से ढक जाना एवं आविर्भाव का अर्थ है पुनः उस ढकी हुई का प्रकट हो जाना जैसे कमरे में पुस्तकों अंधकार से ढकी हैं दीपक जलते ही प्रकट हो गई इत्यादि । अथवा बादल से हटते सूर्य तिरोहित है हवा के झकोरों से बादल हटते ही सूर्य का आविर्भाव हो जाता है ।

इस पर जैनार्थियों ने कहा कि सांख्य के यहाँ जैसे चाक और दण्ड से घट प्रकट होता है उसी प्रकार से चाक का घूमनारूप व्यापार भी चाक से प्रकट हुआ ही कहो । चाक ने अपने भ्रमणरूप व्यापार को किया है ऐसा मत कहो पुनः चाक भ्रमणरूप व्यापार भी सर्वगत, नित्य हो जावेगा और सदा घट उत्पन्न होते ही रहेंगे और पूर्ववत् प्रश्न उठते ही चले जावेंगे कि चाक से उसके भ्रमणरूप व्यापार की अभिव्यक्ति उस कारणरूप चाक से भिन्न है या अभिन्न ? क्योंकि यदि चाक अपने भ्रमणरूप व्यापार को उत्पन्न करता है तब तो उस चाक, दण्ड कुंभार आदि भिन्न-भिन्न कारणों के भिन्न-भिन्न व्यापार कल्पित होंगे पुनः उसके उत्पादन में भी भिन्न-भिन्न व्यापारों की कल्पना कीजिये, अनवस्था ही आ जावेगी, किन्तु यदि चाक अपने भ्रमणरूप व्यापार को प्रकट करता है ऐसा ही मानोगे तो अनवस्था नहीं आवेगी अर्थात् कारक पक्ष में अनवस्था दुर्निवार है । अतः यदि प्रथम पक्ष लेवें कि चाक से उसका भ्रमणरूप व्यापार भिन्न है तब तो व्यापार वाले चाक का कुछ भी उपयोग नहीं रहेगा क्योंकि उस चाक से तो उसका घूमना जब बिल्कुल भिन्न ही है तब उस घूमने मात्र से ही घट बन जावेंगे पुनः चाक और दण्ड की आवश्यकता से क्या प्रयोजन सिद्ध रहेगा ? अर्थात् चाक की कोई आवश्यकता नहीं रहेगी क्योंकि कार्य पूर्ण होने कत ही कारणों की आवश्यकता रहती है किन्तु जब चाकरूपकारण से सर्वथा पृथक् ही उसका घूमनारूप व्यापार है और उसी घूमने से ही घट कार्य पूर्ण हो रहे हैं फिर सर्वथा भिन्न व्यापार वाले कारणरूप चाक से क्या होगा ? जब घूमने मात्र से ही घड़े बन रहे हैं तब चाक क्या करेगा ? अर्थात् उस चाक के लिये कोई कार्य

१ विकल्पयोर्मध्ये । (व्या० प्र०) २ प्रवृत्तिः । (दि० प्र०) ३ प्रधानस्य । (दि० प्र०) ४ कथनम् । (व्या० प्र०)

५ अभिन्नः । (व्या० प्र०) ६ परिणामिनः परिणामकार्यत्वेनानित्यत्वापत्तेः । (दि० प्र०) ७ परिणामः । (दि० प्र०)

८ भिन्ने । (दि० प्र०) ९ ततश्च । (दि० प्र०)

<sup>1</sup>वन्तस्तस्योपकारास्तत्कृतास्ततो यदि भिन्नास्तदा तस्येति व्यपदेशोपि ना भूत्, संबन्धा-  
सिद्धेरनुपकारकत्वात्<sup>2</sup> । तद्वत्तत्त्वरूपकारैरुपकारान्तरेपि<sup>3</sup> स एव पर्यनुयोग इत्यनवस्था ।

अवशेष रहा ही नहीं है । पुनः घट के लिये चाक का कोई उपयोग ही नहीं रहेगा और यदि कारणरूप चाक से उसका भ्रमणरूप व्यापार सर्वथा अभिन्न है ऐसा दूसरा पक्ष लेवोगे तब तो चाक और उसका भ्रमण ये दोनों एकमेक होकर एक ही हो जावेंगे पुनः चाकरूप कारण तो सदा विद्यमान है उसका भ्रमणरूप व्यापार भी सदैव विद्यमान ही रहेगा और घट भी सतत् बनते ही रहेंगे व्यवधान ही नहीं पड़ सकेगा । पुनः चाक से भ्रमण की अभिव्यक्ति होकर घट बना है यह कैसे कहा जा सकेगा ? यदि इन दोषों को दूर करने के लिये आप कहें कि चाक का भ्रमणरूप व्यापार तो प्रागभाव (पहले असत्) रूप है और वही किया जाता है किन्तु उस भ्रमणरूप व्यापार से अभिन्न व्यापारवान् जो कारणरूप चाक है वह नहीं किया जाता है । यह सब आपका मनगढ़ंत सिद्धान्त ही है इसमें प्रमाण से सिद्धि की कोई गुंजाइश नहीं है । अर्थात् सांख्य चाक, दण्ड आदि से घट की अभिव्यक्ति तो मान लेता है चाक से उसके भ्रमणरूप व्यापार को उत्पन्न हुआ मानता है अभिव्यक्त नहीं मानता है अतएव आचार्यों ने दूषण दिया है । अतः आपके यहाँ तत्त्वों की सुधटित व्यवस्था न होने से सर्वत्र अनवस्था-देवी का साम्राज्य हो जाता है । एवं सांख्य के मतानुसार कोई भी व्यक्ति यदि कार्य को बनाता है—उत्पन्न करता है तब तो उस व्यक्ति से नये-नये कार्य बनते-बनते अनेकों लोकाकाशों का और अभूतपूर्व कार्यों का निर्माण होते-होते कहीं पर भी समाप्ति न होने से अनवस्था ही आती है । इसी भय से ही वे सांख्य अभिव्यक्ति पक्ष लेते हैं उनका कहना है कि सभी कार्य हमेशा कारणों में विद्यमान ही हैं मात्र छिपे हुये रहते हैं, नये उत्पन्न नहीं होते हैं, मात्र कारण कलापों से प्रगट हो आया करते हैं अतः सभी कार्य कारणों से प्रकट ही होते हैं । हाँ ! व्यापार तो अपने कारणों से उत्पन्न होता है न कि प्रकट । जैसे चाक से उसका भ्रमण उत्पन्न हुआ है न कि प्रकट ।

और पुनः “उन कारण व्यापारों में विशेषकांत—भेद एकांत के स्वीकार करने पर तद्वान् (चाक) अनुपयोगी हो जावेगा, क्योंकि उतने व्यापार (भ्रमण) मात्र से “इतिकर्तव्यता” हो जावेगी और सर्वथा यदि अभेद एकांत स्वीकार करोगे तब तो पूर्ववत् अभिव्यक्तिवान् का प्रसंग हो जावेगा तथा परिणाम में भी ये ही प्रश्न होते रहेंगे ।”

हम ऐसा प्रश्न कर सकते हैं कि परिणामी बहुधानक-प्रधान के जो परिणाम घटादिक हैं, वे उससे अत्यन्त भिन्न हैं या अभिन्न ? इत्यादि । और यदि आप कथंचित्भेद का आश्रय लेंगे तब तो स्याद्वाद के अनुसरण का प्रसंग आ जावेगा और “वहाँ प्रधान से अभिन्न परिणामों की क्रमशः वृत्ति होना, मत होवे” क्योंकि आपके यहाँ परिणामी सदा सत् रूप है, अतः उसमें क्रम नहीं हो सकता है । अर्थात् प्रधान से परिणामों को सर्वथा अभिन्न मानने से सभी परिणाम घट पटादि कार्यों का क्रमशः वृत्ति होना नहीं हो सकता है, क्योंकि वह सदैव सत् रूप है । “और यदि आप कहें कि परिणामी से

1 परिणामविहिताः । (दि० प्र०) 2 परिणामिनः प्रधानस्य तैः तैः परिणामैरन्यनुपकारानाभित्योपकारः क्रियत इत्यङ्गीकारे सांख्यानां स एव प्रश्नसम्बन्धः । (दि० प्र०) 3 उपकारान्तरैरिति पा० । (दि० प्र०)

ततस्ते यद्यभिन्नास्तदा तावद्धा प्रधानं भिद्येत, ते वा प्रधानैकरूपतां<sup>१</sup> प्रतिपद्येरन् । इति प्रधानस्योपकाराणां चावस्थानासंभवादनवस्था । तस्या भोग्याभावे पुंसो<sup>२</sup> भोक्तृत्वाभावादभावः स्यात्<sup>३</sup>, तस्य तल्लक्षणत्वात् । ततः प्रकृतिपुरुषतत्त्वयोरवस्थानाभावादन-

परिणाम घटादि सर्वथा भिन्न हैं तब तो ये उस प्रधान के परिणाम हैं, ऐसा व्यपदेश भी नहीं हो सकेगा । इस प्रकार सर्वथाभिन्न पक्ष में संबंध की सिद्धि भी नहीं होगी, क्योंकि उनका कोई उपकार सम्बन्ध नहीं है ।”

तात्पर्य यह है कि नित्य प्रधान परिणामों का उपकारक नहीं माना जा सकता है क्योंकि उस प्रधान में क्रम अथवा युगपत् से उपकारकपने का अभाव है एवं परिणामों से भी उस प्रधान का उपकार संभव नहीं है, क्योंकि उस प्रधान के वे परिणाम कार्यरूप हैं, ऐसा मानने से तो प्रधान को अनित्यपने का प्रसंग प्राप्त हो जावेगा । “उन परिणामों के द्वारा उस प्रधान का उपकार मानने पर भी उपर्युक्त वाली विकल्पता अवलोक्य सि हो जावेगी एवं अनवस्था भी आ जावेगी ।”

तात्पर्य यह है कि जितने भी परिणाम हैं, वे सर्व प्रधान के उपकार हैं, क्योंकि वे प्रधान के द्वारा ही किये गये हैं, और यदि वे उससे भिन्न हैं, तब तो ये, उसके हैं, ऐसा व्यपदेश भी नहीं हो सकेगा । पुनः सम्बन्ध की सिद्धि न होने से वे अनुपकारी ही रहेंगे । यदि उपकारवान् प्रधान का उन परिणामों से उपकार मानोगे तो पुनः उन परिणामकृत उपकारों के द्वारा पुनः उपकारांतर की कल्पना करने पर यानी परस्पर में उपकार मानने पर भी वे ही प्रश्न होते चले जावेंगे । इस प्रकार से अनवस्था दोष आ ही जावेगा ।

यदि वे परिणाम उस प्रधान से अभिन्न हैं, तब तो जितने प्रकार के परिणाम हैं, उतने ही भेदरूप प्रधान हो जावेगा । अथवा वे परिणाम प्रधानस्वरूप एकरूप को प्राप्त हो जावेंगे । इसीलिये प्रधान और उसके उपकारों का अवस्थान न होने से अनवस्था दोष आ ही जावेगा । तथा च उस अनवस्था से भोग्यरूप प्रकृति का अभाव हो जाने से पुरुष में भोक्तृत्व का अभाव हो जावेगा । इस प्रकार पुरुष का ही अभाव हो जावेगा क्योंकि आप सांख्यों ने तो पुरुष का लक्षण भोक्तृत्व माना है और लक्षण के अभाव में लक्ष्य टिक नहीं सकता है । अतएव प्रकृति और पुरुषरूप तत्त्व की व्यवस्था न होने से अनवस्था दोष ही आवेगा । इसीलिये कपिलमत का अनुसरण करके भी अशेषरूप से प्रधानात्मक घटादिकों में भी शब्द के समान अभिव्यङ्ग्यत्व—अभिव्यक्त होने योग्य की कल्पना करना युक्त नहीं है, क्योंकि सर्वदा प्रागभाव का अपन्हव करने पर कार्यद्रव्य के समान उस अभिव्यक्ति को भी अनादिपने का प्रसंग आ जावेगा, अर्थात् सभी ही कार्यों की सदा ही अभिव्यक्ति (प्रकटता) बनी ही रहेगी, जैसे कि प्रागभाव का लोप करने पर पृथ्वी आदि कार्यद्रव्य को अनादित्व का दोष दिया है, वही अभिव्यक्ति पक्ष में भी आ जावेगा ।

**विशेषार्थ—**सांख्य ने प्रधान के दो भेद माने हैं एक व्यक्त, दूसरा अव्यक्त । व्यक्तप्रधान कार्य-

१ सह । (व्या० प्र०) प्रधानस्योपकाराणाञ्चानवस्थायां सत्यं प्रकृतिर्महदादेर्भोग्यस्याभावे सति पुरुषस्य भोक्तृत्वाभावः स्यात् । कुतः पुंसः भोक्तृत्वलक्षणत्वात् । (दि० प्र०) २ कुतः । (व्या० प्र०) ३ हेतुगर्भितं विशेषणम् । (व्या० प्र०)

वस्था । इति न कपिलमतानुसरणेनापि<sup>१</sup> प्रधानात्मनामशेषतो<sup>२</sup> घटादीनामपि<sup>३</sup> शब्दवदभिव्यञ्ज्यत्वं युक्तं कल्पयितुं सर्वदा<sup>४</sup> प्रागभावापह्नवे<sup>५</sup> तदभिव्यक्तेरप्यनादित्वप्रसङ्गात्कार्यद्रव्यवत् ।

रूप, अनित्य, अव्यापी, क्रियावान्, अवयव सहित, अनेक, त्रिगुण—सत्त्व, रजतम गुणोंकर सहित इत्यादि है । इनसे विपरीत नित्य, अकार्यरूप, व्यापी, निष्क्रिय इत्यादिरूप अव्यक्तप्रधान है । जैसे कि हम जैनों के यहाँ पुद्गल के दो भेद हैं अणु एवं स्कन्ध । प्रायः अणु के सदृश शुद्ध इनका अव्यक्त प्रधान है अंतर इतना है कि हम अणु को भी क्रियाशील, एक, प्रदेशी, सावयव—षट्कोण मानते हैं और वे व्यापी, सर्वथा नित्य, निष्क्रिय मानते हैं तथा स्कन्ध तो विकार-विभाव पर्यायरूप है ही है । हमारे यहाँ स्कन्ध में भी महास्कन्ध आदि भेद प्रभेद पाये जाते हैं । सांख्य व्यक्तप्रधान से ही बुद्धि, अहंकार, तन्मात्रा आदिरूप से सृष्टि की उत्पत्ति मानते हैं उनके यहाँ प्रकृति कर्त्री है पुरुष कुछ भी कर्ता नहीं है बस पुरुष उस प्रकृति के द्वारा किये गये कार्यों का भोक्ता अवश्य है ।

सांख्य घटादि कार्यों को प्रधान के परिणाम (विकार) मानता है । इस पर आचार्य प्रश्न करते हैं कि वे घटादि प्रधान से भिन्न हैं या अभिन्न ? यदि भिन्न चाहें जावे तो वे घटादि इस प्रधान के हैं ऐसा कैसे कहेंगे क्योंकि सांख्यों ने कोई समवायसम्बन्ध तो माना नहीं है । एवं प्रधान तो नित्य निरवयव है उसके कार्य घटादि होने से वह अनित्य अवयवसहित इत्यादि दोषों से भी दूषित हो जावेगा । यदि घटादि उस प्रधान का कुछ उपकार करें या प्रधान उन घटादिकों का कुछ उपकार करे तब तो उपकार-उपकार्यसम्बन्ध होने से भी सर्वथा नित्यपक्ष बाधित होता है । कार्यकारण सम्बन्ध तो आपके यहाँ शक्य नहीं है । आप सांख्य सत्कार्यवादी हैं जब कारण में कार्य विद्यमान ही रहता है तब यह इस कारण का कार्य है यह अंकुर इस बीज से हुआ है इत्यादि कथन ही व्यर्थ है । तथा यदि आप कहें कि प्रधान से घटादि परिणामरूप कार्य सर्वथा अभिन्न हैं तब तो विश्व में जितने भी कार्य घट, पट, मनुष्य, तिर्यच आदि हैं वे सब प्रधानात्मक ही हैं, अतः जितने भी कार्य हैं उतने ही प्रधान के भी भेद हो जावेंगे किन्तु आपने प्रधान को एक ही माना है या तो वे सब कार्य अनन्तरूप न होकर एक प्रधानरूप होकर ही रह जावेंगे इत्यादि रूप से दूषण ही आते जावेंगे और सबसे बड़ा अनर्थ तो यह होगा कि इस प्रकार से आपके यहाँ प्रधान और उसके कार्यों की व्यवस्था न बनने से उसका भोक्ता पुरुष भी सिद्ध नहीं हो सकेगा क्योंकि जब भोगने योग्य प्रकृति ही नहीं रहेगी तब उसका भोक्ता पुरुष भी अपने अस्तित्व से समाप्त हो जावेगा क्योंकि पुरुष का लक्षण भोक्तृत्व है । लक्षण के अभाव में लक्ष्य वस्तु टिक नहीं सकती है । इसलिये आप सांख्य भी चाक दण्ड आदि से घटादि कार्यों की उत्पत्ति ही मान लो अभिव्यक्तिपक्ष में तो दूषण ही दूषण आ रहे हैं और उत्पत्तिपक्ष में गुणः प्रागभाव भी सिद्ध ही हो जावेगा । यदि आप प्रागभाव को न मानेंगे तो सभी कार्य अनादि-काल से विद्यमान ही रहेंगे सभी मिट्टी में घट का अस्तित्व बना ही रहेगा ।

१ मीमांसकानाम् । (व्या० प्र०) २ रूपाणां बसः । (व्या० प्र०) ३ मीमांसकमतानुसारेण यथा शब्दस्याभिव्यञ्ज्यत्वं युक्तं न किन्तुत्पाद्यत्वम् । (दि० प्र०) ४ अभिव्यक्तौ बाधन्यथा । उत्पत्त्युत्तरकालमिव प्रागपि । (व्या० प्र०) ५ घटादि । (दि० प्र०)

[ सांख्येन कार्यस्यास्वीकारे जैनार्थाः तत् साधयन्ति ]

‘ननु कार्यद्रव्यमसिद्धं कापिलानां, <sup>२</sup>कथमनादिग्रन्थकारेणापाद्यते<sup>३</sup> इति चेत्प्रमाणबलात्-  
कार्यत्वं द्रव्यस्यापाद्य <sup>४</sup>तथाभिधानाददोषः । कथं कार्यत्वमापाद्यते <sup>५</sup>प्रागभावानभ्युपगम-  
वादिनं प्रतीति चेत्, कार्यं घटादिकम्, अपेक्षितपरव्यापारत्वात्, यत्तु न कार्यं तन्न <sup>६</sup>तथा दृष्टं

[ सांख्य कार्यद्रव्य को नहीं मानता है उस पर विचार ]

सांख्य—हम सांख्यों के यहाँ तो कार्यद्रव्य ही असिद्ध है, पुनः ग्रन्थकार उसमें अनादिरूप दोष का आपादन—प्रतिपादन क्यों करते हैं ?

जैन—ऐसा नहीं है, क्योंकि प्रमाण के बल से द्रव्य में कार्यपने का आपादन (प्रतिपादन) करके उस प्रकार से कथन किया गया है, अतः कोई दोष नहीं है ।

सांख्य—प्रागभाव को नहीं स्वीकार करने वाले वादियों के प्रति आप कार्यत्व का आपादन क्यों करते हैं ?

जैन—यदि आप ऐसा प्रश्न करते हैं, तो उसे हम अनुमानप्रमाण से सिद्ध करते हैं । “घटादि पदार्थ कार्यरूप हैं क्योंकि वे परव्यापार की अपेक्षा रखते हैं । जो कार्य नहीं हैं, वे उस प्रकार पर के व्यापार की अपेक्षा रखते हुये नहीं देखे जाते हैं, जैसे आकाश और घटादिक उस प्रकार के हैं इसीलिये वे कार्य हैं ।” इस अनुमान से कार्यद्रव्य की सिद्धि हो जाती है । यदि आप कहें कि इसमें साधन—पर-व्यापारापेक्षित्व हेतु असिद्ध है, सो भी ठीक नहीं है, क्योंकि वे घटादिक कादाचित्क—कभी-कभी होते हैं और वे घटादि यदि परव्यापार की अपेक्षा नहीं रखेंगे, तो उनमें कादाचित्कपने का विरोध आ जावेगा । जैसे कि आकाश में परव्यापार की अपेक्षा न होने से कादाचित्क—अनित्यत्व का विरोध है । अर्थात् आकाश नित्य होने से परव्यापार की अपेक्षा नहीं रखता है, अतः वह कभी-कभी होवे ऐसा तो है नहीं, वह हमेशा ही विद्यमान रहता है ।

सांख्य—उन घटादिकों का आविर्भाव कादाचित्क है और वह आविर्भाव ही परव्यापार की अपेक्षा रखता है न कि घटादिक पदार्थ ।

जैन—यह आविर्भाव क्या चीज है ?

सांख्य—प्राक् अनुपलब्ध घटादिकों का चक्रदण्डादिक व्यञ्जनकव्यापार से उपलब्ध होना ही आविर्भाव है ।

१ सांख्यः । (दि० प्र०) २ कार्यद्रव्यम् । (दि० प्र०) ३ श्रीसमन्तभद्रस्वामिना । (दि० प्र०) ४ अपाद्यत इति तथा इति पा० । (दि० प्र०) ५ सांख्यमीमांसादिकम् । (दि० प्र०) ६ अपेक्षित परव्यापारम् । (दि० प्र०)

यथा गगनं, तथा च घटादिकं, तस्मात्कार्यमित्यनुमानात् । न चात्रासिद्धं साधनं कादाचित्कत्वात्, तस्यानपेक्षितपरव्यापारत्वे कादाचित्कत्वविरोधादाकाशवत् । <sup>१</sup>तदाविर्भावस्य कादाचित्कत्वादपेक्षितपरव्यापारत्वं, न तु घटादेरिति चेत् कोयमाविर्भावो नाम ? <sup>२</sup>प्रागनुपलब्धस्य व्यञ्जकव्यापारादुपलम्भ<sup>३</sup> इति चेत् स <sup>४</sup>तर्हि प्रागसन् कारणः क्रियते, न पुनर्घटादिरिति स्वरुचिवचनमात्रम् । अथ तस्यापि <sup>५</sup>प्राक्तिरोहितस्य<sup>६</sup> सत् एव <sup>७</sup>कारणैरा-

जैन—तब तो वह आविर्भाव पहले असत् रूप होता हुआ दण्ड चक्रादि कारणों से किया जाता है, किन्तु घटादिक नहीं किये जाते हैं, जो कि आविर्भाव से अभिन्न ही है, अतएव आपका यह कथन स्वरुचिवचनमात्र है । अर्थात् केवल इच्छानुसार ही कथन है न कि वास्तविक ।

यदि आप कहें कि वह आविर्भाव भी जो कि पहले तिरोहित था एवं सत् रूप था, वही कारणों के द्वारा आविर्भावान्तर—भिन्न आविर्भावरूप स्वीकार किया गया है तब तो उस आविर्भावान्तर में अन्य आविर्भाव की कल्पना एवं उसमें अन्य की कल्पनारूप आविर्भावों की कल्पनायें करने से अनवस्था आ जावेगी । पुनः कदाचित् भी घटादि का आविर्भाव नहीं हो सकेगा ।

सांख्य—आविर्भाव तो उपलब्धिरूप है और उसमें तद्रूप—उपलब्धिरूप भिन्न आविर्भाव की अपेक्षा नहीं है । जैसे कि प्रकाश प्रकाशान्तर की अपेक्षा नहीं करता है इसीलिये अनवस्थादोष नहीं आता है ।

जैन—तब तो आप सांख्यों को उस आविर्भाव का आत्मलाभ—उत्पन्न होना कारण से ही मानना चाहिये । पुनः कार्य ही आविर्भावरूप सिद्ध हो गया, न कि व्यक्त होने योग्य पदार्थ । उसी प्रकार से घटादिक भी कार्य ही हैं, न कि व्यञ्जकरूप, क्योंकि अपनी उत्पत्ति में परव्यापार की अपेक्षा उनमें समान ही है । एवं जिसने आत्मलाभ प्राप्त नहीं किया है, उसकी उपलब्धि करना भी शक्य नहीं है अन्यथा सर्वतः अतिप्रसंग दोष आ जावेगा । अर्थात् शशबिषाण की उपलब्धि का प्रसंग हो जावेगा । अतएव प्रधान के परिणामरूप से भी स्वीकार किये गये जो घटादिक हैं, वे कार्यद्रव्य कहे जाते हैं । और उनके प्रागभाव का अपह्नव करने पर उनमें अनादिपने का प्रसंग आ जाता है । पुनः कारण-व्यापार भी अनर्थक सिद्ध हो जाता है अतएव हमने जो यह दूषण दिया है वह ठीक ही है ।

अथवा पहिले तिरोभाव को स्वीकार करने पर वह तिरोभाव ही प्रागभाव सिद्ध हो जाता है और उस प्रागभाव को ही तिरोभाव ऐसा भिन्न नाम करने पर दोष का अभाव ही है, जैसे कि उत्पाद का आविर्भाव यह भिन्न नामकरण किया है । अर्थात् घट होने से पहले मिट्टी में घट का तिरोभाव है, ऐसा यदि आप कहते हैं तब तो वह तिरोभाव ही प्रागभाव है नाममात्र का भेद है । अतएव

१ घटादि । (दि० प्र०) २ घटादेः । (दि० प्र०) ३ आत्मलाभः । (दि० प्र०) ४ उपलम्भः । (दि० प्र०)

५ आविर्भावात् । (दि० प्र०) ६ स्या० हे सांख्य घटादेः प्रादुर्भावः तिरोहितः सोऽत्र क्षण एव कारणः क्रियमाण आविर्भावान्तरमपेक्षते नापेक्षते वेति विचारो नापेक्षत इति पक्षः सांख्यैर्नाभ्युपगम्यते । अपेक्षते चेत्तदा सोऽप्याविर्भावोऽन्यमाविर्भावमपेक्षते सोऽप्यन्यं सोऽप्यन्यमित्याद्यतवस्थापादनं स्यात् तस्यां सत्यां न कदाचिद् घटादेराविर्भावः स्यात्तिरोभाव एव । तथा नास्ति लोके । (दि० प्र०) ७ उपलम्भः । (दि० प्र०)



विर्भावान्तरमिष्यते<sup>१</sup> तर्हि तस्याप्यन्यत्तस्याप्यन्यदाविर्भावनमित्यनवस्यानात्र कदाचिद् घटादे-  
राविर्भावः स्यात् । अथाविर्भावस्योपलम्भरूपस्य तद्रूपाविर्भावान्तरानपेक्षत्वात् प्रकाशस्य  
प्रकाशान्तरानपेक्षत्ववन्नानवस्थेति चेत्<sup>२</sup> तर्हि तस्य कारणादात्मलाभोभ्युपगन्तव्यः, ततः  
कार्यमाविर्भाव इति । तद्वद्घटादिकमपि, अपेक्षितपरव्यापारत्वाविशेषादात्मलाभे । न  
ह्यलब्धात्मलाभस्योपलम्भः<sup>३</sup> शक्यः कर्तुं, सर्वथातिप्रसङ्गात् ।<sup>४</sup> तदेवं प्रधानपरिणामतयापीष्टं  
घटादिकं कार्यद्रव्यमापाद्यते । तस्य च प्रागभावापह्नवेऽनादित्वप्रसङ्गात्कारणव्यापारानर्थक्यं  
स्यादिति सूक्तं दूषणम् ।<sup>५</sup> प्राप्तिरोभावस्योपगमे वा स एव प्रागभावः सिद्धः, तस्य<sup>६</sup> तिरो-  
भाव इति नामान्तरकरणे<sup>७</sup> दोषाभावादुत्पादस्याविर्भाव इति नामान्तरकरणवत् । ततो न

मीमांसक को सांख्यमत का अनुसरण करना युक्त नहीं है, क्योंकि शब्द में सर्वथा प्रागभाव को स्वीकार न करने पर उस शब्द को अनादिपने का प्रसंग आता है, तथा पुरुषव्यापार भी अनर्थक ही सिद्ध होता है इस बात का समर्थन कर दिया ।

**भावार्थ—**सांख्य कहता है कि जब हम कार्यद्रव्य ही नहीं मानते हैं तब वे कार्यद्रव्य अनादि हो जावेंगे यह आरोप हमारे ऊपर कैसे आ सकेगा क्योंकि “मूलाभावे कुतो शाखाः” जब जड़ ही नहीं है तब उसमें शाखायें कहाँ से आवेंगी ? “ङुक्कुञ्करणे” कृ धातु से कार्य शब्द निष्पन्न हुआ है अर्थात् ‘यत्कारणैः क्रियते तत्कार्यं’ जो कारणों के द्वारा किया जावे—बनाया जावे वही तो कार्य है और हम तो कारणसामग्री से पदार्थ का प्रकट होना ही मानते हैं न कि उत्पन्न होना ।

इस पर जैनान्तर्यामि कहते हैं कि जो आप सांख्य कारणों में कार्य का हमेशा विद्यमानरूप अस्तित्व मानकर उसकी प्रकटता मानते हो वह सर्वथा असम्भव है क्योंकि जब हमें कारणों में कार्य, बीज में वृक्ष, मिट्टी में घड़ा विद्यमानरूप कभी दीखे और कभी तिरोहित हो जावे फिर दिख जावे तब तो उसकी प्रकटता मानना ठीक भी है जैसे सूर्य का बादलों से तिरोहित होना एवं बादल हटते ही प्रकट होना इत्यादि दृष्टिगत होते रहते हैं तथैव आपके यहाँ तो दिखता नहीं है । दूसरी बात यह है कि कार्य का लक्षण अनुमान आदि से भी आपके यहाँ सिद्ध है अर्थात् जो परव्यापार की अपेक्षा रखता है वह कार्य है जैसे घट, पट आदि पदार्थ अपने स्वरूपलाभ में पर-कुम्भार, चाक, दण्ड एवं जुलाहा आदि की अपेक्षा रखते ही हैं अतः ये कार्य ही हैं । इसलिये आपको भी कार्य तो स्वीकार करना ही पड़ेगा और उसका प्रागभाव नहीं मानोगे तो वे कार्य अनादिकाल से विद्यमानरूप ही मानने पड़ेंगे । एवं आपने जो कहा है कि मिट्टी में घट तिरोहित है वही तो प्रागभाव है आप तो वस्तु जो है वह मान भी

१ सांख्यैः । (दि० प्र०) २ उपलम्भरूपाविर्भावस्य । (दि० प्र०) ३ उपलम्भादिलक्षणप्रादुर्भावादेर्वस्तुनः । (दि० प्र०)

४ का = अभ्युपगमे । (दि० प्र०) ५ कार्यस्य । (व्या० प्र०) ६ प्रागभावस्य । (दि० प्र०) ७ घटादेः कार्यत्वाभाव-लक्षण । (दि० प्र०)

मीमांसकस्य सांख्यमतानुसरणं युक्तं सर्वथा<sup>१</sup> शब्दस्य<sup>२</sup> प्रागभावानभ्युपगमेऽनादित्वप्रसङ्गात् पुरुषव्यापारानर्थक्यस्य समर्थनात् ।

[ मीमांसकाभिमतशब्दस्यावारकवायोनिराकरणं ]

तथा विनाशानभ्युपगमे<sup>३</sup> तस्य किंकृतमश्रवणम् ?<sup>४</sup> स्वावरणकृतमिति<sup>५</sup> चेन्नैतत्सारं, तदात्मानमखण्डयतः<sup>६</sup> कस्यचिदावरणत्वायोगात् । तिरोधायकस्य कस्यचिद्वायुविशेषस्य

लेते हैं किन्तु हम लोगों के पारिभाषिक नामों से डर जाते हैं । आप तिरोभाव को प्रागभाव कह दीजिये एवं आविर्भाव को उत्पाद कह दीजिये बाधा क्या है ?

मीमांसकाभिमत शब्द की आवारक वायु का खण्डन ।

“उसी प्रकार से शब्द का विनाश स्वीकार न करने पर उस शब्द का अश्रवण=स्वभाव—सुनाई न देना, किसने किया ? अर्थात् किसके द्वारा रोका गया है ?” यदि आप कहें कि अपने-अपने आवरण ने किया, तो यह भी कथन सारभूत नहीं है [क्योंकि हम ऐसा प्रश्न कर सकते हैं, कि वह अश्रवणरूप-आवरण शब्द के श्रवणस्वरूप का खण्डन करता हुआ आवरण करता है कि खण्डन न करता हुआ ही आवरण करता है ? यदि आप कहें कि—]

“वह शब्द का आवरण अपने शब्द के स्वरूप का खण्डन न करते हुये आवरण करता है तब तो किसी में भी आवरण नहीं हो सकता है ।”

तिरोधायक—आवारक कोई वायु विशेष है, जो कि शब्द के स्वरूप का खण्डन करते हुये ही उसमें आवरण कर देती है, ऐसा मानने पर तो उसमें आवरणत्व और अश्रवणत्वरूप से स्वभाव भेद का प्रसंग आ जाता है, क्योंकि “आवृत और अनावृत इन दोनों स्वभावों में अभेद नहीं हो सकता है । अथवा आवृत और अनावृत स्वभाव में यदि अभेद है, तो शब्द में श्रुति या अश्रुतिरूप एकान्त का प्रसंग आ जावेगा । अर्थात् या तो सभी शब्द सुनाई ही देंगे या सभी नहीं सुनाई देंगे ।”

१ द्रव्यरूपेणैव पर्यायरूपेणापि । (व्या० प्र०) २ यथा शब्दस्य प्रागभावानभ्युपगमेऽनादित्वं पुरुषव्यापारानर्थक्यञ्च प्रसजति तथा विनाशानभ्युपगमे शब्दस्यानाकर्णं न केन कृतम् । (दि० प्र०) ३ प्रवृत्तः । (व्या० प्र०) ४ किं कृतमश्रवणं स्वावरणं कृतमिति पाठः । (दि० प्र०) ५ मी० केनचिद्वायुविशेषेण स्वावरणेन कृतमिति चेत्—स्या० मीमांसकस्य एतद्वचः सारं न । कुतः । आवरणं शब्दस्वरूपमभिदत् मिदद्वा प्रवर्तते इति विकल्पः । यदा शब्दात्मानं न खण्डयति तदा कस्यचिद्वायुविशेषस्यावारकत्वं न घटते । यदा तु शब्दात्मानं खण्डयति तदा आच्छादकस्य कस्यचिद्वायुविशेषस्यावारकत्वे सति शब्दस्य श्रवणलक्षणनित्यस्वभावो विनश्यतीति दूषणं स्यात् । कुतः आवृतानावृतस्वभावयोर्भेद एवोत्पद्यते यतः । —मी० तयोर्भेद एवेति चेत् । स्या० तयोर्भेदे सति शब्दस्य सर्वथाश्रवणमेव प्रसज्येत् । अश्रवणमेव वा तदा पुरुषव्यापारात् प्राक् शब्दस्याश्रवणमिति भेदो नोपपद्यते । तथा नास्ति लोके । (दि० प्र०) ६ शब्दात्मानम् । (दि० प्र०)

शब्दात्मानं<sup>१</sup> खण्डयत एवावरणत्वे<sup>२</sup> स्वभावभेदप्रसङ्गः, आवृतानावृतस्वभावयोर भवानुपपत्तेः । तयोरभेदे वा शब्दस्य श्रुतिरश्रुतिर्वैत्येकान्तः प्रसज्येत, पुरुषव्यापारात्पूर्वमश्रुतिस्तदनन्तरं श्रुतिरिति विभागानुपपत्तेः ।

सर्वथा उन दोनों में अभेद स्वीकार करने पर पुरुषव्यापार के पहले "नहीं सुनाई देना" और उसके अनन्तर "सुनाई देना" इस प्रकार विभाग नहीं बन सकेगा क्योंकि वे दोनों शब्द और श्रवण अभिन्न हैं ।

विशेषार्थ—मीमांसक शब्दों को सर्वथा नित्य एवं व्यापी तो मान ही रहा है । उस पर जैनाचार्यों ने प्रश्न किया है कि पुनः वे शब्द प्रतिक्षण सुनाई क्यों नहीं देते हैं ? तब उसने कहा कि शब्दों पर आवरण करने वाली कोई वायु विशेष है जिससे कि वे सुनाई नहीं देते हैं और जब उन शब्दों की अभिव्यञ्जक—प्रकट करने वाली वायु आती है तब सुनाई देने लगते हैं । इस अभिव्यञ्जक—प्रकटकरनेवाली वायु के विषय में प्रमेयरत्नमाला में कहा है कि "वक्तृमुखनिकटदेशवर्तिभिः स्पर्शनाध्यक्षेण व्यञ्जका वायवो गृह्यन्ते । दूरदेशस्थितेन मुखसमीपस्थिततूलचलनादनुमीयन्ते । श्रोतृश्रोत्रदेशे शब्दश्रवणादन्यथानुपपत्तेरथापित्यापि निश्चीयन्ते । अर्थात् शब्द या वणं बोले जाते हैं तब उनकी अभिव्यञ्जक वायु को वक्ता के मुख के समीप बैठे हुये पुरुष स्पर्शन इंद्रिय के विषयभूत प्रत्यक्ष से ग्रहण करते हैं । वक्ता से दूर बैठे हुये पुरुष वक्ता के मुख के समीप स्थित वस्त्रादि के हिलने से उसका अनुमान कर लेते हैं । तथा श्रोता के कर्ण प्रदेश में शब्द का श्रवण अन्यथा हो नहीं सकता, इस अर्थापत्ति के द्वारा भी उनका निश्चय किया जाता है ।" तात्पर्य यह है कि आवारकवायु तो शब्दों को ढके रखती है अतः वे प्रतिक्षण सुनाई नहीं देते हैं और जब वक्ता के मुख से तालु आदि कारणों से शब्द निकलते हैं तब एक अभिव्यञ्जक वायु ही उन शब्दों को प्रकट करती है और उस वायु का अनुभव तो सभी को हो जाता है मुख के पास कपड़ा रखने से हिलने लगता है । जैसे सूर्य पर बादल आते हैं और तीव्र हवा के झोंकों से फट जाते हैं उसी प्रकार से आवारकवायु से शब्द ढके रहते हैं, अभिव्यञ्जकवायु से प्रकट होते रहते हैं, किन्तु जैनाचार्य सूर्य के समान शब्द को प्रकटरूप मानने को तैयार नहीं हैं उनका कहना है कि शब्दवर्गणार्थं यद्यपि विश्व में ठसाठस भरी है फिर भी पुरुष के प्रयत्न से ही अक्षरात्मक होकर उत्पन्न होती हैं । अर्थात् शब्द पुद्गलद्रव्यरूप से तो नित्य हैं किन्तु पर्यायरूप से उत्पन्न-ध्वंसी हैं यह बात सिद्ध हो जाती है क्योंकि अपने पुरुषप्रयत्न के द्वारा शब्द अपने पूर्व के न सुनाई देनेरूप स्वभाव को छोड़ते हैं उसको व्यय कहा जाता है एवं उत्तर के सुनाई देनेरूप स्वभाव को ग्रहण करते हैं उसी का नाम उत्पाद है तथा दोनों अवस्थाओं में पुद्गलत्वरूप से वे शब्द धीव्यरूप भी हैं यह स्याद्वाद प्रक्रिया है, किन्तु एकांतवादी मीमांसकों के यहाँ शब्द का तिरोधायकवायु से आवृत (ढके) होकर सुनाई न देना और पुनः अभिव्यञ्जकवायु से अनावृत (प्रकट) होकर सुनाई देना, इस प्रकार शब्द में दो स्वभाव मानना असम्भव है । यदि मानेंगे तो एकांत से शब्द नित्य नहीं रहकर अनित्य ही सिद्ध हो जावेंगे ।

[ आवारकवायुना शब्दस्वभावखण्डनं न भवतीति मान्यतायां विचारः क्रियते जैनाचार्यः ]

स्यान्मतं, यथा<sup>1</sup> घटादेरात्मानमखण्डयत्तमस्तस्यावरणं तथा शब्दस्यापीति<sup>2</sup>, तदसत्<sup>3</sup>, तस्यापि 'तेनात्मखण्डनोपगमात्'<sup>4</sup>, दृश्यस्वभावस्य 'खण्डनात्तमसस्तदावरणत्वसिद्धेः'<sup>5</sup> सर्वस्य परिणामित्वसाधनात् । तमसापि<sup>6</sup> घटादेरखण्डने<sup>7</sup> पूर्ववदुपलब्धिः किन्तु भवितुमर्हति, तस्य<sup>10</sup> <sup>11</sup>तेनोपलभ्यतयाप्यखण्डनात्<sup>12</sup> । ननु च पुरुषव्यापारात्प्राक् पश्चाच्च शब्दस्याखण्डित-

[ शब्द की आवारकवायु से स्वभाव का खण्डन नहीं होता है, इस पर विचार किया जाता है । ]

**मीमांसक**—जिस प्रकार से अंधकार घटादिक के स्वरूप का खण्डन न करते हुये उनका आवरण करता है उसी प्रकार से ही कोई तिरोधायक (ढकने वाली) वायु शब्द के स्वरूप का खण्डन न करते हुये ही उस पर आवरण करती है ।

**जैन**—यह कथन भी असत्य ही है । उसमें भी (घट में भी) उसके द्वारा (अंधकार के द्वारा) स्वरूप का खण्डन स्वीकार किया गया है । घट में दृश्यस्वभाव का खण्डन करने से ही अंधकार के आवरणपना सिद्ध है, क्योंकि सभी पदार्थ परिणामी हैं हम ऐसा सिद्ध करते हैं ।

**भावार्थ** अंधकार यदि घटादिक के दृश्यस्वभाव—दिखनेयोग्य अवस्थाविशेष का खण्डन करता है तब तो पश्चात् भी दीप के द्वारा कैसे दिख सकता है । ऐसी शंका के होने पर आचार्य उसका निराकरण करते हैं, कि अभाव भावान्तर स्वभाववाला है । जैसे कि दीपक के बुझने पर अंधकार का होना यह प्रकाश का अभाव है और वह भावान्तररूप ही है, मतलब जैसे प्रकाश पुद्गल की पर्याय थी वैसे ही अंधकार भी पुद्गल की ही पर्याय है, अतः हमारे यहाँ अभाव भावान्तररूप ही है न कि सर्वथा शून्य—तुच्छाभावरूप, क्योंकि हमारे यहाँ सभी पदार्थ परिणमनशील माने हैं और वे एक-परिणाम (पर्याय) को छोड़कर दूसरी पर्यायरूप परिणमन कर जाते हैं । इसी का नाम व्यय एवं उत्पाद है तथा पदार्थ दोनों अवस्थाओं में ध्रौव्यरूप से बना रहता है, इसीलिये वह परिणामी है और पर्यायें उसके परिणाम हैं ।

“यदि अंधकार से भी घटादि के स्वरूप का खण्डन नहीं मानोगे तब तो पूर्ववत् उसकी उपलब्धि क्यों नहीं होती ?” क्योंकि उस घट का उस अंधकार ने उपलभ्यता—प्राप्त होने योग्य स्वभाव से भी खण्डन नहीं किया है ।

1 मी० यथा तमो घटादेः स्वरूपं न खण्डयति परन्तु तस्यावारकं भवति । तथा वायुविशेषोपि शब्दस्वरूपं न खण्डयति आवारको भवतीति चेत् । (दि० प्र०) 2 आत्मानमखण्डयन् वायुविशेषस्तस्यावरणम् । (दि० प्र०) 3 स्याद्वादी । (दि० प्र०) 4 स्वरूपम् । (दि० प्र०) 5 स्याद्वादिभिः । (दि० प्र०) 6 नाशनात् । (व्या० प्र०) 7 कुतः । (व्या० प्र०) 8 न केवलं शब्दस्य वायुना । (व्या० प्र०) 9 दृश्यस्वभावतया । (व्या० प्र०) 10 घटादेः । (दि० प्र०) 11 न केवलं घटरूपेण । (व्या० प्र०) 12 दृश्यत्वेन । (दि० प्र०)

स्वभावत्वेऽपि नैकान्ततः श्रुतिः, सहकारिकारणापेक्षत्वात्, स्वविज्ञानोत्पादने<sup>२</sup> तदश्रुतेरपि तद्वैकल्ये संभवादिति चेत् तर्हि किमयं शब्दः स्वविषयसंवित्तिकरणे<sup>३</sup> समर्थोऽसमर्थो वा ? स्वसंवित्त्युत्पत्तौ<sup>४</sup> कारणान्तरापेक्षा मा भूत् तत्करणसमर्थस्य<sup>५</sup> । अन्यथा<sup>६</sup> स्वयमसमर्थस्य<sup>७</sup> सहकारीन्द्रियमनोभिव्यञ्जक<sup>८</sup> व्यापारलक्षणं<sup>९</sup> किमस्यासामर्थ्यं खण्डयत्याहोस्विन्नेति पक्षद्वितयम्<sup>१०</sup> । <sup>११</sup>तवसामर्थ्यमखण्डयदकिञ्चित्करं<sup>१२</sup> किं सहकारिकारणं

**मीमांसक**—पुरुष व्यापार से पहले और पश्चात् शब्द में श्रावणत्वरूप अखण्डितस्वभाव के होने पर भी एकांततः उनका सुनना नहीं हो सकता है क्योंकि उन शब्दों को सहकारी तात्वादिकारणों की अपेक्षा रहती है और अपने विज्ञान का उत्पादन करने में उन सहकारीकारणों की विकलता के होने पर उन शब्दों का श्रवण—सुनाई देना नहीं भी होता है ।

**जैन**—यदि ऐसी बात है तब तो हम आप से प्रश्न करते हैं कि यह शब्द स्वविषय—स्वयं अपना—शब्द का ज्ञान करने में समर्थ है या असमर्थ ? यदि समर्थ पक्ष लेते हो तब तो “उस स्वविषय—स्वयं अणन्त ज्ञान करने में समर्थ ऐसे शब्द को स्वसंवित्ति की उत्पत्ति में कारणान्तर—तात्वादि की अपेक्षा मत होवे । अन्यथा” —यदि कहो कि शब्द स्वयं अपनी संवित्ति को करने में असमर्थ हैं, तब तो सहकारी इन्द्रिय और मन जो कि अभिव्यञ्जक व्यापार लक्षण हैं, वे सहकारी कारण इस शब्द की असामर्थ्य का खण्डन करते हैं या खण्डन नहीं करते हैं ? इस प्रकार से ये दो पक्ष आपके सामने रखे गये हैं ।

“यदि वे सहकारी कारण उसकी असामर्थ्य का खण्डन नहीं करते हैं तब तो वे अकिञ्चित्कर होने से क्या सहकारी कारण कहे जा सकते हैं ? अर्थात् नहीं कहे जा सकते हैं । अथवा यदि आप कहें कि उस असामर्थ्य का खण्डन करते हैं, तब तो स्वभाव की हानि (नाश) हो जावेगी, क्योंकि वह उसका स्वभाव उससे अभिन्न है । यदि आप कहें कि उस शब्द का स्वभाव उससे भिन्न है, तब तो यह उसकी है ऐसा व्यपदेश नहीं हो सकेगा । अर्थात् शब्द का उसकी असामर्थ्य के साथ भेद होने पर ‘शब्द की यह असामर्थ्य है’, ऐसा व्यपदेश नहीं हो सकेगा । और इस प्रकार से पूर्ववत्—प्रधान और उसके परिणाम के भेद के पक्ष के समान ही सभी दोष उपस्थित हो जावेंगे” क्योंकि शब्द और उसकी असामर्थ्य में परस्पर अनुपकारकपणा—उपकार न करना समान ही है । अर्थात् जैसे प्रधान और

1 मी० आह । शब्दोन्मित्यमखण्डितस्वभावो भवतु तथापि शब्दस्य श्रवणमेव इत्येकान्तो न । कुतः श्रुतेः स्वकीयज्ञानोत्पादन आश्रयविगमलक्षणसहकारिकारणापेक्षत्वात् । पुनस्तद्वैकल्ये सहकारिकारणरहिते सति शब्दस्याश्रुतेरपि घटनात् । इति चेत् । (दि० प्र०) 2 तथाप्येकान्ते न श्रुतिः कुतो न भवेदित्यत आह । (व्या० प्र०) 3 तात्वादि । (दि० प्र०) 4 वसः । परिच्छित्ति । (दि० प्र०) 5 स्वसंवित्तिकरणे समर्थः शब्दश्चेत् । तस्य स्वसंवित्त्युत्पादने सहकारिकारणापेक्षा मा भवतु । असमर्थः स्वयं चेत्तदाऽपेक्षा भवतु । (दि० प्र०) 6 असमर्थश्चेत् । (दि० प्र०) 7 श्रोत्रम् । द्वन्द्वः । (दि० प्र०) 8 तात्वादि । (दि० प्र०) 9 तेषाम् । (दि० प्र०) 10 कर्तृ । (दि० प्र०) 11 शब्दः । (दि० प्र०) 12 असामर्थ्याखण्डनादेव किञ्चित्करं सहकारि । (दि० प्र०)

स्यात् ? तत्खण्डने<sup>१</sup> वा 'स्वभावहानिरध्यतिरेकात्'<sup>३</sup> । व्यतिरेके व्यपदेशानुपपत्तिः । इति<sup>४</sup> पूर्ववत्सर्वं, शब्दासामर्थ्ययोः परस्परमनुपकारकत्वाविशेषात् । शब्दस्य हि तदसामर्थ्येनोपकारः क्रियमाणस्तस्मादभिन्नश्चेत्<sup>५</sup> स एव<sup>६</sup> कृतः स्यादिति तन्नित्यत्वहानिः । भिन्न-

उसके परिणाम से सर्वथा भेद मानने पर उपकारकपना नहीं घटता है, वैसे ही यहाँ समझना चाहिये ।

शब्द में उस असामर्थ्य से किया जाता हुआ उपकार उस शब्द से अभिन्न है या भिन्न ? यदि अभिन्न मानो तब तो वह शब्द ही किया गया ऐसा सिद्ध होने से उस शब्द में नित्यत्व की हानि का प्रसंग आ जाता है और यदि भिन्न मानों, तब तो सम्बन्ध की सिद्धि नहीं होती है, क्योंकि उस भिन्न असामर्थ्य के द्वारा उस शब्द का कुछ उपकार नहीं हो सकता है । अथवा उस उपकार में भिन्न उपकार की कल्पना करो तब तो वे प्रश्न पुनः पुनः होने से अनवस्था आती है । जैसे कि प्रधान और उसके परिणामों में सर्वथा भेदपक्ष स्वीकार करने पर आती सी ।

भावार्थ—मीमांसक के प्रति जैनाचार्यों ने जब यह दोषारोपण किया कि शब्द पहले सुनाई नहीं देनेरूप स्वभाव वाले हैं पश्चात् पुरुष के ताल्वादिप्रयत्न से सुनाई देने लगते हैं अतः अनित्य भी हैं और कृतक भी हैं । तब मीमांसक ने जैनों को समझाया कि भाई ! शब्द में पुरुषव्यापार के पहले और पश्चात् व वर्तमान में भी सुनाई देनेरूप स्वभाव अखण्डितरूप से विद्यमान है । फिर भी सहकारीकारण सामग्री के बिना अर्थात् पुरुषप्रयत्न के बिना वे सुनाई नहीं देते हैं । दूसरी बात यह भी है कि वे शब्द अपने ज्ञान को उत्पन्न कराने में भी सहकारी कारणों की अपेक्षा रखते हैं । अतः जब सहकारीकारण मिलते हैं, पुरुष का ताल्वादिव्यापार होता है तभी वे शब्द सुनाई देते हैं और ज्ञान को भी उत्पन्न करा देते हैं ।

इस पर जैनाचार्य कहते हैं कि यदि आप ऐसा ही मानते हैं तो हम आपसे प्रश्न करते हैं कि ये शब्द स्वयं अपना ज्ञान करने में समर्थ हैं या नहीं ? यदि समर्थ कहो तब तो अपना ज्ञान करने में इन शब्दों को सहकारी कारणों की अपेक्षा नहीं रही । यदि कहो कि ये शब्द स्वयं का ज्ञान करने में स्वयं असमर्थ हैं । तब तो यह बताओ कि शब्द को प्रकट करने वाले जो सहकारी कारण इन्द्रिय और मन हैं वे सहकारी कारण इस शब्द की अपने को न जाननेरूप असमर्थता का खण्डन—निवारण करते हैं या नहीं ? यदि असमर्थता को नहीं हटाते हैं तब ये सहकारीकारण व्यर्थ ही हुये और यदि शब्द के अपना ज्ञान न करनेरूप असमर्थता को हटाकर समर्थता लाते हैं तब तो वे शब्द एक स्वभाव वाले कहाँ रहे ? उनमें सहकारी कारण के निमित्त से ही अपने को जानने की सामर्थ्य प्रकट हुई है पहले तो थी नहीं । अतः शब्द अनित्य सिद्ध हो गये क्योंकि शब्द का स्व को जाननेरूप स्वभाव शब्द से अभिन्न

१ सहकारिकारणं शब्दाऽसामर्थ्यं खण्डयतीति पक्षे शब्दस्य स्वभावहानिः स्यात् । कुतः शब्दादसामर्थ्यस्य भिन्नत्वात् ।

(दि० प्र०) २ शब्दसामर्थ्यलक्षणम् । (दि० प्र०) ३ शब्दात् स्वभावस्य । (दि० प्र०) ४ एतत् । (दि० प्र०)

५ शब्दात् । (दि० प्र०) ६ शब्द एव कृतः न लूनकार इति शब्दस्य नित्यत्वं हीयते । (दि० प्र०)

श्चेत्सम्बन्धासिद्धिः, अनुपकारात् । तदुपकारान्तरे वा स एव पर्यनुयोग इत्यनवस्था प्रधान-  
तत्परिणामव्यतिरेकपक्षवत्<sup>१</sup> ।

[ वर्णानां नित्यसर्वगतताभ्युपगमे सदैव श्रुतिरश्रुतिर्वा भविष्यति यतः क्रमशः श्रुतिविरुद्धैव ]

किञ्च वर्णाः सर्वे नित्यसर्वगतास्तद्विपरीता<sup>२</sup> वा ? न तावद्द्वितीयः पक्षोऽनभ्युपग-  
मात् । प्रथमपक्षे तु वर्णानां व्यापित्वान्नित्यत्वाच्च क्रमश्रुतिरनुपपन्नैव, देशकालकृतक्रमा-  
संभवात् ।<sup>३</sup> तदभिव्यक्तिप्रतिनियमात्तेषां<sup>४</sup> क्रमश्रुतिरिति चेन्न, अस्मिन्नपि पक्षे समानकर-  
णानां तादृशमभिव्यक्तिनियमायोगात् सर्वत्र सधंदा सर्वेषां संकुला श्रुतिः स्यात् ।

ही तो है । यदि आप उस स्वभाव को शब्द से भिन्न कहो तब वह असमर्थ स्वभाव इस शब्द का है यह सम्बन्ध करना भी असम्भव है । यदि उपकार्य—उपकारकसम्बन्ध मानों तो भी शब्द में उस असमर्थता से होने वाला उपकार उससे भिन्न है या अभिन्न ? इत्यादि प्रश्नों से आपका सिद्धान्त टिक नहीं सकेगा क्योंकि उपकारक को उपकार्य से सर्वथा भिन्न कहने पर 'यह उसका उपकार इस पर है' ऐसा कहना सम्भव नहीं है एवं अभिन्नपक्ष में तब तो उपकार से वह शब्द ही किया जावेगा पुनः नित्यपक्ष समाप्त हो जावेगा इत्यादि । मतलब यही निकलता है कि शब्द के उपादानकारण पुद्गल तो नित्य हैं किन्तु तात्वादिसहकारी—निमित्तकारणों से उनकी शब्द पर्याय से परिणति होकर उत्पत्ति होती है अतः वे पर्यायदृष्टि से अनित्य हैं ऐसा मानना चाहिये ।

[ सभी वर्णों को नित्य एवं सर्वगत मानने पर या तो वे सदा ही सुनाई देंगे या कभी भी नहीं सुनाई देंगे, क्योंकि क्रम से सुनने का विरोध आता है ]

दूसरी बात यह है कि सभी वर्ण नित्य, सर्वगत हैं, अथवा उससे विपरीत हैं ? आप मीमांसक दूसरा पक्ष तो ले नहीं सकते, क्योंकि आपने वैसा अनित्य एवं असर्वगत वर्णों को माना ही नहीं है और यदि प्रथमपक्ष स्वीकार करें तो "सभी वर्ण व्यापी एवं नित्य हैं अतः उनकी क्रम से श्रुति—सुनना नहीं बन सकेगा ।" क्योंकि सर्वथा नित्य एवं व्यापी शब्दों में देश और काल से होने वाला क्रम सम्भव नहीं है ।

मीमांसक—उन शब्दों का अभिव्यक्तिरूप प्रतिनियम पाया जाता है । इसीलिये उनका क्रम से सुनना बन सकता है । अर्थात् 'गौ' शब्द के बोलने पर पहले 'गकार' शब्द सुना जाता है अनन्तर 'औकार' शब्द सुना जाता है, एक साथ नहीं सुना जाता है । अतएव क्रमशः अभिव्यक्ति होने से ही सुनने का क्रम भी बन जाता है ।

जैन—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि इस पक्ष में भी नित्य एवं सर्वगत शब्दों में "सभी के श्रोत्रेन्द्रियरूप करण समान ही होते हैं, अतः उन नित्य और सर्वगत शब्दों की अभिव्यक्ति का नियम

। सांख्यमते । (दि० प्र०) २ श्रोत्र । (दि० प्र०) ३ अनित्याऽसर्वगतावेति विकल्पद्वयम् । (दि० प्र०) ४ वर्णानाम् । (दि० प्र०)

समानं हि करणं वर्णानां श्रुती श्रोत्रं, नीलपीतादीनां रूपविशेषाणां दृष्टौ चक्षुर्वत् । तत्तस्तेषामेकव्यञ्जकव्यापारेपि समानदेशकालानां कथमभिव्यक्तिनियमो<sup>१</sup> नीलादिवत् ? क्वचिदेकत्रैकदापि च सर्ववर्णाभिव्यक्तौ<sup>२</sup> सर्वत्र सर्वदाभिव्यक्तिस्तेषां, स्वरूपेणाभिव्यक्तत्वात्, तत्स्वरूपस्य च व्यापिनित्यत्वात् । खण्डशस्तदभिव्यक्तौ<sup>३</sup> वर्णानां व्यक्तेतराकारभेदाद्भेदप्रसक्तेः

नहीं बन सकता है । पुनः सर्वत्र सर्वदा सभी ही शब्दों का संकुल—संकीर्ण (मिश्रित) रूप से हो सुनता हो जावेगा ।” अर्थात् शब्द श्रोत्रेन्द्रिय के द्वारा ही ग्रहण किये जाते हैं । इसीलिये सभी शब्दों का श्रोत्ररूपकारण समान ही है एवं शब्द सर्वथा नित्य और सर्वगत हैं, पुनः उनकी अभिव्यक्ति का नियम न हो सकने से सभी काल में सभी देश में सभी शब्द एक साथ ही मिश्रित—कलकलरूप से सबको सुनाई देने लगेंगे । पुनः शब्दरूप ही सारा जगत् बन जावेगा और कुछ भी व्यापार नहीं दीख सकेगा । बस शब्द ब्रह्मरूप ही मान्यता सिद्ध हो जावेगी क्योंकि वर्णों के सुनने में श्रोत्रेन्द्रिय यह सभी के लिये समानरूप से ही करण है । अर्थात् सभी जन कर्ण से ही शब्दों को सुनते हैं, ऐसा नहीं है कि कोई चक्षु, घ्राण आदि से शब्दों को सुन लेंगे ।

अतएव सभी के लिये शब्द को सुनने में श्रोत्रेन्द्रिय समान ही है । जैसे कि नील पीतादिरूप विशेष को देखने में चक्षुइन्द्रिय सभी के लिये समानरूप कारण है । इसीलिये उन शब्दों में एक व्यञ्जकव्यापार के होने पर भी समान देश और काल में होने वाले शब्दों की अभिव्यक्ति का नियम कैसे बनेगा नीलादि के समान ? अर्थात् जैसे चित्ररूप को ग्रहण करने में मनुष्य नीलादि वर्णों को एक साथ ही ग्रहण करता है । तथैव शब्द नित्य होने से सर्वकाल में मौजूद हैं और उनका श्रोत्रेन्द्रिय देश सभी को समान ही है, अतएव एक वर्ण की अभिव्यक्ति होने पर सभी वर्णों की अभिव्यक्ति भी एक साथ ही हो जावेगी और कहीं एक जगह एक काल में भी सभी वर्णों की अभिव्यक्ति हो जाने पर सर्वत्र सभी काल में उन वर्णों की अभिव्यक्ति बनी ही रहेगी, क्योंकि वे शब्द स्वरूप से अभिव्यक्त ही हैं और उन शब्दों का स्वरूप तो व्यापी एवं नित्य माना गया है । अर्थात् शब्द तो स्वरूप से ही अभिव्यक्तरूप, व्यापी और नित्य हैं, पुनः सदा ही सुनाई देते रहेंगे और यदि सर्वत्र खण्ड-खण्ड रूप से उन वर्णों की अभिव्यक्ति मानों, तब तो वर्ण में व्यक्त और अव्यक्तरूप आकार भेद से उन वर्णों में भेद का प्रसंग प्राप्त होने से प्रत्येक में अनेकत्व की आपत्ति आती है, अथवा सभी वर्ण एकानेकात्मकरूप हो जावेंगे । अर्थात् उन वर्णों में वर्णपने से एकरूपता और व्यक्त तथा अव्यक्तरूप से अनेकरूपता आ जावेगी ।

यदि आप कहें कि खण्ड-खण्डरूप से अभिव्यक्ति नहीं होती है किंतु सर्वात्मकरूप से ही होती है, तब तो सभी देशकालवर्ती प्राणियों के प्रति उन वर्णों की अभिव्यक्तता हो जावेगी । पुनः सर्वत्र

१ नैव । (व्या० प्र०) २ उक्तप्रकारेणैकानेकात्मकत्वप्रसंगः । वर्णत्वेनैकात्मकत्वम् । व्यक्ताव्यक्तरूपेणैकात्मकात्मम् । (दि० प्र०) ३ आह मीमा० हे स्याद्वादिन् ! वर्णानामभिव्यक्तिः खण्डरूपेणास्तीति चेत् । स्या० एवञ्च सत्यां येनांशेन वर्णानामभिव्यक्तिस्तेनांशेन वर्णाव्यक्ता इतरांशेनाव्यक्ता एवं वर्णानां भेदः प्रसजति । (दि० प्र०)



प्रत्येकमनेकत्वापत्तिरेकानेकात्मकत्वप्रसङ्गो जा । सर्वस्मिन्नाभिव्यक्तौ सर्वदेशकालवर्त्तिप्राणिनः ।  
प्रति तेषामभिव्यक्तत्वात् कथं सर्वत्र सर्वदा सर्वेषां संकुला श्रुतिर्न स्याद्यतः कलकलमात्रं न  
भवेत् ।

[ अधुना मीमांसकाः जैनाभिमतशब्दानामुत्पत्तिपक्षेऽपि दोषानारोपयन्तीति तान्निराकुर्वन्ति जैनाः ]

ननु<sup>२</sup> <sup>३</sup>समानोपादानकारणानामभिन्नदेशकालानां <sup>४</sup>समानकारणानामुत्पत्तावपि <sup>५</sup>तद्देश-  
कालवर्त्तिसकलपुरुषाणामविकलसहकारिणां<sup>६</sup> कथं न संकुला श्रुतिः स्यात्, क्रमश्रुतिर्वा न

सभी काल में सभी वर्णों का एक साथ मिश्रितरूप से सुनना क्यों नहीं होगा कि जिससे कल-कल मात्र ही न हो जावे ? अर्थात् सारा जगत कल-कल ध्वनिरूप ही हो जावेगा ।

भावार्थ—आचार्यों ने दो विकल्प उठाये हैं कि वे नित्य और व्यापी वर्ण सर्वत्र खण्ड-खण्डरूप से उपलब्ध होते हैं या सर्वात्मकरूप से ? यदि प्रथमपक्ष लेवें तो वर्ण व्यक्त और अव्यक्तरूप भेद स्वभाव हो जाने से वर्ण एक स्वभाव वाले नहीं रहते हैं । यदि द्वितीयपक्ष लेवें तो सभी देश कालवर्ती प्राणियों को सर्वदा सभी जगह सभी शब्द सुनने में आने लगेंगे तब तो कलकलमात्र ही हो जावेगा । पुनः उस कलकल में यह समझ ही नहीं पड़ेगा कि कौन क्या कह रहा है ? तब तो बहुत बड़ी आपत्ति आ जावेगी । सभी के सभी काम रुक जावेंगे । और सभी एक दूसरे का मुंह देखते रह जावेंगे ।

[ मीमांसकों के द्वारा जैनाभिमत शब्दों की उत्पत्ति पक्ष में भी दोषारोपण ]

मीमांसक—तब तो आप जैनियों के यहाँ उत्पत्तिपक्ष में भी समानरूप उपादानकारण वाले अभिन्नदेश और अभिन्नकालवर्ती एवं समान बाह्यकारणसहित शब्दों के उत्पन्न होने में उस देश, कालवर्ती सभी पुरुषों को जिनको कि सभी सहकारी कारण मिल चुके हैं, उन पुरुषों को भी शब्दों का मिश्रितरूप सुनना क्यों नहीं होगा अथवा क्रम से सुनने का विरोध क्यों नहीं होगा ?

भावार्थ—जैनाचार्य शब्द को अनित्य मानते हैं एवं उत्पत्तिमान् मानते हैं तथा मीमांसक के नित्यपक्ष में दूषण देते हैं । उस पर मीमांसक भी उन्हीं जैनों द्वारा दिये गये दूषणों को जैनियों के उत्पत्तिपक्ष में भी लगाना चाहते हैं वे कहते हैं कि सभी शब्दों का उपादानकारण पौद्गलिक शब्दवर्गणायें हैं और इसीलिये समान उपादानकारण होने से इन वर्णों का देश काल भी अभिन्न है अर्थात् ककार का उपादान जहाँ है वहीं पर गकार, चकार आदि का उपादान मौजूद है । और बाह्यकारण भी-तात्वादि सभी के समान हैं । जिन्हें सभी अविकलरूप—पूर्णतया सहकारीकारण मिल चुके हैं ऐसे सकलदेश, कालवर्ती सभी मनुष्यों को उपर्युक्तलक्षण शब्द की उत्पत्ति मानने पर भी

१ ईप् । (दि० प्र०) २ आह मी० हे स्याद्वादिन् ! भवन्मतेऽपीदृशां वर्णानां संकुला श्रुतिः कथं न स्यात् इत्यादयोः समानं दूषणम् । (दि० प्र०) ३ शब्दपुद्गलरूपं येषाम् । (दि० प्र०) ४ शब्दानाम् । (दि० प्र०) ५ विवक्षित । (दि० प्र०) ६ इन्द्रियादि बसः । (दि० प्र०)

विरुध्येत ? इति चेदत्रोच्यते, 'वक्तृश्रोतृविज्ञानयोस्तत्कारणकार्ययोः क्रमवृत्तिमपेक्ष्य परिणामिनां क्रमोत्पत्तिप्रतिपत्त्योर्न किञ्चिद्विरुद्धं पश्यामः । समानेपि हि शब्दानामारम्भकपुद्गले तद्देशकालवर्तिसिन्युपादाने सहकारिणि च बहिरङ्गे ताल्वादिकरणे<sup>२</sup> वक्तृविज्ञानस्य वर्णोत्पत्तौ सहकारिकारणस्याऽऽन्तरस्य क्रममपेक्ष्य क्रमोत्पत्तौ परिणामिनां न किञ्चिद्विरुद्धं<sup>३</sup> पश्यामः, <sup>४</sup>कारणक्रमानुविधायित्वात्सर्वत्र<sup>५</sup> 'कार्यक्रमस्य, शश्वदपरिणामिनामेव<sup>६</sup> तथाविरोधदर्शनात् । नापि<sup>७</sup> श्रोतृविज्ञानस्य शब्दकार्यस्य क्रममपेक्ष्य वर्णक्रमप्रतिपत्तौ किञ्चिद्विरुद्धं<sup>८</sup> पश्यामः, प्रमाणक्रमानुविधायित्वात्तत्फलभूतप्रमितिक्रमस्य सततमपरिणामिनामेवात्मना<sup>१०</sup> <sup>११</sup>तद्विरोधनि-

सभी शब्दों की उत्पत्ति एक साथ हो जाने से सभी के कान में कलकल ध्वनि हो जावेगी अथवा क्रम-क्रम से भी सुनना नहीं बन सकेगा इत्यादि ।

आगे आचार्य इसका समाधान कर रहे हैं—

जैन—“शब्द हैं कारण कार्य जिसमें ऐसे वक्ता और श्रोता के विज्ञान में क्रमवृत्ति की अपेक्षा करके शब्दलक्षण पर्याय से परिणत जो परिणामी-पुद्गल हैं, उनकी क्रम से उत्पत्ति और प्रतिपत्ति के होने में हमें कुछ भी विरोध नहीं दिखता है ।”

शब्दों के आरम्भक पुद्गल जो कि तद्देश = कालवर्तीरूप से उपादानकारण हैं उनके समान होने पर एवं ताल्वादि बहिरंग सहकारीकारण के समान होने पर भी वर्ण की उत्पत्ति में वक्ता का विज्ञान सहकारीकारण है और उसके अंतर से क्रम की अपेक्षा करके परिणामी शब्दों की क्रम से उत्पत्ति मानने पर किञ्चित् भी विरोध नहीं आता है क्योंकि सभी जगह सभी कार्यक्रम अपने कारण-क्रम का अनुसरण करते ही हैं । तथा शश्वद—हमेशा नित्यरूप अपरिणामीवस्तु में ही क्रम से उत्पत्ति का विरोध देखा जाता है ।

और जो शब्द का कार्यभूत श्रोता का विज्ञान है, उसमें भी क्रम की अपेक्षा करके वर्णों का क्रम-क्रम से ज्ञान होने में कुछ भी विरोध नहीं दिखता, क्योंकि प्रमाण की फलभूत प्रमिति का क्रम उस श्रोतृ विज्ञानरूप प्रमाण का अनुसरण करने वाला है । सदैव ही जो स्वरूप से अपरिणामी नित्य है, उन्हीं में उपर्युक्त विरोध पाया जाता है । अर्थात् श्रोता को शाब्दिक ज्ञान जैसे-जैसे होता जाता है वैसे-वैसे ही शब्दों के अर्थ का जानना रूप फल क्रम से ही हो जाता है । शब्दों में ही यह विशेषता है और इसीलिये हम स्याद्वादियों के यहाँ मिश्रितरूप शब्दों के सुनने का प्रसंग नहीं आता है

१ ता । (दि० प्र०) २ कारणे इति पा० । (दि० प्र०), स्थाने । (दि० प्र०) ३ क्रमोत्पत्तिरूपम् । (व्या० प्र०)

४ वक्तृविज्ञानलक्षणसहकारि । (व्या० प्र०) ५ अर्बे । (व्या० प्र०) ६ शब्दपर्यायलक्षण । (व्या० प्र०) ७ नित्यार्थि-

नाम् । (व्या० प्र०) ८ जप्तिपक्षे दूषणं निराकरोति जैनः । (व्या० प्र०) ९ वयं स्याद्वादिनः । (दि० प्र०) १० पदार्थि-

नाम् । (दि० प्र०) ११ क्रमः । (दि० प्र०)

णंयात् । तत्र संकुला श्रुतिः स्याद्वादिनां प्रसज्येत<sup>१</sup> । सर्वगतानामेष क्रमो दुष्करः स्यात् । ततः क्रमोत्पत्तिप्रतिपत्त्योरन्यथानुपपत्त्या<sup>२</sup> न सर्वगता वर्णा, नापि नित्याः प्रत्येतव्याः ।

“क्योंकि शब्दों को सर्वगत मानने में ही यह क्रम दुष्कर है ।”

अतएव क्रमोत्पत्ति और प्रतिपत्ति की अन्यथानुपपत्ति होने से वर्ण सर्वगत नहीं हैं और नित्य भी नहीं हैं, ऐसा समझना चाहिये ।

भावार्थ—मीमांसक का कहना है कि शब्दों के बनाने वाले पुद्गल उपादानरूप से सभी पुरुषों के लिये समान हैं एवं ताल्वादि सहकारीकारण भी समान हैं और सभी श्रोताओं के श्रोत्रेन्द्रिय भी शब्द सुनने के लिये समान हैं अतः या तो सभी शब्द एक साथ उत्पन्न होकर सभी श्रोताजनों को एक साथ सुनाई देने लगें या तो क्रम से भी न सुनाई दें । इस पर जैनाचार्य कहते हैं कि यद्यपि शब्द के आरम्भक पुद्गलरूप उपादानकारण एवं वक्ता और श्रोता के ताल्वादिव्यापार और श्रोत्रेन्द्रियरूप सहकारीकारण सर्वत्र समान हैं फिर भी युगपत् सुनने का दोष क्यों नहीं आता है ? सो सुनो ! वर्णों की उत्पत्ति में वक्ता पुरुष के मतिश्रुतज्ञानावरण और वीर्यतिराय कर्म का क्षयोपशमरूप विज्ञान सहकारीकारण एक और है उसके बिना शब्द उत्पन्न नहीं हो सकते हैं । अतः ‘क्षयोपशमज्ञानरूप अंतरंगनिमित्त और ताल्वादिव्यापाररूप बहिरंग निमित्त’ इन दोनों निमित्तों से ही शब्दरूप कार्य उत्पन्न होता है । जैसे कि उपादान रूप जीवात्मा सर्वकाल में विद्यमान है और अंतरंग निमित्त (सहकारीकारण) मनुष्यमति, मनुष्य आयु आदि कर्मों का उदय एवं बहिरंगकारण माता-पिता के रजोवीर्य से बना हुआ पौद्गलिक पिंडरूप शरीर है । जब अंतरंग-बहिरंग दोनों ही निमित्त-कारण मिलते हैं तब उपादानरूप जीवात्मा मनुष्य पर्याय को धारण कर सकता है अन्यथा नहीं । उसी प्रकार से श्रोता का भी ज्ञानावरण का क्षयोपशमविशेषरूप विज्ञान जैसे-जैसे प्रगट होता है वैसे-वैसे ही उस श्रोता को भी क्रम-क्रम से ही वर्णों का ज्ञान होता है । यदि श्रोता के श्रुतज्ञानावरण का क्षयोपशम नहीं है तो वक्ता कितना ही बकता रहे श्रोता के पल्ले उसका कुछ अर्थ नहीं पड़ता है अथवा नींद लेने लगता है या उठकर चल देता है । अतएव एक-एक वर्ण, पद, वाक्यों के भी क्षयोपशमविशेष से ही क्रम-क्रम से वक्ता के शब्दों से या द्रव्यश्रुतरूप अचेतन जिनवाणी के लिखित वर्णों से श्रोता को ज्ञान होता है, अन्यथा नहीं होता है । यदि ग्रंथ के एक श्लोक या एक पद का क्षयोपशमज्ञान नहीं है तो उसका भी ज्ञान श्रोता को होना असंभव है । यहाँ इस बात पर ध्यान अवश्य रखना चाहिये कि श्रोता-जीवात्मा के भाग्य की कल्पना उचित है किन्तु शब्दों के भाग्य की कल्पना उचित नहीं है क्योंकि शब्द अचेतन हैं । अतः तात्पर्य यह निकला कि वक्ता और श्रोता का श्रुतज्ञानावरण का क्षयोपशमविशेषज्ञान सहकारीकारण है और वह क्रम-क्रम से होता हुआ क्रम-क्रम से वर्णों की उत्पत्ति और प्रतिपत्ति—ज्ञान कराता है इसमें बाधा नहीं है ।

१ आशंका । (दि० प्र०) २ अन्यथा प्रतिपत्त्या का पाठ० । (दि० प्र०)

[ मीमांसकावर्णनित्यत्वसाधने प्रत्यभिज्ञानहेतुं दर्शयति तद्धेतोर्व्यभिचारं दर्शयति जैनाः ]

ननु च नित्या वर्णाः, <sup>१</sup>प्रत्यभिज्ञानादात्मादिवदिति<sup>२</sup> चेत् क्षणिकेष्वेव <sup>३</sup>करणाङ्गहारा-  
दिषु<sup>४</sup> <sup>५</sup>प्रत्यभिज्ञानादिरुद्धो<sup>६</sup> हेतुः । एतेन बुद्धिमिध्यंभिचारी च हेतुस्तः, बुद्धिकर्मभ्यां व्यभि-  
चार इत्यभिधानात् । ननु बुद्धिकर्मणोरपि नित्यत्वोपगमात्त्रयं दोषः, ते <sup>७</sup>अपि नित्ये इति  
वचनात्, तथोपगमे विरोधाभावादिति चेत् तत्क्रियैकत्वेपि<sup>८</sup> <sup>९</sup>किमिदानीमनेकं स्यात्<sup>१०</sup> ?

[ मीमांसक वर्णों को नित्य सिद्ध करने में प्रत्यभिज्ञान हेतु देते हैं, जैनाचार्य उस हेतु  
को व्यभिचारी सिद्ध करते हैं ]

मीमांसक—“वर्ण नित्य हैं क्योंकि उनका प्रत्यभिज्ञान होता है आत्मादि के समान ।”

जैन—करण अंगहार—अंग विक्षेप आदि क्षणिक में भी प्रत्यभिज्ञान होता है अतः आपका हेतु  
विरुद्ध है । तथा च इस प्रकार हेतु में विरुद्धपना के आने से यह हेतु बुद्धि के साथ व्यभिचारी भी है,  
क्योंकि बुद्धि का भी प्रत्यभिज्ञान होता है । अतः “बुद्धि और कर्म के द्वारा इस प्रत्यभिज्ञान हेतु में  
व्यभिचार होता है” ऐसा हमारे यहाँ कथन है ।

शंका—बुद्धि और कर्म—क्रिया को भी नित्यरूप स्वीकार करने से यह दोष नहीं आता है  
“ते अपि नित्ये” ऐसा वचन पाया जाता है । अतएव उस प्रकार से स्वीकार करने में विरोध का  
अभाव ही है ।

१ प्रत्यभिज्ञायमानत्वात् । (दि० प्र०) २ आदिशब्देन कालदिगाकाशादयः । (दि० प्र०) ३ हस्तपादसमायोगं करणं  
मुनयोऽवदन् । करणद्वितयेनात्र मात्रिका परिभाष्यते ॥१॥ षड्भिः सप्तभिरष्टाभिर्नवभिर्वा यथा रुचिः, करणैरंगहार-  
स्थात्तदुद्देशोऽधुनोच्यते । ननु च अंगहारादयोऽक्षणिका एव ततश्च व्यभिचारः कथमित्याशङ्क्य योजनीयमंगहारोऽंग-  
विक्षेपपताकादिहस्ताभिः नय इत्यर्थः । (दि० प्र०) ४ अत्राह स्याद्वादी । हे मीमांसक ! तव वर्णानां नित्यत्वाभ्युपगमे  
एकत्वाभ्युपगमे च प्रत्यभिज्ञानादिति हेतुः क्षणिकेषु करणांगहारादिषु प्रवर्तमानत्वाद् व्यभिचारी अस्माभिरुच्यते ।  
त्वया बुद्धिकर्मणोरपि एकत्वमंगीक्रियते यदि तदास्माभिरुच्यते बुद्धिविक्रिययोरेकत्वेपि सर्वमेकं प्रतिपत्तव्यं त्वया  
मीमांसकेन । (दि० प्र०) ५ आदिशब्देन हंसपक्षविकुट्टितादि परिग्रहः । तथा च तदग्रन्थः । ऊर्ध्वं कनीयसी यस्मिन्-  
गुणः कुञ्चितो मनाक् । जेषाः प्रसारिताः श्लिष्टाः सहस्तोर्हंसपक्षकः । स्थित्वा चाङ्घ्रिस्तलाग्रेण भूमिपाङ्ग्या विकु-  
ञ्चते । विकुट्टिताभिधः प्रोक्तपादो नृत्यविशारदः । मीमांसक आह । सर्वस्यैकत्वाभ्युपगमेऽस्माकं को दोषः । स्यात्  
आह । यद्येवं तर्हि सर्वेषामकारादिवर्णानामेकत्वप्रसङ्गः । इति धूपणं स्यात् । मीमांसक वर्णानां नानात्वमेवेति चेन्न ।  
स्याद्वादी । वर्णानां नानास्वभावत्वमेव । तात्वाच्च अभिव्यञ्जकभेदान् । यथा चन्द्रस्येति वक्तुं शक्यं । तथा च वद-  
चिद्वर्णैकत्वे प्रत्यक्षविरोधे सति अन्यत्र बुद्धिविक्रिययोरेकत्वाभ्युपगमे तदाविरोधः कुतस्तत्रापि विरोध एव । (दि० प्र०)  
६ स एवायमंगहार इत्यत्र क्षणिकत्वेपि प्रत्यभिज्ञानं वर्तते ततो हेतोर्विरुद्धत्वम् । (दि० प्र०) ७ बुद्धिकर्मणी ।  
(दि० प्र०) ८ यदि विक्रियैकत्वं तर्ह्यनेकं किम् । (दि० प्र०) ९ वस्तु । तर्हि । नित्ये । (दि० प्र०) १० नैव ।  
(दि० प्र०)

तथा बुद्ध्येकत्वेऽपि न किञ्चिदनेकं स्यादित्यपि प्रतिपत्तव्यं, 'सर्ववर्णकत्वप्रसङ्गात् । शक्यं हि वस्तुन्, अभिव्यञ्जकभेदाद्वैश्वरूप्यं जलचन्द्रवत् । क्वचित्प्रत्यक्षविरोधे तदन्यत्राप्यविरोधः कुतः<sup>२</sup> ? यथैव हि नानादेशजलप्रतिबिम्बितस्य चन्द्रस्यानेकत्वप्रतीतावपि परमार्थतश्चन्द्रैकत्वं तथैव नानादेशव्यञ्जकभेदादकारादिवर्णनानात्वप्रतीतावपि वर्णकत्वमिति वदतः<sup>४</sup> कः प्रतीघातः ? प्रत्यक्षविरोधो वर्णकत्ववचने<sup>५</sup> स्यान्न पुनः क्रियाद्येकत्ववचने याज्ञिकस्येति कुतो विभागः सिध्येत् ? ततो वर्णाद्वैतमनिच्छता न करणाङ्गहारादिक्रियैका वक्तव्या, येन शब्दस्य

समाधान—उस क्रिया के एकपने (नित्यत्व) के होने पर भी क्या इस समय उसी में अनेकपना (अनित्यत्व) हो सकता है ? अर्थात् नर्तकी की अंगविक्षेप भ्रूविशेष आदि क्रियायें एक और नित्य हैं, पुनः अनेकरूप और अनित्य-क्षण-क्षण में बदलने वाली कैसे हो सकेंगी ? और उसी प्रकार से बुद्धि में भी एकपना के होने पर कुछ भी अनेक—अनित्यरूप नहीं हो सकेगा, ऐसा भी समझना चाहिये । अर्थात् इस प्रकार से बुद्धि और क्रिया को एकरूप मानने पर वर्णों में अनेकपना न रहने से शब्दाद्वैत ही सिद्ध हो जावेगा वही दिखाते हैं—

पुनः सभी वर्णों में एकपने का प्रसंग आ जावेगा क्योंकि हम ऐसा कह सकते हैं कि ये सभी वर्ण अभिव्यञ्जक के भेद से अनेकरूप हैं, जैसे कि एक ही चंद्र नाना जलपात्रों में नानाभेदरूप से प्रतिभासित होता है तथैव यदि आप कहें कि वर्णों में एकत्व के मानने पर प्रत्यक्ष से विरोध आता है, तब तो उस क्रिया के एकत्व में भी विरोध कैसे नहीं आवेगा ? अर्थात् आवेगा ही आवेगा क्योंकि जिस प्रकार से नानादेश-नानापात्र के जल में प्रतिबिम्बित होते हुये चंद्रमा अनेकरूप से प्रतीत होने पर भी वास्तव में चंद्रमा एक ही है, तथैव नानादेशवर्ती व्यञ्जक (वायु) के भेद से अकारादि वर्णों की नानापने से प्रतीति होने पर भी वर्णों में एकपना ही है, इस प्रकार से कहने वाले भी शब्दाद्वैतवादी के यहाँ क्या विरोध है ?

वर्णों को एकरूप मानने पर तो प्रत्यक्ष से विरोध होवे और पुनः क्रिया आदि को एकरूप मानने में विरोध न होवे, यह विभाग भी आप याज्ञिक (मीमांसक) के यहाँ कैसे सिद्ध होगा ? अतएव वर्णाद्वैत को न स्वीकार करते हुये आपको करण अंगहार आदि क्रियायें एकरूप नहीं माननी चाहिये कि जिससे शब्द को नित्य सिद्ध करने में "प्रत्यभिज्ञान हेतु" विरुद्ध न हो जावे । अर्थात् अंगहार आदि क्रियाओं का प्रत्यभिज्ञान तो होता है, पर वे नित्य न होकर अनित्य हैं । अतः आपका हेतु विरुद्ध है, पुनः उस 'प्रत्यभिज्ञान' हेतु को व्यभिचारी सिद्ध करते हुये कहते हैं कि ये अकारादि वर्ण तात्वादि व्यापार से उत्पन्न होने वाले आवण—सुनाई देना स्वभाव को छोड़कर विपरीत—अव्यावण

१ शबलं दृष्ट्वा शबलं पश्यतः स एवायं गौरिति प्रत्यभिज्ञानवत् ककारादिवर्णं श्रुत्वा ककारादिवर्णान्तरं शृण्वतः स एवायं वर्ण इति प्रत्यभिज्ञानसदभावात् । (दि० प्र०) २ नीच । (दि० प्र०) ३ अनेकतात्वादिप्रभासकभेदात् । (दि० प्र०) ४ प्रतिवादिनः—स्याद्वादिनः का हानिः । (दि० प्र०) ५ बुद्धिः । (दि० प्र०)

नित्यत्वसाधने प्रत्यभिज्ञानं विरुद्धं न स्यात् । तदयं तात्वादेव्यापारजनितश्चावणस्वभावं परित्यज्य विपरीत<sup>१</sup>स्वभावमासादयन्नपि<sup>२</sup> नित्यश्चेन्न किञ्चिदनित्यम् ।

[ शब्दाद्वैतवादस्य निराकरणं ]

<sup>३</sup>तदेवमकारादिवर्णस्त्रिजगत्यामेक<sup>४</sup> एवेत्यपि निरस्तं, युगपद्भिन्नदेशस्वभावोपलब्धेर्घटा-  
दिवत्<sup>५</sup> । भानुनानेकान्त<sup>६</sup> इति चेन्न, तस्य<sup>७</sup> सकृद्भिन्नदेशतयोपलब्धावपि भिन्नस्वभावत-

को प्राप्त करते हुये भी यदि नित्य हैं, तब तो कोई भी वस्तु अनित्य कही ही नहीं जा सकेगी । क्योंकि स्वभाव से स्वभावान्तरित होना ही अनित्यपना है, और वह अनित्यपना शब्द में स्पष्ट है ।

[ शब्दाद्वैत का निराकरण ]

इसी कथन से “अकारादि वर्ण तीनों जगत में एकरूप ही हैं ।” इस प्रकार की मान्यता वाले शब्दाद्वैतवादी का भी खण्डन किया गया है, क्योंकि उन वर्णों की युगपत् भिन्नदेश और उदात्त, अनुदात्त आदि भिन्नस्वभाव से उपलब्धि पाई जाती है, घटादि के समान । जैसे घट एक नहीं है, क्योंकि युगपत् भिन्न-भिन्न देशों में भिन्न-भिन्न स्वभाव से उपलब्ध हो रहे हैं ।

भावार्थ—मीमांसक ने वर्णों को नित्य सिद्ध करते हुये “प्रत्यभिज्ञानरूप हेतु” दिया । जैनाचार्य कहते हैं कि एक नर्तक भगवान् के सामने अनेक हाव, भाव अंग विक्षेप से नृत्य कर रहा है, उसकी उन क्रियाओं में भी प्रत्यभिज्ञान पाया जाता है । यह वही हाव, भाव अंगविक्षेप आदि क्रियायें हैं जिसे इस नर्तक ने अमुक दिन नृत्य करते समय किया था इत्यादिरूप से प्रत्यभिज्ञान देखा जाता है । तथैव बुद्धि—क्षयोपशमज्ञान का भी प्रत्यभिज्ञान हो रहा है “यह हमारा ज्ञान वही ज्ञान है कि जिस ज्ञान से हमने अमुक दिन ऐसा अनुभव किया था ।” यहाँ अंगविक्षेप आदि क्षणिक क्रियाओं का और बुद्धि का प्रत्यभिज्ञान पाया जाता है, जो कि नित्य नहीं है, क्षणिक है । अतः आपका “प्रत्यभिज्ञान” हेतु नित्य वर्णों को ही सिद्ध करे ऐसी बात नहीं है, प्रत्युत अनित्यरूप अंगविक्षेप और बुद्धि में भी चला जाने से व्यभिचारी है । इस पर मीमांसक बोल उठता है कि हमारे यहाँ ये क्रिया और बुद्धि भी नित्य हैं, अतः दोष नहीं है । जैनाचार्य कहते हैं कि यदि बुद्धि और क्रिया नित्य हैं, एक हैं, तब वर्ण जैसे नित्य हैं, वैसे ही एक हैं, ऐसा भी मान लो तब तो आप शब्दाद्वैतवादी ही हो जावेंगे । यहाँ मीमांसक शब्दों को नित्य और सर्व व्यापी मानता है, किंतु एक और निरंश नहीं मानता है, तथा शब्दाद्वैतवादी वर्णों को नित्य, व्यापी, एक निरंश ब्रह्मरूप मानता है यह समझना चाहिये । अब यहाँ

१ विपरीतभासादयन्नपि इति पा० । (दि० प्र०) २ प्राप्नुवन् । (दि० प्र०) ३ व्यापकाकारादिवर्णाः प्रत्यभिज्ञाय-  
मानत्वात्प्रामाण्यवदिति चेत् । अनेकेष्वेव करणांगहारादिषु प्रत्यभिज्ञानादिरुद्धो हेतुरित्यादि प्रक्रियायोजनप्रकारेण ।  
(दि० प्र०) ४ शब्दस्य नित्यत्वनिराकरणद्वारेणाग्न्यस्य कस्मचित्परवादिनोभिप्रायेण अकारादिवर्णो लोके एक एव  
इत्यपि निषिद्धम् । स्या० अत्रानुमानमाह । वर्णः पक्षः तान्तास्वभावो भवतीति साध्यो धर्मः युगपद्भिन्नदेशभिन्नस्व-  
भावतयोपलब्धमानत्वात् । यथा घटादिः । (दि० प्र०) ५ अनेकपुरुषापेक्षया । (दि० प्र०) ६ आह वर्णैकत्ववादी हे  
स्या० तव हेतोः जलविम्बितभानुना व्यभिचारोस्तीति चेत् । (दि० प्र०) ७ भावो । (दि० प्र०)

योपलब्ध्यभावात् । प्रत्यासन्नेतरदेशप्रतिपत्तृजनानां स्पष्टेतरादिभिन्नस्वभावतयोपलब्ध्यमाने-  
नैकपादपेन व्यभिचार इति चेन्न, तस्य <sup>१</sup>भिन्नदेशतयानुपलब्धेः <sup>२</sup> । <sup>३</sup>नयनावरणविशेषवशा-  
त्सकृद्भिन्नदेशस्वभावतयोपलब्ध्यमानेन <sup>४</sup> चन्द्रद्वयेन व्यभिचार इति चेन्न, भ्रान्तोपलम्भेना-  
भ्रान्तोपलम्भस्य व्यभिचारायोगादन्यथा <sup>५</sup> सर्वहेतूनामव्यभिचारासंभवात् <sup>६</sup> । न च शब्दस्यापि  
सकृद्भिन्नदेशस्वभावतयोपलम्भो भ्रान्तः <sup>७</sup>, सर्वदा बाधकाभावात् । युगपत्प्रतिनियतदेश-

पर शब्दाद्वैतवादी को अवकाश मिल जाने से वह भी वर्णों को एकरूप सिद्ध करते हुये अनेकों उदाहरण दिखाता है ।

**शंका**—आपकी इस मान्यता में सूर्य के साथ अनेकांत दोष आता है । अर्थात् सूर्य एक होते हुये भी अनेक देशवर्ती पुरुषों को अनेकरूप दिख रहा है ।

**समाधान**—नहीं, यद्यपि वह सूर्य एक साथ अनेक पुरुषों की अपेक्षा से भिन्न-भिन्न देशों में उपलब्ध होता है फिर भी भिन्न-भिन्न स्वभाव से उसकी उपलब्धि नहीं होती है ।

**शंका**—प्रत्यासन्न—निकट एवं दूरदेशवर्ती पुरुष एक वृक्ष को स्पष्ट और अस्पष्ट आदि भिन्न-भिन्न स्वभावरूप देखते हैं, अतः उस अनेकस्वभाव वाले वृक्ष से व्यभिचार आता है । अर्थात् वृक्ष एक है और देखने वाले अनेक पुरुष हैं । निकटवर्ती पुरुष उस वृक्ष को स्पष्ट एवं दूरवर्ती उसी को अस्पष्टरूप से देख रहे हैं, अतः एक वृक्ष में स्वभाव से भी अनेक भेद हो गये ।

**समाधान**—नहीं क्योंकि वह वृक्ष भिन्न-भिन्न देश रूप से नहीं देखा जाता है ।

**शंका**—नेत्रों में आवरण विशेष के निमित्त से एक साथ ही भिन्नदेश और भिन्नस्वभाव से उपलब्ध्यमान दो चंद्रों से व्यभिचार आता है । अर्थात् नेत्र में रोगादि विकार के निमित्त से किसी को एक चन्द्र भी दो दिखलाई देते हैं, अतः उस चन्द्रद्वय से व्यभिचार आता है ।

**समाधान**—नहीं । अभ्रांत उपलब्धिरूप वास्तविक वस्तु में भ्रांतोपलब्धिरूप भ्रांत कल्पना से व्यभिचार देना ठीक नहीं है, अन्यथा सभी हेतु व्यभिचारी बन जावेंगे, किन्तु ऐसा तो है नहीं, अतः शब्दों की भी सकृत्—एक साथ भिन्न-भिन्न देश और भिन्न-भिन्न स्वभाव रूप से भी उपलब्धि भ्रांत—असत्य नहीं है क्योंकि सर्वदा बाधक का अभाव पाया जाता है ।

यदि आप कहें कि युगपत् प्रतिनियत-भिन्न-भिन्न देशों में मन्द्र-उच्चध्वनि और तार-मंदध्वनि

१ वसः । (व्या० प्र०) २ भिन्नस्वभावतयोपलब्ध्यापि भिन्नदेशतयोपलब्ध्यभावात् । (दि० प्र०) ३ काचकामलादि । (व्या० प्र०) ४ द्वित्व । (व्या० प्र०) ५ भ्रान्तोपलम्भेनाभ्रान्तोपलम्भस्य व्यभिचारो घटते चेत्तदा लोके सर्वेषां हेतूनां व्यभिचार एव । (दि० प्र०) ६ व्यभिचारायोगात् इति पा० । (दि० प्र०) ७ संदिग्धानैकान्तिकत्वे मुद्धावित्वे युग-पद्भिन्नदेशस्वभावतयोपलब्धेरित्यस्य हेतोः । (दि० प्र०)

मन्त्रतारश्रुतेः<sup>१</sup> २कस्यचिदेकत्वे न क्वचिदनेकत्वसिद्धिः<sup>३</sup> । स एवायमकार इति प्रत्ययमर्शाद-  
कारादेरेकत्वेङ्गहारादिक्रियाविशेषस्याप्येकत्वमस्तु<sup>४</sup> स एवायमङ्गहारादिरिति प्रत्ययमर्शात् ।  
तथा सर्वस्यार्थविशेषस्यापि । न हि<sup>५</sup> कथञ्चित्त्वचिप्रत्ययमर्शो<sup>६</sup> न स्याद्वर्णवत्<sup>७</sup> । तच्छेष-  
विशेषबुद्धेरभिव्यञ्जकहेतुत्वप्रकल्पितौ सर्वं समञ्जसं प्रेक्षामहे, सर्वस्याङ्गहारादेरपि<sup>८</sup> देशादि-  
विशेषबुद्धेरभिव्यञ्जकहेतुत्वप्रकल्पितेः कर्तुं सुशकत्वात् । तदेतेषां पुद्गलानां<sup>९</sup> 'करणसन्ति-  
पातोपनिपाते'<sup>१०</sup> श्रावणस्वभावः शब्दः पूर्वापरकोट्योरसन् प्रयत्नानन्तरीयको घटादिवदिति

के सुनने पर भी शब्द एक-नित्य ही हैं, तब तो किसी वस्तु में भी अनेकत्व-अनित्यत्व सिद्ध ही नहीं हो सकेगा ।

शंका —“स एव अयमकारः” यह वही अकार है जिसे वहाँ देखा था इत्यादिरूप से अकारादि वर्णों का प्रत्यभिज्ञान पाया जाता है अतः अकारादि वर्ण नित्य ही हैं ।

समाधान —तब तो अंगहारादि क्रिया विशेष में भी नित्यपत्ता हो जावे क्योंकि “ये वही अंग-  
विक्षेपादि हैं” ऐसा प्रत्यभिज्ञान पाया जाता है और उसी प्रकार से सभी पदार्थों में भी एक-नित्य-  
रूपता ही हो जावे, क्योंकि उनका भी प्रत्यभिज्ञान पाया जाता है ।

कथञ्चित्-सत्त्वरूप की अपेक्षा से किसी घट, पटादि का प्रत्यभिज्ञान वर्ण की तरह न हो, ऐसी बात भी नहीं है । उन वर्णों से शेष (अन्य भिन्न देश, स्वभावलक्षण) विशेषबुद्धि के अभिव्यञ्जक-  
हेतु की कल्पना करने पर सभी समंजस ही हैं, ऐसा हम जैन समझते हैं ।

देशादि विशेषबुद्धि एवं अंगहारादि सभी में भी अभिव्यञ्जकहेतु की कल्पना का नियम किया जा सकता है ।

भावार्थ—जिन्होंने वर्णों को नित्य सिद्ध किया है, पुनः मंद, अमंद आदि ध्वनि के भेद में अभि-  
व्यञ्जक हेतु दिया है । तथा नित्यत्व का समर्थन करने के लिये प्रत्यभिज्ञान हेतु दिया है, उनके यहाँ तो  
वर्ण के अतिरिक्त अन्य सभी अंग की विक्षेपण आदि क्रियाओं में और उनको ग्रहण करने वाली बुद्धि  
में भी प्रत्यभिज्ञान तो पाया ही जाता है, अतः उन्हें भी अभिव्यञ्जकहेतु के द्वारा नित्य माना जा  
सकता है, फिर तो अनित्य नाम की कोई चीज संसार में नहीं रहेगी । सब घट पट आदि पदार्थ भी  
अभिव्यञ्जकहेतु से प्रकट होते हैं, नित्य ही हैं, ऐसा मानते रहिये ।

तथा च यदि अंगहारादि क्रिया में इस एकत्व प्रत्यभिज्ञान को भ्रांत मानें तब तो अकारादि वर्णों  
में भी एकत्व प्रत्ययमर्श को भ्रांत ही कहना पड़ेगा और पुनः वर्णों में अनेकत्व सिद्ध कर देने से इन

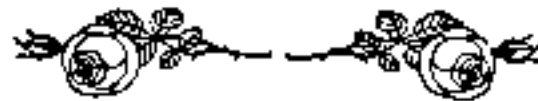
१ शब्दस्य । मन्त्रस्तुमंभीरे तारोत्पुञ्जैस्त्रयस्त्रिधित्यमरः । शब्दस्य भिन्नदेशस्वभावश्चवणात् । (दि० प्र०) २ वर्णस्य ।  
(दि० प्र०) ३ अर्थः । (दि० प्र०) ४ कस्यचिदेकत्वे इति भाष्यांशदिवरणमिदम् । भेदः । (दि० प्र०) ५ यथा  
वर्णस्य तथा सर्वस्यांगहारादेः क्वचित्त्वचिप्रत्यभिज्ञानं भीमांसकस्य नहि । भवति चेत्तदा स्याद्वादप्रसंगः ।  
(दि० प्र०) ६ स एवायमिति । (दि० प्र०) ७ शब्दवत् । शब्दपरतन्त्रः । (व्या० प्र०) ८ ता । (व्या० प्र०)  
९ तात्वादि । (व्या० प्र०) १० सांनिध्यम् । (व्या० प्र०)



प्रतिपत्तव्यं, न पुनः प्राक् पश्चाच्च सन्नेवापौरुषेय<sup>१</sup> इति । तस्य प्रागभाववत्प्रध्वंसस्यापि न प्रच्यवः<sup>२</sup> श्रेयान् ।

शब्दरूप से परिणमन योग्य पुद्गलों का कर्णेन्द्रिय के निकट उपनिपात होने पर—पहुँचने पर श्रावणस्वभाववाले जो शब्द हैं, जो कि कर्णेन्द्रिय के द्वारा ग्रहण करने योग्य पर्याय से परिणत हुये हैं, वे पूर्व और अपरकोटि में असत् रूप होते हुये (पूर्व और पश्चात् में अस्तित्व से रहित) घटादि के समान प्रयत्न के अनंतर उत्पन्न होते हैं । अर्थात् ताल्वादिप्रयत्न के साथ अविनाशायी हैं, ऐसा समझना चाहिये, न कि पुनः प्राक् और पश्चात् भी सत् रूप होते हुये अपौरुषेय हैं । अर्थात् इस प्रकार शब्द अपौरुषेय सिद्ध न होकर अनित्य-पुरुषकृत ही सिद्ध होते हैं ।

इस प्रकार से उन शब्दों का प्रागभाव के समान ही प्रध्वंसाभाव का लोप करना भी श्रेयस्कर नहीं है । यहाँ तक जैनाचार्यों ने मीमांसकाभिमत शब्द के नित्यत्ववाद का खंडन किया है ।



### मीमांसकाभिमत शब्दनित्यत्व के खंडन का सारांश

**मीमांसक**—शब्द नित्य हैं, व्यापक, एक और निरंश हैं, अतः वे शब्द प्रागसत् रूप से किये नहीं जाते हैं, किन्तु उन शब्दों की अभिव्यक्ति पौरुषेयी-पुरुषव्यापारकृत् है, वह शब्द की अभिव्यक्ति प्रागभावरूप है और वही की जाती है । अतएव शब्द को असत् मानकर तालु आदि व्यापार से उनकी उत्पत्ति मानना असत्य ही है । तालु आदि व्यापार से शब्द की अभिव्यक्ति की जाती है किन्तु शब्द नहीं किये जाते हैं ।

**जैनाचार्य**—जब शब्द की अभिव्यक्ति शब्द से अभिन्न है तब तो अभिव्यक्ति को भी अपौरुषेय मानों अथवा अभिव्यक्ति को पुरुषकृत् कहने पर तो उससे अभिन्न शब्द भी पुरुषकृत् ही मानने पड़ेंगे । हाँ ! यदि आप अभिव्यक्ति को शब्द से भिन्न मानें तब तो वह श्रवणज्ञानोत्पत्तिरूप अभिव्यक्ति शब्द में पहले थी या नहीं ? यदि थी मानें तो प्रयत्नपूर्वक क्यों की गई ? यदि नहीं मानें तब तो शब्दों में अश्रावणत्व का प्रसंग आ जावेगा । अर्थात् शब्द जब तक अपने पूर्व के अश्रावणत्व

१ यतः । स्या० हे मीमांसक ! श्रावणस्वभावात् प्राक् पश्चाच्च विद्यमान एव शब्दोऽपौरुषेय इति न । तस्य शब्दस्य यथा प्रागभावस्यभावस्तथा प्रध्वंसस्यापिऽभावः श्रेयस्करो न भवति । (दि० प्र०) २ अपलापः । (दि० प्र०)

स्वभाव को नहीं छोड़ेगा तब तक उसमें श्रावणस्वभावता नहीं आवेगी। यह परिवर्तन कथंचित् अनित्य के बिना संभव नहीं है। इस भय से यदि आप शब्द में अवयवभावोत्पत्ति के पहले ही श्रावणस्वभावता मानोगे तब पुनः अभिव्यक्ति की कल्पना व्यर्थ है।

तालु आदि व्यापार को शब्द के कारककारण मानों व्यञ्जक नहीं। जैसे घटादि की उत्पत्ति में कुंभकार ढंडादि, कारककारण हैं एवं दीपादि घटादि के व्यञ्जककारण हैं। अन्यथा आप सांख्य हो जावेंगे क्योंकि सांख्य घटादि कार्य को पहले से ही सत् रूप (मीजूद रूप) मानता है और व्यञ्जककारणों से अभिव्यक्त-आविर्भाव मानता है उसे भी आपको मानना होगा अर्थात् सांख्य ने मृत्पिंड में घट का तिरोभाव माना है पुनः कुंभकार आदि से उस घट का आविर्भाव माना है। अतएव उसने प्रागभाव को ही तिरोभाव एवं कार्योत्पाद को ही आविर्भाव नाम दिया है।

आपने सभी वर्णों को व्यापी और नित्य माना है अतः उनका क्रम से सुनना नहीं बनेगा क्योंकि नित्य, व्यापी शब्दों में देश कालकृत क्रम असंभव है। नित्य में अभिव्यक्ति से क्रम कल्पना करना गलत है। यदि ऐसा मानोगे तो सर्वत्र, सर्वदा सभी ही शब्दों को सुनने का प्रसंग सभी के लिये हो जावेगा तब संकुल-मिश्रितरूप से कलकल ध्वनि ही सुनाई देने लगेगी पुनः शब्दमय ही सारा जगत् हो जावेगा क्योंकि शब्द नित्य, व्यापी हैं एवं सभी की श्रोत्रेन्द्रियां कारण समानरूप से हैं।

यदि आप खण्ड-खण्ड रूप से सर्वत्र उन वर्णों की अभिव्यक्ति मानें तब तो शब्दों में व्यक्त और अव्यक्त दो भेद होने से भेद हो जावेगा। पुनः सभी वर्ण एकानेकात्मक सिद्ध हो जावेंगे। अर्थात् वे वर्ण वर्णरूप से एक व्यक्ताव्यक्तरूप से अनेकरूप सिद्ध हो जावेंगे। यदि खंड-खंडरूप से अभिव्यक्ति मानोगे तब तो सभी काल में सर्वत्र एक साथ सभी शब्दों के सुनने का प्रसंग आ जाने से कलकल शब्द मिश्रितरूप से होता रहेगा किंतु हम स्याद्वादियों के यहाँ ये दोष नहीं हैं। हम तो द्रव्याधिकनय से (शब्द पुद्गल की पर्याय होने से द्रव्य से अभिन्न हैं अतः) शब्द वर्गणाओं को पुद्गलरूप से नित्य मानकर भी उसे पर्याय की अपेक्षा उत्पाद-व्ययरूप से अनित्य मानते हैं। अर्थात् शब्दों के आरंभक पुद्गल जो कि तद्देशकालवर्तीरूप से उपादानकारण है और ताल्वादिबहिरंग सहकारीकारण हैं दोनों के समान होने पर भी वर्ण की उत्पत्ति में वक्ता का विज्ञान सहकारीकारण है उसके अंतर के क्रम से शब्दों की क्रम से उत्पत्ति होती है क्योंकि सभी जगह सभी कार्यों का क्रम कारण के क्रम की अपेक्षा रखता है और जो शब्द के कार्यभूत श्रोता का विज्ञान है उसमें भी क्रम की अपेक्षा करके वर्णों का क्रम से ज्ञान होने में कुछ भी विरोध नहीं है। अर्थात् जैसे-जैसे श्रोता को शाब्दिक ज्ञान होता जाता है, वैसे-वैसे शब्दों के अर्थ का जाननारूप फल भी क्रम से ही होता जाता है। अतएव एक साथ सभी वर्णों के सुनाई देने का दोष हमारे यहाँ संभव नहीं है। इसलिये शब्दरूप से परिणत पुद्गल कर्णेन्द्रिय के निकट आते हैं वे पूर्व और पश्चात् में अस्तित्व से रहित घटादि के समान प्रयत्न के अनंतर होने से प्रयत्न से अविनाभावी पुरुषकृत् ही हैं उन शब्दों का प्रागभाव एवं प्रध्वंसाभाव भी सिद्ध ही है।



[ नैयायिकाभिमतशब्दामूर्तत्वनिरासः ]

ननु शब्दस्य पुद्गलपर्यायित्वे चक्षुषोपलम्भप्रसङ्गः, “स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः पुद्गलाः” इति वचनात्, अन्यथा सिद्धान्तविरोधादिति चेन्न, गन्धपरमाणुभिर्व्यभिचारात् । पुद्गल-पर्यायित्वस्य गन्धपरमाणूनामदृश्यत्वाच्च दर्शनमिति<sup>१</sup> चेच्छब्दपुद्गलानामपि तत्<sup>२</sup> एव तन्मा भूत् । अथ<sup>३</sup> मतमेतत्, चक्षुषोपलभ्योस्तु शब्दः, पुद्गलस्कन्धस्वभावत्वाद्धटवदिति, तदप्य-पेशलं, गन्धस्यापि चक्षुरूपलभ्यत्वप्रसङ्गात्तत्<sup>४</sup> एव । अथ<sup>५</sup> तस्यानुद्भूतरूपपुद्गलस्कन्ध-स्वभावत्वाच्चक्षुरूपलम्भताऽयोम्यत्वाच्च<sup>६</sup> न चक्षुषा दर्शनम् । तत् एव शब्दस्य तन्मा भूत् ।

[ अब नैयायिक के द्वारा शब्द को आकाश का गुण मानने पर विचार किया जाता है ]

**नैयायिक**—यदि आप शब्द को पुद्गल की पर्याय मानेंगे तब तो चक्षु के द्वारा उन शब्दों की उपलब्धि होनी चाहिये क्योंकि “स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः पुद्गलाः” ऐसा सूत्र पाया जाता है, अन्यथा यदि आप उन शब्दों में स्पर्शादि नहीं मानों, तो आपके सिद्धान्त से विरोध आता है ।

**जैन**—यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि गन्धपरमाणुओं से व्यभिचार आता है वे भी पुद्गल की पर्याय हैं । अर्थात् आपने गन्धपरमाणुओं को पौद्गलिक माना है, किन्तु वे चक्षु से दिखते नहीं हैं और उनका स्पर्श भी नहीं पाया जाता है ।

**नैयायिक**—हमारे यहाँ वे गन्धपरमाणु अदृश्य हैं इसलिये नहीं दिखते हैं ।

**जैन**—उसी प्रकार से शब्द पुद्गल भी अदृश्य हैं, अतः दृष्टिगत नहीं हो सकते हैं ।

**नैयायिक**—हमारा मत यह है कि “शब्द चक्षु के द्वारा प्राप्त करने योग्य है क्योंकि वह पुद्गल स्कन्ध का स्वभाव है, जैसे कि घट पुद्गलस्कन्धों से बना है अतः दृष्टिगत होता है ।”

**जैन**—आपका यह कथन भी ठीक नहीं है, गन्ध को चक्षु के द्वारा ग्रहण करने का प्रसंग प्राप्त हो जावेगा, क्योंकि उसी प्रकार से वह भी पुद्गलस्कन्ध का स्वभाव है, अर्थात् पुद्गल स्कन्ध में गन्ध के साथ रूप, रस, स्पर्श भी अविनाभावी हैं, अतः उसे भी दिखना चाहिये ।

**नैयायिक** वह गन्ध तो अनुद्भूतरूप पुद्गलस्कन्ध का स्वभाव है, इसलिये चक्षु के द्वारा ग्रहण होने के अयोग्य है और इसीलिये वह चक्षुइन्द्रिय का विषय नहीं है । अर्थात् गन्ध के पुद्गलस्कन्ध अप्रगट हैं ।

**जैन**—इन्हीं दोनों हेतुओं से वह शब्द भी चक्षुइन्द्रिय का विषय मत होवे । अर्थात् शब्द भी अनुद्भूत पुद्गल का स्वभाव है एवं चक्षुइन्द्रिय से दीखने योग्य न होने से अदृश्य है ऐसा भी मान लेना उचित है ।

१ चक्षुषा । (व्या० प्र०) २ तत् एवाशब्दगन्धस्पर्शात्वात् शब्दपुद्गलानामपि दर्शनं मा भवतु । (दि० प्र०) ३ परः । (दि० प्र०) ४ पुद्गलस्कन्धस्वभावत्वादेव । (दि० प्र०) ५ गन्धस्य । अप्रकटरूप । (व्या० प्र०) ६ मा । (दि० प्र०)

शब्दपरमाणूनां ताल्वादजनितावचनप्रेरितानां<sup>१</sup> विस्तारप्रसङ्ग इति चेन्न, गन्धपरमाणूनामपि तत्प्रसङ्गात् । तेषां गन्धद्रव्यस्कन्धपरिणतत्वात्<sup>२</sup> वचन [पवन] प्रेरितानामपि विस्तारः शर-  
वदिति चेत्तर्हि शब्दपरमाणूनामपि शब्दस्कन्धपरिणतत्वात्कुतो विस्तारप्रसङ्गः ? तत एव न विक्षेपो  
गन्धपरमाणुवत् तेषां बन्धविशेषात्स्कन्धपरिणामसिद्धेः । <sup>३</sup>मूर्तद्रव्येण <sup>४</sup>प्रतिघातस्तेषां <sup>५</sup>स्या-  
दिति चेन्न गन्धपरमाणूनामपि <sup>६</sup>तदनुषङ्गात् । कुड्यादिनास्त्येव <sup>७</sup>तत्प्रतिघात इति चेच्छब्दपर-  
माणुप्रतिघातोपि । मूर्तिमद्भिः शब्दपरमाणुभिः स्कन्धपरिणतैः श्रोतृकर्णपूरणप्रसङ्ग इति चेन्न,  
गन्धपरमाणुभिरपि घ्राणपूरणप्रसङ्गात् स्कन्धपरिणामाविशेषात् । <sup>८</sup>नन्वेकश्रोत्रप्रवेशाद्योप्यदेश-

नैयायिक—ताल्वादि से उत्पन्न हुई वायु से प्रेरित हुये शब्द परमाणुओं के विस्तार का प्रसंग प्राप्त हो सकता है ।

जैन—ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि पवन से प्रेरित गंधपरमाणुओं के भी विस्तार का प्रसंग प्राप्त हो सकेगा ।

नैयायिक—गंधद्रव्य—कस्तूरी आदि के स्कन्धरूप से परिणत हुये गंधपरमाणुओं का पवन से प्रेरित होने पर भी विस्तार का प्रसंग नहीं हो सकता है । जैसे पवन से प्रेरित होने पर भी बाण का विस्तार नहीं होता है ।

जैन—यदि ऐसी बात है तब तो शब्द परमाणु भी शब्दरूप स्कन्ध से परिणत हैं, अतः उनका भी विस्तार कैसे होगा ? और उसी प्रकार से गंधपरमाणु के समान उन शब्द परमाणुओं का विक्षेप—बिखरना भी नहीं हो सकता है क्योंकि उनमें बन्धगुण—सघन संघातविशेष के होने से स्कन्ध-  
रूप परिणमन सिद्ध है ।

नैयायिक—मूर्तद्रव्य से उनका प्रतिघात हो सकता है ।

जैन—नहीं, गंधपरमाणुओं में भी वह प्रसंग प्राप्त होगा । अर्थात् गंधपरमाणुओं का भी मूर्तद्रव्य से विघात होने लगेगा ।

नैयायिक—भित्ति आदि से तो उन गंधपरमाणुओं का प्रतिघात देखा ही जाता है ।

जैन—ऐसा प्रतिघात तो शब्द परमाणुओं का भी देखा जाता है ।

नैयायिक—स्कन्धरूप से परिणत मूर्तिमान् शब्द परमाणुओं के द्वारा श्रोता का कान तो पूर्णतया भर जाने का प्रसंग प्राप्त होगा ।

जैन—नहीं, क्योंकि गंधपरमाणुओं से भी घ्राण—नाक के भर जाने का प्रसंग आ जावेगा क्योंकि स्कन्धपरिणाम तो दोनों में ही समान है ।

१ पवन इति पा० । (दि० प्र०) २ नैव प्रेरितानामपि इति पा० । (दि० प्र०) ३ पूर्वद्रव्येण इति पा० । (दि० प्र०), अन्यः । (दि० प्र०) ४ प्रतिस्खलनम् । (दि० प्र०) ५ शब्दपरमाणूनाम् । (दि० प्र०) ६ प्रतिघातः । (दि० प्र०) ७ गन्धपरमाणूनाम् । (दि० प्र०) ८ सीमांसकः । श्रोतुः पुंसस्य । (दि० प्र०)

स्थितैरपि श्रोत्रान्तरैः<sup>१</sup> शब्दस्याश्रवणप्रसङ्ग इति चेन्न, एकघ्राणप्रवेशात्प्रतिपत्त्रन्तराणां योग्य-  
देशस्थानामपि गन्धस्याप्यघ्राणप्रसङ्गात् । गन्धपरमाणूनां सदृशपरिणामभाजां<sup>२</sup> समन्ततः प्रस-  
र्पणाददोष इति चेत्तर्हि शब्दपरमाणूनामपि समानपरिणामभूतां नानादिक्तया विसर्पणात्स<sup>३</sup>  
दोषो ना भूत् । शब्दस्यागमनादीनामदृष्टानामपि<sup>४</sup> कल्पनाप्रसङ्ग इति चेद्गन्धपरमाणूनामपि<sup>५</sup> ।  
अर्थेषां<sup>६</sup> प्रतिपत्तिविशेषान्यथानुपपत्त्या निश्चयनाग्रागमनादीनामदृष्टपरिकल्पनेति<sup>७</sup> चेच्छब्द-  
पुद्गलानामपि यथा यत्र यदा यावतां प्रतिपत्तु णामुपलब्धिस्तथा<sup>८</sup> तत्र<sup>१०</sup> तदा तावतामुपलब्धि-  
योग्यपरिणामविशेषोपगमान्<sup>११</sup> । तदेवं शब्दस्य पुद्गलस्वभावत्वे दर्शनविस्तारविक्षेपप्रतिघातकर्ण-

नैयायिक—पौद्गलिक शब्द एक ही श्रोता के एक कान में प्रविष्ट हो जावेंगे तब तो उसी योग्य देश में स्थित अन्य श्रोताओं को कुछ भी शब्द सुनाई ही नहीं देगा ।

जैन—ऐसा भी नहीं है, अन्यथा गंधपरमाणु भी एक ही नाक में प्रविष्ट हो जावेंगे और पुनः उसी योग्य देश में स्थित सूँघने वालों को कुछ भी गंध नहीं आ सकेगी ।

नैयायिक—सदृश परिणामवाले गंधपरमाणु सब ओर फैले जाते हैं, अतः यह दोष नहीं आता है ।

जैन—तब तो शब्दपरमाणु भी समान परिणाम वाले हैं और नाना दिशाओं में फैल जाते हैं । अतः एक श्रोता को ही सुनाई देंगे यह दोष नहीं आता है ।

नैयायिक—शब्द के आगमन आदि में अदृष्ट—भाग्य की भी कल्पना करनी पड़ेगी ।

जैन—पुनः गंधपरमाणु के आगमन में भी भाग्य की कल्पना कीजिये ।

नैयायिक—प्रतिपत्ति-ज्ञानविशेष को अन्यथानुपपत्ति होने से इन गंधपरमाणुओं का निश्चय हो जाता है अतः उनके आगमन आदि में अदृष्ट की कल्पना उचित नहीं है ।

जैन—शब्दपरमाणुओं की भी जिस प्रकार से जहाँ जब जितने श्रोताओं को उपलब्धि होती है । उसी प्रकार से वहीं पर सभी उतने ही उपलब्धियोग्य परिणामविशेष स्वीकार किये गये हैं । अर्थात् श्रोताओं को जिन-जिन श्रुतज्ञानावरणरूप शब्दावरण का क्षयोपशम होता है, उसी प्रकार से उपलब्धियोग्य परिणामविशेष के होने से उन-उन ही अक्षरों का सुनना होता है ।

१ पुरीः । (व्या० प्र०) २ अन्यपुरुषाणाम् । (दि० प्र०) ३ प्रसारणात् । (व्या० प्र०) ४ परिकल्पना इति पा० । (व्या० प्र०), वक्ष्यमाणभाष्यस्थादिशब्दं विवृण्वन्ति परिकल्पनेति । (दि० प्र०) ५ अदृष्टानां परिकल्पना प्रसंग इति संबन्धः । (दि० प्र०) ६ गन्धपरमाणूनां स्कन्धपरिणतानाम् । (दि० प्र०) ७ स्पर्शनप्रत्यक्षेण कल्पन्ते गन्धपुद्गला इत्यर्थः । (दि० प्र०) ८ स्या० पूर्वस्माद्धेतोरदृष्टपरिकल्पना न । (दि० प्र०) ९ पुरुषाणां शब्दस्य प्राप्तिः । (दि० प्र०) १० पुद्गलेषु । (दि० प्र०) ११ का । (दि० प्र०)

पूरणकश्चोत्र<sup>१</sup>प्रवेशाद्युपालम्भो<sup>२</sup> ३गन्धपरमाणुकृतप्रतिविधानतयोपेक्षामर्हति<sup>४</sup> । ननु च<sup>५</sup> न पुद्गलस्वभावः शब्दः, अस्पर्शत्वात् सुखादिवदिति बाधकसद्भावात् पुद्गलस्वभावत्वं शब्दस्येति चेन्न, हेतोरसिद्धत्वात्<sup>६</sup> यतः कर्णशङ्कुल्यां कटकटायमानस्य प्रायशः प्रतिघातहेतोर्भवनाद्युपधातिनः शब्दस्य प्रसिद्धिरस्पर्शत्वकल्पनामस्तङ्गमयति ।

[ शब्दाः निश्छिद्रभावनाद्वह्निर्निगच्छन्ति अंतः प्रविशन्ति पौद्गलिकाः एव इति साध्यते ]

ननु च न पुद्गलस्वभावः शब्दः, निश्छिद्रभवनाभ्यन्तरतो निर्गमनात्, तत्र बाह्यतः

एवं पूर्वोक्त प्रकार से शब्द को पुद्गलस्वभाव-पुद्गल की पर्याय स्वीकार करने पर दर्शन—उनका चक्षु से देखना, विस्तार—स्व मर्यादा को उलंघन कर आगे भी फैलना, विक्षेप—बिखरना, प्रतिघात, कर्णपूरण, एकश्चोत्रप्रवेश आदि जो उलाहना दी गई हैं वे उलाहना गन्धपरमाणु के विषय में दिये गये प्रत्युत्तर से उपेक्षा के ही योग्य हैं । अर्थात् ये सभी दोष आपके गन्धपरमाणु में लागू हो जाते हैं, अतः आपका कथन ठीक नहीं है ।

नैयायिक—शब्द पुद्गल का स्वभाव नहीं है क्योंकि उसका स्पर्श नहीं पाया जाता है, जैसे कि सुखादि का स्पर्श नहीं पाया जाता है, अतः वे सुखादि पुद्गल के स्वभाव नहीं हैं । इस प्रकार के बाधक प्रमाण का सद्भाव होने से पुद्गल स्वभाषपना शब्द में नहीं है ।

जैन—नहीं, क्योंकि आपका हेतु असिद्ध है । यतः

कर्ण शङ्कुलो-मोटी और कड़ी धूड़ी के खाते समय कटकटायमान-कुड़कुड़ शब्द प्रायः प्रतिघात का हेतु देखा जाता है और भवन-भित्ति आदि को, उपधात से भी मूर्तिक शब्द की प्रसिद्धि होती ही है, यथा कोई एक पुरुष उच्चध्वनि से पाठ कर रहा है और दूसरा धीरे-धीरे बोल रहा है तो धीरे बोलने वाले की ध्वनि दब जाती है । इस प्रकार से जो शब्द की प्रसिद्धि है वह अस्पर्शत्व—स्पर्श न होने की कल्पना को अस्त कर देती है ।

[ शब्द निश्छिद्र महल से बाहर निकलते हैं एवं प्रवेश कर जाते हैं फिर भी पौद्गलिक हैं ]

नैयायिक—शब्द पुद्गल के स्वभाव नहीं हैं क्योंकि निश्छिद्र महल के अभ्यन्तर से निकल जाते हैं और अभ्यन्तर में बाहर से आकर प्रवेश कर जाते हैं, व्यवधान का भेदन भी नहीं करते हैं । जो

१ ता । (दि० प्र०) २ दूषणम् । (दि० प्र०) ३ परमाणुः प्रकृत यत् प्रतिविधानं तत्तया । तस्मादेवं शब्दस्य पुद्गल-स्वभावत्वे सति स्याद्वादिनः परेण मीमांसकेन आरोपितः दर्शनविस्तारादिदोषः गन्धस्कन्धपरिणतगन्धपरमाणु-विहितप्रतीकारत्वेन उपेक्षामवगणनामर्हति योग्यो भवति । दूषणस्यावकाशो नास्तीत्यर्थः । (दि० प्र०) ४ द्रव्यमन्तरेण गन्धगुणस्यागमनादनंतरोक्ताशेषदोषो नावकाशं लभत इति नाशंकितव्यम् । मीमांसकस्य गुणगुणितोक्तादात्म्याभ्युपगमाद् गुणमात्रागमनानुपपत्तेः । नैयायिकादिभिरपि गुणस्य निष्क्रियत्वाभ्युपगमात् । तथा च तद्व्यन्यः । गुणादीनां पञ्चानामपि निर्गुणत्वं निष्क्रियत्वे इति । (दि० प्र०) ५ ननु नेति पा० । (दि० प्र०) ६ कुतः । (व्या० ० प्र) ७ ता । (दि० प्र०)

प्रवेशाद्व्यवधायकावेदनादेश्च<sup>२</sup> [भेदनादेश्च] दर्शनात्, यस्तु पुद्गलस्वभावो, न तस्यैवं दर्शनं, यथा लोष्ठादेः, तथा दर्शनं च<sup>३</sup> शब्दस्य, ततो न पुद्गलस्वभावत्वमिति चेन्न<sup>४</sup>, पुद्गलस्वभावत्वेऽपि तदविरोधात् । तस्य हि निश्छिद्रनिर्गमनादयः सूक्ष्मस्वभावत्वात् स्नेहादिस्पर्श-  
दिवन्न विरुध्येरन् । कथमन्यथा पिहितताम्रकलशाभ्यन्तरात्तैलजलादेर्बहिर्निर्गमनं स्निग्धतादि-  
विशेषदर्शनादनुमीयेत ? कथं वा 'पिहितनिश्छिद्रमृद्वघटादेः सलिलाभ्यन्तरनिहितस्यान्तःशीत-  
स्पर्शोपलम्भात्सलिलप्रवेशोऽनुमीयेत ? 'तदभेदनादिकं वा<sup>७</sup> तस्य<sup>८</sup> 'निश्छिद्रतयेक्षणात्कथ-  
मुत्प्रेक्षेत<sup>१०</sup> ? ततो निश्छिद्रनिर्गमनादिः<sup>११</sup> स्नेहादिस्पर्शादिभिर्व्यभिचारी, न सम्यग्धेतुर्यतः<sup>१२</sup>  
शब्दस्य पुद्गलस्वभावत्वं प्रतिक्षिपेत्<sup>१३</sup>, तस्य पुद्गलस्वभावत्वनिर्णयात्सर्वथाप्यविरोधात्<sup>१४</sup> ।

पुद्गल स्वभाव वाले हैं वे उस प्रकार के नहीं देखे जाते हैं । जैसे मिट्टी के ढेले आदि पुद्गल के स्व-  
भाव हैं अतः वे निश्छिद्र महल से बाहर निकल नहीं सकते हैं । एवं शब्द उस प्रकार से निश्छिद्र महल  
से बाहर निकलते देखे जाते हैं, इसलिये वे पुद्गल के स्वभाव नहीं हैं ।

जैन—ऐसा कथन ठीक नहीं है । पुद्गल की पर्याय होने पर भी वे शब्द छिद्ररहित भवन से  
निकलते एवं प्रवेश करते रहते हैं, इसमें कोई बाधा नहीं है ।

उन शब्दों का छिद्ररहित भवन से निकलना एवं प्रविष्ट होना आदि विरुद्ध नहीं है, क्योंकि वे  
सूक्ष्मस्वभाव वाले हैं । जैसे कि स्नेह-तैल, घी आदि चिकने पदार्थ निश्छिद्र घड़े से भी बाहर निकलकर  
घड़े को चिकना कर देते हैं एवं स्पर्श-उष्ण, शीत आदि निश्छिद्र घड़े में प्रविष्ट हो उसकी आभ्यन्तर  
की वस्तु गर्म या ठंडी कर देते हैं । अन्यथा-यदि पुद्गल की पर्याय बाहर निकलना और अंतः प्रविष्ट  
होना न करें तब तो पूर्णतया ठके हुये तान्त्रिकों के कलश के भीतर से तैल, जल आदि का बाहर निकलना,  
स्निग्धता आदि विशेष के देखने से कैसे अनुमित किया जावेगा ?

अथवा ठके हुए निश्छिद्र मिट्टी के घड़े आदि जिसके भीतर जल भरा हुआ है, उस घड़े के भीतर  
शीतस्पर्श की उपलब्धि होने से जल प्रवेश का अनुमान किया जाता है, सो भी कैसे होगी ? अथवा  
घट की निश्छिद्ररूप देखने से उसके अभेदन—घट के न फूटने आदि की उत्प्रेक्षा भी कैसे की जा सकेगी ?  
इसलिये निश्छिद्र से निकलना आदि हेतु स्नेह-तैलादि और स्पर्शादि से व्यभिचारी होने से यह सम्यक्  
सच्चा हेतु नहीं है, जो कि शब्द को पौद्गलिक होने का खंडन कर सके । अतः उन शब्दों के  
पौद्गलिक स्वभाव का निर्णय हो जाता है । इस विषय में सर्वथा भी विरोध का अभाव है ।

१ कुड्यादि । (व्या० प्र०) २ भेदनास्तु इति पा० । (दि० प्र०) ३ ता । (दि० प्र०) ४ चेन्न, तस्य पुद्गलस्वभाव-  
त्वेऽपि इति पा० । (दि० प्र०) ५ अन्ययेति सम्बन्धनीयम् । (व्या० प्र०) ६ व्यवधायकस्य । तस्य मृद्वघटादेर-  
भञ्जनादिकं कथं दृश्येत् । (दि० प्र०) ७ अत्राप्यन्येति सम्बन्धनीयम् । (दि० प्र०) ८ कलशादेः । (दि० प्र०)  
९ प्रश्नः । (दि० प्र०) १० दृश्येत् । (दि० प्र०) ११ त्रिहेतुकम् । (दि० प्र०) १२ नैव । (दि० प्र०) १३ हेतुः ।  
(दि० प्र०) १४ निश्छिद्रनिर्गमनादिना सह । (दि० प्र०)

## नैयायिकाभिमत शब्दनित्यत्व का सारांश

**नैयायिक —** शब्द को अमूर्तिक साक्षात्कार का गुण अमूर्तिक ही मानता है। उसका कहना है कि “शब्द पुद्गल का स्वभाव नहीं है क्योंकि उसका स्पर्श नहीं पाया जाता है सुखादि के समान।” यदि शब्द को पुद्गल की पर्याय मानोगे तब तो उनका चक्षु से देखना, मर्यादा को उलंघन कर आगे भी फैलना, बिखरना, कर्ण में भर जाना, एक ही श्रोत्रेन्द्रिय में प्रवेश हो जाना आदि अनेक दोष आते हैं। तथा शब्द तो निश्छिद्र महल के भीतर से निकल जाते हैं एवं अभ्यंतर में बाहर से आकर प्रवेश कर जाते हैं, व्यवधान का भेदन भी नहीं करते हैं अतएव वे पीद्गलिक नहीं हैं।

इस पर जैनाचार्य कहते हैं कि “शब्द पुद्गल की ही पर्याय हैं अतः मूर्तिक हैं स्पर्श, रस, गंध, वर्ण से सहित हैं क्योंकि “स्पर्शरसगंधवर्णवन्तः पुद्गलाः” यह सूत्र है। तथा बहुत से पुद्गल स्कंध भी ऐसे अचाक्षुष हैं जिनका स्पर्श आदि व्यक्त नहीं है एतावता उनको अमूर्तिक नहीं कह सकते हैं एवं न उनका अभाव ही कर सकते हैं। तथा शब्द से प्रतिघात भी देखा जाता है। कोई मोटी एवं कड़ी पड़ी खा रहा है उसके कुछकुछ शब्दों से प्रायः प्रतिघात देखा जाता है एवं भवन भित्ति आदि से भी प्रतिघात देखा जाता है। कोई पुरुष उच्च ध्वनि से पाठ कर रहा है और दूसरा धीरे-धीरे बोल रहा है तो उसकी ध्वनि दब जाती है। अतः शब्द का स्पर्श नहीं मानना गलत है। और जो आपने चक्षु आदि से दिखना चाहिये इत्यादि दोष दिये हैं वे सभी दोष गंधपरमाणुओं में भी मानने पड़ेंगे क्योंकि गंधपरमाणु पुद्गल की पर्याय हैं वे भी नहीं दीखते हैं।

यदि आप कहें कि वे गंधपरमाणु अदृश्य हैं अतः चक्षु इन्द्रिय से नहीं देखे जाते हैं पुनः शब्दों को भी तथैव मानो क्या बाधा है? पवन से प्रेरित होने पर उन शब्दों का विस्तृत होना, बिखरना आदि मानोगे तो गंधपरमाणुओं में भी मानना पड़ेगा। भित्ति आदि से गंधपरमाणुओं का प्रतिघात प्रसिद्ध है तथैव शब्दों का भी प्रतिघात प्रसिद्ध है। एवं जो आपने कहा कि स्कंधरूप से परिणत मूर्तिमान् शब्द परमाणुओं के द्वारा श्रोता का कान पूर्णतया भर जावेगा। एवं पीद्गलिक शब्द एक ही श्रोता के एक ही कान में प्रविष्ट हो जावेंगे पुनः उसी योग्य देश में स्थित अन्य श्रोताओं को कुछ भी शब्द सुनाई नहीं पड़ेंगे इत्यादि। ये दोष तो आपके गंधपरमाणुओं में भी आ जावेंगे। वे गंधपरमाणु भी नाक में भर जावेंगे तो स्वांस लेना ही कठिन हो जावेगा एवं वे एक के हो नाक में घुस जावेंगे तो अन्य किसी सूंघने वालों को कुछ भी गंध नहीं आ सकेगी।

इस पर नैयायिक ने कहा कि हमारे यहाँ ऐसा माना है कि सदृशपरिणामवाले गंधपरमाणु सब तरफ फैल जाते हैं। अतः ये दोष नहीं आते हैं तब तो समानपरिणामवाले शब्दपरमाणु भी नाना दिशाओं में फैल जाते हैं। अतः एक श्रोता को ही सुनाई देंगे इत्यादि दोष नहीं आते हैं।

यदि आप कहें कि गंधपरमाणुओं का प्रतिपत्तिविशेष की अन्यथानुपपत्ति होने से निश्चय हो जाता है उसमें भाग्य की कल्पना नहीं है, किन्तु शब्द के आगमन में भाग्य की कल्पना कीजिये। इस पर आचार्यों का कहना है कि श्रोताओं के जिन-जिन श्रुतज्ञानावरणरूप शब्दावरण का क्षयोपशम होता है उसी प्रकार से उपलब्धियोग्य परिणामविशेष के होने से उन-उन ही अक्षरों का सुनना होता है। जो आपने कहा कि निश्छिद्र महल से निकलना आदि होने से शब्द पुद्गल नहीं हैं सो भी



ठीक नहीं है क्योंकि छिद्ररहित भवन से निकलना एवं प्रविष्ट होना पुद्गल में विरुद्ध नहीं है क्योंकि वे शब्दपुद्गल सूक्ष्मस्वभाव वाले हैं। जैसे तेल, घी आदि चिकने पदार्थ निश्छिद्र घड़े से बाहर निकलकर घड़े को चिकना कर देते हैं एवं उष्ण, शीत स्पर्श आदि निश्छिद्र घड़े में प्रविष्ट होकर उसकी अभ्यंतर की वस्तु गर्म या ठंडी कर देते हैं यह बात सर्वजन सुसिद्ध है।

अतः यत्न से उत्पन्न हुये वर्णादि स्थूल ऋजुसूत्रनय से वर्तमानकाल में ही श्रावणस्वभाव वाले हैं। उसके पहले एवं पीछे के पुद्गलों में वह श्रावणस्वभाव नहीं है इसलिये उतने ही ध्वनिपरिणाम हैं। इससे विपरीत यदि उन शब्दों को सकलकालकला में व्यापी, नित्य मानों तब तो वर्तमानकाल के समान भूत और भविष्यत् में भी उनके सुनने का स्वभाव रहना ही चाहिये क्योंकि आपने तात्वादिप्रयत्न से उन वर्ण पदों की उत्पत्ति नहीं मानी है।

अतः शब्दों के पहले प्रध्वंसाभाव के लोप करने पर शब्द कूटस्थ नित्य सिद्ध होते हैं। एवं सर्वथा नित्य में क्रम या युगपत् से अर्थक्रिया का अभाव होने से वे शब्द निःस्वरूप ही हो जाते हैं क्योंकि नित्यशब्द में परिणमन न होने से वे घट इन दो शब्दों का ज्ञान कैसे करावेंगे? तथा उस आकार वस्तु का या उसकी अर्थक्रिया जलधारण आदि का ज्ञान भी कैसे होगा? अतः कथंचित् नित्यानित्य की व्यवस्था ही ठीक है।



[ शब्दवर्तमानकाल एव श्रूयते न च भूतभाविकाले इति निर्णयः ]

अतो यत्नजनितवर्णाद्यात्मा श्रावणमध्यस्वभावः प्राक्<sup>१</sup> पश्चादपि पुद्गलानां नास्तीति तावानेव<sup>२</sup> श्रुतिपरिणामः सर्वैरभ्युपगन्तव्यः<sup>३</sup>, तस्य<sup>४</sup> सकलकालकलाव्यापित्वे मध्यवत्प्राक्<sup>५</sup> पश्चाच्च श्रावणस्वभावत्वप्रसङ्गात् प्रयत्नजनितवर्णपदवाक्यात्मकत्वायोगात् । तत्प्राक्प्रध्वंसाभावप्रतिक्षेपे<sup>६</sup> कूटस्थ<sup>७</sup> क्रमयुगपत्तद्वाभ्यां स्वाकारज्ञानाद्यर्थक्रियां व्यावर्तयतीति निरुपाख्य-मित्यभिप्रायः श्रीस्वामिसमन्तभद्राचार्याणां, प्राक्प्रध्वंसाभावप्रतिक्षेपस्य कूटस्थेन<sup>८</sup> व्याप्त-

[ शब्द वर्तमानकाल में ही सुने जाते हैं भूत भविष्यत् काल में नहीं इसका निर्णय करते हैं ]

इसीलिये यत्न—तात्वादि से उत्पन्न हुये अकारादि वर्ण वर्तमानकाल में ही सुनने योग्य स्वभाववाले हैं, क्योंकि उसके पहले और पीछे के भी पुद्गलों में वह श्रावणस्वभाव नहीं है । इसीलिये उतने ही ध्वनि परिणाम हैं । ऐसा सभी को स्वीकार करना चाहिये ।

यदि उन शब्दों को सकलकाल की कला में व्यापी-नित्य मानें तब तो मध्य—वर्तमान काल के समान पहले और पीछे भी उनमें सुनाई देने का स्वभाव हो जाना चाहिए और उन वर्ण, पद तथा वाक्यों का स्वरूप तात्वादिप्रयत्न नहीं होना चाहिये ।

एवं उन शब्दों के प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव का लोप करने पर कूटस्थ—नित्यपना सिद्ध होता है जो कि क्रम और युगपत् से स्वाकार-शब्दाकार को ज्ञानादिरूप अर्थक्रिया से व्यावृत्त ही करता है, अतः वह निरुपाख्य-निःस्वरूप ही सिद्ध होता है, श्री स्वामी समन्तभद्राचार्य का ऐसा अभिप्राय समझना चाहिये ।

प्रागभाव एवं प्रध्वंसाभाव का निह्व कूटस्थ नित्य से व्याप्त है और वह कूटस्थ नित्य क्रम तथा युगपत् के अभाव से व्याप्त है, क्योंकि उस कूटस्थ में क्रम-युगपत् का विरोध है और वह क्रम युगपत् का अभाव भी स्वीकार ज्ञानादि अर्थक्रिया की व्यावृत्ति से व्याप्त है एवं स्वाकार ज्ञानादि अर्थक्रिया की व्यावृत्ति निरुपाख्य-निःस्वरूपपने के साथ व्याप्त है । और यह निःस्वभावता सर्वथा अमर्थक्रियाकारी होने से—अर्थक्रियाकारी न होने से सम्पूर्ण वचनविकल्पों से निष्क्रान्त-रहित है ।

भावार्थ—शब्द का प्रागभाव एवं प्रध्वंसाभाव नहीं मानोगे, तब तो वे शब्द कूटस्थ, नित्य सिद्ध होंगे, उनमें किसी प्रकार का परिणमन नहीं हो सकेगा और उनमें परिणमन यदि नहीं होगा, तो उनका क्रम और युगपत् से होना नहीं चड़ेगा, पुनः क्रम-युगपत् के न होने से उनमें अपने आकार को

१ उत्पन्नः । (दि० प्र०) २ शब्दः । (दि० प्र०) ३ अन्यथा तस्य दूषणमाह । (दि० प्र०) ४ शब्दस्य । (दि० प्र०)

५ यथा शब्दात्प्राक् पश्चादित्येतयोर्मध्ये । (दि० प्र०) ६ तस्य शब्दस्य प्रागभावप्रध्वंसाभावयोरनङ्गीकारे कूटस्थं

स्थात् । तच्च क्रमाक्रमाभ्यां स्वकीयाऽवयवज्ञानाद्यर्थक्रियां शब्दस्य निवारयति । (दि० प्र०) ७ कर्तृ । (दि० प्र०)

८ निरुपाख्यत्वं कुतः । (दि० प्र०)

त्वात्, तस्य च<sup>१</sup> क्रमयौगपद्याभावेन, तत्र<sup>२</sup> तद्विरोधात्<sup>३</sup>, तस्यापि स्वाकारज्ञानाद्यर्थक्रियाव्या-  
वर्तनेन, तस्य च निरुपाख्यत्वेन, सर्वथानर्थक्रियाकारिणः सकलवाक्विकल्पेभ्यो निष्क्रान्तत्वात् ।  
स्यादाकृतं, <sup>४</sup>वर्णानामानुपूर्व्यपौरुषेयीष्यते<sup>५</sup>, तस्या एव प्राक्प्रध्वंसाभावानभ्युपगमात्<sup>६</sup> । ततो  
नोपालम्भः<sup>७</sup> श्रेयानिति, तदप्ययुक्तं, वर्णव्यतिरेकानुपूर्व्यसंभवात्<sup>८</sup> । कथञ्चित्क्रियमाणामपि<sup>९</sup>  
<sup>१०</sup>तदानुपूर्वीकल्पनां<sup>११</sup> विस्तरेण प्रतिक्षेपस्यामः, “वक्तव्यनाप्ते” इत्यत्र<sup>१२</sup> तत्प्रतिक्षेपविस्तार-  
वचनात्<sup>१३</sup> । <sup>१४</sup>तदिह <sup>१५</sup>पर्याप्तं, तत्प्रबन्धेन<sup>१६</sup> सर्वथा प्राक्प्रध्वंसाभावनित्वे यथानिगदितदूषण-  
गणप्रसङ्गस्य परिहरणासंभवात् ।

जलकाना ज्ञान कराना आदि रूप अर्थक्रिया—घट के कहने पर ‘घ, ट’ दो वर्णों का एवं उस घट के  
आकार वस्तु का तथा उसकी अर्थक्रिया—जलधारणआदि ज्ञानरूप अर्थक्रिया नहीं बनेगी । एवं अर्थ-  
क्रिया के न होने से वे शब्द स्वभाव से शून्य हो जावेंगे, पुनः किन्हीं वचनों के द्वारा उनका अस्तित्व  
ही नहीं कहा जा सकेगा ।

मीमांसक—वर्णों की जो आनुपूर्वी—क्रम परम्परा है, वह अणोरुषेयी-अनादिनिधन नित्य है और  
उसमें ही हमने प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव नहीं माना है, इसलिये आपका यह उपालम्भ श्रेयस्कर  
नहीं है ।

जैन—यह कथन भी अयुक्त ही है, क्योंकि वर्णों को छोड़कर कोई आनुपूर्वी सम्भव ही  
नहीं है ।

यदि आप कथंचित्—किसी प्रकार से की गई, उस आनुपूर्वी की कल्पना करें, तो हम उसका  
आगे खण्डन करेंगे । “वक्तव्यनाप्ते” इस ७८वीं कारिका के अर्थ में विस्तार से खण्डन करेंगे ।

अतः अब यहाँ इतना ही कथन पर्याप्त है, इसलिये शब्द के नित्यत्व का खण्डन करते हुये यह  
सूचित किया जाता है कि सर्वथा प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव का निवृत्त करने पर यथाकथित दोषों  
के समूह का प्रसंग दूर करना असम्भव है, ऐसा समझना चाहिये ।

- १ आशङ्कमाणस्य हेतवो योजनीयाः । (दि० प्र०) २ कौटस्थ्ये । (दि० प्र०) ३ तथापि निरुपाख्यं कुतः । (दि० प्र०)  
४ क्रमेणोच्चार्यमाणरचनाविशेषः । (व्या० प्र०) ५ सम्प्रदायः गुरुपरिपाटी अस्माभिर्मिमांसकैरुपौरुषेयी प्रतिपाद्यते ।  
(दि० प्र०) ६ प्राक्प्रध्वंसाभावप्रतिक्षेपे कृते शब्दस्य निरुपाख्यलक्षणः । (व्या० प्र०) ७ स्यादादिप्रतिपादितः दोषा-  
रोपः श्रेयस्करो न स्यात् । (दि० प्र०) ८ केनचित्प्रकारेणानुपूर्वी कल्पत इत्याह । (दि० प्र०) ९ अविचारितरमणी-  
यतया वर्णभ्यः पृथक्त्वेन । (दि० प्र०) १० वर्णानुपूर्वी । (दि० प्र०) ११ अपौरुषेयी । (दि० प्र०) १२ कारिका-  
याम् । (दि० प्र०) १३ सर्वपुस्तकेषु विस्तारवचनादिति लिखितमस्ति तदुपपन्नकर्तुं विद्वानन्वस्यैव सम्प्रदायादागतम्  
तदसत् । विस्तरवचनादित्येव सम्यक् । विस्तारो विग्रहो व्यासः स तु शब्दस्य विस्तर इत्यभिधानात् । ननु शब्द  
इति शब्दस्य विस्तर एवान्यस्य विस्तार इति चेन्न । तदानुपूर्वीकल्पनां विस्तरेण प्रतिक्षेपस्याम इत्यनेन व्यभिचारात् ।  
परमतात् प्रक्रियां नातिविस्तारामित्यनेन व्यभिचाराच्च न चात्र शब्दः पूर्वपदेऽस्यभिनववादि राजा । (दि० प्र०)  
१४ वर्णानुपूर्वीनिराकरणप्रपञ्चेन इह प्रस्तावे पूर्यताम् । (दि० प्र०) १५ का । (दि० प्र०) १६ प्रस्तावे ।  
(दि० प्र०)



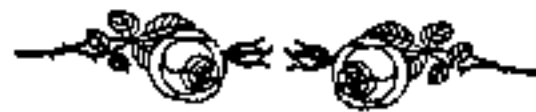
इस पर आचार्यों का कहना है कि श्रोताओं के जिन-जिन श्रुतज्ञानावरण रूप शब्दावरण का क्षयोपशम होता है उसी प्रकार से उपलब्धि योग्य परिणाम विशेष के होने से उन-उन ही अक्षरों का सुनना होता है ।

जो आपने कहा कि निश्छिद्र महल से निकलना आदि होने से शब्द पुद्गल नहीं हैं । सो भी ठीक नहीं है, छिद्ररहित भवन से निकलना एवं प्रविष्ट होना पुद्गल में विरुद्ध नहीं है क्योंकि वे शब्द पुद्गल सूक्ष्म स्वभाव वाले हैं । जैसे तेल, घी आदि चिकने पदार्थ निश्छिद्र घड़े से बाहर निकल कर घड़े को चिकना कर देते हैं एवं उष्ण, शीत, स्पर्श आदि निश्छिद्र घड़े में प्रविष्ट होकर उसकी अभ्यन्तर की वस्तु गर्म या ठण्डी कर देते हैं यह बात सर्व जन सुप्रसिद्ध है ।

इसलिये यत्न से उत्पन्न हुए वर्णादि स्थूल ऋजुसूत्र नय से वर्तमान काल में ही श्रावण स्वभाव वाले हैं । उसके पहले एवं पीछे के पुद्गलों में वह श्रावण स्वभाव नहीं है । अतः उतने ही ध्वनि परिणाम हैं । इससे विपरीत यदि उन शब्दों को सकल काल कला में व्यापी, नित्य मानों तब तो वर्तमान काल के समान भूत और भविष्यत में भी उनके सुनने का स्वभाव रहना ही चाहिये क्योंकि आपने तात्वादि प्रयत्न से उन वर्ण पदों की उत्पत्ति नहीं मानी है ।

अतः शब्दों के पहले प्रध्वंसाभाव के लोप करने पर शब्द कूटस्थ नित्य सिद्ध होते हैं । एवं सर्वथा नित्य में क्रम या युगपत् से अर्थक्रिया का अभाव होने से वे शब्द निःस्वरूप ही हो जाते हैं क्योंकि नित्य शब्द में परिणमन न होने से वे घट इन दो शब्दों का ज्ञान कैसे करायेंगे तथा उस आकार वस्तु का या उसकी अर्थक्रिया जलधारण आदि का ज्ञान भी कैसे होगा ? अतः कथंचित् नित्यानित्य की व्यवस्था ठीक ही है ।

उपसंहार—नैयायिक शब्द को आकाश का गुण मानता है और अमूर्तिक कहता है किन्तु जैनाचार्य शब्द को पुद्गल की पर्याय सिद्ध करके मूर्तिक सिद्ध कर देते हैं ।



<sup>1</sup>अथेतरेतराभावात्यन्ताभावानभ्युपगमवादिनां दूषणमुद्धावयिषवः [मुद्रविभावयिषवः] प्राहुराचार्याः<sup>2</sup> ।

**सर्वात्मकं तदेकं स्यादन्यापोहव्यतिक्रमे ।**

**अन्यत्रसमवाये न व्यपदिश्येत<sup>3</sup> सर्वथा ॥११॥**

तदित्यनेन सर्वप्रवादिनाभिष्टं तत्त्वं परामृश्यते । तदेकं सर्वात्मकं स्यात्, <sup>4</sup>अनिष्टात्मनापि भावादन्यापोहस्य व्यतिक्रमे । स्वसमवायिनः<sup>5</sup> समवाय्यन्तरे <sup>6</sup>समवायोन्यत्रसमवायः, अत्यन्ताभावव्यतिक्रमः<sup>7</sup> । तस्मिन् सर्वस्येष्टं<sup>8</sup> तत्त्वं सर्वथा<sup>9</sup> न व्यपदिश्येत, स्वेष्टात्मना<sup>10</sup> व्यपदेशेऽनिष्टात्मनोपि व्यपदेशप्रसङ्गात्, तेनाव्यपदेशे स्वेष्टात्मनाप्यव्यपदेशापत्तेः स्वयमिष्टा-निष्टात्मनोः<sup>11</sup> कालत्रयेपि <sup>12</sup>विशेषानुपगमात् । कः पुनरन्यापोहो नाम ?

**उत्थानिका**—अब इतरेतराभाव और अत्यन्ताभाव को नहीं स्वीकार करने वाले बौद्ध, सांख्य आदि के मत में दूषण को प्रगट करने की इच्छा रखते हुये आचार्य कहते हैं—

**कारिकार्थ**—हे भगवन् ! यदि अन्यापोह—इतरेतराभाव का लोप किया जावे तो सभी वस्तु सर्वात्मक एकरूप हो जावेंगी । यदि अत्यन्ताभाव का लोप किया जावेगा, तब तो अन्यत्र समवाय स्वसमवायी आत्मा का भिन्न समवायी प्रधान आदि में समवाय हो जाने पर सभी का इष्ट तत्त्व सर्वथा कहा ही नहीं जा सकेगा ।

तत् इस पद से सभी प्रवादियों का इष्ट तत्त्व परामर्शित होता है वह इष्ट तत्त्व सर्वात्मक हो जावेगा, क्योंकि अन्यापोह का व्यतिक्रम करने पर अनिष्टस्वरूप से भी हो जावेगा और अत्यन्ताभाव का व्यतिक्रम करने पर स्व-चैतन्य गुण का समवाय जिसमें है, वह स्वसमवायी-आत्मा, उस आत्मा का भिन्नसमवायी प्रधान आदि में समवाय हो जावेगा और अन्यत्र समवाय हो जाने पर सभी का इष्टतत्त्व सर्वथा ही नहीं कहा जा सकेगा, क्योंकि अपने इष्टस्वरूप से व्यपदेश (कथन) करने पर अनिष्टरूप से भी व्यपदेश का प्रसंग प्राप्त होगा ।

अथवा अनिष्टरूप से व्यपदेश—कथन न होने पर अपने इष्टस्वरूप से भी व्यपदेश नहीं हो सकेगा । यदि एक में दूसरे का अत्यन्ताभाव नहीं माना जावेगा तो स्वयं-स्वरूप से इष्ट और अनिष्ट स्वरूप में तीनकाल में भी विशेष-अन्तर स्वीकार नहीं किया जा सकेगा ।

1 प्रागभावप्रध्वंसाभावनिल्लववादिमतनिराकरणानन्तरम् । (दि० प्र०) 2 समन्तभद्राः । (दि० प्र०) 3 न कथ्येत । (व्या० प्र०) 4 स्वरूपेण । (व्या० प्र०) 5 आत्मनः सकाशात् । (व्या० प्र०) 6 चेतना । (व्या० प्र०) 7 को भावः । (व्या० प्र०) 8 वादिनः । (व्या० प्र०) 9 अनिष्टात्मानवस्वेष्टात्मनापीति । (व्या० प्र०) 10 स्वरूपेण । (व्या० प्र०) 11 स्वरूपयोस्तत्त्वयोः । (दि० प्र०) 12 षट्स्वरूपात् षटस्य । (दि० प्र०)

[ इतरेतराभावस्य लक्षणं तस्य निह्वे च हानिप्रदर्शनं ]

स्वभावान्तरात्स्वभावव्यावृत्तिरन्यापोहः । स्वभावान्तरादिति वचनान्न <sup>१</sup>स्वस्वभावाद्द्व्यावृत्तिरन्यापोहः, तस्याः स्वापोहत्वप्रसङ्गात् । अथापि <sup>२</sup>प्रागभावप्रध्वंसाभावयोरन्यापोहत्वप्रसक्तिरिति <sup>३</sup>चेन्न, <sup>४</sup>कार्यद्रव्यात्पूर्वोत्तरपरिणामयोः स्वभावान्तरत्वेपि तस्य <sup>५</sup>तद्व्यावृत्तिर्विशिष्टत्वात् <sup>७</sup> । यदभावे हि नियमतः कार्यस्योत्पत्तिः स प्रागभावः <sup>८</sup>, यद्भावे च कार्यस्य नियता <sup>९</sup> विपत्तिः स प्रध्वंसः <sup>१०</sup> । न चेतरेतराभावस्याभावे भावे च कार्यस्योत्पत्ति-

[ इतरेतराभाव का लक्षण एवं उसके न मानने से हानि ]

शंका—पुनः अन्यापोह का लक्षण क्या है ?

समाधान—“स्वभावान्तर से स्वभावव्यावृत्ति अन्यापोह है ।” अर्थात् वर्तमान के पटस्वभाव में घटस्वभाव से व्यावृत्ति—पृथक्पना अन्यापोह है । अतएव स्वभावान्तर इस पद के कथन से स्वभाव से व्यावृत्ति हो जाना अन्यापोह नहीं है । तथा च यदि अपने स्वभाव से ही व्यावृत्ति मानोगे तब तो स्व-स्वभाव के ही अपोह—नाश का प्रसंग हो जाने से घटादि वस्तु स्वभावशून्य ही हो जावेंगी ।

शंका—फिर भी प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव में अन्यापोह का प्रसंग प्राप्त होता है ।

समाधान—नहीं । क्योंकि कार्यद्रव्य से पूर्व परिणाम प्रागभावरूप है और उत्तरपरिणाम प्रध्वंसरूप है उन दोनों में भिन्न-भिन्न होने पर भी वह कार्यद्रव्य पूर्व और उत्तर परिणामरूप की व्यावृत्ति से विशिष्ट है । अर्थात् इतरेतराभाव में व्यावृत्तिविशेष सम्भव नहीं है, जैसे कि पुद्गल और चैतन्य में व्यावृत्तिविशेष है, क्योंकि जिसके अभाव में नियम से कार्य की उत्पत्ति होवे, वह प्रागभाव है और जिसके होने पर नियम से कार्य का विनाश होवे वह-वह प्रध्वंस है ।

इस प्रकार से इतरेतराभाव के अभाव या सद्भाव में कार्य की उत्पत्ति या विनाश नहीं है, क्योंकि जल और अनल (अग्नि) में इतरेतराभाव तो है, किन्तु जल के अभाव में अनल की उत्पत्ति का कोई नियम नहीं है और कहीं जल के सद्भाव में उस—अनल का विनाश भी नहीं है इसीलिये जल एवं अनल में इतरेतराभाव है, तथा प्रागभाव व प्रध्वंसाभाव का अभाव है ।

१ ता । (दि० प्र०) २ सौ० आह । हे स्याद्वादिन् । यद्यपि स्वभावान्तरात्स्वभावव्यावृत्तिरन्यापोहस्तथापि प्रागभावप्रध्वंसाभावौ अन्यापोह एव इत्यायातम् । कोर्थः । प्रागभावप्रध्वंसाभावान्यापोहाङ्गिन्मी न भवत इति चेत्—स्या० हे सौमत ! एव न । कस्मात् घटात्मकात् कार्यद्रव्यात् कुशूलकपाललक्षणयोः पूर्वोत्तरपरिणामयोः प्रागभावप्रध्वंसाभावयोर्भिन्नस्वभावत्वेपि तस्यान्यापोहस्य विशिष्टत्वात् विशिष्टत्वं कुतः तद्व्यावृत्तेः । (दि० प्र०) ३ इतरेतराभावः । सद्भावः । (दि० प्र०) ४ अन्यापोहलक्षणस्य सद्भावात् । (दि० प्र०) ५ घटः । (दि० प्र०) ६ ताभ्याम् । (व्या० प्र०) ७ तत् कुतः । (दि० प्र०) ८ यतः । (व्या० प्र०) ९ नियमवती । (दि० प्र०) १० आशङ्क्य । (दि० प्र०)

विपत्तिर्वा, जलस्याभावेऽप्यनलस्यानुत्पत्तेः<sup>१</sup> क्वचित्तद्भावे च तस्याऽविपत्तेः । क्वचिदन्धकार-  
स्याभावे रूपज्ञानोत्पत्तेः स प्रागभावस्तस्य स्यादिति न मन्तव्यं, नियमग्रहणात् केषाञ्चि-  
दन्धकारेऽपि रूपज्ञानोत्पत्तेः । तत एव नान्धकारं रूपज्ञानस्य प्रध्वंसः, तद्भावे नियमत-  
स्तद्विपत्त्यप्रतीतिः<sup>२</sup> । ततः सूक्तमन्यापोहलक्षणं स्वभावान्तरात्स्वभावव्यावृत्तिरन्यापोह<sup>३</sup> इति,  
तस्य 'कालत्रयापेक्षेऽत्यन्ताभावेऽप्यभावादतिव्याप्त्ययोगात्' । न हि<sup>४</sup> घटपटयोरितरेतराभावः  
कालत्रयापेक्षः, कदाचित्पटस्यापि 'घटत्वपरिणामसंभवात्, तथा<sup>५</sup> परिणामकारणसाकल्ये

भावार्थ—घड़े बनने के पहले अन्तिमक्षण की पर्याय—मृत्पिण्ड को प्रागभाव कहते हैं, उसी घड़े की  
कपालपर्याय के पूर्वक्षण को प्रध्वंसाभाव कहते हैं एवं घट और पट में इतरेतराभाव है । जीव एवं  
पुद्गल में अत्यन्ताभाव है ।

शंका—कहीं पर अंधकार का अभाव होने पर रूपज्ञान की उत्पत्ति होती है, इसलिये वह  
अंधकार का अभाव प्रागभाव है ।

समाधान—ऐसा भी नहीं मानना चाहिये, क्योंकि नियम शब्द का ग्रहण किया है एवं अंधकार  
के अभाव में रूपज्ञानोत्पत्ति का नियम नहीं है, क्योंकि किसी के अंधकार में भी रूपज्ञान की उत्पत्ति  
देखी जाती है और उसी प्रकार से वह अंधकार रूपज्ञान का प्रध्वंस भी नहीं है, क्योंकि अंधकार के  
सद्भाव में भी नियम से उस रूपज्ञान का विनाश प्रतीति में नहीं आता है ।

भावार्थ—कार्य प्रागभाव को समाप्त करके ही होता है जब तक प्रागभाव विद्यमान है तब तक  
कार्य हो नहीं सकता है अतः प्रागभाव कार्य का पूर्णतया विरोधी है, उसी प्रकार जब तक प्रध्वंसाभाव  
विद्यमान है, तब तक किसी वस्तु का नाश असंभव ही है । जब प्रध्वंसाभाव का अभाव होता है,  
तभी कार्य का विनाश होता है, अन्यथा नहीं किन्तु इतरेतराभाव में यह बात नहीं है । यह केवल एक  
वस्तु—पुस्तक में अन्य—चौकी आदि का हो अभाव सिद्ध करता है ।

इसीलिये यह अन्यापोह का लक्षण बिल्कुल ठीक कहा गया है कि "स्वभावान्तर से स्वभाव  
में व्यावृत्ति होना अन्यापोह है" और इस अन्यापोह लक्षण का तीन काल की अपेक्षा रखने वाले

१ यथा जलस्याऽभावेऽप्यग्नेरुत्पत्तिर्न । क्वचित् क्षेत्रे वस्तुनि वा जलस्य सद्भावेऽप्यग्नेर्विनाशो न । तथा इतरेतरा-  
भावस्याभावे कार्यस्योत्पत्तिर्न । इतरेतराभावस्य सद्भावे कार्यस्य विपत्तिर्न । इति कोट्यः । इतरेतराभाव एव प्रागभाव-  
प्रध्वंसाभावो भवतः मीमाताभिप्राय एवम् । इति न तयोर्भिन्नलक्षणत्वात् । (दि० प्र०) २ तद्विपत्त्यप्रतीततः इति  
पा० । (दि० प्र०) ३ ननु चैतल्लक्षणस्य प्राक् प्रध्वंसाभावयोरसत्त्वेऽप्यत्यन्ताभावे सद्भावादितल्लक्षणस्यातिव्याप्तिः  
स्यादित्याह । (दि० प्र०) ४ सो० आह इतरेतराभावः प्रागभावप्रध्वंसाभावो भास्तु । तर्हि अत्यन्ताभावे सोऽस्तु ।  
स्या० आह अत्रापि तस्याभावः । (दि० प्र०) ५ स्वभावान्तरसंक्रमणमतिव्याप्तिस्तस्या असंभवात् । उक्त लक्षणस्या-  
न्यत्रारोपणमतिव्याप्तिः । (दि० प्र०) ६ इतरेतराभावोऽपि कालत्रयापेक्षो भविष्यतीत्याह । (दि० प्र०) ७ घटादित्वम् ।  
(दि० प्र०) ८ पटत्वघटत्वप्रकारेण । (दि० प्र०)



तदविरोधात्, पुद्गलपरिणामानियमदर्शनात् । न चैवं<sup>१</sup> चेतनावेतनयोः कदाचित्तादात्म्य-  
परिणामः, तत्त्वविरोधात् ।

[ विज्ञानाद्वैतवादी इतरेतराभावं न मन्यते तस्य विचारः क्रियते ]

नन्वितरेतराभावस्य व्यतिक्रमे चार्वाकस्य पृथिवीतत्त्वं सकलजलाद्यात्मकमनुषज्यतां<sup>२</sup>,  
सांख्यस्य च महदादिपरिणामात्मकमशेषतस्तदस्तु<sup>३</sup> । सौगतानां तु विज्ञानमात्रमुपयतां<sup>४</sup> किं  
किमात्मकं स्यादिति कश्चित्सोपि न विपश्चिन् । सौगतानामपि हि<sup>५</sup> संविदो ग्राह्याकारा-

अत्यन्ताभाव में भी अभाव है, अतः अतिव्याप्ति दोष भी नहीं आता है । अर्थात् यह इतरेतराभाव  
अत्यन्ताभाव में भी नहीं जाता है, क्योंकि घट और पट में जो इतरेतराभाव है, वह तीनों कालों की  
अपेक्षा रखने वाला नहीं है । कदाचित् पट में भी घटरूप परिणाम सम्भव है ।

भावार्थ—पट कभी नष्ट होकर मिट्टीरूप परिणत हो गया, कालान्तर में वह मिट्टी घट बन जाती  
है, तथैव जलबिन्दु समुद्र में सीप में मोती रूप पृथ्वीकायिक बन जाते हैं । पृथ्वीकायिक चन्द्रकांतमणि  
से चन्द्रमा का स्पर्श होने पर पानी झरने लगता है । सूर्यकांतमणि से अग्नि की उत्पत्ति देखी जाती  
है अथवा अग्नि से अंजन आदिरूप पृथ्वी की उत्पत्ति देखी जाती है, इत्यादि अनेकों उदाहरण देखे  
जाते हैं । अतः उस प्रकार के परिणमन में कारणसाकल्य के मिल जाने पर पट के घटरूप होने  
में कोई विरोध नहीं है । पुद्गलद्रव्य को अनेक पर्यायों का भिन्न-भिन्न रूप परिणमन करने में कोई  
भी नियम नहीं देखा जाता है ।

इस प्रकार से चेतन और अचेतन में कदाचित् तादात्म्यरूप परिणाम हो, ऐसा भी नहीं कह  
सकते हैं, क्योंकि भिन्न-भिन्न तत्त्व होने से उनमें तादात्म्य का विरोध है । अतएव इन चेतन और  
अचेतनरूप भिन्न-भिन्न तत्त्वों में अत्यन्ताभाव ही है ।

सौगत (विज्ञानाद्वैतवादी) —इतरेतराभाव का लोप करने पर तो चार्वाक के यहाँ एक पृथ्वी  
ही सकल जलादिरूप सर्वात्मक हो जावेगी तो ही जावे और सांख्य के यहाँ महान् अहंकार आदि  
अनेक परिणामरूप २४ तत्त्व एकरूप बन जावेंगे, तो बन जावें । यह सब दोषारोप तो उन्हीं के यहाँ

१ घटपटप्रकारेण । (दि० प्र०) २ हे स्या० ! सौगत आह, प्रागभावप्रध्वंसाभावात्यन्ताभावानङ्गीकारे चार्वाकादी-  
नामप्येतत् सध्यमाणं दूषणमायाति । (दि० प्र०) ३ जलाद्यात्मकवस्तु प्रधानमस्तु । इष्टतत्त्वम् । (दि० प्र०)  
४ चार्वाकसांख्ययोर्नानातत्त्ववादिनोरितरेतराभावानभ्युपगमेन कृत्वा उक्तं दूषणमायातु = अस्माकं विज्ञानमात्रमेकमेव  
तत्त्वमभ्युपगच्छतामस्तत्त्वादिनां किं तत्त्वं किं स्वरूपं स्यादिति न किमपि तत्त्वपरतत्त्वं स्वभावं न स्यादिति  
कश्चित् — स्या० आह सोऽपि न धीमान् = स्या० हे विज्ञानवादिन् ! भवदभ्युपगता संवित् ग्राह्याकाराद् व्यावर्त्तते न  
व्यावर्त्तते वेति विकल्पः । व्यावर्त्तते चेत्तत्रापि कथञ्चिद्व्यावर्त्तते सर्वथा व्यावर्त्तते वेति प्रश्नः । (दि० प्र०) ५ परि-  
च्छित्तेः । (दि० प्र०)

त्कथञ्चिद्व्यावृत्ता<sup>१</sup>वनेकान्तसिद्धिरन्यथा संबन्धासिद्धिः, सर्वथा व्यावृत्तौ<sup>२</sup>संविद्ग्राह्याकार-  
योरुपकार्योपकारकभावानभ्युपगमात्सम्बन्धान्तराभावात्<sup>३</sup> । <sup>४</sup>अव्यावृत्तावन्यतरस्वभावहानेर्न<sup>५</sup>  
किञ्चित्स्यात्<sup>६</sup> । संविदो<sup>७</sup> ग्राह्याकारेणुप्रवेशे ग्राह्याकारएव स्यान्न संविदाकारः । तथा च तस्या-  
प्यभावः, संविदभावे ग्राह्याकारायोगात् । ग्राह्याकारस्य वा संविद्यऽनुप्रवेशे संविदेव, न ग्राह्याकारः<sup>८</sup>  
स्यात्, <sup>९</sup>कस्यचित्संवेदनमात्रस्य विषयाकारविकलस्यानुपलब्धेः । ननु<sup>१०</sup> च

“नान्योनुभाव्यो<sup>११</sup> बुद्ध्यास्ति तस्या नानुभयोऽपरः । ग्राह्यग्राहकवैधुर्यात्स्थयं सैव प्रकाशते”

सम्भव है, परन्तु हमारे यहाँ तो कौन सी वस्तु किसरूप होगी, जब कि हमने कोई पदार्थ ही स्वीकार नहीं किये हैं । हम तो केवल विज्ञानमात्र—एक विज्ञानाद्वैत को ही स्वीकार करते हैं ।

जैन—आप भी विचारशील नहीं हैं “क्योंकि आपके यहाँ भी एक ज्ञानमात्र में ग्राह्य—नीलादि आकार का कथञ्चित्—नीलादि आकाररूप विशेषण से व्यावृत्ति करने पर तो अनेकान्तरूप द्वैत की ही सिद्धि होती है । अन्यथा यदि सर्वथा भेद स्वीकार करो तो सम्बन्ध की सिद्धि नहीं हो सकती है ।” अर्थात् ज्ञान को ज्ञेयाकार से व्यावृत्त—पृथक् मानना ही पड़ेगा यदि संवित् ज्ञान और ग्राह्याकार तथा ज्ञेयाकार में सर्वथा व्यावृत्ति मानोगे तब तो उपकार्य और उपकारकभाव नहीं हो सकेगा, क्योंकि उपकार्य-उपकारकभाव के सिद्धा आपने समवाय आदि सम्बन्धान्तर—भिन्न सम्बन्ध तो माने ही नहीं हैं ।

यदि आप कहें कि हमने “ज्ञान और ज्ञेयाकार में व्यावृत्ति नहीं मानी है, तब तो किसी एक की स्वभाव हानि हो जाने से दोनों में से कोई एक भी सिद्ध नहीं होगा, क्योंकि ज्ञेयाकार विषय में ज्ञान का अनुप्रवेश हो जाने पर ज्ञेयाकार विषय ही रहेगा किन्तु संविदाकार नहीं रह सकेगा । एवं ग्राह्याकार-ज्ञान के अभाव में उस ग्राह्याकार का भी अभाव हो जावेगा, क्योंकि ज्ञान के अभाव में ग्राह्याकार रह नहीं सकता है । अथवा ग्राह्याकार-ज्ञेयाकार का ज्ञान में अनुप्रवेश हो जाने पर ज्ञानमात्र ही रह जावेगा, पुनः ज्ञेयाकार कोई चीज नहीं बन सकेगी । उसी प्रकार ज्ञेयाकार के अभाव में ज्ञान का भी अभाव हो जावेगा । “क्योंकि विषयाकार से रहित किसी भी संवेदनमात्र की उपलब्धि नहीं हो रही है ।” अर्थात् विषयाकार को छोड़कर अकेला ज्ञानमात्र सम्भव नहीं है ।

बौद्ध (संवेदनाद्वैतवादी)—

श्लोकार्थ—बुद्धि के द्वारा अन्य कोई भी वस्तु अनुभव—ग्रहण करने योग्य है ही नहीं और उस बुद्धि को ग्रहण करने वाला अन्य कोई अनुभव भी नहीं है । इस प्रकार ग्राह्य, ग्राहक भाव से रहित

१ भेदे । (दि० प्र०) २ द्वन्द्वः । (व्या० प्र०) ३ समवायादि । (व्या० प्र०) ४ संविदो ग्राह्याकारात् । (व्या० प्र०)  
५ तयोधर्ममध्य एकस्य स्वभावहानेः । (व्या० प्र०) ६ संविद्ग्राह्याकारस्वरूप वा । (व्या० प्र०) ७ भाव्य भाव-  
यन्नाह । (व्या० प्र०) ८ तथा च तस्याप्यभाव इत्येतदत्रापि सम्बन्धनीयम् । बुद्ध्या ग्राह्यमन्यः कश्चन् तास्तीत्यनेन  
बुद्धेर्ग्राह्याकारो निरस्तः । (दि० प्र०) ९ तस्याप्यभावः कुतः । (व्या० प्र०) १० माध्यमिकः । (व्या० प्र०)  
११ ग्राह्याकारोन्यो बोधो निरस्तस्तस्यापरोऽनुभवो ग्राहको न भवतीत्यनेन । (व्या० प्र०)

इति चेन्न<sup>१</sup>, एमपि<sup>२</sup> संवित्ते<sup>३</sup> स्वलक्षणप्रत्यक्षवृत्तावपि<sup>४</sup> संवेद्याकारविवेक<sup>५</sup> स्वभावान्तरानुप-  
लब्धेः स्वभावव्यावृत्तिः स्वभावान्तरात्सिद्धेति<sup>६</sup> कथं तल्लक्षणान्यापोहव्यतिक्रमः सौगतस्य  
शक्यः कर्तुम् ?

स्वयं वह निर्विकल्पबुद्धि ही प्रकाशित हो रही है। अर्थात् ज्ञान के द्वारा ग्रहण करने योग्य कोई भी विषयभूत पदार्थ जगत् में नहीं है और उस ज्ञान को भी ग्रहण करने वाला कोई नहीं है, अतः ग्रहण करने योग्य और ग्रहण करने वाले रूप भेदभाव से रहित एक निर्विकल्पज्ञान ही विज्ञानतत्त्व है।

जैन—इस प्रकार से ज्ञान में स्वलक्षण-प्रत्यक्ष की वृत्ति के होने पर भी संवेद्याकार-ज्ञेयाकार भेदरूप स्वभावांतर की उपलब्धि न होने से स्वभावांतर-भिन्नस्वभाव से स्वभाव की व्यावृत्ति सिद्ध हो है।

पुनः इस प्रकार से आप सौगत के द्वारा “स्वभावांतरात्स्वभावव्यावृत्तिः” रूप लक्षण वाले अन्यापोह का व्यतिक्रम करना कैसे शक्य होगा ?

भावार्थ—आप विज्ञानाद्वैतवादी के यहाँ भी निर्विकल्पज्ञान का स्वलक्षणस्वरूप तो सिद्ध है, किन्तु ज्ञेयाकाररूप स्वभावांतर से व्यावृत्ति भी तो है ही है। अतः इतरेतराभाव सिद्ध ही है। अन्यथा ज्ञान में ज्ञेयाकार की व्यावृत्ति (अभाव) नहीं मानोगे, तब तो उपर्युक्त कथनानुसार दोनों ही एक-रूप हो जाने से दोनों में से किसी एक की भी सिद्धि नहीं हो सकेगी, क्योंकि दोनों में से एक दूसरे की व्यावृत्ति—पृथक्पना न होने से दोनों एकमेकरूप होकर या ज्ञानरूप ही हो जावेंगे, या ज्ञेयाकाररूप ही। पुनः एक के अभाव में दूसरे का सद्भाव भी सिद्ध नहीं हो सकेगा, क्योंकि दोनों एकमेक हो चुके हैं। अतः आपके यहाँ भी ज्ञान और ज्ञेयाकार में इतरेतराभाव सिद्ध ही है आप उसका लोप नहीं कर सकते हैं। अर्थात् यदि आप विज्ञानाद्वैतवादी ज्ञान को निरंश मानते हैं और जानने वाला मानते हैं तथा जानने योग्य चेतन-अचेतनरूप ज्ञेयपदार्थों को अविद्या से कल्पित मानते हैं, अतः ज्ञेय से आपका ज्ञान व्यावृत्त—पृथक् तो है ही है और उस ज्ञान का ज्ञेय से पृथक् होना ही इतरेतराभाव है।

१ स्या० एवमपि न संविन्मात्रस्य स्वस्वरूपानुभवनं प्रवर्त्तनेपि वेद्याकाररहिताज्ज्यस्वभावादशंसात् कोर्यः ज्ञानस्य संवेद्याकारलक्षणस्वरूपानुभवनम् । स्वभावः । संवेद्याकाराननुभवनं स्वभावान्तरं तस्मात् स्वभावव्यावृत्तिः सिद्धयेदिति स्वभावान्तरात् स्वभावव्यावृत्तिलक्षणान्यापोहानङ्गीकारः सौगतेन कथं कर्तुं शक्यः न कथमपि । स्या० यथा संविन्मात्रादिना तथा चिन्मैकज्ञानवादिनापि विविचार्थनिर्भासिपि रक्तपीतादीनामन्योन्यव्यावृत्तिरंगीकर्तव्या । अन्यथा व्यावृत्तेर-भावे चित्रप्रतिभास एव न संभवति । यथैकस्मिन्नेव नीलादौ निर्भासे चित्रप्रतिभासो न = न केवलं निर्भासे लोहितादीनामपि परस्परव्यावृत्तिरन्युपगमनीया किन्तु बहिरर्थानां नीलादीनामपि परस्परव्यावृत्तिर्मन्या । अन्यथा तेषाम-भेदस्वभावापद्यते । यथा नीलादीनां मध्य एकस्मिन्नीलादावभेदस्वभावापद्यते । (दि० प्र०) २ ज्ञानस्य । (दि० प्र०) ३ सचेतनस्वरूपस्य । (दि० प्र०) ४ व्यावृत्तिः । (दि० प्र०) ५ वेद्याकारविवेकरूपाद्विशेष्याद् दृश्यात् । (दि० प्र०) ६ सिद्धयेति इति पा० । (दि० प्र०)

[ चित्राद्वैतवादिमतेऽपि इतरेतराभावः सिद्ध्यत्येव ]

चित्रैकज्ञानवादिनः पुनः शबलविषयनिर्भासिपि<sup>१</sup> लोहितादीनां<sup>२</sup> परस्परव्यावृत्तिरभ्यु-  
पगमनीया<sup>३</sup>, अन्यथा<sup>४</sup> चित्रप्रतिभासासंभवात्तदन्यतमवत्<sup>५</sup>, तदालम्बनस्यापि<sup>६</sup> नीलादेरभेद-  
स्वभावत्वापत्तेर्नीलाद्यन्यतमवत् । प्रतिभासभेदाभावेपि नीलादेर्भेदव्यवस्थितौ न किञ्चिद-  
भिन्नमेक<sup>७</sup> स्यात्<sup>८</sup>, निरंशस्वलक्षणस्याप्यनेकत्वप्रसक्तेः<sup>९</sup> । ततः पीतादिविषयस्वरूपभेद-  
मन्विच्छता<sup>१०</sup> ११ तत्प्रतिभासभेदोऽनेकविज्ञानवदेकचित्रज्ञानेऽप्येष्टव्यः । तदिष्टौ<sup>१२</sup> च स्वभा-

[ चित्राद्वैतवादी के मत में भी इतरेतराभाव सिद्ध है ]

पुनः चित्रैकज्ञानवादी योगाचार को भी शबलविषय का प्रतिभास जिसमें है ऐसे चित्रज्ञान में भी लाल, पीले आदि जो अनेक ज्ञानाकार हैं, उनमें परस्पर में व्यावृत्ति—पृथक्पत्ता स्वीकार करना ही चाहिये । अन्यथा चित्र का प्रतिभास ही असंभव हो जावेगा । जैसे कि किसी एकवर्ण का ज्ञान एकरूप है वैसे ही चित्रज्ञान भी एक वर्ण रूप होने से चित्र नहीं कहलावेगा । एवं उस चित्रज्ञान के आलम्बन रूप नीलादि वर्णों में अभेद स्वभाव की आपत्ति का प्रसंग प्राप्त हो जावेगा । नीलादि किसी एक वर्ण के समान । अर्थात् लाल, पीले, नीले आदि अनेक वर्णों के द्वारा ही कोई चित्र बनता है । उस चित्र विचित्र वर्णों से मिश्रित किसी एक वस्तु को चित्र कहते हैं और उसके ज्ञान को चित्रज्ञान कहते हैं, किन्तु लाल, पीले आदि अनेक वर्ण ज्ञान में से किसी एक ज्ञान को चित्रज्ञान नहीं कह सकते हैं ।

यदि ज्ञान में भेद न मानकर नीलादि में भेद मानोगे तो भी दोष आते हैं

यदि प्रतिभास भेद का अभाव होने पर भी नीलादि में भेद व्यवस्था मानो, तब तो कोई भी अभिन्नरूप एकवस्तु ही नहीं हो सकेगी । पुनः निरंश स्वलक्षणरूप प्रत्यक्ष को भी अनेकपत्ते का प्रसंग प्राप्त हो जावेगा । इसलिए पीले, नीले आदि विषय-पदार्थ में स्वभावभेद की स्वीकार करते हुये अनेकविज्ञान के समान उसके प्रतिभासभेद भी एक चित्रज्ञान में स्वीकार करना ही चाहिये और

१ चित्रम् । (दि० प्र०) २ पीतादिप्रतिभासानाम् । (दि० प्र०) ३ ईप् । (दि० प्र०) ४ चित्रैकज्ञानवादिनाम् । (दि० प्र०) ५ विषयिणो ज्ञानस्य चित्रप्रतिभासासंभवादेव तदालम्बनस्य नीलादेर्भेदस्वभावापत्तिरिति हेतुमद्भावाद् द्रष्टव्यः । (दि० प्र०) ६ अत्रान्यथा चित्रप्रतिभासासंभवादित्येतद्वेतुत्वे न दृष्टव्यम् । (दि० प्र०) ७ विषयिणो ज्ञानस्य प्रतिभासभेदाभावेपि विषयस्य नीलादेर्भेदव्यवस्थितिः इत्याशंकायामाह । (व्या० प्र०) ८ सो० नीलादीनां प्रतिभासभेदो नास्ति तथापि बहिर्नीलादयो भिन्ना व्यवतिष्ठन्ते । स्या० आह । हे विज्ञानवादिन् सौगत ! यद्येवं तदालोके एकमपि चित्तत्वमभिन्नमेकात्मकं नास्ति कोर्धः सर्वं चित्रात्मकमेव । कुतः भवदभ्युपगतस्य निरंशस्वलक्षणस्य बहिरर्थस्यापि चित्रात्मकत्वप्रसंगात् । (दि० प्र०) ९ प्रतिभासभेदाभावेपि भेदव्यवस्थाङ्गीकरणात् । (व्या० प्र०) १० अंगीकुर्वता । (व्या० प्र०) ११ पीतादि । (दि० प्र०) १२ तस्य पीतादिप्रतिभासभेदस्येष्टौ अंगी-  
कारे । (दि० प्र०)

वान्तरात्स्वभावव्यावृत्तिः पारमार्थिकी सिध्यतीति सिद्धस्तल्लक्षणोन्यापोहः । तथा<sup>१</sup> चित्र-  
ज्ञानस्य स्वनिर्भासेभ्यो लोहितादिभ्यो विषयस्य च चित्रपटादेः स्वाकारेभ्यो नीलादिभ्यो  
व्यावृत्तिः<sup>२</sup> सिद्धा ।

[ चित्राद्वैतज्ञानस्यैकानेकस्वभावात् एकानेकस्वभावज्ञाने इतरेतराभावः सिद्धश्चेत्येव ]

कुतः प्रमाणादिति चेत्, तद्वत्स्तेभ्यो व्यावृत्तिः<sup>३</sup>, एकानेकस्वभावत्वाद् 'घटरूपादिव-  
वित्यनुमानात्'<sup>४</sup> । न हि लोहितादिनिर्भासा<sup>५</sup> एव नीलाद्याकारा एव वानेकस्वभावा, न पुन-

उसको स्वीकार करने पर "स्वभावांतर से स्वभाव की व्यावृत्ति" वास्तविकरूप सिद्ध हो जाती है ।  
पुनः इस प्रकार से उस लक्षण वाला अन्यापोह भी सिद्ध ही हो जाता है और उसी प्रकार—ज्ञान के  
विषयभूत पदार्थों में परस्पर में भेद को मान लेने पर चित्रज्ञान में स्वनिर्भासरूप लोहित आदि  
ज्ञानाकारों की तथा विषयरूप चित्रपट आदि में अपने-अपने आकाररूप नील, पीतादि वर्णों की  
व्यावृत्ति सिद्ध हो जाती है ।

भावार्थ—चित्राद्वैतवादी एक चित्रज्ञानमात्र ही मानता है और कुछ भी बाह्यपदार्थ नहीं  
मानता है एवं उस चित्रज्ञान को एक कहता है । अतः उसका कहना है कि इस एक चित्रज्ञान में  
इतरेतराभाव कैसे घटित होगा ? क्योंकि एक ही वस्तु में "यह इससे भिन्न है" ऐसा व्यवहार कैसे  
होगा ? इस पर जैनाचार्य कहते हैं कि एक चित्रपट में काले, पीले, लाल, हरे और सफेद आदि अनेक  
रंग से बने हुये मयूर, हंस आदि चित्र कहलाते हैं वे रंग एक दूसरे से पृथक् अवश्य हैं और उनका  
ज्ञान भी एक दूसरे से पृथक् है नीले कंठ को जानने वाला ज्ञान हरे मुनहरे आदि रंग के ज्ञान से  
पृथक् ही है । बस ! इसी का नाम तो इतरेतराभाव है एक वर्ण दूसरे वर्ण से भिन्न होकर व्यावृत्त  
स्वभाव वाला है । हरा वर्ण पीले वर्णरूप न होने से भिन्न स्वभाव से व्यावृत्त है और इस चित्र  
का ज्ञान भी एक वर्ण के ज्ञान से भिन्न-भिन्नरूप से अनेक वर्णों से युक्त चित्र को समझते हुये चित्र-  
ज्ञान कहलाता है । आप चित्र भी कहें और उसे एकरूप भी कहें ये दोनों बातें परस्पर बाधित हैं ।  
अतः चित्राद्वैत में भी प्रतिभास (ज्ञान) भेद तथा चित्र में विषय स्वभावभेद होने से इतरेतराभाव  
सिद्ध ही है ।

[ चित्राद्वैतज्ञान एकानेकस्वभाव वाला है और एकानेकस्वभाव से इतरेतराभाव सिद्ध ही है ]

शंका—आप इस प्रकार की व्यावृत्ति पुनः किस प्रमाण से सिद्ध करते हैं ?

समाधान—"तद्वान्-चित्रपट आदि की उन चित्रज्ञान-लोहित आदि ज्ञानों से व्यावृत्ति होती है  
क्योंकि वे एकानेक स्वभाववाले हैं जैसे कि घट और उसके रूपादि । इस अनुमान से व्यावृत्ति को

१ तदेति पा० । (दि० प्र०) सौत्रान्तिकस्य । (व्या० प्र०) २ भेदः । (दि० प्र०) ३ अस्तीति साध्यो धर्मः ।  
(दि० प्र०) ४ रसगन्धादि । (दि० प्र०) ५ सिद्धा । चित्रज्ञानस्य लोहितादिभ्यः स्वनिर्भासेभ्यः पक्षः । व्यावृत्तिरस्तीति  
साध्यो धर्मः एकानेकस्वभावत्वात् । यथा घटस्य रूपरसादिभ्यः—द्वितीयं तद्वत्तः चित्रपटादेर्विषयस्य नीलादिभ्यः स्व-  
कारेभ्यः पक्षव्यावृत्तिरस्तीति साध्यो धर्मः एकानेकस्वभावत्वात् घटरूपटादिवत् । (दि० प्र०) ६ ज्ञानाकारा ।  
(दि० प्र०)

रेकस्वभावं तद्वद्वेदनं बहिर्द्रव्यं चेति शक्यं वक्तुं, यतोऽसिद्धो हेतुः स्यात्, तस्याप्यबाधित-  
प्रतीतिसिद्धत्वात् । अन्यथा<sup>१</sup> द्रव्यमेव स्यान्न रूपादयः । एतेन चित्रज्ञानमेव स्यान्न तल्लो-  
हितादिनिर्भासा इत्युपदर्शितम् । शक्यं हि वक्तुं, स्वभावैकत्वेऽपि निर्भासवैलक्षण्यं<sup>२</sup> <sup>३</sup>करण-  
सामग्रीभेदमनुविदध्याद्<sup>४</sup>, <sup>५</sup>दूरासन्नकार्थोपनिबद्ध<sup>६</sup> नानादर्शननिर्भासवत्<sup>७</sup> । यथैव हि चित्र-  
पटादिद्रव्यमेकस्वभावमपि <sup>८</sup>चक्षुरादिकरणसामग्रीभेदाद्रूपादि<sup>९</sup> विलक्षणाकारं<sup>१०</sup>, तदनुविधानात्  
तथा<sup>११</sup> चित्रज्ञानमपि <sup>१२</sup>नानान्तःकरणवासनासामग्रीभेदाद्विलक्षणलोहितादिनिर्भासम् ।

सिद्धि होती है ।” क्योंकि वे लाल, पीले, नीले आदि प्रतिभास ही अथवा नीले, पीले आदि आकार ही अनेक स्वभाववाले हैं, ऐसा नहीं है ।

पुनः उसी प्रकार से चित्र पटादि का ज्ञान और बाह्यपदार्थ एक स्वभाववाले ही हैं, ऐसा कहना भी शक्य नहीं है कि जिससे “एकानेकस्वभावत्वात्” यह हेतु असिद्ध हो सके क्योंकि केवल भिन्न-भिन्न प्रतिभास ही नहीं, किन्तु उनके ज्ञान की एवं बाह्यपदार्थों की भी प्रतीति अबाधितरूप से सिद्ध हो रही है । अन्यथा-अबाधितरूप उस ज्ञान अथवा बाह्य द्रव्य की प्रतीति होने पर भी यदि आप कहें कि नहीं है, तब तो द्रव्य ही सिद्ध होगा न कि रूपादिक ।

अनेक स्वभाव वाले ही घटादि द्रव्य हैं उससे व्यतिरिक्त रूपादि नहीं हैं ऐसा मानने पर चित्रज्ञान ही रहेगा किन्तु उसके लाल, पीले, नीले आदि प्रतिभास नहीं सिद्ध हो सकेंगे ऐसा उपर्युक्त कथन का अभिप्राय समझना चाहिये क्योंकि हम ऐसा कह सकते हैं कि—स्वभाव में एकपत्ता होने पर भी भिन्न-भिन्न प्रतिभास-ज्ञान करणसामग्री के भेद का अनुसरण करता है । जैसे कि दूर और निकटवर्ती मनुष्यों को एक पदार्थ में उपनिबद्ध नाना-दर्शन का प्रतिभास भिन्न-भिन्न हो रहा है ।

जिस प्रकार से चित्रपट आदि एकस्वभाव वाले हैं, फिर भी चक्षुआदि करणसामग्री के भेद से रूपादि विलक्षण—भिन्न-भिन्न आकार को धारण करते हैं, क्योंकि चक्षु आदि के द्वारा उनका अन्वय-व्यतिरेक पाया जाता है । उसी प्रकार से चित्रज्ञान में भी नानापुरुषों के नाना अंतःकरणरूप वासना-सामग्री के भेद से भिन्न-भिन्न लाल, पीले आदि प्रतिभास होते हैं ।

१ स्वा० हे सौगत ! त्वया एकानेकस्वभावत्वादिति हेतोस्तद्वद्वेदोऽसिद्धो व्यावृत्तिरभ्युपगन्तव्या । यदि त्वमेवं कथ-  
यिष्यसि हे स्याद्वादिन् ! लोके रूपादय एव प्रतीयन्ते ततस्त एव सन्ति न द्रव्यमिति — स्वा० हे सौगत ! प्रत्यक्षेण  
प्रतीयमानस्य द्रव्यस्याङ्गीकारं कुरु । अन्यथा यद्यङ्गीकारं न कुरुषे तदा ममाप्यभिप्रायेण लोके द्रव्यमेव स्यान्न रूपादय  
इति समः समाधिः । (दि० प्र०) २ कर्तृ । (दि० प्र०) ३ इन्द्रिय । (दि० प्र०) ४ कर्म । (दि० प्र०) ५ यणः ।  
(दि० प्र०) ६ चक्षुः । वसः । (दि० प्र०) ७ पुरुषाणाम् । (दि० प्र०) ८ प्राणादि । (दि० प्र०) ९ रसादि ।  
(दि० प्र०) १० वसः । सम्पद्यते । (दि० प्र०) ११ सामग्रीभेदाद् वैलक्षणप्रकारेण । (दि० प्र०) १२ करणसामग्री  
भेदानुविधानमात्रं नास्ति किन्तु करणसामग्रीभेदात् स्वरूपेणाप्यस्ति भेदः । (दि० प्र०)

[ ज्ञानभेदात् वस्तुनां स्वभावभेदोऽपि भवेदेव ]

तथानभ्युपगमे<sup>१</sup> प्रतिपुरुषं विषयस्वभावभेदो<sup>२</sup> वा सामग्रीसंबन्धभेदात् । क्वचिदेकत्रार्थे दूरस्थपुरुषस्यान्यो हि दूरे देशसामग्रीसंबन्धोन्यश्चासन्नदेशसामग्रीसंबन्धः । इति<sup>३</sup> दूरासन्ना-  
तामेकत्र वस्तुन्युपनिबद्धनानादर्शनानां पुरुषाणां निर्भसिभेदात्तद्विषयस्य<sup>४</sup> वस्तुनोपि स्वभाव-  
भेदोस्तु, विशेषाभावात्, करणसामग्रीभेदवद्दूरादिदेशसामग्रीसंबन्धभेदस्यापि विषयस्वभावभे-

[ ज्ञान के भेद से वस्तु के स्वभाव में भी भेद मानना चाहिये ]

अथवा उस प्रकार से स्वीकार न करने पर पुरुष-पुरुष के प्रति विषय में स्वभावभेद हो जावेगा, क्योंकि सामग्री के संबंध में भेद पाया जाता है ।

भावार्थ—इस कथन से तो जैनमत ही सिद्ध हो जावेगा, क्योंकि जैनी ही पुरुष-पुरुष के प्रति विषय में स्वभावभेद स्वीकार करते हैं । यथा—एक मृतक वेश्या का कलेवर दन में पड़ा है, उधर से एक मुनिराज निकले, वे सोचते हैं अहो ! इस मूढ़ा ने अपनी कंचन जैसी मनुष्य पर्याय को व्यर्थ ही व्यसनों में लगाकर नष्ट कर दिया अब क्या पता कब मनुष्य पर्याय मिलेगी ? और कुछ आत्म-हित करने का समय आवेगा ? एक श्वान आता है, वह उस कलेवर को देखकर सोचता है, यह सब भीड़ हट जावे तो मेरा भोजन हो जावे मैं इस कलेवर से बहुत दिन तक अपना पेट भर सकता हूँ । बाद में कुछ व्यसनी लोग सोचते हैं कि यदि यह सुंदर स्त्री मरती नहीं तो अभी हम कितने दिन तक सुख का उपभोग और करते । कुछ विवेकशील सोचते हैं कि यह मर गई तो अच्छा हुआ कुछ मोही लोग दुर्व्यसनों से बचेंगे, कुछ व्यक्ति मात्र संसार की अस्थिरता का ही विचार कर रहे हैं ।

कुछ आधुनिक लोग उपर्युक्त उदाहरण को लेकर यह स्पष्ट करना चाहते हैं कि बाह्य निमित्त अकिञ्चित्कर है । देखो ! एक कलेवर में भिन्न-भिन्न लोगों के भिन्न-भिन्न ही भाव हो रहे हैं किन्तु जैनाचार्य इस बात को स्वीकार करने के लिये तैयार नहीं हैं । उनका कहना है कि प्रत्येक वस्तु में अनन्त स्वभाव-धर्म पाये जाते हैं प्रत्येक वस्तु अनन्त शक्तियों को लिये हुए है । अतः उस एक मृतक कलेवर के निमित्त से जितने व्यक्तियों के जितने प्रकार के भाव होते हैं उस कलेवर में भी उतने ही स्वभावभेद स्वीकार करना चाहिये । वस्तु में स्वभावभेद माने बिना किसी के भावों में या ज्ञान में भेद हो नहीं सकता है और प्रत्येक पदार्थ का भेद स्वभावान्तर—भिन्न स्वभावों से व्यावृत्त—पृथक्-पृथक् ही है जैसे कि घट का ज्ञान पट के ज्ञान से पृथक् ही है । अन्यथा दोनों ज्ञान एकरूप हो जाने से घट, पट आदि पदार्थों की पृथक्-पृथक् व्यवस्था ही नहीं बन सकेगी इसी स्वभावभेद को आगे आचार्य विद्यानन्द महोदय ने स्वयं ही स्पष्ट कर दिया है ।

किसी प्रदेश में एक वृक्षादि किसी पदार्थ में दूर में स्थित पुरुष को दूर में अन्य ही देश सामग्री का सम्बन्ध है और आसन्न देश में स्थित पुरुष को अन्य ही आसन्न देश सामग्री का सम्बन्ध है । और

१ एव । वृक्षादी । (दि० प्र०) २ हेतोः । अभ्युपगन्तव्यः । (दि० प्र०) ३ हेतोः । (व्या० प्र०) ४ भेदो भवति तस्मात् । (व्या० प्र०)

दमन्तरेणानुपपत्तेः । ततोन्तर्बहिश्च स्वभावभेदैकान्तसिद्धेर्न<sup>१</sup> क्वचिदेकत्वव्यवस्था<sup>२</sup> । अन्यथा<sup>३</sup> निर्भासभेदेऽपि कस्यचिदेकरूपतोपगमे न केवलं रूपादेरभेदः । किं तर्हि ? कस्यचित्क्रमशः संबन्ध्यन्तरोपनिपातोऽपि स्वभावं<sup>४</sup> न भेदयेत् । ततः क्रमवन्त्यपि कार्याणि तत्स्वभावभेदं<sup>५</sup> नानुमापयेयुः<sup>६</sup>, क्रमशः सुखादिकार्यभेदस्य साधनधर्मस्य क्वचिदेकत्र समानसंबन्धोपनीतनि-

इस प्रकार एक ही वस्तु में लगी है दृष्टि जिनकी ऐसे दूर और आसन्नवर्ती पुरुषों के प्रतिभास-ज्ञान में भेद होने से उस विषयभूत वस्तु में भी विशद-अविशदलक्षण स्वभावभेद हो जावे क्योंकि प्रतिभास और स्वभाव में कोई विशेषता नहीं है दोनों समान ही हैं क्योंकि करणसामग्री के भेद के समान विषय में स्वभाव भेद के बिना दूर, निकट आदि देश रूप सामग्री सम्बन्ध का भेद भी नहीं बन सकता है ।

भावार्थ—यहाँ जैनाचार्य कहते हैं कि सामने एक वृक्ष है कुछ व्यक्ति दूर से देख रहे हैं, कुछ अतिनिकट हैं, कुछ लोग थोड़ी दूर पर हैं । सभी को एक साथ वृक्ष देखने में उस वृक्ष का प्रतिभास ज्ञान स्पष्ट, कम स्पष्ट और अस्पष्टरूप से हो रहा है । किसी को वृक्ष साफ-साफ पत्तों, पुष्पों, फलों सहित दिख रहा है, कोई निकट भी है किन्तु दृष्टि की कमजोरी होने से उसे वृक्ष के अवयव विशेष कम साफ दिखते हैं फल, फूल, पत्तियाँ पृथक्-पृथक् नहीं झलकती हैं । अनेक व्यक्तियों को अनेक प्रकार का स्पष्ट-अस्पष्टादि ज्ञान हो रहा है ।

इस उदाहरण में उन देखने वाले व्यक्तियों में ही स्वभावभेद हो ऐसा नहीं है या सभी जानों में ही स्वभावभेद हो इतना मात्र भी नहीं है, किन्तु उस वृक्ष में भी अनेकों स्पष्ट, अस्पष्ट, कुछकम-स्पष्ट आदि अनेक शक्तियाँ विद्यमान हैं । मतलब यह है कि उस वृक्ष में भी स्वभावभेद मानना पड़ेगा । अतः सभी में स्वभावभेद होने से एक स्वभाव दूसरे स्वभाव से पृथक् है इसी का नाम इतरेतराभाव है ऐसा समझना चाहिये ।

यहाँ पर जैनाचार्यों ने भिन्न-भिन्न सहकारी कारण सामग्री के सम्बन्ध से वस्तु में स्वभावभेद को प्रकट किया है जैसे एकपुरुष को सुख के लिये बाह्य सहकारी कारणसामग्री, उत्तम भोजन,

१ यत एवं ततः अन्तस्तत्त्वे बहिस्तत्त्वे स्वभावेन नानात्मकघटनात् क्वचिदर्थे एकस्वभावघटना नास्ति । (दि० प्र०)  
 २ दूरपादपादी । (व्या० प्र०) ३ कोर्थः । अन्यथाऽन्तस्तत्त्वबहिस्तत्त्वयोः सर्वथास्वभावभेदाभावे निर्भासभेदोऽस्ति तस्मिन् सत्यपि सौगताभ्युपगतस्य कस्यचित् क्षणिकस्य वस्तुनः एकत्वाभ्युपगमे केवलं रूपादेरभेदो न किन्तु कस्यचित् संख्याभ्युपगतस्य नित्यस्य वस्तुनः क्रमेण सहकारिकारणसामग्रीमेलापकोऽपि नास्ति नानाकार्याणि जनयन्त्यपि स्वभावं न भिन्नन्ति । (दि० प्र०) ४ सुखादिकारणसामर्थ्यम् । (दि० प्र०) ५ नित्यम् । आत्मादि । (दि० प्र०) ६ क्रमशः सुखादिकार्याणि कारणस्वरूपभेदनिबन्धनानि विभिन्नकार्यत्वात् घटपटादिवत् । (दि० प्र०) ७ स्या० जीवादि वस्तु-पक्षो नानात्मकं भवतीति साध्यो धर्मः सुखदुःखादिकार्यत्मकत्वात् = पराह—हे स्याद्वादिन् ! तव हेतुर्व्यभिचारी कुतः क्वचिदेकस्मिन् द्रव्ये चक्षुरादिकरणसामग्री संयोगजनितनिर्भासभेदेन कृत्वा सुखादिकार्यभेदस्य साधनधर्मस्य व्यभिचारदर्शनात् = स्या० वस्तुस्वभावस्य नानात्मकत्वाभावे केवलं संबन्धोपनीतनिर्भासभेदेनैवमङ्गीकर्तुं न शक्य-मस्माभिः । (दि० प्र०)



भसिभेदेन<sup>१</sup> व्यभिचारात् । न<sup>२</sup> चैवं शक्यमभ्युपगन्तुम् । ततो यावन्ति संबन्ध्यन्तराणि तावन्तः प्रत्येकं भावस्वभावभेदाः परस्परव्यावृत्ताः सह क्रमेण च प्रतिपत्तव्याः ।

[ बौद्धः पदार्थेषु सर्वथा संबंधं न मन्यते ]

ननु<sup>३</sup> च सर्वथा संबन्धासंभवाद्भावानां पारतन्त्र्यानुपपत्तेः—

स्त्री, पुत्र माला, चन्दन आदि पदार्थ हैं इन सहकारीकारण के सम्बन्ध से पुरुष के परिणामों में सुख आदि भाव उत्पन्न होते हैं । इस पर बौद्ध तो सम्बन्ध को ही समाप्त करने का अतिसाहस करने लगा । उसी का आगे स्पष्टीकरण है ।

इसीलिये अंतरंग और बहिरंग पदार्थ में एकांत-नियम—रूप से स्वभावभेद की सिद्धि हो जाने पर कहीं पर भी एकत्व की व्यवस्था नहीं हो सकती है । अन्यथा निर्भसि भेद होने पर भी चित्रज्ञान अथवा चित्रपट आदि में एकरूपता स्वीकार करने पर केवल रूपादि में ही अभेद नहीं होगा ।

शंका—पुनः क्या होगा ?

समाधान—किसी आत्मा आदि के क्रमशः सम्बन्ध्यन्तर—सहकारी कारणमाला, स्त्री, भोजन आदि भिन्न वस्तु का सम्पर्क होने पर भी स्वभाव में भेद नहीं हो सकेगा । पुनः क्रम से होने वाले सुखादि कार्य जिनके कारण भिन्न-भिन्न हैं, वे भी उसके स्वभावभेद का अनुमान नहीं करा सकेंगे ।

क्रमशः जो सुखादि कार्यभेद हैं जो कि साधन के धर्म हैं, उनका किसी एकवस्तु में समान—करणसामग्री के सम्बन्ध से प्राप्त हुआ जो प्रतिभासभेद है, उससे व्यभिचार आवेगा, किन्तु ऐसा स्वीकार करना शक्य ही नहीं है, क्योंकि कार्य के भेद से कारण में भेद माना ही जाता है और उसी प्रकार प्रतिभास के भेद से वस्तु के स्वभाव में भी भेद मानना ही होगा ।

इसीलिये जितने सहकारीकारणरूप भिन्न-भिन्न सम्बन्ध हैं, उतने ही प्रत्येक पदार्थों में स्वभाव-भेद है, जो परस्पर में व्यावृत्त—भिन्न-भिन्नरूप हैं । जो कि युगपत् भी और क्रम-क्रम से पाये जाते हैं, ऐसा स्वीकार करना चाहिये । अर्थात् युगपत् जैसे दीप आदि में तैल का शोषण, बत्ती का जलाना, कज्जल छोड़ना, अंधकार का नाश करना, पदार्थों का प्रकाशन करना आदि स्वभावभेद पाया जाता है और क्रम से जैसे जीव में सुख-दुःख आदि स्वभावभेद देखे आते हैं । इसी प्रकार की व्यवस्था स्वीकार कर लेने पर तो अपने आप ही इतरेतराभाव आ जाता है ।

[ बौद्ध पदार्थों में सर्वथा सम्बन्ध नहीं मानते हैं ]

प्रश्न—पदार्थों में सर्वथा सम्बन्ध का अभाव होने से परतन्त्रता नहीं बन सकती है ।

१ स्पष्टास्पष्टभेदेन निर्भसित्य भेदेपि कारणस्यैकरूपत्वात् । (दि० प्र०) २ प्रतिभासभेदेऽप्येकत्वप्रकारेण । (दि० प्र०)

३ सौ० हे स्या० ! वस्तु सणिकं तस्य परेण सह सर्वथा संबन्ध एव नास्ति संबन्ध्यन्तरं कुतः यतः भावानां पारतन्त्र्यं नोत्पद्यते । (दि० प्र०)

“पारतन्त्र्यं हि संबन्धः<sup>१</sup> सिद्धे<sup>२</sup> का परतन्त्रता । तस्मात्सर्वस्य भावस्य सम्बन्धो नास्ति तत्त्वतः”

इत्यादिवचनान्त कस्यचित्संबन्धयन्तराणि<sup>३</sup> स्वभावभेदनिबन्धनानि सन्तीति चेन्न,

[ जैनाचार्याः द्रव्यक्षेत्रकालभावप्रत्यासत्तिलक्षणं चतुर्विधसंबन्धं साधयन्ति ]

“द्रव्यक्षेत्रकालभावप्रत्यासत्तिलक्षणस्य<sup>४</sup> संबन्धस्य निराकर्तुमशक्तेः । न हि “कस्यचित्केनचित्साक्षात्परम्परया<sup>५</sup> वा संबन्धो नास्तीति, निरुपाख्यत्वप्रसङ्गात् । गुणगुणिनोः पर्यायित्वतोश्च<sup>६</sup> साक्षादविष्वग्भावाख्यसमवायासत्त्वे<sup>७</sup> स्वतन्त्रस्य गुणस्य पर्यायस्य वाऽसत्त्वप्रसङ्गात् सकलगुणपर्यायरहितस्य द्रव्यस्याप्यसत्त्वापत्तिरिति<sup>८</sup> तयोर्निरुपाख्यत्वम् । गुणानां

श्लोकार्थ—सम्बन्ध ही परतन्त्रता है और जो सिद्ध हैं, उनमें परतन्त्रता क्या हो सकती है । अतएव सभी पदार्थों में वास्तव में सम्बन्ध नहीं है, इत्यादि कथन से स्वभाव के लिये कारणभूत ऐसा भिन्न-भिन्न सम्बन्ध किसी में भी नहीं है ।

[ जैनाचार्य द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की निकटतालक्षण संबंध को सिद्ध करते हैं ]

उत्तर—ऐसा नहीं कह सकते क्योंकि द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की प्रत्यासत्ति-निकटता-लक्षण संबंध का निराकरण करना अशक्य है ।

किसी का किसी के साथ साक्षात् या परंपरा से संबंध नहीं हो ऐसा नहीं है । अन्यथा—निःस्वरूपत्व का प्रसंग प्राप्त हो जावेगा । पुनः द्रव्य प्रत्यासत्तिलक्षण संबंध को दिखाते हैं । तथाहि—गुण और गुणी में तथा पर्याय और पर्यायवान् में साक्षात् अविष्वग्भाव-लक्षण अर्थात् कथंचित् तादात्म्य-लक्षण समवाय का अस्तित्व न मानने पर स्वतंत्ररूप से गुण अथवा पर्याय का अस्तित्व ही सिद्ध नहीं हो सकेगा ।

पुनः संपूर्ण गुण और पर्याय से रहित द्रव्य के भी अस्तित्व के अभाव का प्रसंग प्राप्त हो जावेगा । इस प्रकार से उन गुण और पर्याय दोनों को निःस्वरूपपने का प्रसंग प्राप्त होगा । गुण और पर्यायों के भी परस्पर में अपने आश्रय रूप एकद्रव्य समवायसंबन्ध-कथंचित् तादात्म्यलक्षण संबंध का अभाव होने पर असत्त्व की आपत्ति के प्रकार से ही निरुपाख्यपना सिद्ध हो जावेगा ऐसा प्रतिपादन किया गया है ।

१ वस्तुनि । (व्या० प्र०) २ कारणे कार्योपचारात् । (व्या० प्र०) ३ आत्मादिपदार्थस्य (व्या० प्र०) ४ स्वरूपस्य । (दि० प्र०) ५ सान्निध्य । (व्या० प्र०) ६ गुणादेः । (दि० प्र०) ७ गुण्यादिना । (व्या० प्र०) ८ मृद्द्रव्यम् । (व्या० प्र०) ९ मुख्यम् । (व्या० प्र०) १० संबन्धः । (व्या० प्र०) ११ हेतोः । (व्या० प्र०)

पर्यायाणां च परस्परं<sup>१</sup> स्वाश्रयैकद्रव्यसमवायसंबन्धाभावेऽप्यनेन निरुपाख्यत्वं प्रतिपादितम्<sup>२</sup> ।  
चक्षुरूपयोः परम्परया<sup>३</sup> क्षेत्रप्रत्यासत्तेरसत्त्वे योग्यदेशेऽप्ययोग्यदेशवद्रूपे चक्षुर्ज्ञानं न जनयेत् ।  
ततस्तद्ग्राहकानुमानासत्त्वादसत्त्वप्रसङ्गो, रूपस्यापि चेन्द्रियप्रत्यक्षासत्त्वादसत्त्वप्रसक्तिः ।  
इत्युभयोर्निरुपाख्यत्वम् । तथा कारणकार्यपरिणामयोः<sup>४</sup> कालप्रत्यासत्तेरसत्त्वेऽनभिमतकाल-  
योरिवाभिमतकालयोरपि<sup>५</sup> कार्यकारणभावासत्त्वादुभयोर्निरुपाख्यतापत्तिः । तथा<sup>६</sup> व्याप्ति-  
व्यवहारकालवर्तिनो धूमादिलिङ्गाग्न्यादिलिङ्गिनो भविप्रत्यासत्त्यसत्त्वे<sup>७</sup> <sup>८</sup>वचचित्पावकादिलि-  
ङ्गिनि <sup>९</sup>ततोऽनुमानायोगाद<sup>१०</sup> अनुमानानुमेययोरसत्त्वप्रसङ्गान्निरुपाख्यत्वप्रसङ्गः<sup>११</sup> । किं बहुना<sup>१२</sup>,

अब क्षेत्र प्रत्यासत्ति को दिखाते हुये कहते हैं कि —

चक्षु और रूप के परस्पर में क्षेत्र प्रत्यासत्ति का अस्तित्व स्वीकार करने पर अयोग्यदेश के समान योग्यदेश में भी रूप का चक्षुर्इन्द्रिय ज्ञान नहीं करा सकेगी । पुनः उस चक्षुर्इन्द्रिय को ग्रहण करने वाले अनुमान का अस्तित्व सिद्ध न होने से चक्षु के असत्त्व का प्रसंग प्राप्त होगा अर्थात् “मुझ में चक्षु है क्योंकि रूपज्ञान का सद्भाव है, इस प्रकार के अनुमान का अभाव होने से चक्षुर्इन्द्रिय का सद्भाव भी सिद्ध नहीं हो सकेगा । एवं इन्द्रियप्रत्यक्ष का असत्त्व होने से रूप के भी असत्त्व का प्रसंग प्राप्त हो जावेगा और इस प्रकार से चक्षुर्इन्द्रिय और रूप दोनों के ही निःस्वभावपने का प्रसंग आ जावेगा । तथैव काल प्रत्यासत्ति के विषय में स्पष्ट करते हुये कहते हैं कि —

कारण और कार्य परिणाम में काल प्रत्यासत्ति का अस्तित्व स्वीकार न करने पर अनभिमत काल के समान ही अभिमतकाल में भी कार्य-कारणभाव का अभाव हो जाने से उन कार्य-कारण-भावरूप दोनों का ही स्वभावसिद्ध नहीं हो सकेगा । उसी प्रकार भावप्रत्यासत्ति को दिखाते हुये कहते हैं कि —

व्याप्तिरूप व्यवहारकालवर्ती जो धूमादि लिङ्ग तथा अग्निआदि लिङ्गी हैं, उनमें भी भाव प्रत्यासत्ति के असत्त्व मानने पर किसी भी अग्नि आदि लिङ्गी में उस प्रकार से अनुमान की उद्भूति नहीं होगी एवं तब तो अनुमान और अनुमेय के असत्त्व का प्रसंग आ जावेगा तथा वे दोनों ही अनुमान और अनुमेय निःस्वरूप हो जावेंगे । अधिक और कहने से क्या प्रयोजन ? विज्ञानाद्वैत में भी ये चार प्रकार के संबंध घटित हो जाते हैं, उसी का आगे स्पष्टीकरण है ।

- १ कथञ्चित्तादात्म्यम् । (व्या० प्र०) २ गुणानां पर्यायाणाञ्च परम्परया संबन्धो द्रव्यद्वारेणेति । (व्या० प्र०)  
३ चक्षुरूपस्थप्रदेशयोर्मध्यप्रदेशेन संबन्धात् । (दि० प्र०) ४ पूर्वोत्तरक्षणलक्षण । (दि० प्र०) ५ वस्तुनोः । (दि० प्र०)  
६ व्याप्तेर्व्यवहारकालः ? (दि० प्र०) ७ उच्चलद्बहुलादिरूपो धूमो वह्निर्भासुराकारः इति तयोः स्वरूपप्रत्यासत्तिः । (व्या० प्र०) ८ भूधरे । (व्या० प्र०) ९ धूमात् । (व्या० प्र०) १० वह्निर्ज्ञानम् । (व्या० प्र०) ११ कालसंबन्धस्याभावे । (दि० प्र०) १२ स्या० हे मौगत ! न केवलमस्माकं द्रव्यादिसंबन्धचतुष्टयसिद्धिः । भवतोऽप्यस्ति । संबंधस्यानङ्गीकारे तय संवेदनवेद्याकारयोरसत्त्वं प्रसजति । (दि० प्र०)

संवेदनस्य कस्यचित्केनचिद्वेद्याद्याकारेण<sup>१</sup> प्रत्यासत्तेरसत्त्वे तदुभयोरसत्त्वान्निरुपाख्यत्वम् ।  
तत्प्रत्यासत्तिसद्भावे वा सिद्धश्चतुर्धापि संबन्धः,

[ विज्ञानाद्वैतवादेऽपि चतुर्धा संबन्धः सिद्धयति इति प्रतिपादयन्ति जैनाचार्याः ]

संविदाकारयोर्द्रव्यादिप्रत्यासत्तिचतुष्टयस्यापि भावात्परस्परं पारतन्त्र्यसिद्धेः । सिद्धस्य संविदाकारस्य संवित्परतन्त्रतानिष्ठौ संविदभावेपि भावप्रसङ्गात्, संविदो वा स्वाकारपरतन्त्र-  
तानुपगमे निराकारसंविदनुषङ्गात्, तथोपगमेपि<sup>२</sup> संविदो<sup>३</sup> वेद्याकारविवेकपरतन्त्रतानभि-  
मनने<sup>४</sup> वेद्याकारात्मताप्रसङ्गात्, सर्वथा<sup>५</sup> संबन्धाभावस्य च भावपरतन्त्रत्वानङ्गीकरणे<sup>६</sup>  
स्वतन्त्रस्याभावरूपत्वविरोधात् कुतस्तद्व्यवस्था ? तदयं<sup>७</sup> कस्यचित्सिद्धस्यासिद्धस्य वा

किसी भी ज्ञान के किसी भी ज्ञेयादि आकार से प्रत्यासत्ति का अभाव होने पर उन ज्ञान और ज्ञेय दोनों का अस्तित्व सिद्ध न होने पर दोनों में ही निरुपाख्यपना सिद्ध हो जाता है । अथवा यदि उस ज्ञेय और ज्ञान में प्रत्यासत्ति का सद्भाव मान लेंगे तब तो द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावरूप चार प्रकार का संबंध सिद्ध हो ही गया समझना चाहिये ।

[ विज्ञानाद्वैत वाद में भी चार प्रकार का संबंध सिद्ध हो जाता है आचार्य इसी बात का स्पष्टीकरण करते हैं ]

तथा संवित् और संविदाकार में भी द्रव्य आदि चार प्रकार की प्रत्यासत्ति का सद्भाव सिद्ध हो जाने पर परस्पर में उन दोनों में तो परतन्त्रता सिद्ध ही हो गई । और इस प्रकार से संविदाकार के सिद्ध हो जाने पर भी संवित् में परतन्त्रता स्वीकार न करो तब तो संविद के अभाव में भी संविदाकार के मानने का प्रसंग प्राप्त हो जावेगा । अथवा संवित् में स्वाकार की परतन्त्रता के स्वीकार न करने पर संवित् निराकार हो जावेगी, एवं ज्ञान को निराकाररूप स्वीकार करने पर भी यदि उसमें वेद्याकार के अभाव की परतन्त्रता को स्वीकार न करें, तब तो उस ज्ञान में वेद्याकारात्मकपने का ही प्रसंग प्राप्त हो जावेगा और संबन्धाभाव में भाव परतन्त्रत्व स्वीकार न करने पर वस्तु के आश्रय से रहित स्वतन्त्ररूप संबन्धाभाव में अभावरूपत्व का विरोध आ जावेगा । पुनः उस संबन्धाभाव की भी व्यवस्था कैसे बन सकेगी ? इस प्रकार से यह सौश्रान्तिक या वैभाषिकबौद्ध सिद्ध अथवा असिद्ध में परतन्त्रता को स्वीकार करके सर्वत्र सिद्ध अथवा असिद्ध गुण, गुणी आदि में परतन्त्रता क्या है ?

१ वेदकाकारेण । (दि० प्र०) २ सौ० आहु, संविदाकारः स्वयंसिद्धः संवित्पराधीनो नास्ति इति चेत् । स्या० आहु संविदभावेपि सति तस्य संविदाकारस्य सद्भाव एव । संवित्स्वयंसिद्धासंविदाकारपराधीनो नास्तीति चेत् । स्या० तदा निराकारासंविज्जातान्नस्या० संविन्निराकारेत्यङ्गीकारेपि सौगतस्य वेद्याकारस्य परोक्षपराधीनताऽङ्गीकारे क्रियमाणे तस्याऽवेद्याकारत्वं प्रसजति । (दि० प्र०) ३ ता । (दि० प्र०) ४ का । (दि० प्र०) ५ अभावः । (दि० प्र०) ६ किञ्च । (दि० प्र०) ७ पदार्थः । (दि० प्र०) ८ घटस्थ । सौगतः । (दि० प्र०)

परतन्त्रतामुपलभ्य<sup>१</sup> सर्वत्र सिद्धेऽसिद्धे वा का परतन्त्रतेति ब्रुवाणः कथं न परतन्त्रः ?

[ कार्यकारणयोः परतन्त्रतानभ्युपगमे दोषानाहुश्चाचार्याः ]

कस्यचिदसिद्धस्यापि कार्यात्मनः<sup>२</sup> <sup>३</sup>कारणपरतन्त्रतोपपत्तेरन्यथा<sup>४</sup> कारणाभावेपि कार्योत्पत्तेर्निवारणयोगात्, कुतश्चित्कस्यचिदनुत्पत्तौ शश्वत्सत्त्वप्रसङ्गात्, सदकारणवन्नित्यमिति

इस प्रकार कहता हुआ स्वयं परतन्त्र क्यों नहीं है ? अर्थात् वह स्वयं ही अज्ञान के आधीन-परतन्त्र ही है जबकि वस्तु में परतन्त्रता को स्वीकार नहीं करता है ।

[ कार्य कारण में परतन्त्रता को न मानने से आचार्य दोष दिखाते हैं ]

असिद्ध भी कार्यस्वरूप में (घट में) कारण—मृत्पिण्ड की परतन्त्रता पाई ही जाती है । अन्यथा-कारण के अभाव में भी कार्य को उत्पत्ति होने लगेगी उसका निराकरण कोई भी नहीं कर सकेगा । एवं किसी कारण से किसी कार्य को उत्पत्ति के न मानने पर हमेशा ही कार्य के सत्त्व का प्रसंग आ जावेगा । क्योंकि “सदकारणवन्नित्यं” सत् अकारणवान् है और नित्य होता है, ऐसा सूत्र धाया जाता है ।

भावार्थ—बौद्ध का कहना है कि संबंध तो परतन्त्रता है, वह स्वतंत्र पदार्थों में असंभव है अतः संबंध नाम की कोई चीज नहीं है । इस पर जनाचार्य ने द्रव्य, क्षत्र, काल, भाव की निकटतारूप संबंध को अच्छी तरह से सिद्ध कर दिया है । पहले द्रव्य संबंध को देखिये । ज्ञान गुण और जीव गुणी में तथा मनुष्य पर्याय और जीव पर्यायवान् में यदि अपृथक्भाव रूप तादात्म्य संबंध नहीं मानोगे तो स्वतंत्र रूप से न तो ज्ञानगुण और मनुष्यपर्याय ही सिद्ध होंगे और न ज्ञानगुण से लक्षित जीव ही सिद्ध होगा क्योंकि गुण और पर्याय के बिना द्रव्य नाम की कोई वस्तु ही नहीं है । अतः यदि गुण और पर्यायों का अपने आश्रयभूत द्रव्य से तादात्म्य संबंध नहीं रहेगा तो गुण, पर्याय और द्रव्य इन तीनों का ही अस्तित्व समाप्त हो जावेगा ।

क्षेत्र प्रत्यासत्ति का स्पष्टीकरण यह है कि—

चक्षु इन्द्रिय अपने सामने के पदार्थ को ही देख रही है तो योग्य क्षेत्र के ही पदार्थ को देखती है यह क्षेत्र का संबंध है । यदि चक्षुइन्द्रिय का योग्यदेश में विद्यमान पदार्थों से संबंध-देखने रूप संबंध नहीं माना जावेगा तो चक्षु के द्वारा रूप का ज्ञान न होने से वे रूपी पदार्थ सिद्ध नहीं होंगे और चक्षुइन्द्रिय के विषय का अभाव होने से उसका अस्तित्व भी समाप्त हो जावेगा ।

१ अंगीकृत्य । प्रत्यक्षेण ज्ञात्वा । (दि० प्र०) २ घटादेः । (व्या० प्र०) ३ स्या० हे सौमत ! संविन्मात्रकारणात्मसंविदाकारो वेद्याकारश्च द्वयमपि कार्यात्मा । तव भते स्वयमेव इत्यायातं कार्याशासिद्धस्तस्य कारणाधीनत्वं नोत्पद्यते चेत्तदा संविन्मात्रलक्षणकारणाभावेपि संविदाकारवेद्याकारलक्षणायाः कार्योत्पत्तेर्निवारणं न घटते = कुतश्चित्कारणात् कस्यचित्संविन्मात्रलक्षणकारणात्मनः कार्यरूपेणानुत्पत्तौ सत्यां नित्यं क्षणिकस्य वस्तुनः सत्त्वं प्रसजति । कस्मात्सदकारणवन्नित्यमिति सिद्धान्तात् । एवं सति क्षणिकवादिनः सौमतस्य द्रव्यादिभिः सह संबन्धाभावलाभमिच्छतो वस्तुनः क्षणिकत्वलक्षणमूलनाशो जातः । (दि० प्र०) ४ कार्यात्मनः कारणपरतन्त्रत्वानङ्गीकरणे । (दि० प्र०)

वचनात्, संवृत्या पारतन्त्र्योपगमेपि 'तद्दोषानतिवृत्तेः संवृत्तेर्मृषारूपत्वात् । तत्त्वतोपि क्वचित्पारतन्त्र्येष्टौ सिद्धस्तात्त्विकः संबन्धः । इति न तत्प्रतिक्षेपः<sup>३</sup> श्रेयान् यतः संबन्ध्यन्त-

काल सम्बन्ध को तो स्पष्टतया ही जाना जा सकता है । मृत्पिण्डरूप कारण और घटरूप कार्य का यदि कारण-कार्य सम्बन्ध न माना जावे तब तो मृत्पिण्ड के बिना भी घड़े बनने लगेंगे और बीज के बिना धान्य की उत्पत्ति हो जावेगी, किन्तु ऐसा तो देखा नहीं जाता है ।

भाव प्रत्यासत्ति को भी देखिये ! धूम और अग्नि के सम्बन्ध का जो व्याप्तिज्ञान है उसे न मानने पर धूम से अग्नि का ज्ञान असम्भव हो जावेगा । और तो क्या संवेदनाद्वैत में भी ज्ञान का ज्ञेयाकार के साथ सम्बन्ध मानना ही पड़ेगा अतः ज्ञान भी ज्ञेयाकार से पराश्रित ही है । तथा यदि ज्ञान में ज्ञेयाकार को नहीं मानकर निराकार मानोगे तो भी "ज्ञान में ज्ञेयाकार का अभाव है" इस प्रकार के अभाव से तो ज्ञान परतन्त्र हो ही जावेगा । और तो क्या आप कहाँ तक सम्बन्ध को समाप्त करेंगे । देखिये ! यदि सम्बन्ध के अभाव को आप सद्भावरूप पदार्थ के आश्रित नहीं मानोगे तो वह सम्बन्ध का अभाव भी स्वयं ही वस्तु के आश्रय से रहित होकर स्वतन्त्ररूप से सिद्ध हो जावेगा और जब सम्बन्धाभाव एक स्वतन्त्र सिद्ध हो गया तो पुनः उसका अभाव नहीं कर सकेंगे । इस प्रकार से अनेकों दोषों को दूर करने के लिये आपको सम्बन्ध स्वीकार करना ही पड़ेगा । हम जैनों के यहाँ सम्बन्ध कथञ्चित् दो सिद्धरूप दो में ही होता है जैसे जीव और पुद्गल के सम्बन्ध से संसारावस्था होती है । एवं कथञ्चित् असिद्ध में भी होता है जैसे मृत्पिण्डरूप कारण से घटकार्य का कार्यकारण सम्बन्ध है । ये दोनों एक दूसरे के आश्रित हैं और तो क्या सिद्धों में भी परतन्त्रता है क्योंकि अलोकाकाश में धर्मास्तिकाय का अभाव होने से सिद्ध भगवान् भी पराश्रित होकर लोकाकाश के बाहर नहीं जा सकते हैं, उन्हें वहीं अग्रभाग में ठहरना पड़ता है । वस्तु व्यवस्था ही ऐसी है । कोई भी इस परतन्त्रता को समाप्त नहीं कर सकते । गुरु शिष्य के आधीन हैं एवं शिष्य गुरु के परतन्त्र हैं, अन्यथा यदि दोनों ही स्वतन्त्र हो जावें तो गुरु-शिष्य सम्बन्ध न होने से यह गुरु है यह शिष्य है ऐसा सम्बन्ध ही समाप्त हो जावेगा । बौद्ध भी अपनी अज्ञान युक्त कुबुद्धि के आश्रित होने से परतन्त्र ही हैं ऐसा समझना चाहिये । पुनः वे स्वयं परतन्त्र होकर परतन्त्रता का लोप कैसे कर सकेंगे ? अर्थात् हठात् उन्हें परतन्त्रता को मानना ही पड़ेगा ।

यदि आप कहें कि सम्बन्ध वास्तविक नहीं है, किन्तु संवृति से ही हम सम्बन्ध को स्वीकार करते हैं तब तो संवृति से ही परतन्त्रता को स्वीकार करने पर उन दोषों का उल्लंघन नहीं किया जा सकता है, क्योंकि संवृति तो मृषारूप ही है ।

यदि कहीं पर तत्त्वतः कार्य में कारण की परतन्त्रता स्वीकार करेंगे तब तो सम्बन्ध तात्त्विक ही सिद्ध हो जाता है । इसीलिये आपका यह प्रतिक्षेप श्रेयस्कर नहीं है कि जिससे सम्बन्ध्यन्तर-

१ पूर्वोक्तिः । (व्या० प्र०) २ पुनराह सौगतः । अस्मन्मते कल्पनया संबन्धोस्ति इति चेत् । स्या० हे सौगत ! सा संवृतिः मृषारूपा सत्यरूपा वेति विकल्पः । मृषारूपा चेत्तदा तथा साधितः संबन्धोपि मृषा । सत्यरूपा चेत्तदा तथा साधितः संबन्धोपि सत्य इति संबन्धनिराकरणं श्रेयस्करं न सौगतस्य । (दि० प्र०) ३ संबन्धः । (दि० प्र०)

रापेक्षया सकृदसकृच्च<sup>१</sup> <sup>२</sup>सन्तानान्तरभावस्वभावभेदाः <sup>३</sup>परस्परं व्यावृत्ता न भवेयुः । तदेवं<sup>४</sup>

सहकारीकारणों की अपेक्षा से एक साथ और क्रमशः सन्तानान्तर—संवित् सन्तान से भिन्न पदार्थों के स्वभावभेद परस्पर में व्यावृत्त न होंगे । अर्थात् सभी पदार्थों में स्वभावभेद परस्पर में व्यावृत्तरूप पृथक्-पृथक् सिद्ध ही हैं ।

विशेषार्थ—बौद्धों ने सम्बन्ध को नहीं माना है इस पर प्रमेयकमलमार्तण्ड में भी सम्बन्ध के सद्भाव को सिद्ध करते हुये श्री प्रभाचन्द्राचार्य ने अत्युत्तम वर्णन किया है । यथा बौद्धजन किसी भी वस्तु का किसी के साथ भी किसी प्रकार से भी सम्बन्ध नहीं मानते हैं अतः उनके यहां अवयवी, स्कन्ध, स्थूलता आदिरूप वस्तुयें ही नहीं हैं । उनका कहना है कि पदार्थों में परतन्त्रस्वरूप या रूप श्लेष स्वरूप कोई भी सम्बन्ध प्रतीत नहीं होता है । घट के एक-एक परमाणु पृथक्-पृथक् ही हैं । पुस्तक के भी प्रत्येक परमाणु पृथक्-पृथक् ही हैं ये घट एवं पुस्तक आदि पदार्थ जो अपने को स्थिर, स्थूल आकार के दिख रहे हैं यह केवल संवृतिदेवी का ही प्रसाद है और वह संवृति तो असत्य है, कल्पनामात्र ही है । अतः परतन्त्रस्वरूप सम्बन्ध को मानने पर तो प्रश्न होता है कि यह सम्बन्ध निष्पन्न हुये दो पदार्थों में होता है या अनिष्पन्न ? निष्पन्न हुए दो पदार्थों का सम्बन्ध कहो तब तो उचित नहीं है क्योंकि जब दोनों बने हुये हैं फिर उनमें सम्बन्ध क्या होगा ? यदि अनिष्पन्न में कहो तो असत् रूप आकाश कमल का बन्ध्या पुत्र से क्या सम्बन्ध होगा ?

यदि श्लेष सम्बन्ध कहो तो भी वह श्लेष संबंध एकदेश से होता है या सर्वदेश से ? यदि एक देश से अणु में किसी का सम्बन्ध मानों तब तो सम्बन्धित होने वाले अन्य परमाणु उस एक अणु से सम्बन्ध करते हुये पृथक्-पृथक् ही रहेंगे या अपृथक्—एकरूप हो जावेंगे ? पृथक्-पृथक् कहो तो सम्बन्ध क्या रहा ? अपृथक् कहो तो सब परमाणु मिलकर एक अणुमात्र ही हो जावेंगे ।

दूसरी बात यह है कि यह सम्बन्ध पर की अपेक्षा तो अवश्य ही रखता है क्योंकि सम्बन्ध और विरोध ये दोनों ही द्विष्ट हैं दो के बिना नहीं हो सकते हैं । जैसे कारण मृत्पिण्ड कार्य घट की अपेक्षा रखता है और कार्य घट कारणरूप मृत्पिण्ड की । कारण के समय कार्य उत्पन्न ही नहीं हुआ है एवं कार्य के समय कारण समाप्त हो चुका है । पुनः कार्यकारण में परतन्त्र सम्बन्ध कैसे हो सकेगा ?

एक बात यह भी है कि यह सम्बन्ध अपने दोनों सम्बन्धी वस्तुओं से भिन्न है या अभिन्न ? यदि भिन्न कहो तो सम्बन्ध तो एक है उसका उन दो सम्बन्धियों के साथ कौन सा सम्बन्ध है ? एवं कार्यकारणभाव सहभावी तो हैं नहीं अतः उनमें भी सम्बन्ध कहना शक्य नहीं है । यदि सम्बन्धियों से सम्बन्ध को अभिन्न कहो तो दोनों ही सम्बन्धी और सम्बन्ध ये पृथक् कैसे मालूम पड़ेंगे ? इत्यादि दोषों के आने से सम्बन्ध नाम की कुछ भी चीज सिद्ध नहीं हो सकती है । इस प्रकार से बौद्ध ने अपना लम्बा चौड़ा पूर्वपक्ष रखा है ।

१ युगपत् । (व्या० प्र०) २ सन्तानान्तरभूतसंबन्धान्तरापेक्षया विवक्षितसन्तानस्य सन्तानान्तरत्ववचनम् । (दि० प्र०)

३ क्षणिकापेक्षया सन्तानान्तरभावो नित्यः नित्यापेक्षया सन्तानान्तरभावः क्षणिकस्तयोः स्वभावभेदारम्योन्यं व्यावृत्ता भवेयुः । (दि० प्र०) ४ उक्तप्रकारेण । (दि० प्र०)

इस पर जैनाचार्य कहते हैं कि आपका यह कथन कथमपि श्रेयस्कर नहीं है क्योंकि प्रत्यक्ष से ही सम्बन्ध का अनुभव आ रहा है "प्रतीतिरपलापः कर्तुं न शक्यते" अर्थात् जिसका अनुभव आ रहा है उसका अपलाप करना शक्य नहीं है। देखिये ! तन्तुओं का सम्बन्धरूप वस्त्र प्रत्यक्ष से दिखाई दे रहा है। आप बौद्ध यदि सम्बन्ध को नहीं मानोगे तो रस्सी, बाँस इत्यादि को खींच नहीं सकोगे क्योंकि यदि रस्सी का एक छोर अन्य उसके भागों से पृथक् है—सम्बन्ध रहित है तो उसको एक तरफ से खींचने से आगे की सारी रस्सी खिंची हुई चली नहीं आनी चाहिये। फिर कुयें से पानी भरते हुये क्या दशा होगी ? गुरुजी को प्यास लगने पर शिष्य पानी भरने जावेगा तो वह आपके सिद्धान्त के अनुसार रस्सी से बंधे हुये घट को ऊपर कैसे खींचेगा ? क्योंकि उसे तो ज्ञात है कि रस्सी के सभी परमाणु पृथक्-पृथक् बिखरे हुये हैं रस्सी के बनने में जब उनका सम्बन्ध ही नहीं है पुनः उस रस्सी के खींचने से रस्सी के साथ घड़ा ऊपर कैसे आवेगा ? तो विद्यार्थी घड़े को कुयें में डालकर ही वापस आ जावेगा और गुरुजी प्यासे ही मुख ताकते रह जावेंगे।

अतः इन सम्बन्ध के व्यवहारों को तो देखकर आपको सम्बन्ध मानना ही पड़ेगा वह भी संवृति से नहीं, किन्तु वास्तविकता से ही मानना पड़ेगा, क्योंकि कल्पना से रस्सी बनने से उससे कोई काम होते हुये आज तक किसी ने नहीं देखा है। देखिये ! सम्बन्ध तो यही है कि दो वस्तुओं की विशिष्ट—पृथक् जो अवस्था है वह बदलकर एक नई संश्लिष्ट अवस्थारूप हो जावे, यह अवस्था से अवस्थान्तररूप परिवर्तन वस्तु के स्निग्धत्व और रक्षकत्व के कारण ही हुआ करता है। आठ लकड़ियों के सम्बन्ध से एक खाट बनती है। तीन चार लकड़ी के सम्बन्ध से पाटा बनता है इत्यादि बहुत प्रकार के सम्बन्ध पाये जाते हैं यन्त्रों में कल-पुरजों के सम्बन्ध से आविष्कार होकर मोटर, रेलगाड़ी, हवाई जहाज आदि वाहन बन जाते हैं।

कहीं पर एक दूसरे के प्रदेशों का अमुप्रवेश होने रूप सम्बन्ध होता है जैसे सत्तु और जल के प्रदेश या दूध और जल के प्रदेश परस्पर मिश्रित हो जाते हैं। कहीं पर श्लेषमात्र सम्बन्ध होता है जैसे दो अंगुलियों का श्लेष होता है। आप अंश नाम से घबराते हैं। हम परमाणु में अवयव—भागरूप अंश तो नहीं मानते हैं किन्तु स्वभावभेदरूप अंश अवश्य मानते हैं। जब कभी एक परमाणु अन्य परमाणुओं के साथ सम्बन्ध को प्राप्त होता है वह दिशादि के स्वभावभेद से प्राप्त होता है इसीलिये तो वे सब परमाणु उस एक अणुमात्र नहीं हो जाते हैं भले ही एक प्रदेश पर ठहर जावें क्योंकि सघन स्कन्धरूप हो चुके हैं फिर भी उन सब परमाणुओं की सत्ता पृथक् है अतः कथंचित् सघन संघात से स्कन्ध होकर सम्बन्ध हो चुका है कथंचित् स्वभाव भेद से सभी परमाणु अपनी-अपनी सत्ता को लिये हुये हैं। आपने जो प्रश्न किया था कि सम्बन्ध निष्पन्न दो वस्तुओं में होता है या अनिष्पन्न ? उसका उत्तर यही है कि निष्पन्न दो वस्तुओं में सम्बन्ध होता है और सम्बन्ध के बाद एक जात्यन्तर—तृतीय अवस्था ही बन जाती है। यथा—चूना और हल्दी के सम्बन्ध से लाल वर्ण हो जाता है। जीव और कर्म से संसारावस्था हो जाती है। दही और शक्कर (चीनी) के सम्बन्ध से श्रीखण्ड बन जाता है इत्यादि। एवं कार्य-कारण भाव का सम्बन्ध कारण के निष्पन्न और कार्य के अनिष्पन्न में होता है। दोनों ही अनिष्पन्न—असत् हों तो सम्बन्ध नहीं हो सकेगा। जैसे बंध्या के पुत्र से आकाश फूल की माला का सम्बन्ध असम्भव है। इस प्रकार से द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की निकटता की अपेक्षा से सम्बन्ध के चार भेद



प्रतिक्षणमनन्तपर्यायाः प्रत्येकमर्थसार्थाः, न पुनरेकस्वभावा एव भावाः क्षणमात्रस्थितयः,  
 १अन्वयस्यानारतमविच्छेदात्<sup>२</sup> । ३क्रमशोपि विच्छेदेर्धंक्रियानुपपत्तेः ४स्वयमसतस्तत्त्वतः  
 ५यच्चिदुपकारितानुपपत्तेः<sup>६</sup> कुतः? ७कस्यात्मलाभः स्यात्? कथञ्चिदविच्छेदे पुनः<sup>८</sup> स सुधट

श्री विद्यानन्दस्वामी ने स्वीकार करके उनका उदाहरण सहित विवेचन कर ही दिया है। कार्यकारण-भाव भी कहीं पर सहभावी भी देखे जाते हैं जैसे दीप और प्रकाश। दीपक का जलना कारण है और प्रकाश होना कार्य है इनमें समय भेद नहीं है। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान में भी कारण-कार्यभेद होकर भी समयभेद नहीं है अतः कार्य-कारण चाहे क्रमभावी हों चाहे सहभावी हों उनके अन्वय-व्यतिरेक को देखकर ही कार्य-कारण सम्बन्ध समझ लेना चाहिये “जिसके होने पर जो नियम से होवे और जिसके अभाव में जो न होवे” वही तो कारण-कार्य का अन्वय-व्यतिरेक सम्बन्ध है।

अतः प्रत्यक्ष सिद्ध संबंध के सद्भाव को मानना ही उचित है। योग ने तो संबंध के दो भेद किये हैं एक समवायसंबंध दूसरा संयोगसंबंध वे अयुत सिद्ध—अपृथक्सिद्ध पदार्थ में समवायसंबंध मानते हैं जैसे कि जीवगुणी में ज्ञानगुण का समवाय से संबंध होता है। एवं पृथक्भूतयुतसिद्ध पदार्थों में संयोगसंबंध मानते हैं जैसे कुंड में दही का संयोगसंबंध हुआ है।

जैनाचार्यों ने इस विषय पर बहुत ही सुंदर समाधान किया है इनका कहना है कि जो स्वयं अपृथक्सिद्ध हैं उनमें पृथक् से समवायसंबंध मानने की कोई आवश्यकता ही नहीं है वह तो अनादि-निधन स्वयं ही तादात्म्य संबंध से युक्त हैं जैसे अग्नि में उष्णता, दूध में सफेदी, जीव में ज्ञान और पुद्गल में मूर्तिकपना आदि स्वभाव से ही अनादिकाल से विद्यमान हैं और अनंतकाल तक रहेंगे ये पृथक्संबंध से नहीं हैं अतः इनमें समवाय को मानकर तादात्म्य को ही तुमने समवाय नाम धर दिया है। हम इसे द्रव्यप्रत्यासत्ति, भावप्रत्यासत्ति संबंध आदिरूप से भी कहते हैं। तथा संयोग-संबंध तो पृथक्-पृथक् दो वस्तुओं का स्पष्ट ही है उसमें तो किसी प्रकार का विसंवाद है ही नहीं। एक वेचारा बौद्ध ही दुर्बुद्धि से बुद्धिहीन होकर के प्रत्यक्षप्रतीत संबंध का लोप करना चाहता है, किंतु जैनाचार्यों ने अच्छो प्रकार से संबंध का सद्भाव सिद्ध कर दिया है क्योंकि यदि बौद्ध के साथ उसके बुद्धभगवान् के धर्म का संबंध न हो तो वह बौद्ध भी नहीं कहलावेगा। “बुद्धो देवो अस्येति बौद्धः” बुद्ध भगवान् हैं देवता जिसके वह बौद्ध कहलाता है। अतः संबंध को न मानने पर भी वह गले में आ ही जाता है। पिता-पुत्र के संबंध, भाई-भाई के संबंध, पति-पत्नी के संबंध भी तो लोक व्यवहार में प्रसिद्ध ही हैं।

इस प्रकार से प्रत्येक पदार्थों का समूह प्रतिक्षण में अनंत पर्यायात्मक ही है। न कि पुनः वे पदार्थ एक स्वभाव वाले और क्षणमात्रस्थिति वाले (क्षणभंगुर) ही हैं, क्योंकि कभी भी अन्वय का विच्छेद नहीं पाया जाता है।

१ द्रव्यस्य । (वि० प्र०) २ अविनाशात् । (दि० प्र०) ३ अन्वयस्येति सम्बन्धः । (दि० प्र०) ४ स्वभावमसतस्तत्त्वतः इति पा० । (व्या० प्र०) ५ कार्यम् । (व्या० प्र०) ६ ततश्च । (व्या० प्र०) ७ कारणान् । (व्या० प्र०) ८ कार्यस्य । (व्या० प्र०) ९ अन्वयः । (दि० प्र०)

एव कारणस्य<sup>१</sup> स्वकार्यात्मना<sup>२</sup> भवतः प्रतिक्षेपायोगात् स्वभावान्तरानपेक्षणघत्,

यदि क्रम से भी अन्वय का विच्छेद मानोगे, तब तो उसमें अर्थक्रिया नहीं बन सकेगी, क्योंकि स्वयं असत् रूप (कार्य के काल को नहीं प्राप्त हुआ कारण द्रव्य) में वास्तविक रूप उपकारिता कभी भी बन नहीं सकती है। पुनः किससे किसका आत्मलाभ होगा ?

यदि कथंचित् अविच्छेद मानो तब तो वह अर्थक्रिया सुघटित ही है, क्योंकि कारण स्वकार्यात्मक-रूप से होता है, उसमें प्रतिक्षेपाभाव-विराग नहीं हो सकता है। जैसे कि कार्य स्वभावांतर की अपेक्षा नहीं रखता है। अर्थात् जिस कारण से जो कार्य उत्पन्न होता है उसी से ही वह कार्य होता है न कि अन्य कारणांतर से वह कार्य होता है।

भावार्थ—बौद्धों ने पदार्थों को एकक्षण स्थिर रहने वाला माना है। उनका कहना है कि प्रत्येक पदार्थ एकक्षण के बाद निरन्वय-जड़मूल से समाप्त हो जाता है और दूसरा ही पदार्थ उत्पन्न हो जाता है, किन्तु उन क्षण-क्षण में नष्ट होने वाले पदार्थों में जो अन्वयरूप दिख रहा है वह केवल वासना है—संस्कार से ही वैसा मालूम पड़ता है। अतः कारण तंतु का, मृत्पिंड का निरन्वय नाश होकर वस्त्र और घट बनते हैं। कारण कार्य के काल तक नहीं ठहर सकता है, किन्तु जैनाचार्यों ने इसका खंडन कर दिया है।

जैनाचार्य कहते हैं कि यद्यपि सूक्ष्म ऋजुसूत्रनय की अपेक्षा से एक-एक क्षण में पूर्व पर्याय का नाश और उत्तराकार का उत्पाद हो रहा है फिर भी उन दोनों ही अवस्थाओं में अन्वरूप से एक द्रव्य का अस्तित्व बना रहता है। सभी चेतन अचेतनद्रव्य अन्वरूप से अनादि-निधन हैं। अन्वय का विच्छेद—विनाश कभी भी नहीं हो सकता है। यह प्रतिक्षण होने वाली अर्थपर्याय किसी भी बाह्य कारणों की अपेक्षा नहीं रखती है एवं व्यंजनपर्याय में बाह्यकारणकलापों के मिलने से ही उत्पाद, व्यय, धीव्य होता है। जैसे अंगूठी का विनाश, कंकण का उत्पाद सुनार आदि की अपेक्षा रखता है एवं उन उत्पाद-विनाश दोनों में ही स्वर्णद्रव्य अन्वरूप से विद्यमान रहता है। अतः कथंचित्-पर्याय की अपेक्षा से उत्पाद-व्यय के होने से विच्छेद होता है कथंचित् द्रव्य की अपेक्षा से विच्छेद नहीं होता है और तभी पदार्थों में अर्थक्रिया हो सकती है अन्यथा नहीं।

१ यथा सौमताभ्युपगतं क्षणिकं वस्तुविनाशकाले स्वभावान्तरमन्यकारणं नापेक्षते तस्य यथा प्रतिक्षेपो निराकरणं न संभवति तथा कारणस्य स्वकार्यरूपेण भवतः सतो निराकरणं न घटते । आह सौ० अस्मदभ्युपगतं क्षणिकं वस्तु अन्यकारणमपेक्ष्य उत्पद्यत इति चेत् । स्या० आत्मनो बोधत्तुमिच्छोरपि वस्तुनोऽन्यकारणापेक्षणे जाते सति विनश्वर-स्यापि वस्तुनोऽन्यकारणापेक्षणं प्रसजति यतः = कोर्थः हे सौ० । वस्तुन उत्पादविनाशौ द्वावपि कारणान्तरानपेक्षणाव-भ्युपगन्तव्यौ = एतेन वस्तुन उत्पादविनाशयोः कारणान्तरानपेक्षणं व्यवस्थापनद्वारेण वस्तुनः स्थितिशीलस्यापि स्व-भावान्तरानपेक्षणत्वं प्रतिपादितम् । (वि० प्र०) २ जायमानस्य । (वि० प्र०)

[ अर्थपर्यायापेक्षयोत्पादव्ययध्रौव्यात्मिकासु तिसृसु अवस्थासु हेतुव्यापारो नास्ति ]

स्वयमुत्पित्सोरपि<sup>१</sup> स्वभावान्तरापेक्षणे<sup>२</sup> विनश्वरस्यापि<sup>३</sup> तदपेक्षणप्रसङ्गात् । एतेन<sup>४</sup> स्थासुनोः स्वभावान्तरानपेक्षणमुक्तं, विश्रुता परिणामिनः<sup>५</sup> कारणान्तरानपेक्षोत्पादादित्रय-

[ अर्थपर्याय की अपेक्षा से उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य इन तीनों ही अवस्थाओं में कारणों का व्यापार नहीं होता है ]

जो स्वयं उत्पित्सु है, उसमें भी यदि स्वभावांतर की अपेक्षा मानोगे, तब तो विनश्वर में भी उस स्वभावांतर की अपेक्षा का प्रसंग प्राप्त हो जावेगा, किन्तु अर्थपर्याय की अपेक्षा से स्वयं उत्पित्सु और विनश्वर में स्वभावांतर की अपेक्षा नहीं है। इसी कथन से स्थासु में भी स्वभावांतर की अपेक्षा नहीं है, ऐसा कथन समझना चाहिये, क्योंकि स्वभाव से ही परिणमनशील द्रव्य में कारणान्तर की अपेक्षा न करके ही उत्पाद आदि तीनों की व्यवस्था मानी गई है, क्योंकि विशेष व्यञ्जनपर्याय में ही कारणव्यापार की अपेक्षा स्वीकार की गई है। क्योंकि इस प्रकार से कारणान्तर की अपेक्षा न करके ही पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा से प्रतिक्षण में अनन्तपर्यायात्मक क्रमेण अविच्छिन्न अन्वय-संततिरूप ही अर्थ—पदार्थ प्रतीति में आ रहा है।

विशेषार्थ—जैनसिद्धांत में प्रत्येक वस्तु सत् रूप है और सत् का लक्षण “उत्पादव्ययध्रौव्य-युक्तं सत्” अतः एक पर्याय का विनाश दूसरी पर्याय का उत्पाद एवं मूल अपने वस्तुस्वभाव का ध्रौव्य ये तीनों अवस्थायें एक साथ ही होती हैं। सूक्ष्मऋजुसूत्रनय की अपेक्षा से इसको अर्थपर्याय भी कहते हैं। ये अर्थपर्याय स्वभावपर्याय भी कहलाती हैं ये आगमगम्य हैं क्योंकि हम लोग एकक्षण को और उस एकक्षण के परिणमन को बुद्धि से ग्रहण ही नहीं कर सकते हैं। समय अत्यंतसूक्ष्म है एक ‘अ’ शब्द के उच्चारणकाल में असंख्यात समय हो जाते हैं।

अर्थपर्याय में होने वाला यह उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य भिन्न-भिन्न बाह्यकारणों की अपेक्षा नहीं रखता है क्योंकि व्यञ्जन पर्याय में ही कदाचित् बाह्यकारणों की अपेक्षा रहती है। अतएव अर्थपर्यायरूप से उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य तो सिद्धों में भी पाया जाता है वहाँ भी शुद्धात्मा में प्रतिक्षण षट्गुण हानि वृद्धि रूप से उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य होता ही रहता है। सुमेरुपर्वत अनादि—अनिधन है और पीदगलिक है उसमें भी प्रतिक्षण उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य हो रहा है। अकृत्रिम चैत्यालयों में, उनमें स्थित अकृत्रिम प्रतिमाओं में और अनादिनिधन वहाँ की ध्वजा, माला, तोरणद्वारों में भी उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य हो रहा है। बालक पाँच वर्ष का हुआ एकदम नहीं बड़ा है। एक-एक महीने से तो क्या एक-एक दिन से भी वृद्धि हुई है, किन्तु दिन प्रतिदिन की वृद्धि तो दिखती नहीं है और तो क्या घन्टे-घन्टे में भी बालक बढ़ता रहा है। अधिक और सूक्ष्मता से विचारें तो एक-एक समय से भी वृद्धि हो रही है, अगले क्षण की वृद्धिरूप उत्पाद पूर्वक्षण का विनाश और दोनों अवस्थाओं में ध्रौवरूप आत्मा का निवास रहना, वस इसी का नाम उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य है। अंकुर अवस्था का उत्पाद बीज अवस्था

१ द्रव्यस्य । (दि० प्र०) २ कारणान्तरम् । (दि० प्र०) ३ पदार्थस्य । परस्थानिष्ठापादनव्याजेन विनाशस्यापि स्वभावान्तरानपेक्षणमुक्तं प्रतिपत्तव्यम् । (दि० प्र०) ४ व्यञ्जनपर्यायरूपेण । (दि० प्र०) ५ यतः । (व्या० प्र०)

व्यवस्थानात्तद्विशेषे<sup>१</sup> एव हेतुव्यापारोपगमात् । यतश्चैवं पर्यायार्थिकनयादेशात्प्रतिक्षणमनन्त-  
पर्यायः<sup>२</sup> <sup>३</sup>क्रमेणाविच्छिन्नान्वय<sup>४</sup>संततिरर्थः<sup>५</sup> प्रतीयते ।

[ सर्वपदार्थाः उत्पादव्ययधौव्यात्मकाः संतीति प्रतिपादनं ]

तस्मादयमुत्पत्तिस्तुरेव विनश्यति जीवादिः, पूर्वदुःखादिपर्यायविनाशाऽजहद्वृत्ति<sup>६</sup>त्वात्तदुत्तर-  
सुखादिपर्यायोत्पादस्य<sup>७</sup> । नश्यर एव तिष्ठति, कथञ्चिदस्थास्तोर्नाशानुपपत्तेरश्वविपा-  
णवत् । सद्द्रव्यचेतनत्वादिना स्थास्तुरेवोत्पद्यते सर्वथाप्यस्थास्तोः कदाचिदुत्पादायोगात्तद्वत् ।  
ततः प्रतिक्षणं त्रिलक्षणं सर्वमुत्पादव्ययधौव्ययुक्तं सदिति वचनात् ।

का विनाश और पुद्गलरूप का अवस्थान दोनों ही अवस्थाओं में विद्यमान है इसी को परिणाम भी कहते हैं । इस पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा से भिन्न कारण-सामग्री की अपेक्षा न रखता हुआ प्रत्येक पदार्थ अनन्तधर्मात्मक है और क्रम से अविच्छिन्नरूप से अन्वयसंततिरूप अनुभव में आ रहा है । चाहे चेतन पदार्थ हों चाहे अचेतन पदार्थ हों सभी की यही अवस्था है । व्यंजन पर्यायों तो स्थिर-स्थूल आकार वाली होती हैं जैसे मनुष्य पर्याय सौ वर्ष की है उसका विनाश होकर दो सागर की स्थिति वाली देवपर्याय का उत्पाद हो जाता है और दोनों अवस्थाओं में जीवात्मा अन्वयरूप से रहता है । यह व्यंजन पर्याय है । कहा भी है—

“स्थूलो व्यंजनपर्यायो बागम्यो नश्यरः स्थिरः ।

सूक्ष्मः प्रतिक्षणध्वंसी पर्यायश्चार्थसंज्ञकः ॥”

अर्थ—जो स्थिर, स्थूल, नश्यर है और वचन से कही जाती है वह व्यंजनपर्याय है । इससे विपरीत सूक्ष्म और प्रतिक्षणध्वंसी—एकक्षणवर्तीमात्र जो पर्याय है वह अर्थपर्याय कहलाती है ।

[ सभी पदार्थ उत्पाद व्यय धौव्यात्मक है ]

अतः यह जीवादि पदार्थ उत्पन्न होने वाले ही नष्ट होते हैं । एवं पूर्व दुःखादिपर्याय का विनाश होते हुए भी अजहद्वृत्ति—(स्वभाव को छोड़ने वाले न होने से उत्तर सुखादिरूप पर्याय से उत्पन्न होते हैं ।) एवं पर्याय की अपेक्षा से नश्यर ही ठहरता है । क्योंकि यदि द्रव्य की अपेक्षा से भी अस्थिर हो तब तो उसका नाश हो ही नहीं सकता अश्व के सींग के समान । अतएव सद्द्रव्य चेतनत्व आदि के द्वारा स्थास्तु ही उत्पन्न होता है । सर्वथा भी जो अस्थिर है, उसमें उत्पाद का अभाव है, घोड़े के सींग के समान । इसीलिये सभी वस्तु प्रतिक्षण तीन लक्षण वाली है, क्योंकि “उत्पादव्ययधौव्ययुक्तं सत्” ऐसा सूत्रकार का वचन है ।

१ कार्य । (व्या० प्र०) २ एतेन बौद्धाभ्युपगतं वस्तुन एकस्वभावत्वं प्रयुक्तं प्रतितव्यम् । (दि० प्र०) ३ इतः परम क्रमेण स्थित्यादिरूपतया वस्तुपरिणमत इति वस्तुकामाः क्रमेणेति पदमुपगम्यस्तवन्तः । (व्या० प्र०) ४ बसः । (व्या० प्र०) ५ आगमात् । (व्या० प्र०) ६ द्रव्यम् । (व्या० प्र०) ७ बसः । (व्या० प्र०) ८ जीवद्रव्यापेक्षया जीवस्य । (दि० प्र०)

[ ब्रीहः पृच्छति यत् जीवादेः पदार्थात् उत्पादादयोऽभिन्ना भिन्ना वा ? उभयत्र दोषारोपणं ]

नन्वेवं स्थित्यादयो जीवादेर्वस्तुनो<sup>१</sup> यद्यभिन्नास्तदा स्थितिरेवोत्पत्तिविनाशौ, विनाश एव स्थित्युत्पत्तौ, उत्पत्तिरेव विनाशावस्थाने इति प्राप्तम्, एकस्मादभिन्नानां स्थित्यादीनां भेदविरोधात् । तथा च कथं त्रिलक्षणता<sup>२</sup> स्यात् ? अथ भिन्नास्तर्हि प्रत्येकं स्थित्यादीनां

भावार्थ—एक जीव पदार्थ में उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य को घटित कीजिये तो उत्पन्न होने वाला जीव ही नष्ट होता है । मतलब जो देवरूप से उत्पन्न होने वाला है या मनुष्यरूप से उत्पन्न हो चुका है वही तो अपनी मनुष्य पर्याय से नष्ट होता है और अपने जीवत्व स्वभाव को न छोड़ते हुये अगली देव पर्याय से उत्पन्न होता है तथा नश्वर विनाशशील वस्तु ही ध्रौव्य रहती है मतलब जो वस्तु स्थिर है उसी का ही नाश हो सकता है । क्षण-क्षण में जड़मूल से नाश होने वाली वस्तु में स्थिति और उत्पादन बन नहीं सकते अतएव पर्याय की अपेक्षा से जिसकी देवपर्याय का नाश हुआ है वही जीव द्रव्य चेतनत्वगुण से स्थिर है क्योंकि सर्वथा असत् का नाश असम्भव है क्या आकाश फूल नष्ट होते हुये देखे जाते हैं ? अतः सत् द्रव्यत्व, चेतनत्व आदि से जो स्थिर है उसी का उत्पाद भी होता है सर्वथा असत् आकाश कुसुम कैसे उत्पन्न होंगे ? इसलिये सभी वस्तुएँ प्रतिक्षण उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य-रूप से तीन लक्षण वाली सिद्ध हैं । तात्पर्य यह है कि उत्पादशील वस्तु का ही विनाश होता है और विनाशशील वस्तु का ही उत्पाद होता है एवं उत्पाद विनाशशील वस्तु ही ध्रौव्यरूप रहती है तथा ध्रौव्यरूप वस्तु में ही उत्पाद विनाश संभव है सर्वथा विनाशशील या सर्वथा-कूटस्थ नित्य में ये तीनों लक्षण असम्भव हैं पुनः त्रिलक्षण से शून्य वस्तु असत् ही है क्योंकि सत्लक्षण रहित हो गई है ।

[ यहाँ पर सौगत का प्रश्न है कि जीवादि द्रव्य से उत्पाद व्यय ध्रौव्य अभिन्न है या भिन्न ? एवं दोनों पक्षों में दोषारोपण करता है ]

सौगत—प्रश्न होता है कि जीवादि वस्तु से स्थिति, उत्पत्ति और विनाश अभिन्न है या भिन्न ? यदि अभिन्न कहो तब तो स्थिति ही उत्पत्ति-विनाशरूप सिद्ध होती है और उत्पत्ति ही विनाश-स्थिति है ऐसा सिद्ध हो जाता है क्योंकि एक जीवादि अवस्था से अभिन्न स्थिति आदि में भेद का विरोध है । उपर्युक्त प्रकार से पुनः तीनलक्षणपना कैसे हो सकेगा ?

यदि जीवादि वस्तु से स्थिति आदि भिन्न हैं तब तो प्रत्येक—स्थिति, उत्पाद और व्यय में भी तीन लक्षणपने का प्रसंग प्राप्त हो जावेगा । क्योंकि वे प्रत्येक सत् रूप हैं और सत् का लक्षण उत्पाद व्यय ध्रौव्य ही है । अन्यथा यदि ऐसा नहीं मानों, तब तो प्रत्येक में असत्पने की आपत्ति आ जावेगी ।

<sup>१</sup> का । (व्या० प्र०) <sup>२</sup> वस्तुनः । (दि० प्र०)

त्रिलक्षणत्वप्रसङ्गः, सत्त्वात्, अन्यथा<sup>१</sup> तदसत्त्वापत्तेः । तथा ज्ञानवस्थानान्त समीहितसिद्धिरिति<sup>२</sup> कश्चित्सोप्यनालोचितपदार्थस्वभावः, पक्षद्वयस्यापि कथञ्चिदिष्टत्वात् ।

[ जैनाचार्याः जीवादेः पदार्थात् उत्पादयः कथञ्चित् अभिन्ना, भिन्ना चेति मन्यन्ते ]

तत्र<sup>३</sup> तद्वतः कथञ्चिदभेदोपगमे स्थित्यादीनां स्थितिरेवोत्पद्यते सामर्थ्याद्विनश्यति च, विनाश एव तिष्ठति सामर्थ्यादुत्पद्यते च, उत्पत्तिरेव नश्यति सामर्थ्यात्तिष्ठतीति<sup>४</sup> च

असत्स्वरूप की कोई व्यवस्था न हो सकने से आपके समीहित—मान्य सभी में त्रैलक्षण की सिद्धि नहीं हो सकेगी ।

[ जैनाचार्य जीवादि से उत्पादादि को कथञ्चित् भिन्नाभिन्न सिद्ध करते हैं ]

जैन—ऐसा कहते हुए आप सौगत भी पदार्थ के स्वभाव को नहीं समझ सके हैं, क्योंकि कथञ्चित् हमने दोनों ही पक्षों को स्वीकार किया है । उन स्थिति, उत्पाद और व्यय का स्थित्यादिमान्—अन्वयरूप द्रव्य की अपेक्षा से अभेद स्वीकार करने पर स्थिति उत्पन्न होता है और सामर्थ्य से वही नष्ट होती है । विनाश ही ठहरता है और वही सामर्थ्य से उत्पन्न होता है । एवं उत्पत्ति ही नष्ट होती है और सामर्थ्य से वही ठहरती है । इस प्रकार से जाना जाता है कि—त्रिलक्षण वाले जीवादिपदार्थ से अभिन्न स्थितिआदि में त्रिलक्षणपना सिद्ध ही है और इसी प्रकार से अभेदपक्ष में स्थिति आदि में त्रिलक्षणपने का निश्चय हो जाने पर कथञ्चित् पर्याय की अपेक्षा से उन्हीं स्थिति आदि में स्थित्यादिमान् से भेद के स्वीकार करने पर भी प्रत्येक में त्रिलक्षणत्व की सिद्धि कही गई समझना चाहिये । इसी प्रकार से प्रत्येक में त्रिलक्षणपना सिद्ध करने में हमारे यहाँ अनवस्था भी नहीं आती है, क्योंकि सर्वथा एकांतरूप भेदपक्ष में ही वह सम्भव है, किन्तु स्याद्वादपक्ष में तो वह असम्भव ही है, क्योंकि जिसद्रव्य स्वभाव से स्थिति, उत्पाद, विनाश त्रिलक्षणरूप तत्त्व से अभिन्न हैं, उसी से प्रत्येक तीन लक्षण वाले हैं, और पर्यायाधिक नय की अपेक्षा से (स्थिति आदि धर्म की अपेक्षा से) वे परस्पर में और स्थित्यादिमान् जीवादि से भिन्न भी स्वीकार किये गये हैं । क्योंकि उस प्रकार की प्रतीति में किसी प्रकार की बाधा संभव नहीं है, इसीलिये सभी प्रतिक्षण त्रिलक्षण सहित है<sup>१</sup> यह कथन निर्दोष ही है । और इसी कथन से तीन काल की अपेक्षा से भी सभी में त्रिलक्षणपना है । यह भी समझ लेना चाहिये । क्योंकि वे जीवादिवस्तु, अन्वित द्रव्यरूप से कालत्रय व्यापी हैं । अन्यथा—वृट्यत्तंकांत (निरन्वयविनाशरूप क्षणिकएकांत) में सर्वथा अर्थक्रिया का विरोध है । जंसे कूटस्थ—एकांत—नित्य-एकांत में अर्थक्रिया का विरोध है । इसीलिये “जीवादि वस्तु द्रव्यपर्यायात्मक हैं, क्योंकि क्रम और युगपत् के द्वारा अर्थक्रिया की अन्यथानुपपत्ति है ।” अर्थात् यदि ऐसा मानों तो क्रम से या युगपत् अर्थक्रिया नहीं हो सकेगी । इस प्रकार के प्रमाण से यह बात सिद्ध है ।

१ न भवेद्यदि त्रिलक्षणत्वम् । (दि० प्र०) २ सौगतः । (व्या० प्र०) ३ तयोः पक्षयोर्मध्ये स्थित्यादिमतस्तत्काशात् ।

(दि० प्र०) ४ नाशः । (दि० प्र०)

जायते<sup>१</sup>, त्रिलक्षणाज्जीवादिपदार्थादभिन्नानां स्थित्यादीनां त्रिलक्षणत्वसिद्धेः । एतेनैव तत्त-  
स्तेषां<sup>२</sup> भेदोपगमेपि प्रत्येकं त्रिलक्षणत्वसिद्धिरुक्ता । न चैवमनवस्था, सर्वथा भेदपक्षे तत्प्र-  
सक्तेः, स्याद्वादपक्षे तु सदसंभवात्<sup>३</sup> । येन हि स्वभावेन त्रिलक्षणासत्त्वादभिन्नाः स्थित्यादय-

भावार्थ—यहाँ पर बौद्ध ने यह प्रश्न किया है कि आपके कथन से तो जीवादि वस्तु स्थिति उत्पत्ति विनाशमान् सिद्ध हो गई हैं और यह 'मनुष्य' प्रत्यय तो भिन्न अर्थ में ही होता है जैसे "श्रीः अस्यास्ति इति श्रीमान्" श्री—लक्ष्मी जिसके पास हो वह श्रीमान् कहलाता है । पुनः आप जैन स्थिति-उत्पत्ति विनाशमान जीव से उन स्थिति उत्पत्ति और विनाश तीनों अवस्थाओं को अभिन्न मानते हो या भिन्न ? क्योंकि यहाँ पर ये तीनों अवस्थाएँ और अवस्थावान् जीव ये दो चीजें हैं अतः अवस्थावान् जीव से ये तीनों अवस्थाएँ अभिन्न हैं या भिन्न ? यह प्रश्न होना स्वाभाविक है । यदि आप अभिन्न मान लेंगे तब तो स्थिति ही उत्पत्ति एवं विनाश हो जावेगी, विनाश ही स्थिति उत्पत्तिरूप बन जावेगा । तथा उत्पत्ति ही स्थिति विनाशरूप हो जावेगी । तात्पर्य है कि तीनों ही एकरूप होने से एकमेक हो जावेंगे क्योंकि एक दूसरे से भिन्न तो रहे नहीं पुनः त्रयात्मक-व्यवस्था समाप्त हो जावेगी । यदि आप स्थित्यादि मान् जीव से इन तीनों अवस्थाओं को भिन्न मानेंगे तब तो इन तीनों में भी प्रत्येक में तीन-तीन लक्षण मानो पुनः उन तीनों में भी प्रत्येक में तीन-तीन की कल्पना करते चलो, तब तो एक जीव के स्थिति, उत्पत्ति, व्ययरूप शाखाओं से अनेकशाखाएँ निकलती चली जावेंगी और आकाश को उलंघन करने वाला एक अनवस्थारूप वृक्ष खड़ा हो जावेगा । यदि शाखा, प्रशाखारूप से प्रत्येक—स्थिति उत्पाद व्यय में स्थिति, उत्पाद, व्यय की परम्परा नहीं मानोगे तब सत् के लक्षण से शून्य होने से वे प्रत्येक स्थिति उत्पत्ति और व्यय खरगोश के सींग के समान अस्तित्व से रहित ही हो जावेंगे अतः भिन्न और अभिन्न इन दोनों पक्षों में ही अनेक दोष आ रहे हैं । इस प्रकार बौद्ध ने जैनो पर दोषारोपण कर दिया है ।

जैनाचार्य कहते हैं कि भाई ! हम तो स्याद्वादी हैं कथंचित् स्थित्यादिमान्—अवस्थावान् जीव से उनकी इन उत्पत्ति, स्थिति और व्ययरूप तीनों ही अवस्थाओं को अभिन्न मानते हैं और अन्वयरूप एकजीवत्वद्रव्य की अपेक्षा से इन तीनों का जीव से अभेद स्वीकार कर लेते हैं क्योंकि द्रव्य को छोड़कर ये अवस्थाएँ अन्यत्र असम्भव हैं । अतः हमारे यहाँ द्रव्य से स्थिति भिन्न तो रही नहीं । वही स्थिति ही उत्पन्न होती है, वही नष्ट होती है और वही स्थितिरूप है ऐसे ही द्रव्य से अभिन्न उत्पत्ति और व्यय की भी, यही व्यवस्था है । त्रिलक्षणवाले जीवादिद्रव्य से अभिन्न स्थिति आदि में भी त्रिलक्षण को घटाने से कोई बाधा नहीं है । हमारे यहाँ कथंचित्त्वा में एकमेक होने का संकर दोष नहीं आता है क्योंकि हम शीघ्र ही पर्यायार्थिकतया से भेद भी मान लेते हैं और जब भेद मान लेते हैं तब भी अनवस्था दोष नहीं आता है । स्थित्यादिमान् जीवादि से कथंचित् ही स्थिति, उत्पत्ति, व्यय भिन्न हैं पुनः उन भिन्न-

१ विजायते इति पा० । (दि० प्र०) २ त्रिलक्षणाज्जीवाद्यर्थादभिन्नानां स्थित्यादीनां त्रिलक्षणत्वव्यवस्थापनद्वारेण ततो जीवाद्यर्थात् तेषां स्थित्यादीनां भेदोस्तीत्यङ्गीकारेपि प्रत्येकं त्रिलक्षणत्वं सिद्धयति । (दि० प्र०) ३ अनवस्था । भेदपक्षे प्रत्येकं त्रिलक्षणत्वप्रकारेण । (दि० प्र०)

स्तेन प्रत्येकं त्रिलक्षणाः, पर्यायार्पणात्परस्परं तद्वत्तश्च भिन्ना अभीष्यन्ते<sup>१</sup>, तथा<sup>२</sup> <sup>३</sup>प्रतीतेर्बाध-  
कासंभवात् । <sup>४</sup>ततो निरवद्यमिदं प्रतिक्षणं त्रिलक्षणं सर्वमिति । एतेन कालत्रयापेक्षयापि  
त्रिलक्षणमुपदर्शितं, तस्यान्वितेन रूपेण कालत्रयव्यापित्वादन्यथा<sup>५</sup> <sup>६</sup>वृत्त्यत्तैकान्ते सर्वथार्थ-  
क्रियाविरोधात् कूटस्थैकान्तवत् । ततो द्रव्यपर्यायात्मकं जीवादि वस्तु, <sup>७</sup>क्रमयौगपद्याभ्यामर्थ-  
क्रियान्यथानुपपत्तेरिति प्रमाणोपपन्नम्<sup>८</sup> ।

भिन्न स्थिति आदि में भी त्रिलक्षण घटित है क्योंकि सर्वथा भिन्न कहो तभी सब दोष अवकाश पाते हैं जैसे कूटस्थ नित्यवादी सांख्य के यहाँ सर्वथा परिणमन का अभाव होने से यह व्यवस्था असंभव है उसी प्रकार से आप वृत्त्यत्तैकांतवादी हैं आपके यहाँ एक-एकक्षण में द्रव्य का अन्वय टूटकर निरन्वय विनाश—द्रव्य का सत्यानाश हो जाता है पुनः आपके यहाँ भी ये उत्पादादि असंभव हैं अतः दोनों के यहाँ अनेक दूषण आते हैं, हमारे यहाँ नहीं । मतलब इन उत्पाद व्यय और ध्रौव्य को जैनाचार्यों ने पृथक् कुछ चीज नहीं माना है कि जिसका जीवादिवस्तु से संबंध होता है । जनों के यहाँ तो उत्पाद व्यय ध्रौव्यात्मक ही संपूर्ण वस्तुएँ हैं, किंतु इस कथन को न समझकर ही सांख्य एवं बौद्ध ने इन तीनों अवस्थाओं की दुर्दशा कर डाली है । सांख्य तो केवल ध्रौव्य ही मानता है उसके यहाँ उत्पाद, व्यय नाम से ही विरोध है वह आविर्भाव और तिरोभाव को मानकर संपूर्ण वस्तुओं को सदैव सत्—विद्यमानरूप ही मानता है । बीज से अंकुर का उत्पाद उसके यहाँ असंभव है । बीज में वृक्ष, मिट्टी में घड़ा, तंतु में वस्त्र सदा विद्यमान है केवल तिरोभूत है । कारणसामग्री को वह व्यंजकसामग्री कहता है और उस सामग्री से कार्य को प्रकट हुआ कहता है और बौद्ध ने तो सांख्य से बचे हुये उत्पाद-व्ययमात्र को ही ले लिया है । उसका कहना है कि ध्रौव्य नाम की कोई वस्तु नहीं है प्रतिक्षण वस्तु का उत्पाद और व्यय ही होता है । वस्तु का एक क्षण बाद निर्मूल नाश हो जाता है और दूसरी वस्तु का उत्पाद हो जाता है । अब वह बौद्ध यह नहीं समझ सकता है कि नाश किसका हुआ और उत्पाद किसका होगा, जबकि कोई वस्तु ही स्थिर ध्रौव्यरूप नहीं है । ऐसे असत् का ही उत्पाद मानने से तो एक साथ सारा विश्व खचाखच भर जावेगा और नवीन-नवीन उत्पाद रुकेंगे नहीं; फिर तो एक लोक के समान अनंतानंत लोक भी बनाने पड़ेंगे । और असत् का उत्पाद होते-होते तो आकाश से फूल, बिना मिट्टी के घड़े, बिना बीजों के खेती होती ही चली जावेगी, किंतु यह सब सोचना व्यर्थ ही है ।

अतः उत्पाद, व्यय के साथ-साथ ही यदि बौद्ध वस्तु में ध्रौव्यत्व को भी मान लेवे तब तो सारी ही व्यवस्था बढ़िया बन जावेगी । इसलिये वस्तु को त्रयात्मक मानना ही उचित है न कि केवल ध्रौव्यरूप या केवल उत्पाद व्यय रूप । क्योंकि सांख्य और बौद्ध की मान्यता में अनेकों दोष आ जाते हैं । आगे तीन काक की अपेक्षा से भी वस्तु को त्रयात्मक ही सिद्ध करेंगे ।

१ स्थित्यादयः । (व्या० प्र०) २ त्रैलक्षण्यप्रकारेण भेदप्रकारेण । (व्या० प्र०) ३ ता । (व्या० प्र०) ४ अनवस्थानास्ति यतः । (व्या० प्र०) ५ अन्यथा जीवाद्यर्थस्यान्वितरूपेण कालत्रयव्यापित्वाभावे अणिकैकान्ते सति सर्वथार्थक्रिया विरुद्धयते यथा नित्यैकान्ते । (दि० प्र०) ६ वृत्त्यत्तैकान्ते इति पा० । (दि० प्र०) ७ क्रमयौगपद्याभ्यामन्यथार्थक्रियानुपपत्तेरिति पा० । (दि० प्र०) ८ द्रव्यपर्यायात्मजीवादि द्रव्यम् । (दि० प्र०)



[ कालत्रयापेक्षया जीवादिषु उत्पादव्ययधौव्यानां सिद्धिः ]

तथा<sup>१</sup> च स्थितिरेव<sup>२</sup> स्थास्यत्युत्पत्स्यते विनङ्क्ष्यति<sup>३</sup> सामर्थ्यात्स्थितोत्पन्ना<sup>४</sup> विनष्टेति गम्यते<sup>५</sup> । विनाश एव स्थास्यत्युत्पत्स्यते<sup>६</sup> विनङ्क्ष्यति स्थित<sup>७</sup> उत्पन्नो विनष्ट<sup>८</sup> इति च गम्यते । उत्पत्तिरेवोत्पत्स्यते विनङ्क्ष्यति स्थास्यतीति<sup>९</sup> न<sup>१०</sup> ११ कुतश्चिदुपरमति<sup>१२</sup> । सोत्पन्ना विनष्टा स्थितेति गम्यते । रिपत्याद्याप्रत्ययवस्तुनाऽनाद्यनन्तत्वादनुपरमसिद्धेः स्थित्यादिपर्यायाणां कालत्रयापेक्षिणामनुपरमसिद्धिः, अन्यथा<sup>१३</sup> तस्यातल्लक्षणत्वप्रसङ्गात्सत्त्वविरोधात्<sup>१४</sup> ।

[ उत्पादव्ययधौव्यापेक्षया वस्तुनि एकाकीतिभेदान् साधयति ]

एतेन जीवादि वस्तु तिष्ठति स्थितं स्थास्यति, विनश्यति विनष्टं विनङ्क्ष्यति, उत्पद्यते

[ त्रिकाल की अपेक्षा से उत्पाद, व्यय, धौव्य की सिद्धि ]

उसी प्रकार से स्थिति ही भावो काल में ठहरेगी, उत्पन्न होगी, नष्ट होगी । और सामर्थ्य से वह स्थिति ही भूतकाल में ठहरी थी, उत्पन्न हुई थी और नष्ट हुई थी, यह जाना जाता है ।

तथा विनाश ही ठहरेगा, उत्पन्न होगा और विनष्ट होगा और वही विनाश ही भूतकाल में ठहरा था, उत्पन्न हुआ था और नष्ट हुआ था, इस प्रकार से जाना जाता है ।

तथैव उत्पत्ति ही उत्पन्न होगी, नष्ट होगी और ठहरेगी इसलिये किसी भी प्रकार से वह उपरम को प्राप्त नहीं होगी । वही उत्पत्ति ही उत्पन्न हुई थी, नष्ट हुई थी और ठहरी थी, इस प्रकार से जाना जाता है । एवं स्थित्यादि की आश्रयभूत वस्तु में अनादि और अनंतपना सिद्ध होने से कालत्रय की अपेक्षा रखने वाली स्थिति, उत्पत्ति आदि पर्यायों का भी उपरम-विराम न होना सिद्ध ही है । अन्यथा यदि उपरम-अभाव मान लो, तब तो उस वस्तु का तल्लक्षण (उत्पाद, व्यय, धौव्य युक्त सत् लक्षण) न होने से अर्थात् अतल्लक्षण हो जाने से उस वस्तु के सत्त्व का विरोध हो जावेगा । पुनः उस वस्तु का त्रिलक्षण के बिना अस्तित्व ही सिद्ध नहीं हो सकेगा ।

[ उत्पाद-व्यय-धौव्य की अपेक्षा से वस्तु में इक्यासी भेद सिद्ध हो जाते हैं ]

इसी कथन से जीवादि वस्तु ठहरती हैं, ठहरी थीं और ठहरेगीं । नष्ट होती हैं, नष्ट हुई थीं, नष्ट होगीं । उत्पन्न होती हैं, उत्पन्न हुई थीं, उत्पन्न होंगीं । इस प्रकार से श्री आचार्यप्रवर भट्टा-

१ कालत्रयापेक्षया त्रिलक्षणोपदर्शने च सति । तथा च जीवाद्यर्थस्यान्वितेन रूपेण कालत्रयव्यापित्वे सति द्रव्यपर्यायात्मकत्वे वा सति । ननु यदैव स्थित्यादयस्तदैव ताव्यदिति कथमुत्पादव्ययधौव्यमुक्तं सकलस्य सातत्वेन सेत्स्यतीत्याशंक्य प्रत्येकं कालत्रयव्यापित्वमाह । (दि० प्र०) २ अभेदब्रह्ममेव । (दि० प्र०) ३ उत्तरकाले स्थित्युत्पत्तिविनाशाः । (दि० प्र०) ४ पूर्वकाले । (दि० प्र०) ५ स्थितिः । (दि० प्र०) ६ उत्पत्स्यति इति पा० । (व्या० प्र०) ७ स्थित्युत्पत्तिविनाशसामर्थ्यात् । (व्या० प्र०) ८ व्यनक्षत् । (व्या० प्र०) ९ सोत्पन्नेत्याद्येतेनमत्र संबध्यते । (दि० प्र०) १० हेतोः । (दि० प्र०) ११ पूर्वभागादुत्तरभागाद्वा । विश्रान्ति । (दि० प्र०) १२ उपरतिः इति पा० । (दि० प्र०) १३ स्थितेरुपत्तेर्विपत्तेर्वा । (दि० प्र०) १४ उत्पादित्रय । (दि० प्र०)

उत्पन्नमुत्पत्स्यते चेति प्रदर्शितं, कथञ्चित्तदभिन्नस्थित्यादीनामन्यथा<sup>१</sup> स्थास्यत्यादिव्यवस्थानु-  
पपत्तेः । तथा चैतेषां नवानामपि विकल्पानां प्रत्येकं नवविकल्पतोपपत्तेरेकाशीतिविकल्पं  
वस्तूह्यं<sup>२</sup>,

[ धर्मिणोऽभिन्नेषु धर्मेष्वपि एकाशीतिभेदाः घटन्ते ]

तदभिन्नस्थित्यादिपर्यायानामपि<sup>३</sup> तावद्वाविकल्पादनुपरमसिद्धेः । यथा <sup>४</sup>जीवपुद्गलधर्मा-

कलंक देव ने दिखलाया है, क्योंकि कथञ्चित् द्रव्यरूप से उससे अभिन्न स्थिति आदि में अन्यथा अन्य किसी प्रकार से यथास्थिति-भविष्य में ठहरने इत्यादि की व्यवस्था रह नहीं सकती है । अर्थात् जीवादि वस्तु में त्रिकाल में भी स्थिति, उत्पत्ति, व्ययरूप ध्रौव्यात्मक का अभाव करने पर 'स्थास्यति' आदि की व्यवस्था बन नहीं सकेगी ।

उसी प्रकार से इन नव भेदों में भी प्रत्येक के नव-नव विकल्प के होने से ८१ भेदरूप वस्तु है, ऐसा समझना चाहिये ।

भावार्थ—उन नव भेदों में पहले 'तिष्ठति' इसमें स्वकीय—वर्तमान काल की अपेक्षा से 'तिष्ठति', 'उत्पद्यते', 'विनश्यति' अपने उत्तर काल की अपेक्षा से 'स्थास्यति', 'उत्पत्स्यते', 'विनङ्क्ष्यति' । और अपने पूर्वकाल की अपेक्षा से 'स्थितं उत्पन्नं विनष्टं' । इस प्रकार से स्थिति में नव भेद कीजिये । तथैव 'स्थास्यति' में नव भेद कीजिये । वैसे ही 'उत्पन्नम्', 'उत्पत्स्यते', 'उत्पद्यते' और 'नश्यति', 'नष्टं' और 'विनङ्क्ष्यति' में ६-६ भेद करने से ८१ भेद हो जाते हैं ।

[ प्रत्येक धर्म में भी ८१ भेद घटित करना चाहिये ]

जिस प्रकार से धर्मों में यह व्यवस्था है, वैसे ही प्रत्येक धर्मों की भी यही व्यवस्था है, ऐसा समझना चाहिये । उसी को कहते हैं कि उस वस्तु से अभिन्न स्थिति आदि पर्यायों में भी उतने ही भेद होने से उनके भी अनुपरम—समाप्त न होने की सिद्धि हो जाती है । अर्थात् कभी भी उन धर्मों का भी विराम—अभाव नहीं हो सकता है, क्योंकि प्रत्येक द्रव्य से उनकी पर्यायें कथञ्चित् अभिन्न ही हैं ।

विशेषार्थ—“सद्द्रव्यलक्षणं” सूत्र के अनुसार द्रव्य का लक्षण सत् है और सत् का लक्षण “उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्” सूत्र के अनुसार उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यरूप है । और प्रत्येक वस्तु सत् रूप है । पहले यह प्रश्न हो चुका है कि उत्पादादिमान् वस्तु से उत्पादादि पर्यायें भिन्न हैं या अभिन्न ? इस पर जैनाचार्य ने तो कथञ्चित् भिन्न और कथञ्चित् अभिन्न सिद्ध कर दिया है । पुनः आचार्य ने वस्तु के इन उत्पादादि तीनों लक्षणों को भूत, भविष्यत्, वर्तमानकाल की अपेक्षा से नव भेदरूप करके प्रत्येक के भी नव-नव भेद कर दिये हैं, ऐसे इक्यासी भेद सिद्ध किये हैं । पुनः वस्तुरूप धर्मों के प्रत्येक धर्मों में भी ८१-८१ भेद घटित करने का विधान किया है ? क्योंकि धर्मों से सभी धर्म कथञ्चित्

१ जीवादिवस्तुनस्तिष्ठत्याद्यभावे सति । (दि० प्र०) २ स्वाधर्माणां कथं स्थितिरित्याशङ्कयामाह । (दि० प्र०)

३ धर्माणाम् । (दि० प्र०) ४ भेदः । (व्या० प्र०)

धर्माकाशकालविकल्पमशुद्धद्रव्यमनन्तपर्यायं सह' क्रमाच्च चिन्तितं तथा सन्मात्रं शुद्धद्रव्यमपि प्रतिपत्तयति, तस्यैव द्रव्यत्वविशेषणस्य द्रव्यव्यवहारविषयत्वसिद्धेः ।

अभिन्न ही हैं । तत्त्वार्थराजवार्तिककार श्रीअकलंकदेव ने इस भिन्नाभिन्नपक्ष में अच्छा वर्णन किया है, प्रथम ही प्रश्न होता है कि “व्ययोत्पादाव्यतिरेकात् द्रव्यस्य ध्रौव्यानुत्पत्तिरिति चेत् न, अभिहितानवबोधात्” । अर्थात् व्यय और उत्पाद द्रव्य से अभिन्न हैं अतः द्रव्य ध्रुव नहीं रह सकता है ? ऐसा प्रश्न होने पर आचार्य कहते हैं कि ऐसा कहना ठीक नहीं है, आपने हमारे अभिप्राय को समझा नहीं है, हम जैन की मान्यता है कि द्रव्य का द्रव्यरूप से अवस्थान होने के कारण उसे ध्रौव्य कहा है, न कि उत्पादव्यय से भिन्न होने के कारण ध्रौव्य कहा है, क्योंकि हम द्रव्य से व्यय और उत्पाद को सर्वथा अभिन्न नहीं कहते हैं । यदि कहते तो ध्रौव्य का लोप करना ठीक था, किन्तु कश्चित् व्यय और उत्पाद के समय भी द्रव्य स्थिर रहता है, अतः दोनों में भेद है और द्रव्य जाति का परित्याग दोनों ही नहीं करते हैं, उसी द्रव्य के ही होते हैं अतः अभेद है । यदि सर्वथा भेद मान लेवें तो द्रव्य को छोड़कर उत्पाद व्यय पृथक् मिलने चाहिये और सर्वथा उत्पाद व्यय से द्रव्य को अभेदरूप मान लेने पर तो सबका एकलक्षण ही हो जाने से एक लक्षण के शेष रहने से बचे हुये शेष का भी अभाव हो जावेगा, किन्तु हमने सर्वथा भेदपक्ष और सर्वथा अभेदपक्ष नहीं माना है, अतः उपर्युक्त दोष नहीं आते हैं, क्योंकि लक्ष्यभूत वस्तु से उसका लक्षण सर्वथा भिन्न नहीं माना गया है । यहाँ आत्मभूतलक्षण समझना चाहिये, जो कि लक्ष्य के अभाव में रह नहीं सकता है, जैसे अग्नि की उष्णता आत्मभूतलक्षण है, उस उष्णतालक्षण के अभाव में अग्निभूतलक्ष्य असंभव है । अतः वस्तु से उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य, संज्ञा, संख्या, प्रयोजन आदि की अपेक्षा से भिन्न हैं । प्रदेश की अपेक्षा से अभिन्न हैं । वस्तु से अभिन्न घर्मों में भी प्रत्येक के भूत, भावी, वर्तमान काल की अपेक्षा से नव भेद हैं, पुनः उसमें एक-एक में भी त्रिकाल की अपेक्षा नव-नव भेद करने से इक्यासी भेद सिद्ध हैं, क्योंकि द्रव्य से इन तीनों पर्यायों को अभिन्न कहने से एक ‘तिष्ठति’—ठहरता है । यह अवस्था भी द्रव्यरूप है । “स्थास्यति” ठहरेगा यह अवस्था भी द्रव्यरूप ही है और ‘स्थितं’—ठहरा था यह अवस्था भी द्रव्यरूप ही है । ऐसे ही ‘विनश्यति’ में और उत्पद्यते में भी लगा लेना चाहिये । अतएव सभी के पुनः नव-नव भेद हो जाते हैं और नाम, संख्या आदि से यदि द्रव्य से इनमें भेद नहीं मानोगे, तब तो द्रव्य को त्रिलक्षणात्मक भी नहीं कह सकेंगे, तब तो वह द्रव्य शुद्ध सन्मात्र ही सिद्ध होगा, जो कि अभेद-प्राही शुद्धसंग्रहनय की अपेक्षा से इष्ट भी है, सर्वथा नहीं ।

जिस प्रकार से जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल के भेद से अशुद्ध द्रव्य अनन्त पर्यायात्मक हैं । अर्थात् व्यवहारनय की अपेक्षा से जिसमें भेद विद्यमान हों, वह अशुद्ध द्रव्य है । वह प्रत्येक द्रव्य सह-युगपत् और क्रम से अनन्त पर्यायात्मक हैं, क्योंकि सहभावी तो गुण होते हैं और क्रम-भावी पर्याय होती हैं, ऐसा कहा गया है । तथैव शुद्ध संग्रहनय की अपेक्षा से शुद्धद्रव्य सन्मात्र है, ऐसा भी समझना चाहिये । क्योंकि उसी अविवक्षित भेदरूप शुद्ध सन्मात्र में ही द्रव्यत्व विशेषण होने से उसमें द्रव्य व्यवहाररूप विषय होना सिद्ध है, तथाहि उसी सत्त्व को ही द्रव्यत्व सिद्ध करते हैं ।

1 द्रव्यापेक्षया । (व्या० प्र०) 2 सन्मात्रद्रव्यत्वमेव नास्ति इत्याह । (दि० प्र०)

[ सत्तैव द्रव्यक्षेत्रकालभावरूपास्ति ]

तथा हि । भाव एव द्रवति द्रोष्यत्यदुद्रव्यदिति द्रव्यं तथा<sup>१</sup> क्षीयन्ते क्षेप्यन्ते क्षिताश्चास्मिन् पदार्था इति क्षेत्रं, कल्यन्ते कलयिष्यन्ते कलिताश्चास्मादिति कालः, भवति भविष्यत्यभूदिति भावः पर्याय इति सत्तैव विशेष्यते द्रव्यक्षेत्रकालभावात्मना, तस्या एव तथा व्यवहारविषयत्वघटनात् ।

[ सत्तायामपि एकाशीतिभेदा घटते ]

ततः परस्परव्यावृत्तस्वभावाननन्तगुणपर्यायान्प्रतिक्षणमासादयन्ती सत्तैव<sup>२</sup> तिष्ठतीत्यादि योज्यं, तस्या अप्येकाशीतिविकल्पत्वोपपत्तेः ।

[ सत्ता ही द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावरूप होती है ]

तथाहि—वह भाव “द्रवति, द्रोष्यति, अदुद्रवत् इति द्रव्यं” वह सत्ता ही पर्यायों का प्राप्त करती है, करेगी और करती थी । इसलिये वह ‘सत्’ ही द्रव्यरूप है । तथा “क्षीयन्ते क्षेप्यन्ते क्षिताश्चास्मिन् पदार्था इति क्षेत्रं” पदार्थ ही जिसमें निवास करते हैं, करेंगे और करते थे, वह सत्ता ही क्षेत्र है । ‘क्षिति’ धातु निवास अर्थ में भी है । “कल्यन्ते, कलयिष्यते, कलिताश्चास्मादिति कालः” कल्यन्ते—पूर्वोत्तर पर्यायरूप से जिस भाव-सत्ता से पदार्थ वर्तते हैं—परिणमन करते हैं, वर्तेंगे और वर्तते थे वह सत् ही काल है । तथा “भवति भविष्यति अभूदिति भावः” पर्याय इति सत्ता एव विशेष्यते द्रव्यक्षेत्रकाल-भावात्मना” उसी प्रकार से सत्ता ही होती है, होगी और होती थी, इस प्रकार से सत्ता ही भाव पर्याय है । उपरोक्तरीत्या द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावरूप से सत्ता ही विशिष्ट की जाती है, क्योंकि उस सत्ता में ही उस प्रकार का उपर्युक्त—द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावरूप व्यवहार का विषय घटित होता है ।

[ सत्ता में भी ८१ भेद घटित करना चाहिये ]

इसीलिये सत्तामात्र ही अनन्तपर्यायात्मक सिद्ध है, यह बात सिद्ध हो जाने से परस्पर में व्यावृत्त-स्वभाववाले अनन्त गुण पर्यायों को प्रतिक्षण प्राप्त करती हुई—स्वीकार करती हुई सत्ता ही ‘तिष्ठति’ है, इत्यादिरूप से ‘स्थास्यति’ आदि पदों को भी योजना उसी सत्ता में ही कर लेनी चाहिये, क्योंकि उस सत्ता में भी ८१ भेद बन जाते हैं ।

१ परिणामं याति । (दि० प्र०) २ तिष्ठति स्थिता स्थास्यति विनश्यति विनष्टा विनश्यत्युत्पद्यत उत्पन्ना उत्पत्स्यते । (दि० प्र०)

[ विश्वव्यापिन्या महासत्तायाः सगुटीकरणं ]

तथा<sup>१</sup> भवानेव<sup>२</sup> संब्रवन्तीत्यादि<sup>३</sup> प्रतिपत्तव्यं क्षितान् कुर्वन्ती<sup>४</sup> कलयन्ती भवन्ती च सत्तैव<sup>५</sup> तिष्ठतीत्यादियोजनायाः संभवात् । तथा चोक्तं

“सत्ता सकलपदार्था सविश्वरूपा<sup>६</sup> त्वनन्तपर्याया । स्थितिभङ्गोत्पादार्था<sup>७</sup> सप्रतिपक्षा भवत्येका<sup>८</sup>” इति ।

[ विश्व व्यापी महासत्ता का सगुटीकरण ]

उस प्रकार के भेदरूप जीवादि पदार्थों को सत्ता ही “संब्रवन्ति” प्राप्त करती है, इत्यादि समझना चाहिये । “क्षितान् कुर्वन्ती, कलयन्ती, भवन्ती च सत्ता एव तिष्ठति” इत्यादि योजनायाः संभवात् ।” वह सत्ता ही निवासितों—पदार्थों को प्राप्त करती हुई, क्षेत्ररूप होती हुई तथा कलयन्ती—कालरूप होती हुई और वहीं भवन्ती—भावरूप होती हुई, सत्ता ही ंहरती है । इत्यादिरूप योजना-व्यवस्था उस सत्ता में ही संभव है । कहा भी है—

श्लोकार्थ—‘यह सत्ता सकल पदार्थों में संस्थित है, अखिल विश्व रूप है, अनन्त पर्यायात्मक है, स्थिति, भंग और उत्पादात्मक है तथा अपने प्रतिपक्ष—असत्ता से सहित एवं विशेषों से रहित स्वरूप की अपेक्षा से एक है ।’

१ जीवादीन् = परस्परं व्यावृत्तस्वभावाननन्तपर्यायान् प्रतिक्षणम् । प्रकारान्तरेण सत्तायाद्रव्यादिव्यवहारविषयत्वमेकाशीतिविकल्पाच्च प्रतिपादयिष्वः प्राहुस्तथा भेदेनेवेति । (दि० प्र०) २ तानेव इति पा० । (दि० प्र०) ३ प्राप्नुवन्ती । सत्तैव तिष्ठतीत्यादि योज्यमिति पूर्वोक्तमत्र कलयन्ती भवन्तीत्यत्र च संब्रवन्तीत्यभिप्रायोवाच्यवन्तव्यः । (दि० प्र०) ४ यतः सकलपदार्थाः तत एव । सविश्वरूपा । यतः सविश्वरूपा तत एवानन्तपर्याया । यतोऽनन्तपर्याया । तत एव सप्रतिपक्षेति भावः । सप्रतिपक्षा । प्रतिपक्षेन भेदेन सहिता । इदमार्थावृत्तं गायारूपेण पञ्चास्तिकायप्राभूते श्री कुन्दकुन्दाचार्यनिरूपितम् । तद्यथा ।

सत्ता सव्यपयत्था सविस्सरूपा अणन्तपञ्जाया । भंगुत्पादध्रुवत्ता सप्रतिपक्षत्वा हवदि एक्का ॥६॥

इत्यस्य व्याख्यानम् । हवदि भवति । का कर्त्री सत्ता । कथंभूता सव्यपयत्था — सर्वपदार्थाः । पुनरपि कथंभूता, सविस्सरूपा = सविश्वरूपा । पुनरपि किं विशिष्टा भंगुत्पादध्रुवत्ता । भंगोत्पादध्रौव्यात्मिका । पुनरपि किरूपा एक्का महासत्ता-रूपेणैका एवं पञ्चविशेषणविशिष्टा सत्ता किं निरङ्कुशा, निःप्रतिपक्षा भविष्यति । नैवं सत्पट्टिवक्त्रा । सप्रतिपक्षेवेति वाक्तिकम् । तथाहि स्वद्रव्यादि चतुष्टयरूपेण सत्तायाः परद्रव्यादिचतुष्टयरूपेण सत्ता प्रतिपक्षः । सर्वपदार्थस्थितायाः सत्ताया एकपदार्थस्थिताप्रतिपक्षः सार्तोघटः सौवर्णो घटस्ताम्रोघट इत्यादिरूपेण सविश्वरूपाया एकघटरूपा सत्ता प्रतिपक्षः । अथवा विवक्षितैकघटे वृत्ताकारादिरूपे विश्वरूपाया सत्ताया विवक्षितैकगन्धादिरूपा प्रतिपक्षः । कालत्रयापेक्षयाऽनन्तपर्याया नानारूपाया सत्तायाः विवक्षितैकपर्यायसत्ता प्रतिपक्षः । उत्पादव्ययध्रौव्यरूपेण त्रिलक्षणरूपायाः सत्ताया विवक्षितैकस्योत्पादस्य वा व्ययस्य ध्रौव्यस्य वा सत्ता प्रतिपक्षः । एकरूप महासत्ताया अवान्तरसत्ता प्रतिपक्ष इति । शुद्धसंग्रहणविवक्षायामेका महासत्ता । अशुद्धसंग्रहणविवक्षायां वा सर्वपदार्थसविश्वरूपाद्यावान्तरसत्ताप्रतिपक्ष-व्याख्यानं सर्वनैगमनयापेक्षया ज्ञातव्यम् । एवं नैगमसंग्रहणव्यवहारनयत्रयेण सत्ताव्याख्यानं योजनीयम् । अथवा एका महासत्ता शुद्धसंग्रहणयेन सर्वपदार्थाद्यावान्तरसत्ताव्यवहारनयेनेति नयद्वयव्याख्यानं कर्तव्यमिति । (दि० प्र०) ५ सत्तायाः । (व्या० प्र०) ६ नाना । (व्या० प्र०) ७ नाशः । (व्या० प्र०) ८ सकलविशेषणरहिता । (व्या० प्र०)

अर्थात् वस्तु का अस्तित्व धर्म सामान्य है और वह सभी चराचर पदार्थों में पाया जाता है, उसे ही सत्ता कहते हैं। सामान्य की अपेक्षा वह सत्ता एक है, किन्तु भेद की अपेक्षा उस सत्ता के महासत्ता और अवांतरसत्ता ऐसे दो भेद माने हैं। प्रत्येक पदार्थों की पृथक्-पृथक् सत्ता अवांतरसत्ता कहलाती है और सत्ता सामान्य की देखने से वह एक विश्वव्यापी ही है।

**विशेषार्थ** - एक बार द्रव्य का लक्षण सत् कह देने से आचार्य उस सत् को ही द्रव्यरूप सिद्ध कर रहे हैं। जैसे—अस् भुवि अस् धातु भू—होने अर्थ में है। इस अस् धातु से ही सत् शब्द निष्पन्न होता है “अस्तीति सत्” जो है—विद्यमान है उसे सत् कहते हैं तथैव “भू सत्तायां” इस नियम के अनुसार भू धातु सत्ता अर्थ में है। मतलब भू धातु सत् अर्थ में है और अस् (सत्) धातु भू अर्थ में है। उसी प्रकार से द्रव्य का लक्षण सत् है और सत् का लक्षण द्रव्य है। यहाँ पर जैनाचार्य सत्ता को अनंत गुण पर्यायों को प्राप्त करने वाली मानते हैं एवं उस सत्ता में उत्पद्यते—उत्पन्न होता है, विनश्यति—नष्ट होता है और तिष्ठति—ठहरता है इत्यादिरूप से उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य को त्रिकाल की अपेक्षा से भी नव भेदरूप करके पुनः उस एक-एक में भी नव-नव भेद करके ८१ भेद कर दिये हैं। आचार्य श्री विद्यानंदस्वामी ने तो इस सत्ता को द्रव्यरूप सिद्ध करते हुये क्षेत्र, काल और भावरूप भी सिद्ध कर दिया है, क्योंकि जगत में सत्ता को छोड़कर और कुछ है ही नहीं। यदि कुछ मानो तो वह आकाश पुष्पवत् असत् ही है।

ये द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव सत्ता के बिना अपने अस्तित्व को कायम ही नहीं कर सकते हैं, हम और आप क्या सारे विश्व के चराचर पदार्थ सत्ता को छोड़कर अपने अस्तित्व को कायम करने में असमर्थ हैं। उस सत्ता का विश्व में ही क्या अलोकाकाश में भी एकच्छत्र साम्राज्य फैला हुआ है। चक्रवर्ती, तीर्थंकर भगवान्, अनंतानंत सिद्धपरमेष्ठी सभी इस सत्ता महाप्रभु के आश्रित हैं। अतः पराधीन हैं और तो क्या भगवान् का केवलज्ञान भी अनंतानंत लोक और अलोक को जानने में समर्थ होते हुये भी इस सत्ता के ही तो आधीन है। वह भी इस सत्ता महाराजाधिराज के शासन के बाहर नहीं है। उस केवलज्ञान से भी अधिक इसका साम्राज्य विस्तृत है, क्योंकि उस ज्ञान पर भी इसने अपना शासन जमा रखा है। केवलज्ञान यद्यपि सारे चराचर लोक और अलोक को व्याप्त करके स्थित है, फिर भी इस सत्ता महाप्रभु के आश्रित ही उसे रहना पड़ रहा है। अतः यह सत्ता एक महान् शक्तिशाली प्रभु ईश्वर—समर्थ है।

एक लौकिक उदाहरण है कि एक शिष्य ने गुरुजी से पूछा कि हे गुरुदेव ! मैं किसकी उपासना करूँ ? तब गुरुदेव ने कहा कि लम्बोदर गणेश भगवान् सबसे बड़े हैं, उनकी पूजा किया करो। वह शिष्य एक दिन पूजा कर रहा था कि इसी बीच में एक चूहा आया और गणेश जी के सिर पर बैठ गया तो शिष्य ने समझा कि शायद ये उन्दुर महाराज गणेशजी से बड़े हैं अन्यथा इनके सिर पर क्यों बैठते ? इसके बाद एक बिल्ली उस चूहे पर लपकी तो चूहा भाग गया और वह गणेशजी के सिर पर बैठकर उसे ताकने लगी कि इतने में शिष्य ने समझा कि यह बिल्ली महारानी तो उन्दुर महाराज से भी प्रधान मालूम पड़ रही है। इतने में ही उधर से कुत्ता झपटा और बिल्ली पर लपका कि बिल्ली तो खिसियानी होकर भाग गई और कुत्ता खड़ा-खड़ा भौंकने लगा। वस ! शिष्य को निश्चित हो गया कि यही श्वानराज सबसे बड़ा है इसी की उपासना करना चाहिये।

कहने का तात्पर्य है कि इसी प्रकार से इस "सत्ता महाराजाधिराज" के एक छत्र, सर्वव्यापी, महासाम्राज्य को देखकर हो कुछ सत्ताद्वैतवादी, एक अपना अलग ही सिद्धांत मढ़ बैठे हैं, क्योंकि यह बात तो निश्चित ही है कि इस सत्ताप्रभु की आज्ञा को उलंघन करने की स्वप्न में भी किसी की ताकत नहीं है न सिद्ध परमेष्ठी में है न केवलज्ञान में है न हरि हर ब्रह्मा आदि में है। हाँ ! जो इस सत्ता के शासन को स्वीकार करने में जरा भी आना-कानी करते हैं उन्हें असत् के कारावास में डाल दिया जाता है। जो स्वयं ही उसका जड़मूल से अस्तित्व ही समाप्त हो जाना है और तो क्या ? उसके वंशजों का, संबंधी वर्गों का इष्टमित्र कुटुम्बियों का भी नाम निशान नहीं मिलता है सभी का नाश हो जाता है। जैसे बंध्या का पुत्र आकाश के फूलों की माला पहनकर खरगोश के सींग का धनुष बाण लेकर आकाश सरोवर के गगन पर नाचती हुई बंध्या की पुत्री के नेत्र का वेधन करना चाहता है यह सब कथन जैसे असत् रूप होने से अभावरूप है, निरर्थक है, बकवासरूप है, क्योंकि इन सभी बातों का जड़मूल से ही अभाव है तथैव सत्ता के शासन से बहिर्भूत की बड़ी दुर्दशा हो जाती है। युगानुयुग तक उसका अस्तित्व सुनने में नहीं आता है अर्थात् त्रिकाल में ही उसका विनाश—अभाव हो जाता है। अतः इस जगत् में एक सत्ताद्वैतवादी भी हैं जो अपने को ब्रह्माद्वैतवादी भी कहते हैं तथा इस जगत् को मात्र सत्स्वरूप ही स्वीकार करते हैं। उनका कहना है कि जो यह सत् रूप जगत् है, वह एक ब्रह्मरूप ही है सभी चराचर पदार्थ इस ब्रह्म की ही पर्यायें हैं जो कि अविद्या—मिथ्यात्व के संस्कार से अनेक चेतन-अचेतन रूप दिख रही हैं यह भेद प्रतिभास अविद्यादेवी का विलास है। जगत् तो अभेदरूप परमब्रह्मरूप ही है इत्यादि। उसका विस्तृत वर्णन स्वयं स्वामीजी ने दूसरी अध्याय में किया है और उनका खंडन करके भी उन्हें भी उसी अविद्यादेवी की गोद में सोते हुये को अच्छी तरह से प्रबुद्ध करके जगा दिया है।

तात्पर्य यह है कि सभी वस्तु भगवान् सिद्ध परमेष्ठी केवलज्ञान और लोकालोक सत् रूप हैं, विद्यमानरूप हैं बस ! इतना ही अर्थ लेना चाहिये, आप भी इसके शासन में रहकर इसे भगवान् मानकर इसकी पूजा नहीं करना। देखो भाई ! जगत् में एक ज्ञान नाम का पदार्थ इतना उत्तम है कि जो इस सत्ता पर भी अपना शासन जमा देता है। क्या ज्ञान के बिना आप या हम इस अस्तित्व गुण की कीमत कर सकते हैं ? क्या ज्ञान के बिना हम और आप इसका महत्त्व समझ सकते हैं या दूसरों को समझा सकते हैं ? अतः ज्ञान के द्वारा ही इस सत्तामहाराज का अस्तित्व सूचित किया जाता है। सभी चेतन-अचेतन वस्तुओं को सत् रूप सिद्ध करने का, उन्हें जानने, समझने का सौभाग्य ज्ञान को ही प्राप्त है, अतः यह ज्ञान महाप्रभु है और सत्ताकुमार इसके महामंत्री पद पर स्थित हैं। ऐसा मानना बहुत ही सुन्दर है। अब यह ज्ञानगुण आत्मा का स्वभाव है। इस ज्ञान को आश्रय देने वाली हमारी और आपकी आत्मा तो सबसे भी महान् सिद्ध हो गई है, अतः इस चैतन्यगुण से विशिष्ट—ज्ञानदर्शन गुण से सहित आत्मा के स्वरूप को समझो उसे सत्ता से एवं ज्ञान से भी महान् पूज्य समझो उसके स्वरूप को प्राप्त करके महान् बनने का प्रयत्न करो यह सबसे उत्तम है। यह आत्मा ही ज्ञानगुण के द्वारा सभी को एवं सत्ता को जानने वाली है। केवलज्ञानगुण भी इसी के आश्रित है, ऐसा समझो क्योंकि आत्मा में अनंतगुण हैं किन्तु ज्ञानगुण ही ऐसा है कि जिसके द्वारा आत्मा अपने अनंतगुणों का महत्त्व समझती है। उनका अनुभव करके सुखी होती है और विश्व के

[ पर्यायार्थिकनयपेक्षमैवेतरेतराभावः संभवति न तु द्रव्यार्थिकनयपेक्षया ]

तदेवं<sup>१</sup> पर्यायार्थिकनयप्राधान्याद्द्रव्यार्थिकनयगुणभावात्सर्वस्य<sup>२</sup> स्वभावान्तरव्यावृत्तिः<sup>३</sup> प्रसिद्धाऽन्यापोहव्यतिक्रममपाकरोतीति<sup>४</sup> किं नः प्रयासेन ।

प्राणियों को सुख का मार्ग बता देती है । निष्कर्ष यह निकला कि जगत् में चैतन्यगुण से सहित आत्मा ही त्रैलोक्याधिपति है, महान् है, ज्ञान और सत्ता इसके मंत्री हैं । ज्ञान तो महामंत्री है और सत्ता उपमंत्री है इन दोनों मंत्रियों के साथ आत्मा अनादिकाल से लेकर अनंतकाल तक संपूर्ण लोकालोक में एकात्म्य शासन करते द्युये अनांतदुःख, अनांतपीडों गुणों का अनुभव करती है । यह कथन शुद्धद्रव्यार्थिकनय या शुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा से है, ऐसा समझना चाहिये और इस आत्मा को शुद्ध, बुद्ध निरंजनरूप बना लेना चाहिये ।

[ पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा से ही इतरेतराभाव संभव है द्रव्यार्थिकनय से नहीं ]

इस प्रकार से पर्यायार्थिकनय की प्रधानता से तथा द्रव्यार्थिकनय को गौण करने से सभी में स्वभावान्तर से व्यावृत्ति प्रसिद्ध ही है और वह अन्यापोह—इतरेतराभाव के व्यतिक्रम—लोप को दूर करती है अर्थात् वह ‘स्वभावांतरात् स्वभावव्यावृत्तिः’ इतरेतराभाव के अभाव का अभाव करती है अर्थात् इतरेतराभाव को सिद्ध करती है । इतने कथन से ही बस होवे । हम जैनों को अधिक प्रयास से क्या प्रयोजन है ? अर्थात् कुछ भी प्रयोजन नहीं है ।

विशेषार्थः—प्रत्येक वस्तु में अनंत धर्म पाये जाते हैं क्योंकि “गुणपर्ययवद्द्रव्यं” गुण और पर्यायों के समूह का नाम ही द्रव्य है, अतः एक द्रव्य में अनंतगुण और अनंतपर्यायों पाई जाती हैं । वे सभी गुण और पर्यायों परस्पर में एक दूसरे के स्वभाव से भिन्न-भिन्न ही हैं, जैसे जीव में दर्शन, ज्ञान, सुख, वीर्य आदि गुण हैं, वे कभी भी एक दूसरेरूप नहीं होते हैं । नरतारकादि पर्यायों भी एक दूसरेरूप नहीं होती हैं, इसी का नाम ही तो इतरेतराभाव है ।

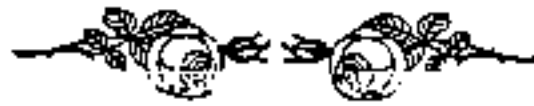
प्रत्येक द्रव्य के सभी गुण और सभी पर्यायों सत् रूप ही हैं न कि असत् रूप । अतः यह इतरेतराभाव प्रत्येक गुण, पर्यायों को वस्तु के प्रत्येक धर्मों को पृथक्-पृथक् व्यावृत्तिरूप कर देता है यह पर्यायार्थिकनय के द्वारा ही होता है । शुद्ध द्रव्यार्थिकनय से सभी वस्तु सत् रूपमात्र हैं, उनमें भेद करने की आवश्यकता नहीं रहती है किन्तु गुणपर्यायों से भेद करना यह काम तो पर्यायार्थिकनय का है और उन गुण पर्यायों को पृथक्-पृथक् सिद्ध करना, संकररूप न होने देना इतरेतराभाव का काम है ।

सत्ता के दो भेद में जो महासत्ता का काम था, वह पहले विशेषार्थ में बता दिया है । यहाँ कुछ अवांतरसत्ता का खुलासा करते हैं जैसे मनुष्यपर्याय की सत्ता देवपर्याय की सत्ता से पृथक् है बचपन की सत्ता जवानी की सत्ता से पृथक् है और जवानी की सत्ता वृद्धावस्था की सत्ता से पृथक् है । गुणों

१ तद्वतस्तेभ्यो व्यावृत्तिरेकानेकस्वभावत्वादिति पूर्वोक्तानुमाने प्रयुक्तस्य तस्य हेतोः समर्थनं कृत्वेदानीं पूर्वोक्तं सर्व-  
मुपसंहरतः प्राहुस्तदेवमिति । (दि० प्र०) २ अर्थस्य । (व्या० प्र०) ३ सती । (व्या० प्र०) ४ अपह्नवं । (व्या० प्र०)



में भी दर्शन से ज्ञान गुण का अस्तित्व भिन्न है चारित्र से वीर्य का अस्तित्व एवं सुख से सम्पत्त्व का अस्तित्व भी भिन्न है, भले ही इन गुणों का आश्रयभूत द्रव्य एक है, अतः प्रदेशभेद नहीं है फिर भी सभी गुणों का एवं पर्यायों का अस्तित्व पृथक्-पृथक् ही है। यदि नहीं मानोगे तो उन-उन गुणों का अभाव हो जावेगा अथवा सभी गुण और पर्यायों का संकर भी हो जावेगा। पुद्गल द्रव्य में भी हरे से पीला गुण एवं रूप से रस, स्पर्श और गंधगुण परस्पर में भिन्न-भिन्न ही हैं। अपक्वबावस्था से पक्वबावस्थारूप पर्यायों भी भिन्न-भिन्न ही हैं, यह सब इतरेतराभाव का ही प्रभाव है, जो कि अनंत गुण और अनंत पर्यायों के अस्तित्व को बता देता है। संकर-मिश्रण नहीं होने देता है। इसलिये पर्यायाधिकनय की अपेक्षा से इतरेतराभाव को स्वीकार करना ही श्रेयस्कर है, यदि इसका लोप करोगे तो सभी वस्तुएँ सर्वात्मकरूप हो जावेंगी।



### इतरेतराभाव का सारांश

हे भगवन् ! यदि अन्यापोह (इतरेतराभाव) का लोप किया जावे तो सभी वस्तु सर्वात्मक एकरूप हो जाती हैं एवं अत्यन्ताभाव का लोप करने पर आत्मा, प्रधान आदिरूप हो जावेगा, पुनः सभी का इष्ट तत्त्व सर्वथा कहा ही नहीं जा सकेगा, क्योंकि एक में दूसरे का अत्यन्त अभाव न होने से अपने इष्ट और अनिष्ट तत्त्वों में तीन काल में भी भेद नहीं हो सकेगा, कारण स्वभावांतर से स्वभाव व्यावृत्ति ही अन्यापोह है, जैसे वर्तमान में पट स्वभाव में घट का अभाव। अतएव अपने स्वभाव से व्यावृत्ति होना अन्यापोह नहीं है, अन्यथा घटादिवस्तु स्वभाव शून्य हो जावेंगी।

यदि कोई कहे कि प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव में अन्यापोह है सो ठीक नहीं है, क्योंकि जिसके अभाव में नियम से कार्य की उत्पत्ति होवे वह प्रागभाव है जिसके होने पर नियम से कार्य का विनाश

होवे वह प्रध्वंस है और इतरेतराभाव के अभाव या सद्भाव में कार्य की उत्पत्ति या विनाश नहीं है। जैसे जल और अनल में इतरेतराभाव तो है किन्तु जल के अभाव में अनल की उत्पत्ति का कोई नियम नहीं है तथा जल के सद्भाव में अनल का विनाश भी नहीं है, अतः जल, अनल में इतरेतराभाव है। प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव नहीं है। प्रागभाव का अभाव होकर ही घट कार्य होता है और प्रध्वंसाभाव का अभाव करके ही कार्य—घट का विनाश होता है दोनों की मौजूदगी में नहीं होता है।

घट और पट में इतरेतराभाव है पट कभी नष्ट होकर मिट्टीरूप हो गया कालांतर में वही मिट्टी घट बन जाती है, तथैव जलबिंदु समुद्र के सीप में मोतीरूप पृथ्वीकायिक बन जाते हैं। पृथ्वीकायिक चंद्रकांतमणि से चंद्रमा की किरणों का स्पर्श होने पर पानी झरने लगता है, सूर्यकांतमणि से अग्नि की उत्पत्ति हो जाती है। अतः इस प्रकार के कारणों के मिल जाने पर पट के घटरूप होवे में कोई विरोध नहीं है। पुद्गल द्रव्य की अनेक पर्यायों का भिन्न-भिन्न परिणमन देखा जाता है, किन्तु इस प्रकार से चेतन और अचेतन में कदाचित् तादात्म्यरूप से परिणमन हो जावे ऐसा शक्य नहीं। अतः भिन्न-भिन्न तत्त्व में अत्यन्ताभाव है।

यदि विज्ञानाद्वैतवादी यह कहे कि ज्ञानमात्र एक तत्त्व को मानने पर हमारे यहाँ कुछ भी दोष सम्भव नहीं है क्योंकि हमने ज्ञान और ज्ञेयाकार में व्यावृत्ति नहीं मानी है, तब तो ज्ञेयाकार विषय में ज्ञान का अनुप्रवेश हो जाने से एक ज्ञान ही बचेगा एवं दोनों में अभेद होने से एक के अभाव में दूसरा ज्ञान भी अभावरूप हो जावेगा पुनः शून्यवाद ही शेष रहेगा, अतएव निर्विकल्पज्ञान का स्वलक्षण स्वरूप तो सिद्ध ही है, वह ज्ञेयाकाररूप स्वभावान्तर से भिन्न है, इसलिये आपके यहाँ भी इतरेतराभाव सिद्ध है। प्रत्येक पदार्थों में कार्यभेद होने से स्वभावभेद पाये जाते हैं, जैसे जीव में सुख-दुःखादि-भेद देखे जाते हैं।

**बौद्ध**—आपके यहाँ “उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्” यह सत् का लक्षण है पुनः यदि जीवादि द्रव्य से उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य अभिन्न हैं, तो सब एकरूप संकर हो जावेंगे, यदि भिन्न मानों तब तो उत्पादादि एक-एक में भी तीन लक्षण मानने होंगे, क्योंकि वे प्रत्येक सत् रूप हैं। अन्यथा—वे एक-एक असत् रूप हो जावेंगे क्योंकि सत् का लक्षण त्रयात्मक है।

**जैन**—यह कथन ठीक नहीं है हमने तो भिन्नाभिन्नरूप दोनों पक्षों को ही कथञ्चित् स्वीकार किया है। उन उत्पाद, व्यय ध्रौव्य, को कथञ्चित् उत्पादिमान् द्रव्य से अन्वयरूप की अपेक्षा से अभेद स्वीकार करने पर स्थिति ही उत्पन्न होती है स्थिति ही नष्ट होती है इत्यादि। कथञ्चित् पर्याय की अपेक्षा से उन्हीं स्थिति आदि का स्थित्यादिमान् से भेद स्वीकार करने पर भी प्रत्येक में त्रिलक्षण सिद्ध है। इसी प्रकार से तीन काल की अपेक्षा से भी त्रिलक्षणता सिद्ध है, क्योंकि जीवादि वस्तु अन्वित द्रव्यरूप से कालत्रय व्यापी हैं किन्तु निरन्वय क्षणिक एवं नित्य—कूटस्थ एकान्त में यह व्यवस्था असंभव है। अर्थात् जीवादि वस्तु में—तिष्ठति, स्थास्यति, स्थितं। नष्टं, नश्यति, नश्यति। उत्पन्नं, उत्पद्यते, उत्पत्स्यते। इन नव भेदों में भी प्रत्येक के नव-नव भेद होने से ८१ भेद वस्तु के सिद्ध हो जाते हैं। अर्थात् ‘तिष्ठति’ में स्वकीय वर्तमान काल की अपेक्षा से उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य

सिद्ध है, यथा तिष्ठति में—तिष्ठति, उत्पद्यते, विनश्यति । भविष्यत् काल की अपेक्षा स्यास्यति, उत्पत्स्यते, विनश्यति । और अपने पूर्वकाल की अपेक्षा से स्थितं, उत्पन्नं, विनष्टं । ये नव भेद हो गये तथैव 'स्यास्यति' में नव भेद कीजिये एवं 'स्थितं' में भी नव भेद कीजिये । उसी प्रकार से उत्पन्नं, उत्पत्स्यते, उत्पद्यते और नश्यति, नष्टं, विनश्यति में भी नव-नव भेद कीजिये सब मिलाकर ८१ हो जाते हैं ।

जीव, पुद्गलादि छह द्रव्य के भेद से अशुद्ध द्रव्य अनन्त पर्यायात्मक हैं, तथैव शुद्ध संग्रहण्य की अपेक्षा से "शुद्ध सन्मात्रद्रव्य" है । वह सर्व ही "द्रवति, द्रोष्यति, अद्रुवत् इति द्रव्यं" लक्षण से द्रव्य है । "क्षीयते, क्षेप्यते, क्षिताश्चास्मिन् पदार्था इति क्षेत्रं" से क्षेत्ररूप हैं (क्षिति धातु निवास अर्थ में है) "कल्यते, कलियष्यते, कलिताश्चास्मादिति कालः" लक्षण से वह सत्ता कालरूप है । (कलि धातु रहने अर्थ में भी है)

तथा "भवति, भविष्यति, अभूदिति भावः—पर्यायः इति सत्ता एव विशेष्येते ।" इन द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से विशिष्ट सत्ता एक है अनन्त पर्यायात्मक है । यह सत्ता परस्पर व्यावृत्त स्वभाव वाले अनन्त गुण पर्यायों को प्रतिक्षण प्राप्त करती है ।

इस सत्ता में भी 'तिष्ठति' आदि प्रकार से ८१ भेद कर लेना । अन्यत्र भी सत्ता का लक्षण कहा है "सत्ता सकलपदार्था, सविश्वरूपास्त्वनन्तपर्याया । स्थिति भंगोत्पादार्था, सप्रतिपक्षाभवत्येका ॥" इस प्रकार पर्यायार्थिकतय की प्रधानता से द्रव्याधिकतय को गौण करने से सभी में स्वभावान्तर से भिन्नता प्रसिद्ध है, वही इतरेतराभाव है, वह सिद्ध हुआ । "स्वभावांतरात् स्वभावव्यावृत्तिः इतरेतराभावः" ।



[ इतः पर्यन्तमितरेतराभावं प्रसाध्याधुनात्यन्ताभावं साधयत्याचार्यः ]

तथा<sup>१</sup> 'केषाञ्चित्तत्त्वतोत्यन्ताभावापाकृतौ न क्वचित्किञ्चित्कथञ्चिन्न वर्तते । वर्तता-  
मिति चेत्, तथा सर्वं सर्वत्र सर्वधोपलभ्येत । न<sup>२</sup> च ज्ञानादिकं घटादावुपलभ्यते, नापि रूपा-  
दिकमात्मादौ । न च किञ्चित्स्वात्मनेव परात्मनाप्युपलभ्येत ततः किञ्चित्स्वेष्टं तत्त्वं क्वचि-  
दनिष्टार्थे सत्यात्मनानुपलभमान<sup>४</sup>; कालत्रयेऽपि तत्तत्र तथा नास्तीति प्रतिपद्यते एवेति सिद्धो-  
त्यन्ताभावः ।

[ यहाँ तक इतरेतराभाव को सिद्ध करके अब आचार्य अत्यन्ताभाव को सिद्ध कर रहे हैं ]

तथा अत्यन्ताभाव का लोप करने पर किन्हीं सांख्यों के यहाँ तत्त्वतः किसी जीव में किञ्चित्—  
रूपादि, कथञ्चित्—सत्यरूप से नहीं रहें ऐसी बात नहीं है, किन्तु रहेंगे ही रहेंगे ।

शंका—रह जावें क्या बाधा है ? “सर्वं सर्वत्र विद्यते” सभी सब में रहते हैं यह सांख्यों का  
सिद्धान्त ही है ।

समाधान—तब तो सभी सब जगह सर्वथा—सभी प्रकार से उपलब्ध हो जावेंगे । किन्तु घटा-  
दिकों में ज्ञानादि की उपलब्धि नहीं पायी जाती है । तथा आत्मा आदि में रूप आदि भी नहीं पाये  
जाते हैं और कोई भी ऐसी वस्तु नहीं है, कि जो स्वस्वरूप के समान ही पररूप से भी उपलब्ध होवे ।  
इसीलिये जो आपका इष्ट तत्त्व (प्रधान) है, वह किसी अनिष्ट-अर्थ (अन्य के सिद्धान्त) में सत्य-  
स्वरूप से उपलब्ध न होता हुआ तीन काल में भी वह आपका मत वहाँ—अन्य मत में उस प्रकार  
से—सर्वथा नहीं है, इस प्रकार से जाना ही जाता है । इस तरह से अत्यन्ताभाव की सिद्धि हो ही  
जाती है ।

१ तथा न केषाञ्चित् इति पा० । (दि० प्र०) इतरेतराभावप्रकारेण । (दि० प्र०) २ येषाञ्ज्यापोहानङ्गीकारे  
घटादौ पटादि वर्तते । पटादौ घटादिवर्तते । तथा केषाञ्चिदेकास्तवादिनामत्यन्ताभावाङ्गीकारे क्वचिद् घटादौ  
ज्ञानादिकमात्मादौ रूपादिकञ्चोपलभ्यते । अथेदानीमन्योन्याभावमभिधायत्यन्ताभावमुपक्रमते । (दि० प्र०) ३ उप-  
लभ्यता की दोषः । (व्या० प्र०) ४ नुपलभ्यमानमिति पा० । (दि० प्र०) क्वचित्किञ्चित्कथञ्चित् तत्त्वं स्वात्मनेति ।  
(व्या० प्र०)

## इतरेतराभाव और अत्यन्ताभाव की सिद्धि का सारांश

हे भगवन् ! यदि अन्यापोह (इतरेतराभाव) का लोप किया जावे तो सभी वस्तु सर्वात्मक एकरूप हो जाती हैं एवं अत्यन्ताभाव का लोप करने पर आत्मा, प्रधान आदिरूप हो जायेगा पुनः सभी का इष्ट तत्त्व सर्वथा कहा ही नहीं जा सकेगा । क्योंकि एक में दूसरे का अत्यन्त अभाव न होने से अपने इष्ट और अनिष्ट तत्त्वों में तीन काल में भी भेद नहीं हो सकेगा । कारण स्वभावांतर से स्वभाव व्यावृत्ति ही अन्यापोह है जैसे वर्तमान में पटस्वभाव में घट का अभाव । अतएव अपने स्वभाव से व्यावृत्ति होना अन्यापोह नहीं है अन्यथा घटादि वस्तु स्वभावशून्य हो जायेंगी । यदि कोई कहे कि प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव में अन्यापोह है सो ठीक नहीं है । क्योंकि जिसके अभाव में नियम से कार्य की उत्पत्ति होवे वह प्रागभाव है । जिसके होने पर नियम से कार्य का विनाश होवे वह प्रध्वंस है । इतरेतराभाव के अभाव या सद्भाव में कार्य की उत्पत्ति या विनाश नहीं है । जैसे जल और अनल में इतरेतराभाव तो है किंतु जल के अभाव में अनल की उत्पत्ति का कोई नियम नहीं है तथा जल के सद्भाव में अनल का विनाश भी नहीं है अतः जल, अनल में इतरेतराभाव है । प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव नहीं है । प्रागभाव का अभाव होकर ही घट कार्य होता है और प्रध्वंसाभाव का अभाव करके ही कार्य घट का विनाश होता है दोनों की मौजूदगी में नहीं होता है ।

घट और पट में इतरेतराभाव है पट कभी नष्ट होकर मिट्टीरूप हो गया कालांतर में वही मिट्टी घट बन जाती है तथैव जलबिंदु समुद्र के सीप में मोती रूप पृथ्वीकायिक बन जाते हैं, पृथ्वीकायिक चंद्रकांत मणि से चंद्रमा की किरणों का स्पर्श होने पर पानी झरने लगता है, सूर्यकांत मणि से अग्नि की उत्पत्ति हो जाती है । इस प्रकार के कारणों के मिल जाने पर पट के घटरूप होने में कोई विरोध नहीं है । पुद्गल द्रव्य की अनेक पर्यायों का भिन्न-भिन्न परिणमन देखा जाता है ।

किंतु इस प्रकार से चेतन और अचेतन में कदाचित् तादात्म्यरूप से परिणमन हो जाये ऐसा शक्य नहीं है । अतः भिन्न-भिन्न तत्त्व में अत्यन्ताभाव है ।

यदि विज्ञानाद्वैतवादी यह कहे कि ज्ञानमात्र एक तत्त्व को मानने पर हमारे यहाँ कुछ भी दोष संभव नहीं है क्योंकि हमने ज्ञान और ज्ञेयाकार में व्यावृत्ति नहीं मानी है । तब तो ज्ञेयाकार विषय में ज्ञान का अनुप्रवेश हो जाने से एक ज्ञान ही बचेगा एवं दोनों में अभेद होने से एक के अभाव में दूसरा ज्ञान भी अभावरूप हो जायेगा । पुनः शून्यवाद ही शेष रहेगा । अतएव निर्विकल्पज्ञान का स्वलक्षण स्वरूप तो सिद्ध ही है । वह ज्ञेयाकार रूप स्वभावांतर से भिन्न है इसलिये आपके यहाँ भी इतरेतराभाव सिद्ध है ।

प्रत्येक पदार्थों में कार्य भेद होने से स्वभाव भेद पाये जाते हैं जैसे जीव में सुख दुःखादि भेद देखे जाते हैं ।

बौद्ध—आपके यहाँ “उत्पादव्ययध्रीव्ययुक्तं सत्” यह सत् का लक्षण है । यदि जीवादि द्रव्य से स्थिति आदि अभिन्न हैं तब तो सब एकरूप संकर हो जायेंगे, यदि भिन्न मानों तब तो उत्पादादि

एक-एक में भी तीन-तीन लक्षण मानने होंगे । क्योंकि वे प्रत्येक सत् रूप हैं । अन्यथा—वे एक-एक असत् रूप हो जायेंगे । क्योंकि सत् का लक्षण त्रयात्मक है ।

जैन—यह कथन ठीक नहीं है, हमने तो भिन्नाभिन्न रूप दोनों पक्षों को ही कथंचित् स्वीकार किया है ।

उन उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य को कथंचित् उत्पादादिमान् द्रव्य से अन्वयरूप को अपेक्षा से अभेद स्वीकार करने पर स्थिति ही उत्पन्न होती है, वही नष्ट होती है इत्यादि कथंचित् पर्याय की अपेक्षा से उन्हीं स्थिति आदि का स्थित्यादिमान् से भेद स्वीकार करने पर भी प्रत्येक में त्रिलक्षण सिद्ध हैं । इसी प्रकार से तीन काल की अपेक्षा से भी त्रिलक्षणता सिद्ध है क्योंकि जीवादि वस्तु अन्वित द्रव्यरूप से कालत्रय व्यापी हैं किन्तु निरन्वय क्षणिक एवं नित्य कूटस्थ एकांत में यह व्यवस्था असंभव है ।

अर्थात् जीवादि वस्तु—तिष्ठति, स्थास्यति, स्थितं । नष्टं, नश्यति, नक्ष्यति । उत्पन्नं, उत्पद्यते, उत्पत्स्यते । इन नव भेदों में भी प्रत्येक के नव-नव (६-६) भेद होने से इक्यासी (८१) भेद वस्तु के सिद्ध हो जाते हैं । अर्थात् तिष्ठति में स्वर्गाय वसंतमान काल की अपेक्षा से उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य, सिद्ध हैं यथा तिष्ठति में—तिष्ठति, उत्पद्यते नश्यति । भविष्यत्काल की अपेक्षा स्थास्यति, उत्पत्स्यते, विनक्ष्यति । और अपने पूर्वकाल की अपेक्षा से स्थितं, उत्पन्नं, विनष्टं । ये नव भेद हो गये तथैव स्थास्यति में नव भेद कीजिये एवं स्थितं में भी नव भेद कीजिए ।

उसी प्रकार से उत्पन्नं, उत्पत्स्यते, उत्पद्यते और नश्यति, नष्टं विनक्ष्यति में भी नव-नव भेद कीजिये । सब मिलकर इक्यासी भेद हो जाते हैं ।

जीव पुद्गलादि छह द्रव्य के भेद से सभी अशुद्ध द्रव्य अनंत पर्यायात्मक हैं तथैव शुद्ध संग्रहनय की अपेक्षा से “शुद्ध सन्मात्र द्रव्य” है ।

वह सत्त्व ही “द्रवति, द्रोष्यति, अदुद्रुवत् इति द्रव्य” लक्षण से द्रव्य है । “क्षीयंते, क्षेप्यंते, क्षिताश्चास्मिन् पदार्था इति क्षेत्र” से क्षेत्ररूप है, क्षितिधातु निवास अर्थ में भी है । “कल्यंते, कलियिष्यंते, कलिताश्चास्मादितिकालः” लक्षण से वह सत्ता कालरूप है । कलिधातु रहने अर्थ में भी है । तथा भवति, भविष्यति, अभूदितिभावः “पर्यायः इति सत्ता एव विशेष्यते ।” इन द्रव्य, क्षेत्र, काल भाव से विशिष्ट सत्ता एक है अनंतपर्यायात्मक है । यह सत्ता परस्पर व्यावृत्त स्वभाव वाले अनंत गुण पर्यायों को प्रतिक्षण प्राप्त करती है ।

इस सत्ता में भी तिष्ठति आदि प्रकार से ८१ भेद कर लेना, समयसार में भी सत्ता का लक्षण कहा है ।

“सत्ता सकलपदार्थासविश्वरूपात्वनंतपर्याया । स्थितिभंगोत्पादार्था सप्रतिपक्षा भवत्येका” । इस प्रकार से पर्यायार्थिकनय की प्रधानता से, द्रव्यार्थिकनय को गौण करने से सभी में स्वभावांतरसे भिन्नता प्रसिद्ध है वही इतरेतराभाव है यह सिद्ध हुआ ।

“स्वभावांतरात् स्वभावव्यावृत्तिः इतरेतराभावः” ।

अब अत्यन्ताभाव को बतलाते हैं—

जीव के स्वरूप से पुद्गल का स्वरूप भिन्न होने से उसमें अत्यन्ताभाव है, तीन काल में भी ये दोनों एक स्वरूप नहीं हो सकते हैं। जीव स्वरूप से अस्तिरूप होकर भी पर पुद्गलादिरूप से अभावरूप है, क्योंकि सभी पदार्थ स्वस्वरूप से भावरूप एवं परस्वरूप से अभावरूप लक्षण वाले ही हैं। जैसे निःश्रेणी की पंक्तियाँ उभयतः (आजू-बाजू के) दो दीर्घ काष्ठ से बंधी हुई हैं तथैव सभी वस्तुयें भाव, अभावरूप दो स्वभाव से संबंधित हैं।

अतः अभाव तुच्छाभावरूप नहीं है। एक द्रव्य की अनेकों पर्यायों में एक दूसरे से पृथक्पना होना तो इतरेतराभाव का लक्षण था और एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य में सर्वथा अभाव होना अत्यन्ताभाव है जैसे जीव का पुद्गल में अभाव। पुद्गल में धर्म, अधर्म द्रव्य का अभाव। धर्म द्रव्य में आकाश द्रव्य का एवं आकाशादि में काल द्रव्य का अभाव। अर्थात् सभी छहों द्रव्यों का एक दूसरे में अत्यन्तरूप से अभाव होना ही तो अत्यन्ताभाव है। कहा भी है—

“अण्णोणं पविसंता दिता उग्गासमण्णमणस्स ।

मेलंतावि य णिच्चं सगसगभावं ण विजहंति ॥

अर्थ—ये सभी द्रव्य एक दूसरे में अनुप्रविष्ट हैं, एक दूसरे को अवकाश भी दे रहे हैं, एक दूसरे में दूध और पानी के समान एकमेक होकर मिल भी रहे हैं फिर भी अपने-अपने स्वभाव को नहीं छोड़ते हैं।



[ बौद्धो वक्ति यत् प्रत्यक्षानुमानाभ्यां अभावो न गृह्यते इत्युच्यमाने सति तं बौद्धं अस्वस्थं  
कथयन्तः तस्य चिकित्सां कुर्वन्त्याचार्याः ]

कथं पुनरभावप्रतिपत्तिः ? कथं च न<sup>१</sup> स्यात् ? सर्वथा भावविलक्षणस्याभावस्य वास्त-  
वस्य ग्राहकप्रमाणाभावात्, प्रत्यक्षस्य<sup>२</sup> रूपादिस्वलक्षणविषयत्वादभावे प्रवृत्त्ययोगात् तस्य  
तत्कारणत्वविरोधात्<sup>३</sup>, तत्कारणत्वे स्वलक्षणतापत्तेः<sup>४</sup>, अकारणस्याविषयत्वव्यवस्थितेः<sup>५</sup>,

[ बौद्ध का कहना है कि प्रत्यक्ष और अनुमान ये दोनों प्रमाण अभाव को नहीं ग्रहण कर सकते हैं ।  
इस पर जैन-आचार्य उस बौद्ध को अस्वस्थ बतलाते हुये उसकी चिकित्सा करते हैं । ]

बौद्ध—अभाव का ज्ञान पुनः कैसे होगा ?

जैन—आप ही यह बतलाइये कि अभाव का ज्ञान कैसे नहीं होगा ?

बौद्ध—सर्वथा भाव से विलक्षण जो अभाव है, वह वास्तविक है, इस प्रकार से ग्रहण करने  
वाले प्रमाण का अभाव है, क्योंकि प्रत्यक्ष प्रमाण तो रूपादि स्वलक्षण को ही विषय करता है । अत-  
एव अभाव को ग्रहण करने में उसकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती है, क्योंकि निर्विकल्प प्रत्यक्ष को उस  
अभाव के कारणत्व का विरोध है ।

यदि उस अभाव को भी प्रत्यक्ष के प्रति कारण मानों तब तो उस अभाव को भी स्वलक्षणरूप होने  
का प्रसंग प्राप्त हो जावेगा, क्योंकि प्रत्यक्ष के लिये अकारणरूप अभाव तो प्रत्यक्ष का विषय नहीं है,  
अविषय ही है यह व्यवस्था बनी हुई है । अर्थात् हम बौद्धों का कथन है कि “नाकारणं विषयः” जो  
ज्ञान के उत्पन्न होने में कारण होता है वही पदार्थ ज्ञान का विषय होता है, जो ज्ञान की उत्पत्ति में  
कारण नहीं है, वह विषय भी नहीं है, तथा प्रमाणान्तर—अनुमान भी अपने कारण को ही विषय  
करता है, क्योंकि अभाव तो अनुमान का भी कारण नहीं है । अर्थात्—अग्निरूप स्वलक्षण से धूमरूप  
स्वलक्षण उत्पन्न होता है । पुनः धूम का दर्शन होता है फिर उससे धूम का विकल्प होता है । पश्चात्  
धूम से अग्नि का अनुमान होता है । इस प्रकार को परम्परा से स्वकारण ही विषय है । मतलब हम

। आह सी० हे स्याद्वादिन् ! तवाभावनिश्चयः कथं स्या० हे सी० अस्माकमभावप्रतिपत्तिः कथं न स्यादपितु स्यादेव ।  
सी० आह हे स्या० एवं न । कुतः भावविलक्षणस्य सर्वथाऽभावस्य ग्राहकप्रमाणं नास्ति यतः । न तावत्प्रत्यक्षं रूपादि-  
जातस्य प्रत्यक्षस्य रूपाद्यर्थः विषयस्तस्याभावे प्रवृत्तेरवदनात् = तथा प्रमाणान्तरमनुमानादिकं च सर्वथाऽभावग्राहकं  
न । तस्यापि स्वकारणगोचरत्वात् । अनुमानं त्रिविधं कार्यानुमानं स्वभावानुमानमनुपलब्ध्यनुमानञ्च । तस्य  
प्रमाणान्तरस्य कार्यानुमानत्वे सति अभावस्य कारणत्वमायाति असौ कारणत्वप्रसक्तिः योग्यान् = तस्य स्वभावानु-  
मानत्वेऽभावस्य भावात्मकत्वमायाति = तर्हि अभावग्राहिकाऽनुपलब्धिर्भविष्यति सापि न । कुतस्तस्या अनुपलब्धेः  
सदृशग्राहित्ववृत्त्या वस्तुनिश्चयात् । तस्या तस्या सर्वथाऽभावस्याविषयत्वं सिद्धयति यतः । (दि० प्र०) २ परमाणुः ।  
(दि० प्र०) ३ अकारणत्वं कुत इत्याशङ्क्य द्वितीयं हेतुं योजयेत् । (दि० प्र०) ४ स्वलक्षणस्यैव प्रत्यक्षज्ञानजनन-  
सामर्थ्यसिद्धेः । (दि० प्र०) ५ च । (व्या० प्र०)



प्रमाणान्तरस्यापि स्वकारणविषयत्वात् । तस्य कार्यानुमानत्वे तावदभावस्य कारणत्वप्रसक्तिः । न चासौ युक्तिमती । स्वभावानुमानत्वेपि भावात्मकतापत्तिः, अभावस्य स्वभावानुमानत्वात् । 'असतोनुपलब्धेः' पर्युदासवृत्त्या वस्तुनि नियमात् सर्वथाप्यभावविषयत्वसिद्धिः ।

बौद्धों की यही मान्यता है कि जिस पदार्थ से निर्विकल्पज्ञान उत्पन्न होता है, उसी को विषय करता है और अनुमान ज्ञान भी निर्विकल्प का पृष्ठभावी होने से निर्विकल्प प्रत्यक्ष से जाने हुये विषय को ही ग्रहण करता है । अतः वह अनुमान भी परम्परा से जिस अर्थ से उत्पन्न होता है, उसी को विषय करता है, अन्य को नहीं । एवं अभाव प्रत्यक्ष और अनुमान ज्ञान की उत्पत्ति में न कारण बन सकता है, न वह अभाव उनका विषय ही हो सकता है ।

वह अनुमान ही कार्यानुमानरूप है, ऐसा कहने पर तो अभाव भी कारण बन जावेगा, किन्तु इस प्रकार कहना युक्तियुक्त नहीं है । उस अनुमान को स्वभावानुमान मानने पर भी अभाव को भावात्मकत्व का प्रसंग प्राप्त हो जावेगा, किन्तु अभाव को स्वभावरूप कहना असंभव ही है, इसलिये उस अभावरूप लिंग से अनुमान का उदय नहीं हो सकेगा । अर्थात् अनुमान के लिये तीन हेतु माने हैं—कार्यहेतु, स्वभावहेतु और अनुपलब्धिहेतु । इसी को लेकर यहाँ कथन है कि यदि अनुमान को कार्यहेतु से उत्पन्न हुआ कार्यानुमान कहेंगे और अनुमान से अभाव को विषय करना मानेंगे तब तो कार्यानुमान होने से इस अनुमान के लिये अभाव कारण बन जावेगा, क्योंकि कार्य तभी बनता है, जब कुछ कारण होता है, कारण के अभाव में कार्य कल्पना ही असंभव है इत्यादि ।

एवं असत् की अनुपलब्धिरूप हेतु से पर्युदास वृत्ति से वस्तुभूत—भूतल का ही नियम हो जाता है । अतः सर्वथा भी अभाव अविषय ही है ऐसा सिद्ध हो जाता है । अर्थात् "नास्त्यत्र घटोऽनुपलब्धेः" इससे भी अभाव का ग्रहण नहीं होता है, प्रत्युत् पर्युदासरूप से भूतल का ही ग्रहण होता है । अतएव अनुपलब्धिविषयक भी अभाव भावस्वभाव ही है, ऐसा समझना चाहिये ।

भावार्थ—बौद्ध ने प्रत्यक्ष और अनुमान दो प्रमाण माने हैं और उनका कहना है कि ये दोनों ही प्रमाण अभाव को विषय नहीं कर सकते हैं । निर्विकल्प प्रत्यक्ष में तो एकक्षणवर्ती पर्यायरूप विशेष ही झलकता है और निर्विकल्पज्ञान के अनन्तर सविकल्पज्ञान होता है, वह भी निर्विकल्प के विषय को ही विषय करता है, परंपरा से उत्पन्न हुआ अनुमानज्ञान भी उसी प्रत्यक्ष के विषय को ग्रहण करता है । उनका कहना है कि ज्ञान जिस विषय (पदार्थ) से उत्पन्न होता है, उसी को ग्रहण करता है—जानता है अन्य को नहीं और अभाव से तो कुछ उत्पन्न होता शक्य नहीं है, अन्यथा आकाश कमल से भी माला बनना, सुगंधि आना संभव हो जावेगा ।

हेतु के तीन भेदों में से कार्यहेतु से जो अनुमान उत्पन्न होता है, उसमें भी अभाव कारण नहीं बन सकता है । स्वभावहेतु जो अनुमान उत्पन्न होता है, जैसे "अयं वृक्षोऽस्ति शिशपात्वात्" यह वृक्ष है क्योंकि शिशपा है । यह शिशपात्व हेतु स्वभावहेतु है यदि स्वभाव हेतु से उत्पन्न अनुमान को

१ अन्तशोनुपलब्धेरिति पा० । (व्या० प्र०) अन्तेऽस्तित्वधर्म भूतले । (व्या० प्र०) २ भावानुपलब्धेः । घटादेः । अनुपलब्धिनिरूपकस्य । (व्या० प्र०)

तद्विषयोभि<sup>१</sup> भावस्वभाव एवाभावः । कस्यचिदेकस्य कैवल्यमितरस्य वैकल्यमिति<sup>२</sup> ब्रुवन्नपि देवानांप्रियो<sup>३</sup> दुर्विदग्धबौद्धो नावधारयति<sup>४</sup>, <sup>५</sup>भावाभावप्रतिपत्तेरभावाभ्युपगमात्<sup>६</sup> । सोयं<sup>७</sup>स्वयं—

अनादिवासनोद्भूतविकल्पपरिनिष्ठितः<sup>८</sup> शब्दार्थस्त्रिविधो धर्मो भावाभावोभयाश्रितः ।

स्वभावानुमान मानोगे, तब तो उससे भी वह अभाव स्वभावरूप बन जावेगा । तथा अनुपलब्धिहेतु से भी अभाव का ग्रहण नहीं होता, क्योंकि घट से भिन्न भूतल का ज्ञान हो जाता है । अतः अभाव को विषय करने वाला कोई भी प्रमाण नहीं है ।

जैन—किसी भूतल का कैवल्य (होना) इतर घटादि का वैकल्य (नहीं होना) है इस प्रकार से कहता हुआ भी 'देवानांप्रियः'—दुर्विदग्ध बौद्ध ही समझ नहीं सका है, क्योंकि इस कथन में भाव और अभाव इन दोनों की प्रतिपत्ति होने से उसने अभाव को तो स्वीकार कर लिया है । अर्थात् "इस भूतल पर घट नहीं है क्योंकि उसकी अनुपलब्धि है, इस प्रकार से इसमें भावरूप भूतल और अभावरूप घट दोनों का ज्ञान हो रहा है । पुनः ऐसा स्वीकार करता हुआ भी बौद्ध कहता है कि अभाव का बोध नहीं होता है, अतः वह मूर्ख ही है क्योंकि स्वयं उसने ऐसा कहा है कि—

इलोकार्थ—अनादि काल की वासना से उत्पन्न हुये विकल्प से युक्त शब्द का अर्थ तीन प्रकार के धर्म वाला है—भाव, अभाव और उभयरूप । इन तीन धर्मों के निमित्त से होने वाला अर्थ तीन प्रकार का है ।

इस प्रकार से परमार्थतः भाव और उभय इन दोनों का ज्ञान हो जाने से अभाव को भी प्राप्त करता हुआ—समझता हुआ पुनः अभाव के ज्ञान करने में किस प्रकार से उपर्युक्त प्रश्नों को करता है ? यदि वह परमार्थ से अस्वस्थ नहीं है तब तो उपर्युक्त प्रश्न कर नहीं सकता था, अतः वास्तव में वह स्वस्थ नहीं है, स्वयं अस्वस्थ ही है ऐसा ज्ञात होता है ।

विशेषार्थ—जैनाचार्यों ने अत्यन्ताभाव का लक्षण बताते हुये यह प्रकट किया है कि यदि आप लोग अत्यन्ताभाव को नहीं मानोगे तो सभी द्रव्य अपने-अपने स्वरूप से शून्य होने से निःस्वरूप हो जावेंगे किसी का कोई निजी स्वरूप ही सिद्ध नहीं हो सकेगा । अथवा सभी वस्तुयें सर्वात्मिक भी हो जावेंगी क्योंकि एक वस्तु में दूसरी वस्तु का अभाव तो है नहीं । इस पर सांख्य राजी हो जाता है वह कहता है कि हमने सम्पूर्ण जगत् को प्रधानात्मक सिद्ध कर ही दिया है अतः "सर्वे सर्वत्र विद्यते" सभी कुछ सब में पाया जाता है, इस सिद्धांत के अनुसार हमें अभावों को मानने की आवश्यकता ही नहीं है ।

१ अनुमानम् । (दि० प्र०) २ अशुद्धत्वम् । (दि० प्र०) ३ मूर्खवत्त्वमस्तथोक्तं विदग्धचूडामणौ पञ्चमे राज्ञि गीर्वाणे व्यग्रहर्तरि । मूर्खे बाले जिगीषौ च देवोक्तिर्नरकुण्ठिनीति । (दि० प्र०) ४ यतः । (दि० प्र०) ५ का । (दि० प्र०) ६ शब्दार्थभूतस्यानादिवासनोद्भूतविकल्पपरिनिष्ठितस्य क्रमाद्व्यस्तसमस्तापेक्षया भावस्याभावस्य भावो-भावो भावस्य च प्रसीतेः परमार्थतो ह्यभाव एव विषय इति सौगतेनाभ्युपगम्यमानत्वादिति भावः । (दि० प्र०) ७ भाष्यं भावयन्तः प्राहुः सोयमिति । (दि० प्र०) ८ कल्पितः सन् धर्मः शब्दस्यार्थो भवतीति । (दि० प्र०)

इति परमार्थतो<sup>१</sup> २भावस्योभयस्य<sup>३</sup> च ४प्रतिपत्तेरभावं प्रतिपद्यमानः कथमभावप्रतिपत्तौ प्रकृतपर्यनुयोगं कुर्यात् ? न चेदस्वस्थः<sup>५</sup> परमार्थतः<sup>६</sup>, स्वपररूपादिभावाभावलक्षणत्वात्सर्वस्य<sup>७</sup>

इस पर जैनाचार्य कहते हैं कि हे भोले भाई ! आप भी चेतनरूप पुरुषतत्त्व को प्रकृतिरूप नहीं मानते हैं और प्रधान को चैतन्यपुरुष का स्वभाव नहीं मानते हैं और तो क्या ? आपने अपने कूटस्थ नित्य में वृद्धत् क्षणिक—निरन्वयक्षणिकरूप अनित्य सिद्धांत को अथवा निरपेक्ष नित्यानित्यरूप यौग के सिद्धांत को या सापेक्षसिद्ध नित्यानित्यरूप स्याद्वाद सिद्धांत को नहीं माना है । अतः आपने भी “अंधसर्पबिलप्रवेश” न्याय से अत्यंताभाव को मान ही लिया है । जैसे अंधा सर्प बिल में नहीं जाना चाहता है और बहुत काल तक घूम घुमाकर कहीं न कहीं यदि घुसता है तो वह बिल में ही घुसता है अतः अंध सर्प बिल प्रवेश न्याय से आप सांख्य भी घूम घुमाकर बेमालूम ही अत्यंताभाव को मान लेते हो अन्यथा आपका पुरुषतत्त्व प्रधान बनेगा और उसी से सृष्टि उत्पन्न होने लगेंगी तथा प्रधान-तत्त्व उसका भोक्ता बन बैठेगा और भी अनर्थ होंगे । आपके नित्यपक्ष में बौद्ध प्रवेश कर जावेगा । बस ! आप देखते-देखते ही क्षणिकवादी बन जावेंगे, किन्तु यह सब आपको इष्ट नहीं है, अतएव अनिष्ट तत्त्व का परिहार करने के लिये एवं इष्ट तत्त्व की रक्षा करने के लिये आप भी अत्यंताभाव प्रभु की शरण में ही आ जाते हैं ।

इधर बौद्ध अपनी बुद्धि की विशेषता प्रकट करने के लिये दौड़ पड़ते हैं और कहते हैं कि अभाव नाम की चीज को ग्रहण करने वाला कोई प्रमाण ही नहीं है, अतः उस अभाव का ही अभाव है । मतलब यह है कि बौद्धों ने दो ही प्रमाण माने हैं एक प्रत्यक्ष और दूसरा अनुमान । वे कहते हैं कि अभाव इन दोनों प्रमाणों के द्वारा ग्रहण ही नहीं किया जा सकता है क्योंकि “प्रमेयद्वित्व” से ही प्रमाणद्वित्व को हमने माना है अर्थात् विशेष और सामान्यरूप से प्रमाण के द्वारा जानने योग्य प्रमेय दो प्रकार के ही हैं । विशेष को तो निर्विकल्प प्रत्यक्ष ग्रहण कर लेता है और सामान्य को अनुमान ग्रहण कर लेता है । पदार्थ दो प्रकार के ही हैं और उनके ग्रहण करने वाले ज्ञान भी दो ही पर्याप्त हैं । परन्तु इस सामान्यता का खंडन जैनाचार्यों ने बड़े ही सुंदर ढंग से किया है ।

जैनाचार्य पूछते हैं कि प्रमेय सामान्य-विशेष रूप से दो ही हैं इस बात को ग्रहण करने वाला कौन सा प्रमाण है ? क्योंकि आपका प्रत्यक्ष तो मात्र विशेष को ही ग्रहण करता है एवं सामान्य मात्र को अनुमान । पुनः “जगत में सामान्य-विशेष रूप से दो ही प्रमेय हैं अन्य तीन नहीं हैं” इस प्रकार से ये दोनों प्रमाण तो जानने में असमर्थ ही रहेंगे ।

यदि आप कहें कि प्रत्यक्ष इन प्रमेय द्वित्व को जानना है तब तो प्रत्यक्ष का विषय एक विशेष ही है वह एकान्त कहाँ रहा ? उसने तो सामान्य विशेष दोनों को जान लिया । यदि आप कहें कि

१ शब्दात् । (व्या० प्र०) २ स्थित्यादिरूपस्य । (व्या० प्र०) परमार्थतोभावस्याभावस्योभयस्य इति पा० । (व्या० प्र०) ३ अन्यापीहस्य । (व्या० प्र०) ४ भावाभावात्मकस्य । सकाशात् । (व्या० प्र०) ५ अस्वस्थः कथं न कोर्थः स्वस्थश्चेत् प्रकृतपर्यनुयोगं कथं कुर्यात् । (दि० प्र०) ६ कथमियं भावाभावाप्रतिपत्तिः सत्या इत्याशंकाया-माह । (दि० प्र०) ७ वस्तुनः । (व्या० प्र०)

निःश्रेणीपदबन्धाभ्यामिव भावाभावस्वभावाभ्यां प्रतिबन्धात्<sup>१</sup>, स्वरूपादिभिरिव<sup>२</sup> पररूपादि-  
भिरपीष्टस्य संविदद्वयस्य भावे<sup>३</sup> भेदरूपत्वप्रसङ्गात्<sup>४</sup> पररूपादिभिरिव<sup>५</sup> स्वरूपादिभिरपि

अनुमान प्रमेयद्वित्व का ज्ञान कराता है तब तो उसका भी विषय सामान्य कहाँ रहा ? अतः 'प्रमेय दो हैं' इस बात को जानने के लिये आपको एक तीसरा ही प्रमाण खोजना पड़ेगा, इसलिये प्रमेय दो होने से ही प्रमाण दो हैं, यह व्यवस्था करना अशक्य है। हम जैनो ने तो प्रत्यक्ष और परोक्ष के भेद से प्रमाण के दो भेद किये हैं। उसमें भेद प्रभेद अनेकों माने हैं, फिर भी हमारे यहाँ प्रत्येक प्रमाण सामान्य-विशेषरूप उभयात्मक वस्तु को ही ग्रहण करते हैं। हाँ ! अंतर यही है कि सभी प्रमाणों के ग्रहण की प्रक्रिया पृथक्-पृथक् है। प्रत्यक्ष प्रमाण वस्तु को स्पष्ट जानता है और परोक्षप्रमाण अस्पष्टरूप से जानता है। उन स्पष्ट-अस्पष्ट में भी तरतमता से अनेकों भेद हो जाते हैं। अतः प्रमेय रूप पदार्थ तो अनंत हैं और सामान्य विशेषात्मक ही हैं, एवं सभी पदार्थ भावाभावात्मक भी हैं। भाव छोड़कर अभाव और अभाव को छोड़कर भाव नहीं रह सकता है, क्योंकि पृथक्-पृथक् सामान्य विशेष उपलब्ध नहीं होते हैं और पृथक्-पृथक् भाव एवं अभाव भी उपलब्ध नहीं होते हैं। उन प्रमेयों को जानने वाले प्रमाण ज्ञान तो प्रत्यक्ष परोक्षरूप से दो भी हैं। मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल की अपेक्षा से पांच भी हैं और एक-एक ज्ञान के असंख्यातलोकप्रमाण भेद होने से असंख्यात भी हो सकते हैं हमारे जैनसिद्धांत के अनुसार बाधा नहीं आती है। तात्पर्य यह निकला कि अभाव को ग्रहण करने के लिये किसी पृथक् प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। ये प्रत्यक्ष, परोक्ष प्रमाण ही उस अभाव को भी ग्रहण कर लेते हैं।

मीमांसक ने छह प्रमाण माने हैं प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, उपमान, अर्थापत्ति और अभाव। उसका कहना है कि पांच प्रमाण तो सत्तात्मक वस्तु को ग्रहण करते हैं और एक अंतिम अभावप्रमाण ही अभाव रूप वस्तु को विषय करता है। एवं वे अभावप्रमाण का लक्षण इस प्रकार से करते हैं कि "गृहीत्वा वस्तु सद्भाव" अर्थात् पहले कभी एक कमरे में घट को देखा था, पुनः किसी दिन वहाँ आकर देखा कमरा खाली है, उस कमरे को देखकर घट की याद आई और मन में 'घट' नहीं है, ऐसा ज्ञान प्रकट हुआ, उसमें इंद्रियज्ञान की अपेक्षा नहीं है। यह मानसिक नास्तिज्ञान ही अभावप्रमाण और घट के अभाव को सूचित करता है।

इस पर जैनाचार्य कहते हैं कि आपने जो घट रहित कमरे को या भूतल को देखा तो चक्षु इंद्रिय से ही तो देखा है अतः घट के अभाव का ज्ञान प्रत्यक्ष से सिद्ध हुआ न कि कल्पित अभाव प्रमाण से। अतः हम जैनो का तो यही सिद्धांत है कि अभावात्मक वस्तु को भी प्रत्यक्ष, अनुमान, प्रत्यभिज्ञान आदि प्रमाण ही जानने हैं न कि अभाव प्रमाण। वास्तव में अभाव नाम की वस्तु कोई तुच्छाभाव तो है नहीं, वह तो एक भावांतररूप ही है। श्री समंतभद्रस्वामी ने स्वयंभूस्तोत्र में भी कहा है कि "दीपस्तमः पुद्गलभावतोऽस्ति" एवं "खे नास्ति पुष्पं तरुषु प्रसिद्धं" अर्थात् दीपक बुझा

१ सर्वस्यार्थस्य । स्वरूपेणैव पररूपेणापि । (व्या० प्र०) २ त्रैतादिभिः । (व्या० प्र०) ३ सद्भावे । (व्या० प्र०)

४ स्वरूपपरूपप्रकारेण । (व्या० प्र०) ५ अन्यथा । (दि० प्र०)

तस्याभावे स्वयं प्रकाशनविरोधात् । न किञ्चित्प्रमाणं सर्वात्मना भावमभावं वा<sup>१</sup> ग्रहीतु-  
मर्हति<sup>२</sup>, अनियमप्रसङ्गात्<sup>३</sup> । ताथागतानां हि भाव एव प्रमाणविषय इति भावप्रमेयकान्त-

प्रकाश का अभाव हुआ मतलब अंधेरा आ गया, जैसे प्रकाश पुद्गल की पर्याय थी, वैसे ही अंधकार भी तो पुद्गल की ही पर्याय है और देखिये ! किसी ने आप से कहा आकाश पुष्प नहीं है, तो भाई ! तरु-वृक्ष और लताओं में तो पुष्प विद्यमान ही हैं । आपने कहा कि “अर्जनमानय” अर्जन को लाओ तो जैन के बजाय कोई ब्राह्मण आदि पुरुष हो लाया जाता है अतः अभाव हमेशा ही एक भिन्न भाव रूप ही है । दूसरी बात यह है कि जगत् में कोई ऐसी वस्तु ही नहीं है, कि जिसमें अभाव गुण नहीं होने यह पुस्तक है तो मतलब यहाँ है कि यह चौकी पत्थर आदि नहीं है । यदि यह अस्तित्व गुण नास्तित्व के साथ अविनाभावी न रहे तो वस्तुव्यवस्था ही नहीं बनेगी । यदि आपने कहा कि दधि खाओ तो कोई भोला प्राणी ऊंट के पास भी दौड़ जावेगा “प्रेरितो दधि खादेति किमुष्टं नाभि-  
धावति” अतएव प्रत्येक द्रव्य को—पदार्थ को भावाभावात्मक ही मानना पड़ेगा और उस भावा-  
भावात्मक वस्तु को ग्रहण करने वाले जो प्रमाण हैं, सो ही हैं पृथक् से अभाव नामक कोई प्रमाण नहीं है । हम प्रत्यक्ष प्रमाण से भी अनुभव करते हैं कि यह चेतनद्रव्य पुद्गल नहीं है, पौद्गलिक—शरीर पड़ा रह गया चैतन्यआत्मा चली गई, अनुमान भी लगाते हैं, एवं प्रत्यभिज्ञान आदि से भी निर्णय कर लेते हैं । तथैव यह चौकी है तो यह पत्थर है, पुस्तक, पेन, कमंडलु आदि नहीं है, यह इतरेतरा भाव भी प्रत्यक्ष, अनुमान आदि से सिद्ध है, उसी प्रकार से प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव भी प्रत्यक्षादि से सिद्ध है । मिट्टी में घड़ा, बीज में अंकुर, दूध में घी किसी को भी नहीं दिखता है, वही तो प्रागभाव है, कारण में कार्य का न होना ही तो प्रागभाव नाम से कहा जाता है, पुनः प्रागभाव का अभाव होकर कारण से ही कार्य बन जाता है, तभी तो कार्य-कारणभाव संबंध माना जाता है । घट में कपाल-टुकड़े नहीं हैं यह बात भी प्रत्यक्ष से सिद्ध है, इसी का नाम प्रध्वंसाभाव है, जब इस प्रध्वं-  
साभाव का अभाव होगा—घट का प्रध्वंस होगा तब टुकड़े दीखेंगे ।

इसीलिये जैनाचार्यों का ऐसा कहना है कि प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, इतरेतराभाव और अत्यंता-  
भाव इन चारों ही अभावों का ज्ञान प्रत्यक्ष, अनुमान, प्रत्यभिज्ञान, तर्क आदि प्रमाणों से होता है, क्योंकि ये चारों ही अभाव भावांतररूप ही हैं । सर्वथा निःस्वभाव-तुच्छाभावरूप नहीं हैं, जैसे कि आप लोगों ने भावात्मक वस्तुओं का ज्ञान इन प्रत्यक्षादि प्रमाणों से अबाधितरूप से माना है, वैसे ही आप लोगों को इन अभावों के ज्ञान में भी विसंवाद को समाप्त कर देना चाहिये, क्योंकि सभी वस्तुयें भावाभावात्मक सिद्ध हो रही हैं । न्याय सिद्धांत के अनुसार “प्रतीतेपलापकतुं न शक्यते” प्रतीति का लोप करना शक्य नहीं है, ऐसा समझना चाहिये ।

क्योंकि सभी पदार्थ स्वस्वरूप से भावस्वरूप और परस्वरूप से अभावस्वरूपलक्षण वाले ही हैं । जैसे कि निःश्रेणी की पदपंक्ति (पैर रखने की डंडियाँ) आजू-बाजू के दो दीर्घ काष्ठ से बंधी हुई हैं, उसी प्रकार से ही सभी पदार्थ भाव-अभावरूप दो स्वभाव से संबंधित हैं । अर्थात् जैसे नसेनी की पैर

१ इव । (व्या० प्र०) २ अन्यथा । (व्या० प्र०) ३ प्रमाणं केवलं भावमभावं वा गृह्णाति चेत्तदा भावाभावात्मकवस्तु-  
ग्रहणेऽनियमः प्रसजति । (दि० प्र०)

वाबिनामभावप्रतिपत्तिरयुक्तिः । अतो न<sup>१</sup> भावनियमप्रतिपत्तिः, <sup>२</sup>कस्यचित्क्वचित्कथञ्चिद-  
सत्त्वासिद्धेः<sup>३</sup> स्वस्वभावव्यवस्थित्ययोगात् ।

रखने वाली डंडियों को संभालने के लिये आजू-बाजू में बांस के दो बड़े डंडे रहते हैं, जिसके सहारे ही वे डंडियां बंधी रहती हैं, उसी प्रकार से सभी पदार्थ का ज्ञान भाव-अभावरूप दो दीर्घ डंडों से बंधा हुआ है । तात्पर्य यह निकला कि भाव और अभाव इन दोनों रूप अवस्थाओं को माने बिना पदार्थों का निर्दोष ज्ञान असंभव है ।

जिस प्रकारसे स्वस्वरूप आदि चतुष्टय से वस्तु है, यदि उसी प्रकारसे पररूपादिक से भी स्वीकार कर लोगे तब तो संवेदनाद्वैत में भी भाव की तरह पर का अस्तित्व हो जाने से वह भेदरूप हो जावेगा एवं अद्वैतवादियों का अद्वैत सिद्ध नहीं हो सकेगा । अर्थात् अद्वैतवाद जैसे स्वस्वरूप से ब्रह्मरूप या विज्ञान रूप है, यदि वैसे ही पररूप-सांख्यमत, जैनमत से भी अस्तित्वरूप हो जावेगा, तब तो वह अद्वैत नहीं रहेगा द्वैतरूप ही हो जावेगा । अतः पररूप से अभाव मानना उचित ही है ।

तथैव पररूपादि के समान ही स्वरूप आदि से भी उसका अभाव मान लेने पर तो उसका स्वयं भी प्रकाशन होना अर्थात् यदि वस्तु पररूप से अभाव के समान स्वस्वरूप से भी अभावरूप है । पुनः उसका स्वभाव ही कुछ न रहने से वस्तु शून्यरूप हो जावेगी अतः पररूप से अभाव के समान स्वभाव से भी वस्तु में अभावधर्म नहीं मानना चाहिये । क्योंकि कोई भी ऐसा प्रमाण नहीं है कि जो सर्वात्मक रूप से स्वरूप के समान हो पररूप से भी भाव अथवा अभाव को ग्रहण करने में समर्थ हो सके अर्थात् कोई भी समर्थ नहीं है । अन्यथा अनियम का प्रसंग आ जावेगा । अर्थात् यह घट ही है, इस प्रकार का नियम हो नहीं बन सकेगा । क्योंकि बौद्धों के यहाँ भाव ही प्रमाण का विषय है इस प्रकार से 'भाव-प्रमेयकांतवादियों' के यहाँ अभाव की प्रतिपत्ति अयुक्त ही है । अर्थात् नय, प्रमाण से रहित होने से युक्ति युक्त नहीं है । इसलिये भाव के नियम की प्रतिपत्ति नहीं हो सकती है ।

किसी वस्तु का कहीं पर किसी प्रकार से असत्त्व—अभाव असिद्ध होने से तो स्वस्वभाव की भी व्यवस्था नहीं बन सकेगी । यथा—'पृथुबुध्नोदराकार' घट के स्वभाव में घट की व्यवस्था बनती है, वह सिद्ध नहीं हो सकेगी ।

भाषार्थ—यहाँ आचार्य इस बात को अच्छी तरह से सिद्ध कर देना चाहते हैं कि सभी वस्तुयें अपने स्वद्रव्य क्षेत्रकाल भाव की अपेक्षा से ही भावरूप हैं—सत् रूप हैं एवं परद्रव्यक्षेत्रकालभाव की अपेक्षा से अभावरूप-नास्तिरूप है । जीव जीवत्व चेतनत्व आदि से अस्तिरूप है, अचेतनत्व आदि से नास्तिरूप है । आम्रफल स्वद्रव्यादि चतुष्टय से अस्तिरूप है एवं जामुन, अनार आदि परद्रव्यादि चतुष्टय से नास्तिरूप है । ये भाव अभाव-धर्म नसंती—ऊपर चढ़ने की सीढ़ी के आजू-बाजू के दो डंडे हैं इन भाव-अभावरूप डंडों से ही छोटी-छोटी पैर रखने की डंडियां बंधी हुई हैं जिन पर पैर रखकर व्यक्ति छत पर चढ़ जाता है । उसी प्रकार से इन भाव-अभावरूप डंडों से बंधी हुई सभी वस्तुओं के

१ स्याद्वादी । (दि० प्र०) २ कस्यचिद् ज्ञानादेः क्वचिद् घटादी केनचित्प्रकारेण नास्तित्वं न सिद्धयति सर्वत्र सर्वं सुलभम् । (दि० प्र०) ३ स्वरूपेणेव पररूपेणापि । (दि० प्र०)

[ यदि बौद्धोऽभावं प्रमाणस्य विषयं न मन्यते तर्हि तस्य प्रमाणद्वयं संख्या न घटते ]

तेषां तत्प्रमेयतो<sup>१</sup>पसंख्यानं<sup>२</sup> <sup>३</sup>प्रमाणद्वयनियमं विघटयति । भावनैरात्म्यस्य<sup>४</sup> <sup>५</sup>प्रमाणा-  
कारणत्वात्प्रतिबन्धनियमो भा भूत्, <sup>६</sup>प्रमाणनैरात्म्ययोस्तादात्म्यानिष्ठेस्तदुत्पत्तिप्रतिबन्धस्य  
विरोधात्, नैरात्म्यात्प्रमाणस्योत्पत्तौ तस्य भावस्वभावत्वप्रसक्तेः, तयोः <sup>७</sup>प्रतिबन्धात्स्तरोपगमे

ज्ञान से यह मनुष्य स्याद्वाद पद्धति से मोक्ष मार्ग को तय कर मोक्ष महल की छत पर पहुँच जाता है । जैसे वस्तु स्वरूपादि से है वैसे ही यदि पररूप से भी मान लगे तब अद्वैतकांत में स्वस्वरूप से अस्तित्व के समान जैनमत, बौद्धमत, सांख्यमत आदि से भी अस्तित्व हो जाने से अद्वैतभाव समाप्त होकर द्वैतभाव आ जावेगा । अथवा पररूप से जैसे वस्तु नास्तिरूप है वैसे ही स्वरूपादि से भी नास्ति मान लगे तब तो वस्तु का स्वभाव समाप्त होकर आकाणकुसुमवत् सर्वथा उसका अभाव ही हो जावेगा । इसलिये बढ़िया तो यही है कि प्रत्येक वस्तु को स्वपर चतुष्टय से अस्ति-नास्तिरूप मानते चलिये विरोधादि दोषों की अवकाश ही नहीं मिलेगा ।

[ यदि बौद्ध अभाव को प्रमाण का विषय मान लेते हैं तो उनकी दो रूप  
प्रमाण संख्या नहीं रहती है, तीन प्रमाण मानने पड़ेंगे ]

उन बौद्धों के द्वारा अभाव को भी प्रमेयपना स्वीकार किया जाने पर तो उनके द्वारा स्वीकार किये गये दो प्रमाण (प्रत्यक्ष, अनुमान) की संख्या विघटित हो जाती है । अर्थात् प्रत्यक्ष एवं अनुमान भावस्वभाव पदार्थ को ही विषय करते हैं । अतएव अभाव को ग्रहण करने वाला कोई अन्य ही प्रमाण खोजना होगा, क्योंकि भाव नैरात्म्य—अर्थात् भावांतररूप अभाव नहीं किन्तु तुच्छाभाव रूप अभाव प्रत्यक्ष एवं अनुमान प्रमाण को उत्पन्न करने के प्रति अकारण है । अर्थात् कारण नहीं है । अतएव अभाव को ग्रहण करनेके प्रतिबन्ध—अविनाभाव का नियम भी नहीं रहेगा । अर्थात् जब प्रत्यक्ष और अनुमान अभाव को भी ग्रहण नहीं करते हैं, तब उनके साथ अभाव को ग्रहण करने का अविनाभाव भी नहीं है, अतः उस अभाव को ग्रहण करने के लिये कोई तीसरा प्रमाण मानना ही पड़ेगा ।

प्रमाण और नैरात्म्य-तुच्छाभावरूप अभाव में तादात्म्य इष्ट नहीं है, क्योंकि उस नैरात्म्यरूप अभाव से उस प्रमाण की उत्पत्ति के संबंध-अविनाभाव का विरोध है । यदि उस नैरात्म्य से भी प्रमाण की उत्पत्ति स्वीकार करो, तब तो नैरात्म्य को भावस्वभावपने का प्रसंग प्राप्त हो जावेगा । यदि उन प्रमाण एवं नैरात्म्य का भिन्नरूप कोई संबंध स्वीकार करोगे, तब तो हेतु तीन प्रकार न होकर एक चौथा और हो जावेगा । अर्थात् आप बौद्ध ने हेतु तीन प्रकार के माने हैं । कारणहेतु, स्वभावहेतु और अनुपलब्धिहेतु । पुनः प्रतिबंधांतर-भिन्न संबंधरूप एक और हेतु हो जाने से हेतु के चार भेद स्वीकार करने होंगे और यदि आप कहें कि हम प्रमाण और नैरात्म्य में तीनों प्रकार का संबंध

१ अर्थानाम् । (दि० प्र०) २ प्रतिपादितदोषभयावभाविस्म प्रमेयत्वमभ्युपगच्छन्तं प्रत्याह । (व्या० प्र०) ३ कथनम् । (व्या० प्र०) ४ ता । (व्या० प्र०) ५ ज्ञानं प्रति । (व्या० प्र०) ६ अभावात् । (दि० प्र०) ७ अविनाभावः । (दि० प्र०)



निङ्गस्य<sup>१</sup> त्रिविधत्वविरोधात्<sup>२</sup> । तदप्रतिबन्धे<sup>३</sup> प्रमाणान्तरसिद्धेः<sup>४</sup> कथं प्रमाणद्वयनियमविघटनं न घटेत्<sup>५</sup>, तदुत्पत्त्यभावे<sup>६</sup> प्रत्यक्षस्यानुमानस्य चानुदयात्<sup>७</sup>,

‘अर्थस्यासंभवेऽभावात्<sup>८</sup> प्रत्यक्षेऽपि प्रमाणता<sup>९</sup> ।

<sup>१०</sup>प्रतिबद्धस्वभावस्य तद्धेतुत्वे<sup>११</sup> समं द्वयम्’ ॥ इति वचनात् ।

स्वीकार नहीं करते हैं, तब तो एक भिन्न ही प्रमाण और सिद्ध हो जाने से आपके प्रमाणद्वय के नियम का विघटन क्यों नहीं घटित होगा ? अर्थात् प्रमाणद्वय का नियम विघटित ही हो जावेगा, पुनः उस अभाव से उस अभावज्ञान की उत्पत्ति न होने से प्रत्यक्ष और अनुमानरूप प्रमाण का भी उदय नहीं होगा, क्योंकि कहा भी है—

इलोकार्थ—पदार्थ न होने पर प्रत्यक्षज्ञान भी उत्पन्न नहीं होता है, अतः भावरूप पदार्थ से उत्पन्न हुये प्रत्यक्ष में ही प्रमाणता है, क्योंकि साध्य के साथ हेतु का अविनाभावी स्वभाव होने पर प्रत्यक्ष और अनुमान दोनों ही समान हैं ।

अर्थात् बौद्ध की मान्यतानुसार पदार्थों से ही ज्ञान उत्पन्न होते हैं, पदार्थ के अभाव में ज्ञान उत्पन्न नहीं होते हैं । अतः भावरूप अर्थ उत्पन्न होने से ही प्रत्यक्ष अथवा अनुमान प्रमाणरूप माने गये हैं और पदार्थ से उत्पन्न होना स्वभावरूप अविनाभाव ही उन ज्ञानों की प्रमाणता में हेतु है, इसलिये वे दोनों ज्ञान प्रमाणरूप हैं । यदि पदार्थ अभावरूप है, तब उस अभाव से अभावज्ञान की उत्पत्ति तो होती नहीं है, अतः उस अभाव का ज्ञान कराने के लिये न प्रत्यक्षप्रमाण उत्पन्न होगा और न अनुमान ही उदित होगा । मतलब दोनों ही प्रमाणों का उदय न होने से उन दोनों ही प्रमाणों का अभाव होगा ।

यदि आप बौद्ध ऐसा कहें कि मन में होने वाला नास्तित्ता ज्ञानरूप अभावज्ञान है उससे इस अभाव को जान लेंगे तो भी अभावप्रमाण नाम का प्रमाण मानना पड़ेगा, जैसे कि मीमांसक अभाव नाम का छटा प्रमाण मानते हैं, उसी का स्पष्टीकरण—

मानसरूप जो नास्तित्ताज्ञान है, वह स्वकारणरूप सामग्री के निमित्त से उत्पन्न होकर अभाव का ज्ञान कराने वाला है, ऐसा होने पर वह अभाव एक भिन्न ही प्रमाण सिद्ध होता है, जो कि आपके

१ प्रमाणस्य । (दि० प्र०) २ कार्यस्वभावानुपलब्धिभेदेन । (दि० प्र०) ३ भावस्वभावप्रमाणकारणकारणत्वान्तरान्तरस्य भावरूपत्वम् । (दि० प्र०) ४ प्रत्यक्षानुमानाभ्यां सकाशादभावग्राहकज्ञानस्य । (दि० प्र०) ५ सर्वस्य सर्वदाभावा एवैकान्तसंभवा । अभावात्प्रत्यक्षस्य । (दि० प्र०) ६ तदुत्पत्तिनिमित्तसार्थस्याभावे सति प्रत्यक्षमनुमानं च नोत्पद्यते सौगतानां कुतः अद्यतनकारिकाधामस्यैवार्थस्य सौगर्तः स्वाभिप्रायेण प्रतिपादितत्वात् । (दि० प्र०) ७ अभावग्राहकस्य । (दि० प्र०) ८ तज्जन्मतद्रूपतदध्यवसायेषु सत्सु नीलादी दर्शनं प्रामाण्यमुपलभते । एवमर्थस्यासंभवे सति प्रत्यक्षानुमानयोरभावो घटतेऽन्यथाऽर्थस्य संभवेऽनुमाने प्रत्यक्षेऽपि प्रमाणता स्यात् । प्रतिबन्धः स्वभावोऽर्थः प्रमाणस्य कारणमेव सति प्रमाणद्वयस्यार्थकारणत्वात् द्वयं सममिति सौगतसिद्धान्तात् । (दि० प्र०) ९ ततश्च । (दि० प्र०) १० धूमादेः । (दि० प्र०) ११ साध्यसिद्धिहेतुः । (दि० प्र०)



मानसस्य तु नास्तित्वाज्ञानस्य स्वकारणसामग्रीवशादुत्पन्नस्याभावपरिच्छेदकत्वे<sup>१</sup> तदेवं<sup>२</sup> प्रमाणान्तरं, प्रतिबन्धनियमाभावात्<sup>३</sup> । इति<sup>४</sup> यथोदितदोष<sup>५</sup> परिजिहोषुणा वस्तुधर्मस्यैवाभावस्य, प्रतिपत्तिरभ्युपगन्तव्या, तस्याः प्रतिक्षेपापायात्<sup>६</sup> । ततो न भावकान्ते समोहित-सिद्धिः ।

प्रमाणद्वय की संख्या को विघटित कर देता है । क्योंकि दो प्रमाण के साथ इस अभाव का अविनाभाव नियम नहीं है । अर्थात् अभाव का लक्षण देखिये—

श्लोकार्थ—पहले वस्तु के सद्भाव को ग्रहण करके और अपने प्रति योगी को स्मरण करके जो मन में “नास्ति” इस प्रकार का ज्ञान होता है वही अभाव प्रमाण है । वह इंद्रियों की अपेक्षा से रहित ही उत्पन्न होता है, वह नास्तिरूप ज्ञान आप बौद्धों की दो प्रमाण की संख्या को विघटित करके तीसरा ही है, ऐसा समझना चाहिये ।

भावार्थ—बिचारे बौद्ध ने अनेक दोषों के आक्षेपों से डरकर कहा कि भैया ! यदि इतने दोष आते हैं, तब तो हम अभाव को भी प्रमेयरूप मान लेंगे, वस झगड़ा समाप्त हो जावेगा । तब आचार्य उसको अभाव के प्रमेयरूप मानने में भी दोषारोपण दिखाते हैं । आचार्य कहते हैं कि भोले भाई ! तुम अभाव को प्रमेयरूप मानने तो चले हो किंतु तुम्हारे यहाँ शक्य नहीं है देखो ! इतने भोलेपन से घबड़ाकर कहीं अपने मूलसिद्धांत को न खो बैठो । यदि तुम अभाव को प्रमेय मान भी लोगे तो होगा क्या ? तुम्हें उस अभाव प्रमेय को विषय करने वाला कोई न कोई तीसरा प्रमाण मानना ही पड़ेगा, क्योंकि तुम्हारे द्वारा मान्य प्रत्यक्ष और अनुमान तो कथमपि इस अभाव को ग्रहण करने में समर्थ नहीं हैं । पुनः तुम्हारी मान्य प्रमाण दो की संख्या नहीं बन सकेगी । अतः तुम अपने आप को मत भूलो जहाँ के तहाँ हो बने रहो यही सबसे अच्छा है और यदि घबड़ाकर तीसरा प्रमाण मान भी लोगे तो भी तुम बौद्ध नहीं कहलावोगे सांख्य, जैनादि बन जावोगे क्योंकि इन लोगों ने ही दो से अधिक प्रमाण माने हैं ।

दूसरी बात यह है कि आप बौद्धों के यहाँ ज्ञान को पदार्थ से उत्पन्न हुआ मानते हैं । अर्थात् आप के यहाँ ज्ञान पदार्थ से उत्पन्न होता है पुनः पदार्थ के आकार का होकर ही वह ज्ञान उस पदार्थ को जानता है और प्रकाश को भी आपने ज्ञान का कारण माना है । इस पर आचार्यों ने कहा है कि “नार्थालोकी कारणं परिच्छेद्यत्वात्तमोवत” अर्थात् पदार्थ और प्रकाश ज्ञान में कारण नहीं है क्योंकि वे दोनों ही तो ज्ञान के विषय हैं जैसे अंधकार आपकी मान्यतानुसार ज्ञान का विषय है किंतु ज्ञान का कारण नहीं है । अतः आप के यहाँ कोई भी ज्ञान नैरात्म्य—तुच्छाभावरूप अभाव से उत्पन्न तो हो नहीं सकता है पुनः उस अभाव को विषय कैसे करेगा ? गधे के सींग से कोई चीज बनती है क्या ?

१ अंगीक्रियमाणे । (दि० प्र०) २ तदेवमानसंज्ञानं तृतीयं प्रमाणम् सौगतानां युक्ति बलादायातम् । (दि० प्र०)

३ अभावज्ञानस्यार्थेन सह तादात्म्यतदुत्पत्तिप्रणव्याप्तिः । (दि० प्र०) ४ कारणात् । (दि० प्र०) ५ प्रागनन्तर-मेवोक्तदूषणम् । (दि० प्र०) ६ प्रतिक्षेपायोगादिति पाठः । (दि० प्र०) निराकरणसम्भवात् । (दि० प्र०)

वैसे ही अभाव से कोई ज्ञान उत्पन्न नहीं हो सकता है और न उस अभाव के आकार का ही हो सकता है, न उस अभाव को जान ही सकता है, क्योंकि अभाव का तो कुछ आकार भी नहीं है, अतः आप अभाव को प्रमेय भी कैसे मानोगे ? एवं उसको विषय करने वाला कौन सा प्रमाण स्वीकार करोगे ? इसलिये आप बौद्ध भावप्रमेयैकांतवादी ही बने रहो यही आपके लिये हितकर है, नहीं तो हम जैनों के समान स्याद्धादी बन जावो बस ! झगड़ा समाप्त हो जावेगा । हम किसी भी ज्ञान को पदार्थ से उत्पन्न हुआ नहीं कहते हैं, हमारे यहां तो मति, श्रुत ज्ञानावरण के क्षयोपशम विशेष से यह आत्मा ही स्वयं ज्ञान के द्वारा पदार्थों को जानता है । प्रत्येक ज्ञान ज्ञानावरण के क्षयोपशम अथवा क्षय के निमित्त से होते हैं न कि पदार्थों से, देखो भाई ! यह आत्मा ही अनंतगुणों का पुंज है उसमें एक ज्ञानगुण भी है, जो ज्योतिः स्वरूप है, केवलज्ञानस्वरूप है, लोकालोक प्रकाशी है किन्तु अनादिकाल से इस ज्ञानगुण पर आवरणकर्म आया हुआ है, जो कि ज्ञानगुण को पूर्णतया प्रकट नहीं होने देता है । सूक्ष्मनिगोदिया लब्धपर्याप्तक एकेन्द्रियजीव के भी "पर्याय" नाम का ज्ञान विद्यमान है, जो कि ज्ञान का सबसे छोटा-सा अंश है धीरे-धीरे क्षयोपशम बढ़ते-बढ़ते ज्ञान प्रकट होता चला जाता है और वही श्रुत-ज्ञानरूप से भावश्रुत होता हुआ केवलज्ञान के लिये बीज बन जाता है । ध्यान के द्वारा मोहनीय कर्म का नाश करके पुनः ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अंतराय का भी नाश करके यह जीव अपने केवल-ज्ञानगुण को पूर्णतया प्रकट कर लेता है, बस लोकालोकप्रकाशी, पूर्ण ज्ञानी केवलो भगवान् बन जाता है । अतः ज्ञान पदार्थों से उत्पन्न न होकर भी भूत, भावी, वर्तमान त्रिकालवर्ती संपूर्ण पदार्थों को जानने की क्षमता रखता है । हम और आपका ज्ञान अभी क्षयोपशमरूप है, अतएव कतिपय पदार्थों को इंद्रियों की सहायता से—मन की सहायता से जानता है, एतावता परोक्ष है अथवा सांख्यवहारिक प्रत्यक्ष भी है किन्तु पदार्थों से उत्पन्न होने वाला नहीं है । इसीलिये हमारे यहाँ एक ज्ञान अनेकों पदार्थों को जानने वाला होने से एकानेकात्मक है । एक ही ज्ञान सामान्य-विशेष इन दोनों गुणों से सहित वस्तु को जानता है, इसमें कोई विवाद नहीं है ।

सात्पर्य यह निकला कि अभाव को प्रमेय कहने पर आपके यहाँ तो एक तीसरे प्रमाण की आवश्यकता भी होती है और तृतीय प्रमाण मानने पर भी आपके सिद्धांत में बाधा आती है, कारण वह प्रमाण अभाव से उत्पन्न तो होगा नहीं, पुनः कैसे जानेगा ? यदि अभाव से उत्पन्न हुये बिना भी उसको जान लेगा, तब तो तदुत्पत्ति, तदाकार और तदध्यवसायरूप आपका सिद्धांत समाप्त हो जावेगा, किंतु हम तो इस अभाव को भावांतररूप मानकर प्रत्यक्षादि प्रमाणों से ही इसका ज्ञान मानते हैं । अतः कोई दोष नहीं आते हैं, ऐसा समझना चाहिये ।

इस प्रकार से उपर्युक्त दोषों को दूर करने की इच्छा रखने वाले आप बौद्धों के द्वारा अभाव को वस्तु का धर्मरूप ही स्वीकार करना चाहिये, क्योंकि वस्तु के धर्मभूत-अभाव का प्रतिक्षेप—निराकरण किया ही नहीं जा सकता है । इसलिये भावैकांत को अर्थात् एकांत से भावस्वरूप ही पदार्थ को मानकर अभाव का सर्वथा लोप करने पर किसी को भी समीहितसिद्धि नहीं हो सकती है, ऐसा समझना चाहिये ।



### अत्यन्ताभाव का सारांश

जीव के स्वरूप से पुद्गल का स्वरूप भिन्न होने से उसमें अत्यन्ताभाव है, तीन काल में भी ये दोनों एकस्वरूप नहीं हो सकते हैं। अतः जीव स्वरूप से अस्तित्व होकर भी पर-पुद्गलादिरूप से अभावरूप है, क्योंकि सभी पदार्थ स्वस्वरूप से भावरूप एवं परस्वरूप से अभावरूप लक्षण वाले ही हैं, जैसे निःश्रेणी की पंक्तियाँ उभयतः (आजू-बाजू के) दो दीर्घ काष्ठों से बंधी हुई हैं तथैव सभी वस्तुयें भाव-अभावरूप दो स्वभाव से संबंधित हैं। अतः अभाव तुच्छाभावरूप नहीं है। एक द्रव्य की अनेकों पर्यायों में एक दूसरे से पृथक्पत्ता होना, तो इतरेतराभाव का लक्षण था और एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य में सर्वथा अभाव होना अत्यन्ताभाव है जैसे जीव का पुद्गल में अभाव, पुद्गल में धर्म-अधर्म द्रव्य का अभाव, धर्मद्रव्य में आकाशाद्रव्य का अभाव एवं आकाशादि में कालद्रव्य का अभाव, अर्थात् सभी छहों द्रव्यों का एक-दूसरे में अत्यंत रूप से अभाव होना ही तो अत्यन्ताभाव है। कहा भी है—

अणोष्णं पविसंता दिता उग्गासमणमणस्स ।

मेलंतावि य णिच्चं सगसगभावं ण विजहंति ॥

अर्थ—ये सभी द्रव्य एक दूसरे में अनुप्रवेश किये हुये हैं और एक-दूसरे को अवकाश भी दे रहे हैं, एक दूसरे में दूध और पानी के समान एकमेक होकर मिल भी रहे हैं फिर भी अपने-अपने स्वभाव को छोड़ते हैं।

देखिये ! हमारे और आपके शरीर में अभी छहों द्रव्य भरे हैं, मृतक कलेवर में भी छहों द्रव्य हैं, एक घट में भी छहों द्रव्य भरे हुये हैं। आप प्रश्न करेंगे कि कैसे भरे हुये हैं ? सो सुनिये ! हमारे शरीर में हमारा जीव तो स्वामी है, इसके अतिरिक्त अनंतानंत निगोदिया जीवों से भी यह हमारा शरीर संप्रतिष्ठित है, क्योंकि गोमटसार में कहा है कि—

“पुढवी आदिचउण्हं केवलिआहारदेवणिरियंगा ।

अपदिट्ठदा पदेहि पदिट्ठिदंगा हवे सेसा ॥”

अर्थात् पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु ये चार केवलियों का शरीर, आहारक शरीर, और देव नारकियों के शरीर ये आठ स्थान निगोदिया जीवों के आश्रय से रहित हैं शेष सभी संसारी प्राणियों के शरीर निगोदिया जीवों से सहित हैं। इसमें प्रतिक्षण अनंतानंत निगोदिया जन्म लेते रहते हैं और मरते रहते हैं। अतः हमारे शरीर के आश्रित अनंतानंत जीवराशि है, पुनः देखिये ! यह शरीर पुद्गलद्रव्य से ही निर्मित है कहा भी है—

“शरीरस्यात्मनः प्राणाणामपुद्गलाणां”

शरीर, वचन, मन और श्वासोच्छ्वास ये पुद्गलद्रव्य के ही उपकार हैं अतः पौद्गलिक हैं। आगे और चलिये तो धर्म, अधर्म द्रव्य लोकाकाश में तिल में तेल की तरह व्याप्त होकर रह रहे हैं, अमूर्तिक हैं फिर इन दोनों द्रव्यों का अस्तित्व इस शरीर में भी मानना ही होगा, आकाशद्रव्य भी लोकाकाशरूप से असंख्यातप्रदेशी अमूर्तिक है, सभी द्रव्यों को अवकाश देने वाला है, तब शरीर स्थान में भी उसका अस्तित्व हो गया तथैव कालद्रव्य भी लोकाकाश में पूर्णतया स्थित है—

“लोयायासपदेसे इक्केक्के जे ठिया हु इक्केक्का ।

रयणाणं रासीमिव ते कालाणू असंखदव्वाणि ॥ (द्रव्यसंग्रह)

अर्थ—इस असंख्यात प्रदेश वाले लोकाकाश के एक-एक प्रदेशों पर एक-एक कालाणु स्थित है और वे रत्नराशि के समान पृथक्-पृथक् भी हैं एवं असंख्यात हैं। अतः हमारे शरीर में जितने प्रदेश हैं सर्वत्र काल के अणु अमूर्तिकरूप से ही स्थित हैं। बस ! जीव के समान अजीव घट में भी समझिये। हाँ ! वहाँ इतना अवश्य है कि उस घट के स्थान में अनन्तानंत सूक्ष्म जीव भरे हैं क्योंकि उनका अस्तित्व तो सिद्धशिलापर्यंत है।

“आधारे थूलाओ सव्वत्थ णिरंतरा मुहुमा”

अर्थात् स्थूल-वादर जीव तो आधार से ही रहते हैं किन्तु सूक्ष्म एकेन्द्रिय (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति कायिक) जीव सर्वत्र लोकाकाश में निराधार भरे हुये हैं। ये हम और आपकी दृष्टि के द्वारा नहीं जाने जाते हैं, इनके सूक्ष्म नामकर्म का उदय होने से ये जीव न किसी को बाधा देते हैं न किसी से बाधित होते हैं। अपनी आयु के अनुसार ही जन्म-मरण करते रहते हैं इन सूक्ष्म जीवों से लोकाकाश में एक तिलतुष क्या अणुमात्र भी जगह खाली नहीं रहती है। ये सिद्धशिला तक भी पहुँच चुके हैं फिर भी संसारी हैं मुक्त नहीं हैं, दुःखी ही हैं, जन्म-मरण के दुःखों से अत्यंत व्रस्त हैं, केवल कर्मफलचेतना का अनुभव कर रहे हैं। सिद्धशिला पर पहुँचने मात्र से सुखी नहीं हो सके हैं, अतः इन जीवों से सारा संसार सभी चेतन-अचेतन पदार्थ व्याप्त हो रहे हैं इतने मात्र से अचेतन पदार्थों को चेतन भी नहीं कह सकते हैं क्योंकि इनसे बाधित होने या बाधा करने का प्रश्न ही नहीं है। अचेतन में घट, पट, महल, पत्थर की दीवाल आदिकों को अचेतन ही कहना चाहिये क्योंकि इनमें चेतनजीव स्वामीरूप से या निगोदिया जीवों के आश्रित सप्रतिष्ठितरूप से नहीं है। इसलिये “जले विष्णुः स्थले विष्णुः” सिद्धांत के अनुसार या कण-कण में जीव है पृथ्वी आदि जीव का स्वामी जीव है इत्यादि मान्यता के अनुसार सबको सचेतन मानना या किसी को अचेतन नहीं मानना भी ठीक नहीं है, क्योंकि पृथ्वी, जल, आदि के पृथ्वीकायिक आदि जीवों के मर जाने पर वे पृथ्वी, जल आदि अचेतन भी सिद्ध हैं। इसी अष्टसहस्री में पहले कारिका में मिट्टी के ढेले आदि को पूर्णतया अचेतन

सिद्ध कर दिया है। यहाँ तो अपेक्षाकृत कथन है कि सर्वत्र छहों द्रव्य एक दूसरे में दूध पानी के समान मिलकर भी कोई भी द्रव्य अपने-अपने स्वभाव को नहीं छोड़ता है। सभी अपने आप में अत्यन्ताभाव को लिये हुये हैं नहीं तो जीव अपने अस्तित्व से च्युत होकर पुद्गल आदि अचेतन बन जावेगा किन्तु ऐसा होना सर्वथा असंभव है। बस ! यहाँ इतना ही अभिप्राय समझना चाहिये क्योंकि सिद्धशिला पर सिद्धों में भी छहों द्रव्य विद्यमान हैं सूक्ष्म जीवों का वहाँ पैंतालीस लाख योजन प्रमाण की सिद्धशिला में भी निवास है किन्तु इस कारण वे सिद्ध जीव सप्रतिष्ठित नहीं कहलायेंगे न वे संसारी जीवों से सहित ही कहलायेंगे। ये सब वस्तुव्यवस्था ही ऐसी है। अतः सूखे वृक्ष काष्ठादि पदार्थ, धान्य, पत्थर के टूले, मोती, मूंगे, स्वर्ण, चाँदी आदि पृथ्वीकाय आदि अचेतन ही माने गये हैं ऐसा समझना चाहिये और छहों द्रव्यों के अस्तित्व को कायम रखने के लिये अत्यन्ताभावरूप महाकल्पवृक्ष की छाया में आकर विश्राम करना चाहिये जिससे आप विसंवाद के आतप से बच जावेंगे।



<sup>१</sup>अभावैकान्तपक्षेऽपि ज्ञानवापहृतस्वभावादिनाम् ।  
 बोधवाक्यं प्रमाणं<sup>२</sup> न केन<sup>३</sup> 'साधनदूषणम्'<sup>४</sup> ॥१२॥

[ नैरात्म्यवादस्य लक्षणं ]

भाषा येन निरूप्यन्ते तद्रूपं नास्ति तत्त्वतः । यस्मादेकमनेकं च रूपं तेषां न विद्यते ॥

इति सर्वनैरात्म्यप्रतिज्ञानमभावैकान्तपक्षः ।

[ नैरात्म्यवादे दोषारोपणं ]

तस्मिन्नपि बोधस्य स्वार्थसाधनदूषणरूपस्य, वाक्यस्य च परार्थसाधनदूषणात्मनोसंभवा-  
 तन्न प्रमाणम् । ततः केन साधनं नैरात्म्यस्य, स्वार्थं परार्थं वा ? केन दूषणं बहिरन्तश्च

[ जो बौद्ध सर्वथा अभावरूप ही तत्त्व स्वीकार करते हैं उनका खंडन ]

कारिकार्थ—हे भगवन् ! पदार्थ का सर्वथा अपलाप करनेवाले अभावैकान्तवादी माध्यमिक-  
 बौद्धों के यहां भी ज्ञान एवं वाक्य भी नहीं रहेंगे और पुनः बोधवाक्यों की प्रमाणता न होने से वे लोग  
 स्वपक्ष का साधन और परपक्ष का दूषण भी कैसे कर सकेंगे ? ॥१२॥

[ नैरात्म्यवाद का लक्षण ]

श्लोकार्थ—जिस एकत्व या अनेकत्वस्वभाव के द्वारा पदार्थों का वर्णन किया जाता है, वास्तव  
 में वह स्वरूप है ही नहीं, क्योंकि उन पदार्थों का एक और अनेक रूप है ही नहीं । अर्थात् तत्त्व एक-  
 रूप नहीं है, क्योंकि घट, पट आदिरूप से विचित्र प्रतिभास पाया जाता है एवं तत्त्व अनेकरूप भी  
 नहीं है, क्योंकि उसको ग्रहण करने वाले प्रमाण का अभाव है । इस प्रकार सभी वस्तु नैरात्म्य निःस्व-  
 रूप (शून्य) स्वीकार करना अभावैकान्तपक्ष है ।

[ नैरात्म्यवाद में दोषारोपण ]

उस अभावपक्ष में भी स्वार्थ साधन-दूषणरूप-स्वार्थानुमानरूप जो ज्ञान है और परार्थसाधन-  
 दूषणरूप जो परार्थानुमानरूप वाक्य है । अर्थात् स्व को समझने के लिये जो ज्ञान है, वह स्वार्थ-

१ सर्वनैरात्म्यप्रतिज्ञाने शून्यैकान्ते । (दि० प्र०) २ बोधस्य स्वार्थसाधनदूषणरूपस्य । वाक्यस्य परार्थसाधनदूषणा-  
 त्मनोसंभवा तन्न प्रमाणम् । (दि० प्र०) ३ तत्त्वतः । व्या० प्र०) ४ अभाववादिनां ज्ञानं वाक्यञ्च नास्ति तयो-  
 रभावे तन्मते प्रमाणं न । प्रमाणाभावे सति केन कृत्वा स्वार्थं नैरात्म्यस्य साधनं परार्थञ्च बहिरन्तर्भाविस्वभावानां  
 दूषणं घटतेऽपि न घटते । स्वपक्षस्य नैरात्म्यस्य साधनम् । परपक्षस्य बहिरन्तर्भाविस्वभावस्वरूपपदार्थस्य दूषणमिति  
 यथासंख्यं ज्ञातव्यम् । (दि० प्र०) ५ एतत्कारिकाव्याख्याने । शून्यैकान्तो निरंशकज्ञानवादश्च यथावसरं निराक्रियत  
 इति प्रतिपत्तव्यम् । एकेन घटपटादिरूपतया विचित्रप्रतिभासात् न चानेकं तद्ग्राहकप्रमाणाभावात् । (दि० प्र०)

भावस्वभावानाम् ? इति<sup>१</sup> सविस्मयं वचनम् । स्वपरपक्षसाधनदूषणोपगमे तु सत्सिद्धिरवि-  
प्रतिषिद्धा । तथा हि । बहिरन्तरश्च परमार्थसत्, तदन्यतरापायेपि साधनदूषणप्रयोगानुपपत्तेः ।  
इति<sup>२</sup> प्रकृतार्थपरिसमाप्ती किं<sup>३</sup> त्रिलक्षणपरिकल्पनया<sup>४</sup> ?

नुमान है । उस ज्ञान से ही स्वमत की सिद्धि एवं परमत के दूषण का ज्ञान होता है । तथैव वचनों से पर को समझाना परार्थानुमान है, इससे शिष्यादिकों को स्वपक्ष का साधन और परपक्ष में दूषण दिखाया जाता है । इन ज्ञान और वाक्य दोनों का ही असंभव होने से वे प्रमाण नहीं रहेंगे । तब तो आप बौद्ध नैरात्म्य-अभावरूप दृष्टतत्त्व की सिद्धि स्वनिमित्त अथवा पर शिष्यादिकों को समझाने के लिये भी किसके द्वारा करेंगे ? तथा बहिरंग और अंतरंगरूप भाव-पदार्थों के स्वभावों को भी आप किसके द्वारा दूषित कर सकेंगे ? इस प्रकार “केन साधनदूषणं” यह वाक्य विस्मयसूचक है ।

यदि आप स्वपक्षसाधन और परपक्षदूषण को स्वीकार करेंगे, तब तो अंतस्तत्त्व और बहि-  
स्तत्त्व की अस्तित्वसिद्धि अविच्छेद ही हो जावेगी ।

भावार्थ—यह शून्यवादी बौद्ध तो सारे जगत् को इंद्रजालरूप मान रहा है । इस पर जैनाचार्य समझाते हैं कि क्या ! यदि तुम स्वयं का और शिष्य आदिकों का भी अस्तित्व नहीं मानोगे तब तो आप स्वयं भी शून्यवाद को कैसे समझोगे ? और शिष्यों के बिना किसे समझावोगे ? यदि स्वयं का और शिष्यों का अस्तित्व मान लोगे तब तो शून्यवाद कैसे टिकेगा ? किसी भी तत्त्व को समझने के लिये हमें प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम की आवश्यकता पड़ती है । प्रत्यक्ष से जो भी चेतन-अचेतन पदार्थ दिख रहे हैं उन्हें तो आप इंद्रजालरूप मान रहे हैं । अनुमान में भी स्वार्थानुमान से स्वयं का अस्तित्व सिद्ध होता है और परार्थानुमान से वचनों के द्वारा शिष्यों को समझाया जाता है । यदि आप इन अनुमानों को मानेंगे तब तो स्वपर का अस्तित्व सिद्ध हो जावेगा । आगम को भी स्वीकार करने पर शून्यवाद कहाँ रहेगा ? और जब आप अनुमान, आगम आदि मानेंगे ही नहीं तब किस प्रकार से अपने पक्ष का स्थापन करेंगे ? और किस प्रकार से अन्य मतों का निराकरण करेंगे ? इसलिये स्वमत की स्थापना और परमत का निराकरण करने के लिये तो आपको अनुमान आदि भी मानने पड़ेंगे और स्वपर को मान लेने से गुरु-शिष्य, भक्त-भगवान् संबंध भी मानना पड़ेगा । पुनः सबका अस्तित्व सिद्ध हो जाने से सभी जगत् शून्यरूप कैसे सिद्ध होगा ? अर्थात् सभी जगत् का अस्तित्व ही सिद्ध होगा ।

बहिस्तत्त्व और अंतस्तत्त्व परमार्थ से सत् रूप हैं । उन दोनों में से किसी एक का भी अपाय-लोप करने पर साधन और दूषण के प्रयोग की अनुपपत्ति है—व्यवस्था नहीं बन सकती है । इस प्रकार से इस अन्यथानुपपत्तिरूप हेतु के प्रयोग से ही प्रकृत अर्थरूप साध्य का पूर्णतया ज्ञान हो जाने से त्रिलक्षण-  
रूप हेतु की परिकल्पना से क्या प्रयोजन है ?

१ केन साधनदूषणमेतत् । (व्या० प्र०) २ साध्यसिद्धिः । (व्या० प्र०) ३ पक्षधर्मत्वादि । (व्या० प्र०) ४ अस्माकं स्याद्वादिनां हेतोः सौमनास्युपगतत्रिरूपकल्पनया किं कुतस्तद्व्यति । (वि० प्र०)

[ हेतो त्रिलक्षणाभावेऽपि साध्यसिद्धिप्रकारं दर्शयन्ति ]

<sup>1</sup>सपक्षसत्त्वाभावेऽपि साध्याभावासंभूणुतानियमनिर्णयैकलक्षणमात्रादेव<sup>2</sup> साधनस्य साध्य-  
सिद्धौ समर्थनत्वोपपत्तेः<sup>3</sup>, सपक्षसत्त्वस्याभावेऽपि<sup>4</sup> सर्वानित्यत्वे साध्ये सत्त्वादेः साधनस्योपग-  
मात्, स्वयमसिद्धधर्मिधर्मस्यापक्षधर्मत्वेऽपि प्रमाणास्तित्वे<sup>5</sup> चेष्टसाधनस्य हेतोः समर्थनात्<sup>6</sup>,

[ हेतु में हीनरूप के बिना भी साध्य की सिद्धि के प्रकार को दिखलाते हैं ]

इस प्रयोग में सपक्षसत्त्व का अभाव होने पर भी साध्य के अभाव में न होना ही नियम निर्णय-  
रूप एकलक्षणमात्र अर्थात् अन्यथानुपपत्तिलक्षण मात्र से ही साध्य की सिद्धि में हेतु को समर्थनपना  
बन जाता है, क्योंकि सपक्ष में सत्त्व का अभाव होने पर भी “सर्वमनित्य” साध्य में सत्त्वादि हेतु  
बौद्धों के द्वारा भी स्वीकार किये गये हैं । अर्थात् “सभी पदार्थ अनित्य हैं क्योंकि सत्त्वरूप हैं” इस  
प्रकार से सभी पदार्थों को अनित्य सिद्ध करने में सत्त्व आदि हेतु पाये जाते हैं । स्वयं असिद्ध धर्मों के  
धर्म का पक्षधर्म से रहितपना होने पर भी प्रमाण का अस्तित्व स्वीकार करने पर इष्ट साधनरूप  
हेतु का समर्थन हो ही जाता है ।

अर्थात्-किसी ने शून्यवादी बौद्ध से पूछा कि—हे सौगत ! तुम्हारे मत में प्रमाणता है या नहीं ?  
उत्तर में बौद्ध ने कहा कि “प्रमाणास्तित्वमस्ति इष्टसाधनात्” प्रमाण का अस्तित्व है क्योंकि इष्ट का  
साधन पाया जाता है । उस पर स्याद्वादी कहते हैं कि यहाँ स्वरूप से असिद्ध धर्मों का धर्म जो इष्ट  
साधनरूप हेतु है उसमें पक्षधर्म से रहित प्रमाण का अस्तित्व सिद्ध करने पर आप समर्थन को  
स्वीकार करते हैं, इसलिये उस हेतु में पक्ष धर्मत्व का अभाव है, क्योंकि प्रमाण धर्मों है और यदि धर्मों  
का धर्म असिद्ध है, तब उसका धर्म इष्टसाधन हो नहीं सकता है, क्योंकि संवेदनाद्वैत की अपेक्षा तो  
प्रमाण का ही अभाव है ।

1 सर्वस्य पक्षीकृतत्वात् भावः । (दि० प्र०) 2 आह स्या० हे सौगत ! हेतोस्त्रिलक्षणवादिन् सौगत सपक्षसत्त्वाभावेऽपि  
साध्याभावासंभवनियमनिर्णयैकलक्षणमात्रादेव साधनस्य स्वसाध्यसिद्धौ समर्थनत्वमभ्युपगम्यते यथास्माभिः स्याद्वादिभिः  
तथा भवतापि सपक्षत्वाभावेऽपि स्वसाध्यसिद्धौ साधनस्य समर्थनत्वमभ्युपगम्यते कथमित्याह । सर्वं पक्षः क्षणिकं  
भवतीति साध्यो धर्मः सत्त्वात् । यथा किमिति सपक्षसत्त्वाभावे दृष्टान्तो नास्ति । पुनः केनापि पृष्टः हे सौगत !  
तव मते प्रमाणास्तित्वमिष्टसाधनात् । स्या० इत्यत्र स्वरूपेणासिद्धधर्मिधर्मत्वेऽप्येष्टसाधनस्य हेतोः पक्षधर्मत्वरहिते  
प्रमाणास्तित्वे साध्ये समर्थनत्वमभ्युपगम्यते भवता इति पक्षधर्मत्वाभावः । (दि० प्र०) 3 अस्माकं स्याद्वादिनाम् ।  
(दि० प्र०) 4 सर्वस्य पक्षीकृतत्वात् । च । (दि० प्र०) 5 सन्ति प्रमाणानि स्वेष्टानिष्टसाधनदूषणान्यथानुपपत्तेः ।  
(दि० प्र०) 6 च । (दि० प्र०)



[ अविनाभावाभावे हेतुरहेतुरेव ]

क्वचित्तदभावेपि<sup>१</sup> चान्यथानुपपत्तिनियमनिश्चयसर्वकाले हेतुत्वात्तस्मात् । स्यादाकूतं<sup>२</sup> ते—  
'न परमार्थतः साधनदूषणप्रयोगो नैरात्म्यवादिनः सिद्धो यतो बहिरन्तश्च परमार्थतः सद्बस्तु  
साध्यते । न चासिद्धाद्धेतोः साध्यसिद्धिः, अतिप्रसङ्गात्<sup>३</sup>' इति तदपि प्रलापमात्रं, तत्त्वतो

[ अविनाभाव के अभाव में हेतु अहेतु है ]

एवं क्वचित् मैत्री पुत्रादि में उस त्रिलक्षणरूप हेतु के अभाव का अभाव होने पर भी—त्रिलक्षण का सद्भाव होने पर भी अन्यथानुपपत्ति नियमनिश्चयलक्षणहेतु की विकलता होने से हेतुपना नहीं घटता है अर्थात् वे "मैत्रीतनयत्वात्" आदि हेतु में पक्षधर्म, सपक्षसत्त्व, विपक्षव्यावृत्ति का सद्भाव होने पर एक अन्यथानुपपत्ति लक्षणरूप साध्य के साथ हेतु का अविनाभाव निश्चय नहीं होने से वह हेतु हेत्वाभास ही है ।

भाषार्थ—नैयायिक ने हेतु के पांच अवयव माने हैं । पक्षधर्म, सपक्ष सत्त्व, विपक्षव्यावृत्ति, अबाधित विषयत्व, असत् प्रतिपक्ष । बौद्धों ने हेतु के तीन अवयव माने हैं । पक्षधर्म, सपक्षसत्त्व, विपक्ष-व्यावृत्ति, इन सबकी मान्यता पर जैनाचार्य समझाते हैं कि यदि हेतु में पांचों अवयव हैं या तीनों अवयव हैं किन्तु हेतु में साध्य के साथ अविनाभावरूप अन्यथानुपपत्ति नहीं है, तब तो वह हेतु अहेतु ही है—हेत्वाभासरूप है । जैसे—"गर्भ में स्थित मैत्री का पुत्र काला होना चाहिये क्योंकि वह मैत्री का पुत्र है अन्य विद्यमान मैत्री के पुत्रों के समान । यहाँ पर "मैत्रीतनयत्वात्" इस हेतु में यद्यपि बौद्ध के तीन रूप एवं नैयायिक के पांच रूप घटित हो जाते हैं फिर भी यह हेतु हेत्वाभास है ।

इसका स्पष्टीकरण—

मैत्री के विद्यमान पांचों पुत्रों में कालेपने को देखकर मैत्री के गर्भस्थ पुत्र को भी जो कि विवादग्रस्त है पक्ष करके उसमें कालेपन को सिद्ध करने के लिये जो "मैत्री का पुत्रत्व" हेतु प्रयुक्त किया गया है वह ठीक नहीं है क्योंकि उसमें गोरेपन की संभावना भी की जा सकती है । यह संभावना तभी संभव है जबकि "कालेपन" के साथ मैत्री पुत्रत्व का अविनाभाव न हो और अविना-भाव का अभाव भी इसलिये है कि कालेपन के साथ मैत्री के पुत्रत्व का न तो सहभाव नियम है, न क्रमभाव नियम है । यद्यपि विद्यमान मैत्री के पुत्रों में 'कालेपन' और 'मैत्री पुत्र' का सहभाव नियम है किन्तु गर्भस्थ में यह नियम लागू नहीं हो सकता है । अतः देखिये ! "मैत्री का पुत्रपना" इस हेतु में पक्षधर्मत्व है, क्योंकि पक्षभूत गर्भस्थ मैत्रीपुत्र में है । सपक्षरूप इन विद्यमान मैत्री पुत्रों में रहने से इस हेतु में सपक्ष सत्त्व भी है । विपक्षभूत गोरे 'चैत्र' के पुत्रों से व्यावृत्त होने से विपक्ष व्यावृत्ति भी है । किसी प्रकार की बाधा नहीं है अतः अबाधित विषयत्व भी है, क्योंकि गर्भस्थ मैत्रीपुत्र का

१ क्वचित् तद्वयाभावेपि इति पा० । (दि० प्र०) २ नैरा० सीगतस्य । (दि० प्र०) ३ नैरा० आह । तदव्यतरा-  
पाये साधनदूषणप्रयोगानुपपत्तेरिति हेतुरस्माकं प्रतिवादिनामसिद्धः तस्मादसिद्धाद्धेतोः सकाशाद्बहिरन्तर्वस्तुनः परमार्थ-  
सत्त्वसाध्यसिद्धिर्न भवति चेत्तदाऽतिप्रसङ्गः स्यात् । (दि० प्र०)

नैरात्म्यस्य साध्यत्वायोगादनैरात्म्यस्य दूष्यत्वायोगवत्<sup>१</sup> । न हि संवृत्त्या<sup>२</sup> <sup>३</sup>साध्यसाधनव्यवस्था युक्तिमती, परमार्थतोपगमे<sup>४</sup> नैरात्म्यस्य तत्सिद्धेरपि<sup>५</sup> सांवृतत्वप्रसङ्गात्, सांवृतात्साधनाद्वास्तवसिध्यसंभवात् । शून्यसिद्धेरपरमार्थत्वे<sup>६</sup> पुनरनिराकृतसद्भावस्य<sup>७</sup> सर्वस्याशून्यतानुषङ्गात् तत्साधनं विरुद्धमापद्येत ।

कालापन किसी प्रमाण से बाधित नहीं है एवं विरोधी समबल वाले प्रमाण के न होने से असत्-प्रतिपक्षत्व भी है । इस प्रकार से "मैत्री के पुत्रपना" हेतु में पांचों रूप विद्यमान हैं तीन रूप तो हैं ही हैं । फिर भी गर्भस्थ मैत्रीपुत्र का कालेपन से अविनाभाव नहीं है गोरा भी हो सकता है, अतएव तीनरूप के होने पर भी यदि अन्यथानुपपत्ति नहीं है तो वह हेतु अहेतु है । यदि अन्यथानुपपत्ति है, तो भले ही पांच रूप तीन रूप हो या न हों, उनका कोई महत्त्व नहीं है । इसलिये जैनाचार्य के कथनानुसार अन्यथानुपपत्ति को ही हेतु का लक्षण मान लेना चाहिये ।

बौद्ध—हमारा यह अभिप्राय है कि नैरात्म्यवादी—माध्यमिक हम बौद्धों के यहाँ वास्तव में साधन, दूषण प्रयोग सिद्ध ही नहीं है, कि जिससे आप परमार्थ से बाह्य-अर्थ एवं अंतस्तत्त्व ज्ञानादि को सत् वस्तुरूप सिद्ध कर सकें । एवं असिद्धहेतु से साध्य की सिद्धि भी सम्भव नहीं है क्योंकि अतिप्रसंग दोष आ जावेगा ।

जैन—आपका यह भी सब कथन केवल प्रलापमात्र ही है, क्योंकि अनैरात्म्य अस्तित्ववाद को दूषित सिद्ध नहीं किया जा सकता है, तथैव वास्तव में नैरात्म्य-शून्यवाद को सिद्ध भी नहीं किया जा सकता है, क्योंकि संवृत्ति-कल्पना से साध्य-साधन की व्यवस्था करना युक्तियुक्त नहीं है । और परमार्थ से उसे स्वीकार करो, तब तो नैरात्म्य में उसकी सिद्धि हो जाने पर भी सांवृतत्व का प्रसंग प्राप्त हो जावेगा । तथा च काल्पनिकहेतु से वास्तविकसिद्धि असंभव ही है । शून्यवाद की सिद्धि अवास्तविक हो जाने पर पुनः निराकृत नहीं किया गया है सद्भाव जिसका, ऐसे सभी अन्तस्तत्त्व और बहिस्तत्त्व में अशून्यता का प्रसंग आ जावेगा । अर्थात् सभी चेतन-अचेतनतत्त्व का सद्भाव ही सिद्ध हो जावेगा और पुनः वह शून्यसाधन-हेतु विरुद्ध ही हो जावेगा ।

भावार्थ—यदि आप शून्यवाद को सिद्ध करते समय ऐसा कहते हैं कि ये सब ज्ञानादि अन्तस्तत्त्व एवं बाह्य पदार्थ संवृत्ति से ही हैं वास्तविक नहीं हैं, तथैव शून्यवाद को सिद्ध करने में जो साध्य-साधन व्यवस्था है, उसे भी काल्पनिक कहते हो, तब तो उस काल्पनिकहेतु के द्वारा काल्पनिक-असत्परूप ही साध्यरूप शून्यवाद सिद्ध होगा । एवं शून्यवाद की सिद्धि काल्पनिक हो जाने से वास्तव

१ आशंक्य । (व्या० प्र०) २ कल्पनया । (व्या० प्र०) ३ स्या० हे नैरात्म्यवादिन् ! भवता नैरात्म्यं तत्त्वतः साध्यते कल्पनया चेति विचारः न तावत्परमार्थः नैरात्म्यमस्ति साधनाभावे तस्य साध्यत्वाऽघटतात् यथा साधनाभावेनैरात्म्यस्य दूष्यत्वं न घटते । (दि० प्र०) ४ अपरमार्थत्वोपगमे इति पा० । (दि० प्र०) ५ शून्यस्य नैरात्म्यस्य । (दि० प्र०) ६ यदि शून्यसिद्धिरपरमार्थरूपा तदाऽनिराकृतरूपस्यान्यस्याशून्यत्वसिद्धिः । अतः वेद्यवेदकाकारलक्षण-समारोपरहितक्षणशून्यवादिनः सौगतस्यावतारः । (दि० प्र०) ७ सत्त्वस्य । (दि० प्र०)

[ नैरात्म्यं साधयितुं हेतुप्रयोग आवश्यक एव ]

स्वरूपस्य<sup>१</sup> वेद्यवेदकभावादिशून्यस्य<sup>२</sup> स्वतो गतेः<sup>३</sup> साधनोपन्यासेन तत्र समारोपव्यवच्छे-  
देऽपि समानं, कुतश्चित्तत्त्वतः<sup>४</sup> समारोपव्यवच्छेदे संवृत्या साध्यसाधनव्यवस्थितेरयोगात्<sup>५</sup>, 'तत्स-  
मारोपव्यवच्छेदस्याप्यपरमार्थत्वे'<sup>६</sup> पुनरव्यवच्छिन्नसमारोपस्य बाध्यबाधकभावादिशून्यस्य<sup>७</sup>  
संविन्मात्रस्य स्वतोऽपि गत्यनुपपत्तेस्तदशून्यत्वप्रसङ्गात्<sup>८</sup> । ततो<sup>१०</sup> 'हेयोपादेयोपायरहितमयम-

में चेतन-अचेतनरूप अन्तस्तत्त्व, बहिस्तत्त्व की ही सिद्धि हो जाने से शून्यवाद का ही खण्डन हो जावेगा । अतएव शून्यवाद को सिद्ध करने में आपके द्वारा दिया गया हेतु उससे विपरीत वास्तविक तत्त्व व्यवस्था को ही सिद्ध कर देगा ।

[ नैरात्म्य को सिद्ध करने के लिये हेतु का प्रयोग आवश्यक ]

बौद्ध—हमारा नैरात्म्यवाद तो वेद्य-वेदक आदि भावों से भी शून्य है, अतः इस नैरात्म्यवाद की गति-ज्ञान स्वतः किसी प्रमाण के ही हो जाता है । फिर भी नैरात्म्यवाद की सिद्धि के लिये जो हेतु का प्रयोग किया जाता है, वह नैरात्म्यवाद विषयक समारोप को व्यवच्छेदार्थ—दूर करने के लिये समझना चाहिये ।

जैन—यह कथन भी उचित नहीं है, क्योंकि नैरात्म्यवाद विषयक समारोप का संशय, विपरीत और अनध्यवसाय का निराकरण करने के लिये जिस किसी का भी प्रयोग किया जावेगा और वह यदि तत्त्वतः समारोप को दूर करने वाला है, तब तो समारोपव्यवच्छेद साध्य और इसका व्यवच्छेदक साधन होगा । अर्थात् समारोप का दूर होना साध्य है और समारोप को दूर करने वाला साधन है, अतः यहाँ पर भी यदि साध्य-साधन व्यवस्था तात्त्विक मानी जावेगी, तब तो "साध्य-साधन की व्यवस्था संवृति से काल्पनिक है," यह कथन उचित नहीं होगा । तथा यदि नैरात्म्यविषयक जिस समारोप का व्यवच्छेद हुआ है, वह समारोप व्यवच्छेद भी अपरमार्थभूत है । बाध्य-बाधक आदि भावों से शून्य है तथा संवित्मात्र ही है, तब तो उसका स्वतः स्वरूप से गति-ज्ञान होना बन नहीं सकता है । पुनः वह अन्तस्तत्त्व एवं बहिस्तत्त्व अशून्य-अस्तित्वरूप सिद्ध हो जाता है ।

१ बहिरन्तश्च परमार्थसदित्यादि भाध्यतारभ्य एतत् पर्यन्तं विज्ञानार्हेतवाद्यपेक्षयापि सर्वं यथा योग्यं सम्बन्धनीयम् । (दि० वि०) २ संवृतिः । (व्या० प्र०) ३ साधनात् । (दि० प्र०) ४ स्वरूपे साधनव्यवस्थापनेन वेद्यवेदकाकारलक्षण-समारोपरहितत्वेऽपि पूर्वोक्तवदत्रापि समानं साधनं कथमित्याह । स्या० हे शून्यवादिन् ! समारोपव्यवच्छेदः परमार्थतः कल्पनया वेति विचारः । तत्र स्वरूपे कुतश्चित्प्रमाणात्परमार्थतः वेद्यवेदकाकारबाध्यबाधकादिलक्षणसमारोपनिराकरण-मस्तीत्यङ्गीकारे तदा कल्पनया साध्यसाधनव्यवस्थितिर्न घटते । (दि० प्र०) ५ परमार्थरूपस्य साधनसदभावोतः शून्यैकान्तवादविरोधात् । (व्या० प्र०) ६ ईष । (व्या० प्र०) ७ साध्ये । (व्या० प्र०) ८ बाध्यः समारोपस्तस्मिन् बाधकभावादिरहितस्य । (व्या० प्र०) ९ तस्य वेद्यवेदकाकारो बाध्यं स्वतो गतोरिति साधनं बाधकमिति बाध्य-बाधकभावस्याशून्यत्वमायाति । (दि० प्र०) १० स्या० यत एव ततोऽयं शून्यवादी सौगतो निलेशः केवलं प्रमाणरहितं धूत्करोति । (दि० प्र०) ११ प्रमाणम् । यथा भवति तथा । (दि० प्र०)

**ह्रीकः केवलं विक्रोशति तत्त्वोपप्लववादिवत् । अथ संवृत्या<sup>१</sup> हेयस्य सद्वादस्योपादेयस्य च शून्यस्य तन्निषेधविधानोपायस्य चाभ्युपगमान्न शून्यवादिनो निर्लेज्जता नापि विक्रोशमात्रमिति मतिः ।**

[ संवृतिशब्दस्य कोऽर्थः ? ]

**तर्हि यदि संवृत्यास्तीति<sup>३</sup> स्वरूपेणेत्ययमर्थस्तदा<sup>४</sup> कृतमनुकूलं, केवलं वक्तात्मनो**

**भावार्थ—**शून्यवादी बौद्ध का यह कहना है कि हमारा शून्यवाद न जानने योग्य है और न उसको बताने वाला कोई प्रमाण ही है । इस नैरात्म्यवाद का ज्ञान तो स्वयं ही सबको हो रहा है । फिर भी जो हेतु का प्रयोग किया जाता है वह इसलिये है कि यदि नैरात्म्यवाद में समारोप-संशय, विपरीत या अनध्यवसाय हो जावे तो उनका निराकरण करने के लिये हेतु का प्रयोग है न कि शून्यवादर्प साध्य की सिद्धि के लिये । इस पर जैनाचार्य ने यह प्रश्न किया है कि वह हेतु वास्तव में समारोप को दूर करने वाला है या झूठरूप से ? यदि प्रथम पक्ष लेवो तब तो "समारोप का दूर होना" यह साध्य हो गया और उसको दूर करने वाला हेतु साधन बन गया । "साध्य-साधन" व्यवस्था बन ही गई पुनः वास्तविक साध्य-साधन की सिद्धि हो जाने से शून्यवाद कहाँ रहा ? और यदि नैरात्म्य के विषय में जिस समारोप को दूर किया है, वह काल्पनिकमात्र है तब तो भाई ! शून्यवाद की कल्पना, उसमें दोषों का आना, उन्हें दूर करना आदि काल्पनिक है, फिर शून्यवाद ही काल्पनिक सिद्ध हो गया । बस ! चेतन अचेतन तत्त्वों की ही सिद्धि हो गई, ऐसा समझना चाहिये ।

**अतः यह शून्यवादी हेय—अंतर्बहिस्तत्त्व और उपादेय—अपना नैरात्म्यवादतत्त्व, इनका जो हेयोपादेयरूप विवेक है उस हेयोपादेयक उपाय से रहित निर्लेज्ज होकर तत्त्वोपप्लववादी के समान केवल पूंकार करता है अर्थात् बक-बक कर रहा है ।**

**शून्यवादी—**हेयरूप सत्-अस्तित्ववाद और उपादेयभूत—शून्यवाद इनमें हेय का निषेध और उपादेय के विधानरूप उपायों को मात्र हमने संवृति से ही स्वीकार किया है, अतः हम शून्यवादी न तो निर्लेज्ज ही हैं एवं न हमारा कथन विक्रोशमात्र ही है । अर्थात् हम शून्यवाद का साधन और आस्तिक्यवादियों का खंडन संवृति से ही करते हैं ।

[ संवृति शब्द का अर्थ क्या है ? ]

**जैन—**तब तो पहले आप यह बतलाइये कि संवृति शब्द का अर्थ क्या है ? यदि "संवृत्यास्ति

१ शून्यवाद्याह । हे स्याद्वादिवन् । मम कल्पनया कर्त्वाऽस्तित्ववादी हेयः शून्यवाद उपादेयः तयोनिषेधविधानमेव प्रमाणमस्ति तस्मान्मम न निगृहीतानामपि प्रलापमात्रम् = स्या० हे शू० इति मतिस्ते । तर्हि यदि त्वया कल्पनयाऽस्तित्वं प्रतिपाद्यतेऽस्माभिः स्वरूपेणेत्यभिप्रायः तदा त्वया ममानुकूलमाचरितं ननु प्रतिकूलं यतिः संवृतिस्वरूपयोः न त्वर्थभेदः । (दि० प्र०) २ ता । (व्या० प्र०) ३ बाध्यबाधकभावादिशून्यस्य संक्षिप्तार्थं स्वयमपि समारोपस्य बाधकं न भवतीति ज्ञापनार्थमिदं विशेषणं प्रमाणवलेन शून्यवादिनः शून्यव्यवस्थासंभवेपि पुनः संवृत्यास्तीति निरुपपत्तिकमुक्तत्वात् सोपहासमनेकधा विकल्पयन्ति ग्रन्थकाराः । अथवा अलादेः पराजयकारणत्वं निराचिकीर्षत्वः प्राहुः स्वरूपेणेत्ययमर्थमित्यादि । (दि० प्र०) ४ स्वीकृतः । (व्या० प्र०)

वैयात्यं सूचयति, 'न्यायबलान्यवकृतस्यापि' स्वार्थसिद्धिविकलं प्रलपतो धाष्ट्यमात्रप्रसिद्धेः स्वरूपेणास्तित्वस्य संवेदनवत्सर्वभावानां स्याद्वादिभिरभीष्टत्वात् तेन 'तदनुकूलकरणात्संप्रतिपत्तेः । अथ' पररूपेण नास्ति इत्ययमर्थस्तथैव स्याद्वादिना, नास्ति विवादात्' । एतदपि तादृगेव, पररूपेण ग्राह्यग्राहकाभावादिविकलसंवेदनवत्सर्वपदार्थानां नास्तित्वे विवादाभावात् । तदेतेनोभयानुभयविकल्पः प्रत्युक्तः<sup>६</sup> । यदि हि संवृत्यास्तीति स्वपररूपाभ्यामस्ति नास्ति चेत्ययमर्थस्तदा न कश्चिद्विवादः । 'अथानुभयरूपेणानुभयमित्यर्थस्तदापि न कश्चिद्विवादः,

इति स्वरूपेणास्ति" अर्थात् वह संवृति भी यदि अपने स्वरूप से अस्तित्व-विद्यमानरूप है, तब तो यह अर्थ हमारे अनुकूल ही है और वह केवल वक्ता—शून्यवादी माध्यमिक बौद्ध को धुष्टता को ही सूचित करता है । इस न्याय के बल से तिरस्कार कर देने पर भी स्वार्थसिद्धिरूप अपने नैरात्म्यवाद का प्रलाप करता हुआ वादी अपनी धुष्टता को ही सूचित करता है, क्योंकि जंसे आपने संवेदन का स्वरूप से अस्तित्व स्वीकार किया है, उसी प्रकार से स्याद्वादियों ने सभी पदार्थों का स्वरूप से अस्तित्व स्वीकार किया है, अतः आप बौद्ध ने तो हमारे ही अनुकूल कथन किया है, इसमें तो हमें किसी प्रकार का विवाद नहीं है ।

यदि आप उस "संवृत्यास्ति पद का अर्थ पररूप से नहीं ऐसा करते हैं, तब भी उसी प्रकार से स्वरूप से अस्तित्व के समान हम स्याद्वादियों को इष्ट है । इसमें नाम में ही विवाद है, वास्तव में अर्थ-भेद कुछ भी नहीं है और यह पक्ष भी हमारे अनुकूल ही है । पररूप से ग्राह्य-ग्राहक अभाव आदि से विकल संवेदन के समान सभी पदार्थों का नास्तित्व स्वीकार करने पर विवाद का अभाव है । अर्थात् ग्राह्य-ग्राहकभाव के अभाव से विकल का अर्थ है "ग्राह्य-ग्राहकभाव से सहित जान का अस्तित्व मानने में कुछ विरोध नहीं है । इसी कथन से ही उभय एवं अनुभयविकल्प का भी खण्डन किया समझना चाहिये । क्योंकि यदि संवृति से है, इसका अर्थ "स्वस्वरूप से वस्तु है, पररूप से नहीं है" तो वस्तु स्वपररूप से "अस्तिनास्ति" भंगरूप हो जाने से तीसरे भंगरूप हो जाती है, इसमें कोई भी विवाद नहीं है ।

यदि संवृति पद का चौथे भंगरूप "अनुभयरूप से वस्तु अवक्तव्य है" ऐसा अर्थ करते हैं, तब भी किसी प्रकार का विवाद नहीं होता है इस बात का हम आगे अच्छी तरह से समर्थन करेंगे ।

१ पूर्वोक्तयुक्तिः सामर्थ्यात् । (व्या० प्र०) २ वाचिनः । (व्या० प्र०) ३ कुतः । (दि० प्र०) ४ तथैव स्वरूपेणास्तित्ववदेव एतदपि पररूपेणास्तित्वमपि तादृगेव । कुतः स्याद्वादिना नास्तिविवादात् नत्वर्थे इति तथैव शब्दादे तदपि तादृगेव शब्दपर्यन्तस्य वाक्यस्यार्थः । (दि० प्र०) ५ विवादे तदपि इति पा० । (दि० प्र०) ६ कोर्थः । (दि० प्र०) ७ आह परः संवृत्यानुभयमस्तीति । स्या० स्वपररूपाभावाभ्यामनुभयमित्यर्थः । (दि० प्र०), अनुभयमस्तीति, अधिकः पाठः । (दि० प्र०)

तथाग्रे समर्थयिष्यमाणत्वात् । अथ तदस्ति मृषात्मनेति<sup>१</sup> समानश्चर्चः मृषात्मनास्तित्वस्य स्वपरोभयानुभयरूपास्तित्वविकल्पचतुष्टयेऽप्युक्तदोषानुषङ्गात् ।

[ विचाराभादः संवृत्तिरिति मान्यतायामपि दोषः ]

संवृत्तिविचारानुपपत्तिरित्युपपत्तं<sup>२</sup>, तदभावात्<sup>३</sup> । न हि विचारस्याभावे कस्यचिद्विचारानुपपत्तिः शक्या वक्तुम् । नापि शून्यवादिनः किञ्चिन्निर्णीतमस्ति, यदाश्रित्य क्वचिदन्यत्रानिर्णीतिर्थे विचारः प्रवर्तते, तस्य सर्वत्र<sup>४</sup> विप्रतिपत्तेः । तथा चोक्तं तत्त्वार्थश्लोकवार्तिके ।

“किञ्चिन्निर्णीतमाश्रित्य विचारोऽन्यत्र वर्तते । सर्वविप्रतिपत्तौ तु क्वचिन्नास्ति विचारणा” इति ।

यदि आप कहें कि वह हेयोपादेयज्ञान मृषात्मा-संवृतिरूप से है, तब तो समान ही प्रश्न उठते रहेंगे, क्योंकि संवृतिरूप से अस्तित्व के स्वीकार करने पर स्व, पर, उभय और अनुभयरूप अस्तित्व के चारों ही विकल्पों में उपर्युक्त दोषों का प्रसंग आता ही रहेगा ।

[ विचारों का न होना संवृति है, इस मान्यता से हानि ]

शून्यवादी—“विचारानुपपत्ति—विचारों का न होना ही संवृति है ।”

जैन—यह भी कथन ठीक नहीं है, क्योंकि आपकी संवृति में इस लक्षण का अभाव है । देखिये ! विचार के अभाव में विचार की अनुपपत्ति है—विचार नहीं हो सकता है यह वाक्य भी किसी के द्वारा कहना शक्य नहीं है और शून्यवादी के यहाँ तो कुछ भी निर्णय नहीं हो सकता है कि जिसका आश्रय करके किसी अन्य अनिर्णीत पदार्थ में विचार प्रवृत्त हो सके, क्योंकि शून्यवादी के यहाँ प्रत्येक कथन विसंवाद को ही प्राप्त होता है । उसी प्रकार से श्लोकवार्तिक ग्रन्थ में भी कहा है—

श्लोकार्थ—किसी निर्णीत—प्रमाणादितत्त्व का आश्रय लेकर ही अन्यत्र—अनिर्णीत पदार्थ में विचार किया जा सकता है, किन्तु सर्वत्र विसंवाद के स्वीकार कर लेने पर तो कहीं पर कुछ भी विचार नहीं किया जा सकता है । अर्थात् शून्यवाद की स्थापना करना भी दुष्कर ही हो जाती है ।

भावार्थ—जैनाचार्य ने शून्यवादी से कहा कि भाई ! आप अंतरंग, बहिरंग को तो हेय कहते हैं और शून्यवाद को उपादेय कहते हैं । आपके पास कोई प्रमाण तो है नहीं पुनः हेय का निषेध और उपादेय का विधान भी कैसे करते हो ? तब उसने शीघ्र ही कह दिया कि हमारे यहाँ सारी व्यवस्था संवृति से है पुनः आचार्यों ने प्रश्न कर दिया कि “संवृति” का अर्थ क्या है ? इस पर आचार्य ने स्वयं ही चार विकल्प उठाये हैं कि यह आपकी संवृति स्वरूप से अस्तित्व है, पररूप से नास्तित्व है, स्वरूप से अस्तित्वनास्तित्व है या अवक्तव्य रूप है ?

१ ता । (दि० प्र०) २ संवृत्तिः का इत्युक्ते आह परः विचारेणानुपपत्ति स्या० इत्युक्तम् । (दि० प्र०) ३ शून्यवादिनोऽभावोऽपि नास्ति । (व्या० प्र०) ४ सर्वेषु । (दि० प्र०)

सोयं सौगतस्तदभावास्तत्परप्रतिपादनार्थं<sup>१</sup> शास्त्रमुपदेष्टारं वा वर्णयन्<sup>२</sup> सर्वं प्रतिक्षिप-  
तीति कथमनुन्मत्तः ? स्वयमुपदिष्टं विचारप्रतिपादनार्थं<sup>३</sup> शास्त्रादिकं प्रतिक्षिपन्नुन्मत्त एव  
स्यात्<sup>४</sup> ।

[ सर्वं जगत् मायोपमं स्वप्नोपमं चेति मन्यमाने का हानिः ? ]

अथ मायोपमाः स्वप्नोपमाश्च सर्वे भावा इति सुगतदेशनासद्भावाच्च सर्वं प्रतिक्षिपन्नु-

यदि स्वरूप से संवृति को अस्तिरूप कहो तब तो हम जैन भी सभी वस्तुओं को स्वचतुष्टय से अस्तिरूप ही मानते हैं । इसी प्रकार से पररूप से नास्तिरूप आदि तीनों विकल्प हमारे अनुकूल ही हैं । तब बौद्ध ने कहा कि भाई ! हमारी मान्यता यह है कि “विचार—ऊहापोह या विकल्प का अभाव ही संवृति है ।” इस पर जैनाचार्य कहते हैं कि भाई ! इस मान्यता से तो स्ववचनबाधित दोष आता है क्योंकि ‘संवृति’ में विचार नहीं है यह कथन भी विचार सहित ही है अतः आपकी संवृति का लक्षण तो अभी विचाराधीन ही है न कि निश्चित । श्लोकवार्तिक में स्वयं हो श्री विद्यानन्द महोदय से इसी का विशेष विचार किया है ।

“न हि सर्वं सर्वस्यानिर्णीतमेव विचारात्पूर्वमिति स्वयं निश्चिन्वन् किञ्चित् निर्णीतमिष्टं प्रति-  
क्षेप्तुमर्हति विरोधात् ।” सभी वादी प्रतिवादियों को विचार करने से पहले सभी तत्त्व अनिर्णीत ही होते हैं । इस बात को स्वयं निश्चय करता हुआ शून्यवादी या तत्त्वोपप्लववादी कुछ न कुछ निर्णय किये हुये इष्ट पदार्थ को स्वीकार ही करता है । सभी प्रकार से सबका खण्डन करने के लिये समर्थ नहीं हो सकता है, क्योंकि स्वयं कुछ माने बिना दूसरों का खण्डन करना बन नहीं सकता, विरोध आता है । तात्पर्य यह हुआ कि “विचार से पहले तत्त्वों का न होना” शून्यवादी इस प्रकार से अपने इष्टतत्त्व का निश्चय तो करता ही है बस ! यही उसका माना हुआ “इष्टतत्त्व” हो जाता है और जिसने कुछ न कुछ इष्टतत्त्व माना है, उसे प्रमाण भी मानना पड़ेगा । पुनः प्रमाण और प्रमेयरूप से तत्त्वों की सिद्धि हो जाने से शून्यवाद नहीं टिक सकता है ।

इस प्रकार से यह सौगत विचार का अभाव होने से दूसरों के लिये शास्त्रों का प्रतिपादन करना अथवा शास्त्र के उपदेष्टा विनागाचार्य आदि का वर्णन करना आदि सभी का अपने मुख से ही खण्डन कर देता है, अतः वह शून्यवादी बौद्ध अनुन्मत्त कैसे है ? अर्थात् उन्मत्त क्यों नहीं है ? क्योंकि स्वयं उपदिष्ट विचारों का प्रतिपादन करने के लिये शास्त्रादिकों का खण्डन करते हुये वह उन्मत्त ही है ।

[ सारा जगत् मायास्वरूप है और स्वप्नस्वरूप है ऐसा मानने से क्या हानि है ? ]

बौद्ध—सभी भाव—पदार्थ मायास्वरूप हैं और स्वप्न के समान हैं, इस प्रकार से सुगत की देशना

१ सौगतस्तत्प्रतिपादनार्थम् शास्त्रमुपदिशन्नुपदेष्टारम् वा इति पा० । (दि० प्र०), विचारः । (दि० प्र०) २ वस्तु । (दि० प्र०) ३ शून्यत्वे सति उपदेष्टा कथं तत्प्रतिपादितं शास्त्रञ्च कथं तयोरपि शून्यत्वप्रसङ्गात् । (दि० प्र०)

४ यतः । (व्या० प्र०)

न्मत्तः स्यादिति मत्तं तर्हि शौद्धोदनेरेव तावत्प्रज्ञापराधोयं लोकातिक्रान्तः<sup>१</sup> कथं बभूवेत्यति-  
विस्मयमास्महे । तन्मन्ये<sup>२</sup> पुनरद्यापि कीर्त्तयन्तीति किं बत परमन्यत्र मोहनीयप्रकृतेः<sup>३</sup> ?

[ इदं सर्वं जगत् भ्रातमेव ]

स्वप्नादिविभ्रमवत्सर्वस्य विभ्रमाददोषः

[ भ्राता भ्रातिरस्ति न वेत्युभयपक्षे दोषारोपणं । ]

इति चेत्तर्हि विभ्रमे किमविभ्रमो विभ्रमो वा ? तत्राविभ्रमे कथं सर्वविभ्रमः ? विभ्रमेपि

का सद्भाव होने से हम सभी का खण्डन करते हुये भी उन्मत्त नहीं हैं । अर्थात् यह सारा जगत् इन्द्र-  
जालिया का खेल है ।

जैन—तब तो आपके बुद्ध की बुद्धि का यह अपराध लोकातिक्रान्त—बहुत बड़ा कैसे हो गया ?  
इस प्रकार से हम लोगों को तो अतर्क्य विस्मय हो रहा है । बड़े खेद की बात है कि वे विष्णाग आचार्य  
आदि आज भी इस शून्यवाद का वर्णन करते हैं । मैं समझता हूँ कि इसमें मोहनीयकर्म को छोड़कर  
और कुछ भी अन्यकारण नहीं है कि जिससे वे ऐसा प्रतिपादन करते हैं ।

[ यह समस्त जगत् भ्रातिस्वरूप है । ]

बौद्ध—स्वप्नादि के समान सभी सुगत-बुद्ध भगवान् आदि विभ्रमरूप ही हैं, अतः हमारे यहाँ  
कोई दोष नहीं है ।

[ भ्राति में भ्राति है या नहीं ? इस प्रकार से दोनों पक्षों में दोषारोपण करते हैं । ]

जैन—यदि ऐसी बात है, तब तो यह बतलाइये कि विभ्रम में विभ्रम है अथवा अविभ्रम ?  
अर्थात् आप बौद्ध के यहाँ सभी वस्तुएँ, सुगत भगवान् आदि भी केवल भ्राति—कल्पनामात्र हैं, तब तो  
आपकी इस भ्राति में भी भ्राति ही है या भ्राति में भ्राति नहीं है ?

यदि विभ्रम में अविभ्रम है, तब तो सभी विभ्रमरूप कैसे रहे ? यदि विभ्रम में भी विभ्रम है,  
तब तो विभ्रम कैसे रहा, अपितु विभ्रम में विभ्रम होने से तो वास्तविकता ही हो गई है, क्योंकि  
विभ्रम में भी विभ्रम मानने पर सर्वत्र अविभ्रम का प्रसंग प्राप्त होता है । तथा विभ्रम के विभ्रम में  
भी विभ्रम के स्वीकार करने पर वे ही प्रश्न एवं अनवस्था के आने से यह तो बहुत ही बड़ा दुरन्त  
अन्धकार ही नजर आता है ।

१ स्वस्य स्वकीयोपदेशादिकस्य सर्वस्य भ्रान्तस्ववचनात्लोकातिक्रान्तत्वं प्रज्ञापराधस्य । (दि० प्र०) २ दिग्मा-  
गादयः । (ज्या० प्र०) ३ अज्ञानस्वभावात् । (दि० प्र०)



कुतोसौ ? विभ्रमेपि विभ्रमे<sup>१</sup> सर्वत्राविभ्रमप्रसङ्गात् । विभ्रमविभ्रमेपि<sup>२</sup> विभ्रमोपगमे स एव<sup>३</sup> पर्यनुयोगो न वस्था<sup>४</sup> चेति दुरन्तं तमः<sup>५</sup> । तदुक्तं न्यायविनिश्चये<sup>६</sup> ।

भाष्य—वेचारा बौद्ध जब जैनाचार्यों के उत्तर से झेंपकर शमिदा हो गया तब उसने कहा कि भाई ! यह सारा जगत् मायाजाल के समान नहीं किन्तु साक्षात् मायाजाल ही है । इन्द्रजालिया ने रुपये बनाबना कर दिखा दिए किन्तु भैया ! स्वयं उन रुपयों से मालामाल नहीं हुआ प्रत्युत दिन-भर खेल-तमाशे दिखा-दिखाकर मुश्किल से उसे शाम को २-४ रुपये मिले, जिससे पेट भरता है, तो जैसे वे इन्द्रजालिया के खेल में बने हुए रुपया आदि केवल मायारूप हैं वैसे ही जगत् के सारे चेतन-अचेतनपदार्थ केवल मायारूप हैं । अथवा जैसे स्वप्न में मिला हुआ राज्य है या स्वप्न में अपना ही शिर कटा हुआ देखा किन्तु उसका कुछ भी असर नहीं होता है वैसे ही यह सब जगत् यहाँ तक बुद्धभगवान् और उनके सभी शिष्यवर्ग सभी स्वप्न के समान असत्यरूप काल्पनिक हैं ।

तब जैनाचार्यों ने कहा कि भाई ! हमें ऐसा लगता है कि आपके बुद्धभगवान् की बुद्धि भी मायारूप है और यह बुद्धभगवान् का कथन तो बहुत ही बुद्धिहीनता को सूचित करता है अथवा दर्शनमोहनीय के उदय से दुर्बुद्धि को प्रकट करता है । बस ! उसने कहा कि हमारे बुद्धभगवान् भी भ्रांतिरूप हैं, उनके शिष्य, उनका उपदेश सभी कुछ भ्रांतिरूप है हम और आप भी भ्रांतिस्वरूप हैं । तब आचार्य प्रश्न करते हैं कि भाई ! यह सब कुछ बुद्धभगवान् आदि भ्रांत हैं । इस बात में आपको पूर्ण—दृढ़ विश्वास है या इस विषय में भी कुछ भ्रांति है ?

यदि कहो कि हमें पूर्ण विश्वास है, यह सारा जगत् भ्रांतिरूप है तब तो भैया ! आपने कहीं पर तो विश्वास कर ही लिया सर्वत्र भ्रांति कहाँ रही ? यदि कहो इस विषय में भी हमें भ्रांति है तब तो भ्रांति में भ्रांति होने से सत्यता का निर्णय हो जाता है । जैसे एक व्यक्ति ने राजदरबार में चोर को उपस्थित किया, उस चोर को निर्दोष सिद्ध करने के लिये दूसरा व्यक्ति आया उसने कहा राजन् ! इसने चोरी नहीं की है चोर और कोई दूसरा होगा । इस पर राजा ने प्रश्न किया कि भाई ! इसने चोरी नहीं की है यह बात तुम सत्य कह रहे हो या झूठ ? तब उसने कहा कि मैं झूठ बोल रहा हूँ तब राजा ने कहा कि इसका मतलब यह हुआ कि यह चोर है । अतः जिसकी चोरी हुई है उसी की बात सत्य सिद्ध हो गई । उसी प्रकार से भ्रांति में भ्रांति होने से तो आस्तिक्यवादी के वास्तविकतत्त्व ही सिद्ध हो जाते हैं और यदि ऐसा कहो कि भ्रांति की भ्रांति में भ्रांति है तो भी पूर्ववत् प्रश्न उठते रहने से कहीं पर भी आपका शून्यवाद ठहर नहीं सकेगा । अतः आपके शून्यवाद की शून्यजितनी ही कीमत हो सकती है न कि अधिक ।

इसी को न्यायविनिश्चय ग्रन्थ में भी कहा है—

१ अंगीक्रियमाणे । (व्या० प्र०) २ ता । (व्या० प्र०) ३ विभ्रमविभ्रमे विभ्रमे किमविभ्रमो विभ्रमोवेत्यादि । (दि० प्र०) ४ ततश्च । (दि० प्र०) ५ महदज्ञानं सीगतस्य । (व्या० प्र०) ६ सर्वविभ्रमात्मकमिति तत्त्वनिश्चये । (दि० प्र०)

तत्र शौद्धोदनेरेव कथं प्रज्ञापराधिनी ।  
 बभूवेति वयं<sup>१</sup> तावद्बहु<sup>२</sup> विस्मयमात्महे ॥१॥  
 तत्राद्यापि<sup>३</sup> अडासक्तास्तमसो<sup>४</sup> नापरं<sup>५</sup> परम् ।  
 विभ्रमे विभ्रमे तेषां<sup>७</sup> विभ्रमोपि न सिद्ध्यति<sup>८</sup> ॥२॥ इति ।

ततो<sup>९</sup> नाभावैकान्तः श्रेयान्, स्वेष्टस्य दृष्टबाधनाद्भावैकान्तवत्<sup>१०</sup> ।

परस्परनिरपेक्षभावाभावैकान्तपक्षोपि न क्षीयङ्करः, तत एवेत्यावेदयन्ति स्वामिनः ।

श्लोकार्थ—बौद्धों के यहाँ तो यह अपराधिनी बुद्धि कौसी है कि सब विभ्रमस्वरूप है ? हमें तो इसमें बहुत ही आश्चर्य हो रहा है ।

ये बौद्ध लोग आज भी मूढ़ात्मा ही है, इससे बढ़कर मोह अंधकार और क्या हो सकता है, जो कि विभ्रम में भी विभ्रम मान रहे हैं ? परन्तु इस प्रकार से तो उनके यहाँ विभ्रम भी सिद्ध नहीं हो सकता है ।

इसलिये अभावएकान्तपक्ष भी श्रेयस्कर नहीं है, क्योंकि उनके दृष्ट—नैरात्म्य (शून्यवाद) में प्रत्यक्ष से ही बाधा आती है, जैसे कि भावैकान्तवाद में बाधा आती है ।

१ भट्टकलंकदेवाः । (व्या० प्र०) २ बहुविस्मयो यथा भवति तथा । (दि० प्र०) ३ प्रज्ञापराधिनी शौद्धोदनी । (व्या० प्र०) ४ जनाः सक्तास्तमसो इति पा० । (व्या० प्र०) ५ अन्धकारत्वेन सम्बद्धोः । अज्ञानाद् । (दि० प्र०) ६ अस्यत् । (दि० प्र०) ७ सोगतानाम् । (व्या० प्र०) ८ हेतोः । (दि० प्र०) ९ यतः एवं पूर्वोक्तम् । (वि० प्र०) १० प्रत्यक्षेण । (दि० प्र०)

## अभावैकांत पक्ष के खंडन का सारांश

बौद्धों के यहाँ माध्यमिक एक भेद है, जो सर्वथा शून्यवाद को ही स्वीकार करता है ।

शून्यवादी—“भावा येन निरुध्यन्ते तद्रूपं नास्ति तत्त्वतः ।

यस्मादेकमनेकं च रूपं तेषां न विद्यते ॥”

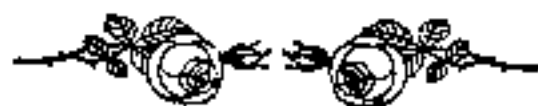
श्लोकार्थ—जिस एकत्व-अनेकत्व स्वभाव के द्वारा पदार्थों का वर्णन किया जाता है, वास्तव में वह स्वरूप नहीं है एवं वस्तु भी एक-अनेकरूप नहीं है, जो भेद प्रतिभास है वह असत् ही है, अतः जगत् शून्यरूप ही है । जो अंतर्बहिस्तत्त्व हैं वे संवृति—कल्पनारूप हैं, एवं शून्यवाद को सिद्ध करने में जो प्रमाण हेतु आदि हैं वे भी काल्पनिक हैं, क्योंकि नैरात्म्यवाद वेद्य-वेदकभाव से भी शून्य है । एवं स्वपक्ष—साधन—उपादेय और परपक्षदूषण हेयरूप उपाय भी संवृति से ही हैं ।

जैन—आपके यहाँ ‘संवृति’ शब्द का अर्थ क्या है ? यदि वह अपने स्वरूप से है, तब तो हमारे अनुकूल ही हुआ, वह केवल आपकी धृष्टता की ही सूचक हुई । जैसे आपने संवृति का स्वरूप से अस्तित्व मान लिया है, वैसे ही हमारे यहाँ भी सभी पदार्थों का स्वरूप से अस्तित्व सिद्ध है । यदि आप संवृति का अर्थ पररूप से नहीं है, कहो तो हम भी पररूप से नास्तिक्य मानते हैं । यदि आप कहें संवृति—विचारों का न होना है, तब तो यह वाक्य भी कैसे बनेगा ? अतः आपके यहाँ कुछ भी सिद्ध नहीं होता है । बड़े ही आश्चर्य की बात है कि दिग्नागाचार्यादि आज भी इस शून्यवाद का वर्णन करते हैं इसमें मोहनीयकर्म के तीव्रउदय के सिवा और कोई कारण नहीं हो सकता है क्योंकि आपके अनुमान, आगम आदि भी सिद्ध नहीं होते हैं ।

यदि आप कहें सुगत आदि भी विभ्रमरूप हैं तब तो यह बतलाइये कि विभ्रम में विभ्रम है या अविभ्रम ? यदि विभ्रम में अविभ्रम है तो सभी विभ्रमरूप सिद्ध नहीं हुये । यदि विभ्रम में भी विभ्रम है तो विभ्रम कैसे रहेगा ? अपितु विभ्रम में विभ्रम के हो जाने से अविभ्रम—सत्य ही सिद्ध हो जावेगा । श्लोकवार्तिक में भी कहा है—

तत्र शीढोदनेरेव कथं प्रज्ञापराधिनी ।  
बभूवेति वयं तावद्बहुविस्मयमास्महे ॥  
तत्राद्यापि जडासक्तास्तमसो नापरं परं ।  
विभ्रमे विभ्रमे तेषां विभ्रमोऽपि न सिद्धयति ॥

अतः सर्वथा अभाव—नैरात्म्यवाद भी श्रेयस्कर नहीं है, क्योंकि सर्वथा शून्य मानने से तो शून्य भी सिद्ध नहीं होगा । पुनः अशून्य—अंतर्बहिस्तत्त्वरूप ही जगत् सिद्ध हो जावेगा ।



### <sup>1</sup>विरोधान्नोभयैकात्म्यं<sup>2</sup> स्याद्वादन्यायविद्विषाम्<sup>3</sup> ।

<sup>4</sup>भावाभावयोरेकतरप्रतिक्षेपंकान्तपक्षोपक्षितदोषपरिजिहीर्षया सदसदात्मकं<sup>5</sup> सर्वमभ्युपगच्छतोपि बाणी विप्रतिषिध्येत, तयोः परस्परपरिहारस्थितिलक्षणत्वात्<sup>6</sup> । न हि सर्वात्मना कञ्चिदप्यं सन्तं तथैवासन्तमात्रक्षाणः स्वस्थः, स्वाभ्युपेतेतरनिरासविधानकरणाच्छून्यावबोधवत् ।

[ परस्परनिरपेक्षसदसदात्मकं मन्यमानस्य भाट्टस्य निराकरणं ]

यथैव हि सर्वथा शून्यमवबुध्यमानः<sup>7</sup> स्वसंवेदनादन्यतो वा स्वाभ्युपेतं शून्यतैकांतं निरस्यति, अनभ्युपेतं प्रमाणादिसद्भावं विधत्ते तथैव भावाभावयोस्तादात्म्यैकांतं ब्रुवन् स्वा-

**उत्थानिका**—उसी प्रकार से परस्पर निरपेक्ष भावाभावैकांतपक्ष भी कल्याणकारी नहीं है । इस प्रकार से श्री स्वामीसमंतभद्राचार्यवर्य बतलाते हैं—

**कारिकार्थ**—हे भगवन् ! स्याद्वाद न्याय के विद्वेषी अन्य मतावलम्बियों के यहाँ निरपेक्ष भावाभावैकात्मक रूप उभयैकांतपक्ष भी श्रेयस्कर नहीं है, क्योंकि उसमें भी विरोध आता है ॥१३३॥

भाव और अभाव में से किसी एक का निराकरण करने पर और एकांतपक्ष में दिये गये दोषों को दूर करने की इच्छा से सभी वस्तु को सत् और असत् रूप से स्वीकार करने वाले भाट्ट के भी वचनों में विरोध ही आता है, क्योंकि वे दोनों भाव और अभाव परस्पर में परिहार-स्थितिलक्षण वाले हैं, अर्थात् भाव-अभाव ये दोनों एक-दूसरे का परिहार करके ही रहते हैं, क्योंकि सभौरूप से अर्थात् स्वस्वरूप के समान ही पररूप से भी कोई भी वस्तु अस्तित्वरूप (विद्यमान रूप) हो और उसी प्रकार से ही नास्तित्वरूप (अविद्यमान रूप) होवे, ऐसा कहता हुआ भाट्ट स्वस्थ नहीं है । इस कथन से तो अपने द्वारा स्वीकृत उभयात्मकतत्त्व का खंडन और अन्य के द्वारा स्वीकृत केवल भाव अथवा अभाव-तत्त्व का ही विधान हो जाता है, जैसे कि शून्यवादी अपने शून्यवाद की स्थापना करते हुये भी अपने शून्यवाद का खंडन एवं पर अस्तित्ववाद का ही विधान कर देता है ।

[ निरपेक्ष सत् और असत् को मानने वाले भाट्ट का निराकरण ]

जिस प्रकार से सर्वथाशून्यरूप जगत् को स्वीकार करता हुआ शून्यवादी स्वसंवेदनरूप आत्मीय-ज्ञान से अथवा अन्य—अनुमानरूप परोपदेश से अपने द्वारा स्वीकृत शून्यतैकांत का खंडन कर देता

1 भट्टसांख्यापेक्षया पूर्वार्द्धम् । (व्या० प्र०) 2 भट्टानाम् । (दि० प्र०) 3 अवाच्यतैकांतैप्युक्तिर्नावाच्यमिति युज्यते । इति अधिकः पाठः । (दि० प्र०) सर्वं वस्तु सदसदात्मकमवाच्यमेवेति पक्षे सौगत्यभिमतम् । = कथनम् । योपि भावाभावोभयैकांतदिपक्षत्रयोपक्षितदोषजिहासया सर्वथाऽवक्तव्यम् तत्त्वमवलम्बेत सोपि सौगतः कथमवक्तव्यं तत्त्वं ब्रूयात् । येनावाच्यतैकांतैप्यवाच्यमित्युक्तिर्युज्यते तस्यावाच्यस्य परं शिष्यादिकं प्रतिवाद्यादिकं वा प्रतितत्त्वं प्रतिपादयेत् । (दि० प्र०) 4 एव । (व्या० प्र०) 5 सर्वथा । (व्या० प्र०) 6 सहानवस्थान । (व्या० प्र०) 7 सौगतः । (व्या० प्र०)

भ्युपेतं सदसदात्मकं निरस्यति, स्वयमनभ्युपगतं तु भावैकान्तमभावैकान्तं वा विधत्ते, अभावस्य भावेनुप्रवेशाद्भावस्य वा सर्वथाऽभावे<sup>१</sup>, अन्यथा भावाभावयोर्भेदप्रसङ्गात् । ततो नोभ-

है । अर्थात् यह शून्यवादी या तो अपने ज्ञान से सभी जगत् को शून्य सिद्ध करता है, या पर के उपदेश से । अतः स्वपर इन दोनों में से किसी एक का अस्तित्व सिद्ध हो जाने से सर्वथा शून्यवाद कहाँ बनता है ? इसीलिये वह अनभ्युपेत—अपने द्वारा अस्वीकृत प्रमाणादि के सद्भाव को स्वीकार कर ही लेता है ।

उसी प्रकार से भाव और अभाव के तादात्म्यकांत—मिश्रितैकांत को कहता हुआ भाट्ट भी अपने द्वारा स्वीकृत सत्—असत् रूप एकांत का खंडन कर देता है और स्वयं अपने द्वारा अस्वीकृत भावैकांत अथवा अभावैकांत को स्वीकार कर लेता है । उसी का स्पष्टीकरण करते हैं कि—अभाव तो भाव में अनुप्रवेश कर जाता है अथवा भाव सर्वथा में प्रविष्ट हो जाता है । अन्यथा दोनों में अभिन्नपना होने पर भी एक का दूसरे में अनुप्रवेश न मानने पर तो भाव और अभाव ये दोनों पृथक्-पृथक् सिद्ध हो जावेंगे ।

भावार्थ—भाट्ट ने कहा कि हम जीवादि को अस्तिरूप—सद्भावरूप मानते हैं और नास्तिरूप—अभावरूप भी मानते हैं । तब जैनाचार्यों ने कहा कि यदि आप एक जीव को अस्तिरूप कहते हो तो उसे ही नास्तिरूप कैसे कहोगे ? यदि कहो तो दोनों अवस्थायें एक ही साथ विद्यमान हैं, तब या तो जीव का अस्तित्व नास्तिरूप बन जावेगा या नास्तित्व अस्तिरूप हो जावेगा । पुनः जीव दोनों रूप न होकर या अस्तिरूप सिद्ध होगा या नास्तिरूप । यदि कहो कि अस्ति-नास्ति दोनों रूप, जीव में पृथक्-पृथक् हैं, तो भी जीव कुछ अंश में (आधे रूप में) अस्तिरूप और आधे अंश में नास्तिरूप होगा किन्तु यह बात तो जगत् में किसी को भी इष्ट नहीं है । तब उसने कहा कि दोनों अवस्थायें जीव में मिश्रितरूप हैं, इस पर आचार्य ने कहा ये दोनों ही अवस्थायें परस्पर में विरुद्ध हैं, एक-दूसरे के सद्भाव में रह नहीं सकतीं । अस्ति, नास्ति का जड़मूल से नाश करके अपना अस्तित्व कायम करता है और नास्ति, अस्ति का नाश करके ही रह सकता है ये परस्पर में विरोधी हैं । शीत-उष्ण के समान एकत्र इनका सद्भाव असंभव है ।

भाट्ट तब धबराकर बोला कि आप जैन भी तो जीवादि द्रव्य को अस्ति-नास्तिरूप से उभयात्मक मानते हैं, पुनः हमारी मान्यता में उलाहना क्यों देते हो ? तब जैनाचार्य ने कहा कि हे भाट्ट ! हमारे यहाँ यह परस्परविरुद्ध दोष नहीं आ सकता है, क्योंकि हम स्याद्वादी हैं कथंचित्-जीव को स्वचतुष्टय से अस्तिरूप मानते हैं और कथंचित्-पर चतुष्टय से नास्तिरूप भी मानते हैं । अतः ये अस्ति-नास्तिरूप दोनों ही स्वभाव एक ही जीव में भी एक साथ पाये जाते हैं विरोध नहीं आता है, क्योंकि हम अपेक्षावादी हैं किन्तु आप तो अपेक्षावाद को समझते नहीं । अतः परस्परनिरपेक्ष अस्ति-नास्ति ये दोनों स्वभाव आपके यहाँ एक वस्तु में घटित हो नहीं सकते हैं ।

१ अभावे भावस्यानुप्रवेशाद् भावैकान्तमभावैकान्तं वा विधत्ते । (व्या० प्र०)

योरैकात्म्यं श्रेयः स्याद्वादं विद्विषां<sup>१</sup>, सदसतोः<sup>२</sup> परस्परपरिहारस्थितिलक्षणविरोधात्<sup>३</sup>, जात्यन्तरस्यैव दर्शनेन<sup>४</sup> सर्वथोभयैकात्म्यस्य बाधनात्तद्वत्<sup>५</sup> ।

[ परस्परनिरपेक्षसदसदुभयैकात्म्यं मन्यमानस्य सांख्यस्य निराकरणं । ]

तथा सांख्यस्यैवमुभयैकात्म्यं<sup>६</sup> द्रुवतस्त्रैलोक्यं व्यवतेरपैति, नित्यत्वप्रतिषेधात्,<sup>७</sup> अपेतमप्यस्ति, विनाशप्रतिषेधादिति<sup>८</sup> वा<sup>९</sup> तदन्यथा<sup>१०</sup> पेतमन्यथा<sup>११</sup> स्तीति<sup>१२</sup> स्याद्वाबाधलम्बन-

अतएव स्याद्वाद के विद्वेषी एकांतमतावलंबियों का उभयैकांतरूप मत भी श्रेयस्कर नहीं है, क्योंकि सत् और असत् में परस्पर में परिहार-स्थितिलक्षण विरोध पाया जाता है, अतः जात्यंतररूप कथंचित् भावाभावात्मक दर्शन के द्वारा सर्वथा उभयैकात्म्य में बाधा आती है, जैसे कि सर्वथा भावैकांत में अथवा सर्वथा अभावैकांत में कथंचित् रूप स्याद्वाददर्शन से बाधा आती है। अर्थात् सत् असत् का परिहार करके ही रहता है और असत् सत् का परिहार करके ही रहता है। ये दोनों परस्पर में विरोधी हैं, क्योंकि कथंचित् रूप स्याद्वाद की मान्यता से परस्परनिरपेक्ष उभय का सद्भाव बाधित ही है।

[ परस्पर निरपेक्ष सत्-असत् दोनों को मानने वाले सांख्य का खण्डन ]

उसी प्रकार से सांख्य भी उभयैकात्म्य को स्वीकार करते हुये व्यक्ति से तीनों लोकों को दूर कर देता है। अर्थात् यह त्रैलोक्य महान् एवं अहंकार आवि विकाररूप से अभिव्यक्त होता है, और उसका उसी में तिरोभाव हो जाता है। अतः नित्यत्व का प्रतिषेध हो जाता है अथवा प्रकृतिरूप से रहने पर वह अपेत-विनाश होने पर भी अस्तित्वरूप से रहता है। अर्थात् नष्ट होने पर भी कथंचित् नित्य है, क्योंकि विनाश का प्रतिषेध पाया जाता है। यदि आप कहें कि वह अन्यरूप से विनाश है एवं अन्यरूप से अस्तित्वरूप है, तब तो यह कथन तो स्याद्वाद सिद्धांत का ही अवलम्बन करते हुये 'अंध सर्प बिल प्रवेश न्याय' का अनुसरण कर रहा है। अर्थात् इस उपर्युक्त कथन से तो परस्परनिरपेक्ष भावाभावैकांत की सिद्धि न होकर प्रत्युत स्याद्वादसिद्धांत ही पुष्ट होता है, क्योंकि स्याद्वादसिद्धांत में भी किसी अपेक्षा अभाव एक ही पदार्थ में प्रकट किये जाते हैं।

भाषार्थ—सांख्य ने प्रकृति और पुरुषरूप से दो तत्त्व माने हैं, उसमें पुरुष को अकर्ता, निर्गुण, निष्क्रिय और कूटस्थनित्य सिद्ध किया है और प्रकृति को प्रधान शब्द से भी कहा है। उस प्रधान के भी दो भेद कर दिये हैं, एक व्यक्त दूसरा अव्यक्त। व्यक्त प्रधान से ही महान्-बुद्धि, अहंकार आदि उत्पन्न होते हैं तथा अव्यक्त प्रधान कार्यकारणभाव से रहित, नित्य, सर्वव्यापी, एक और निष्क्रिय है। सांख्य कहता है कि व्यक्त प्रधान से ही सारा विश्वरूप कार्य आविर्भूत-प्रकट होता है। पुनः सृष्टि के प्रलयकाल में क्रम-क्रम से इन्द्रिय तन्मात्राएँ आदि जिससे उत्पन्न हुये हैं, उसी में विलीन होते-होते

१ भट्टानाम् । (व्या० प्र०) २ यतः । (व्या० प्र०) ३ अन्यथा स्वरूपेण सत्त्वस्यासत्त्वस्य च प्रसंगाज्जात्यन्तरस्यैव दर्शनेन सर्वथोभयैकात्म्यस्य बाधनादिति भावः । वस्तुनः । (दि० प्र०) ४ प्रत्यक्षेण । (दि० प्र०) ५ शून्याद्विरोधवत् । (दि० प्र०) ६ अग्रे वक्ष्यमाणप्रकारेण । (दि० प्र०) ७ असद्रूपतामुपब्रजेत् अदृश्यतामित्यर्थः । (दि० प्र०) ८ तिरोभावात् । (दि० प्र०) ९ त्रैलोक्यम् । (दि० प्र०) १० दृढमग्रे स्थितस्याद्वादविवरणं प्रतिपत्तव्यं ततो न पीनरूपस्यम् । (दि० प्र०) ११ स्वरूपशून्यम् । (दि० प्र०) १२ अव्यक्तरूपेणास्ति । (दि० प्र०)

मन्धसर्पबिलप्रवेशन्यायमनुसरति<sup>१</sup>, त्रैलोक्यस्य व्यक्तात्मनाऽपेतत्वसिद्धेः<sup>२</sup> अव्यक्तात्मनास्तित्व-  
व्यवस्थितेः<sup>३</sup> ।

“हेतुमदनित्यमव्यापि सक्रियमनेकमाश्रितं जिज्ञान्<sup>४</sup> : साधयत् परतन्त्रं व्यक्तां विपरीतमव्यक्तम्”

इति वचनात्<sup>५</sup> । परमार्थतो व्यक्ताव्यक्तयोरेकत्वान्न स्याद्वादावलम्बनं कापिलस्येति चेन्न,  
तथा<sup>६</sup> विरोधस्य<sup>७</sup> तदवस्थानात्<sup>८</sup> । प्रधानाद्वैतोपगमे<sup>९</sup> तु नोभयैकात्म्यमभ्युपगतं स्यात्<sup>१०</sup> ।

अंत में महान्तरूप कार्य व्यक्त प्रधान में तिरोभूत हो जाता है—छिप जाता है । इसलिये नित्यत्व का विरोध होने से पदार्थ अभावरूप भी दिखते हैं । मतलब यह है कि व्यक्त प्रधान और उसके कार्य बुद्धि, अहंकार आदि में अभावनाम की चीज तिरोभावरूप से छिपी हुई है । अथवा विनाशरूप होकर भी वह प्रधान अपने अस्तित्व को स्थिर रखे हुये है । तात्पर्य यह है कि घड़ा फूटा तो वह अपनी मिट्टीरूप मूल अवस्था में छिप गया है, अतः उस घट का अस्तित्व विद्यमान है । मतलब सांख्य उत्पाद विनाश को न मानकर आविर्भाव और तिरोभाव को स्वीकार करता है ।

इस पर जैनाचार्य कहते हैं कि भाई ! जिस रूप से मिट्टी से घट आविर्भूत हुआ है, उसीरूप से घट मिट्टी में तिरोभूत नहीं हुआ है, प्रत्युत कपालरूप से तिरोभूत हुआ है । इस बात को सांख्य ने बिना आनाकानी के मान ली, तब जैनाचार्य ने कहा कि आप तो स्याद्वादी हो गये क्योंकि स्याद्वादी भी एक पर्याय से वस्तु का उत्पाद और दूसरी पर्याय से ही वस्तु का विनाश मानते हैं । मिट्टी से यदि घटपर्याय उत्पन्न हुई है, तो पिंड पर्याय का ही विनाश हुआ है । क्योंकि एक समय में उसी पर्याय का उत्पाद और उसी का विनाश सम्भव नहीं है । सांख्य ने भी एक किसी पर्याय का आविर्भाव तो दूसरी पर्याय का तिरोभाव माना है । बस ! बिना मालूम सांख्य स्याद्वादमत का अनुसरण कर लेता है । एक अंधे सर्प ने नियम कर लिया कि “मैं बिल में नहीं जाऊँगा” परन्तु घूम-घुमाकर जहाँ भी घुसा वह बिल ही सिद्ध हुआ । इसलिये आप सांख्यमतानुयायी सर्वथा पदार्थ को नित्य मानते हुये भी पहले उभयैकांत में आये और परस्परनिरपेक्ष मान्यता से जब घबराये तब स्याद्वाद में घुस गये, सो आपके एकांतसिद्धान्त से विपरीत ही है । यदि सांख्य कहे कि हम सम्पूर्ण जगत् को ही प्रधानरूप से अद्वैत—एकरूप ही मानते हैं, तब तो प्रधानाद्वैत को स्वीकार करने से उभयैकात्म्य कहाँ रहेगा ? आपके यहाँ तो मूल में ही जगत् प्रकृति और पुरुषरूप से द्वैतरूप है ।

यही बात यहाँ पर सांख्य सिद्धान्तानुसार त्रैलोक्य के आविर्भाव-अवस्थान-सद्भाव में और तिरोभाव-अभाव में प्रकट की गई है । क्योंकि व्यक्तात्मना-महदादिरूप से त्रैलोक्य का अपेतत्व-

१ स्वदर्शनापेक्षं यथोपलम्भमाश्रयस्वीकारणात् । सांख्यस्य । (दि० प्र०) २ ननु व्यक्ताव्यक्तस्वरूपेण ताभ्यामस्ति-  
त्वादि व्यवस्थंस्यादित्याशंकायांमाहुः । (दि० प्र०) ३ त्रैलोक्यं व्यक्तात्मना कार्यरूपेण विनश्यत्यव्यक्तात्मना कार्य-  
रूपेण सन्तिष्ठते । (दि० प्र०) ४ कारणम् । (व्या० प्र०) ५ ननु । (व्या० प्र०) ६ व्यक्ताव्यक्तयोरेकत्वप्रका-  
रेण । (व्या० प्र०) ७ नित्यानित्ययोर्व्यक्ताव्यक्तयोः परस्परपरिहारस्थितिलक्षणस्य । (व्या० प्र०) ८ पूर्वम् ।  
प्रधानाप्रधानयोः । (व्या० प्र०) ९ व्यक्ताव्यक्तयोरेकत्वाभ्युपगमपक्षेऽप्यादितदोषपरिहारार्थमिदं वचनम् । (दि० प्र०)  
१० भावैकान्तपक्षोपक्षि सदोषानुपगं इति भावः । उभयैकात्म्यं स्वस्य । (दि० प्र०)

तथा<sup>१</sup> स्वयमनभ्युपगच्छतोपि कथञ्चिदुभयात्मकतत्त्ववादप्रवेशे<sup>२</sup> कथमन्धसर्पबिलप्रवेशन्या-  
यानुसरणं न स्यात् ? यदृच्छया<sup>३</sup> तदवलम्बनात् । ततो नैवमभ्युभयैकान्तः<sup>४</sup> सिध्यति,  
विरोधात् ।

तिरोभाव सिद्ध है एवं अन्धसर्पबिलप्रवेशन्यायरूप से उसका अस्तित्व-आविर्भाव व्यवस्थित है ।  
कहा भी है—

**श्लोकार्थः**—जो हेतुमान्-कार्य है अनित्य, अव्यापी, क्रिया सहित, अनेक एवं आश्रित है, लिङ्ग-कारण  
है, अवयव सहित एवं परतन्त्र है वह व्यक्त-महदादिस्वरूप है तथा उससे विपरीत अव्यक्त—प्रधान है ।  
अर्थात् जो कार्य, कारणरूप से रहित नित्य, सर्वव्यापी, निष्क्रिय, एक, अवयवरहित, स्वतन्त्र है एवं  
किसी के आश्रित नहीं है वह अव्यक्त प्रधान कहलाता है ।

**सांख्य**—परमार्थ से तो व्यक्त और अव्यक्त एक ही हैं अतः हम सांख्य स्याद्वाद का अवलम्बन  
नहीं करते हैं ।

**जैन**—नहीं, वह नित्य और अनित्य का विरोध तो तथैव अवस्थित है । प्रधानाद्वैत के स्वीकार  
करने पर तो उभयैकाम्य स्वीकृत हो नहीं सकता है । अर्थात् प्रधानात्मक से वह अनित्य है और  
महदादि की अपेक्षा से अनित्य है यह स्वीकृति तो स्याद्वाद को आश्रय दे देती है । इसमें प्रधानाद्वैत  
सिद्ध नहीं हो सकता है, और प्रधानरूप से नित्य तथा महान् आदिरूप से अनित्य कहने पर तो  
स्याद्वाद आ जाता है । स्याद्वाद को स्वयं स्वीकार न करते हुये भी कथञ्चित् रूप से उभयात्मक  
तत्त्ववादरूप स्याद्वाद में प्रवेश करने पर 'अंधसर्पबिलप्रवेशन्याय' का अनुसरण क्यों नहीं होगा ?  
प्रत्युत यदृच्छा से—इच्छानुसार उसका अवलम्बन होगा ही होगा । इसीलिये इस प्रकार से भी  
उभयैकांत की सिद्धि नहीं हो सकती है, क्योंकि विरोध आता है ।

## सत् असत् उभयैकात्म्य के खण्डन का सारांश

सभी वस्तुओं को सत् और असत् रूप से स्वीकार करने वाले भाट्ट के वचन भी विरुद्ध हैं क्योंकि  
स्वरूप के समान वस्तु यदि पररूप से भी अस्तिरूप है तथैव पररूप के समान ही स्वरूप से भी  
नास्तिरूप होवे, ऐसा शक्य नहीं एवं दोनों के मानने पर तो भाव-अभाव में प्रविष्ट हो जाता है और  
अभाव सर्वथाभाव में प्रविष्ट हो जावेगा पुनः एक के अभाव में दूसरे का अभाव भी निश्चित है ।  
सांख्य भी कहते हैं कि महदादिरूप से त्रैलोक्य का तिरोभाव सिद्ध है एवं प्रधानात्मकरूप से उसका  
आविर्भाव सिद्ध है ऐसा कहते हुये सांख्य भी 'अंधसर्पबिलप्रवेशन्याय' से स्याद्वाद का ही अनुसरण  
करते हैं, अतः उभयैकात्म्य भी श्रेयस्कर नहीं है सभी वस्तु कथञ्चित् जात्यंतररूप से ही भावा-  
भावात्मक हैं ।

१ तर्हि दूषणमाह । (दि० प्र०) २ सांख्यमते उभयात्मकत्वप्रतिपादकप्रक्रियासदभावदेवं वचनम् । (दि० प्र०)

३ कुतः पदानु सर्वथोभयैकात्म्याङ्गीकारे कृते युक्तिर्नास्ति तदा स्वेच्छया तत्र तस्य स्याद्वादस्यावष्टम्भनात् ।  
(दि० प्र०) ४ सांख्योक्तप्रकारेणापि । (दि० प्र०)



## अवाच्यतैकान्तेप्युक्तिर्नवाच्यमिति युज्यते ॥१३॥

योपि पक्षत्रयोपक्षितदोषजिहासया सर्वथाऽवक्तव्यं तत्त्वमवलम्बेत् सोपि कथमवक्तव्यं ब्रूयात्, येनाववाच्यतैकान्तेप्यवाच्यमित्युक्तिर्युज्यते । तदयुक्ती<sup>१</sup> कथं<sup>२</sup> परमवबोधयेत्<sup>३</sup> ? स्वसंविदा<sup>४</sup> परावबोधनायोगात्<sup>५</sup> । तदमवबोधने<sup>७</sup> कथं परीक्षितास्य स्यात् ? तस्यापरीक्षकत्वे च कुतोऽन्यस्माद्विशेषः सिध्येत् ? अपरीक्षिततत्त्वाभ्युपगमस्य<sup>८</sup> सर्वेषां निरंकुशत्वात् ।

[ बौद्धः स्वतत्त्वमवाच्यं साधयितुमनेका मुक्तीः प्रयुङ्क्ते जैनाचार्यास्ताः निराकुर्वन्ति । ]

नैव दोषः<sup>९</sup> <sup>१०</sup>स्वलक्षणमनिर्देश्यं<sup>११</sup> प्रत्यक्षं कल्पनापोढमित्यादिवत्सर्वमवाच्यं तत्त्वमिति

कारिकार्थ—यदि कोई एकांत से तत्त्व को अवाच्य-अवक्तव्य ही कहें, तब तो “तत्त्व अवाच्य है” यह कथन भी नहीं बन सकेगा ॥१३॥

जो बौद्ध भी तीनों पक्षों—भावैकांत, अभावैकांत, उभयैकांतरूप पक्षों में दिये गये दोषों को दूर करने को इच्छा से यदि सर्वथा अवक्तव्यत्व का अवलंबन लेवे पुनः ‘तत्त्व अवक्तव्य है’ ऐसा भी वह कैसे बोल सकेगा ? जिससे कि एकांत से अवाच्यता स्वीकार करने पर भी “अवाच्य” यह कथन युक्त हो सके और “अवाच्य” इस कथन की अयुक्ति हो जाने से वह दूसरों को अपना तत्त्व समझाये भी कैसे ? क्योंकि स्वसंवेदन के द्वारा पर को समझाना शक्य ही नहीं है । तथा अपने तत्त्व को दूसरों को भी समझाये बिना इस बौद्ध का कथन भी कैसे परीक्षित हो सकेगा ? उस कथन की परीक्षा न हो सकने से अन्य जनों से भी विशेषता—अन्तर कैसे सिद्ध हो सकेगा ? और अपरीक्षिततत्त्व को भी स्वीकार कर लेने पर तो सभी का मत निरंकुश हो जावेगा अर्थात् किसी के मत का निराकरण करना ही शक्य नहीं हो सकेगा ।

[ बौद्ध अपने तत्त्व को अवाच्य सिद्ध करने के लिये अनेक युक्तियों का प्रयोग करता है और जैनाचार्य उन युक्तियों का खण्डन करते हैं । ]

बौद्ध—यह कोई दोष नहीं है, “जो स्वलक्षण है, वह अनिर्देश्य है एवं प्रत्यक्ष कल्पना से रहित है” इत्यादि वाक्यों के समान सभी “तत्त्व अवाच्य ही हैं” ऐसा कथन करने पर भी विरोध नहीं आता है, क्योंकि “अवाच्य” इस प्रकार के वचन के बिना पर को प्रतिपादन करना नहीं बनेगा

१ तस्याववाच्यमित्युक्तेरयुक्ती सत्यां परं स्वमतवर्तिनं जिह्यादिकं कथं प्रतिबोधयेदपितुन । (दि० प्र०) २ प्रतिवाद्यादिकम् । शिष्यादिकम् । (दि० प्र०) ३ प्रतिपादयेत् । आशङ्क्य । (दि० प्र०) ४ स्वार्थानुमानेन । (दि० प्र०) ५ स्वसंविदावबोधयामीति चेन्न । (दि० प्र०) ६ प्रतिपादनम् । (दि० प्र०) ७ पराभ्युपगतं तत्त्वं युक्त्या न व्यवतिष्ठते स्वाभ्युपगतमेव व्यवतिष्ठत इति प्रतिवाद्यादि प्रतिबोधनाभावे । (दि० प्र०) ८ अवाच्यवाद्याह । (दि० प्र०) ९ वचनाभावकृतः । (व्या० प्र०) १० तस्यानन्तत्वात् संकेताविषयत्वादन्तव्याच्छब्दव्यवहारायोग्यत्वाच्च । (व्या० प्र०) ११ शब्देनाप्रतिपाद्यम् । (व्या० प्र०)

वचनेपि विरोधाभावात् परप्रतिपादनस्यान्यथानुपपत्तेः । इति कस्यचिद्वचनं<sup>१</sup> तदप्यसत् पदसतः समुदाहृतम्<sup>२</sup> । सिद्धसाध्यव्यवस्था हि कथामार्गः । न च स्वलक्षणस्य सर्वथाप्यनिर्देश्यत्वोपगमे 'स्वलक्षणमनिर्देश्यम्' इति वचनेन तस्य<sup>३</sup> निर्देश्यत्वमविरुद्धम् । अथ स्वलक्षणं नैतद्वचनेनापि निर्देश्यं स्वलक्षणसामान्यस्यैव तेन<sup>४</sup> निर्देश्यत्वात् स्वलक्षणे निर्देशासंभवात्, न ह्यर्थे<sup>५</sup> शब्दाः सन्ति तदात्मानो वा येन तस्मिन् प्रतिभासमाने तेषु प्रतिभासेरन्निति वचनात् । कल्पनारोपितं<sup>६</sup> तु स्वलक्षणं तद्धर्मो वा निर्देश्यत्वशब्देन निर्दिश्यते, विरोधाभावादिति मतं तर्हि<sup>७</sup> स्वलक्षणमज्ञेयमपि स्यात् । यथैवाक्षविषयेभिधानं<sup>८</sup> नास्ति तथाक्षज्ञाने विषयोपि

और पर को प्रतिपादन करने की तो अन्यथानुपपत्ति है । अर्थात् 'तत्त्व अवाच्य है', पर को समझाने के लिये ऐसे वचनों का प्रयोग किमः ही जाता है ।

जैन — 'यह कथन भी असत् रूप ही है क्योंकि तुमने असत्—अविद्यमान ही दोनों को उदाहरण में रखा है ।' क्योंकि सिद्ध है साध्य की व्यवस्था जिसमें ऐसा ही कथामार्ग—दृष्टान्तक्रम होता है । अर्थात् जो वादी और प्रतिवादी दोनों को मान्य है, वही दृष्टान्त होता है । प्रथमानुयोग की जो कथाएँ वादी प्रतिवादी दोनों ही को मान्य हैं, वे ही उदाहरण की कोटि में रखी जाती हैं, ऐसा व्यवहार है तथैव जो बात उभयमान्य होती है, उसे ही दृष्टान्त में रखना चाहिये ।

यदि स्वलक्षण को सर्वथा ही अनिर्देश्य स्वीकार किया जावे तब तो "स्वलक्षणमनिर्देश्यं" इस कथन के द्वारा भी निर्देश करना अविरुद्ध नहीं होगा ।

बौद्ध — "स्वलक्षणं" इस वचन के द्वारा भी स्वलक्षण निर्देश्य नहीं है, किन्तु स्वलक्षण-सामान्य अन्यापोहलक्षण ही उस शब्द के द्वारा कहा जाता है, क्योंकि स्वलक्षण का तो निर्देश करना ही असंभव है, कारण कि अर्थ में आधेयरूप से तो शब्द है नहीं अथवा अर्थ शब्दान्तरक भी नहीं है कि जिससे उस अर्थ के प्रतिभासित होने पर वे शब्द भी प्रतिभासित हो सकें । ऐसा कथन हमारे यहाँ पाया जाता है कि कल्पनारोपित जो स्वलक्षण—अन्यापोहलक्षण है अथवा उसका निर्देश्यत्व धर्म भी कल्पनारोपित है, जो कि निर्देश्यत्वशब्द से निर्दिष्ट किया जाता है, अतः इसमें किसी प्रकार का भी विरोध नहीं है ।

जैन — तब तो आपका स्वलक्षण अज्ञेय—शून्यरूप भी हो गया । जिस प्रकार से अक्षविषयक—स्वलक्षण में अभिधान-शब्द नहीं है उसी प्रकार से अक्षज्ञान - निर्विकल्प प्रत्यक्ष में विषयरूप स्वलक्षण भी नहीं है । अतएव उस अक्षज्ञान में प्रतिभासित होने पर भी वह विषय प्रतिभासित नहीं होता

१ सौगतस्य दिप्तागादेः । (व्या० प्र०) २ दृष्टान्तीकरणम् । दृष्टान्तीकृतम् । (दि० प्र०) ३ स्वलक्षणस्य । (दि० प्र०) ४ स्वलक्षणमनिर्देश्यमिति वचनेनान्यापोहस्य निर्देश्यत्वात् । (दि० प्र०) ५ क्षणिकेर्ध्वे । (व्या० प्र०) ६ सौगतः । अनिर्देश्यमित्युदाहरणम् । (दि० प्र०) ७ स्याद्वादी । (दि० प्र०) ८ चक्षुर्निष्ठव्यम् । (दि० प्र०)

नैवास्ति । ततस्तत्र प्रतिभासमानेपि न प्रतिभासेत । शक्यं हि वक्तुं 'यो यत्राधेयतया' नास्ति तदात्मा वा न भवति स तस्मिन् प्रतिभासमानेपि न प्रतिभासते यथाक्षविषये स्वलक्षणे शब्दः । नास्ति चाक्षज्ञाने<sup>१</sup> तथाक्षविषयस्तदात्मा वा न भवति, इति ।

[ बौद्धस्य निर्विकल्पज्ञानं पदार्थेभ्य उत्पद्य तानेव पदार्थान् जानाति तर्हि तज्ज्ञानमिन्द्रियेभ्योपि उत्पद्यते तानीन्द्रियाणि कथं न जानीते ? ]

यदि<sup>३</sup> <sup>४</sup>पुनर्विषयसामर्थ्यादक्षज्ञानस्योत्पादात्तत्र प्रतिभासमाने स प्रतिभासत एवेति मतं तदप्यसम्यक्, करणशक्तेरपि<sup>५</sup> प्रतिभासप्रसङ्गात् । तथा हि । न केवलं विषयबलाद्दृष्टे-

है । हम ऐसा कह सकते हैं कि जो जहाँ पर आधेयरूप से नहीं है अथवा वह तदात्मक भी नहीं है, अतएव वह उसमें प्रतिभासित होने पर भी प्रतिभासित नहीं होता है, जैसे कि अक्ष के विषयभूत स्वलक्षण में शब्द अथवा ज्ञान के प्रतिभासमान होने पर भी अर्थ धर्मों स्वयं प्रकाशित नहीं होता है, क्योंकि वह तदाधेयरूप नहीं है अथवा तदात्मक धर्मरूप नहीं है और अक्षज्ञान में उस प्रकार आधेयरूप से अक्षविषय नहीं है अथवा वह ज्ञान तदात्मक भी नहीं है ।

[ बौद्ध का निर्विकल्पज्ञान पदार्थों से उत्पन्न होकर ही उन पदार्थों को जानता है, तब वह ज्ञान इन्द्रियों से भी उत्पन्न होता है, पुनः इन्द्रियों को क्यों नहीं जानता ? ]

बौद्ध—विषय की सामर्थ्य से अक्षज्ञान का उत्पाद होने से उसमें प्रतिभासमान होने पर वह—स्वलक्षणभूत—अर्थ प्रतिभासित होता ही है ।

जन—यह कथन भी असमीचीन ही है, क्योंकि इन्द्रियों की शक्ति के भी प्रतिभासित होने का प्रसंग प्राप्त हो जावेगा । तथाहि—केवल विषय के बल से ही दर्शन की उत्पत्ति नहीं होती है, अपितु चक्षुआदि शक्ति के सानिध्य से ही दर्शन की उत्पत्ति होती है । (और पुनः विषय के समान चक्षुआदि शक्ति का भी प्रतिभास हो जावेगा, क्योंकि इस प्रकार से विषयज्ञान का उत्पाद होने से, यह हेतु अनैकांतिक हो जाता है, ऐसा समझना चाहिये ।)

बौद्ध—दर्शन विषयाकार का अनुकरण करता है, अतएव उसमें विषय प्रतिभासित होते हैं, न पुनः इन्द्रियाँ । क्योंकि वे विषयाकार का अनुकरण नहीं करती हैं ।

१ स्वा० सौगत्तं प्रति अनुमानमाह । अर्थस्वलक्षणं पक्षोऽक्षज्ञाने प्रतिभासमानेपि तद्विषयस्तदात्मा वा न भवतीति साध्यो धर्मः तदाधारतया तदात्मकतयाऽविद्यमानत्वात् । यो यत्राधेयता इत्यादि व्याप्तिः । (दि० प्र०) २ स्वलक्षणं पक्षोऽक्षज्ञानेन प्रतिभासत इति तदाधेयतया तदात्मकतया वा भावात् । (दि० प्र०) ३ ननु विषयिणि विषयस्याऽप्रासाधेयभावतादात्म्यसम्भवाच्च ज्ञेयत्वं प्रवदामः किं तद्व्युत्पाद्योत्पादकभावादिति परमाशङ्कते । (व्या० प्र०) ४ सो० निर्विकल्पकदर्शनं स्वलक्षणरूपविषयसामर्थ्यादुत्पद्यतेऽतस्तत्र निर्विकल्पकदर्शने प्रतिभासमानेपि सोऽर्थः प्रतिभासत इत्यभिप्रायः । (दि० प्र०) ५ चक्षुरादीन्द्रियसामर्थ्यात् । (दि० प्र०)

रूपतिः, अपि तु चक्षुरादिशक्तेश्च । विषयाकारानुकरणादर्शनस्य<sup>१</sup> तत्र<sup>२</sup> विषयः प्रतिभासते, न पुनः करणं<sup>३</sup>, 'तदाकारानुकरणादिति चेत्तर्हि<sup>४</sup> 'तदर्थवत्करणमनुकर्तुमर्हति, न<sup>५</sup> चार्थ, विशेषाभावात्<sup>६</sup> । 'दर्शनस्य कारणान्तरसद्भावेपि<sup>७</sup> विषयाकारानुकारित्वमेव सुतस्येव पित्राकारानुकरणमित्यपि यातं, 'स्वोपादानमात्रानुकरणप्रसङ्गात्<sup>८</sup> ।<sup>९</sup> विषयस्यालम्बनप्रत्ययतया स्वोपादानस्य च समनन्तरप्रत्ययतया<sup>१०</sup> प्रत्यासत्तिविशेषादर्शनस्य उभयाकारानुकरणे-  
प्यनुज्ञायमाने रूपादिवदुपादानस्यापि विषयतापत्तिः, अतिशयाभावात्, वर्णवैर्या तद्वदविषय-

जैन—तब तो उस अर्थ के समान उन इन्द्रियों को भी अनुकरण करना उचित ही है न कि अर्थ को ही अनुकरण करना उचित है, क्योंकि दोनों में किसी प्रकार की विशेषता अर्थात् अंतर नहीं है ।

बौद्ध— दर्शन में कारणान्तर का सद्भाव होने पर भी विषय के आकार का अनुकरणपना ही है, जैसे कि पुत्र पिता का ही अनुकरण करता है ।

जैन—यह भी कथनमात्र ही है, क्योंकि अपने उपादानमात्र के अनुकरण का प्रसङ्ग प्राप्त हो जावेगा ।

(विषय आधार है और ज्ञान आधेय है) विषय में आलम्बन प्रत्यय होने से और अपने उपादान में समनन्तरप्रत्यय के होने से प्रत्यासत्तिविशेष पाई जाती है । अतः दर्शन में उभयाकार का अनुकरण भी स्वीकार कर लेने पर रूपादि के समान उपादान-निर्विकल्प में भी विषयपने को आपत्ति आ जावेगी, क्योंकि अतिशय—विशेषता का अभाव है । अन्यथा वर्णादिक में भी उपादान के समान अविषयपने का प्रसङ्ग आ जावेगा ।

भावार्थ—बौद्धों का ऐसा कहना है कि "नाकारणं विषयः" अकारण विषय नहीं होता है और स्वलक्षण निर्विकल्प प्रत्यक्ष का विषय है, अतः यह उसका कारण है और अक्षज्ञान यद्यपि इन्द्रियों से उत्पन्न होता है फिर भी वह उनका ज्ञाता नहीं होता है, क्योंकि तदुत्पत्ति के साथ तदाकारता भी चाहिये, यह तदाकारता इन्द्रियजन्य अक्षज्ञान में नहीं है । इसलिये अक्षज्ञान इन्द्रियाकार नहीं होता है । इस पर जैनाचार्यों का कथन है कि जब यह नियम है कि "नाकारणं विषयः" तब अक्षज्ञान में विषय की तरह इन्द्रियों का प्रतिभास क्यों नहीं होता ? क्योंकि जैसे वह निर्विकल्प प्रत्यक्ष—अक्षज्ञान विषयभूत पदार्थों का अनुकरण कर पदार्थाकार होता है, वैसे ही उसे इन्द्रियाकार भी होता

- १ स्वीकरणात् । (दि० प्र०) २ दर्शने । (दि० प्र०) ३ इन्द्रियम् । (व्या० प्र०) ४ करणमनुकर्तुं नार्हति वा । करणम् । (दि० प्र०) ५ स्या० हे सौगत ! तदा तद्दर्शनं यथार्थमनुकरोति । तथेन्द्रियमनुकर्तुं योग्यं भवति । यदि करणं नानुकरोति तदर्थञ्च मा तु कुरुतामुभयश्चकारणत्वेन विशेषाभावात् । (दि० प्र०) ६ ज्ञानम् । (व्या० प्र०) ७ करणमनुकर्तुं नार्हति वा । (व्या० प्र०) ८ अर्थमपि अनुकर्तुं मर्हति न विशेषाभावात् । (व्या० प्र०) ९ प्रत्यक्षस्य । (व्या० प्र०) १० चक्षुरादि दृष्टान्तेऽस्मादि । (व्या० प्र०) ११ पूर्वज्ञानम् । (व्या० प्र०) १२ उपादानकारणाकारस्वीकारान्तर-तथाङ्गीकारे पूर्वक्षणं ज्ञानमुत्तरक्षणज्ञानस्योपादानकारणं भवति तदाकारधारकं भवति इत्यनिष्टापादनम् । (व्या० प्र०) १३ ननु । (व्या० प्र०) १४ संबन्धः । (व्या० प्र०)

त्वप्रसङ्गात् । दर्शनस्य तज्जन्मरूपाविशेषेपि<sup>१</sup> त्वध्यवसायनियमाद्बहिरर्थविषयत्वमित्यसारं, वर्णादाविकोपादानेऽध्यवसायप्रसङ्गात्, अन्यथोभयत्राध्यवसायायोगात् । न हि<sup>३</sup> ४रूपादावध्यवसायः संभवति, तस्य दर्शनविषयत्वोपगमात्, दर्शनस्यानध्यवसायात्मकत्वात्<sup>५</sup> तस्याध्यवसायात्मकत्वे स्वलक्षणविषयत्वविरोधात् ।

[ बौद्धो निर्विकल्पदर्शनस्य सविकल्पज्ञानहेतुं मन्यते तस्य निराकरणं ]

अदोषोयं, प्रत्यक्षस्याध्यवसायहेतुत्वादित्यनिरूपिताभिधानं<sup>६</sup> सौगतस्य, तत्राभिलाषाभावात्<sup>७</sup> । यथैव हि वर्णादावभिलाषाभावस्तथा<sup>८</sup> प्रत्यक्षेपि<sup>९</sup> तस्याभिलाषकल्पनातोऽपोढत्वा-

चाहिये । बौद्धों का कहना कि जंसे पुत्र पिता का ही अनुकरण करता है, वैसे ही ज्ञान अपने विषय का अनुकरण करता है, यह कथन भी अयुक्त है, दर्शन का उपादानकारण समनन्तरप्रत्यय है, अर्थात् पूर्व-क्षण ज्ञान से उत्तरक्षणरूप ज्ञान का होना, समनन्तरप्रत्यय है । क्योंकि पूर्वज्ञानक्षण उस दर्शन का समनन्तरकारण है । अतः इसके भी आकार का अनुकरण दर्शन में होना चाहिये ।

बौद्ध—दर्शन में तज्जन्यरूप समान होते हुये भी अर्थात् तदुत्पत्ति और ताद्रूप्य समान होते हुये भी उसमें अध्यवसाय का नियम होने से बाह्य अर्थ को विषय करना सिद्ध है ।

जैन—यह भी कथन सारभूत नहीं है, वर्णादि के समान उपादानरूप पूर्वज्ञान में भी अध्यवसाय का प्रसंग आ जावेगा, अन्यथा दोनों को ही अध्यवसाय नहीं हो सकेगा, क्योंकि रूपादिक में ही अध्यवसाय विकल्प रूप निश्चय संभव हो ऐसी बात नहीं है, क्योंकि उसमें दर्शन का विषयपना स्वीकार किया गया है ।

दर्शन अनध्यवसायात्मक है और यदि उसको अध्यवसायात्मक—विकल्पात्मक मान लो, तब तो वह दर्शन स्वलक्षण—निर्विकल्परूप स्वलक्षण को ही विषय करता है, यह बात विरुद्ध हो जावेगी ।

[ बौद्ध निर्विकल्प दर्शन को सविकल्पज्ञान का हेतु मानते हैं किन्तु जैनाचार्य उसका निराकरण करते हैं ]

बौद्ध—हमारे यहाँ यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि हमने निर्विकल्परूप प्रत्यक्ष को सविकल्परूप अध्यवसाय का हेतु माना है ।

१ दर्शनं वर्णादिभावेन्द्रियाभ्यां आयते इति तज्जन्मरूपेण विशेषाभावेपि रूपादिकमध्यवस्यतीति नियमात् । दर्शनस्य बहिरर्थविषयत्वं घटते=स्या० इति वचोऽसारं कुतः यथा वर्णादिकोपादानेऽध्यवसायस्तथेन्द्रियोपादानेऽपि अध्यवसायो घटताम् । (दि० प्र०) २ रूपादि । निश्चय । (दि० प्र०) ३ किञ्च । (व्या० प्र०) ४ रूपादिकं विषयः दर्शनं विषयि । नाकारणं विषय इति वचनात् विषयोऽध्यवसायको न भवति अनध्यवसायरूपदर्शनविषयत्वोपगमात् । प्रत्यक्षं कल्पनापोढमिति धर्मकीर्तिनाम् । (व्या० प्र०) ५ दर्शनस्य । (दि० प्र०) ६ उक्तमप्यनुक्तप्रत्यक्षम् । (व्या० प्र०) ७ अभिलाषाभावात् विकल्पो नाम संशय इत्येवं लक्षणस्याभिलाषरहिताभिविकल्पकप्रत्यक्षादुत्पत्तिविरोध इत्यर्थः । (दि० प्र०) ८ रूपादी । (दि० प्र०) ९ व्यावृत्तत्वात् । (दि० प्र०)

दन्तभिलाषात्मकार्थसामर्थ्येनोत्पत्तेः । प्रत्यक्षस्य 'तदभावेऽध्यवसायकल्पनायां' प्रत्यक्षं<sup>१</sup> किं नाध्यवस्येत्<sup>४</sup> ? स्वलक्षणं<sup>५</sup> स्वयमभिलाषशून्यमपि प्रत्यक्षमध्यवसायस्य हेतुन पुनरुपादिरिति कथं सुनिरूपिताभिधानम् ? यदि पुनरविकल्पकादपि<sup>६</sup> प्रत्यक्षाद्विकल्पात्मनोऽध्यवसायस्योत्पत्तिः, प्रदीपादेः कज्जलादिवद्विजातीयादपि<sup>७</sup> कारणात्कार्यस्योत्पत्तिदर्शनादिति मतं तदा<sup>८</sup> तादृशोर्थाद्विकल्पात्मनः<sup>९</sup> प्रत्यक्षस्योत्पत्तिरस्तु, तत एव तद्वत्<sup>१०</sup> । जातिद्रव्यगुणक्रियापरिभाषाकल्पनारहितादर्थार्थकं जात्यादिकल्पनात्मकं प्रत्यक्षं स्यादिति चेत् प्रत्यक्षात्तद्रहिताद्विकल्पः कथं जात्या-

जैन—यह कथन भी ठीक नहीं है क्योंकि उस प्रत्यक्ष में अभिलाष—शब्द के संसर्ग का अभाव है । जिस प्रकार से वर्ण—नीले, पीले आदि में शब्द के संसर्ग का अभाव है, उसी प्रकार से प्रत्यक्ष में भी अभाव है, क्योंकि वह निर्विकल्पप्रत्यक्ष अभिलाष की कल्पना से रहित है और वह अनभिलाषात्मक है, यह बात उस प्रत्यक्ष में सामर्थ्य से सिद्ध है । यदि पुनः उस निर्विकल्पप्रत्यक्ष में शब्द के संसर्ग का अभाव होने पर भी उसे आप अध्यवसाय का हेतु कल्पित करते हैं तब तो उस प्रत्यक्ष को ही अध्यवसायात्मक क्यों नहीं स्वीकार कर लेते हैं ? यदि आप यों कहें कि जो प्रत्यक्ष है वह स्वलक्षणभूत एवं स्वयं अभिलाष से शून्य है, तो भी अध्यवसाय का हेतु है और पुनः रूपादिक अध्यवसाय के प्रति हेतु नहीं हैं, यह कथन भी आपका समीचीन नहीं है ।

बौद्ध—निर्विकल्प प्रत्यक्ष से विकल्पात्मक अध्यवसाय की उत्पत्ति होती है, जैसे कि प्रदीप आदि से कज्जल आदि । अतः विजातीयकारण से भी कार्य की उत्पत्ति देखी जाती है । अर्थात् दीपक भास्वर है, उससे विजातीय कज्जल उत्पन्न होता है तथैव स्वयं अविकल्पात्मक प्रत्यक्ष से नाम जात्यादि संश्रयात्मक विकल्प की उत्पत्ति हो जाती है ।

जैन—यदि ऐसी बात है, तब तो उस प्रकार के विकल्पात्मक स्वलक्षण-अर्थ से प्रत्यक्ष की भी उत्पत्ति हो जावे । विजातीयकारण से कार्य की उत्पत्ति होने से प्रदीप आदि से कज्जल आदि की उत्पत्ति के समान ।

बौद्ध—जाति, द्रव्य, गुण क्रिया और परिभाषा इन पाँच कल्पनाओं से रहित स्वलक्षणभूतार्थ से जात्यादि कल्पनात्मक प्रत्यक्ष कैसे हो सकता है ?

जैन - यदि ऐसी बात है, तब तो उन कल्पनाओं से रहित प्रत्यक्ष से जात्यादि—कल्पनात्मक विकल्प कैसे हो सकता है ? इस प्रकार से प्रश्न तो समान ही होवेगा ।

बौद्ध—विकल्प तो जात्यादि विषयरूप है, अतः यह कोई दोष नहीं है । अर्थात् जात्यादि विषय-

१ अभिलाषाभावे । (दि० प्र०) २ विकल्प । (व्या० प्र०) ३ प्रत्यक्षविषयः स्वलक्षणमिति सम्यन्धः । (व्या० प्र०)

४ अध्यवसायं जनयेत् । (व्या० प्र०) ५ रूपादि । (व्या० प्र०) ६ निर्विकल्पकदर्शनात् । (दि० प्र०) ७ कज्जलादेरिव

तद् इति पा० । (दि० प्र०) ८ विकल्परहितात् । शब्दरहितात् । (दि० प्र०) ९ विकल्पात्मनो जानस्य । (दि० प्र०)

१० यथा प्रदीपादेः सकाशात् कज्जलादेरुत्पत्तिः । (दि० प्र०)

दिकल्पनात्मकः<sup>१</sup> स्यादिति समानः पर्यनुश्रोगः<sup>२</sup> । विकल्पस्य जात्यादिविषयत्वाददोष<sup>३</sup> इति चेन्न, प्रत्यक्षवत्तस्य<sup>४</sup> जात्यादिविषयत्वविरोधात् । यथैव<sup>५</sup> हि प्रत्यक्षस्याभिलापसंसर्गयोग्यता नास्ति तथा 'तत्समनन्तरभाविनोपि'<sup>६</sup> विकल्पस्य, सस्याप्यभिलषणेनाभिलष्यमानेन<sup>७</sup> च जात्यादिना<sup>८</sup> संसर्गसंभवात्, स्वोपादानसजातीयत्वात्<sup>९</sup> । कथमिदानीं विकल्पो जात्यादिव्यवसायीति चेन्न कथमपि । तथा<sup>१०</sup> हि । <sup>११</sup>किञ्चित्केनचिद्विशिष्टं गृह्यमाणं क्वचिद्विशेषण-विशेष्यतत्संबन्धव्यवस्थाग्रहणमपेक्षते<sup>१२</sup> दण्डयत् ।

रूप होने से ही विकल्प विकल्पात्मक है, न कि प्रत्यक्ष से उत्पन्न होने से । इसलिये कोई दोष नहीं है ।

जैन—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि प्रत्यक्ष के समान उस विकल्प में जात्यादि के विषय करने का विरोध है, क्योंकि जिस प्रकार से निर्विकल्प प्रत्यक्ष में शब्द के संसर्ग की योग्यता नहीं है, उसी प्रकार से उसके समनन्तर भावोविकल्प में भी नहीं है । क्योंकि उस विकल्प में भी शब्द और अभिलष्यमान—जात्यादि के संसर्ग का अभाव है, कारण सविकल्प अपने उपादान का सजातीय है । अर्थात् निर्विकल्परूप उपादान से उत्पन्न हुआ विकल्प भी शब्द के संसर्ग से रहित ही होगा, क्योंकि वह अपने उपादान का सजातीय ही होगा ।

बौद्ध—यदि ऐसी बात है, तब तो इस समय जो विकल्प जात्यादि का निश्चय करता है, सो कैसे करता है ?

जैन—नहीं क्योंकि हमारे सिद्धांतानुसार तो विकल्प जात्यादि का व्यवसाय करने वाला ही नहीं सकता । तथाहि—

जब कोई वस्तु किसी जात्यादिरूप से विशिष्ट ग्रहण करने में आती है, तो वह "बण्डी" इस प्रत्यय की तरह कहीं पर विशेष्य की और विशेषण-विशेष्य रूप सम्बन्ध की व्यवस्था के ग्रहण की अपेक्षा रखती है । कहा भी है—

१ सौमतेन स्वयमभिलापरहितत्वादेव स्वलक्षणादर्थाविकल्पोत्पत्त्यनभ्युपगमात् । जातिक्रियाद्रव्यगुणसंज्ञाः पञ्चैव कल्पना अश्वो जाति सितोषण्टीकतलाख्यो यथा क्रममित्येवं कल्पनारहितात् । (दि० प्र०) २ ननु चेतनासिद्विकल्पकाच्चेतनस्य विकल्पोत्पत्तिर्यदृते । नत्वचेतनादर्थादिति न न मन्तव्यम् । अचेतनादर्थाच्चेतननिर्विकल्पकस्याप्यनुत्पत्तिप्रसङ्गात् । (दि० प्र०) ३ जात्यादिविषयत्वादेव विकल्पत्वं न तु जात्यादिविकल्पनात्मकत्वादतो नोक्त दोष इत्यर्थः । (दि० प्र०) ४ विकल्पस्य । (दि० प्र०) ५ व्यक्तीकरणम् । (दि० प्र०) ६ प्रत्यक्षम् । (दि० प्र०) ७ अभिलापसंसर्गयोग्यतास्ति । (दि० प्र०) ८ अर्थेन । (दि० प्र०) ९ आदिशब्देन द्रव्यगुणक्रियाणां ग्रहणम् । अभिलापस्य तु स्वयमेव ग्रन्थकारैरभिलषतेनेति प्रामाण्यं पृथगुद्दिष्टत्वात् । (दि० प्र०) १० निर्विकल्पकेन सजातीयत्वं विकल्पस्यातश्च प्रत्यक्षवद्विकल्पोप्यभिलापाभाव इति भावः । प्रत्यक्षलक्षणस्वकीयोपादानमदृशत्वाद्विकल्पस्य । (दि० प्र०) ११ सौमतीयं वचः । (दि० प्र०) १२ अतः स्याद्वादी सौमताभिप्रायेण सौमतसिद्धान्तमुल्लेख्यं विकल्पज्ञानं जात्यादिव्यवसायकं कथमपि न भवतीति दर्शयति । (दि० प्र०) १३ निश्चयम् । (दि० प्र०)

“विशेषणं विशेष्यं च सम्बन्धं<sup>१</sup> लौकिकीं स्थितिम् । गृहीत्वा संकलयेतत्तथा प्रत्येति नान्यथा”<sup>२</sup>

इति वचनात्<sup>३</sup> । न चायमियतो व्यापारान् कर्तुं समर्थः; प्रत्यक्षबलोत्पत्तेरविचारक-  
त्वात् प्रत्यक्षवत् । कश्चिदाह ‘नैसर्गिकं दूषणं’, प्रत्यक्षादिव्यावसायीत्यर्थनभ्युपगमात्<sup>४</sup>,  
शब्दार्थविकल्पवासनाप्रभवत्वान्मनोविकल्पस्य तद्वासनाविकल्पस्यापि<sup>५</sup> पूर्वतद्वासनाप्रभवत्वा-  
दित्यनादित्वाद्वासनाविकल्पसन्तानस्य प्रत्यक्षसंतानादन्यत्वात्<sup>६</sup>, विजातीयाद्विजातीयस्योदया-  
निष्ठेः, तद्विष्टौ<sup>७</sup> यथोदितदूषणप्रसङ्गात्<sup>८</sup> इति, तस्याप्येवंवादिनः शब्दार्थविकल्पवासना-

इत्युक्तार्थ—विशेषण और विशेष्य इन दोनों के सम्बन्धरूप लौकिकी स्थिति को ग्रहण करके  
पुनः विकल्पज्ञान की संयोजना करके विशेषण विशेष्य आदि प्रकार से निर्णय करता है, अन्यथा नहीं  
करता है ।

यह विकल्प तो इतने व्यापार को करने में समर्थ नहीं है, क्योंकि वह प्रत्यक्ष के बल से उत्पन्न  
होता है, इसलिये अविचारक है । प्रत्यक्ष के समान अर्थात् प्रत्यक्षज्ञान क्षणिक है, इसलिये अविचारक  
है । सविकल्प भी क्षणिक है और इसी कारण से प्रत्यक्ष के समान वह भी अविचारक है ।

अब वैभाषिक या सौतांत्रिक बौद्ध कहते हैं—

बौद्ध—हमारे यहाँ यह दूषण नहीं आता है, क्योंकि हमने प्रत्यक्ष से ही अध्यवसाय की उत्पत्ति  
नहीं मानी है ।

मनोविकल्प, शब्द के अर्थ की विकल्परूप वासना से उत्पत्ति होती है और वासनाविकल्प भी  
पूर्ववत् वासनाविकल्प से उत्पन्न होता है, अतएव उस वासनाविकल्प की संतानपरम्परा अनादि है  
और वह प्रत्यक्ष संतान से भिन्न है, क्योंकि विजातीय से विजातीय की उत्पत्ति मानना इष्ट नहीं है  
और यदि मान लें तब तो उपर्युक्त दूषणों का प्रसंग प्राप्त हो जावेगा ।

जैन—तब तो उस विकल्प की शब्दार्थ विकल्प वासना से उत्पत्ति मानने से निर्विकल्प प्रत्यक्ष  
में रूपादिविषय का नियम कैसे सिद्ध होगा ? और यदि ऐसा मानोगे, तो मनोराज्यादिविकल्प से भी  
रूपादिविषय का नियम सिद्ध हो जावेगा ।

भाषार्थ—बौद्ध लोग क्षणिकनिर्विकल्प प्रत्यक्ष से विकल्प की उत्पत्ति मानते हैं, तब तो जिस  
प्रकार वह निर्विकल्प क्षणिक है, उसी प्रकार से विकल्प भी क्षणिक सिद्ध होता है, उसे पुनः यह  
विचार करने का अवसर ही नहीं है कि यह विशेष्य है और यह इसका विशेषण है और इन दोनों में  
परस्पर विशेषण विशेष्य सम्बन्ध है इतना विचार कर सके और तद्विविष्ट वस्तु के ग्रहण करने में

१ इति । (दि० प्र०) २ अग्रहणादिप्रकारेण । (दि० प्र०) ३ आशङ्क्य । (दि० प्र०) ४ प्रत्यक्षादिविकल्पोत्प-  
त्तिर्न घटत इत्येतत् । (दि० प्र०) ५ प्रत्यक्षादे वा व्यवसाय उत्पद्यते इति सीगतानामनङ्गीकारात् । विकल्पो  
जात्यादिव्यवसायी कथमपि न स्यादित्येतद्दूषणमस्माकं न । (दि० प्र०) ६ वासनाहेतु विकल्पस्य । (दि० प्र०)  
७ निर्विकल्पकात् । (दि० प्र०) ८ तस्य प्रत्यक्षसन्तानरूपविजातीयाद्विजातीयविकल्पोदयस्य इकारे । (दि० प्र०)  
९ उभयोरपि विकल्पयोरश्रबुद्धेः सकाशादुत्पत्त्यभावाविशेषात् । (दि० प्र०)



प्रभवात्तत्तस्ति<sup>१</sup> कथमक्षबुद्धेः रूपादिविषयत्वनियमः सिध्येत् ? मनोराज्यादिविकल्पादपि<sup>२</sup> तत्सिद्धिप्रसङ्गात् । अथाक्षबुद्धिसहकारिणो वासनाविशेषादुत्पन्नाद्रूपादिविकल्पादक्षबुद्धे रूपादिविषयत्वनियमः कथ्यते<sup>३</sup> । तत्<sup>४</sup> एवाक्षबुद्धिविषयत्वनियमोप्यभिधीयताम् । अतथा रूपादिविषयत्वनियमोपि मा<sup>५</sup> भूदविशेषात् ।

[ बौद्धो निर्विकल्पदर्शनं शब्दसंसर्गरहितं मन्यते तस्य विचारः क्रियते ]

रूपाद्युल्लेखित्वाद्विकल्पस्य तद्वत्त्वात् तदभ्युपगमे वा प्रत्यक्षबुद्धेरभिलापसंसर्गोपि तद्वद-

व्यापार कर सके अतः क्षणिक निर्विकल्प प्रत्यक्ष से विकल्प को उत्पन्न हुआ मानने पर वह कथमपि नाम जात्यादि से विशिष्ट वस्तु का व्यवसायात्मक निश्चय करने वाला नहीं हो सकता है । और यदि विकल्प की उत्पत्ति केवल निर्विकल्प प्रत्यक्ष से न मानकर शब्दार्थ की विकल्पवासना से मानने में आवे तो यह पक्ष भी निर्दोष नहीं है, क्योंकि इस मान्यता में निर्विकल्पप्रत्यक्ष में रूपादि को विषय करने का नियम सिद्ध नहीं होता है । तात्पर्य यह है कि निर्विकल्पप्रत्यक्ष जिसमें विकल्प को उत्पन्न करता है वही उसका विषय होता है । आपका यह नियम ध्वस्त हो जाता है, क्योंकि यहाँ तो आपने निर्विकल्पप्रत्यक्ष से विकल्परूप अध्यवसाय की उत्पत्ति न मानकर शब्दार्थ विकल्पवासना से मानी है ।

**बौद्ध**—निर्विकल्पज्ञान है सहकारी कारण जिसमें ऐसी वासना विशेष से उत्पन्न हुआ जो रूपादि विकल्प है, उससे प्रत्यक्षज्ञान में रूपादिक को विषय करने का नियम सिद्ध हो जावेगा ।

**जैन**—तब तो उसी हेतु से निर्विकल्पज्ञान को विषय करने का नियम भी स्वीकार कर लेना चाहिये । अर्थात् उत्तरक्षण का निर्विकल्पप्रत्यक्ष अपने उपादानरूप पूर्वक्षण के निर्विकल्पज्ञान को विषय करता है, ऐसा मान लेना चाहिये, परन्तु आप तो ऐसा मान नहीं सकते हैं, क्योंकि इस मान्यता में क्षणिकवाद का निषेध हो जावेगा । आप तो कहते हैं कि उपादानरूप निर्विकल्पज्ञान अपने कार्यरूप उत्तर के निर्विकल्पज्ञान को उत्पन्न कर विनष्ट हो जाता है और इसी के ऊपर यह आक्षेप है कि जब निर्विकल्पज्ञान से सहकृत, वासना, विशेष से उत्पन्न हुये रूपादिविकल्प से निर्विकल्पज्ञान में रूपादि को विषय करने का नियम माना जावेगा, तब तो इसी से यह भी मान लेना चाहिये कि जिस निर्विकल्प बुद्धि से वह वासना विशेष सहकृत हुआ है, वह उपादानरूप पूर्व निर्विकल्पज्ञान भी उस उत्तरक्षण के निर्विकल्पज्ञान का विषय होना चाहिये और यदि ऐसी बात मान्य नहीं है, तब तो रूपादि को विषय करने का नियम भी उत्तरक्षण निर्विकल्पबुद्धि में कैसे बन सकता है ? क्योंकि दोनों ही समान हैं ।

[ बौद्धों ने निर्विकल्पदर्शन को शब्द के संसर्ग से रहित माना है इस पर विचार ]

**सौगत**—विकल्प रूपादिकों का ही उल्लेखी होता है निर्विकल्पज्ञान के उपादान का नहीं । अर्थात् अक्षबुद्धि (निर्विकल्पज्ञान) रूपादिकों की ही विषय करने के नियम वाला है, अपने उपादान को

१ अत्रिकल्पकादर्थोद्विकल्पात्मनः प्रत्यक्षस्योत्पत्तिरस्थितिः । (दि० प्र०) २ बसः । (वि० प्र०) ३ न तु मनोराज्यादिविकल्पाद्व्यस्योत्पत्त्यात् । (दि० प्र०) ४ उपादानभूतः । बसः । (व्या० प्र०) ५ विकल्पात् । (व्या० प्र०)

नुमीयेत, 'तद्विकल्पस्याभिलापेनाभिलप्यमानजात्याद्युल्लेखितयोत्पत्त्यन्यथानुपपत्तेः, तदनुमिता-  
च्चाक्षबुद्धयभिलापसंसर्गाद्विषयाद्यभिलापसंसर्गोऽनुमीयेत । इति शब्दाद्वैतवादिमतसिद्धिः । न च सौ-  
गतो दर्शनस्याभिलापसंसर्गमुपैति<sup>२</sup> । तस्मादयं<sup>३</sup> किञ्चित्पश्यन्<sup>४</sup> तत्सदृशं<sup>५</sup> पूर्वं<sup>६</sup> दृष्टं न  
स्मर्तुमर्हति<sup>७</sup> तन्नामविशेषास्मरणात्<sup>८</sup> ।<sup>९</sup> तदस्मरणैव तदभिधानं<sup>१०</sup> प्रतिपद्यते । तदप्रति-  
पत्तौ तेन तन्न<sup>११</sup> योजयति । तदयोजयन्नाध्यवस्यतीति न क्वचिद्विकल्पः शब्दो वेत्यविकल्पा-  
भिधानं जगत्स्यात् । ननु च नामसंश्रयस्य<sup>१२</sup> विकल्पस्य प्रत्यात्मवेद्यत्वात्<sup>१३</sup> सर्वेषामभिधानस्य  
च श्रोत्रबुद्धौ प्रतिभासनात्कथमविकल्पाभिधानं जगदापद्येतेति चेन्न, तत्राप्यध्यवसायासंभवात् ।

नहीं, कारण कि उपादान में विकल्प का उत्थान नहीं होता । विकल्प का उत्थान तो रूपादि में ही होता है ।

जैन—उस विकल्प के बल से अथवा उसकी वासना के बल से उत्तरक्षणवर्ती निर्विकल्पज्ञान उपादानरूप पूर्वक्षणवर्ती निर्विकल्पज्ञान को विषय करता है, ऐसा नियम स्वीकार करने पर प्रत्यक्ष बुद्धि—निर्विकल्पज्ञान में अभिलाप—शब्द का संसर्ग भी तद्वत् अनुमित करना पड़ेगा ।

भावार्थ—बौद्धों ने तो निर्विकल्पदर्शन में शब्द का संसर्ग नहीं माना है, उसका संसर्ग तो केवल उन्होंने सविकल्प प्रत्यक्ष में ही माना है । उनके यहाँ प्रत्यक्ष के दो भेद हैं (१) सविकल्प, (२) निर्विकल्प । सविकल्पप्रत्यक्ष नामजात्यादि शब्दों के संसर्ग से युक्त है, निर्विकल्प प्रत्यक्ष नहीं । इस पर जैनों का यह कथन है कि रूपादिकों का उल्लेख करने वाले विकल्प के बल से यदि निर्विकल्प-प्रत्यक्ष में रूपादिकों को विषय करने का नियम किया जावे, तब तो विकल्प में नामजात्यादिरूप शब्द के संसर्ग से रूपादिकों को विषय करने के नियम की तरह निर्विकल्पप्रत्यक्ष में भी शब्द के संसर्ग का अनुमान करना पड़ेगा । नहीं तो विकल्प में शब्द का संसर्ग नहीं मानना चाहिये एवं जब विकल्प में शब्द का संसर्ग है, तब विकल्प के उत्पादक निर्विकल्पप्रत्यक्ष में भी शब्द का संसर्ग है, यह अनुमित होता है ।

तब तो निर्विकल्पप्रत्यक्ष में अनुमित अभिलाप के संसर्ग से उसके विषयभूत रूपादिकों में भी अभिलाप शब्द के संसर्ग का अनुमान करना पड़ेगा एवं इस प्रकार से शब्दाद्वैतवाद की सिद्धि हो

१ अक्षबुद्धेर्निर्विकल्पकज्ञानस्य रूपादिविषयत्वनियमोऽस्ति प्रत्यक्षेऽभिलाषाभावो विकल्पेऽपि तस्मात्सु । (व्या० प्र०)

२ निर्विकल्पकस्य । (व्या० प्र०) ३ अदोषोऽयं प्रत्यक्षस्य व्यवसायहेतुत्वादित्यत्र प्रकारान्तरेण दूषणमाहुस्तरमादय-मिति । (दि० प्र०) ४ सौगतः । (दि० प्र०) ५ दृश्यमानः । (दि० प्र०) ६ दृष्टं निर्विकल्पकेन । (दि० प्र०) ७ पूर्व-दृष्टाभिधानम् । (दि० प्र०) ८ सर्वपकारेणापि वस्तुनोऽनुभवस्याभिलापसंसर्गासंभवा तन्नामविशेषास्मरणं स्यादि-त्याकुतम् । तन्नामविशेषास्मरणं पुनः किं वाऽस्य वाचकं स्यादित्युल्लेखं प्रतिपत्तव्यम् । (दि० प्र०) ९ पूर्वदृष्टस्मरणम् । (दि० प्र०) १० दृश्यमानम् । (दि० प्र०) ११ दृश्यमानम् । (व्या० प्र०) १२ शब्दायतस्य । (दि० प्र०) १३ प्रत्यक्षं कल्पनापोढं प्रत्यक्षेणैव सिद्धयति । प्रत्यात्मवेद्यः सर्वेषां विकल्पो नाम संश्रय इत्यभिधानम् । (दि० प्र०)

न<sup>१</sup> च<sup>२</sup> स्वसंवेदनेनेन्द्रियप्रत्यक्षेण वा निर्विकल्पकेन विकल्पोभिधानं वा<sup>३</sup> गृहीतं नाम, अति-  
प्रसङ्गात् । तथा हि । 'बहिरन्तर्वा'<sup>४</sup> गृहीतमध्यगृहीतकल्पं 'क्षणक्षयस्वलक्षण'<sup>५</sup> संवेदना-  
दिषत्<sup>६</sup> । तथा चाघातमचेतनत्वं<sup>७</sup> जगतः<sup>१०</sup> ।

जावेगी किन्तु आप बौद्धों ने तो निर्विकल्पदर्शन में शब्दों का संसर्ग माना ही नहीं है और जब दर्शन शब्द के संसर्ग से रिक्त है, तो इस प्रकार की भान्यता में क्या दोष आता है ? वह बताते हैं—

तब तो यह बौद्ध किंचित् नीलादिकवस्तु को देखते हुये पूर्व में देखी गई उसके सदृशवस्तु का स्मरण नहीं कर सकता है, क्योंकि उसका नामविशेष स्मरण नहीं है और जब उस पदार्थ की उसे स्मृति नहीं होगी, तब उसका नाम क्या है ? यह भी वह नहीं जान सकेगा और अज्ञान अवस्था में अभिधान—नाम के साथ पदार्थ की योजना नहीं हो सकेगी और योजना के न होने पर किसी का इसे अध्यवसाय—निश्चय भी नहीं होगा । इस प्रकार किसी भी पदार्थ में न तो किसी भी तरह का विकल्प जागृत होगा और न किसी भी तरह के शब्द का संसर्ग ही सिद्ध होगा । अतः जगत् को विकल्प और शब्द से रहित मानने का प्रसंग प्राप्त हो जावेगा ।

सौगत—नाम संश्रय और विकल्प तो प्रत्येक आत्मा को अनुभव में आ रहा है और शब्द तो सभी मनुष्यों को श्रोत्रेन्द्रियज्ञान में प्रतिभासित हो रहा है, तब पुनः विकल्प और शब्द से रहित यह जगत् कैसे हो सकता है ?

जैन—ऐसा नहीं कहना क्योंकि उन विकल्प और शब्द का भी अध्यवसाय—निश्चय असंभव है क्योंकि स्वसंवेदनप्रत्यक्ष अथवा निर्विकल्पद्वन्द्वियप्रत्यक्ष के द्वारा विकल्प अथवा शब्द ग्रहण नहीं किये जा सकते अन्यथा अतिप्रसंग दोष आ जावेगा । अर्थात् निर्विकल्प के द्वारा सविकल्प का ग्रहण मानने पर तो उसी निर्विकल्प के द्वारा ही स्थिर, स्थूल, साधारण आकार का ग्रहण पूर्व में हो हो जावे, क्या बाधा है ? यह अतिप्रसंग आता है ।

तथाहि—निर्विकल्पप्रत्यक्ष के द्वारा विषय किये गये बहिरंग अथवा अंतरंग पदार्थ भी अविषय किये हुये के सदृश ही रहेंगे, जैसे कि एक क्षणवर्तीवस्तु को जानने वाला ज्ञान न जानने के सदृश ही है । पुनः विकल्प और शब्द असंभव होने से गृहीतवस्तु भी अगृहीतसदृश हो जाने से यह जगत् अचेतनस्वरूप ही हो जाता है ।

१ विकल्पोभिधानं वा तद्गृहीतं मासुदपिनु निर्विकल्पकस्य केन प्रत्यक्षेण गृहीतं स्वादित्याशंकायामाहुः न चेदित्यादि । (दि० प्र०) २ निर्विकल्पकेन । (दि० प्र०) ३ स्थिरस्थूलसाधारणं रूपम् । (व्या० प्र०) ४ बहिस्तत्त्वं नीलादि-  
कमन्तस्तत्त्वं सुखादिकम् । (दि० प्र०) ५ शब्दः । (व्या० प्र०) ६ अध्यवसायसंभवत्वादिति हेतुः । (दि० प्र०)  
७ क्षणक्षयस्वलक्षणार्थम् । (दि० प्र०) ८ क्षणक्षयस्वलक्षणसंवेदनं यथाऽगृहीतकल्पमुत्तरकाले क्षणक्षयस्वलक्षण-  
विषयत्वेन विकल्पातीते । (दि० प्र०) ९ निर्विकल्पकेन गृहीतस्याप्यगृहीतकल्पत्वात् । (दि० प्र०) १० ज्ञान-  
रहितत्वम् । (दि० प्र०) परिज्ञानाभावात् । (व्या० प्र०)

[ बौद्धमते स्मृतेविचारः ]

ननु च नास्मन्मते <sup>१</sup>किञ्चित्किञ्चिन्नीलादिकं सुखादिकं वा संविदन्पूर्वसंविदितं तत्सदृशं तन्नामविशेषं च क्रमशः स्मरति, पूर्वसंविदितसंवेद्यमाननामविशेषयोः<sup>२</sup> सहैव स्मरणात्, तत्संस्कारयोर्दृश्यदर्शनादेव सहप्रबोधात्<sup>३</sup> । ततोयं<sup>४</sup> किञ्चित्पश्यन्नेव तत्सदृशं पूर्वदृष्टं स्मर्तुमर्हति<sup>५</sup>, तदैव <sup>६</sup>तन्नामविशेषस्मरणात्, ततस्तस्येदं<sup>७</sup> नामेत्यभिधानप्रतिपत्तेः, ततस्तस्य दृश्यस्याभिधानेन योजनाद्व्यवसायघटनान्तं<sup>८</sup> किञ्चिद्दूषणमित्यपरः<sup>९</sup>, तस्यापि<sup>१०</sup> दृश्यमाननाम्नः पूर्वदृष्टस्य च तत्सदृशस्य सह स्मृतिरयुक्तैव, स्वमतविरोधात्, सकृत्स्मृतिद्वयानभ्युपगमात् कल्पनयोर्बाध्यबाधकभावात् । कथमन्यथाऽश्वं विकल्पयतोपि गोदर्शने <sup>११</sup>कल्पनाविरह-

[ बौद्ध मत में स्मृति पर विचार ]

बौद्ध—हमारे मत में कोई भी व्यक्ति किसी भी नीलादिक अथवा सुखादिकों का संवेदन करते हुये पूर्व में संविदित-जाने हुये एवं तत्सदृश, तन्नाम विशेष को क्रम से स्मरण नहीं करता है, किन्तु पूर्व संविदित और संवेद्यमान नामविशेष का एक साथ ही स्मरण कर लेता है, क्योंकि उन पूर्व संविदित और संवेद्यमान नामविशेष के संस्कार का दृश्य दर्शन होने से ही एकसाथ बोध हो जाता है, अतएव हम लोग किञ्चित् नीलादिवस्तु को देखते हुये ही पूर्व में देखे हुये उसके सदृश का स्मरण कर सकते हैं, क्योंकि उसी काल में ही उसके नामविशेष का स्मरण आ जाता है और पुनः उसका "यह नाम है" इस प्रकार से अभिधान का ज्ञान हो जाता है । इसीलिये उस दृश्य का नाम से संबंध हो जाता है और उसका व्यवसाय—निश्चय भी हो जाता है, इसलिये हमारे यहाँ कोई दोष नहीं आता है । अर्थात् आपने जो कहा कि जगत् विकल्परहित अचेतन हो जाता है, यह दोष हमारे यहाँ नहीं है ।

जैन—ऐसी मान्यता में भी आपके यहाँ दृश्यमान नाम और पूर्व में देखे गये तत्सदृश नाम की एक साथ स्मृति अयुक्त हो है, क्योंकि स्वमत में विरोध आ जाता है, आपने भी एक साथ वर्तमान और अतीतविकल्परूप दो स्मृतियाँ स्वीकार नहीं की हैं और यदि दृश्यमान नाम और पूर्वदृष्ट इन दोनों के स्मृति की एकसाथ कल्पना करें तब तो बाध्य-बाधक दोष उपस्थित हो जाता है । अन्यथा दोनों के दर्शन होने पर अश्व का विकल्प करते हुये भी कल्पना से रहित की सिद्धि कैसे हो सकेगी ? अतएव पूर्वदृष्ट और दृश्यमान नामविशेष में ही नहीं किन्तु "नीलम्" इस प्रकार के नाममात्र में भी एकसाथ स्मृति अयुक्त ही है ।

१ ता । (व्या० प्र०) २ ता । (व्या० प्र०) ३ दुग्धत् प्रादुर्भावात् । उदयात् । (दि० प्र०) ४ सौगतः । (दि० प्र०) ५ यतस्तच्च कुतः । (व्या० प्र०) ६ अर्थः । (व्या० प्र०) ७ नीलादेः क्षणस्य । (व्या० प्र०) ८ निश्चयः । (व्या० प्र०) ९ सौत्रान्तिको वैभाषिको वा । (व्या० प्र०) १० सौगतस्य । (दि० प्र०) ११ अश्वं विकल्पयतो गोदर्शनकाले गवि विकल्पोप्यस्त्येवोत्तरकाले गोविस्मरणान्यथानुपपत्तेरिति वदन्तं प्रतिवादिनं प्रति गवि विकल्पो नास्त्येव विकल्पद्वयस्य बाध्यबाधकभावसद्भावास्ति या गोदर्शने कल्पनाविरहसिद्धिः समर्थ्यते सा कथमिति भावः । (दि० प्र०)

सिद्धिः ? नामभात्रेपि सहस्मृतिरयुक्तैव, 'तन्नामाक्षरमात्राणामपि क्रमशोध्यवसानात्, अध्य-  
वसानाभावे स्मृतेरयोगात् क्षणक्षयादिवत् । न च<sup>२</sup> युगपत्तदध्यवसायः संभवति, विरोधात्<sup>३</sup> ।  
अन्यथा<sup>४</sup> संकुला<sup>५</sup> प्रतिपत्तिः स्यात्, नीलमिति नाम्नि नकारादीनां<sup>६</sup> परस्परविविक्तानाम-  
प्रतिपत्तेः । 'किञ्चाभिलापस्य<sup>७</sup> पदलक्षणस्य<sup>८</sup> तदंशानां<sup>१०</sup> च वर्णानां नामविशेषस्य स्मृता-  
वसत्यां व्यवसायः<sup>११</sup> स्यात् सत्यां वा ? नाम्नो नामान्तरेण विनापि स्मृतौ केवलार्थव्यवसायः  
किं न स्यात् ? स्वाभिधानविशेषापेक्षा एवार्था निश्चयैर्व्यवसीयन्ते इत्येकान्तस्य त्यागात्,  
नाम्नः स्वलक्षणस्यापि<sup>१२</sup> स्वाभिधानविशेषानपेक्षस्यैव व्यवसायवचनात् । तदवचने<sup>१३</sup> वा न  
क्वचिद्व्यवसायः स्यात्, नामतदंशानामध्यवसाये नामार्थव्यवसायाप्रोभात् ।

उस नाम के अक्षर, मात्राएँ, स्वर आदिकों का क्रम से ही अध्यवसान—निर्णय होता है, क्योंकि  
युगपत् निर्णय का अभाव होने से स्मृति का योग नहीं बन सकता है, जैसे कि क्षणक्षय आदि में  
निर्णय का अभाव होने से स्मृति नहीं हो सकती है, क्योंकि उसका उसी काल में नाश हो जाता है ।  
अतः युगपत् उनका अध्यवसाय संभव नहीं है, क्योंकि विरोध आता है । अन्यथा संकुल-मिश्रित हो  
प्रतिपत्ति होगी ।

“नील” इस नाम के लेने पर नकार आदिकों का परस्पर में भिन्न-भिन्न रूप से ज्ञान नहीं होगा,  
क्योंकि उनका युगपत् अध्यवसाय हो जावेगा । और दूसरी बात यह है कि पदलक्षण अभिलाप और  
उसके अंश वर्णों के नाम विशेष की स्मृति के नहीं होने पर अभिलाप—शब्द का व्यवसाय होता  
है, या स्मृति के होने पर ?

यदि नाम—पदलक्षण अभिलाप का नामान्तर के बिना स्मरण हो जाता है, तब तो शब्द के  
रहितपने से ही केवल अर्थ का निर्णय क्यों नहीं हो जावेगा ? क्योंकि अपने नामविशेष की अपेक्षा  
रखने वाले ही अर्थ निश्चय—विकल्पों के द्वारा निश्चित किये जाते हैं । इस प्रकार के सौमत्मत के  
एकांत कथन का त्याग हो जाता है क्योंकि आप सौगत के यहाँ तो स्वलक्षणरूप नाम का अपने शब्द-  
विशेष की अपेक्षा के बिना ही निश्चय स्वीकार किया है । अर्थात् स्वलक्षणरूप नाम का अभाव  
होने पर भी व्यवसाय माना है । अथवा यदि आप नाम का व्यवसाय स्वीकार नहीं करेंगे, तब तो  
कहीं पर भी निश्चय नहीं होगा, क्यों नाम—शब्द और उसके अंश—स्वर, व्यञ्जन का निश्चय न  
होने पर नाम के अर्थ का निर्णय भी कभी नहीं हो सकेगा ।

१ नीलवस्तुः । (दि० प्र०) २ आशङ्क्य । (व्या० प्र०) ३ घकारटकाराध्यवसाययोः परस्परं विरोधात् ।  
(व्या० प्र०) ४ विरोधस्यानङ्गीकारः । (व्या० प्र०) ५ संकीर्णाः । (दि० प्र०) ६ नकारेकारलकाराऽकारानु-  
स्वराणां पञ्चवर्णानाम् । (दि० प्र०) ७ अदोषोयं प्रत्यक्षस्याध्यवसायहेतुत्वादित्यत्रैव दूषणान्तरमाहुः किञ्चा-  
भिलापस्येति । (दि० प्र०) ८ शब्दस्य । (व्या० प्र०) ९ स्वलक्षणस्य इति पा० । (दि० प्र०) १० शब्दा-  
भिधेयस्य । अभिलापः । (दि० प्र०) ११ स्मृतिरूपो व्यवसायः स्मृत्यन्तरे सति स्यादसति वा इत्यभिप्रायोऽस्य वाक्यस्याव-  
गन्तव्यः नाम्नो नामान्तरेण विनापि स्मृतादित्युत्तरत्र वक्ष्यमाणत्वात् । (दि० प्र०) १२ अर्थस्य । (दि० प्र०)  
१३ तस्य स्वाभिधानविशेषानपेक्षस्यानङ्गीकारे क्वचिदर्थः । (दि० प्र०)

[ बौद्धमते निर्विकल्पादर्शनस्याव्यवसायात्मकत्वे सकलप्रमाणप्रमेयविलोपः स्यात् ]

दर्शनेनाव्यवसायात्मना <sup>१</sup>दृष्टस्याप्यदृष्टकल्पत्वात्<sup>२</sup> सकलप्रमाणाभावः, प्रत्यक्षस्याभावे-  
नुमानोत्थानाभावात् । तत एव सकलप्रमेयापायः, प्रमाणापाये प्रमेयव्यवस्थानुपपत्तेः । इत्य-  
प्रमाणप्रमेयत्वमशेषस्यावश्यमनुषज्येत<sup>३</sup> । तदुक्तं न्यायविनिश्चये—

“अभिलापतदंशानामभिलापविवेकतः<sup>४</sup> । अप्रमाणप्रमेयत्वमवश्यमनुषज्यते” इति,

अभिलापविवेकत इत्यभिलापरहितत्वादिति व्याख्यानात् । प्रथमपक्षोपक्षिप्तदोषपरिजि-  
हीर्षया<sup>५</sup> तन्नामान्तरपरिकल्पनायामनवस्था । नामतदंशानामपि नामान्तरस्मृतौ हि व्यवसाये  
नामान्तरतदंशानामपि व्यवसायः स्वनामान्तरस्मृतौ सत्यामित्यनवस्था स्यात् । तथा च

[ बौद्ध मत में निर्विकल्पदर्शन को व्यवसायात्मक न मानने से सकल प्रमाण, प्रमेय का लोप हो जाता है । ]

अव्यवसायात्मक निर्विकल्पदर्शन के द्वारा जाने गये पदार्थ भी नहीं जाने गये के सदृश ही हैं, अतएव सकल प्रमाणों का अभाव ही हो जावेगा और प्रत्यक्षप्रमाण का अभाव हो जाने से तो अनुमान की उत्पत्ति भी नहीं हो सकेगी और उसी प्रकार से संपूर्ण प्रमेय-प्रमाण के द्वारा जाननेयोग्य पदार्थ का भी अभाव हो जावेगा, क्योंकि प्रमाण के अभाव में प्रमेय की व्यवस्था बन नहीं सकती है और इसीलिये यह जगत् अवश्य ही संपूर्ण प्रमाण और प्रमेय से रहित हो जावेगा । तथैव न्यायविनिश्चय ग्रन्थ में कहा भी है—

श्लोकार्थ—शब्द और उसके अंश—स्वर, व्यञ्जन के नाम से रहित होने से अवश्य ही यह जगत् प्रमाण और प्रमेय से शून्य हो जावेगा । अर्थात् “अभिलाप विवेकतः” इसका अर्थ “अभिलाप से रहित होने से” ऐसा करना चाहिये ।

स्मृति के नहीं होने पर इस प्रथमपक्ष में दिये गये दूषणों को दूर करने की इच्छा से उसमें नामान्तर की परिकल्पना करने से अनवस्था दोष आ जाता है । अर्थात् नाम और उसके अंश वर्णों के नामविशेष की स्मृति के होने पर निश्चय होता है, ऐसा द्वितीय विकल्प के करने पर नाम और उसके अंशों का भी नामान्तर की स्मृति के होने पर ही व्यवसाय होता है, पुनः नामान्तर और उसके अंशों का भी व्यवसाय अपने नामान्तर की स्मृति के होने पर होता है—इत्यादि अनवस्था आ जाती है ।

इस प्रकार से भी यह जगत् प्रमाण-प्रमेय की व्यवस्था से रहित ही हो जावेगा और इस जगह भी वही उपर्युक्त कारिका लगा लेनी चाहिये मात्र “अभिलाप विवेकतः” का अर्थ “अभिलाप का निश्चय होना” करना चाहिये यथा—

१ ता । (दि० प्र०) २ ततः । (व्या० प्र०) ३ जगत् । (व्या० प्र०) ४ अभिलापाभावः कुतः । (व्या० प्र०)

५ प्रमाणप्रमेयाभावलक्षण । (व्या० प्र०)

‘तदेवाप्रमाणप्रमेयत्वमवश्यमनुषज्येत । अत्रापीयमेव कारिका योज्या, ‘अभिलापविवेकतः’ इत्यभिलापनिश्चयत इति व्याख्यानात् । <sup>२</sup>प्रतिपादितदोषभयात्तदवयवशब्दं सामान्यं<sup>३</sup> व्यवस्यन् स्वलक्षणमपि व्यवस्येत्<sup>४</sup>, सामान्यलक्षणस्वलक्षणयोर्हि<sup>५</sup> भेदाभावात् ।

[ बौद्धः स्वलक्षणसामान्ययोर्भेदं साधयति ]

नन्वर्थक्रियाकारिणः परमार्थसतः स्वलक्षणत्वात्, ततोऽन्यस्यानर्थक्रियाकारिणः संवृतिसतः सामान्यलक्षणत्वात्तयोः कथमभेदः स्यात्<sup>६</sup> ?

“यदेवार्थक्रियाकारि तदेव परमार्थसत् । अन्यत्संवृतिसत् प्रोक्ते ते <sup>७</sup>स्वसामान्यलक्षणे<sup>८</sup>”

“अभिलाप तदंशानामभिलाप विवेकतः । अप्रमाण प्रमेयत्वमवश्यमनुषज्यते ॥”

अर्थ—शब्द और उसके अंश स्वर व्यञ्जन के नाम से रहित होने से अवश्य ही यह जगत् प्रमाण और प्रमेय से शून्य हो जावेगा ।

उपर्युक्त दोषों के भय से यह सौगत शब्द रहित सामान्य (विकल्प से ग्राह्य) का निश्चय करते हुये स्वलक्षण का भी निश्चय कर लेगा, क्योंकि सामान्य और स्वलक्षण में भेद का अभाव है ।

[ बौद्ध स्वलक्षण और सामान्य में भेद सिद्ध करता है ]

बौद्ध—जो अर्थ क्रियाकारी है और परमार्थ से सत् है, वही स्वलक्षण है और उससे भिन्नरूप जो अर्थक्रियाकारी नहीं है एवं संवृतिसत् (काल्पनिक) है, वह सामान्य है अतः सामान्य और स्वलक्षण में अभेद कैसे हो सकता है ?

श्लोकार्थ—जो अर्थक्रियाकारी है वही परमार्थ से सत् है वही स्वलक्षण है और जो अर्थक्रियाकारी नहीं है, संवृति से सत् है, वह सामान्य का लक्षण है ।

यदि इन दोनों में अभेद स्वीकार करोगे, तब काल्पनिक और वास्तविक स्वभाव में विरोध हो जावेगा ।

जैन—ऐसा कथन करने वाला बौद्ध भी अपने दर्शन का अनुरागी—स्वमत पक्षपाती ही है किन्तु परीक्षक नहीं है, क्योंकि “स्व” अर्थात् असाधारणरूप से लक्षितसामान्य को भी स्वलक्षणत्व घटित हो जाता है, विशेष के समान । जैसे कि विशेष ‘स्व’ अर्थात् अपने असाधारणरूप से जो कि सामान्य में असम्भवी है एवं विसदृश परिणामात्मक है उसके द्वारा लक्षित किया जाता है, यह लक्षण विशेष

१ प्रयुक्तम् । जगत् । (दि० प्र०) २ वक्ष्यमाणभाष्यस्थतच्छब्दविवरणमिदम् । (दि० प्र०) ३ नीलस्वरूपम् । गवा-  
दन्यापोहम् । (दि० प्र०) ४ शब्दरहितत्वादेव स्वलक्षणं न व्यवस्यत इति प्रतिज्ञाय पुनः शब्दरहितस्य सामान्यस्य  
व्यवसायाभ्युपगमात् तथा सामान्यमपि स्वेनासाधारणेन रूपेणेति पूर्वोक्तमत्रापि संबन्धनीयम् । (दि० प्र०)  
५ हीति यस्मात् कारणात् । (व्या० प्र०) ६ अर्थक्रियाकारिणः परमार्थसतः स्वलक्षणत्वमन्यस्य सामान्यलक्षणत्वं  
कुतः । (दि० प्र०) ७ स्वलक्षणं सामान्यलक्षणम् । (दि० प्र०) ८ ते च ते लक्षणे च । (व्या० प्र०)

इति वचनात्, तयोरभेदे सावृतेतरस्वभावविरोधात् । इति कश्चित्, सोपि 'स्वदर्शनानु-  
रागी न परीक्षकः, स्वेनासाधारणेन रूपेण लक्ष्यमाणस्य सामान्यस्यापि स्वलक्षणत्वघटना-  
द्विशेषवत् । यथैव हि विशेषः स्वेनासाधारणेन रूपेण सामान्यासंभविना विसदृशपरिणामा-  
त्मना लक्ष्यते तथा सामान्यमपि स्वेनासाधारणेन रूपेण सदृशपरिणामात्मना विशेषासंभविना  
लक्ष्यते इति कथं स्वलक्षणत्वेन<sup>२</sup> विशेषाद्भिद्यते<sup>३</sup> ? यथा च विशेषः स्वामर्थक्रियां कुर्वन्  
व्यावृत्तिज्ञानलक्षणमर्थक्रियाकारी तथा सामान्यमपि स्वामर्थक्रियामन्वयज्ञानलक्षणां कुर्वन्  
कथमर्थक्रियाकारि न स्यात् ? तद्बाह्या<sup>४</sup> पुनर्वाहदोहाद्यर्थक्रियां यथा न सामान्यं कर्तुमुत्सहते  
तथा विशेषोपि केवलः, सामान्यविशेषात्मनो वस्तुनो गवादेस्तत्रोपयोगात् । इत्यर्थक्रियाकारि-  
त्वेनापि तयोरभेदः<sup>५</sup> सिद्धः । 'एकस्माद्द्रव्यात्कथञ्चिदभिन्नत्वसाधनाच्च'<sup>७</sup> सामान्यविशेष-  
परिणामयोरभेदोभ्युपगन्तव्यः । तथा<sup>८</sup> च सामान्यं व्यवस्यन्नपि 'कथञ्चित्तदभिन्नस्वलक्षणं'<sup>१०</sup>  
न व्यवस्यतीति कथमुपपत्तिमत्<sup>११</sup> ?

का है । उसी प्रकार सामान्य भी विशेष में असंभवी, सदृश परिणामात्मक 'स्व'—अपने असाधारणरूप  
से लक्षित किया जाता है, इसलिये स्वलक्षणपने से विशेष की अपेक्षा सामान्य में भेद कैसे हो सकता  
है ? अर्थात् कथमपि नहीं हो सकता है । और जिस प्रकार से विशेष अपनी अर्थक्रिया को करते हुये  
व्यावृत्तिज्ञानलक्षण अर्थक्रिया को करने वाला है, उसी प्रकार से सामान्य भी अन्वयज्ञानलक्षण अपनी  
अर्थक्रिया को करते हुये अर्थक्रियाकारी क्यों नहीं है ? पुनः जिस प्रकार से सामान्यबाह, दोहन आदि  
बाह्य अर्थक्रिया को करने में समर्थ नहीं है, उसी प्रकार से सामान्य से रहित केवल (अकेला) विशेष  
भी अर्थक्रिया को करने में समर्थ नहीं है, क्योंकि जो सामान्यविशेषरूप उभयात्मक 'गौ' आदि वस्तु है,  
उन्हीं का उन बाह, दोहन आदि क्रियाओं के करने में व्यापार होता है । इस प्रकार से अर्थक्रियाकारीपने  
से भी सामान्य और स्वलक्षण में अभेद सिद्ध ही है । अर्थात् पुरुषलिंग गौ तो भार ढोने के काम में  
आता है अतः उसकी अर्थक्रिया "बाह" है एवं स्त्रीलिंगरूप गौ के दोहन (दुहना) अर्थक्रिया पाई  
जाती है । और एकद्रव्य से कथञ्चित् अभिन्नपना सिद्ध करने से सामान्य और विशेष परिणाम में भी  
अभेद स्वीकार करना चाहिये ।

१ एव । (व्या० प्र०) २ उक्तप्रकारेण सामान्यस्यापि स्वलक्षणत्वसंभवेन । (दि० प्र०) ३ सामान्यम् ।  
(व्या० प्र०) ४ का । लक्षणभेदेपि तयोरभेदो भविष्यतीत्याह । (व्या० प्र०) ५ सामान्यविशेषयोः पक्षो भेदो  
भवतीति साध्यो धर्मः । अर्थक्रियाकारित्वात् । (दि० प्र०) ६ वस्तुनः । (दि० प्र०) ७ त्वन्मत्सामृतबाह्याना-  
मिति कारिकाव्याख्याने सामान्यविशेषैकात्मनः संवित्तिरित्यादिना साधित्वात् । द्रव्यपर्याययोरैक्यमितिकारिका-  
व्याख्याने । उपयोगविशेषाद्रूपादिज्ञाननिर्भासभेदः स्वविपर्ययत्वं न वै निराकरोतीत्यादिना द्रव्यस्य समर्थविध्यमाण-  
त्वाच्च । (दि० प्र०) ८ अभेदे च । (दि० प्र०) ९ सामान्यात् । (दि० प्र०) १० विशेषम् । (व्या० प्र०)  
११ इति सौमन्यवचः कथं प्रमाणोपपत्तिमत् । (दि० प्र०)



[ स्वलक्षणस्य किं लक्षणं ? ]

अथ<sup>१</sup> न द्रव्य<sup>२</sup> नापि तत्परिणामः<sup>३</sup> सामान्यं विशेषो वा स्वलक्षणम् । किं तर्हि ?  
 ४ततोऽन्यदेव<sup>५</sup> किञ्चित् सर्वथा निर्देष्टुमशक्यं प्रत्यक्षबुद्धौ प्रतिभासमानं तदनुमन्यते<sup>६</sup> । एव-  
 मपि<sup>७</sup> जात्यन्तरं<sup>८</sup> सामान्यविशेषात्मकं वस्तु स्वलक्षणमित्यायातं, तस्यैव परस्परनिरपेक्ष-  
 सामान्यविशेषतद्वद्द्रव्येभ्योऽन्यस्य<sup>९</sup> प्रत्यक्षसंविदि प्रतिभासनात्, निरन्वयक्षणक्षयिनिरंशपर-  
 माणुलक्षणस्य<sup>१०</sup> सुष्ठुप्रत्यक्षेणालक्षणात्<sup>११</sup> । तत्र च व्यवसायोक्षजन्मा<sup>१२</sup> स्वाभिधानविशेषनिरपेक्षः  
 किन्तु स्यात् ? यतोयं<sup>१३</sup> स्वलक्षणमशब्द<sup>१४</sup> न व्यवस्येत् । ततः सामान्यवत्स्वलक्षणमध्यवस्य-

इस प्रकार से आप बौद्ध सामान्य का व्यवसाय करते हुये भी कथंचित् उससे अभिन्न स्वलक्षण का व्यवसाय न करें, इस प्रकार आप कैसे उपपत्तिमान्—विद्वान् कहे जा सकते हैं ? अर्थात् आप समझदार नहीं हैं ।

[ स्वलक्षण क्या है ? ]

बौद्ध—स्वलक्षण न तो द्रव्य है, न उसका परिणाम है एवं न वह सामान्य है, न विशेष है ।

जैन—तब वह स्वलक्षण क्या है ?

बौद्ध—उन सभी से भिन्न ही कोई चीज है कि जिसका शब्द के द्वारा निर्देश करना अशक्य है एवं वह प्रत्यक्ष—निर्विकल्पबुद्धि में प्रतिभासित होता है उसी को हम स्वलक्षण कहते हैं ।

जैन—ऐसा कहने पर भी तो जात्यन्तररूप सामान्य-विशेषात्मक वस्तु ही स्वलक्षण है, ऐसा सिद्ध हो जाता है और वही परस्परनिरपेक्ष सामान्य और विशेष एवं उसी प्रकार से परस्परनिरपेक्ष गुण और द्रव्य से भिन्नरूप है, तथा वही प्रत्यक्षज्ञान में प्रतिभासित होता है । क्योंकि निरन्वयक्षण-क्षयो निरंश परमाणु लक्षण तो सुष्ठु प्रत्यक्ष के द्वारा लक्षित नहीं होता है, अर्थात् जाना नहीं जाता है । तथा उसी—सामान्य विशेषात्मक जात्यन्तररूप स्वलक्षण में अक्ष से उत्पन्न होने वाला एवं अपने नाम विशेष से निरपेक्ष व्यवसाय क्यों नहीं होगा ? जिससे कि स्वलक्षण अशब्द का—शब्द रहित का व्यवसाय न करे । अर्थात् उल्लेख के बिना भी “घटमहमात्मना वेद्मि” ऐसा प्रत्यय देखा जाता है ।

- १ सौगतः । (दि० प्र०) २ वस्तु । (व्या० प्र०) ३ तत्परिणाम इत्येतत्सामान्यं विशेषो वा इत्यनयोर्विशेषणम् ।  
 पर्यायः । (दि० प्र०) ४ द्रव्यात्परिणामरूपात्सामान्याद्विशेषरूपाद्वा स्वलक्षणात् । (दि० प्र०) ५ तेभ्यः । (दि० प्र०)  
 ६ स्वलक्षणम् । (व्या० प्र०) ७ स्यात् एवं भवदुक्तप्रकारेणापि सामान्यविशेषात्मकं पानकवत् जात्यन्तरं संकलनात्मकं  
 वस्तुयत् तत्स्याद्वाच्यभ्युपगतं स्वलक्षणं स्यात् इत्यायातम् । (दि० प्र०) ८ एवं प्रत्यक्षबुद्धौ प्रतिभासमाने जात्यन्तरे  
 सर्वथा सामान्यं सर्वथाविशेषेभ्यः भिन्नरूपं कथञ्चित्सामान्यविशेषात्मकं लक्षणमायातम् । (दि० प्र०) ९ वेदान्ता-  
 भ्युपगतः । सौगताभ्युपगतः । तद्युक्त । योगपञ्चभ्युपगतः । (दि० प्र०) १० सुष्ठुर्न लक्ष्यत इति स्वलक्षणम् ।  
 ईदृग्विधस्य लक्षणस्य प्रत्यक्षेण सुष्ठु अतिशयेनाप्रतिभासनात् । (दि० प्र०) ११ न लक्ष्यते । (दि० प्र०)  
 १२ विकल्पः । (दि० प्र०) १३ सौगतः । (दि० प्र०) १४ शब्दरहितम् । (दि० प्र०)

नभिलापेन<sup>१</sup> योजयेत् । ततो न किञ्चित्प्रमेयमनभिलाप्यं नाम श्रुतज्ञानपरिच्छेद्यं, शब्दयो-  
जितस्य श्रुतविषयत्वोपपत्तेः<sup>२</sup> । प्रत्यक्षस्यानभिलाप्यत्वे स्मार्त्तं शब्दानुयोजनं दृष्टसामान्य-  
व्यवसायो यद्यपेक्षेत सोर्थो व्यवहितो भवेत् तन्निष्पन्नज्ञानस्यासामान्यव्यवसायो न स्यात् ।  
यथैव हि शब्दसंसृष्टार्थग्राहिसविकल्पकप्रत्यक्षवादिनामर्थोपयोगे<sup>३</sup> सत्यपि स्मार्त्तशब्दानुयोजना-  
पेक्षेऽक्षज्ञाने तदर्थो व्यवहितः स्यात् स्मार्त्तेन शब्दानुयोजनेन इति<sup>४</sup> तदर्थदक्षज्ञानं सविकल्पकं  
न स्यात्, तदभावेपि भावात्तद्भावेपि चाभावादिति<sup>५</sup> दूषणम्—

“अर्थोपयोगेपि पुनः स्मार्त्तं शब्दानुयोजनम् । अक्षधीर्यद्यपेक्षेत सोर्थो व्यवहितो भवेत् ॥”

इसलिये सामान्य और विशेष में अभेद होने से सामान्य के समान ही स्वलक्षण का अध्यवसाय करता हुआ, शब्द के द्वारा उसकी योजना करता है । इसलिये किञ्चित् भी प्रमेय अनभिलाप्य नहीं है किन्तु श्रुतज्ञान के द्वारा परिच्छेद ही है, क्योंकि शब्द से योजित वस्तु श्रुतज्ञान का विषय है ऐसी उपपत्ति है ।

दूसरी बात यह है कि प्रत्यक्षज्ञान को अनभिलाप्य—शब्द के संसर्ग से रहित स्वीकार करने पर स्मार्त्त—स्मृति से आगत शब्दानुयोजन—पहले अर्थ का देखना पश्चात् शब्द की योजना करना और दृष्ट सामान्य व्यवसाय अपनी उत्पत्ति के होने पर दृष्ट सामान्य का निर्णय करना (अर्थ से उत्पन्न प्रत्यक्ष उसी अर्थ को जानता है ऐसा बौद्ध का कहना है ।) यदि अपेक्षित किया जावे, तब तो प्रत्यक्षज्ञान से ग्राह्य अर्थ शब्द को योजना से व्यवहित हो जावेगा और उस इन्द्रियज्ञान से सामान्य व्यवसाय नहीं हो सकेगा ।

जिस प्रकार से शब्द संसृष्टार्थग्राहि सविकल्प प्रत्यक्षवादी नैयायिकों के यहाँ ज्ञानोत्पादनलक्षण अर्थ ग्रहणव्यापार के होने पर भी स्मार्त्त और शब्दानुयोजना की अपेक्षा रखने वाले अक्षज्ञान में वह अर्थ (अर्थ से उत्पन्न हुआ प्रत्यक्ष उसी अर्थ को ग्रहण करता है यह बौद्ध का अर्थ) व्यवहित हो जावेगा ।

तब तो स्मृति से आगत एवं शब्द की योजना से इति—इस प्रकार उस नीलादि अर्थ से वह अक्ष-ज्ञान सविकल्प नहीं होगा, क्योंकि उस अर्थ के अभाव में भी उस सविकल्पक अक्षज्ञान का सद्भाव है और उस अर्थ के सद्भाव में भी उस ज्ञान का अभाव है । इस प्रकार का दूषण प्राप्त हो जाता है । कहा भी है—

श्लोकार्थं—यदि सविकल्पज्ञान अर्थग्रहण व्यापार होने पर भी स्मार्त्त एवं शब्दानुयोजना की अपेक्षा रखता है, तब तो वह सविकल्प प्रत्यक्ष के द्वारा गृहीत पदार्थ व्यवहित हो जावेगा ।

१ सोमतः । (दि० प्र०) २ जिनालये देवदत्तोऽतीति श्रुतज्ञानेन ज्ञात्वा जिनालयं गत्वा शब्दवतस्तस्य शब्दं श्रुत्वा शब्दविषयत्वमुपपद्यते । (दि० प्र०) ३ सविकल्पकज्ञानं शब्दानुविद्धमर्थं गृह्णाति एवं वादिनां शब्दाद्वैतवादिनामर्थ-ग्रहणे सत्यपि । (दि० प्र०) ४ हेतोः । (व्या० प्र०) ५ शब्दयोजनम् विना । (व्या० प्र०) ६ ग्रहणे । (दि० प्र०)

इति वचनात् 'समुद्भाव्यते'<sup>२</sup> तथैव शब्दानुयोजनासहितार्थग्राहिविकल्पवादिनामपि<sup>३</sup> सौग-  
तानामिन्द्रियज्ञानमुपयोगे<sup>४</sup> सत्यपि विकल्पोत्पत्तौ स्मार्त्तं शब्दानुयोजनं विकल्पो यद्यपेक्षेत  
तदातदिन्द्रियज्ञानं स्वविषयनामविशेषस्मरणेन<sup>५</sup> तद्योजनेन च व्यवहितं स्यात् । तथा च नेन्द्रि-  
यज्ञानादव्यवसायः स्यात् तदभावे भावात्तद्भावेपि चाभावादिति दूषणमुद्भावनीयं,

“ज्ञानोपयोगेपि पुनः स्मार्त्तं शब्दानुयोजनं । विकल्पो यद्यपेक्षेताध्यक्षं व्यवहितं भवेत् ॥”

इति वक्तुं शक्यत्वात्, अर्थशब्देन प्रत्यक्षस्याभिधानाद्वा, 'क्वचिद्विषयेण विषयिणो वचना-  
'धर्मकीर्तिकारिकाया'<sup>६</sup> एव 'तन्मतदूषणपरत्वेन व्याख्यातुं शक्यत्वात् । यथा च प्रागजनको<sup>१०</sup>

इस कथन से उपर्युक्त दूषण उद्भावित किया जाता है, उसी प्रकार से शब्दानुयोजना सहित  
अर्थग्राहि विकल्पवादी बौद्धों के यहाँ भी निर्विकल्प इन्द्रियज्ञान का उपयोग होने पर भी सविकल्प की  
उत्पत्ति में यदि स्मार्त्त और शब्दानुयोजन विकल्प की अपेक्षा रखे तब तो वह इन्द्रियज्ञान स्व नाम-  
विशेष का स्मरण और उसकी योजना से व्यवहित हो जावेगा और पुनः इस प्रकार से इन्द्रियज्ञान से  
सविकल्प व्यवसाय नहीं हो सकेगा, क्योंकि उस इन्द्रियज्ञान के अभाव में भी उस व्यवसाय का सद्भाव  
है और उसके सद्भाव में भी उस व्यवसाय का अभाव देखा जाता है । इस प्रकार का दूषण  
उद्भावित कर सकते हैं ।

श्लोकार्थ—निर्विकल्पज्ञान के होने पर भी यदि निर्विकल्प प्रत्यक्ष से उत्पन्न हुआ विकल्प स्मार्त्त  
एवं शब्दानुयोजन की अपेक्षा रखता है, तब तो वह विकल्प प्रत्यक्ष भी व्यवहित अर्थात् निर्विकल्प हो  
जावेगा । इस प्रकार से हम जैनाचार्य भी आप बौद्धों को दूषण दे सकते हैं ।

यहाँ पर “अर्थोपयोगेऽपि” इस धर्मकीर्ति बौद्ध के गुरु की कारिका में अर्थ शब्द से प्रत्यक्ष शब्द  
का अर्थ ग्रहण कर लेने पर वह उन्हीं की कारिका ही उनके मत को दूषित सिद्ध करने में समर्थ हो  
जाती है, क्योंकि विषय—अर्थ के द्वारा विषयी—ज्ञान का भी कथन हो सकता है और जिस प्रकार से

- १ अन्यसौमतेः शब्दाद्वैतवादिनामिति कारिकावचनात् । तदभावेपि भावात् । अर्थोऽसत्यपि सविकल्पकाक्षज्ञान-  
मुत्पद्यते । तदभावेपि चाभावात् । अर्थे सत्यपि सविकल्पकाक्षज्ञानं नीत्पद्यते इति दूषणं प्रकाश्यते । (दि० प्र०)  
२ नैयायिकान् प्रतिसौमतेन । (दि० प्र०) ३ सामान्यम् । (व्या० प्र०) ४ निर्विकल्पकस्य व्यापारे । (व्या० प्र०)  
५ स्वस्येन्द्रियस्य यो विषयः स्तम्भादिस्तस्य नाम विशेषः । (दि० प्र०) ६ क्वचित्प्रस्तावेऽर्थग्रहणेन कृत्वा विष-  
यिणस्तद्ग्राहकज्ञानस्य ग्रहणं स्यात् । इति सौगताद्यभिधानात् । अध्यक्षं व्यवहितं भवेदिति कोर्थः अर्थो व्यवहितो  
भवेत् । विषयवाचकेन शब्देन । प्रत्यक्षस्य । (दि० प्र०) ७ प्रतिपादनात् । (दि० प्र०) ८ न पुनः ज्ञानोपयोगे  
इत्यादिकाया जनोक्तकारिकायाः । (दि० प्र०) ९ अग्रे वक्ष्यमाणायाः । (व्या० प्र०) १० धर्मकीर्तिः स्वलक्षणार्थवादी  
शब्दाद्वैतवादिनं प्रति तन्मतानुसारेणैव दूषणमुद्भावयति । यः रूपाद्यर्थः स्मार्त्तशब्दानुयोजनात्पूर्वमभिलापविक-  
ल्पास्याऽनुत्पादकः सोर्थः स्मार्त्तशब्दानुयोजने सत्यपि पश्चादपि विकल्पस्याजनकः स्यात् । कुतस्तरयार्थस्य प्राक्  
पश्चात् कालयोः विकल्पानुत्पादनलक्षणउपयोगे विशेषाभावात् । एवं शब्दाद्वैतवादिनोऽर्थाभावेपि विकल्पज्ञानमुत्पद्य-  
ताम् । इति दूषणोद्भावनम् । (दि० प्र०)

योर्थोभिलापसंसृष्टार्थेन्द्रियबुद्धेः स पश्चादपि स्मार्तशब्दानुयोजनेपि तस्योपयोगाविशेषादजनक एव तेनार्थापायेपि नेत्रधीः शब्दाद्वैतवादिनः स्यादिति धर्मकीर्तिदूषणं,

“यः प्रागजनको बुद्धेरूपयोगाविशेषतः । स पश्चादपि तेन स्यादार्थापायेपि नेत्रधीः”

इति वचनात् । तथा यदिन्द्रियज्ञानं स्मार्तशब्दयोजनात्प्रागजनकं सामान्यव्यवसायस्य तत् पश्चादप्युपयोगाविशेषात्<sup>३</sup> तेनेन्द्रियज्ञानव्यवसायेपि सामान्यव्यवसायः<sup>४</sup> न स्यात्, तस्य प्रागि-  
वाजनकत्वात्, ‘तदन्तरेणापि’<sup>५</sup> दर्शनमयं गौरिति निर्णयः स्यात्,

“यः प्रागजनको<sup>७</sup> बुद्धेरूपयोगाविशेषतः<sup>८</sup> । स पश्चादपि तेनाश्रयोधापायेपि कल्पना”

स्मार्त और शब्दानुयोजन से पूर्व जो अर्थ—निर्विकल्पक (ज्ञान) अभिलाप संसृष्टार्थ इन्द्रियबुद्धि सन्निकल्पक का अजनक है वह पश्चात् भी स्मार्त, शब्दानुयोजन के होने पर भी उस निर्विकल्पज्ञान का उपयोग—‘इन्द्रियज्ञान व्यापार समान होने से अजनक ही है, इसलिये अर्थाभाव में भी शब्दाद्वैत-वादियों के यहाँ सन्निकल्पज्ञान हो जावेगा । इस प्रकार से शब्दाद्वैतवादी को धर्मकीर्तिगुरु दूषण देते हैं । क्योंकि कहा भी है कि—

श्लोकार्थ — जो इन्द्रियज्ञान स्मार्त और शब्दानुयोजना के पहले सामान्य-व्यवसाय का अजनक है, वह पश्चात् भी उपयोग सामान्य—व्यवसाय—सामान्य होने से अजनक ही है । इसलिये अर्थ के अभाव में भी उसके द्वारा सामान्य व्यवसाय हो जावे क्योंकि वह पहले के समान उत्तरकाल में भी अजनक ही है ।

यहाँ हम जैन कहते हैं कि हे सौगत ! जिस प्रकार से आपने शब्दाद्वैतवादी को दूषण दिया है, वैसे ही आपके यहाँ भी दूषण आता है । तथा—

जो इन्द्रियज्ञान स्मार्त और शब्दानुयोजना से पहले सामान्य व्यवसाय का अजनक है, वह पश्चात् भी उपयोगसामान्य-व्यवसायसामान्य होने से अजनक ही है । इसलिये इन्द्रियज्ञान के अभाव में भी उसके द्वारा सामान्य-व्यवसाय हो जावे, क्योंकि वह पहले के समान ही उत्तरकाल में भी अजनक ही है । और उसके बिना भी वर्शन से “अयं गौः” इस प्रकार का निर्णय हो जावे ।

श्लोकार्थ — जो निर्विकल्पज्ञान पहले उपयोग की अविशेषता-समानता होने से बुद्धि का अजनक है, वह पश्चात् भी अजनक ही है और इसलिये निर्विकल्पज्ञान के अभाव में भी विकल्प हो जावे, ऐसा हम जैन प्रतिपादन कर सकते हैं ।

१ अर्थः । (दि० प्र०) २ स्यात् । (व्या० प्र०) ३ प्रत्यक्षं विनापि । (दि० प्र०) ४ विकल्पः । (व्या० प्र०) ५ तस्मात् । (व्या० प्र०) ६ तदिन्द्रियज्ञानं स्मार्तशब्दानुयोजनात्पश्चादपि सामान्याव्यवसायस्याजनकमेव । कुतः प्राक् पश्चात्कालयोः उपयोगेन सामान्यव्यवसायाजनकलक्षणेनार्थेन विशेषाभावात् । (दि० प्र०) ७ य इन्द्रियज्ञान-लक्षणोऽर्थः बुद्धे सामान्यव्यवसायस्य । (दि० प्र०) ८ सन्निकल्पकप्रत्यक्षज्ञानस्य । (दि० प्र०)

इति प्रतिपादनात् । तदेवं<sup>१</sup> न दर्शनादध्यवसायः संभवति येन<sup>२</sup> दर्शनस्य स्वालम्बन-  
समनन्तरप्रत्ययजन्मतत्सारूप्याविशेषेपि स्वविषयप्रतिनियमः सिध्येत् । किञ्च सौगताना-  
मनभिलाष्यस्य<sup>३</sup> विशेषस्यानुभवे कथमभिलाष्यस्य<sup>४</sup> स्मृतिः ? अत्यन्तभेदात्<sup>५</sup> स्वलक्षणा-  
त्सामान्यस्य, सह्यविन्ध्यवत् । न हि सह्यस्यानुभवे विन्ध्यस्य स्मृतिर्युक्ता ।

[ बौद्धो ब्रूते, विशेषस्यानुभवे सामान्यस्य स्मृतिः स्यात् तस्य विचारः ]

“विशेषसामान्ययोरेकत्वाध्यवसायाद्विशेषस्यानुभवे सामान्ये स्मृतिर्युक्तैवेति चेत् कुतस्त-  
योरेकत्वाध्यवसायः ? न तावत्प्रत्यक्षात्, तस्य सामान्याविषयत्वात्, नापि तत्पृष्ठभाविनो

इसीलिये निर्विकल्पदर्शन से अध्यवसाय संभव नहीं है कि जिससे दर्शन के स्वालम्बन (स्व—नील-  
लक्षण अर्थ) समनन्तरप्रत्ययजन्म (उपादानभूत पूर्वक्षणज्ञान का जन्म) और तत्सारूप्य (निर्विकल्पज्ञान  
से समानता) समान होने पर भी स्वविषय का प्रतिनियम—अपने विषय का अध्यवसाय—निश्चय  
सिद्ध हो सके अर्थात् नहीं सिद्ध हो सकता है ।

दूसरी बात यह है कि आप बौद्धों के यहाँ अनभिलाष्य विशेष स्वलक्षण का अनुभव होने पर  
अभिलाष्य की स्मृति कैसे होगी ? क्योंकि दोनों में तो अत्यन्त भेद है ।

सामान्य से स्वलक्षण में तो आपने अत्यन्त भेद माना है । सह्य और विन्ध्य पर्वतों के समान ।  
क्योंकि सह्याचल का अनुभव करने पर किसी को भी विन्ध्याचल की स्मृति होती हुई नहीं देखी  
जाती है ।

[ बौद्ध कहता है कि विशेष का अनुभव होने पर सामान्य की स्मृति हो जाती है, उस पर विचार ]

बौद्ध—विशेष और सामान्य में एकत्व का अध्यवसाय होने से विशेष का अनुभव होने पर  
सामान्य की स्मृति युक्त ही है ।

जैन—यदि ऐसी बात है, तब तो यह बतलाइये कि उन दोनों में एकत्व का अध्यवसाय कैसे  
हुआ ? आप निर्विकल्पप्रत्यक्ष से तो कह नहीं सकते हैं, क्योंकि वह तो सामान्य को विषय नहीं करता  
है और न उस निर्विकल्पप्रत्यक्ष के पृष्ठभावी अनन्तरजन्मा विकल्प अथवा अनुमान से आप कह  
सकते हैं क्योंकि वह विकल्प अथवा अनुमान विशेष को विषय नहीं करता है । और उभय को विषय  
करने वाला कोई प्रत्यभिज्ञान नाम का प्रमाण आपने तो स्वीकार ही नहीं किया है । उन दोनों में से

[ नैवमिति याठः । उक्तप्रकारेण । (दि० प्र०) २ अध्यवसायेन । (दि० प्र०) ३ अभिलाष्यस्मृत्यभावे चाभिधान-  
प्रतिपत्तिपूर्वकयोजनाभावादध्यवसायो नोत्पद्यते इति भावः । (दि० प्र०) ४ विकल्पविषयस्य नीललक्षणार्थस्य ।  
(दि० प्र०) ५ अभिलाष्यस्य सामान्यस्य पक्षोज्जभिलाष्यस्य विशेषस्यानुभवेपि स्मृतिर्न जायते इति साध्यो धर्मः ।  
स्वलक्षणसामान्ययोरत्यन्तभेदात् । ययोरत्यन्तभेदस्तथोस्तथोरेकतरस्यानुभवेप्यन्यतरस्य स्मृतिर्न जायते यथा सह्य-  
विन्ध्ययोरित्यनुमानं जनेन कृतम् । (दि० प्र०) ६ स्वलक्षणान्यापोहयोः । (दि० प्र०)

विकल्पादनुमानाद्वा, तस्य<sup>1</sup> विशेषाविषयत्वात्<sup>2</sup>, तदुभयविषयस्य<sup>3</sup> च कस्यचित्प्रमाणस्यान-  
भ्युपगमात् । <sup>4</sup>तदन्यतरविषयेण<sup>5</sup> तयोरेकत्वाध्यवसायेतिप्रसङ्गात्<sup>6</sup> त्रिविप्रकृष्टेतरयोरप्ये-  
कत्वाध्यवसायोक्षज्ञानात्प्रसज्येत<sup>7</sup> । किं च शब्दार्थयोः<sup>8</sup> संबन्धस्यास्वाभाविकत्वे<sup>9</sup> कथमर्थ-  
मात्रं पश्यन् शब्दमनुस्मरेत्<sup>10</sup> शब्दं शृण्वन् तदर्थं वा ? यतोयं<sup>11</sup> व्यवसायः सौगतस्य  
सिद्ध्येत् । न हि सहायमात्रं पश्यन् विन्ध्यस्य स्मरेत् । स्यान्मतं 'शब्दस्य विकल्पेन<sup>12</sup> तदुत्पत्ति-  
लक्षणसंबन्धोपगमात् तस्य च<sup>13</sup> दृश्येनैकत्वाध्यवसायाद्विशेषस्यानुभवेऽपि शब्दं तदर्थं वा

किसी एक को विषय करके जो यदि उन दोनों में एकत्व का अध्यवसाय आप स्वीकार करें, तब तो अतिप्रसंगदोष दुर्निवार है । यथा—त्रिविप्रकृष्ट अर्थात् देश-काल और स्वभाव से विप्रकृष्ट तथा इतर अर्थात् अविप्रकृष्ट पदार्थों में भी इन्द्रियज्ञान से एकत्व के अध्यवसाय का प्रसंग प्राप्त हो जावेगा ।

और दूसरी बात यह है कि—

शब्द और अर्थ में जो वाच्य-वाचक संबंध है, उसे अस्वाभाविक स्वीकार करने पर पुनः अर्थ-  
मात्र को देखता हुआ बौद्ध शब्द का स्मरण कैसे कर सकेगा ? अथवा शब्द को सुनते हुए उसके अर्थका  
स्मरण भी कैसे कर सकेगा, जिससे कि सौगत को यह व्यवसाय सिद्ध हो सके । अर्थात् कथमपि सिद्ध  
नहीं हो सकेगा क्योंकि कोई भी सहायपर्वतमात्र को देखते हुये विन्ध्यपर्वत का स्मरण नहीं करता है ।

बौद्ध—हमने शब्द का विकल्प—समानार्थ नीलादि के साथ तदुत्पत्तिलक्षण संबंध स्वीकार किया  
है, अतः उस शब्द और विकल्प का दृश्य के साथ एकत्व अध्यवसाय होने से विशेष का अनुभव होने  
पर भी शब्द और उसके अर्थ को अथवा विकल्प को स्मरण करने में वह व्यवहारी समर्थ होता है,  
क्योंकि उसमें प्रवृत्ति देखी जाती है ।

जैन—यह कथन भी असमीचीन ही है, क्योंकि किसी भी प्रमाण से दृश्य और विकल्प में एकत्व  
का अध्यवसाय असंभव ही है। ऐसा हमने ऊपर कहा ही है, क्योंकि दृश्य—स्वलक्षणरूप क्षणिक है  
और सामान्य कुछ काल स्थायी है । अतएव प्रत्यक्ष को स्वतः ही व्यवसायात्मक स्वीकार करना  
चाहिये किन्तु अभिधान—शब्दजात्यादि की योजना से नहीं ।

1 विकल्पस्यानुमानस्य वा । (दि० प्र०) 2 स्वलक्षण । (दि० प्र०) 3 सामान्यविशेषोभयग्राहकं किञ्चित्प्रमाणं  
सौगतैर्नभ्युपगम्यते यतः । (दि० प्र०) 4 सामान्यविशेषयोर्मध्ये । (व्या० प्र०) 5 तयोः सामान्यविशेषयोर्मध्ये  
एकस्य ग्राहकेण केनचित्प्रमाणेन कृत्वा तयोरेकत्वमस्तीत्यंगीकारेऽतिप्रसंगः स्यात् । वसतः । प्रमाणेन । (दि० प्र०)  
6 तयोर्द्वयोर्मध्ये एकस्य सामान्यस्य विशेषस्य वाऽन्यतरेण प्रत्यक्षेण विकल्पेन वा तयोरेकत्वाध्यवसाये । (दि० प्र०)  
7 वाचकलक्षणस्य । (दि० प्र०) 8 यथादि । (दि० प्र०) 9 शब्दार्थयोः स्वाभाविकः सम्बन्धोस्तीति स्यादादिभिर-  
भ्युपगम्यते ननु परेण सौगतेन । (दि० प्र०) 10 को वा शब्दोस्य वाचको भवतीति । (दि० प्र०) 11 सौगतमतप्रसिद्धः  
शब्दादर्शप्रतिपत्तिलक्षणः । (दि० प्र०) 12 तस्माद्विकल्पादुत्पद्यते शब्द इति तदुत्पत्तिलक्षणः सम्बन्धः । शब्दस्य  
उत्पत्तिलक्षणः विकल्पेन घटते । (दि० प्र०) 13 स्वलक्षणेन । (दि० प्र०)

विकल्प्यं स्मर्तुमीष्टे<sup>१</sup> व्यवहारी, <sup>२</sup>प्रवृत्तिदर्शनान्<sup>३</sup>, इति, तदप्यसम्यक्, कुतश्चिदपि दृश्यविकल्पयोरेकत्वाव्यवसायासंभवस्योक्तत्वात् । ततः<sup>४</sup> स्वत एव व्यवसायात्मकत्वमभ्युपगन्तव्यं प्रत्यक्षस्य न पुनरभिधानजात्यादियोजनापेक्षया । चक्षुरादिज्ञानस्य कथञ्चित् व्यवसायात्मकत्वाभावे दृष्टसजातीयस्मृतिर्न<sup>५</sup> स्यात्, दानहिंसाविरतिचेतसः<sup>६</sup> स्वर्गादिफलजननसामर्थ्यसंवेदनवत् क्षणक्षयानुभवनवद्वा<sup>७</sup> । व्यवसायात्मनो <sup>८</sup>मानसप्रत्यक्षाद्दृष्टसजातीयस्मृतिरिति चेन्न, अव्यवसायात्मनो अज्ञानात् <sup>९</sup>समनन्तरप्रत्ययादव्यवसायात्मनो मनोविज्ञानस्योत्पत्तिविरोधाद्विकल्पवत्, निर्विकल्पात्मकत्वान्मानसप्रत्यक्षस्याभिलापसंसर्गयोग्यताप्रतिभासाभावात्<sup>१०</sup> । अव्यवसायात्मनोप्यक्षज्ञानाद्यदृष्टविशेषसहकारिणः स्यादुत्पत्तिरिति चेत्, किमेवमक्षज्ञानस्य स्वयं

चक्षु आदि से होने वाले निर्विकल्पज्ञान में कथञ्चित् व्यवसायात्मकपने का अभाव स्वीकार करने पर दृष्टसजातीय की स्मृति नहीं होगी अर्थात् कथञ्चित्—नीलादि ग्राहकत्व प्रकार से तो व्यवसायात्मक का अभाव है, किन्तु स्वतक्षण ग्राहकत्व प्रकार से अभाव नहीं है । इस प्रकार से कथञ्चित् अभाव स्वीकार करने पर वर्तमानकाल को दृष्ट का सजातीय पूर्वदृष्ट उसमें स्मृति नहीं हो सकेगी । जैसे कि दान और अहिंसा से युक्त चित्त वाले को व्यवसायात्मक का अभाव स्वीकार करने पर जिस प्रकार से स्वर्गादि के फल को उत्पन्न करने की सामर्थ्य की अथवा क्षणक्षय आदि की स्मृति नहीं होती है । अथवा जैसे क्षणक्षय का अनुभव नहीं होता है ।

बौद्ध—व्यवसायात्मक मानस प्रत्यक्ष से दृष्टसजातीय की स्मृति हो जावेगी ।

जैन—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि अव्यवसायात्मक समनन्तरप्रत्ययरूप अक्षज्ञान से व्यवसायात्मक मनोविज्ञान की उत्पत्ति का विरोध है । विकल्पज्ञान के समान अर्थात् जैसे विकल्पज्ञान अव्यवसायात्मक अक्षज्ञानरूप समनन्तरप्रत्यय से व्यवसायात्मकविकल्प की उत्पत्ति नहीं होती है और मानसप्रत्यक्ष तो निर्विकल्पात्मक है अतएव उसमें अभिलापसंसर्ग की योग्यता के प्रतिभास का अभाव है ।

बौद्ध—अदृष्टविशेष है सहकारी जिसमें ऐसे अव्यवसायात्मक अक्षज्ञान से व्यवसायात्मक मानसप्रत्यक्ष की उत्पत्ति हो सकती है ।

१ समर्थो भवति । (व्या० प्र०) २ अर्थे । (व्या० प्र०) ३ एवं स्मृतिपूर्वकव्यवसायाभावे तदेवेदं नीलमिति कस्यापि नीले प्रवृत्तिर्न घटते दृष्टस्य क्षणिकतया नष्टत्वादिति भावः । (दि० प्र०) ४ अभिलापस्याभिलाप्यस्य च स्मरणोपायासंभवात्स्मार्त्तनाथेन शब्देन वा विकल्पो नोदेति यतः । (व्या० प्र०) ५ सद्गुणः । (दि० प्र०) दृष्टं तत्र स्मृतिर्न स्यात् । (दि० प्र०) ६ ज्ञानलक्षणस्य । (व्या० प्र०) ७ प्राक् समनन्तरम् । तनु स्वर्गादिफलजननसामर्थ्ये क्षणक्षये च पूर्वमपि व्यवसायोत्पत्तेरभावात् स्मृतिर्नस्यान्नीलादौ तु पूर्व व्यवसायोत्पत्तिसद्भावाद्विज्ञानी न तस्य चक्षुरादिज्ञानस्य व्यवसायात्मकत्वाभावेपि स्मृतिः—स्यादिति चेन्न । उक्तप्रकारेण पूर्वमपि तत्र व्यवसायोत्पत्त्यनुपपत्तेः । (दि० प्र०) ८ नीलादिविषयात् । (दि० प्र०) ९ कारणभूतात् । (दि० प्र०) १० योग्यप्रतिभासात् इति पा० । (दि० प्र०) सामान्यवस्तु । (दि० प्र०)

व्यवसायात्मन<sup>१</sup> एवादृष्टविशेषादुत्पत्तिर्नेष्यते ? तेन <sup>२</sup>नीलादेर्व्यवसाये तत्क्षणक्षयस्वर्गप्राप-  
णशक्त्यादेरपि व्यवसायप्रसङ्गान्नाक्षज्ञानं व्यवसायात्मकमिष्टमिति चेत् तत एव मानसप्रत्यक्ष-  
मपि व्यवसायात्मकं मा भूत् । तस्य क्षणक्षयाद्यविषयत्वान्न तद्व्यवसायित्वमिति चेत्तत  
एवाक्षज्ञानस्यापि तन्मा भूत्<sup>३</sup> । तथा सति नीलादेः<sup>४</sup> क्षणक्षयादिरव्यः<sup>५</sup> स्यात्<sup>६</sup>, तद्व्यव-  
सायेऽप्यवसायात् कूटापिषाच्चदिवदिति चेत्तहि मानसप्रत्यक्षेणापि नीलादिव्यवसायेपि  
क्षणक्षयादेरव्यवसायात्ततो भेदोस्तु तद्वदेव, सर्वथा विशेषाभावात् । कथञ्चिदक्षज्ञानस्य व्यव-  
सायात्मकत्वे तु मानसप्रत्यक्षकल्पनापि न स्यात्, प्रयोजनाभावात्<sup>७</sup>, तत्प्रयोजनस्याक्षज्ञानादेव  
सिद्धेः । एतेनाव्यवसायात्मकमपि मानसप्रत्यक्षं कल्पयन् प्रतिक्षिप्तः । ननु<sup>८</sup> <sup>९</sup>निर्विकल्पकाद-

जैन—तब तो इस प्रकार से आप बौद्ध अदृष्टविशेष से स्वयं व्यवसायात्मक अक्षज्ञान को ही  
उत्पत्ति क्यों नहीं मान लेते हैं ?

बौद्ध—स्वयं व्यवसायात्मकलक्षण अक्षज्ञान के द्वारा नीलादि का व्यवसाय स्वीकार करने पर  
तत्क्षणक्षय स्वर्गप्रापण शक्त्यादि के भी व्यवसाय का प्रसंग प्राप्त हो जावेगा । इसीलिये अक्षज्ञान को  
व्यवसायात्मक मानना हमें इष्ट नहीं है ।

जैन—उसी प्रकार से स्वयं व्यवसायात्मक मानसप्रत्यक्ष के द्वारा नीलादि का व्यवसाय स्वीकार  
करने पर तत्क्षणक्षय स्वर्गप्रापण शक्ति आदि का व्यवसाय स्वीकार किया है और पुनः वह मानस-  
प्रत्यक्ष भी व्यवसायात्मक नहीं हो सकेगा ।

बौद्ध—वह मानसप्रत्यक्ष क्षणक्षय आदि एवं स्वर्गप्रापण शक्ति आदि को विषय नहीं कर सकने  
से अव्यवसायी है ।

जैन—उसीप्रकार से क्षणक्षयादि को अविषय करने वाला होने से वह अक्षज्ञान भी तद्व्यवसायी  
नहीं हो सकेगा और उस प्रकार से अक्षज्ञान नीलादि को तो विषय करता है और क्षणक्षयादि को  
विषय नहीं करता है । क्योंकि आपके मत में तो नीलादि से तो क्षणक्षय भिन्न नहीं है, क्योंकि वह  
उसका स्वभाव ही है और उपर्युक्त मान्यता से तो नीलादि से क्षणक्षयादि भिन्न मानना पड़ेगा ।

बौद्ध—उसका व्यवसाय होने पर भी व्यवसाय नहीं होता है, जैसे कि कूट के प्रतीयमान होने  
पर भी पिशाच प्रतीति में नहीं आता है, अतः पिशाच उससे भिन्न ही है ।

जैन—तब तो मानस प्रत्यक्ष के द्वारा भी नीलादि का व्यवसाय तो होता है परन्तु क्षणक्षयादि  
का तो व्यवसाय नहीं होता है, अतः उसी प्रकार से उससे उसमें भी भेद हो जावे, क्योंकि इन्द्रिय-

१ ता । (दि० प्र०) २ अक्षज्ञानस्य व्यवसायात्मकत्वानंगीकारात्सौगताव्युपगतं मानसप्रत्यक्षमपि । (दि० प्र०)

३ नीलादिव्यवसायात्मकं भवतु न तु क्षणक्षयव्यवसायात्मकं तथापि स्वमतविरोधः । परः । (व्या० प्र०) ४ का ।

(व्या० प्र०) ५ नीलादेः सकाशात् क्षणक्षयो भिन्नो न भवति नीलादेस्तच्च भावत्वात् इति न । (व्या० प्र०) ६ न

तथा निरंकत्वात् । (व्या० प्र०) ७ इन्द्रियप्रत्यक्षादेव स्मृतिरस्तु । (व्या० प्र०) ८ आह सौगतः, हे स्याद्वाचिन् !

अस्मदव्युपगतात् निर्विकल्पकादपि इन्द्रियज्ञानात् । (दि० प्र०) ९ बहुवारं स्मृत्वाऽभ्यासः । (दि० प्र०)



प्रत्यक्षज्ञानादभ्यासप्रकरण<sup>१</sup>बुद्धिपाटवाथित्व<sup>२</sup>वशाद्दृष्टसजातीय<sup>३</sup> स्मृतिर्युक्ता, सविकल्पकप्रत्यक्ष-  
क्षादपि तदभावे<sup>४</sup> तदनुपपत्तेः प्रतिवाद्याद्युपन्यस्तसकलवर्णपदादिवत्<sup>५</sup> स्वोच्छ्वासादिसंख्या-  
वद्वा । न हि सविकल्पकप्रत्यक्षेण तद्व्यवसायेपि<sup>६</sup> कस्यचिदभ्यासाद्यभावे<sup>७</sup> पुनस्तत्स्मृतिनिय-  
मतः सिद्धा यतः सविकल्पकत्वप्रकल्पनं प्रत्यक्षस्य फलवत् । इति कश्चित्सोप्यप्रज्ञाकर एव,  
“सर्वथैकस्वभावस्य प्रत्यक्षस्य क्वचिदभ्यासादीनामितरेषां” च सकृदयोगात् । तदन्यव्यावृत्त्या  
तत्र तद्योग इति चेन्न, स्वयमतस्वभावस्य तदन्यव्यावृत्तिसंभवे धावकस्याशीतत्वादिव्यावृत्ति-

प्रत्यक्ष और मानसप्रत्यक्ष में तो किसी भी प्रकार का अन्तर नहीं है । और नीलादि को तो ग्रहण करता है किन्तु स्वलक्षण को ग्रहण नहीं करता है, इस प्रकार अक्षज्ञान को यदि कथंचित् व्यवसायात्मक स्वीकार कर लेवें, तब तो मानसप्रत्यक्ष की तो कल्पना भी नहीं हो सकेगी, क्योंकि पुनः मानस-प्रत्यक्ष का तो प्रयोजन ही नहीं रहता है ।

किंच सविकल्पकज्ञानवादियों के यहाँ उसका प्रयोजन तो अक्षज्ञान से ही सिद्ध हो जाता है । एवं इसी कथन से अव्यवसायात्मक भी मानसप्रत्यक्ष की कल्पना करने वाले का खंडन कर दिया है ऐसा समझना चाहिये ।

प्रज्ञाकर (बौद्ध) — निविकल्प भी अक्षज्ञान से अभ्यास, प्रकरण एवं बुद्धि की पट्टा आदि के वश से दृष्टसजातीय में स्मृति होना युक्त ही है, क्योंकि सविकल्पप्रत्यक्ष ज्ञानवादी नैयायिकों के यहाँ सविकल्पप्रत्यक्ष के होने पर भी उस निविकल्प के अभाव में भी वह स्मृति नहीं हो सकती है, जैसे प्रतिवादी के द्वारा उपन्यस्त सकलवर्ण पदादिकों की अभ्यास आदि के बिना स्मृति नहीं हो सकती है । अथवा अभ्यास आदि के अभाव में अपने उच्छ्वास आदि की संख्या का भी निर्णय नहीं हो सकता है । क्योंकि सविकल्पप्रत्यक्ष के द्वारा उसका व्यवसाय होने पर भी किसी को अभ्यास आदि के अभाव में पुनः उसकी स्मृति नियम से सिद्ध नहीं है, जिससे कि प्रत्यक्ष की सविकल्प कल्पना फलवती हो सके ।

जैन—ऐसा कहने वाले आप प्रज्ञाकर बौद्ध भी अप्रज्ञाकर ही हैं, क्योंकि प्रत्यक्ष सर्वथा निरंशरूप एकस्वभाववाला है और क्वचित् नीलादि में अभ्यासादि का एवं इतर क्षणक्षयादि में अनभ्यासादि का युगपत् योग नहीं हो सकता है । अर्थात् वह प्रत्यक्ष नीलादि में तो अभ्यास आदि से युक्त है एवं क्षणक्षयादि में अनभ्यास आदि से सहित है, एकस्वभाववाले प्रत्यक्ष में ऐसी कल्पना युगपत् असंभव ही है ।

१ प्रस्तावः । (दि० प्र०) २ जिज्ञासितत्व । सदृशे । (दि० प्र०) ३ तेषामभ्यासादीनामभावे तस्याः दृष्टः सजातीये स्मृतेरसम्भवात् । (दि० प्र०) ४ दृष्टार्थः । (दि० प्र०) ५ पर्वतोप्यग्निमान् । धूमवत्त्वात् । यथा महानस इत्युक्ते सत्यपि अनभ्यासास्मृतिर्न स्यात् । (व्या० प्र०) ६ दृष्टसजातीये । (दि० प्र०) ७ नुः । (व्या० प्र०) ८ अभ्यासादिवशादेव क्षणक्षयादावपि स्मृतिर्भवत्विति स्याद्वादिभिराण्यमानदोषभ्यास्तथाभ्यासाद्यभावं प्रतिपादयन्तं सौगतं प्रति दूषणमाहुः सर्वथेत्यादि । (दि० प्र०) ९ अनभ्यासादीनां युगपदवटनात् । (दि० प्र०)

प्रसङ्गात्, तत्स्वभावस्य तदन्यव्यावृत्तिकल्पने फलाभावात्<sup>१</sup>, प्रतिनियततत्स्वभावस्यैवान्यव्यावृत्तिरूपत्वात् ।

[ ज्ञानं सविकल्पकमेवेति जैनाचार्याः कथयन्ति ]

सविकल्पकप्रत्यक्षज्ञानवादिनां त्वेषामवग्रहेहावायज्ञानादनभ्यासात्मकादन्यदेवाभ्यासात्मकं धारणाज्ञानं प्रत्यक्षम् । तेषां तदभावे परोपन्यस्तसकलवर्णपदादिष्ववग्रहादित्रयसद्भावेपि<sup>२</sup> न स्मृतिः । तत्सद्भावे तु<sup>३</sup> स्यादेव, सर्वत्र यथासंस्कारं स्मृत्यभ्युपगमात् क्वचिदभिलापसंस्कारादभिलापस्मृतिवत् । ‘प्रत्यक्षेभिलापसंस्कारविच्छेदे’<sup>४</sup> ‘कृतस्तद्विकल्प्याभिलापसंयोजनं यतः सामान्यमभिलाप्यं स्यात्’<sup>५</sup> । प्रत्यक्षगृहीतमेव हि स्वलक्षणमन्यव्यावृत्तं साधारणाकारतया प्रति-

सौगत (प्रज्ञाकर)—हम अन्य की व्यावृत्ति से उस प्रत्यक्ष में अभ्यासादि का योग स्वीकार कर लेंगे अर्थात् “प्रत्यक्ष में अभ्यासादि हैं अनभ्यासादि की व्यावृत्ति होने से” इस प्रकार से उस प्रत्यक्ष में अभ्यासादि का योग हो सकेगा ।

जैन—ऐसा नहीं कह सकते क्योंकि स्वयं अतत्स्वभाव प्रत्यक्ष में उस अन्य की व्यावृत्ति को सम्भवित करने पर अग्नि में अशीतत्वादि की व्यावृत्ति का प्रसंग आ जावेगा । अर्थात् शीतस्वभाव जिसका नहीं है वह अतत्स्वभाव है शीत से अन्य अशीतत्व, उसकी उस अन्य से व्यावृत्ति होने का प्रसंग आ जावेगा । एवं तत्स्वभावं प्रत्यक्ष में तदन्यव्यावृत्ति की कल्पना करने पर फल का अभाव हो जावेगा क्योंकि प्रतिनियत तत्स्वभाव ही अन्य व्यावृत्तिरूप है ।

[ ज्ञान सविकल्प ही है ऐसा जैनाचार्य सिद्ध करते हैं । ]

सविकल्पप्रत्यक्षज्ञानवादी हम जैनों के यहाँ तो अवग्रह, ईहा, अवायज्ञान अनभ्यासात्मक हैं एवं उनसे भिन्न ही धारणा ज्ञान अभ्यासात्मक है जो कि प्रत्यक्ष है ।

इस प्रकार हमारे यहाँ उस प्रत्यक्ष धारणाज्ञान के अभाव में पर के द्वारा उपन्यस्त सकलवर्ण पदादि में अवग्रह, ईहा, अवायरूप तीन ज्ञान के सद्भाव होने पर भी स्मृति नहीं हो सकती है और उस धारणाज्ञान के सद्भाव में तो स्मृति होती ही होती है क्योंकि सर्वत्र संस्कार के अनुकूल ही स्मृति को स्वीकार किया गया है, जैसे किसी नीलादि में धारणारूप वासना के शब्द संस्कार से ‘नीलम्’ इस प्रकार के शब्द की स्मृति देखी जाती है ।

निर्विकल्प प्रत्यक्ष में अभिलाप के संस्कार का विच्छेद होने पर उस विकल्प्य में अभिलाप का संयोजन कैसे होगा, कि जिससे आप सामान्य को अभिलाप्य—शब्द के द्वारा प्रतिपादित कर सकें ?

१ प्रयोजनाभावात् । (व्या० प्र०) २ धारणास्वभावे । (दि० प्र०) ३ तदसद्भावेपि तस्या एवेति पा० । (दि० प्र०) =धारणायाः । (दि० प्र०) ४ धारणाज्ञानमेव संस्कारशब्देनाभिधीयते । (दि० प्र०) ५ रहिते सति । (दि० प्र०) ६ प्रत्यक्षजनित । (दि० प्र०) ७ आशङ्क्य । (दि० प्र०)

भासमानं सामान्यं विकल्पाभिलापयोजनेनाभिलाप्यमिष्यते । न च<sup>१</sup> ग्राहकप्रत्यक्षस्मृति-  
प्रतिभासभेदाद्विषयस्वभावाभेदाभावः<sup>२</sup>, <sup>३</sup>सकृदेकार्थोपनिबद्धदर्शन<sup>४</sup>प्रत्यासन्नैतरपुरुषज्ञानविषय-  
वत्<sup>५</sup> । यथा हि सकृदेकस्मिन्नर्थे पादपादावुपनिबद्धदर्शनयोः प्रत्यासन्नविप्रकृष्टपुरुषयोज-  
नाभ्यां विषयीकृते स्पष्टास्पष्टप्रतिभासभेदान्न स्वभावभेदः पादपस्य, तस्यैकत्वाव्यतिक्रमात्,  
तथैव ग्राहकयोः प्रत्यक्षस्मृतिप्रतिभासयोर्भेदेऽपि स्पष्टमन्दतया<sup>६</sup> न तद्विषयस्य भेदः, <sup>७</sup>स्वल-  
क्षणस्यैकस्वभावत्वाभ्युपगमात् । तथा च मन्दप्रतिभासिनि<sup>८</sup> स्वलक्षणे घटादौ शब्दविकल्प-  
विषये तत्संकेतव्यवहारनियमकल्पनायामपि कथञ्चिदभिधेयत्वं वस्तुनः सिद्धम् । इत्यलं

क्योंकि प्रत्यक्ष के द्वारा गृहीत ही स्वलक्षण—परस्पर में असंश्लिष्ट परमाणुलक्षण है, वह अन्य—  
सामान्य से व्यावृत्त है और साधारण आकार से प्रतिभासमान सामान्य है । वह विकल्प—अभिलाप  
की योजना से अभिलाप्य - वाच्य है और इस प्रकार से सामान्य के द्वारा स्वलक्षण भी अभिलाप्य—  
कहा जाता है, क्योंकि सामान्य और स्वलक्षण में भेद का अभाव है ।

(यदि आप ऐसा कहें कि ग्राहक के भेद से सामान्य और स्वलक्षण में भेद है) तो हम कह सकते  
हैं कि ग्राहक प्रत्यक्ष, स्मृति के प्रतिभास के भेद से विषय और स्वभाव में अभेद का अभाव है ऐसा भी  
नहीं कह सकते हैं क्योंकि जैसे एकसाथ एकपदार्थ के प्रति उपनिबद्ध दर्शन—देखने में संलग्न निकट-  
वर्ती और दूरवर्तीपुरुष के ज्ञान का विषय भिन्न-भिन्न रहता है, जैसे कि एक ही पदार्थ वृक्षादि को  
देखने में संलग्न हुये दो मनुष्य एक निकटवर्ती है और दूसरा दूरवर्ती है, उन दोनों पुरुषों के द्वारा  
विषय करने पर स्पष्ट और अस्पष्ट प्रतिभास भेद पाया जाता है, एतावता उस वृक्ष में स्वभाव भेद  
नहीं है, क्योंकि वह वृक्ष एकत्व का उलंघन नहीं कर सकता है ।

उसी प्रकार से प्रत्यक्ष निविकल्प है एवं स्मृति सविकल्प है, इन दोनों के ग्राहक भिन्न-भिन्न होने  
से प्रत्यक्ष और स्मृति के प्रतिभास में स्पष्ट और मन्दरूप से प्रतिभास भेद होने पर भी स्वलक्षण  
और सामान्य में विषय का भेद नहीं है, क्योंकि स्वलक्षण को आपने एक स्वभाववाला स्वीकार  
किया है ।

उसी प्रकार से मन्द प्रतिभासी स्वलक्षण में एवं शब्द के विकल्प का विषयभूत घटादि में उसके  
संकेत और व्यवहार के नियम की कल्पना के करने पर भी कथञ्चित् वस्तु को अभिधेयत्व—वाच्य-  
पना सिद्ध ही है, इस प्रकार अब इस प्रकरण से बस होवे ।

अर्थात्—सामान्य की अपेक्षा से वस्तु अभिलाप्य है और अर्थपर्याय की अपेक्षा से अनभिलाप्य  
भी है, यह अनेकांत सिद्ध हो जाता है । अतः अवाच्यतारूपएकांतपक्ष में दूषण देने में अधिक विस्तार  
से अब कुछ प्रयोजन नहीं है । जो बौद्ध ऐसा कहता है कि रूपादि स्वलक्षण में शब्द का अभाव होने

१ ग्राहकभेदात् सामान्यस्वलक्षणयोर्भेद इत्युक्त आह । (व्या० प्र०) २ स्मृतिशब्देन विकल्पोऽत्र ग्राह्यः । (व्या० प्र०)

३ पादपः । (व्या० प्र०) ४ अनासन्न । (व्या० प्र०) ५ वसः । (व्या० प्र०) ६ अस्पष्ट । (व्या० प्र०)

७ घटादेः । (व्या० प्र०) ८ किञ्चिद्विदमपीति । (व्या० प्र०)

प्रसङ्गेन, रूपादिस्वलक्षणे शब्दाभावादवाच्यमेव तदिति ब्रुवाणस्य <sup>१</sup>प्रत्यक्षेर्थास्याभावात्तस्याज्ञेय-  
त्वप्रसक्तेः समर्थनात्, रूपाद्यर्थस्य कथञ्चिज्ज्ञेयत्वेभिलाप्यत्वस्यापि साधनात् प्रकृतार्थपरिस-  
माप्तौ प्रसङ्गस्य निष्प्रयोजनत्वात् पर्याप्तं प्रसङ्गेन <sup>२</sup>। तस्मादवाच्यतैकान्ते यदवाच्यमित्यभि-  
धानं तदसमञ्जसं, स्वलक्षणमनिर्देश्यमित्यादिष्वस्ववचनविरोधात् <sup>३</sup> तदप्यसद्, यदसतः <sup>४</sup>  
समुदाहृतमिति प्रतिपादनात्। यथैव हि स्वलक्षणमनिर्देश्यमित्यवाच्यतैकान्ते वक्तुमशक्यं तथा  
प्रत्यक्षं कल्पनापोढमित्यपि <sup>५</sup>, 'प्रत्यक्षेभिलापसंसर्गाभावे विकल्पानुत्पत्तिप्रसङ्गस्य निवेदित-  
त्वात्' <sup>६</sup>, तत्सद्भावे सविकल्पकत्वसिद्धेः <sup>७</sup>।

से स्वलक्षण अवाच्य है, उस बौद्ध के यहाँ भी निविकल्पप्रत्यक्ष में अर्थ का अभाव होने से वह अज्ञेय-  
पने को प्राप्त हो जावेगा, ऐसा समर्थन कर दिया है।

यदि रूपादि अर्थ को कथञ्चित् ज्ञेयरूप से स्वीकार करोगे तब तो उस-उस अर्थ को अभिलाप्य  
भी सिद्ध करना होगा और पुनः हमारा जो प्रकृतार्थ अवाच्यतैकान्त का खण्डन है उसकी परिसमाप्ति  
हो जाने पर प्रसंग में प्राप्त और भी दूषण निष्प्रयोजनीभूत ही है, इसलिये अब इस प्रसंग से बस  
होवे।

इसलिये "अवाच्यतैकान्त में" जो "अवाच्य" यह कथन है वह असमञ्जस ही है। जैसे कि  
"स्वलक्षण अनिर्देश्य है" इत्यादि वचन असमञ्जस हैं क्योंकि उसमें स्ववचन से ही विरोध आ  
जाता है। अतएव यह कथन भी असत् ही है क्योंकि आपने उदाहरण भी असत् का दिया है, ऐसा  
हमने प्रतिपादन कर दिया है कारण जैसे "स्वलक्षण अनिर्देश्य है" ऐसा कथन भी अवाच्यतैकान्तपक्ष  
में अशक्य है। उसी प्रकार से "प्रत्यक्ष भी कल्पनापोढ है" यह कहना भी अशक्य ही है, क्योंकि  
प्रत्यक्ष में शब्द के संसर्ग का अभाव मानने पर विकल्प की उत्पत्ति ही नहीं हो सकेगी, ऐसा प्रति-  
पादन कर दिया गया है, क्योंकि शब्द के संसर्ग के सद्भाव में ही सविकल्पपने की सिद्धि देखी  
जाती है।

१ अर्थस्य । (दि० प्र०) २ अवाच्यत्वनिषेधावतारेण । (व्या० प्र०) ३ अवाच्यतैकान्तम् । (व्या० प्र०) ४ प्रत्यक्षं  
कल्पनापोढम् । (व्या० प्र०) ५ अवाच्यतैकान्ते वक्तुमशक्यम् । (दि० प्र०) ६ अवाच्यतैकान्ते स्वलक्षणमनिर्देश्यं  
प्रत्यक्षं कल्पनापोढमितिवृत्तं वक्तुमशक्यमित्यत्रोपपत्तिमाहुः प्रत्यक्षेभिलापेत्यादि । (दि० प्र०) ७ विकल्पानुत्पत्तौ च  
स्वलक्षणमनिर्देश्यं प्रत्यक्षं कल्पनापोढमितिवृत्तं वक्तुमशक्यमेवेति भावः । (दि० प्र०) ८ प्रत्यक्षस्य । तस्मात् । का ।  
(दि० प्र०)

## अवस्तव्य के खण्डन का सारांश

**बौद्ध**—निर्विकल्पदर्शन स्वलक्षण को विषय करता है “स्वलक्षणं अनिर्देश्यं” स्वलक्षण अनिर्देश्य—अवाच्य है । निर्विकल्प में शब्द का संसर्ग नहीं है । सविकल्पप्रत्यक्ष नामजात्यादि शब्दों के संसर्ग से सहित है ।

**जैन**—जब विकल्प में शब्दों का संसर्ग है तब विकल्प के उत्पादक निर्विकल्प-प्रत्यक्ष में भी शब्द का संसर्ग मानना पड़ेगा, अन्यथा उसी निर्विकल्प से ही विषय किये गये बाह्य अथवा अंतरंग पदार्थ अविषय किये हुये के समान ही रहेंगे, क्योंकि नाम-शब्द और उसके अंश—स्वर, व्यञ्जन का निश्चय न होने से नाम के अर्थ का निर्णय भी कभी नहीं हो सकेगा, अव्यवसायात्मक दर्शन के द्वारा जाने गये पदार्थ भी नहीं जाने हुये के सदृश ही है अतएव सकल प्रमाणों का अभाव हो जावेगा, कारण प्रत्यक्ष-प्रमाण के अभाव में अनुमानप्रमाण नहीं हो सकता है ।

**स्वलक्षण का लक्षण**—सम्पूर्ण प्रमाणों के अभाव में प्रमेयरूप पदार्थों का भी अभाव हो जाने से यह सारा जगत् प्रमाण-प्रमेय से रहित—शून्यरूप ही हो जावेगा ।

यदि आप बौद्ध यह कहें कि जो अर्थक्रियाकारी है, परमार्थसत् है, वही स्वलक्षण है, उससे भिन्न जो अर्थक्रियाकारी नहीं है काल्पनिक-संवृतिरूप है, वह सामान्य है ।

यह कथन भी ठीक नहीं है । स्व-असाधारणरूप से लक्षित सामान्य भी स्वलक्षणरूप है, जैसे विशेष । विशेष विसदृश परिणामात्मक है, वह सामान्य में असंभवी है एवं सामान्य भी विशेष में असंभवी, सदृश परिणामात्मकरूप अपने स्वलक्षण से जाना जाता है । जैसे विशेष अपनी व्यावृत्ति-ज्ञानलक्षण अर्थक्रिया को करता है, वैसे सामान्य भी अपनी अन्वय ज्ञान लक्षण अर्थक्रिया को करता है । अतएव स्वलक्षणरूप से विशेष और सामान्य में अन्तर नहीं है, फिर भी आप बौद्ध सामान्य का शब्द संसर्गित विकल्पज्ञान से निश्चय करते हुये भी उस सामान्य से अभिन्न स्वलक्षण का निश्चय न करें, तो आप बुद्धिमान् कैसे कहे जावेंगे ?

यदि आप कहें कि स्वलक्षण न तो द्रव्य है, न उसका परिणाम है, न सामान्य है, न विशेष है, तब वह स्वलक्षण है क्या ? यदि कहो कि इन सभी से भिन्न ही एक चीज है, जिसका शब्द के द्वारा निर्देश नहीं होता है, अतएव वह “अवाच्य” है, निर्विकल्पबुद्धि में ही मात्र झलकता है । तब तो आपने जात्यंतररूप सामान्य-विशेषात्मक वस्तु को ही स्वलक्षण कह दिया है, क्योंकि परस्परनिरपेक्ष सामान्य, विशेष एवं द्रव्य गुणों से भिन्नरूप ही एक जात्यंतर वस्तु उभयात्मक से ही प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय है । अतएव सामान्य और विशेष में अभेद होने से शब्द भी सामान्य के समान स्वलक्षण का निश्चय करता हुआ प्रतीत होता है ।

इसलिए किंचित् भी प्रमेय अवाच्य नहीं है, किन्तु श्रुतज्ञान के द्वारा परिच्छेद्य ही है, क्योंकि शब्द से योजित वस्तु श्रुतज्ञान का विषय है । कथंचित् सामान्य की अपेक्षा से वस्तु वाच्य है, और अर्थपर्याय की अपेक्षा से अवाच्य है किन्तु सर्वथा अवाच्य नहीं है ।



तदेवं<sup>१</sup> स्वामिसमन्तभद्रभानवः<sup>२</sup> स्फुटतरविलसदकलङ्कन्यायगभस्तिभिरपहस्तिन<sup>३</sup> सम-  
स्तभावैकान्तादिपरमतध्वान्तसन्ततयोपि<sup>४</sup> परात्मपक्षनिराकरणसमर्थनायत्त<sup>५</sup> जयमादिशता<sup>६</sup>  
भगवताप्तेन किं पुनर्मे शासनं<sup>७</sup> प्रसिद्धेन<sup>८</sup> न बाध्यते इति स्पष्टं पृष्ट्वा इवाहुः—

**कथञ्चित्ते सदेवैष्टं<sup>९</sup> कथञ्चिदसदेव तत् ।**

**तथोभयमवाच्यं च नययोगान्न सर्वथा ॥१४॥**

उत्थानिका—इस प्रकार से स्वामी समन्तभद्राचार्यवर्य सूर्य जिन्होंने अपनी स्फुटतर-शोभा को प्राप्त अकलंकदेव की न्यायरूपीकिरणों से अथवा निर्दोष न्यायरूपी-किरणों से समस्त भावैकान्तादि परमतरूपी अंधकार की परम्परा को विनष्ट कर दिया है, ऐसे होते हुये भी परपक्ष का निराकरण और स्वपक्ष के समर्थन के आधीन जय को कहते हुये भगवान् आप्त ने ही मानों स्पष्टतया समन्त-भद्राचार्य से प्रश्न किया कि पुनः मेरा शासन प्रसिद्ध प्रमाणों से बाधित क्यों नहीं होता है ? इस प्रकार से पूछने पर ही मानों श्री समन्तभद्रस्वामी उत्तर देते हैं—

कारिकार्थ—हे भगवन् ! आपके मत में कथञ्चित् वस्तु सत् रूप ही है, इष्ट है एवं वही कथञ्चित् उभयरूप है और वही कथञ्चित् अवाच्यरूप भी है परन्तु यह सब व्यवस्था नयों की अपेक्षा से ही है सर्वथा नहीं है ।

च शब्द से कथञ्चित् 'सत् अवाच्य' ही है एवं 'असत् अवाच्य' ही है इस प्रकार से इष्ट शब्द से आपका शासन ही इष्ट है, ऐसा समुच्चय करना चाहिये ।

सत्त्वार्थवातिकालंकार में श्री अकलंकदेव ने कहा है—

“प्रश्नवशादेकत्र वस्तुन्यविरोधेन विधि-प्रतिषेधकल्पनासप्तभंगी” ।

अर्थ—प्रश्न के निमित्त से एक ही वस्तु में अविरोधरूप से विधि प्रतिषेध की कल्पना सप्तभंगी कहलाती है ।

भावार्थ—द्रव्य में सप्तभंगी को घटित करने से—(१) स्यादस्ति द्रव्यं (२) स्यान्नास्ति द्रव्यं (३) स्यादस्ति च नास्ति च द्रव्यं (४) स्यादवक्तव्यं द्रव्यम् (५) स्यादस्ति चावक्तव्यं च द्रव्यं (६) स्यान्नास्ति चावक्तव्यं च द्रव्यं (७) स्यादस्ति च नास्ति चावक्तव्यं च द्रव्यं ।

यहाँ पर सर्वथा अस्तित्व का निषेधक और अनेकांत का श्रोतक कथञ्चित् इस अपर नाम वाला 'स्यात्' शब्द निपात है । उसमें स्वद्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा द्रव्य अस्तिरूप है । परद्रव्य,

१ उक्तप्रकारेण । (दि० प्र०) २ किरणैः । (दि० प्र०) ३ निराकृतः । (व्या० प्र०) ४ आदिशब्देनाभावैकान्तोभयैकान्तावाच्यतैकान्ताग्राह्याः । (व्या० प्र०) ५ परात्मपक्षनिराकरणसमर्थनायत्तजयनादिसमाभगवेत्यादि पाठः । (दि० प्र०) ६ उपदिशता । (व्या० प्र०) ७ मतम् । (दि० प्र०) ८ प्रत्यक्षेण । (दि० प्र०) ९ अर्हत् । (दि० प्र०) शासनं जीवादितत्त्वं वा । (दि० प्र०)

चशब्दात्सदवाच्यमेव<sup>१</sup> कश्चिच्चिदसदवाच्यमेव तदुभयावाच्यमेवेष्टं ते शासनमिति समु-  
चचीयते, 'प्रश्नवशादेकत्र वस्तुन्यविरोधेन विधिप्रतिषेधकल्पना सप्तभङ्गी,' इति वचनात् ।  
नययोगादिति<sup>२</sup> वचनान्नयवाक्यानि सप्तैवेति दर्शयन्ति<sup>३</sup>, ततो न्यस्य<sup>४</sup> भङ्गस्यासंभवात्<sup>५</sup> । तत्सं-  
योगजभङ्गस्यापि कस्यचित्तत्रैवान्तर्भावात् कस्यचित्तु 'पुनरुक्तत्वाद्विधिकल्पनाया'<sup>७</sup> एव सत्य-  
त्वात् तयैकमेव<sup>८</sup> वाक्यमिति न मन्तव्यं, प्रतिषेधकल्पनायाः सत्यत्वव्यवस्थापनात्<sup>९</sup> । विध्ये-  
कान्तस्य निराकरणात् प्रतिषेधकल्पनैव<sup>१०</sup> सत्येत्यपि न सम्यक्, अभावेकान्तस्य निराकरणात् ।  
तदपेक्षयापि नैकमेव वाक्यं युक्तम् । सदर्थप्रतिपादनाय विधिवाक्यमसदर्थकथनार्थं तु प्रतिषे-

षेध, काल, भाव की अपेक्षा से द्रव्य नास्तिरूप है । क्रम से स्वपर द्रव्यादि की अपेक्षा से विवक्षित-  
द्रव्य तृतीय भंगरूप है, युगपद् स्व-परद्रव्यादि चतुष्टय से विवक्षित द्रव्य 'स्यादवक्तव्य' चतुर्थ  
भंगरूप है । स्व चतुष्टय तथा स्वपरद्रव्यादि चतुष्टय की युगपद् विवक्षा करने पर 'स्यादस्ति  
चा वक्तव्यं च द्रव्यं' है । परद्रव्यादि चतुष्टय और स्व पर चतुष्टय की विवक्षा से छठा भंग है तथा  
स्व द्रव्यादि एवं परद्रव्यादि और स्वपर चतुष्टय की अपेक्षा जब युगपत् हो जाती है, तब द्रव्य  
सातवाँ भंगरूप हो जाता है । यह कथन नहीं बनता हो ऐसी बात भी नहीं है, क्योंकि सभी वस्तु  
स्वरूप से अशून्य हैं, एवं पररूप से शून्य हैं उभयरूप से अशून्य शून्यरूप हैं युगपत् न कह सकने से  
अवाच्य हैं । भंगसंयोग की अर्पणा में 'अशून्या वाच्य' हैं, शून्यावाच्य हैं एवं अशून्यशून्यावाच्य हैं ।

"नययोगात्" इस वचन से नयवाक्य सात ही हैं इस प्रकार दिखाते हैं, क्योंकि उन सात से  
अन्य—अधिक भंग असम्भव हैं । उनके संयोग से उत्पन्न भंग भी उन्हीं किसी में अंतर्भूत हो जाते हैं ।  
अर्थात् "स्यात्सदसदवक्तव्यरूप" भंग प्रथम, द्वितीय, चतुर्थ भंगों के मध्य में परस्पर दो-दो और तीन  
के संयोग से उत्पन्न हुये हैं । कोई तो पुनरुक्त है अर्थात् तृतीय, पंचम, छठा और सातवाँ भंग दो-दो  
तीन अथवा चार के संयोग से बने हैं अतः पुनरुक्त हैं ।

शंका—विधि कल्पना ही वास्तविक है अतः उस विधि कल्पना के द्वारा एक ही वाक्य बन  
सकेगा ।

समाधान—ऐसा मानना ठीक नहीं है, क्योंकि हमने "भावेकान्ते" इस कारिका में प्रतिषेध  
कल्पना को भी सत्य रूप से व्यवस्थापित किया है ।

शंका—विधिरूप एकान्त कल्पना का निराकरण करने से प्रतिषेधकल्पना ही सत्य है ।

- १ द्रव्याधिकपर्यायाधिकप्रमुखनवनयविवक्षया सप्तभंगात्मकं चेष्टं जीवादितत्त्वम् । एकान्तत्वेन । कश्चिच्चिद् । (दि० प्र०)  
२ च शब्दात्सदसदमेव समुचचीयत इत्यत्र ग्रन्थकर्त्रेभिप्रायश्च सूचयन्ति नययोगादिति । (दि० प्र०) ३ स्वामीसप्तभ-  
गव्याचार्याः । (दि० प्र०) ४ सप्तैवेति नियमः कुत इत्यत आहुस्ततो न्यस्येति । (दि० प्र०) ५ वचनविकल्पस्य ।  
(दि० प्र०) ६ हेतुत्रयस्यापि सप्तैवेत्यादि साध्यम् । (व्या० प्र०) ७ सदेव । (व्या० प्र०) ८ बहु । न सप्तधा ।  
(व्या० प्र०), नैकमेव इति वा० । (दि० प्र०) ९ अग्रे । (दि० प्र०) १० असदेव । (व्या० प्र०)

धवाक्यमिति वाक्यद्वयमेव, सदसद्वर्गास्तत्त्वमिति वचनात्, प्रमेयान्तरस्य शब्दविषयस्यासंभवादिति च न चेतसि विधेयं, <sup>१</sup>प्रधानभावापितसदसदात्मनो वस्तुनः प्रधानभूतैकैकधर्मात्मिकादर्थार्थान्तरत्वसिद्धेः, सत्त्ववचनेनैवासत्त्ववचनेनैव वा सदसत्त्वयोः क्रमापितयोः प्रतिपादयितुमशक्तेः । <sup>२</sup>सदसदुभयविषयं वाक्यत्रयमेवेति <sup>३</sup>चायुक्तं, सहोभयवाक्यस्यावक्तव्यत्वविषयस्य व्यवस्थितेः । तथापि वानञ्चतुस्तयमेवेति <sup>४</sup>चायुक्तं, <sup>५</sup>सदसदुभयावक्तव्यत्वविषयस्य<sup>६</sup> वाक्यान्तरत्रयस्यापि भावात्—विधिकल्पना<sup>७</sup> (१), प्रतिषेधकल्पना<sup>८</sup> (२), क्रमतो विधिप्रतिषेधकल्पना<sup>९</sup> (३), सह विधिप्रतिषेधकल्पना च (४), विधिकल्पनासहविधिप्रतिषेधकल्पना च

**समाधान—**यह कथन भी सम्यक् नहीं है, अभावाकांत का हमने खण्डन कर दिया है इसलिये विधिकल्पना की अपेक्षा से या प्रतिषेधकल्पना की अपेक्षा से भी एक ही वाक्य है, ऐसा कहना युक्त नहीं है ।

**यौग—**सत्अर्थ का प्रतिपादन करने के लिये विधिवाक्य है एवं असत्अर्थ का कथन करने के लिये प्रतिषेधवाक्य है । इस प्रकार से दो ही वाक्य हैं, जो कि परस्परनिरपेक्ष हैं क्योंकि हमारे यहाँ “सदसद्वर्गास्तत्त्वमिति” कथन पाया जाता है अर्थात्—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय ये सत्रूप हैं और निरपेक्षअभाव पदार्थ असत्रूप है । एवं सत्-असत् को छोड़कर शब्द का विषयभूत भिन्न प्रमेय ही असंभव है ।

**जैन—**ऐसा भी कथन मन में नहीं समझना चाहिये क्योंकि प्रधानभाव से विवक्षित सदसदात्मक वस्तु प्रधानभूत एक-एक धर्मात्मक अर्थ से अर्थान्तररूप सिद्ध है, क्योंकि सत्त्ववचन से ही अथवा असत्त्ववचन से ही क्रम से अपित सत्-असत् का प्रतिपादन करना शक्य नहीं है ।

**शंका—**सत्-असत् और उभय को विषय करने वाले तीन ही वाक्य हैं ।

**समाधान—**यह कथन भी अयुक्त ही है, क्योंकि युगपत् सत्-असत् रूप उभय वाक्य को कहना अशक्य है, अतः अवक्तव्य को विषय करने वाला वाक्य भी व्यवस्थित है ।

**शंका—**फिर भी वाक्य चार ही हो सकेंगे ।

**समाधान—**नहीं, सद्, असद्, उभयअवक्तव्य को विषय करने वाले तीन वाक्य और भी हैं ।

१ विवक्षित । (व्या० प्र०) २ कश्चित् । (व्या० प्र०) ३ शिष्येणोक्तम् । (व्या० प्र०) ४ तदस्यचोद्यम् । (व्या० प्र०) ५ भासहित । सदवक्तव्यमित्यादि । तदेव । यस्य । (व्या० प्र०) ६ प्रधानभावापितसदवक्तव्यत्वाक्य-पञ्चमधर्मात्मनो वस्तुनः प्रधानभूतैकैकधर्मात्मिकादर्थार्थान्तरत्वसिद्धेः सत्त्ववचनेनैवासत्त्ववचनेनैव वा सदवक्तव्यत्वयोः क्रमापितयोः प्रतिपादयितुमशक्तेः । एवं शेषधर्मद्वयेऽपि योजनीयम् । अस्तित्वनास्तित्वाप्यतृतीयधर्मस्य ग्रन्थकर्तृभिरेव समर्थितत्वात् । (दि० प्र०) ७ सदेव । (व्या० प्र०) ८ स्यादसदेव । (व्या० प्र०) ९ सदसत् । (व्या० प्र०)



(५), प्रतिषेधकल्पनासहविधिप्रतिषेधकल्पना च (६), क्रमाक्रमाभ्यां<sup>१</sup> विधिप्रतिषेधकल्पना (७), च सप्तभङ्गीति व्याख्यानात् ।

[ प्रत्यक्षादिविरुद्धापि सप्तभङ्गी संभवति न वा ? ]

न चैवं प्रत्यक्षादिविरुद्धविधिप्रतिषेधकल्पनापि सप्तभङ्गी स्यादिति शक्यं वक्तुम्, अविरोधेनेति वचनात्<sup>२</sup> । नानावस्तुवाश्रयविधिप्रतिषेधकल्पना सप्तभङ्गीयपि प्रसज्यते<sup>३</sup> इति च न चिन्त्यमेकत्र वस्तुनीति वचनात् ।

[ सप्तभङ्गी एव कथं ? अनन्तभङ्गी अपि भवेत् का हानि ? ]

नन्वेकत्रापि जीवादिवस्तुनि विधीयमाननिषिध्यमानानन्तधर्मसङ्ख्यावातकल्पनानन्तभङ्गी स्यादिति चेन्न, अनन्तानामपि सप्तभङ्गीनामिष्टत्वात्<sup>४</sup> 'तत्रैकत्वानेकत्वादिकल्पनयापि<sup>५</sup> सप्ता-

अर्थात् सदवक्तव्य, असद्वक्तव्य, उभयावक्तव्य इन तीन के विषयभूत तीन वाक्य और भी हैं । उसी का स्पष्टीकरण—

(१) विधिकल्पना (२) प्रतिषेधकल्पना (३) क्रमतो विधि प्रतिषेध कल्पना (४) सह विधि-प्रतिषेधकल्पना (५) विधि कल्पना सह विधि प्रतिषेध कल्पना च (६) प्रतिषेध कल्पना सह विधि प्रतिषेध कल्पना (७) क्रमाक्रमाभ्यां विधि प्रतिषेध कल्पना ।

इस प्रकार से सप्तभङ्गी का व्याख्यान किया गया है ।

[ प्रत्यक्ष आदि से विरुद्ध भी सप्तभङ्गी हो सकती है क्या ? ]

शंका—एक ही वस्तु में प्रत्यक्ष आदि से विरुद्ध विधि प्रतिषेध कल्पना भी सप्तभङ्गी हो जावेगी ।

समाधान—ऐसा कहना शक्य नहीं है क्योंकि सूत्र में “अविरोधेन” इस पद को पहले ही ले लिया है ।

शंका—नानावस्तु के आश्रय से विधि प्रतिषेध कल्पना भी सप्तभङ्गी हो जावेगी ।

समाधान—यह कथन भी शक्य नहीं है, क्योंकि “एकत्र वस्तुनि” ऐसा पद ग्रहण किया है ।

[ सप्तभङ्गी ही क्यों अनन्तभङ्गी भी बनाइये, क्या बाधा है ? ]

तदस्थ जैन को शंका—एकत्र भी जीवादि वस्तु में विधीयमान और निषिध्यमान अनन्त-धर्मों का सद्भाव है अतः उन अनन्त-धर्मों की कल्पना अनन्तभङ्गी हो जावेगी तथा सप्तभङ्गी नहीं रहेगी ।

१ उभयरूपस्तृतीयः सदसत् । चतुर्थोऽनुभयोऽवक्तव्यम् । (व्या० प्र०) २ तत्रैव वाक्ये एवमुत्तरबोधयन्नापि । (दि० प्र०)

३ प्रश्नः । (दि० प्र०) ४ सप्तभङ्गीनां मध्ये । जीवद्रव्यापेक्षया एकत्वं पर्यायापेक्षयाऽनेकत्वं नित्यत्वमनित्यत्वमित्यादि धर्मद्वयापेक्षया स्यादेकत्वं स्यादनेकत्वं स्यादुभयमित्यादिप्रकारेणापि । (दि० प्र०) ५ एकमेकं धर्मं प्रतिसप्तभङ्गी संभवात् । तेषु मध्ये । नित्यानित्यम् । (व्या० प्र०)

नामेव भङ्गानामुपपत्तेः, प्रतिपादयन्तानां<sup>१</sup> तावन्नामेव संभवात्, प्रश्नवशादेव सप्तभङ्गीति नियमवचनात् । सप्तविध एव तत्र<sup>२</sup> प्रश्नः कुत इति चेत्, सप्तविधजिज्ञासाघटनात् । सापि सप्तविधा कुत इति चेत्, सप्तधा संशयोत्पत्तेः । सप्तधैव संशयः कथमिति चेत्, तद्विषय-वस्तुधर्मसप्तविधत्वात् ।

तत्र सत्त्वं वस्तुधर्मः, तदनुपगमे वस्तुनो वस्तुत्वायोगात् खरविपाणादिवत् । तथा कथञ्चिदसत्त्वं, स्वरूपादिभिरिव पररूपादिभिरपि वस्तुनोऽसत्त्वानिष्टौ प्रतिनियतस्वरूपाभावा-

समाधान—ऐसा नहीं कह सकते । अनन्त सप्तभंगी हमें इष्ट है । अर्थात् धर्म-धर्म के प्रति सप्त-भंगी पाई जाती है और प्रत्येक वस्तु में अनन्त धर्म हैं, अतः सप्तभंगी भी अनन्त हो जाती हैं किन्तु अनन्तभंगी नहीं हो सकती हैं क्योंकि उस वस्तु में एकत्व, अनेकत्व आदि की कल्पना से सात ही भंग हो सकते हैं और शिष्यों के द्वारा प्रश्न भी उतने ही हो सकते हैं । तथा “प्रश्नवशादेव सप्तभंगी” इस प्रकार का वचन भी पाया जाता है ।

शंका—उसमें सात प्रकार के ही प्रश्न क्यों हैं ?

समाधान—सात प्रकार की ही जिज्ञासा हो सकती है ।

शंका—वह जिज्ञासा भी सात ही प्रकार की क्यों ?

समाधान—सात ही प्रकार से संशय उत्पन्न होता है ।

शंका—सात प्रकार का ही संशय क्यों है ?

समाधान—उसके विषयभूत वस्तु धर्म सात प्रकार के ही हैं । उन वस्तु धर्मों में “सत्त्व” वस्तु का धर्म है । यदि उसे न स्वीकार करें, तो वस्तु में वस्तुत्व का ही अभाव हो जावेगा, गधे के सींग के समान । उसी प्रकार से कथञ्चित् असत्त्व भी वस्तु का धर्म है । स्वद्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के समान पर द्रव्यादि चतुष्टय से भी यदि वस्तु असत् इष्ट न करें अर्थात् सत् स्वीकार कर लेवें तब तो “यह घट ही है, पट नहीं है” इत्यादि प्रतिनियत स्वरूप का अभाव हो जाने से वस्तु के प्रतिनियम का ही विरोध हो जावेगा । इसी प्रकार सत्त्व एवं असत्त्व वस्तु के धर्म हैं इस कथन से क्राम से अपित उभयत्व आदि भी वस्तु के धर्म हैं, ऐसा प्रतिपादन कर दिया गया है, उस उभयत्व धर्म को स्वीकार न करने पर क्रम से सत्त्व और असत्त्व विकल्प के शब्द व्यवहार का विरोध हो जावेगा और अवक्तव्य के साथ वर्तमान उत्तर तीनों धर्मों के विकल्प के शब्द व्यवहार का अभाव हो जावेगा । अतएव वस्तु में सात प्रकार के संशय से सात ही भंग पाये जाते हैं । यह सप्तविध व्यवहार निर्विषयक भी नहीं है, क्योंकि

१ क्रियमाण । (दि० प्र०) २ जीवादिवस्तुनि । (दि० प्र०) ३ तावद्दुः । (व्या० प्र०) ४ सत्त्वानङ्गीकारे । (दि० प्र०)

द्वस्तुप्रतिनियमविरोधात्<sup>१</sup> । एतेन क्रमापितोभयत्वादीनां वस्तुधर्मत्वं प्रतिपादितं, <sup>२</sup>तदभावे क्रमेण सदसत्त्वविकल्पशब्दव्यवहारस्य <sup>३</sup>विरोधात्, <sup>४</sup>सहावक्तव्य<sup>५</sup>तदुत्तरधर्मत्रयविकल्पशब्दव्यवहारस्य चासत्त्वप्रसङ्गात्<sup>६</sup> । न चाभी व्यवहारा निर्विषया<sup>७</sup> एव, वस्तुप्रतिपत्तिप्रवृत्तिप्राप्ति-निश्चयात् तथाविधरूपादिव्यवहारवत्<sup>८</sup> । <sup>९</sup>तस्यापि निर्विषयत्वे सकलप्रत्यक्षादिव्यवहारापह्नवान्न कस्यचिदिष्टतत्त्वव्यवस्था स्यात् । ननु च प्रथमद्वितीयधर्मवत् प्रथमतृतीयादिधर्माणां क्रमेतरापितानां धर्मान्तरत्वसिद्धेर्न सप्तविधधर्मनियमः सिध्येदिति चेन्न, क्रमापितयोः प्रथमतृतीयधर्मयोर्धर्मान्तरत्वेनाप्रतीतेः सत्त्वद्वयस्यासंभवात्, विवक्षितस्वरूपादिना <sup>१०</sup>सत्त्वस्यैकत्वात् । तदन्यस्वरूपादिना<sup>११</sup> सत्त्वस्य द्वितीयस्य संभवेपि <sup>१२</sup>विशेषादेशात्तत्प्रतिपक्षभूतासत्त्वस्यापि<sup>१३</sup> परस्य<sup>१४</sup> भावादपरधर्मसप्तकसिद्धेः<sup>१५</sup> सप्तभङ्गधन्तरसिद्धेः कथमुपालम्भः? एतेन द्वितीयतृतीयधर्मयोः <sup>१६</sup>क्रमापितयोर्धर्मान्तरत्वमप्रातीतिक<sup>१७</sup> व्याख्यातम् ।

वस्तु की प्रतिपत्ति, उसमें प्रवृत्ति और उसकी प्राप्ति का निश्चय देखा जाता है । जैसे कि रूपादि की प्रतिपत्ति, प्रवृत्ति एवं प्राप्ति का व्यवहार पाया जाता है और उसको भी निर्विषय मानने पर संपूर्ण प्रत्यक्षादि व्यवहार का लोप हो जावेगा, पुनः किसी के भी इष्टतत्त्व की व्यवस्था नहीं बन सकेगी ।

शंका—अस्तित्वधर्म से नास्तित्व धर्म धर्मान्तर है अतः उस प्रथम एवं द्वितीय धर्म के समान प्रथम, तृतीय आदि धर्मों में क्रम और सह से विवक्षित धर्मान्तरत्व सिद्ध है अतएव सात प्रकार के धर्म का नियम सिद्ध नहीं हो सकेगा ।

समाधान—नहीं, प्रथम और तृतीय धर्म की धर्मान्तरपने से प्रतीति नहीं होती है कारण दो सत्त्व असंभव हैं । अतएव विवक्षित स्वरूपादि चतुष्टय से सत्त्व एक ही है और विवक्षित से भिन्न स्वरूपादि से द्वितीय सत्त्व के संभव होने पर भी विशेष आदेश से वह अन्य सत्त्व है और उसका प्रतिपक्षभूत दूसरा असत्त्व भी विद्यमान है, अतः दूसरा ही धर्म सप्तक सिद्ध हो जाने से भिन्न ही सप्तभङ्गी सिद्ध हो जाती है । यह उलाहना कैसे दिया जा सकता है ? अर्थात् नहीं दिया जा सकता है ।

१ अन्यथा । (दि० प्र०) २ क्रमेण । (दि० प्र०) ३ क्रमापितोभयत्वादीनां पञ्चानां भङ्गानामभावे क्रमेण सत्त्वस-  
सत्त्वमिति भङ्गद्वयस्याभावो घटते । (दि० प्र०) ४ अस्तित्वनास्तित्वयोः सह विवक्षया यदवक्तव्यत्वं धर्मस्तत् सहा-  
वक्तव्यत्वम् । अवक्तव्यं सदवक्तव्यमसदवक्तव्यमुभयावक्तव्यञ्चेति । (दि० प्र०) ५ वसः । (दि० प्र०) ६ च  
हेत्वन्तरम् । (दि० प्र०) ७ निरर्थका एव न । (दि० प्र०) ८ प्रतिपत्त्यादि हेतुः । (दि० प्र०) ९ रूपादेः । (दि० प्र०)  
१० एकजीवस्य । (व्या० प्र०) ११ देवस्वरूपास्य । (व्या० प्र०) १२ पर्यायकथनात् । (व्या० प्र०) १३ सत्त्व ।  
(दि० प्र०) १४ अनुष्यस्य । (व्या० प्र०) १५ वसः । (व्या० प्र०) १६ सप्तधर्मान् विहायान्यो धर्मो न स्यात् ।  
(दि० प्र०) १७ इति । (दि० प्र०)

[ चरमत्रयभंगा वस्तुनो धर्मा न भविष्यतीति विचारः ]

प्रथमचतुर्थयोर्द्वितीयचतुर्थयोस्तृतीयचतुर्थयोश्च सहितयोः कथं 'धर्मान्तरत्वमेवं स्यादिति चेच्चतुर्थेऽवक्तव्यत्वधर्मे सत्त्वासत्त्वयोरपरामर्शत्<sup>१</sup> । न हि सहापितयोस्तयोरवक्तव्यशब्देनाभिधानम् । किं तर्हि ? तथापितयोस्तयोः सर्वथा वक्तुमशक्तेरवक्तव्यत्वस्य धर्मान्तरस्य तेन प्रतिपादनमिष्यते । न च तेन सहितस्य सत्त्वस्यासत्त्वस्योभयस्य वाऽप्रतीतिर्धर्मान्तरत्वासिद्धिर्वा,

[ कया कयापेक्षया सप्तभंगाः संभवन्ति, तस्य स्पष्टीकरणं ]

प्रथमे भङ्गे सत्त्वस्य प्रधानभावेन प्रतीतेः, द्वितीये पुनरसत्त्वस्य, तृतीये क्रमापितयोः

इसी उपर्युक्त कथन से क्रम से अपित द्वितीय और तृतीय धर्म में धर्मान्तरपना प्रतीति सिद्ध नहीं है यह बात भी कह दी गई है ।

[ अन्तिम तीन भंग वस्तु के धर्म नहीं हैं ? इस पर विचार ]

शंका—प्रथम और चतुर्थ भंग सहित होने पर, तथा द्वितीय और चतुर्थ भंग सहित करने पर, एवं तृतीय और चतुर्थ को साथ मिलाने पर, यह पांचवे, छठे और सातवें भंग बनते हैं और यह पूर्व के ३ भंगों में ही शामिल हो जाते हैं, अतः ये तीन भंग वस्तु के भिन्न धर्म कैसे कहे जा सकते हैं ?

समाधान—नहीं, चौथे अवक्तव्य धर्म में सत्त्व और असत्त्व का अपरामर्श होने से वे भंग बन जाते हैं यथा अवक्तव्य धर्म में सत्त्व का अपरामर्श होने पर पांचवां भंग होता है एवं अवक्तव्य में नास्तित्व का अपरामर्श होने से छठा भंग बनता है तथा उसी अवक्तव्य में अस्तित्व और नास्तित्व इन दोनों धर्मों का अपरामर्श होने से सातवां भंग बन जाता है क्योंकि एक साथ अवक्तव्य और अस्ति नास्ति दोनों धर्मों को अवक्तव्य शब्द से कह नहीं सकते हैं ।

शंका—तब कैसे कहते हैं ?

समाधान—एक साथ अपित उन दोनों को सर्वथा कहना अशक्य है, इसलिये उस अवक्तव्य से सहित सत्त्व, असत्त्व अथवा उभय धर्म की प्रतीति न हो, ऐसी बात भी नहीं है अथवा इन तीनों को धर्मान्तरत्व की सिद्धि न हो, ऐसी बात भी नहीं है । अतः ये तीनों भंग धर्मान्तररूप सिद्ध हैं ।

[ किम किम अपेक्षा से सातों भंग होते हैं उसका स्पष्टीकरण ]

प्रथम भंग में सत्त्व धर्म की प्रधानभाव से प्रतीति होती है । द्वितीय भंग में असत्त्व धर्म की प्रधानभाव से प्रतीति होती है । तृतीय भंग में क्रम से अपित सत्त्व, असत्त्व की प्रतीति हो रही है ।

१ चतुर्थभंगे सहापितयोः सदसत्त्वयोरभिधानात्तेन सह प्रथमादिभंगसंयोगे सति पुनरुक्तत्वाद्विशेषात् । (दि० प्र०)

२ अनिश्चयात् । (दि० प्र०) ३ सह । (दि० प्र०)

सत्त्वासत्त्वयोः, चतुर्थेऽवक्तव्यत्वस्य, पञ्चमे सत्त्वसहितस्य, षष्ठे पुनरसत्त्वोपेतस्य, सप्तमे क्रम-  
वत्तदुभययुक्तस्य तत्र शेषधर्मगुणभावाध्यवसायात्<sup>१</sup> ।

[ वक्तव्यमध्यष्टमो भंगो भवेत् का हानि ? ]

स्यान्मतम् 'अवक्तव्यत्वस्य धर्मान्तरत्वे वस्तुनि वक्तव्यत्वस्यापि धर्मान्तरस्य भावादष्ट-  
मस्य कथं सप्तविध एव धर्मः सप्तभङ्गीविषयः स्यात्' इति, तदप्ययुक्तं, 'सत्त्वादिभिरभिधी-  
यमानस्य<sup>२</sup> वक्तव्यत्वस्य प्रसिद्धेः, सामान्येन वक्तव्यत्वस्यापि विशेषेण<sup>४</sup> अवक्तव्यतायामनव-

चौथे भंग में अवक्तव्यत्व की प्रतीति है । पांचवें भंग में सत्त्वसहित अवक्तव्य की प्रतीति है । छठे में पुनः असत्त्व सहित अवक्तव्य है । एवं सातवें में क्रम से सत्त्व, असत्त्वरूप उभय धर्म से सहित अवक्तव्य की प्रधानभाव से प्रतीति हो रही है ।

इस प्रथम सत्त्व भंग में शेष असत्त्व आदि छह धर्म गौणरूप से पाये जाते हैं :

[ वक्तव्य को भी आठवां भंग मानों, क्या हानि है ? ]

शंका—अवक्तव्य को पृथक् भिन्न धर्म सिद्ध करने पर वस्तु में वक्तव्यरूप एक आठवां धर्मान्तर भी विद्यमान है अतः सात प्रकार का धर्म ही सप्तभङ्गी का विषय है यह कथन कैसे सिद्ध हो सकता है ?

समाधान—यह शंका अयुक्त है, क्योंकि सत्त्वादि के द्वारा वक्तव्य धर्म ही तो कहे जाते हैं । सामान्य से अर्थात् स्यादस्ति स्यान्नास्ति इत्यादि रूप वक्तव्य धर्म को कह देने पर भी यदि आप कहें कि विशेष रूप से अर्थात् स्यादस्ति वक्तव्य स्यान्नास्ति वक्तव्य इत्यादिरूप से कहना चाहिये । तब तो अनवस्थादूषण आ जावेगा । अथवा वक्तव्य और अवक्तव्यरूप दो धर्मों की सिद्धि हो जावे । तथापि उन वक्तव्य, अवक्तव्य धर्म के द्वारा विधि और प्रतिषेध कल्पना के विषयभूत सत्त्व, असत्त्व धर्म के समान ही सप्तभङ्गचन्तर-भिन्नरूप ही सप्तभङ्गी की प्रवृत्ति हो जावेगी । अतः उस संशय के विषयभूत सात प्रकार के धर्म के नियम का विघात कथमपि नहीं हो सकेगा, कि जिससे उस विषयक संशय सात प्रकार का ही न होवे । एवं उस संशय हेतुक जिज्ञासा भी सात प्रकार की ही न होवे । अथवा उस जिज्ञासा निमित्तक प्रश्न भी सप्तधा ही न होवे अथवा जो कि एक ही वस्तु में सात प्रकार के वाक्य के नियम के हेतुक न होवें । इस प्रकार से श्री भट्टाकलंकदेव ने सत्त्वादिधर्म की विषय करने वाली वाणी सप्तभङ्गीरूप सम्यक् ही कही है, वह सप्तभङ्गी वाणी स्याद्वादामृतगभिणी है । इस स्यात् पद का अर्थ इस कारिका में कथञ्चित् शब्द से कहा गया है ।

१ तावहुः । (व्या० प्र०) २ सप्तभिः । आदिशब्देनाऽसत्त्वसदसत्त्वाख्यवाक्यद्वयं ग्राह्यं । ननु अवक्तव्यादिशब्देनापि वस्तुतोऽभिधीयमानत्वसदभावात् कथं तद्वाक्यद्वयमेव तेन ग्राह्यमिति चेत् । न सत्त्वासत्त्वाख्यधर्मद्वयापेक्षया सत्त्वादुभय-  
विषयवाक्यत्रयेणैव तस्याभिधीयमानत्वादवक्तव्यत्वादि धर्मोऽप्यस्याऽवक्तव्यादिशब्दैस्तस्याभिधीयमानत्वे सत्यप्यप्रस्तु-  
तत्वेनाविवक्षितत्वात् । (दि० प्र०) ३ वस्तुनः । (दि० प्र०) ४ सत्त्वादिभंगत्रयरूपेण संघटित इत्यादिप्रकारेण । (दि० प्र०) ५ विशेषावक्तव्यतायामवस्थानात् इति पा० । (व्या० प्र०)

स्थानात्<sup>१</sup> । भवतु वा <sup>२</sup>वक्तव्यत्वावक्तव्यत्वयोर्धर्मयोः सिद्धिः । तथापि ताभ्यां <sup>३</sup>विधिप्रति-  
षेधकल्पनाविषयाभ्यां सत्त्वासत्त्वाभ्यामिव सप्तभङ्गचन्तरस्य प्रवृत्तेन <sup>४</sup>तद्विषयसप्तविधधर्म-  
नियमविधातोस्ति यतस्तद्विषयसंशयः सप्तधैव न स्यात्तद्धेतुजिज्ञासा वा तन्निमित्तः<sup>५</sup> प्रश्नो वा  
वस्तुन्येकत्र सप्तविधवाक्यनियमहेतुः । इति सूक्ता सत्त्वादिधर्मविषया गौः सप्तभङ्गी । सा  
च स्याद्वादामृतगभिणी<sup>६</sup> स्याद्वचनार्थस्य कथञ्चिच्छब्देन प्रतिपादनात्<sup>७</sup>, तेनानेकान्तस्य द्योत-  
केन वाचकेन<sup>८</sup> वा तस्याः प्रतिहर्तृकान्तान्धकारोदयत्वात् । न चैवं स्याच्छब्दवत्कथञ्चिच्छब्दे-

अनेकांत के द्योतक अथवा वाचक उस 'कथञ्चित्' शब्द के द्वारा एकांतरूप अंधकार को नष्ट करके सप्तभङ्गी का उदय होता है ।

शंका—स्यात् शब्द के समान 'कथञ्चित्' शब्द के द्वारा ही अनेकांत का प्रतिपादन हो जाता है पुनः सत् आदि वचन अनर्थक ही हैं ?

समाधान—यह शंका ठीक नहीं है उस कथञ्चित् शब्द से सामान्य तथा अनेकांत का ज्ञान हो जाने पर भी विशेषार्थी मनुष्य को विशेष-विशेष का ज्ञान कराने के लिये उन सत् आदि विशेषों का भी पुनः प्रयोग किया जाता है ।

“सामान्य का प्रतिपादन करने पर भी विशेषार्थी के द्वारा विशेष का पुनः प्रयोग करना चाहिये जैसे 'वृक्ष' । ऐसा सामान्य से कह देने पर भी पशवात् विशेषार्थी के द्वारा न्यग्रोध है, इस प्रकार कहा जाता है ।”

द्योतक पक्ष में सदादिवचन न्यायप्राप्त हैं क्योंकि उस सदादिवचन के द्वारा कहा गया अनेकांत 'कथञ्चित्' शब्द से द्योतित किया जाता है । यदि उस कथञ्चित् शब्द के द्वारा अनेकांत का द्योतन नहीं मानोगे, तब तो सर्वधारूप एकांत शंका का व्यवच्छेद करके अनेकांत की प्रतिपत्ति का अभाव हो जावेगा । जैसे कि एवकार का प्रयोग न करने पर विवक्षित अर्थ का ज्ञान नहीं होता है तथैव ।

शंका—अनुक्त—बिना कहे भी कथञ्चित् शब्द सामर्थ्य से प्रतीति में आ जावेगा जैसे कि सर्वत्र एवकार बिना प्रयुक्त भी सामर्थ्य से आ जाता है ।

समाधान—नहीं, प्रतिपादकगुरु की स्याद्वाद न्याय में कुशलता न होने से प्रतिपाद्य-शिष्यों को उस स्याद्वादन्याय की प्रतीति नहीं हो सकेगी । अतएव उस कथञ्चित् शब्द का प्रयोग कहीं पर एक जगह अवश्य ही करना चाहिये ।

१ अन्तर्भावात् । (दि० प्र०) २ वक्तव्यत्वावक्तव्ययोरिति पा० । (दि० प्र०) ३ वसः । (दि० प्र०) ४ सप्तभङ्गी । (दि० प्र०) ५ वसः । (व्या० प्र०) ६ गभीरमध्यम् । (व्या० प्र०) ७ ननु स्याद्वादवचनेन तस्या प्रतिहर्तृकान्तान्धका-  
रोदयत्वं भवतु ननु कथञ्चिच्छब्देनान्तस्तेन कथं तदर्थकथनमित्याह । (दि० प्र०) ८ केचित्द्योतकत्वं निवेदयन्ति । (दि० प्र०)

नैवानेकान्तस्य प्रतिपादनात्सदादिवचनमनर्थकमाशङ्कनीयं<sup>१</sup>, ततः सामान्यतोनेकान्तस्य प्रति-  
पत्तावपि विशेषार्थिना<sup>२</sup> विशेषस्यानुप्रयोगात्, सामान्यतोपक्रमेपि विशेषार्थिना विशेषेणुप्रयो-  
क्तव्यो, वृक्षो न्यग्रोध इति यथेति वचनात्<sup>३</sup> । द्योतकपक्षे<sup>४</sup> तु न्यायप्राप्तं सदादिवचनं, तेनो-  
क्तस्य कथञ्चिच्छब्देन द्योतनात्, तेनानुद्द्योतने<sup>५</sup> सर्वथैकान्तशङ्काव्यवच्छेदेनाऽनेकान्तप्रति-  
पत्तेरयोगात्<sup>६</sup>, एवकारावचने विवक्षितार्थप्रतिपत्तिवत्<sup>७</sup> । नन्वनुक्तोपि कथञ्चिच्छब्दः  
सामर्थ्यप्रतीयते, सर्वत्रैवकारवदिति चेन्न, प्रयोजकस्य<sup>८</sup> स्याद्वादन्यायाकौशले<sup>९</sup> प्रतिपाद्यानां<sup>१०</sup>  
<sup>१२</sup>तदप्रतीतेस्तद्वचनस्य<sup>१३</sup> क्वचिदवश्यं<sup>१४</sup> भावात् । तत्कौशले<sup>१५</sup> वा तदप्रयोगोभीष्ट एव, सर्व-

अथवा यदि प्रतिपादक स्याद्वादन्याय में पूर्णतया कुशल है तब तो उस कथञ्चित् शब्द का  
अप्रयोग अभीष्ट ही है क्योंकि सभी अनेकांतात्मक वस्तु को प्रमाण से सिद्ध करने में “सर्वं सत्” इतने  
मात्र वचन के प्रयोग से भी “स्यात्सर्वं सदेव” कथञ्चित् सभी वस्तु सत् रूप ही हैं इत्यादि पूर्णवाक्य  
का सम्यक् प्रकार से ज्ञान हो जाता है । इस प्रकार से अन्यत्र — प्रलोकवार्तिकालंकार ग्रन्थ में प्रपञ्च-  
विस्तार से प्ररूपित किया गया है, वहाँ से समझ लेना चाहिये ।

भावार्थ—एक बार शंकाकार ने कहा कि वस्तु में अनन्त धर्म हैं, अतः सप्तभंगी न होकर  
अनंतभंगी हो जावेगी, तब आचार्यों ने कहा कि वस्तु के प्रत्येक धर्म में सप्तभंगी प्रक्रिया घटित होती  
है अतः अनंत धर्मों के निमित्त से अनन्त सप्तभंगी बनती है, न कि अनंतभंगी । पुनः शंकाकार  
पाँचवें, छठे, सातवें भंग को समाप्त करना चाहता था, तब आचार्य ने उनके बारे में भी समाधान  
कर दिया । पुनः उसने कहा कि अवक्तव्य के समान वक्तव्य को भी एक भंग मानों तब आठ भंग  
होंगे न कि सप्तभंग ।

जैनाचार्यों ने कहा कि “अस्ति नास्ति” आदि भंग वक्तव्य ही हैं, न कि अवक्तव्य । अथवा  
स्यात् वक्तव्य, स्यात् अवक्तव्य, स्यात् उभय, स्यात् अनुभय आदि से अस्ति-नास्ति के समान  
सप्तभंगी घटित हो जाती है । आचार्य इस सप्तभंगी को स्याद्वादामृतगभिणी कहते हैं अर्थात् इस  
सप्तभंगी के उदर में स्याद्वादरूपी अमृत भरा हुआ है ।

- १ कथञ्चित्सत् । (व्या० प्र०) २ सदादिरूपस्य । पश्चात् । (व्या० प्र०) ३ तनु न्यग्रोधशब्द एव प्रयोक्तव्यो ननु  
वृक्ष शब्द इति वचनमन्तव्यम् । वृक्षमात्रमप्यप्रतिपद्यमानं प्रति तत्प्रयोगात् । इति वाचकपक्षे । (दि० प्र०)  
४ द्योतकपक्षे सदादिवचनमनर्थकं भविष्यतीत्याशंकायामाह । (दि० प्र०) ५ द्योतनाभावे । (दि० प्र०) ६ कथ-  
ञ्चिद् सन्नेव । (व्या० प्र०) ७ एव प्रकाराभावे यथा घटोयमित्युक्ते घटप्रतिपत्तिर्यथा न स्यात् । परचतुष्टय-  
संकीर्णत्वात् । कथञ्चिच्छब्दाभावेऽनेकान्तप्रतिपत्तेरभावात् । एकान्तस्य निराकरणभावात् । (दि० प्र०) ८ कश्चि-  
त्स्वमतवर्ती पृच्छति । (दि० प्र०) ९ वस्तुनोऽनेकान्तरूपत्वात् । गुरोः । नुः । (दि० प्र०) १० अनेपुण्ये । (व्या० प्र०)  
११ शिष्याणाम् । (दि० प्र०) १२ सति । (दि० प्र०) १३ स्याद्वादवचनः । (दि० प्र०) १४ वाक्ये । (दि० प्र०)  
१५ स्याद्वादन्यायकौशले सति शिष्याणां तस्य स्याच्छब्दस्यानुचाराभिमतः । (दि० प्र०)

स्यानेकान्तात्मनो वस्तुनः प्रमाणात् साधने सर्वं सदित्यादिवचनेषु, स्यात्सर्वं सदेवेत्यादिसंप्रत्य-  
योत्पत्तेः । इति प्रयञ्चतोन्वय प्ररूपितमवगन्तव्यम् ।

[ बौद्धोऽन्वयरूपमात्मानं न मन्यते, तस्य विचारः ]

ननु च जीवादिद्रव्यं सदेव कथञ्चिदित्यसिद्धं, दर्शनावग्रहादिविशेषव्यतिरेकेण 'तस्यानु-  
पलम्भात्, अश्वविषाणवदिति चेन्न, अवग्रहेहादेरन्योन्यं <sup>२</sup>स्वलक्षणविवेककान्ते जीवान्तर-  
वत्स्वात्मन्यपि सन्तानभेदप्रसङ्गात् । तथा च यदेव मया विषयविषयिसन्निपातदशायां किञ्चि-  
दित्यालोकितं तदेव <sup>३</sup>वर्णसंस्थानादि<sup>४</sup>सामान्याकारेणावगृहीतं<sup>५</sup> पुनः प्रतिनियतविशेषा-

यद्यपि यहाँ कारिका में 'स्यात्' शब्द नहीं है फिर भी 'कथञ्चित्' शब्द से स्यात् का ग्रहण हो जाता है । ये 'स्यात्' 'कथञ्चित्' और 'कथञ्चन' आदि शब्द अनेकान्त को प्रगट करने वाले हैं इनका प्रयोग न करने पर भी जैनीनीति को जानने वाले कुशल वक्तामण प्रत्येक वाक्यों के साथ 'स्यात्' का अर्थ ग्रहण कर लेते हैं और नयवद्धति से ही शिष्यों को समझाते हैं ।

[ बौद्ध अत्मा को अन्वयरूप नहीं मानता है उस पर विचार ]

बौद्ध—जीवादि द्रव्य कथञ्चित् सत् ही है, यह कथन असिद्ध है क्योंकि दर्शन और अवग्रह आदि विशेष को छोड़कर उसकी उपलब्धि नहीं होती है, जैसे कि अश्वविषाण की उपलब्धि नहीं होती है ।

जैन—नहीं, क्योंकि अवग्रह एवं ईहादि के अपने-अपने लक्षणों में परस्पर में यदि एकांततया भेद ही स्वीकार करोगे, तब तो जीवांतरवत्—जैसे भिन्न जीव में सन्तानभेद है, वैसे ही अपनी आत्मा में भी उनकी अन्वयरूप सन्तान के भेद का प्रसंग प्राप्त हो जावेगा ।

पुनः उस प्रकार से मूझ दर्शन ने जिस वस्तु को विषय और विषयी की सन्निपात दशा में "यह कुछ है" इस प्रकार से आलोकित किया । उसी वस्तु को वर्ण एवं संस्थान आदि सामान्याकार से अवग्रह के द्वारा जाना, पुनः प्रतिनियत विशेषाकार से ईहाज्ञान ने विषय किया, तथा उन कांक्षित विशेषाकार से अवायज्ञान ने उसी का निश्चय किया, पश्चात् कालान्तर में स्मृति के हेतु स्वरूप धारणाज्ञान ने उसी को अवधारित किया और स्मृतिज्ञान ने कालान्तर में "तत्" इस आकार से उसी का स्मरण किया, पुनः "यह वही है" इस आकार से प्रत्यभिज्ञान ने उसी को जाना, अनन्तर तर्क ने "जो इस प्रकार से कार्य को करने वाली वस्तु होती है वह सर्वत्र सर्वदा इसी प्रकार की होती है" इसरूप से उसे तर्कित किया, पश्चात् अनुमान ने उसके कार्य का अवलोकन करने से उसे अपना विषय बनाया, ततः श्रुतज्ञान ने उसी को शब्दयोजना एवं विकल्पनिरूपणा से अपने और पर के

१ जीवादिद्रव्यस्यादर्शनात् । यथाऽश्वविषाणस्य दर्शनं नास्ति । (वि० प्र०) २ स्वरूप । (व्या० प्र०) ३ रूपादिः । (व्या० प्र०) ४ दीर्घत्वादि । (व्या० प्र०) ५ यतः । (व्या० प्र०)



कारणेहितं<sup>१</sup> तदेवाकाङ्क्षितविशेषाकारेणावेतं, पुनः कालान्तरस्मृतिहेतुतयावधारितं, तदेव कालान्तरे तदित्याकारेण स्मृतं, <sup>२</sup>पुनस्तदेवेदमित्याकारेण प्रत्यभिज्ञातं, ततो<sup>३</sup> यदित्यं कार्य-कृतदित्यं सर्वत्र सर्वदेति तर्कितं<sup>४</sup>, ततस्तत्कार्यावबोधनादभिनिबुद्धं<sup>५</sup>, तदेव च शब्दयोजनया विकल्पनिरूपणया वा परार्थं स्मर्यं वा श्रुतजित्यनुसन्धानप्रत्ययवदहमेकं<sup>६</sup> एव दृष्टावगृहीतेहितेत्याद्यनुसन्धानबुद्धिरपि न क्वचिदास्पदं बधनीयात्<sup>७</sup> । <sup>८</sup>तथाविधवासनाप्रबोधादनुसन्धानावबोधप्रसिद्धिरिति चेत्साऽनुसन्धानवासना यद्यनुसन्धीयमानदर्शनादिभ्यो<sup>९</sup> भिन्ना तदा संतानान्तरे दर्शनावग्रहादिष्विव स्वसंतानेपि नानुसन्धानबोधमुपजनयेत्, अविशेषात् । तदभिन्ना निमित्त निरूपित किया, अर्थात् शब्दयोजना से परार्थ और विकल्पयोजना से स्वर्य को श्रुतज्ञान ने विषय किया ।

इस प्रकार से अनुसन्धानप्रत्यय के समान मैं एक दृष्टा, अवगृहीता, ईहिता आदिरूप से हूँ, इस प्रकार की अनुसन्धानबुद्धि भी क्वचित्—दर्शन अवग्रह आदिकों में स्थान नहीं पा सकेगी ।

**भावार्थ**—बौद्धों ने बुद्धि के सम्पूर्ण क्षणों के साथ अन्वयसम्बन्ध रखने वाली किसी एक वस्तु—आत्मा को स्वीकार नहीं किया है, उस पर जैनो का यह आक्षेप है कि जब आप बुद्धिक्षणपरम्परा को ही आत्मा मानते हैं, तब उनकी यह सन्तानपरम्परा भी कैसे चल सकेगी ? क्योंकि आप क्षणिकवादी हैं । अतः जिस बुद्धिक्षण-निर्विकल्प—दर्शन ने जिस पदार्थ को पहले सामान्याकार से जाना, वह पदार्थ एवं वह ज्ञान उसीसमय विनष्ट हो गया । अब इस ज्ञान की सन्तान परम्परायें अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा आदिरूप से कैसे चलेंगी ? उन्हें कैसे यह भान होगा कि जिसे दर्शन ने पहले “कुछ है” रूप से जाना उसे ही मैं अवग्रह, वर्ण संस्थानादिरूप से अवग्रहीत कर रहा हूँ क्योंकि उत्पन्न होते ही तो वह ज्ञान नष्ट हो गया, पुनः जिसे अवग्रह ने विषय किया है, उसे ही प्रतिनियत विशेषाकार से जानने की मैं चेष्टा कर रहा हूँ इत्यादि ज्ञान भी कैसे होगा ? मतलब यह है कि अनुमान एवं श्रुतज्ञानपर्यन्त परम्परा भी कैसे चल सकेगी ? अतएव जिसमें ये ज्ञानपरम्परायें अन्वयरूप से पाई जाती हैं वह जीवद्रव्य कथञ्चित् नित्य है ऐसा स्वीकार करना चाहिये ।

**बौद्ध**—उसप्रकार की वासना के प्रबोध से अनुसन्धान का ज्ञान हो जावेगा अर्थात् पूर्व-पूर्वज्ञान उत्तर-उत्तर ज्ञानक्षणों को ही उत्पन्न करके नष्ट होता रहता है । वर्तमानज्ञान की तरह एकज्ञान

१ प्रतिनियतविषयाकारेणेहितमिति पा० । (दि० प्र०) धवलदीर्घः । (व्या० प्र०) २ कालान्तरे । प्रत्यभिज्ञानम् । (दि० प्र०) ३ प्रत्यभिज्ञातं मतः । (व्या० प्र०) ४ तर्केण निश्चितम् । (व्या० प्र०) ५ ता । (व्या० प्र०) ६ इत्यादि प्रत्यभिज्ञानरूपं ज्ञानं भेदेकान्ते क्वचिदास्पदं न बध्नाति यथा तदेवेदमित्याकारेण जायमानत्वात्सकलस्य प्रत्यभिज्ञानता । (व्या० प्र०) ७ दृष्टावगृहीता । ईहिता । अवेता । अवधर्ता । स्मर्ता । प्रत्यभिज्ञाता । तर्किता । इत्याद्यनुसन्धानमतिः क्वचिज्जीवादी वस्तुनि स्थिति न हन्यात् कोर्यः स्थिति कुर्यादित्यर्थ इत्युक्तं स्याद्वादिना । (दि० प्र०) ८ एकत्वाभावे । (व्या० प्र०) ९ अनुसन्धानरूप । अवस्थितिः । (व्या० प्र०) १० अवग्रहादि । (व्या० प्र०)

चेत्तावद्धा भिद्येत, न हि भिन्नादभिन्नमभिन्नं नामेति स्वयमभिधानात् । तथा च तत्प्रबोधा-  
त्कथं<sup>१</sup> दर्शनावग्रहादिष्वेकमनुसन्धानज्ञानमुत्पद्येत ? यदि पुनस्तेभ्यः<sup>२</sup> कथञ्चिदभिन्ना<sup>३</sup> वास-  
नानुमन्यते तद्धेतुस्तदा अहमहमिकयात्मा विवर्तननुभवन्ननादिनिधनः<sup>४</sup> स्वलक्षणप्रत्यक्षः<sup>५</sup>  
सर्वलोकानां चचिच्चित्रवित्तिक्षणे<sup>६</sup> ७ नीलादिविशेषनिर्भासवदात्मभूतान्<sup>८</sup> परस्परतो विविक्ता-  
न्सहक्रमभावितो गुणपर्यायानात्मसात्कुर्वन् सन्नेव सिद्धः, तस्यैव वासनेति नामान्तरकरणात् ।  
तदेकत्वाभावे<sup>९</sup> १० नीलादिविशेषनियतदर्शननानासंतानसंवेदनक्षणवच्चित्रसंवेदनं<sup>११</sup> न स्यात् ।  
१२ कमवृत्तिसुखादीनामिव दर्शनावग्रहादीनामेकसंतानिपतितत्वादनुसंधानमनननिवन्धनत्वमनुम-

दूसरे ज्ञान से सम्बद्ध रहता है, इसे ही वासना कहते हैं, अतः आत्मा को नित्य न मानने पर भी वासना के प्रबोध से अनुसंधान होता रहता है, कोई बाधा नहीं आती है ।

जैन -- तब पुनः वह अनुसन्धानवासना उस प्रत्यभिज्ञान के द्वारा विषय किये जाने वाले दर्शन आदि से भिन्न है या अभिन्न ? यदि भिन्न कहें, तब तो सन्तानान्तर में वर्तमान दर्शन अवग्रहादिकों की तरह स्वसन्तान में रहे हुये अवग्रहादिकों में भी वह अनुसन्धान को उत्पन्न नहीं कर सकेगी, क्योंकि उन दोनों में कोई विशेषता नहीं है । यदि आप कहें कि वह अनुसन्धानवासना दर्शन एवं अवग्रहादिकों से अभिन्न है, तब तो वह स्वयं दर्शन, अवग्रहादि के समान उतने ही भेदरूप हो जावेगी, क्योंकि भिन्न-भिन्न दर्शन, अवग्रहादि से अभिन्न-अभिन्न ही है, ऐसा आप बीड़ों ने स्वयं कहा है । ऐसी स्थिति में वह (वासना) अनेकरूप से वर्तमान दर्शन अवग्रहादिकों में एक अनुसंधान ज्ञान की उत्पादक कैसे हो सकेगी ?

यदि आप कहें कि उन दर्शन अवग्रहादि से वह वासना कथञ्चित् (अशक्यविवेचनतया) अभिन्न है और वही उन ज्ञानों में अनुसंधान का हेतु है, तब तो अहमहमिकया — अहं-अहंपने से यह आत्मा दर्शन आदि पर्यायों का अनुभव करते हुये, अनादिनिधन है और सभी लोगों में स्वसंवेदनरूप से प्रत्यक्ष है जैसे कि चित्रज्ञानअण नीलादिविशेष निर्भास का अनुभव करते हुये वह चित्रज्ञान सभी जनों को स्वलक्षण प्रत्यक्ष है । उसी प्रकार से यह आत्मा भी सहभावीगुण और क्रमभावीपर्यायों को आत्मसात् करते हुये सत् रूप से सिद्ध हो है । उसी आत्मा को ही आपने 'वासना' यह भिन्न नामकरण कर दिया है ।

१ तथाविधवासनाज्ञानात् । (दि० प्र०) २ दर्शनादिभ्यः । (दि० प्र०) ३ रूपेण तत्त्वासयोरभेदः । एकानेकरूपत्वात् तयोर्भेदः । (दि० प्र०) ४ पर्यायान् । (दि० प्र०) ५ स्वात्मा लक्षणं येन तत्स्वलक्षणं स्वसंवेदनं तेन प्रत्यक्षो ब्रह्मः । (दि० प्र०) ६ ज्ञान । (दि० प्र०) ७ आकाशनात्मभूतान् स्वस्वरूपभूतान् परस्परतो विविक्तानात्मसात् चैववित्ति-  
क्षणः स्वलक्षणप्रत्यक्षः सर्वलोकानां प्रसिद्धो यथा तथेतिहाव । (दि० प्र०) ८ नीलादिविशेषनिर्भासा यथात्मभूताः परस्परतो विविक्तास्तथान्यभूतान् परस्परतोविविक्तानिति संबन्धः । (दि० प्र०) ९ आत्मद्रव्यापेक्षया । चित्रवित्ति-  
क्षणेप्येकत्वानभ्युपगमे चित्रसंवेदनं न स्यात् । नीलपीतादिविशेषनियतदर्शननानासन्तानज्ञानवत् । आत्मद्रव्याभावे । (दि० प्र०) १० विशेषनियमदर्शनानां नानासन्तान । इति पा० । (दि० प्र०) ११ तदेवेदमित्यनुसंधानज्ञानरूपम् । (दि० प्र०) १२ सौम्यतः । (दि० प्र०)

तमिति चेत्तर्हि संततिरात्मैव । तथा क्रमवृत्तीनां सुखादीनां मतिश्रुतादीनां वा तादात्म्यविगम-  
कान्ते<sup>१</sup> संततिरनेकपुरुषवन्न स्यात्<sup>२</sup> । सुखादिमत्यादीनां नैरन्तर्यादिव्यभिचारिकार्यकारण-  
भावाद्वास्यवासकभावाच्चापरामृष्टभेदानामेका संततिः, न पुनरनेकपुरुषे, तदभावादिति  
चेत्तर्हि<sup>३</sup> नैरन्तर्यादेरविशेषात्संतानव्यतिकरोपि<sup>४</sup> किन्न स्यात्<sup>५</sup> ? न हि नियामकः कश्चि-  
द्विशेषः, अन्यत्राभेदपरिणामात्<sup>७</sup> । संतानिनां भेदपरिणाम एव नाभेदपरिणामः<sup>८</sup>, संकर-  
प्रसङ्गादिति चेन्न, येनात्मना तेषामभेदस्तेन सद्द्रव्यचेतनत्वादिना संकरस्येष्टत्वात्, तेना-  
प्यसंकरे<sup>९</sup> <sup>१०</sup>हर्षविषादादिचित्रप्रतिपत्तेरयोगात्<sup>११</sup> । अस्ति च सैकत्रापि विषये यत्र मे हर्षः

यदि दर्शन, अवग्रहादिकों का आत्मा के साथ एकत्व नहीं है ऐसा आप अभाव स्वीकार करेंगे  
तब तो जैसे नोलादि विशेषों में नियत दर्शन-ग्रहण है जिनका ऐसे वे और उसी प्रकार से नानासंतान  
संवेदनक्षणों में संवेदन नहीं होगा, वैसे ही आत्मा और दर्शनादि में एकत्व का अभाव कहने से आत्मा  
भी सिद्ध नहीं होगा और वे दर्शन आदि भी सिद्ध नहीं होंगे ।

बौद्ध—क्रमवृत्तीं सुखादि के समान दर्शन अवग्रह आदि भी एक संतानी में पाये जाते हैं,  
अतः अनुसंधान मनन (जो मैं सुखी था वो ही मैं दुःखी हूँ इत्यादि) का कारण हमने संतति को  
माना है ।

जैन—तब तो वह संतति आत्मा ही तो है और इस प्रकार क्रम से होने वाले सुख-दुःख आदि  
अथवा मति-श्रुत आदिकों का आत्मा के साथ एकान्त से तादात्म्य स्वीकार न करने पर अनेकपुरुष  
के समान संतति भी सिद्ध नहीं हो सकेगी ।

बौद्ध—सुखादि और मतिश्रुतादि निरन्तर पाये जाते हैं, उनमें काल का व्यवधान नहीं है एवं  
वे अवग्रभिचारी कार्यकारण भाव वाले हैं । तथा वास्य-वासकभाव—समर्प्य-समर्पकभाव वाले होने  
से अज्ञातभेद वाले हैं, उन अपरामृष्ट भेदवाले सुख-दुःख आदि एवं मति-श्रुति आदिकों की एक  
संतति है न कि पुनः अनेकपुरुष में एक संतति है, क्योंकि उन अनेक पुरुषों में कार्यकारणभाव एवं  
वास्य-वासकभाव का अभाव है ।

जैन—तब तो सुगत और इतर के चित्त क्षणों में निरन्तरपना आदि समानरूप से है, अतः  
सन्तान व्यतिकर—एक सन्तान—आत्मा में दूसरी आत्मा का मिश्रण भी क्यों नहीं हो जावेगा ?  
क्योंकि अभेद परिणाम को छोड़कर अन्य कोई नियामकविशेष तो पाया नहीं जाता है ।

१ भेदैकान्ते । (व्या० प्र०) २ न स्यादिति पूर्वभाष्ये प्रोक्तमेवात्र संबन्धमानं प्रतिपत्तव्यम् । (दि० प्र०) ३ स्याद्वादी  
आह । हे सौगत ! तर्ह्येकत्र वस्तुनि नैरन्तर्यादेरिति कार्यकारणाविच्छेदात्सुखे दुःखं दुःखे सुखमिति लक्षणः सन्तान-  
व्यतिकरो दोषः किं न स्यादपितु स्यात् । (दि० प्र०) ४ प्रतिपादकप्रतिपाद्यमत्यादीनाम् । (व्या० प्र०) ५ नन्वपर-  
सन्तानवर्तिसुखादिविवर्त्तनां नैरन्तर्यादिकं स्वस्वसन्ताननियतमेवेति नियमाभावात् । (व्या० प्र०) ६ उभयोरे-  
कत्वम् । (व्या० प्र०) ७ वक्ष्यित्वा । (दि० प्र०) ८ अन्यथा । (व्या० प्र०) ९ तेन सद्द्रव्यचेतनादिना कृत्वा भेदे  
सति हर्षविषादाद्यनेकज्ञानस्याघटनात् । (दि० प्र०) १० चासौ । (व्या० प्र०) ११ अनुसन्धानप्रत्ययस्य । (दि० प्र०)

प्रागभूतत्रैव विपादो द्वेषो भयादिर्वा वर्तते, अहमेव च हर्षवानास<sup>१</sup>, संप्रति विषादादिमान् वर्ते  
नान्य इति क्रमतश्चित्रप्रतिपत्तिरवाधा<sup>२</sup> । ततो<sup>३</sup> जीवः सन्नेव । एवं च यथैकत्र समनन्तरा-  
वग्रहादिसदादिस्वभावसंकरपरिणामस्तथैव सर्वत्र चेतनाचेतनेषु<sup>४</sup> संप्रत्यतीतानागतेषु, 'तत्स्व-

बौद्ध—सन्तानीचित्त क्षणों में भेद परिणाम ही है । अभेदपरिणाम नहीं है अन्यथा संकरदोष का प्रसंग प्राप्त हो जावेगा ।

जैन—नहीं, जिस स्वरूप से उन सन्तानी में अभेद है, आत्मा में उन सद्व्यव-चेतनत्व आदि के साथ संकर-मिश्रण इष्ट ही है । यदि सन्तानी-आत्मा का उन सत्, द्रव्य, चेतनत्व आदि से भी संकर न मानोगे, तब तो हर्ष विषाद आदि नाना प्रकार के ज्ञानों का भी आत्मा में अभाव हो जावेगा, किन्तु वह हर्ष विषाद आदि का ज्ञान एक ही जीव में देखा जाता है जहाँ मुझमें पहले हर्ष हुआ था उसी आत्मा में इस समय मुझे द्वेष अथवा भयादि हो रहे हैं और मैं ही हर्षवान् था, इस समय मैं ही विषादिमान् हो रहा हूँ और अन्य कोई नहीं है इत्यादिरूप से क्रम से अव्याधित नानाप्रकार का ज्ञान पाया जाता है ।

अतएव जीव सत् रूप ही है । इस प्रकार से जीव का सत्त्व स्वीकार कर लेने पर जिस प्रकार से एक जीव में समन्तर - अव्यवहित अवग्रहादि ज्ञान एवं सदादि स्वभावों का संकर परिणाम है, उसी प्रकार से भूत, वर्तमान और भविष्यत् तीनों कालों में सर्वत्र चेतन और अचेतन द्रव्यों से अवग्रह आदि एवं सत् आदि उन-उन योग्य स्वभावों की अविच्छिन्नता है । अतएव जीवादि-तत्त्व कथञ्चित् सत् रूप ही इष्ट हैं, ऐसा इष्ट—जिनेन्द्र भगवान् का शासन है ।

भावार्थ—बौद्ध का कहना है कि जीव में दर्शन, अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा, स्मृति, प्रत्यभि-  
ज्ञान, तर्क, अनुमान और श्रुतज्ञानरूप से क्रम से जो ज्ञान होता हुआ देखा जाता है, वह सभी परस्पर में भिन्न-भिन्न रूप ही है, क्योंकि इन सभी ज्ञानों के साथ अन्वय सम्बन्ध रखने वाली कोई एक आत्मा नहीं है, अतः जीवादिद्रव्यों को सत् रूप ही सिद्ध करना गलत है, किन्तु जैनाचार्यों का कहना है कि जीवादिद्रव्य का अस्तित्व तो प्रत्यक्ष से ही सिद्ध है । मैंने जिसका सत्तामात्र अवलोकन किया है, उसी को वर्ण संस्थान आदि आकार से जानकर विशेष जानने की इच्छा करता हूँ । मैं ही निश्चित-रूप से ईहा के बाद अवायज्ञान से पदार्थ को निश्चित करके धारणारूप से कालांतर में नहीं भूलता हूँ । मैं धारणा किये गये विषय का कालांतर में स्मरण करता हूँ एवं मुझ ही उसे देखकर भूतपूर्व में उसको देखा था उसका स्मरण करके जोड़रूप ज्ञान से प्रत्यभिज्ञान होता है इत्यादि रूप से यदि आत्मा एक न होवे तो कालांतर का स्मरण किसको होगा ?

इस आपत्ति पर बौद्ध ने 'वासना' नाम को अपनाया है कि जिससे वे स्मृति, प्रत्यभिज्ञान आदि को घटित कर देते हैं, किन्तु जैनाचार्यों ने इनकी इस 'वासना' को वासनारूप ही सिद्ध कर दिया है,

१ अहमभवम् । (दि० प्र०) २ वसः । (दि० प्र०) ३ यत एवम् । (दि० प्र०) ४ पदार्थेषु । (दि० प्र०) ५ अवग्रहादि सदादि । (दि० प्र०)

भावाविच्छिन्नेः । अतः<sup>१</sup> <sup>२</sup>कथञ्चित्सदेवेष्टं जीवादि तत्त्वं, सकलबाधकाभावात् ।

[ सांख्यः सर्वं वस्तु सद्रूपमेव मन्यते तस्य विचारः ]

तर्हि सदेव<sup>३</sup> सर्वं जीवादिवस्तु, न तु नरसत्त्विति वेत्त, सर्वपदार्थानां परस्परसंकरप्रतिपत्तेर-  
सत्त्वस्यापि सिद्धेः, जीवाजीवप्रभेदानां <sup>४</sup>स्वस्वभावव्यवस्थितेरन्यथानुपपत्तेः । न केवलं जीवा-  
जीवप्रभेदाः सजातीयविजातीयव्यावृत्तिलक्षणाः, किन्तु<sup>५</sup> बुद्धिक्षणेपि क्वचिद्ग्राह्यग्राहकयोः  
सितादिनिर्भासांशपरमाणुसंवित्तयोपि, परस्परपरिहारस्थितिलक्षणत्वादन्यथा स्थूलशबलाव-

उनका कहना है कि तुम लोग 'आत्मा' को ही 'वासना' इस भिन्न नाम से मान लेते हो, अतएव जिसमें क्रम से सुख-दुःख आदि का एवं अवग्रह आदि ज्ञानों का अनुभव हो रहा है, वह आत्मा कथञ्चित् सत् रूप ही है । द्रव्यदृष्टि से शाश्वत नित्य ही है, ऐसा समझना चाहिये ।

[ सांख्य सभी वस्तुओं को सत् रूप ही मानता है उस पर विचार ]

सांख्य—तब तो सभी जीवादि वस्तु सत् रूप ही है, असत् रूप कुछ है ही नहीं ।

जैन—नहीं, सभी पदार्थों में परस्पर संकरदोष न आ जावे एवं असंकर का ज्ञान भी पाया जाता है, अतएव असत्त्व धर्म की भी सिद्धि है क्योंकि जीव अजीव के प्रभेद सभी अपने-अपने स्वभाव में व्यवस्थित हैं इस बात की अन्यथानुपपत्ति है अर्थात् जीव अजीव आदि में असत्त्व धर्म के बिना परस्पर में भेद ही सिद्ध नहीं हो सकेगा ।

अतएव केवल जीव और अजीव के भेद प्रभेद ही सजातीय विजातीय व्यावृत्तिलक्षणवाले नहीं हैं किन्तु बुद्धिक्षण बौद्धाभिमत चित्रज्ञानक्षण में भी ग्राह्य-ग्राहकभाव एवं श्वेत पीतादि प्रतिभास अंश परमाणु और संवित्ति भी परस्पर में परिहारस्थितिलक्षण वाले हैं, अन्यथा अवयव बहुत्व का अभाव कहने पर स्थूल एवं शबल (चितकबरा) के अवलोकन का अभाव हो जावेगा जैसे कि एकांश में परस्परपरिहारस्थितिलक्षण का अभाव रहता है । ग्राह्य ग्राहकभाव, श्वेत, पीतादि प्रतिभास, अवयव, परमाणु और ज्ञान सभी यदि परस्पर में सर्वथा अव्यावृत्त—परस्पर में एक-दूसरे से भिन्न—पृथक् नहीं हैं तब तो सभी को एक परमाणुस्वरूपता की आपत्ति आ जावेगी, परन्तु एकपरमाणु स्थूलरूप से अथवा चित्र-विचित्ररूप से दिखता ही नहीं है और भ्रम का प्रसंग आ जावेगा क्योंकि अणु तो अत्यन्त सूक्ष्म माना गया है तथा च अणु संवित्तियों की परस्पर में सजातीय-विजातीयव्यावृत्ति होने पर सम्पूर्ण चेतन और इतर-नीलादि प्रतिभास क्षणरूप परिणाम के अंश-विशेष परस्पर में भिन्न-भिन्न रूप से ही सिद्ध हैं क्योंकि अपने-अपने स्वभाव का स्वभावांतर से मिश्रण नहीं हो सकता है ।

१ अवग्रहादियु सदादिस्वभावसंकरं समर्थं तद्दृष्टान्तात्पदभेदं समस्तचेतनाचेतनविवर्तेषु सदादिस्वभावसंकरः समर्थितो यतः । (दि० प्र०) २ संग्रहनयापेक्षया । (दि० प्र०) ३ वर्तमानम् । (दि० प्र०) ४ भेदः । षट् रूपे षट्स्वरूपाभावात् । (व्या० प्र०) ५ रूप । ता । (व्या० प्र०) ६ किन्तु विशेषोक्तिः । ज्ञानार्थं क्वचित् । ग्राह्यग्राहकयोः सितादिनिर्भासांशपरमाणुसंवित्तयः । पदाः परस्परव्यावृत्तिलक्षणा भवन्तीति साध्यो धर्मः परस्परपरिहारस्थितिलक्षणत्वात् । (दि० प्र०)

लोकनाभावात्तरेकांशवत् सर्वथा परस्परमव्यावृत्तानां<sup>१</sup> ग्राह्यग्राहकसितादिनिर्भासाद्यत्रपरमाणु-  
सर्वस्तीनामेकपरमाणुस्वरूपतापत्तेः । न चैकपरमाणुः स्थूलतया शबलतया वावलोकयितुं शक्यः,  
भ्रमप्रसङ्गात्<sup>२</sup> । तथा च सकलचेतनेतरक्षणपरिणामलवविशेषाः<sup>३</sup> परस्परविविक्तात्मानः  
सिद्धाः, स्वस्वभावस्य स्वभावान्तरेण मिश्रणाभावात् । तदन्योन्याभावमात्रं<sup>४</sup> जगत् । अन्यथा  
सर्वथैकत्वप्रसङ्गात्<sup>५</sup> तत्रान्वयस्य<sup>६</sup> विशेषापेक्षणादभावो वा, स्वतन्त्रस्य तस्य जातुष्विदप्रतिभा-  
सनात् । तदिष्टमसदेव कथञ्चित्<sup>७</sup> ।

[ मीमांसकः सर्वं वस्तु भावाभावात्मकं मन्यते किन्तु परस्परनिरपेक्षं मन्यते  
अतस्तदभिमतमपि दोषास्पदमेव ]

सर्वथा भावाऽभावोभयात्मकमेव<sup>८</sup> जगदस्तु, तत्र भावस्याभावस्य च प्रमाणसिद्धत्वान् प्रति-

अतएव यह जगत् अन्योन्याभावमात्र है अन्यथा यह जगत् सर्वथा एकरूप हो हो जावेगा  
अथवा व्यावृत्तिमात्र जगत् के स्वीकार करने पर अन्वय-सामान्य भी विशेष की अपेक्षा रखता है,  
अतएव उस जगत् का अभाव भी हो जावेगा, क्योंकि असत् रूप से निरपेक्ष सत् रूप अन्वय स्वतन्त्र रूप  
से कदाचित् भी प्रतिभासित नहीं होता है, इसलिए यह इष्ट है कि वस्तु कथञ्चित् असत् ही है ।

भावार्थ—सांख्य सभी वस्तुओं को सर्वथा सत् रूप ही मानता है किन्तु जैनाचार्यों का कहना है  
कि यदि सभी वस्तु सत् रूप ही है उनमें 'नास्ति' धर्म नहीं है तब तो जीव और अजीव का भेद  
समाप्त हो जाता है अतः जीव में अजीव का नास्तित्व और अजीव में जीव का नास्तित्व स्वीकार  
करना ही पड़ेगा और तब कथञ्चित् अस्ति धर्म के साथ-साथ प्रत्येक वस्तु में कथञ्चित् नास्ति धर्म  
भी विद्यमान है ऐसा स्वीकार करना पड़ेगा, तब अन्योन्याभाव को मान्यता पुष्ट करनी पड़ेगी,  
इसलिए प्रत्येक वस्तु कथञ्चित् असत् रूप भी है, यह बात सिद्ध हुई है ।

[ मीमांसक सभी वस्तुओं को भावाभावात्मक मानता है, किन्तु परस्पर निरपेक्ष मानता है,  
अतः उसका अभिमत भी दोषास्पद है ]

मीमांसक—सर्वथा भाव-अभावरूप उभयात्मक ही जगत् है और वह भाव एवं अभाव प्रमाण  
से सिद्ध है, उसका खण्डन करना अशक्य है ।

१ मिलितानाम् । (दि० प्र०) २ विभ्रमेति पा० । (दि० प्र०) मिथ्यात्व । (दि० प्र०) ३ परिणामावलम्बविशेषा ।  
इति पा० । (दि० प्र०) ४ तत्तस्मात्सर्वं चराचरात्मकं जगत् परस्परमभावमात्रं भवति । अन्यथाऽन्योन्याभावमात्राभावे  
सर्वथैक्यमायाति जगतः । (दि० प्र०) ५ तदंशनिबन्धनम् । (दि० प्र०) ६ द्रव्यस्य पर्यायाश्रयणात् असत्त्वं भवति ।  
कस्माद्द्रव्यं स्वतन्त्रं कदाचिन्न प्रतिभासते यतः कोर्थाः पर्यायरहितं नास्ति । मनुष्यरूपोन्वयः विनश्यत इति विशेषः ।  
(दि० प्र०) ७ अत्राह सर्वथोभयवादी योगादिः सर्वं जगत् सर्वथा भावाभावोभयस्वरूपं भवतु को दोषः । (दि० प्र०)  
८ लक्षण । (दि० प्र०)

क्षेप्तुमशक्यत्वादित्यपरः सोपि न तत्त्ववित्, सुयुक्त्यतिलङ्घनात् । न हि 'भावाभावकान्त-  
योनिपर्यायमङ्गीकरण'<sup>२</sup> युक्तं, यथैवास्ति तथैव नास्तीति विप्रतिषेधात् । ततः कथञ्चित्सदसदा-  
त्मकं द्रव्यपर्यायनयापेक्षया । द्रव्यनयापेक्षानैव<sup>३</sup> तर्कं सत् पर्यायनयापेक्षयैव च सर्वमसदात्मकं,  
विपर्यये<sup>४</sup> 'तथैवासंभवात्' । न हि द्रव्यनयापेक्षया सर्वमसत् संभवति, नापि पर्यायनयापेक्षया  
सर्वं सत्, प्रतीतिविरोधात्<sup>५</sup> । भावाभावस्वभावरहित<sup>६</sup> तद्विलक्षणमेव वस्तु युक्तमित्यपि न  
सारं, सर्वथा जात्यन्तरकल्पनायां वा तदंशनिबन्धनविशेषप्रतिपत्तेरत्यन्ताभावप्रसङ्गात्<sup>७</sup> । न  
चासावस्ति, सदसदुभयात्मके वस्तुनि स्वरूपादिभिः सत्त्वस्य पररूपादिभिरसत्त्वस्य च तदंशस्य  
विशेषप्रतिपत्तिनिबन्धनस्य सुनयप्रतीतिनिश्चितस्य प्रसिद्धेः<sup>८</sup> दधिगुडचातुर्जातकादिद्रव्योद्भवे  
पानके तदंशदध्यादिविशेषप्रतिपत्तिवत् । न चैवं<sup>९</sup> जात्यन्तरमेवोभयात्मकमिति युक्तं वक्तुं,

जैन—आप भी तत्त्ववित् नहीं हैं, क्योंकि आपका यह कथन सुयुक्ति का उल्लंघन कर जाता है।  
भाव और अभाव को एकारूप से पर्यायरहित स्वीकार करना युक्तियुक्त नहीं है। वस्तु जिस प्रकार  
से है, उसी प्रकार से नहीं है, इस प्रकार का विरोध है अर्थात् परस्परनिरपेक्ष-भाव और अभावविरोध  
ही हैं। अतएव द्रव्य और पर्यायनय की अपेक्षा से वस्तु कथञ्चित् सदासदात्मक है।

द्रव्याधिकनय की अपेक्षा से ही सभी वस्तु सत् रूप हैं एवं व्यतिरेक विशेष पर्यायाधिकनय की  
अपेक्षा से ही सभी वस्तु असत् रूप हैं। विपर्यय में वैसी व्यवस्था असंभव है। अर्थात् द्रव्याधिकनय  
की अपेक्षा से सभी वस्तु असत् रूप संभव नहीं हैं और पर्यायनय की अपेक्षा से सभी वस्तु सत् रूप भी  
नहीं हैं क्योंकि प्रतीति में विरोध आता है।

शंका—भावाभावस्वभाव से रहित किन्तु उससे विलक्षण ही वस्तु को मानना युक्त है।

समाधान—यह कथन भी सारभूत नहीं है। अथवा सर्वथा जात्यन्तररूप की कल्पना मानने पर  
उसके अंश-भावाभावलक्षणरूप कारण विशेष की प्रतिपत्ति होने से अत्यन्ताभाव का प्रसंग प्राप्त  
हो जाता है। किन्तु वह अत्यन्ताभाव तो है नहीं, सत् असत् उभयात्मक वस्तु में स्वरूपादि से  
सत्त्व और पररूपादि से असत्त्व है और विशेषप्रतिपत्ति के कारणभूत अर्थात् सत् रूप ही अथवा असत्-  
रूप ही उस भावाभाव के अंश की जो कि सुनय की प्रतीति से निश्चित है, ऐसे उसकी प्रसिद्धि है जैसे  
हुई ठंढाई में उसके अंश दधि आदिकों की विशेषरूप से भिन्न-२ प्रतिपत्ति होती हुई देखी जाती है।

१ सत्त्वासत्त्वयोः । (व्या० प्र०) २ क्रमरहितम् । युगपत् । (दि० प्र०) ३ मूलं भावयति । (दि० प्र०) ४ द्रव्यनया-  
पेक्षयैव सर्वमसत्पर्यायनयापेक्षयैव सर्वं सत् इत्युक्तलक्षणं विपर्यये सति तथैव सदसदात्मकरूपेण वस्तु न संभवति यतः ।  
(दि० प्र०) ५ सत्त्वासत्त्वप्रकारेण । (दि० प्र०) ६ सदसत् विकलमेव वस्तु भवतीति कश्चिदवाच्यवादी वदति ।  
(दि० प्र०) ७ भाट्टाह । (दि० प्र०) ८ अत्र वसः । यतः । सदेवासदेव वा । (दि० प्र०) ९ प्रतीतिः । (दि० प्र०)  
१० अपापि वसः । (दि० प्र०)

सर्वथोभयरूपत्वे वा जात्यन्तरप्रतिपत्तेरयोगात्<sup>१</sup> पानकवदेव । न हि तत्र दध्यादय<sup>२</sup> एव न पुनर्जात्यन्तरं पानकमित्यभिधातुमुचितं, पानकमिदं सुस्वादु सुरभीति संप्रत्ययात् । तद्वद्वस्तुनि न सदाद्यंश एव प्रतीतिविषयः<sup>३</sup>, तदंशिनो जात्यन्तरस्य प्रतीत्यभावापत्तेः । तथा चानवस्था-विदोषानुषङ्गः । येनात्मना सत्त्वं तेनैवासत्त्वस्याभ्युपगमे येन चासत्त्वं तेन<sup>४</sup> कथञ्चित्सत्त्वानु-मनने पुनः प्रत्येकमुभयरूपोपगमादनवस्था स्यात् । तथानभ्युपगमे नोभयस्वभावभण्डमिति ते प्रतिज्ञाविरोधः<sup>५</sup> । येनात्मना सत्त्वं तेनैवासत्त्वे विरोधो वैयधिकरण्यं वा शीतोष्णस्पर्श-विशेषवत् । संकरव्यतिकरौ च, युगपदेकत्र सत्त्वासत्त्वयोः प्रसक्तेः<sup>६</sup> । परस्परविषयगम-

भाट्ट—इस प्रकार से वस्तु जात्यन्तररूप ही उभयात्मक है ।

जैन—ऐसा कहना युक्त नहीं है । अथवा वस्तु को सर्वथा उभयात्मक स्वीकार करने पर जात्यन्तररूप प्रतिपत्ति का अभाव हो जाता है । जैसे कि ठंडाई को सर्वथा मिश्ररूप मानने पर जात्यन्तररूप का उसमें अभाव है, उस ठंडाई में दधि आदि ही हैं, वह पानक जात्यन्तररूप नहीं है, ऐसा भी कथन उचित नहीं है । यह ठंडाई सुस्वादु है सुगंधित है, ऐसा संप्रत्यय होता है, उसी प्रकार से वस्तु में सत् आदि अंश ही प्रतीति के विषय नहीं हैं अन्यथा जात्यन्तररूप सदादि धर्म सहित अंशों के प्रतीति का अभाव हो जावेगा । पुनः इस प्रकार से अनवस्था आदि दोषों का प्रसंग प्राप्त हो जावेगा ।

अतएव जिस स्वरूप से सत्त्व है, उसी रूप से असत्त्व को स्वीकार करने पर अथवा जिस पर रूपादि से असत्त्व है उसी रूप से कथञ्चित् सत्त्व के मान लेने पर और पुनः प्रत्येक सत्त्व और असत्त्व को उभयरूप स्वीकार कर लेने पर अनवस्था आ जावेगी ।

सत्त्व को असत् प्रकार से और असत्त्व को सत् रूप से उभयरूप को स्वीकार न करने पर अशेष वस्तु उभय स्वभाव नहीं है इस प्रकार से आप भाट्टों की प्रतिज्ञा—मान्यता का विरोध हो जावेगा । जिस स्वरूपादि से वस्तु सत् रूप है, उसी स्वरूपादि से ही असत् रूप मानने पर विरोध अथवा वैयधि-करण दोष आ जाता है, शीतोष्ण स्पर्शविशेष के समान । तथा युगपत् एक वस्तु में सत्त्व-असत्त्व का प्रसंग होने से संकर और व्यतिकर दोष भी आते हैं और परस्पर के विषय को प्राप्त करने से संशय दोष भी आ जाता है क्योंकि वस्तु में किस प्रकार से तो सत्त्व है और किस प्रकार से असत्त्व है, इस प्रकार का निश्चय नहीं हो सकता है । इसी निमित्त से अप्रतिपत्ति और अभाव नाम का दूषण भी आ

१ धर्ममात्रं धर्ममात्रं वा भवेत् । (व्या० प्र०) २ दध्यादय एव प्रतिभान्ति न पुनर्जात्यन्तरं पानकमित्यभिधातुमुचितं न । (दि० प्र०) ३ अन्यथा । जावादेः । स्वरूपादिवस्तुषट्पदेन । (दि० प्र०) ४ कथञ्चिदित्यन्धपदं मीमांसकस्य = यथा संह्यं सम्बन्धः सर्वेषां युगपत्प्राप्तिः संकरः परस्परविषयगमनं व्यतिकरः । (दि० प्र०) ५ अत्राह सीगतः हे स्वाद्यादिन् ! अनवस्थायां सदायां का हानिः । इत्युक्ते स्याद्वाद्याह । अनवस्थानंगीकारेण कृत्वा उभयस्वरूपं समस्तं वस्तु इति तत्र प्रतिज्ञा विरुद्धते । यद्युभयस्वभावं नाभ्युपगच्छसि तदा तत्र प्रतिज्ञाभंगः । (दि० प्र०) ६ संकरः । (दि० प्र०)



नाच्च<sup>१</sup> संशयश्च, कथं सत्त्वं कथं चासत्त्वं वस्तुनीति निश्चयानुत्पत्तेः । अत एवाप्रतिपत्तिर-  
भावश्चानुषज्यते । ततः प्रतिपादितदोषान् परिजिहीर्षुभिः<sup>२</sup> सर्वं वस्तु तदिष्टं<sup>३</sup> स्यादुभयं, न  
पुनः सर्वथा, स्यात्कारेण जात्यन्तरत्वस्यापि स्वीकरणात् ।

[ बौद्धः सर्वं वस्तु सर्वथाऽसत्त्वमेव भव्यत तस्य विचारः ]

तदह्यस्तोति<sup>४</sup> न भणामि, नास्तीति च न भणामि, यदपि<sup>५</sup> च भणामि तदपि न भणा-  
मीति दर्शनमस्त्विति<sup>६</sup> कश्चित्सोपि पापीयान् । तथाहि । सद्भावेतराभ्यामनभिलाषे<sup>७</sup> वस्तुनः,  
केवलं सूक्तत्वं जगतः स्यात्, विधिप्रतिषेधव्यवहारायोगात्<sup>८</sup> । न हि सर्वात्मनानभिलाष्य-  
स्वभावं बुद्धिरध्यवस्यति । न चानध्यवसेयं प्रमितं<sup>९</sup> नाम, गृहीतस्यापि<sup>१०</sup> ११ तादृशस्यागृहीत-

जाता है अतएव इन आठों दोषों को दूर करने की इच्छा रखते हुए सभी वस्तु "स्यादुभयं" कथञ्चित्  
ही उभयरूप हैं, ऐसा "इष्ट" स्वीकार करना चाहिये । न पुनः सर्वथा, क्योंकि स्यात्कार से जात्यन्तर  
को भी स्वीकृत कर लिया जाता है ।

भावार्थ—मीमांसक सभी वस्तु को भावाभावरूप उभयात्मक ही मानते हैं अतः इस उभयैकांत  
की मान्यता में भी एक ही वस्तु में एक साथ विरोधी 'अस्तिनास्ति' धर्म नहीं रह सकते हैं, यदि  
जबरदस्ती माना भी जावे तो उसमें विरोध, वैयधिकरण आदि आठ दोष आते हैं । इस पर  
जैनचार्यों का कहना है कि सभी वस्तुयें कथञ्चित् भावाभावात्मक ही हैं, ऐसा 'कथञ्चित्' शब्द  
लगा देने से प्रत्येक वस्तु तृतीय-भंग से ही उभयात्मक है सर्वथा ही उभयात्मक नहीं है ऐसा समझना  
चाहिये ।

[ बौद्ध सभी वस्तु को सर्वथा अवक्तव्य ही मानता है उसका विचार ]

बौद्ध—तब तो "अस्ति" है इस प्रकार से नहीं कहता है और "नास्ति" नहीं है इस प्रकार से  
नहीं कहता है और जो भी कहता है वह भी नहीं कहता है यही दर्शन-सिद्धान्त ठीक है ।

जैन—ऐसा कहने वाले आप भी पापीयान् ही हैं । तथाहि -

१ व्यतिकरः । (दि० प्र०) यथासंख्यं सम्बन्धः सर्वेषां युगपत्प्राप्तिः संकरः परस्परविषयगमनं व्यतिकर इति  
वचनात् । (व्या० प्र०) २ तस्मात्पूर्वोक्तानवस्थादोषान् परिहर्तुकामैः स्याद्वादिभिः । सर्वं वस्तु कथञ्चिदुभया-  
त्मकमभिमतम् । न पुनः सर्वथाऽभयात्मकम् । (दि० प्र०) ३ मीमांसकेन । (दि० प्र०) ४ योगाचारो वदति ।  
तृतीयभंगं निराकृत्य चतुर्थभंगमाह । (दि० प्र०) ५ अस्तिनास्तीति । (व्या० प्र०) ६ मतम् । (दि० प्र०) ७ अप्रति-  
पादने । (व्या० प्र०) ८ बुद्धिरव्यवस्यत्यनभिलाष्यस्व विशेषस्यानुभवे कथमभिलाष्यस्य स्मृतिरत्यन्तभेदादित्यादिना  
प्राक् समनन्तरकारिकाव्याख्यानेऽध्यवसायानुत्पत्तेरुक्तत्वात् । (दि० प्र०) ९ प्रमेयम् । (दि० प्र०) १० ता ।  
(दि० प्र०) ११ निर्विकल्पकदर्शनेन गृहीतस्यापि वस्तुनः प्रत्यक्षाभावात् कुतः स्वलक्षणत्वात् वचसः । किञ्चित्प्रमाण-  
ग्राह्यं वस्तु अनिश्चयं नहि कस्मात्तादृशस्यानध्यवसायस्य वस्तुनः गृहीतस्याप्यगृहीतसमानत्वं भवति यतः । किम्वत्  
सूच्यं, चैतन्यवत् यथा सूच्यकाले चेतनत्वं गृहीतमप्यगृहीतं भवति । (दि० प्र०)

कल्पत्वात्<sup>१</sup> । मूर्च्छाचैतन्यवदिति । न हि निर्विकल्पकदर्शनप्रतिभामि वस्तु व्यवतिष्ठेत येना-  
नभिलपन्नपि तत्<sup>२</sup> पश्येत् ।

[ शब्दाद्वैतवादस्य निराकरणं ]

न सोस्ति प्रत्ययो<sup>३</sup> लोके यः शब्दानुगमादृते<sup>४</sup> । अनुविद्धमिवाभाति सर्वं शब्दे प्रतिष्ठितम् ॥१॥

आभूपता चेदुत्क्रामेदवबोधस्य<sup>५</sup> शाश्वती<sup>६</sup> । न प्रकाशः प्रकाशेत सा हि प्रत्यक्समशिनी ॥२॥

इति दर्शनान्तरमप्यनालोचिततत्त्वं, सर्वात्मनाभिधेयत्वेपि<sup>७</sup> प्रत्यक्षेतराविशेषप्रसङ्गात् ।  
‘चक्षुरादिशब्दादिसामग्रीभेदात्प्रत्यक्षेतरयोर्विशेष<sup>८</sup> इति चेन्न, प्रत्यक्षादिव शब्दादेरपि<sup>१०</sup> वस्तु-

वस्तु की सद्भाव और अभाव दोनों ही धर्मों के द्वारा नहीं कह सकने पर तो यह जगत् केवल मूकस्वरूप ही हो जावेगा । पुनः शब्द के द्वारा विधि और प्रतिषेध व्यवहार ही नहीं बन सकेगा क्योंकि सर्वात्मना शब्द के द्वारा नहीं कहने योग्य स्वभाव को निर्विकल्पज्ञान निश्चित नहीं कर सकता है और अनध्यवसेय -- अनिश्चितवस्तु प्रमित—जानो भी नहीं जा सकेगी, क्योंकि जाने हुये पदार्थ भी उसी नहीं जाने हुये के समान ही रहेंगे, जैसे कि मूर्च्छा को प्राप्त हुये चैतन्य के द्वारा गृहीत भी वस्तु अनुगृहीतकल्प है । निर्विकल्पदर्शन के द्वारा प्रतिभासित वस्तु की व्यवस्था नहीं बन सकती है कि जिससे शब्द के द्वारा नहीं कहते हुये भी उसको देख सकें—जान सकें । इसी बीच में शब्दाद्वैत को मानने वाले को बोलने का अवसर मिल जाता है और वह बीच में ही अपने शब्दाद्वैत को ले आता है ।

[ शब्दाद्वैतवादी का खण्डन ]

शब्दाद्वैतवादी—श्लोकार्थ—लोक में ऐसा कोई भी प्रत्यय—ज्ञान नहीं है, जो शब्दानुगम के बिना पाया जावे, अतएव सभी वस्तु शब्द में अनुविद्ध होकर ही सत् रूप से प्रतिष्ठित हैं ।

श्लोकार्थ—शाश्वत वचनरूपता यदि ज्ञान का उलंघन कर जावे, तो ज्ञान प्रकाशित नहीं हो सकेगा, क्योंकि वह वचनरूपता ज्ञान के प्रकाश में हेतुभूत है ।

जैन—आप शब्दाद्वैतवादी का यह कथन बिना विचार किये ही सुन्दर है । क्योंकि सामान्य के समान विशेषरूप से भी अभिधेय मानने पर प्रत्यक्ष और इतर—अप्रत्यक्ष में समानता का ही प्रसंग प्राप्त हो जावेगा ।

१ एतेन जगतो बोधत्वं प्रतिपादितम् । (दि० प्र०) २ निर्विकल्पकप्रतिभासितवस्तु । (दि० प्र०) ३ अनुस्यूतत्व । (दि० प्र०) ४ ततश्च । संविद्धम् । (दि० प्र०) ५ तदा । (दि० प्र०) ६ स्वरूपेण । निर्या । (दि० प्र०) ७ शब्देन । आगमादि । (दि० प्र०) ८ तथा च प्रत्यक्षेण प्रतीयमानाशेषविशेषस्य शब्दादपि प्रतीतिप्रसंगोऽन्यथा-  
शब्देनानभिधीयमानविशेषस्यापि प्रत्यक्षात्प्रतीतो न सोस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते इत्येतद्विद्वद्यते प्रत्यक्षा-  
त्प्रतीयमानविशेषेशब्दानुगमाभावात् । (दि० प्र०) ९ लिङ्गादि । (दि० प्र०) १० आगमः । अनुमानादि । (व्या० प्र०)

विशेषप्रतिपत्तेरविशेषसिद्धेः<sup>१</sup>, प्रत्यक्षगोचरविशेषस्य शब्दागोचरत्वेऽनभिधेयत्वापत्तेः । प्रत्यक्षात्मकशब्दगोचरत्वात्तस्याप्यभिधेयत्वमेवेति चेत्तथैवानुमानागमज्ञानात्मकशब्दविषयत्वमस्तु । ततश्च प्रत्यक्षेतरयोः<sup>२</sup> स्पष्टविशेषप्रतिभासित्वसिद्धेरविशेषप्रसङ्गः<sup>३</sup> । तयोर्विशेषे तदात्मकशब्दयोर्भेदप्रसङ्गात्कुतः शब्दाद्वैतसिद्धिः ? स्यान्मतम् "अद्वय एव शब्दः, केवलं प्रत्यक्षोपाधिः स्पष्टविशेषप्रतिभासात्मकः, शब्दाद्युपाधिः पुनरस्पष्टसामान्यावभासात्मकः, पीतेतरोपाधेः स्फटिकस्य पीतेतरप्रतिभासित्ववत्" इति तदसत्, प्रत्यक्षेतरोपाधीनामपि शब्दात्मकत्वे भेदासिद्धेः, तदनात्मकत्वे शब्दाद्वैतव्याघातात्, तेषामवस्तुत्वे स्पष्टेतरप्रतिभासभेदनिबन्धनत्व-

शब्दाद्वैतवादी—चक्षु आदि इन्द्रियां और शब्दादिरूप सामग्री के भेद से प्रत्यक्ष और इतर में अंतर सिद्ध हो जावेगा ।

जैन—नहीं, प्रत्यक्ष के समान ही शब्दादिक से भी वस्तु विशेष का ज्ञान होने पर तो विशेष की सिद्धि नहीं हो सकेगी । तथा यदि प्रत्यक्ष के विषयभूत विशेष को शब्द के अगोचर मान लोगे तब तो उसको अनभिधेय—शब्द से अवाच्यपने को आपत्ति आ जावेगी ।

शब्दाद्वैतवादी—प्रत्यक्ष के विषयभूत विशेष को "प्रत्यक्ष" यह शब्द तो विषय करेगा ही । पुनः वह प्रत्यक्ष शब्द भी तो शब्दमय ही है, अतः उसमें भी वाच्यपना सिद्ध ही है । अर्थात् प्रत्यक्ष के विषयभूत विशेष को 'प्रत्यक्ष' इस शब्द के द्वारा ही विषय करने पर सभी सामान्य एवं विशेष वस्तु शब्द का ही विषय हैं, यह बात सुतरां-सिद्ध हो जावेगी ।

जैन - यदि ऐसी बात है, तब तो उसी प्रकार से अनुमान और आगम ज्ञानात्मक जो शब्द हैं, वे ही उनके विषय होंगे, तब तो पुनः प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष में स्पष्टविशेष प्रतिभासित्व की सिद्धि हो जाने से समानता का ही प्रसंग आ जावेगा । यदि आप कहें कि उन प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष में अंतर है तब तो तदात्मक प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष शब्द में भी भेद प्राप्त हो जावेगा पुनः शब्दाद्वैत की सिद्धि कैसे हो सकेगी ?

शब्दाद्वैतवादी—"अद्वैतरूप ही शब्द है और वह केवल 'प्रत्यक्ष' इस उपाधि से सहित तथा स्पष्ट-विशेष प्रतिभासात्मक है एवं शब्दादि उपाधियाँ (यह आगम ज्ञानात्मक शब्द है यह अनुमान ज्ञानात्मक शब्द है इत्यादि) पुनः अस्पष्ट सामान्यावभासात्मक हैं जैसे कि पीली और नीली उपाधि है जिसमें, ऐसा स्फटिक पीला एवं नीला प्रतिभासित होता रहता है ।

जैन—यह कथन भी असत् ही है । प्रत्यक्ष और इतर उपाधियों को भी शब्दात्मक स्वीकार करने पर उन दोनों में भेद नहीं सिद्ध होगा पुनः प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दोनों समान ही हो जावेगे और यदि उन दोनों उपाधियों को शब्दात्मक न मानों, तब तो शब्दाद्वैत का ही खण्डन हो जावेगा । एवं प्रत्यक्ष और इतर इन दोनों उपाधियों को अवस्तुरूप स्वीकार करोगे, तब तो स्पष्ट और अस्पष्ट प्रतिभास

1 रविशेषः सिद्धयेदिति वा पाठः । अभेदः । (दि० प्र०) 2 चक्षुरादिशब्दाद्ययोः । (दि० प्र०) 3 प्रत्यक्षेतरभेदश्चेत्-दूषणमेव । (दि० प्र०)

विरोधात् । तत्प्रतिभासस्याप्यभेदे, स एव प्रत्यक्षेतराविशेषप्रसङ्गः<sup>१</sup> । **सर्वथानभिधेयत्वेपि<sup>२</sup>**  
**सत्पेतरयोरभेदः स्यात्** यत्सत्तत्सर्वमक्षणिकं, क्षणिके क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाविरोधादित्या-  
 देरिव वाक्यस्य यत्सत्तत् क्षणिकमेव, नित्ये क्रमाक्रमाभ्यामर्थक्रियानुपपत्तेरित्यादेरपि वाक्य-  
 स्यासत्यत्वप्रसङ्गाद्विपर्ययानुपपत्त्या, सर्वथार्थासंस्पर्शितत्वाविशेषात्, कस्यचिदनुमानवाक्यस्य  
 कथञ्चिदर्थसंस्पर्शित्वे सर्वथानभिधेयत्वविरोधात् । सोयं सौगतः स्वपक्षविपक्षयोस्तत्त्वात्तत्त्व-  
 प्रदर्शनाय यत्किञ्चित्प्रणयन् वस्तु सर्वथानभिधेयं प्रतिजानातीति किमप्येतन्महाद्भुतं, सर्वथा-  
 भिधेयरहितेनानुमानवाक्येन<sup>३</sup> सत्यत्वासत्यत्वप्रदर्शनस्य प्रणेतुमशक्तेः,

के जो भेद हैं, उसके कारण में विरोध आ जावेगा । यदि उस स्पष्ट और अस्पष्ट प्रतिभास में प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष के साथ अभेद स्वीकार करोगे, तब तो वो ही प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष में समानता का प्रसंग आ ही जावेगा । और उस प्रकार से अनभिधेय—अवाच्य स्वीकार कर लेने पर तो सत्य और असत्य में भेद नहीं सिद्ध हो सकेगा । उसी का स्पष्टीकरण—

“यत्सत्तत्सर्वमक्षणिकं” जो सत् है वह सभी अक्षणिक—नित्य है क्योंकि क्षणिक में क्रम से अथवा युगपत् अर्थक्रिया नहीं बन सकती है । इत्यादि वाक्य के समान ही ‘यत्सत्तत्क्षणिकमेव’ जो सत् है वह क्षणिक ही है क्योंकि नित्य में क्रम से अथवा युगपत् अर्थक्रिया नहीं बन सकती है इत्यादि वाक्य भी असत्य सिद्ध हो जावेंगे । अथवा विपर्यय का प्रसंग आ जावेगा, यथा—नित्य में क्षणिकपने का प्रसंग हो जावेगा, अथवा क्षणिक में नित्यत्व का प्रसंग आ जावेगा क्योंकि सत्य और असत्य दोनों ही शब्द सर्वथा अर्थ का स्पर्श करने वाले नहीं हैं, अर्थात् दोनों ही शब्द समानरूप से अवाच्य हैं ।

**बौद्ध**—मेरा सिद्धान्त यह है कि कोई अनुमान वाक्य कथञ्चित्—किसी रूप से अर्थ का स्पर्श—सम्बन्ध करते हैं ।

**जैन**—तब तो शब्द सर्वथा अनभिधेय हैं, इस कथन में विरोध आ जाता है और इस प्रकार से आप बौद्ध “स्वपक्ष को वास्तविक और विपक्ष परमत को अवास्तविक बतलाने के लिये यत्किञ्चित् वाक्य को बोलते हुए भी सभी वस्तुओं को सर्वथा अनभिधेयरूप (अवाच्यरूप) स्वीकार करते हैं यह कुछ एक महान् आश्चर्य की बात प्रतीत हो रही है । क्योंकि सर्वथा वाच्यपने से रहित ऐसे अनुमान वाक्य से सत्य असत्य का निर्णय देना तो सर्वथा अशक्य ही है । कहा भी है—

१ षड्वाट्ठैतवादी । (दि० प्र०) २ पुनः सौगतं प्रत्याहुस्तथेति । वस्तुनः । संभावनायाम् । वाक्ययोः । (दि० प्र०)

३ वाक्यार्थः । (व्या० प्र०)

१“साध्याभिधानात्पक्षोक्तिः” पारम्पर्येण नाप्यलम् ।  
शक्तस्य सूचकं हेतुवचोऽशक्तमपि स्वयम्”

इति <sup>३</sup>वचनात् । स्वयं<sup>४</sup> तत्कृतां वस्तुसिद्धिमुपजीवति, न तद्वाच्यतां<sup>५</sup> चेति स्वदृष्टिराम-  
मात्रमनवस्थानुषङ्गात्, वस्तुनोनुमानवाक्यवाच्यतानुपजीवने तत्कृतायाः सिद्धेस्वजीवनासंभ-  
वात्<sup>६</sup>, अनभिमतप्रतिवादिवचनादपि<sup>७</sup> तत्सिद्धिप्रसङ्गात्<sup>८</sup>, <sup>९</sup>स्वाभिधेयरहितादपि स्ववचना-  
तत्त्वसिद्धिरुपजीव्यते<sup>१०</sup>, न पुनः परवचनादिति<sup>११</sup> कथमप्यवस्थानासंभवात्<sup>१२</sup> । मद्रचनं वस्तु-  
दर्शनवशप्रभवं, न पुनः परवचनमिति स्वदर्शनानुरागमात्<sup>१३</sup>, न तु परीक्षाप्रधानं, सर्वस्य वचसो<sup>१४</sup>  
विवक्षाविषयत्वाविशेषात् ।

श्लोकार्थः—पक्ष का कथन साध्य के वचनों से साध्य को समझाने के लिये परम्परा से भी समर्थ  
नहीं हो सकेगा, क्योंकि हेतुवचन स्वयं असमर्थ होते हुये भी पहले हेतु का समर्थन करता है और वह  
हेतु शक्त—साध्य का सूचक होता है ।

स्वयं ही हेतु वचनों के द्वारा की गई वस्तु की सिद्धि को स्वीकार करके अपने पक्ष का आग्रह  
करते हुए आप अपने पक्ष को जीवित रखते हैं और हेतुवचन की वाच्यता को स्वीकार नहीं करते हैं  
यह तो अपने मत का एक अनुरागमात्र ही है और इस तरह अनवस्था हो जाने से व्यवस्था भी नहीं  
बन सकती है । अर्थात् अपने वचनों से अपने तत्त्व को सिद्ध करके आप अपना पक्ष लेते हैं और पर  
के वचनों से पर के तत्त्व की व्यवस्था को नहीं मानते हैं, इससे कोई भी व्यवस्था नहीं बन सकती है,  
क्योंकि यह तो केवल पक्षपात ही है ।

और यदि आप वस्तु को अनुमान वाक्य से भी वाच्यरूप स्वीकार नहीं करेंगे तब तो उस  
अनुमान के द्वारा की गई स्वतत्त्व की सिद्धि को भी स्वीकार नहीं कर सकेंगे और स्वीकार करेंगे तो  
आपको अन्यथा—अपने को अनभिमत प्रतिवादी (जैनादि) के वचनों से उनके द्वैतवाद आदि तत्त्वों  
की सिद्धि को भी स्वीकार करना पड़ेगा क्योंकि आप स्वाभिधेयरहित भी स्ववचन से स्वतत्त्व की  
सिद्धि तो स्वीकार कर लेवें और पर के वचन से पर के तत्त्व की सिद्धि न मानें, यह व्यवस्था कथमपि  
सम्भव नहीं है ।

१ हेतुवचः साध्यसाधनसमर्थ हेतुं सूचयति । स च हेतुः साध्यं साधयति । एवं हेतुवचः पारम्पर्येण साध्यसिद्धिं प्रत्यक्षं  
समर्थं भवति । पक्षोक्तिस्तु साध्यं प्रतिपादयति तथापि पारम्पर्येणापि साध्यसिद्धिं प्रतिपालं तदभिहितसाध्येन साध्य-  
सिद्धयभावादिति श्लोकाभिप्रायः । (दि० प्र०) २ पर्वतोयमग्निमानिति । (दि० प्र०) ३ हेतोः । (दि० प्र०)  
४ सौगतः । वचनम् । क्षणिकत्वम् । (दि० प्र०) ५ क्षणिकत्वस्य । सौगतः तत्कृतां हेतुवचः कृताम् । आत्ममतम् ।  
दर्शने । (दि० प्र०) ६ क्षणिकत्वम् । (दि० प्र०) ७ अनिष्टशब्दाद्वैतवादिवाक्यादपि । (दि० प्र०) ८ यत्तत्त्वसर्वम-  
क्षणिकमिति । (दि० प्र०) ९ तेनाप्यवाच्यता विशेषात् । (दि० प्र०) १० अणिकत्वम् । (व्या० प्र०) ११ एतस्य ।  
(व्या० प्र०) १२ अवाच्यवादी सौगतो वदति हे शब्दाद्वैतवादिन् । (दि० प्र०) १३ शब्दाद्वैती । (दि० प्र०)  
१४ सौगतस्य । (दि० प्र०)

[ प्रत्येक वस्तु कथञ्चिदेवावाच्यं न सर्वथा ]

ततो<sup>१</sup> न सर्वथाभिधेयं वस्तुतत्त्वं नाप्यनभिधेयं, बाधकसद्भावात् । किं तर्हि ? कथञ्चिदवाच्यमेव तदेष्टं, कथञ्चित्सदेव<sup>२</sup>, कथञ्चिदसदेव<sup>३</sup>, कथञ्चिदुभयमेवेति<sup>४</sup> । तथा चशब्दात्कथञ्चित्सदवाच्यमेव, सर्वथाप्यसतोभभिधेयत्वधर्माव्यवस्थितेः<sup>५</sup>, कथञ्चिदसदवाच्यमेव, सर्वथापि सतोभिलाप्यत्वस्वभावासंभवात् तदभिलाप्यत्वस्यापि सद्भावात्, 'कथञ्चित्सदसदवाच्यमेव, स्वरूपपररूपाभ्यां सदसदात्मन एवावाच्यत्वधर्मप्रसिद्धेरित्यपि भङ्गत्रयं समुच्चितमाचार्यैः, 'अवक्तव्योत्तराः शेषास्त्रयो भङ्गाः स्वहेतुतः' इत्यग्रे स्वयं समर्थनात्, इह 'तत्प्रति-

बौद्ध—मेरे वचन क्षणिक वस्तु के दर्शन (निर्विकल्पज्ञान) की परम्परा से उत्पन्न हुए हैं, किन्तु पर के वचन नहीं ।

जैन—यह कथन तो केवल स्वदर्शनानुरागमात्र ही है, परीक्षाप्रधान नहीं है क्योंकि सभी वचन समानरूप से विवक्षा को विषय करते हैं ।

[ प्रत्येक वस्तु कथञ्चित् ही अवाच्य है सर्वथा नहीं ]

अतएव वस्तुतत्त्वं सर्वथा अभिधेय नहीं है और न सर्वथा अनभिधेय ही है क्योंकि सर्वथा रूप कथन में ही बाधा देखी जाती है ।

बौद्ध एवं शब्दाद्वैतवादी—तो फिर वस्तुतत्त्वं कैसा है ?

जैन—कथञ्चित् (—युगपत् स्वपर द्वयचतुष्टय की अपेक्षा से) वस्तुतत्त्वं अवाच्य ही है ऐसा समझो । यहाँ जैनाचार्य भगवान् की स्तुति करते हुए कहते हैं कि हे भगवन् ! यही आपका इष्ट-मत-शासन है । एवं प्रत्येक वस्तु कथञ्चित् सत् रूप ही है तथा कथञ्चित् असत् रूप ही है एवं कथञ्चित् उभयरूप ही है । तथा 'च' शब्द से कथञ्चित् "सत् अवाच्य ही है" क्योंकि जो वस्तु सर्वथा असत् रूप है, उसमें अवाच्य धर्म भी नहीं रह सकता है । तथा वस्तु कथञ्चित् "असदवाच्य ही है" क्योंकि सर्वथा सत् रूप वस्तु में भी अवाच्य स्वभाव असम्भव है एवं उस सत् में "वाच्य" स्वभाव भी पाया जाता है । वस्तु कथञ्चित् "सदसद् अवाच्य ही है" क्योंकि स्वरूप और पररूप के द्वारा सत्-असत्-स्वरूप ही वस्तु में अवाच्य धर्म रह सकता है । इस प्रकार आचार्यदेव ने 'च' शब्द से इन भंगों का भी समुच्चय कर लिया है ।

"अवक्तव्योत्तराः शेषास्त्रयो भङ्गाः स्वहेतुतः" इस कारिका द्वारा आगे स्वयं समर्थन करेंगे । यहाँ पर "कथञ्चित्ते सदेवेष्टं" इत्यादि कारिका में कहे गये भंगों की सिद्धि है क्योंकि बिना कहे गये का

१ अत्र स्वाद्धादौ वदति । ततस्तस्मात्कारणात् वस्तुतत्त्वं सर्वथा वाच्यं न । सर्वथाऽवाच्यं न तर्हि किमस्ति । (दि० प्र०)  
 २ स्वप्रव्यादिचतुष्टयापेक्षया । (दि० प्र०) ३ परद्वव्यादिचतुष्टयापेक्षया । (व्या० प्र०) ४ क्रमेण स्वपररूपादिचतुष्टयापेक्षया । (व्या० प्र०) ५ अवाच्यत्व । (व्या० प्र०) ६ कथञ्चित्ते सदेवेष्टमित्यादि । (व्या० प्र०) सच्च तदसच्च तद्वाच्यं चेति यसः । (दि० प्र०) ७ समन्त-आचार्यः । अग्रे समर्थनेऽपि तत्प्रतिज्ञानं कुतः । (दि० प्र०)

ज्ञातस्य सिद्धेरप्रतिज्ञातस्य समर्थनाघटनात्<sup>१</sup> २कस्यचित्प्रतिज्ञातस्य<sup>३</sup> सामर्थ्याद्गम्यमानस्यापि<sup>४</sup> प्रतिज्ञातत्वोपपत्तेः । इति साधीयसी सप्तभङ्गी प्रतिज्ञा, तथा नैगमादिनययोगात्<sup>५</sup> ।

तत्र<sup>६</sup> प्रथमद्वितीयभङ्गयोस्तावन्नययोगमुपदर्शयन्ति<sup>७</sup> स्वामिनः—

**सदेव सर्वं को नेच्छेत्<sup>८</sup> स्वरूपादिचतुष्टयात् ।**

**असदेव विपर्यासान्न चेन्न<sup>९</sup> व्यवतिष्ठते ॥१५॥**

सर्वं चेतनमचेतनं वा द्रव्यं पर्यायादि वा<sup>१०</sup> भ्रान्तमभ्रान्तं<sup>११</sup> वा स्वयमिष्टमनिष्टं<sup>१२</sup> वा, सदेव स्वरूपादिचतुष्टयात् को नेच्छेत् ? असदेव पररूपादिचतुष्टयात् तद्विपर्यायात्को<sup>१३</sup> नेच्छेत् ? अपितु लौकिकः<sup>१४</sup> परीक्षको वा स्याद्वादी सर्वथैकान्तवादी वा सचेतनस्तथेच्छेदेव, प्रतीतेर-

समर्थन नहीं किया जाता है फिर भी किसी का कथन कर देने से सामर्थ्य से गम्यमान का भी कथन किया जा सकता है । अतएव इस प्रकार से सप्तभंगी प्रतिज्ञा सिद्ध हो गई, क्योंकि उन सात प्रकारों से ही नैगम आदि नयों का प्रयोग पाया जाता है ।

अब स्वयं स्वामी समंतभद्राचार्यवर्य पहले प्रथम और द्वितीय भंग में नय का प्रयोग दिखलाते हैं—

**कारिकार्थ—**स्वद्रव्य, क्षेत्र, काल, भावरूप चतुष्टय की अपेक्षा से सभी वस्तु सत् रूप ही हैं, ऐसा कौन स्वीकार नहीं करेगा ? एवं परद्रव्यादि चतुष्टय की अपेक्षा से सभी वस्तु असत् रूप ही हैं । यदि ऐसा नहीं स्वीकार करें तो किसी के यहाँ भी अपने-अपने इष्टतत्त्व की व्यवस्था नहीं हो सकेगी ।

कौन ऐसा व्यक्ति है जो सभी चेतन अचेतनवस्तु को अथवा द्रव्य पर्यायादि को अथवा भ्रान्त या अभ्रान्त को तथा स्वयं इष्ट अथवा अनिष्ट को स्वरूप आदि चतुष्टय की अपेक्षा से सत् रूप ही स्वीकार नहीं करेगा एवं पर रूपादि चतुष्टय की अपेक्षा से वस्तु को असत् रूप ही कौन स्वीकार नहीं करेगा ? अपितु लौकिक अथवा परीक्षक स्याद्वादी अथवा सर्वथैकान्तवादी सचेतन लोग उस प्रकार से स्वीकार करेंगे ही करेंगे, क्योंकि प्रतीति का अपह्नव करना शक्य नहीं है ।

१ ननु भवतु प्रतिज्ञा तस्यैव सामर्थ्यं कथ्यते तदाऽवक्तव्योत्तराणां प्रतिज्ञानत्वं कुत इत्याह । (दि० प्र०) २ तर्हि कस्मात्प्रतिज्ञात्र न कुता च शब्दमात्रेण तु भंगत्रयस्यैवाभ्युह्यत्वघटनादित्याशंकायामाहुः कस्यचिदिति । (दि० प्र०) ३ प्रतिज्ञातस्य सदादिभंगचतुष्टयस्य । (दि० प्र०) ४ तस्य संवन्धिसामर्थ्यात् । (दि० प्र०) ५ संग्रहव्यवहारकृजु-सूत्रशब्दसमभिरुद्धैर्बभूतानामादिशब्देन ग्रहणम् । (दि० प्र०) ६ सप्तभंगीमध्ये । (दि० प्र०) ७ प्रथमतः । (दि० प्र०) ८ स्वरूपस्वद्रव्यस्वक्षेत्रस्वकालचतुष्टयात् । (दि० प्र०) ९ यदि एवं कश्चिन्न वाञ्छेत् तदा कस्मिञ्चिद्वस्तुनि न प्रवर्तते । (दि० प्र०) १० मिथ्याज्ञानम् । (दि० प्र०) ११ जानम् । दि० प्र०) १२ स्रगादि । विषकण्टकादि । (दि० प्र०) १३ उक्तम् । (दि० प्र०) १४ लोकस्य जाता लौकिकः । (व्या० प्र०)

गहोतुमशक्तेः<sup>१</sup> । अथ<sup>२</sup> स्वयमेवं<sup>३</sup> प्रतीयन्नपि कश्चित्कुनयविपर्यासितमतिर्नच्छेत्<sup>४</sup> स न क्वचि-  
दिष्टे तत्त्वे व्यवतिष्ठेत्<sup>५</sup>,

[ वस्तुनो वस्तुत्वं किं ? ]

स्वपररूपोपादाना<sup>७</sup>पोहन<sup>८</sup>व्यवस्था<sup>९</sup>पाद्यत्वाद्वस्तुनि<sup>१०</sup> वस्तुत्वस्य<sup>११</sup>, स्वरूपादिव<sup>१२</sup> पररूपा-  
दपि सत्त्वे चेतनादेरचेतनादित्वप्रसङ्गात् तत्स्वात्मवत्<sup>१३</sup>, पररूपादिव स्वरूपादप्यसत्त्वे सर्वथा  
शून्यतापत्तेः, स्वद्रव्यादिव परद्रव्यादपि सत्त्वे<sup>१४</sup>द्रव्यप्रतिनियमविरोधात्<sup>१५</sup> । संयोगविभागादेर  
नेकद्रव्याश्रयत्वेऽपि तद्द्रव्यप्रतिनियमो न विरुध्यते<sup>१६</sup> एदेति चेन्न, तस्यानेकद्रव्यगुणत्वेनानेक-

स्वयं इस प्रकार प्रतीति में अनुभव करते हुए भी कोई सांख्यादि जिनकी कुनय से बुद्धि विपरीत  
हो रही है, यदि ये लोग स्वीकार न करें, तो वे अपने इष्टतत्त्व को भी व्यवस्थापित नहीं कर सकेंगे ।

[ वस्तु का वस्तुत्व क्या है ? ]

स्वरूप का उपादान और पररूप का त्याग करके ही वस्तु में वस्तुत्व का आपादन किया जाता  
है अर्थात् प्रत्येक वस्तु की व्यवस्था स्वस्वरूप का उपादान एवं पररूप का त्याग करके ही बन  
सकती है ।

यदि स्वरूप के समान ही पररूप से भी सत्त्व स्वीकार कर लें तब तो चेतन आदि वस्तु अचेतन-  
रूप हो जावेंगी । तत्स्वात्म के समान अर्थात् जैसे जीव को चैतन्यपना स्वरूप है, वैसे ही चेतन भी  
स्वरूप हो जावेगा । अथवा पररूप के समान ही स्वरूप से भी असत्त्व मानोगे, तब तो 'सर्वथा' सभी  
वस्तु शून्यरूप हो जावेंगी । उसी प्रकार से स्वद्रव्य के समान ही परद्रव्य से भी सत्त्व मानने पर, द्रव्य  
के प्रतिनियम का विरोध हो जावेगा ।

नैयायिक—संयोग, विभाग आदि अनेक द्रव्य के आश्रय रहते हैं फिर भी उन संयोग विभाग  
आदि से द्रव्य का प्रतिनियम विरुद्ध नहीं होता है । अर्थात् ये संयोग विभाग आदि एक दूसरे की  
अपेक्षा लेकर ही होते हैं क्योंकि एकद्रव्य में न संयोग हो सकता है, न विभाग हो सकता है ।

जैन—नहीं, वे संयोग विभाग आदिक अनेक द्रव्य में गुणरूप से रहते हैं अतएव उन अनेक द्रव्यों  
में स्वद्रव्यत्व ही रहता है । अर्थात् संयोग, विभाग तो अनेक द्रव्य के गुण हैं न कि द्रव्य हैं अतएव  
अनेक द्रव्यों में अपने-अपने स्वद्रव्यत्व की अपेक्षा द्रव्यत्व ही रहता है ।

१ निराकर्तुम् । (दि० प्र०) २ यदि । (व्या० प्र०) ३ स्वपररूपादिचतुष्टयमाश्रित्य सत्त्वासत्त्वप्रकारेण । (व्या० प्र०)  
४ कुयुक्तिः कुमतिः । (व्या० प्र०) ५ प्रवर्तेत । (दि० प्र०) ६ भाद्धिः । (व्या० प्र०) ७ अनुवृत्तिः । (व्या० प्र०)  
८ व्यावृत्तिः । (व्या० प्र०) ९ ता । (व्या० प्र०) १० युक्त्याबलात्कारेण ग्राहित्वात् । (व्या० प्र०) ११ परमार्थ-  
सत्त्वस्य । (व्या० प्र०) अतः स्वरूपादिनक्षणचतुष्टयमाह । (दि० प्र०) १२ स्वरूपमाश्रित्य । (व्या० प्र०)  
१३ अचेतनस्वात्मवत् । (दि० प्र०) १४ ईप् । (व्या० प्र०) १५ सत्त्वस्य । (व्या० प्र०) १६ यथाद्रव्यम् ।  
(व्या० प्र०)



द्रव्यस्यैव स्वद्रव्यत्वात्, स्वानाश्रयद्रव्यान्तरस्य परद्रव्यत्वात्ततोपि सत्त्वे स्वाश्रयद्रव्यप्रतिनियम-  
व्याघातस्य तदवस्थत्वात्<sup>१</sup> । तथा परद्रव्यादिव स्वद्रव्यादपि कस्यचिदसत्त्वे<sup>२</sup> सकलद्रव्याना-  
श्रयत्वप्रसङ्गादिष्टद्रव्याश्रयत्वविरोधात् । तथा स्वक्षेत्रादिव परक्षेत्रादपि सत्त्वे कस्यचित्प्रति-  
नियतक्षेत्रत्वाव्यवस्थितेः । परक्षेत्रादिव स्वक्षेत्रादपि चासत्त्वे निःक्षेत्रतापत्तेः । तथा स्वकाला-  
दिव परकालादपि सत्त्वे प्रतिनियतकालत्वाव्यवस्थानात् । परकालादिव स्वकालादप्यसत्त्वे  
सकलकालासंभवित्वप्रसङ्गात् क्व किं व्यवतिष्ठेत<sup>३</sup> ? यतः स्वेष्टानिष्टतत्त्वव्यवस्था<sup>४</sup> ।

इस द्रव्य के अतिरिक्त जो इनका अनाश्रयभूत द्रव्यांतर है वह परद्रव्य है । अतः संयोग एवं विभाग ये दोनों स्वद्रव्य की अपेक्षा से ही सत्त्व विणिष्ट हैं परद्रव्य की अपेक्षा से नहीं । यदि परद्रव्य से भी इनका सत्त्व स्वीकार करेंगे तब तो अपने आश्रयभूत द्रव्य का भी प्रतिनियम नहीं बन सकेगा अर्थात् यह संयोग इन दो ही द्रव्यों का है अन्य द्रव्यों का नहीं है यह प्रतिनियम नहीं हो सकेगा ।

इसी प्रकार परद्रव्य की अपेक्षा से असत्त्व की तरह स्वद्रव्य की अपेक्षा से भी किसी का असत्त्व माना जावेगा तब तो सभी द्रव्य अनाश्रयभूत हो जावेंगे और उसमें इष्टद्रव्य के आश्रयत्व का विरोध हो जावेगा ।

भावार्थ--जैसे घट में जो अस्तित्व है, वह अपने रूप घटपने की अपेक्षा से भी मान लें, तब तो घट में पटरूपता की प्रसक्ति होने से जलार्थी पुरुष की जो घट में प्रवृत्ति है एवं शरीर को ढाकने वाले की जो पट में प्रवृत्ति है उसका समूलतः विनाश ही विनाश होने का प्रसंग प्राप्त हो जावेगा तथा जगत् या तो घटरूप ही हो जावेगा या पटरूप ही । उसी प्रकार घट में स्वरूप की अपेक्षा से भी यदि असत्त्व होवे, तब तो वह घट स्वरूप से भी नहीं होगा अतः वह किसी रूप से भी नहीं होने से शशविषाण के समान उसका अभाव होकर सर्वथा ही वह घट शून्यरूप ही हो जावेगा ।

उसी प्रकार से यदि स्वक्षेत्र के समान ही परक्षेत्र की अपेक्षा से भी सत्त्व स्वीकार करेंगे तब तो किसी वस्तु के प्रतिनियत क्षेत्रत्व की व्यवस्था नहीं बन सकेगी । तथैव परक्षेत्र की अपेक्षा से असत्त्व के समान ही यदि स्वक्षेत्र से भी असत्त्व कहेंगे, तब तो किसी भी वस्तु का कोई क्षेत्र ही सिद्ध न होने से सभी वस्तु को निःक्षेत्रत्व का प्रसंग आ जावेगा ।

उसी प्रकार स्वकाल की अपेक्षा सत्त्व के समान परकाल से भी सत्त्व स्वीकार करने पर वस्तु का प्रतिनियत काल व्यवस्थित नहीं हो सकेगा । तथैव परकाल से नास्तित्व के समान ही स्वकाल की अपेक्षा से भी यदि असत्त्व मान लेंगे, तब तो सभी काल में ही वस्तु का रहना असम्भव हो जावेगा ।  
पुनः स्वरूप आदि--स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभाव में वस्तु की व्यवस्था कैसे बन सकेगी । जिससे कि आप अपने इष्टतत्त्व का कथन एवं पर के अनिष्टतत्त्व का खण्डन व्यवस्थित कर सकें ? अर्थात् इष्टानिष्ट तत्त्व व्यवस्था भी नहीं कर सकेंगे ।

१ पूर्वम् । स्वानाश्रयद्रव्यान्तरलक्षणपरद्रव्येज्जन्तर्भवित्वात् । (दि० प्र०) २ सदद्रव्यधर्मस्य । (दि० प्र०) ३ कस्मिन् स्थाने किं वस्तु प्रवर्तते । (दि० प्र०) ४ इति कालव्याख्या । (दि० प्र०)

[ स्वरूपे स्वरूपान्तराभावाद् वस्तुव्यवस्था कथं भवेदिति नैयायिकस्यारेकायां विचारः ]

नन्वेवं स्वरूपादीनां स्वरूपाद्यन्तरस्याभावात्कथं व्यवस्था स्यात्, भावे<sup>१</sup> वानवस्था-  
प्रसङ्गात् । सुदूरमपि गत्वा स्वरूपाद्यन्तराभावेऽपि कस्यचिद्व्यवस्थायां किमनया प्रक्रियया  
स्वगृहमान्यया यथाप्रतीति वस्तुव्यवस्थोपपत्तेरिति<sup>२</sup> कश्चित्सोमि<sup>३</sup> वस्तुस्वरूपपरीक्षानभिमुखो,  
वस्तुप्रतीतेरेव<sup>४</sup> तथा<sup>५</sup> प्ररूपयितुमुपक्रान्तरवान् । अन्यथा नानानिरंकुशविप्रतिपत्तीनां निवार-  
यितुमशक्यत्वात्<sup>६</sup> । वस्तुनो हि यथैवाबाधिता<sup>७</sup> प्रतीतिस्तथैव स्वरूपं, न च तसतोऽन्यदेव  
प्रतीयते येन स्वरूपान्तरमपेक्षेत । तथा प्रतीतौ वा तद्रूपगमेऽपि नानवस्था, यत्राप्रतिपत्तिस्तत्र<sup>८</sup>  
व्यवस्थोपपत्तेः<sup>९</sup> ।

[ स्वरूप में भिन्नस्वरूप का अभाव होने से वस्तुव्यवस्था कैसे बन सकेगी ?  
नैयायिक की इस गंका पर विचार ]

नैयायिक—इस प्रकार से स्वरूप दि में तो भिन्नस्वरूप आदि का अभाव सिद्ध हो गया पुनः  
व्यवस्था कैसे बनेगी ? यदि आप कहें कि स्वरूपादि में भी भिन्न स्वरूपादि पाये जाते हैं, तब तो  
अनवस्था का प्रसंग आ जावेगा एवं बहुत दूर जाकर भी स्वरूपाद्यन्तर का अभाव स्वीकार करने पर  
पुनः स्वगृह मान्य इस उपर्युक्त प्रक्रिया से क्या प्रयोजन है ? क्योंकि प्रतीति का अतिक्रमण न करके ही  
वस्तुतत्त्व की व्यवस्था होती है ।

अन—ऐसा कहने वाले आप नैयायिक भी वस्तुस्वरूप की परीक्षा से अनभिमुख ही हैं क्योंकि  
उसी प्रकार से वस्तु की प्रतीति का ही हम प्ररूपण करने के लिये सन्नद्ध हुये हैं, अन्यथा यदि प्रतीति  
का अनुसरण हम नहीं करें, तब तो अनेक प्रकार के निरंकुश—निरमल विसंवादों का निवारण करना  
ही अशक्य हो जावेगा, क्योंकि वस्तु की जिस प्रकार से अबाधित प्रतीति हो रही है, उसी प्रकार से  
ही उसका स्वरूप है और वह स्वरूप उस प्रतीति से भिन्नरूप में अनुभव में नहीं आता है कि जिससे  
वह स्वरूप स्वरूपांतर की अपेक्षा रखे ।

अथवा स्वरूपादि में स्वरूपांतर आदि की प्रतीति के स्वीकार कर लेने पर भी अनवस्था दोष  
नहीं आता है, क्योंकि जहाँ पर अप्रतिपत्ति हो जाती है वहीं पर व्यवस्था बन जाती है अर्थात् जब  
स्वरूपांतर (अपरस्वरूप) में अप्रतिपत्ति हो जाती है तभी स्वरूप (उस प्रथम स्वरूप) में व्यवस्था  
बन जाती है, अतएव जहाँ पर जिसकी अप्रतिपत्ति है, वहीं पर उसकी अनवस्था है । उसी का  
स्पष्टीकरण—

१ स्वरूपाद्यन्तरस्य भावे । (दि० प्र०) २ सौगताह हे स्याद्वाचित् यथा प्रतीयते वस्तु तथास्थितिरुत्पद्यते इति प्रश्नः ।  
सोमि सौगतोऽपरीक्ष इति चेत्तत्र स्वयंगीकृतं तदा शृणु ब्रूवे । (दि० प्र०) ३ नैयायिको वैभाषिको वा । (दि० प्र०)  
४ अकार्षीत् । (दि० प्र०) ५ वस्तुप्रतीतेः सकाशात्केवलं वस्तुप्ररूपयितुं प्रारब्धत्वाभावेऽनेकनिरमलविवादान-  
निषेधं शक्यते यतः । (दि० प्र०) ६ प्रतीतिवलाभावात् । (दि० प्र०) ७ नियतरूपेण । (दि० प्र०) ८ द्वितीय-  
स्वरूपे । (व्या० प्र०) ९ स्वरूपान्तरस्य रहितत्वेन । (व्या० प्र०)

[ जीवादिवस्तुनः स्वरूपं किं ? ]

तत्र<sup>१</sup> जीवस्य तावत्सामान्येनोपयोगः<sup>२</sup> स्वरूपं, तस्य<sup>३</sup> तल्लक्षणत्वात्, उपयोगो लक्षणम्, इति वचनात् । ततोऽन्योऽनुपयोगः पररूपम् । ताभ्यां<sup>४</sup> सदसत्त्वे प्रतीयेते । तदुपयोगस्यापि<sup>५</sup> विशेषतो ज्ञानस्य स्वार्थाकारव्यवसायः स्वरूपम् । दर्शनस्यानाकारग्रहणं<sup>६</sup> स्वरूपम् । ज्ञानस्यापि परोक्षस्यावैशद्यं<sup>७</sup> स्वरूपम् । प्रत्यक्षस्य<sup>८</sup> वैशद्यं स्वरूपम् । दर्शनस्यापि<sup>९</sup> चक्षुरचक्षुर्निमित्तस्य चक्षुराद्यालोचनं<sup>१०</sup> स्वरूपम् । अवधिदर्शनस्यावध्यालोचनं स्वरूपम् । परोक्षस्यापि मतिज्ञानस्येन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तं स्वार्थाकारग्रहणं स्वरूपम् । अनिन्द्रियमात्रनिमित्तं श्रुतस्य<sup>११</sup>

[ जीवादि वस्तु का स्वरूप क्या है ? ]

सामान्य से जीव का स्वरूप उपयोग है, क्योंकि वह जीव का लक्षण है “उपयोगो लक्षणं” यह सूत्रकार श्रीउमास्वामी आचार्य का सूत्र है । उससे भिन्न अनुपयोग यह जीव का पररूप है इस उपयोग एवं अनुपयोग के द्वारा ही जीवद्रव्य के अस्तित्व एवं नास्तित्व का अनुभव आता है । पुनः उस उपयोग के भी विशेषरूप से ज्ञान और दर्शन ये दो भेद हैं उसमें “स्वार्थाकार व्यवसाय” यह ज्ञान का स्वरूप है एवं “अनाकार ग्रहण” यह दर्शन का स्वरूप है । एवं ज्ञान के भी परोक्ष और प्रत्यक्ष दो भेद करने पर अवैशद्य परोक्षज्ञान का स्वरूप है । दर्शन में भी चक्षुर्दर्शन तथा अचक्षुर्दर्शन का स्वरूप चक्षु आदि इन्द्रियों के द्वारा सत्तामात्र आलोचना करना है । अवधिदर्शन का स्वरूप मर्यादारूप वस्तु को सत्तामात्र अवलोकन करना है । परोक्षज्ञान में मतिज्ञान का स्वरूप इन्द्रियानिन्द्रिय निमित्तक एवं स्वार्थाकार ग्रहणरूप है । श्रुतज्ञान का स्वरूप अनिन्द्रियमात्र निमित्तक है, उसी प्रकार से प्रत्यक्ष ज्ञान में भी विकल और सकल के भेद से दो भेद कर देने पर विकल प्रत्यक्ष के अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान ऐसे दो भेद हैं एवं मन और इन्द्रियों की अपेक्षा से रहित स्पष्टरूप से स्वात्मा और पदार्थ का ग्रहण करना यह विकल-प्रत्यक्ष का स्वरूप है । तथा सम्पूर्ण द्रव्य और उनकी सम्पूर्ण पर्यायों को साक्षात् करना यह सकल प्रत्यक्षरूप केवलज्ञान का स्वरूप है । इस स्वार्थाकार व्यवसायात्मक—लक्षण स्वरूप से भिन्न इन ज्ञानों का अन्य सत्र रूप पररूप है । इन स्वरूप और पररूप के द्वारा ही ज्ञान का अस्तित्व एवं नास्तित्व जानना चाहिये ।

इसी प्रकार से विशेष विद्वानों को इनके उत्तरोत्तर विशेषों का भी स्वपररूप से निर्णय कर लेना चाहिये क्योंकि इन ज्ञानों के अथवा प्रत्येक पदार्थों के विशेष-प्रतिविशेष (भेद) अनन्त पाये जाते हैं ।

१ रूपान्तरस्वीकारात् । (व्या० प्र०) २ स्वरूपान्तरोपगमे । (व्या० प्र०) ३ जीवस्य । (दि० प्र०) ४ उपयोगात् । (दि० प्र०) ५ स्वरूपपररूपाभ्याम् । (दि० प्र०) ६ प्रकृत । (व्या० प्र०) ७ किञ्चिदिति । (व्या० प्र०) ८ अस्पष्टत्वम् । (दि० प्र०) ९ अवधिमनःपर्ययकेवलाख्यस्य स्वरूपस्य । (दि० प्र०) १० चक्षुर्निमित्तस्य नेत्रेन्द्रियनिमित्तस्याचक्षुः श्रोत्रेन्द्रियादिनिमित्तस्य चक्षुः श्रोत्रेन्द्रियाद्यालोचनं स्वरूपम् । (दि० प्र०) ११ ग्रहणम् । (दि० प्र०) १२ श्रुतज्ञानस्य । श्रुतं मतिपूर्वमिति वचनात् । पूर्वं श्रोत्रेन्द्रियेण शब्दश्रवणं पश्चात्तन्मनसार्थपरिज्ञानं श्रुतज्ञानं चतः किमर्थं जलाद्याहरणार्थम् । (व्या० प्र०)

स्वरूपम् । प्रत्यक्षस्यापि विकलस्यावधिमनःपर्ययलक्षणस्य मनोक्षानपेक्ष<sup>१</sup> स्पष्टात्मार्थग्रहणं<sup>२</sup> स्वरूपम् । सकलप्रत्यक्षस्य सर्वद्रव्यपर्यायिसाक्षात्करणं स्वरूपम् । ततोऽन्यत् सर्वं तु पररूपम् । ताभ्यां सदसत्त्वे प्रतिपत्तये । <sup>३</sup>एवमुत्तरोत्तरविशेषाणामपि<sup>४</sup> स्वपररूपे तद्विद्विरभ्यूह्ये<sup>५</sup> तद्विशेषप्रतिविशेषाणामनन्तत्वात्<sup>६</sup> । द्रव्यक्षेत्रकालभावविशेषाणामनेनैव प्रतिद्रव्यपर्याय<sup>७</sup> स्वपररूपे प्रतिपादिते ।

[ जीवादिद्रव्याणां किं स्वद्रव्यं किञ्च परद्रव्यं ? ]

ननु<sup>८</sup> च जीवादिद्रव्याणां पणामपि किं स्वद्रव्यं किं वा परद्रव्यम् ? यतः<sup>९</sup> सदसत्त्वे

इसी स्वपर की अपेक्षा से वस्तु के अस्तित्व, नास्तित्व के प्रतिपादनप्रकार से प्रत्येक द्रव्य एवं उनकी प्रत्येक पर्यायों में द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावरूप चतुष्टय का स्वपररूप प्रतिपादन कर दिया गया है, ऐसा समझ लेना चाहिये ।

**भावार्थ**—नैयायिक प्रत्येक वस्तु के गुण को उससे पृथक् मानकर समवाय सम्बन्ध में उसको द्रव्य में जोड़ता है तथा द्रव्य में द्रव्यत्व, जीव में जीवत्व, अग्नि में उष्णगुण पुनः उष्ण में उष्णत्व आदि को मानता है । अतः उसका प्रश्न है कि जैसे आप वस्तु का स्वरूप मानते हैं, वैसे ही आप स्वरूप का भी स्वरूप मानिये । एवं पुनः पुनः स्वरूप में स्वरूप की कल्पना करते रहने से अनवस्था आ जायेगी और यदि स्वरूप में भिन्न स्वरूप नहीं मानोगे, तो स्वरूप की व्यवस्था नहीं बनेगी, किन्तु जैनाचार्य इस नैयायिक को अच्छा समाधान देते हैं । उनका कहना है कि प्रत्येक द्रव्य आदि का स्वरूप स्वयं अनुभव में आ रहा है, अतः वह भिन्नस्वरूप की अपेक्षा नहीं रखता है । जैसे जीव का स्वरूप उपयोग है, उपयोग के भी ज्ञान, दर्शन दो भेद हैं ज्ञान का स्वरूप स्वपर को जानना है इत्यादि ।

इससे विपरीत जानने-देखनेरूप उपयोग से रहित अनुपयोगस्वरूप जीव का पररूप है । अग्नि का स्वरूप उष्णता है, इससे विपरीत शीतता उस अग्नि का पररूप है । अब उस उष्णता में कोई भिन्नस्वरूप नहीं है अतः प्रत्येक वस्तु के स्वभाव को ही स्वरूप या स्वलक्षण कहते हैं पुनः उस स्वरूप में स्वरूपान्तर को माने बिना भी कोई बाधा नहीं आती है ।

[ जीवादि द्रव्यों का स्वद्रव्य क्या है एवं परद्रव्य क्या है ? ]

**प्रश्न** जीवादि छह द्रव्यों का भी स्वद्रव्य क्या है एवं परद्रव्य क्या है जिससे कि उनके

१ द्रव्यरूप । (व्या० प्र०) २ स्वार्थग्रहणं किमवधेः इत्युक्ते । आह । रूपवधेर्विषयः । तदनन्तभागे मनःपर्ययस्य । (दि० प्र०) ३ ज्ञातादेः । ज्ञानस्य भेदप्रकारेण । (व्या० प्र०) ४ एवं ज्ञानदर्शनोपयोगस्योत्तरोत्तरभेदानामपि स्वरूपपररूपे भेदजातृभिः ग्राह्ये । (दि० प्र०) ५ स्वपररूपे ग्राह्ये । मतिज्ञानादि । (दि० प्र०) ६ भेदः । (व्या० प्र०) ७ द्रव्यस्य ये पर्यायास्तान् महाद्रव्यादिव्यतिरिक्तावान्तरद्रव्यादीनित्यर्थः । जीवद्रव्यस्य नरनारकत्वादयः पर्यायास्तत्र नरनारकत्वादिकं द्रव्यं सुखदुःखादिकं पर्यायः एवं प्रति द्रव्यपर्यायमभ्यूह्य तथाहि द्रव्यस्य पर्यायानुगतत्वमेव स्वरूपं क्षेत्रस्यावगाहकत्वमेव । कालस्य पर्यायव्यापित्वम् । (दि० प्र०) ८ कश्चित्स्वमतवर्ती पृच्छति । (दि० प्र०) ९ नैव । (दि० प्र०)

व्यवतिष्ठेते, द्रव्यान्तरस्यासंभवादिति चेन्न, तेषामपि शुद्धं सद्द्रव्यमपेक्ष्य सत्त्वस्य<sup>१</sup> तत्प्रति-  
पक्षमसद्भावमपेक्षयासत्त्वस्य च प्रतिष्ठोपपत्तेः । शुद्धद्रव्यस्य स्वपरद्रव्यव्यवस्था कथम् ? तस्य  
सकलद्रव्यक्षेत्रकालभावात्मकत्वात्, तद्रव्यतिरेकेणान्यद्रव्याद्यभावादिति चेन्न, <sup>२</sup>सकलद्रव्यक्षेत्र-  
कालभावानपेक्ष्य सत्त्वस्य, तदभावमपेक्षयासत्त्वस्य च व्यवस्थितेः 'सत्ता सप्रतिपक्षा'<sup>३</sup> इति  
वचनात् । एतेन सकलक्षेत्रस्य नभसोनाद्यनन्ताखिलकालस्य च सकलक्षेत्रकालात्मनः प्रति-  
नियतक्षेत्रकालात्मनश्च<sup>४</sup> स्वपररूपत्वं निश्चितम् । अतः सदसत्त्वव्यवस्था । स्वरूपादिचतुष्ट-

अस्तित्व और नास्तित्व की व्यवस्था बन सके । क्योंकि छह द्रव्यों को छोड़कर भिन्न द्रव्य असंभव ही है ।

उत्तर—नहीं । उन छहों द्रव्यों में भी शुद्ध सद्द्रव्य की अपेक्षा से अस्तित्व एवं उसके प्रतिपक्षो  
असद्भाव की अपेक्षा से नास्तित्व की व्यवस्था बन जाती है । अर्थात् शुद्ध एवं व्यवहार के भेद से  
द्रव्य के २ भेद कीजिये, उसमें "सत् सत्" यह शुद्ध द्रव्य है एवं भेदपूर्वक अभिमत व्यवहार द्रव्य है ।

प्रश्न—शुद्ध द्रव्य में स्वपर द्रव्य व्यवस्था कैसे सम्भव है ? क्योंकि वह शुद्ध द्रव्य सकल द्रव्य,  
क्षेत्र, काल और भावात्मक है । उन द्रव्य क्षेत्र आदि को छोड़कर अन्य रूप से द्रव्यादि का अभाव है ।

उत्तर—ऐसा नहीं कहना क्योंकि सकल द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा करके अस्तित्व  
की एवं सकल द्रव्यादि के अभाव अर्थात् कनिष्ठित् शब्दों की अपेक्षा करके नास्तित्व की व्यवस्था  
बन जाती है । क्योंकि श्री कुन्द कुन्द देव कृत पञ्चास्तिकाय में ऐसा कहा है कि "सत्ता सप्रतिपक्षा"  
अर्थात् सत्ता भी अपने प्रतिपक्ष असत्ता कर सहित है ।

भावार्थ—सत्ता के दो भेद हैं एक महासत्ता, दूसरी अवांतर सत्ता । समस्त पदार्थों में जो एकत्व  
का बोध कराने वाली है वह महासत्ता है । इसी को समस्त पदार्थ सार्थव्यापिनी कहा है ।

इससे भिन्न प्रत्येक पदार्थ को जो अपनी-अपनी सत्ता है वह अवांतर सत्ता है इसे प्रत्येक पदार्थ  
सार्थव्यापिनी कहा है । और महासत्ता की प्रतिपक्षभूत अवांतर सत्ता है । इसकी अपेक्षा से ही  
महासत्ता में पररूपता घटित होती है इस प्रकार स्वरूप और पररूप का सद्भाव होने से इनकी  
अपेक्षा लेकर महासत्ता में अस्तित्व नास्तित्व धर्मों की सिद्धि हो जाती है ।

इसी कथन से सकल क्षेत्र आकाश, एवं अनादि अनन्त स्वरूप काल में भी सकल क्षेत्र एवं  
सकल कालादि रूप से तथैव प्रतिनियत क्षेत्र कालादि रूप से स्व, पर, स्वरूप निश्चित हो जाता है  
ऐसा समझ लेना चाहिये ।

१ ज्ञानादे सदसत्त्वप्रतिपादनेनैव । तेषां यण्णां द्रव्याणां सत्तामात्रं शुद्धं द्रव्यं यत्तत्सत्त्वं सामान्यम् । जीवाजीवधर्मा-  
धर्मकालाकाशइत्यादिविशेषमपेक्षयासत्त्वं तिष्ठति । (दि० प्र०) २ ननु कतिचित्द्रव्यादीन् । (व्या० प्र०) ३ सप्रति-  
पक्षकेति । पा० । (व्या० प्र०, दि० प्र०) भेदरहिता । (व्या० प्र०) ४ नभः । (व्या० प्र०)

यादिति प्यखे कर्मण्युपसंख्यानानात् का । स्वरूपादिचतुष्टयमपेक्ष्य को नेच्छेत्सदेव सर्वमित्यर्थः । एतेन विपर्ययादिति व्याख्यानम् ।

[ वस्तुनः स्वसत्त्वमेव परासत्त्वमत्रः स्वपररूपापेक्षया सत्त्वासत्त्वे कथं स्यातामित्याशंकायाः समाधानं ]

ननु<sup>१</sup> स्वसत्त्वस्यैव परासत्त्वस्य प्रतीतेर्न वस्तुनि स्वपररूपादिसत्त्वासत्त्वयोर्भेदो, यतः प्रथमद्वितीयभङ्गी घटेते, तदन्यतरेण गतार्थत्वात् । तदघटने<sup>२</sup> च तृतीयादिभङ्गाभावात्कुतः सप्तभङ्गीति चेन्न, स्वपररूपादिचतुष्टयापेक्षया स्वरूपभेदात्सत्त्वासत्त्वयोरेकवस्तुनि भेदोपपत्तेः, तयोरभेदे स्वरूपादिचतुष्टयापेक्षयेव पररूपादिचतुष्टयापेक्षयापि सत्त्वप्रसङ्गात्, <sup>३</sup>तदपेक्ष-

अतएव स्वरूपादि चतुष्टय की अपेक्षा सभी वस्तु सत् रूप एवं पररूपादि की अपेक्षा सभी वस्तु असत् रूप हैं ऐसी व्यवस्था सुघटित है ।

कारिका में जो 'स्वरूपादि चतुष्टयात्' यह पद आया है, इसमें "टय" का लोप होने पर कर्म अर्थ में पंचमी विभक्ति हुई है । इसका अर्थ "स्वरूप आदि चतुष्टय को आश्रय करके" ऐसा होता है । अर्थात् स्वरूपादि चतुष्टय की अपेक्षा करके सभी जीवादि वस्तुएँ सत् रूप ही हैं ऐसा कौन नहीं मानेगा—अपितु सब ही मानेंगे । इसी कथन से "विपर्ययात्" अर्थात् पररूपादि की अपेक्षा से सभी वस्तु "असत् रूप" ही हैं ऐसा भी कौन नहीं स्वीकार करेगा अर्थात् सभी स्वीकार करेंगे ।

[ वस्तु का अपना सत्व ही पर का असत्त्व है अतः स्व पर चतुष्टय की अपेक्षा से सत्त्वासत्त्व व्यवस्था कैसे होगी ? इस शंका का समाधान ]

प्रश्न—वस्तु का सत्व ही तो पर के असत्त्व रूप है अर्थात् वस्तु का अपना अस्तित्व ही तो अपने में पर का नास्तित्व है । अतएव स्वपर रूपादि की अपेक्षा से आप उसमें अस्तित्व और नास्तित्व का भेद सिद्ध नहीं कर सकते हैं । जिससे कि पहले और दूसरे भंग घटित हो सकें । क्योंकि इन दोनों में से किसी एक के द्वारा ही अर्थ का बोध हो जाता है । और इन दोनों भंगों के घटित न होने से तृतीय आदि भंगों का भी अभाव हो जाता है तब सप्त भंगों की सिद्धि कैसे हो सकेगी ?

उत्तर—ऐसा नहीं कह सकते हैं । क्योंकि स्वपर रूपादि चतुष्टय की अपेक्षा से अस्तित्व एवं नास्तित्व में स्वरूप भेद पाया जाता है । अतएव एक ही वस्तु में सत्व और असत्त्व का स्वरूप से भेद है । जो अपना सत्व है वही पर का असत्त्व है ऐसा कहकर उन दोनों में अभेद मान लेने पर स्वरूपादि चतुष्टय की अपेक्षा के समान ही पररूपादि चतुष्टय की अपेक्षा से भी अस्तित्व का प्रसंग आ जायेगा । अथवा पर रूपादि चतुष्टय की अपेक्षा के समान ही स्वरूपादि की अपेक्षा से भी असत्त्व का प्रसंग आ जायेगा । क्योंकि अपेक्षा के भेद से कहीं पर भी धर्मों में भेद की प्रतीति बाधित नहीं होती है । वदरी फल-वेर की अपेक्षा से बिल्वफल-वेल में स्थूलपना एवं विजौरे की अपेक्षा से बेलफल में छोटापना प्रतीति सिद्ध ही है इसमें किसी भी प्रकार से बाधा संभव नहीं है ।

१ आह कर्मण्युपसंख्यानानात् । स्वसत्त्वेनैव परासत्त्वस्य प्रतीतिरस्तिपदार्थे स्वरूपेण सत्त्वं पररूपेणासत्त्वमिति भेदो नास्ति । (दि० प्र०) २ तयोसत्त्वासत्त्वयोर्मध्य एकतरम्याघटने । (दि० प्र०) ३ अन्यथा शब्दार्थः । (दि० प्र०)

येव स्वरूपाद्यपेक्षयापि वाऽसत्त्वप्रसक्तेः । न<sup>१</sup> आपेक्षाभेदात् क्वचिद्धर्मभेदप्रतीतिर्वाध्यते<sup>२</sup>,  
बदरापेक्षया बिल्वे स्थूलत्वस्य मातुलिङ्गापेक्षया सूक्ष्मत्वस्य च प्रतीतेर्बाधिकाभावात्<sup>३</sup> । सर्वस्था-  
पेक्षिकस्यावास्तवत्वे<sup>४</sup> नीलनीलतरादेः<sup>५</sup> सुखसुखतरादेश्चावास्तवत्वापत्तेर्विशदविशदतरादिप्रत्य-  
क्षस्यापि कुतस्तात्त्विकत्वं यतो<sup>६</sup> न संविदद्वैतप्रवेशः<sup>७</sup> ? स चायुक्त एव, तद्व्यवस्थापका-  
भावात् ।

ततः स्यात्सदसदात्मकाः<sup>८</sup> पदार्थाः सर्वस्य सर्वाकिरणात् । न हि पटादयो घटादिवत्क्षीरा-  
द्याहरणलक्षणामर्थक्रियां कुर्वन्ति घटादिज्ञानं वा । तदुभयात्मनि<sup>१०</sup> दृष्टान्तः<sup>११</sup> सुलभः, सर्वप्रवा-

क्योंकि सभी आपेक्षिक को यदि अवास्तविक मानोगे तब तो नील एव नीलतर आदि तथा सुख  
एवं सुखतर आदि भी अवास्तविक हो जायेंगे । तथा प्रत्यक्ष में भी जो विशद विशदतरादि धर्म प्रतीति  
सिद्ध हैं वे भी वास्तविक कैसे हो सकेंगे ? जिससे कि आपकी मान्यता में संवेदनद्वैत का प्रवेश न  
हो जावे । अर्थात् पुनः आप संवेदनद्वैतवादी ही बन जायेंगे ।

परन्तु यह तो आपके लिये अयुक्त ही है । क्योंकि उस संवेदनद्वैत के व्यवस्थापक प्रमाणों का  
अभाव है ।

इसीलिये एक ही वस्तु में सत्त्व एवं असत्त्व का भेद सिद्ध हो जाने पर “स्यात्सत्, असत् रूप  
ही सभी पदार्थ” सिद्ध हो जाते हैं क्योंकि सभी वस्तुयें सभी कार्य करते हुये नहीं देखी जाती हैं ।

घटादि की तरह पटादिक वस्तु क्षीरादि आहरण-धारण, लक्षण अर्थ क्रिया को नहीं कर सकते हैं  
अथवा न वे घटादि ज्ञान को भी उत्पन्न कर सकते हैं । अतएव वस्तु को अस्तित्व एवं नास्तित्व धर्म  
से विशिष्ट उभयात्मक मान लेने पर दृष्टान्त सुलभ ही है ।

सभी प्रवादी जनस्वरूप से अपने इष्ट तत्त्व का अस्तित्व एवं अनिष्टरूप से उसी इष्ट तत्त्व में  
नास्तित्व स्वीकार करते ही हैं । किसी को भी इसमें विवाद नहीं है और उसी में दृष्टान्त भी  
सुघटित ही है । अर्थात् प्रवादी लोग भी अपने इष्ट तत्त्व को स्वरूप से ही सत् रूप मानते हैं पर रूप  
से नहीं । इस विषय में किसी को भी विवाद होने जैसी बात नहीं है ।

भावार्थ—जीव में जीवित रहने का अस्तित्व ही न जीवित रहने का नास्तित्व है, जीव में स्व  
का अस्तित्व ही तो पर का नास्तित्व है अतः अस्ति नास्ति ये दो भंग क्यों कहे ? क्योंकि एक भंग

१ पररूपचतुष्टयस्य । (दि० प्र०) धर्मस्य । (व्या० प्र०) २ आशङ्क्य । (दि० प्र०) वस्तुनि । (दि० प्र०) ३ ता ।  
(व्या० प्र०) ४ धर्मस्तु द्विविधः । आपेक्षिको मिथ्या चेति अपेक्षामपेक्षप्रवृत्तोज्ज्वलस्तु काचकामलमपेक्ष्य प्रवृत्तः ।  
धर्मस्य । (व्या० प्र०) ५ नीलनीलतरादेः सुखसुखतरादेश्चावास्तवत्वापत्तेर्विशदविशदतरादिप्रत्यक्षस्यापि कुतस्तात्त्विक-  
कत्वमिति पाठः । (दि० प्र०) ६ कुतः । (दि० प्र०) ७ सकलभेदाभावे ज्ञानमात्रमवशिष्यते यतः । (दि० प्र०)  
८ प्रमाणम् । (दि० प्र०) ९ कथञ्चित् । (दि० प्र०) १० वस्तुनि वक्तुम् । (दि० प्र०) ११ स तु दृष्टान्तः कः  
इत्याशङ्कायां तदुभयात्मनि वस्तुनि सर्वप्रवादिनां स्वेष्टतत्त्वमेव दृष्टान्त इत्याह । (दि० प्र०)

दिनां स्वेष्टतत्त्वस्य स्वरूपेण सत्त्वेऽनिष्टरूपेणासत्त्वे च विवादाभावात् तस्यैव<sup>१</sup> च दृष्टान्त-  
तोपपत्तेः ।

[ एकस्मिन् वस्तुनि सत्त्वासत्त्वधर्मौ परस्परविरुद्धौ स्तः कथं स्थानामस्य विचारः ]

ननु<sup>२</sup> त्रैक्य वस्तुनि सत्त्वमसत्त्वं च युक्तिविरुद्धं, परस्परविरुद्धयोर्धर्मयोरेकाधिकरणत्वायो-  
गात्, शीतोष्णस्पर्शवद्भिन्नाधिकरणत्वप्रतीतेरिति चेन्न, तयोः<sup>३</sup> कथञ्चिदपितयोर्विरुद्धत्वा-  
सिद्धेस्तथा प्रतिपत्तिसद्भावाच्च । शब्देतरप्रत्यययोरेकवस्तुविषययोरेकात्मसमवेतयोः<sup>४</sup> कारण-

से ही तो बोध हो जाता है । ऐसा किसी बुद्धिजीवी पुरुष का कथन है । प्रारम्भ में बिना विचार किये यह बात बिल्कुल ठीक लगती है किन्तु जब आचार्यों का असंग्रह देखते हैं तब यह शंका निर्मूल हो जाती है । आचार्यों का कहना है कि भाई ! यदि स्व का अस्तित्व ही पर का नास्तित्व है तब तो जैसे स्वरूप आदि चतुष्टय की अपेक्षा से वस्तु का अस्तित्व सिद्ध है वैसे ही स्वचतुष्टय से ही वस्तु में नास्तित्व धर्म रह जायेगा पुनः वस्तु शून्य रूप ही हो जावेगी अथवा जैसे पर चतुष्टय से वस्तु नास्ति रूप है वैसे ही स्व चतुष्टय से भी नास्तिरूप हो जावेगी, तो भी वस्तु का अभाव हो जावेगा अतः स्वचतुष्टय से अस्तिभंग एवं परचतुष्टय से नास्तिभंग ये दोनों भंग मानने ही पड़ेंगे ।

यह अपेक्षावाद बहुत ही सुन्दर ढंग से वस्तु के धर्मों की विवेचना करता है । देखो ! सभी सिद्धान्त वाले लोग अपने सिद्धान्त को अपनी मान्यता से सिद्ध करते हैं और पर के सिद्धान्त को अपनी अमान्यता से बाधित करते हैं । यदि मान्यता और अमान्यता रूप परस्पर विरोधी दोनों धर्म उनके पास स्वपर की अपेक्षा से न हों तो वे सिद्धान्तविद लोग अपने पक्ष की सिद्धि और पर के पक्ष का निराकरण भी नहीं कर सकेंगे, अतः स्व पर रूप से ही सत्त्व असत्त्व की सिद्धि होने से दोनों भंग निर्बाध सिद्ध हैं ।

[ एक ही वस्तु में सत्त्व-असत्त्व दोनों धर्म परस्पर विरुद्ध हैं इस पर विचार ]

प्रश्न—एक ही वस्तु में सत्त्व और असत्त्व दोनों धर्म युक्ति से विरुद्ध हैं । एवं परस्पर विरुद्ध दो धर्म एक आधार में नहीं रह सकते हैं । जैसे कि शीत और उष्ण दो विरोधी धर्मों का भिन्न ही आधार प्रतीति सिद्ध है ।

उत्तर—ऐसा नहीं कह सकते हैं । कथञ्चित् अपित-अर्थात् स्वपर रूप से विधित इन दोनों धर्मों में विरोध असिद्ध है । उस प्रकार का ज्ञान भी पाया जाता है । अर्थात् वस्तु में ये दोनों धर्म किसी अपेक्षा से अपित किये गये हैं । ऐसा ज्ञान होता है “एक वस्तु को विषय करने वाले एवं एकात्म समवेत आगम एवं प्रत्यक्ष ज्ञान कारण विशेष के निमित्त से अर्थात् आगम ज्ञान का कारण शब्द है प्रत्यक्ष ज्ञान में कारण इंद्रियाँ हैं इस कारण भेद से जिस आत्मा में ये दोनों ज्ञान मौजूद हैं उस आत्मा में इन

१ स्वेष्टानिष्टवत् । (व्या० प्र०) २ सौगतः । (दि० प्र०) ३ जैनः । सत्त्वासत्त्वयोः । (दि० प्र०) ४ जीवः । (व्या० प्र०)



विशेषवशात्परिवृत्तात्मनोः स्वभावभेदेऽपि<sup>१</sup> कथञ्चिदेकत्वमस्त्येव, विच्छेदानुपलब्धेः । न हि शब्दप्रत्यक्षवेदनयोरस्पष्टेतरप्रतिभासनस्वभावभेदोऽसिद्धः, प्रतीत्यपह्नवप्रसङ्गात् । नापि तयोरेकवस्तुविषयत्वमेकद्रव्याश्रयत्वं चाऽसिद्धं, तत्रानुसन्धानप्रत्ययसद्भावात्, यदेव<sup>२</sup> मया श्रुतं तदेव दृश्यते, य एवाहमश्रूयं स एव पश्यामीति प्रतीतेर्बाधिकाभावात् । <sup>३</sup>तयोर्द्रव्यात्मनैकत्वमस्त्येव<sup>४</sup>, <sup>५</sup>विच्छेदस्यानुपलक्षणात् । 'नूपादानोपादेयक्षण'<sup>६</sup>योस्तद्भावादेवानुसन्धानसिद्धेर्विच्छेदानुपलम्भेऽपि नैकत्वसिद्धिः<sup>७</sup>, एकसन्तानत्वस्यैव<sup>८</sup> सिद्धेः, आत्मद्रव्यस्याभावादिति चेन्न, तदभावे तयोरुपादानोपादेयतानुपपत्तेः । उपादानस्य कार्यकालमात्मानं <sup>९</sup>कथञ्चिदनयतश्चिरतरनिवृत्ताविधाविशेषात्कार्योत्पत्तावपि व्यपदेशानुपपत्तेस्तादृशां<sup>१०</sup> स्वरूपैकत्वमस्त्येव । न च सव्येतर-

दोनों ज्ञानों का स्वभाव भेद है फिर भी कथञ्चित्-आत्म द्रव्य की अपेक्षा से एकत्व ही है । क्योंकि विच्छेद-भेद की उपलब्धि नहीं होती है ।"

आगम ज्ञान और प्रत्यक्ष ज्ञान में अस्पष्ट एवं स्पष्ट प्रतिभास रूप स्वभाव भेद असिद्ध नहीं है । अन्यथा प्रतीति के लोप का प्रसंग आ जावेगा । एवं इन दोनों ज्ञानों का एक वस्तु को विषय करना भी असिद्ध नहीं है । तथैव एक द्रव्य (जीव) के आश्रय रहना भी सिद्ध ही है । क्योंकि वहाँ विषय और विषयी में अनुसन्धान प्रत्यभिज्ञान रूप ज्ञान पाया जाता है । एवं जो मैंने सुना था उसी को देखता हूँ इस तरह एक विषयत्व भी सिद्ध ही है जो मैंने सुना था वो ही देख रहा हूँ इस प्रतीति में बाधकपने का अभाव है । इसलिये इन दोनों ज्ञानों में द्रव्यात्मक रूप से एकत्व ही है क्योंकि एक ही आत्मा में श्रुतज्ञान एवं प्रत्यक्षज्ञान का विच्छेद नहीं देखा जाता है ।

प्रश्न—उपादान और उपादेय क्षण में उस उपादान उपादेय का सद्भाव होने से ही प्रत्यक्ष एवं आगमज्ञान में प्रत्यभिज्ञान सिद्ध है । अतएव विच्छेद की अनुपलब्धि होने पर भी एकत्व की सिद्धि नहीं है । क्योंकि एक सन्तान में ही वह एकत्व सिद्ध है । अतएव आत्मद्रव्य का अभाव है ।

उत्तर—ऐसा नहीं कह सकते । क्योंकि स्वरूप के एकत्व का अभाव होने पर तो उपादान और उपादेय क्षण में उपादान उपादेय भाव ही नहीं बन सकेगा । "उपादान कार्यकाल के प्रति अपने स्वरूप स्वरूप-उपादान स्वरूप को कथञ्चित्-प्राप्त न करता हुआ चिरकाल में निवृत्ति होने के समान ही विशेष न होने से कार्य की उत्पत्ति के हो जाने पर भी उसमें यह उसका है यह व्यपदेश नहीं बन

१ अस्पष्टेतर । (व्या० प्र०) २ अन्यथानुसन्धानप्रत्ययलक्षणं नश्यते । (दि० प्र०) ३ शब्दप्रत्यक्षयोः । (दि० प्र०) ४ जीवः । (व्या० प्र०) ५ यत् एवानुसन्धानप्रत्ययसद्भावस्तत एव विच्छेदानुपलक्षणं प्रतिपत्तव्यम् । भेदस्यादर्शनात् । भेदस्य । (दि० प्र०) ६ लीगतः । (दि० प्र०) ७ प्रत्यक्षपरोक्षयोः । (व्या० प्र०) ८ एकव वस्तुनि तयो शब्द-प्रत्ययोरैक्यं न । (दि० प्र०) ९ एकप्रमाणस्यैव । (व्या० प्र०) १० क्षणेन । (दि० प्र०) ११ इदमस्मादुत्पत्तिर्नास्ति । (दि० प्र०)

विषाणवत्सर्वथा<sup>१</sup> समानकालतोपादानोपादेयोर्येतस्तद्भावी विरुध्येत, द्रव्यसामान्यापेक्षया तयोरेकत्वमिति मननात्<sup>२</sup> । विशेषापेक्षया तु नास्त्येव तादृशमेकत्वम् । न हि पौरस्त्यः<sup>३</sup> पाश्चात्यः<sup>४</sup> स्वभावः पाश्चात्यो वा पौरस्त्यः । नन्वेवमेकत्वं<sup>५</sup> मा भूत् पूर्वापरपरिणामानां क्रमस्यैवावस्थानादक्रमस्य<sup>६</sup> तद्विरुद्धत्वादिति न मन्तव्यं यस्मान्निरपेक्षस्तत्र<sup>७</sup> कमोपि "प्रतिभासविशेषवशात्प्रकल्प्येत<sup>८</sup> तदेकत्वादक्रमः किन्तु स्यात् ? प्रतिभासैकत्वेपि तदक्रमानुपगमे

सकेगा । अतः उस प्रकार के उपादान और उपादेयभूत में स्वरूपैकत्व (द्रव्य की अपेक्षा से) है ही है ।"

दायें-दायें सींग के समान उपादान और उपादेय में सर्वथा समानकालत्व नहीं है । जिससे कि यह उससे हुआ है यह कथन विरुद्ध हो सके । क्योंकि द्रव्य सामान्य की अपेक्षा से ही उन उपादान और उपादेय में हमने एकपता स्वीकार किया है । अर्थात् जैसे घट और कपालादि में मृद्द्रव्य की अपेक्षा से ही एकपता है न कि पर्यायों की अपेक्षा से ।

"विशेष की अपेक्षा अर्थात् पर्याय की अपेक्षा से तो उस प्रकार के उपादान और उपादेय स्वरूप में एकत्व नहीं है ।

क्योंकि पौरस्त्य (पहले होने वाला) स्वभाव पाश्चात्य नहीं हो सकता है अथवा पाश्चात्य (अनन्तर होने वाला) स्वभाव पौरस्त्य भी नहीं हो सकता है ।"

प्रश्न—तब तो इस प्रकार से पूर्वापर परिणामों में एकपता कथमपि नहीं हो सकेगा । क्योंकि क्रम में ही वे पूर्वापर परिणाम सदा अवस्थित हैं । अक्रम में तो उन पूर्वापर परिणामों का विरोध ही है ।

उत्तर—ऐसा भी नहीं मानना चाहिये ।

"यदि वहाँ पर प्रतिभास विशेष के बल से निरपेक्ष क्रम भी प्रकल्पित किया जावेगा तब तो द्रव्य प्रतिभास की अपेक्षा से एकत्व के होने से अक्रम भी क्यों नहीं होवेगा ?"

और प्रतिभासएकत्व के होने पर भी उस अक्रम को स्वीकार न करने पर तो प्रतिभास विशेष के वश से (पर्याय की अपेक्षा से) क्रम भी स्वीकार करने योग्य कैसे होगा ?

क्योंकि सभी वस्तुयें प्रतिभास के अनुरूप ही व्यवस्थित हैं ।

१ द्रव्यरूपेणैव पर्यायरूपेणापि । (व्या० प्र०) २ निश्चयात् । (व्या० प्र०) ३ जब्दः । (दि० प्र०) ४ प्रत्यक्षः । (व्या० प्र०) ५ सींगतो वदति पूर्वोत्तरपर्यायाणां क्रमोस्ति अक्रमोनास्तीति चेत् । पर्यायेण क्रमः द्रव्येणाऽक्रमः । (दि० प्र०) ६ जैनोऽक्रमनिरपेक्षोपि क्रम इति शेषः । (दि० प्र०) ७ पूर्वोत्तरक्षणेषु । (दि० प्र०) ८ प्रतिभासातिशयवशात् इति पा० । (दि० प्र०) भेदः । (दि० प्र०) ९ घटेत् । (दि० प्र०)

प्रतिभासविशेषवशात्क्रमः कथमभ्युपगमार्हः स्यात् ? सर्वस्य यथाप्रतिभासं वस्तुनः प्रतिष्ठानात्, प्रतिभासमानयोः <sup>१</sup>क्रमाक्रमयोर्विरोधानवतरणाद्विरोधस्यानुपलम्भलक्षणत्वात्<sup>२</sup> । न च<sup>३</sup> स्वरूपादिना वस्तुनः सत्त्वे तदैव<sup>४</sup> पररूपादिभिरसत्त्वस्यानुपलम्भोस्ति, येन <sup>५</sup>सहानवस्थान-लक्षणो विरोधः<sup>६</sup>, शीतोष्णस्पर्शविशेषवत्स्यात् । परस्परपरिहारस्थितिलक्षणस्तु<sup>७</sup> विरोधः सहैकत्राग्नफलादी<sup>८</sup> रूपरसयोरिव संभवतोरेव सदसत्त्वयोः स्यात्, न पुनरसंभवतोः संभवद-

एवं प्रतिभासमान क्रम और अक्रम में विरोध का अवतरण ही नहीं हो सकता है । क्योंकि विरोध तो अनुपलम्भलक्षणवाला है ।

जिस समय वस्तु स्वरूपादि से सत् रूप है, उसी समय पररूपादि से असत् रूप नहीं है, ऐसा तो है नहीं, जिससे कि शीतोष्ण स्पर्शविशेष के समान सहानवस्थालक्षण विरोध हो सके अर्थात् नहीं हो सकता है, क्योंकि वस्तु जिस समय स्वरूप से सत् रूप है उसी समय में पररूप से असत् रूप है । तथा इन सत्त्व असत्त्व में परस्पर-परिहारस्थितिलक्षण विरोध भी तो नहीं है, क्योंकि एक ही आग्न फलादि में रूप और रस के समान संभव में ही यह विरोध होता है, न कि पुनः असंभव में, अथवा संभव और असंभव में हो सकता है ।

भावार्थ—परस्पर-परिहारस्थितिलक्षण विरोध तो एक वस्तु में रहते हुये भी एक दूसरे को हटाकर ही रहता है, और वह वस्तु में संभव दो धर्मों में ही हो सकता है जैसे कि आग्न में रूप और रस एक दूसरे रूप न होकर भी रहते हैं । तथा यह विरोध असंभावित वस्तु में संभव नहीं है, जैसे कि पुद्गल में ज्ञान और दर्शन । एवं संभव और असंभवरूप वस्तु में भी संभव नहीं है जैसे कि पुद्गल में रूप और ज्ञान अर्थात् आग्न में रस रूपात्मक नहीं है एवं रूप रसात्मक नहीं है यही परस्पर में परिहार-स्थितिलक्षण विरोध है ।

इसी कथन से बलवान् और बलहीन सर्प और नकुल में बाध्य-वातकभाव विरोध है जो कि इन सत्त्व और असत्त्व में है ऐसी शंका भी नहीं करना चाहिये क्योंकि यह सत्त्व और असत्त्व समानबलवाले हैं इस प्रकार से हम आगे “अस्तित्वं प्रतिषेधेना” इत्यादि कारिका के विवरण में विस्तार से कहेंगे ।

विशेषार्थ—प्रश्न यह हुआ था कि एक ही वस्तु में परस्पर विरोधी अस्तित्व और नास्तित्व ये दोनों धर्म कैसे रह सकेंगे ? क्योंकि विरोध आता है । इस पर आचार्य ने विरोध के ३ भेद किये हैं ।

१ अवर्णनाद्विरोधस्य संभवः । (दि० प्र०) २ यत्र प्रतिभासस्यानुपलम्भः तत्रैवविरोधोऽप्रतिभासमाने प्रतिभासप्रति-पादनं विरोधः । (व्या० प्र०) ३ दृष्टान्तसमर्थं प्रकृतमुपसंहरन्ति न चेति । (दि० प्र०) ४ तस्मिन् काले । (व्या० प्र०) ५ नैव । (व्या० प्र०) ६ सत्त्वासत्त्वयोः । अविद्यमानयोर्वा न तावदविद्यमानयोरेकत्र संभवितोः प्रमाण-गृहीतयोः कथं विरोधः । (व्या० प्र०) ७ स्वभावः । (व्या० प्र०) ८ युगपत् । (दि० प्र०)

संभवतोर्वा । एतेन<sup>१</sup> बध्यघातकभावोपि विरोधः<sup>२</sup> फणिनकुलयोरिव बलवदबलवतोः<sup>३</sup> प्रतीतः सत्त्वासत्त्वयोरशङ्कनीयः कथितः, तयोः<sup>४</sup> समानबलत्वादित्येतदग्रे प्रपञ्चयिष्यते ।

[ एकस्मिन्नेव वस्तुनि सामान्यविशेषसदसदादिधर्माः परस्परविरुद्धाः सन्तोऽपि निरङ्कुशाः संभवतीति जैनाचार्याः कथयन्ति ]

‘तदेकानेकाकारमक्रमक<sup>६</sup>मात्मकमन्वय<sup>७</sup>व्यतिरेकरूपं<sup>८</sup> सामान्यविशेषात्मकं<sup>९</sup> सदसत्परिणामं स्थित्युत्पत्तिविनाशात्मकं स्वप्रदेशनियतं स्वशरीरव्यापिनं त्रिकालगोचरमात्मानं परं<sup>११</sup>

(१) सहानवस्थालक्षण (२) परस्पर-परिहारस्थितिलक्षण (३) बध्यघातकभावलक्षण । ये तीनों प्रकार के विरोध भी सत्त्व और असत्त्व में नहीं पाये जा सकते हैं क्योंकि ये दोनों समानबलवाले हैं इत्यादि ।

[ एक ही वस्तु में सामान्य-विशेष, सत्-असत् आदि धर्म परस्पर-विरुद्ध होते हुए भी निरङ्गल रूप से संभव हैं इस प्रकार से जैनाचार्य कहते हैं ]

इस प्रकार से कोई भी लौकिक अथवा परोक्षक व्यक्ति अपने को अथवा पर को एक और अनेकाकार, अक्रम एवं क्रमात्मक, अन्वयरूप तथा व्यतिरेकरूप, सामान्य, विशेषात्मक सत्-असत् परिणामरूप (नित्यानित्यात्मक) स्थिति, उत्पत्ति विनाशात्मक स्वप्रदेशनियत और त्रिकालगोचररूप कथंचित् साक्षात्कार करता है अथवा परोक्ष ज्ञान के द्वारा जानता है । जैसे कि केश और मच्छर आदि में विवेकी मनुष्य और मूढपुरुष केश मच्छर आदि को परोक्ष ज्ञान से जानता है या प्रत्यक्ष विषय करता है । तद्वत् तादृश एक चेतन्यमय सुखादि भेवरूप वस्तु को अपने से भिन्न सजातीय-विजातीय से

१ सहानवस्था न विरोधाभावनिरूपणेन । (व्या० प्र०) २ त्रिविधो विरोधो ज्ञेयः सहानवस्थानलक्षणः ॥१॥ परस्पर-परिहारस्थितिलक्षणः ॥२॥ बध्यघातकभाव लक्षण इति ॥३॥ अथाह प्रतिवादी सौगतः नन्वेकत्र जीवादो वस्तुनि सत्त्वासत्त्वे द्वे न घटेत् एकत्र विरोधसंभवादिति चेत् । नववस्तुनि स्वरूपादिना सत्त्वं पररूपादिना चासत्त्वं घटेते । अतः सहानवस्थानलक्षणो विरोधो नास्ति । शीतोष्णस्पर्शवत् । ययैकस्मिन् वस्तुनि शीतोष्णस्पर्शौ न स्तः । तथा जीवादौ वस्तुनि सत्त्वयोर्निषेधो नास्ति । पुनराह स्याद्वादी एकत्रवस्तुनि परस्परपरिहारस्थितिलक्षणविरोधोऽस्ति परस्परपरिहारेण प्रतीयमानत्वात् । कोऽर्थः सत्त्वेऽसत्त्वं नास्ति । असत्त्वे सत्त्वं नास्ति । ययैकस्मिन्नास्त्रकलादौ रसरूपे द्वेऽपि वर्तते । परन्तु रसे रूपं नास्ति रूपे रसो नास्ति । बध्यघातकभावविरोधो वस्तुनि न विद्यते । सत्त्वासत्त्वयोर्द्वयोः समानत्वात् । यथा फणिनकुलयोर्बध्यघातकभावोऽस्ति । तथा वस्तुनि नास्ति । उदाहरणम्—इह भूतलमस्ति । घटादिर्नास्ति । प्रत्यक्षेण प्रतीयमानत्वात् । (दि० प्र०) ३ पदार्थयोः । (व्या० प्र०) ४ सत्त्वासत्त्वयोः । (दि० प्र०) ५ का । पर्यायरहितं नित्यमित्यर्थः । (दि० प्र०) ६ नित्यानित्यात्मकं । ऊर्द्धतासामान्य । (दि० प्र०) ७ क्रमभाविपर्यायः । (दि० प्र०) ८ व्यावृत्तिः । (व्या० प्र०) ९ सौत्वादितिर्यक्सामान्यः । (दि० प्र०) १० खण्डमुण्डादिविशेषम् । पर्यायः । (दि० प्र०) ११ अस्तित्वं प्रतिषिद्धेनाविनाभावीत्यादिकारिकयोर्वा परोक्षम् । स्वशरीरव्यापिनमिति विशेषणं परित्यज्य सर्वाण्यपि विशेषणानि परजब्देन सह संबन्धनीयानि । (दि० प्र०)

वा कथञ्चित्साक्षात्करोति परोक्षयति वा केशादिविवेकव्यापुग्धबुद्धिवत्<sup>१</sup> तादृशैकचतन्यं सुखा-  
विभेदं<sup>२</sup> वस्तु स्वतोऽन्यतः<sup>३</sup> सजातीयविजातीयाद्विविक्तलक्षणं<sup>४</sup> विभति । अन्यथानवस्थानात्  
व्यक्तित्वकथंचिवनियमः स्यात् । सर्वो हि लौकिकः परीक्षकश्च तावदेकमक्रमात्मकमन्वयरूपं<sup>५</sup>  
सामान्यात्मकं सत्परिणामं स्थित्यात्मकमात्मानं परं वा बहिरर्थसंतानान्तराख्यं द्रव्यापेक्षया  
साक्षात्करोति, लिङ्गशब्दादिना परोक्षयति वा, भावापेक्षया पुनरनेकाकारं क्रमात्मकं व्यति-  
रेकरूपं विशेषात्मकमसत्परिणाममुत्पत्तिविनाशात्मकं, क्षेत्रापेक्षया स्वप्रदेशनियतं निश्चयनयतः,  
स्वशरीरव्यापितं व्यवहारनयतः, कालापेक्षया त्रिकालगोचरम्<sup>६</sup> । कथं पुनरीदृशमात्मानं<sup>७</sup> परं  
वा साक्षात्करोति कथं वा परोक्षयति द्रव्याद्यपेक्षयेति चेदुच्यते । साक्षात्करणयोग्यद्रव्याद्यात्मना  
मुख्यतो व्यवहारतो वा विशदज्ञानेन साक्षात्करोति परोक्षज्ञानयोग्यद्रव्याद्यात्मना अनुमानादि-  
प्रमाणेनाविशदेन परोक्षयति,

विधिवत्तलक्षणवाली समझता है । अन्यथा अनवस्था होने से (व्यवस्था न होने से) कथंचित्—वस्तु में कथंचित्—कितनी ही प्रकार से कोई भी नियम नहीं बन सकेगा ।

सभी लौकिक और परीक्षकजन द्रव्य की अपेक्षा से अपने को अथवा पर को बाह्य पदार्थ और संतानांतर को एकरूप अक्रमात्मक अन्वरूप, सामान्यात्मक, सत्परिणामात्मक और स्थित्यात्मकरूप से साक्षात्कार करते हैं अथवा अनुमान एवं आगमज्ञानादि से जानते हैं और पुनः पर्याय की अपेक्षा से अपने को एवं परार्थ को अनेकाकार, क्रमात्मक (प्रतिक्षणध्वंसी) व्यतिरेकरूप, विशेषात्मक, असत्परिणामात्मक और उत्पत्ति विनाशात्मकरूप से प्रत्यक्षज्ञान के द्वारा या अनुमानादि के द्वारा जानते हैं, उसी प्रकार सभी लौकिक और परीक्षकजन अपने को और पर को क्षेत्र की अपेक्षा से निश्चयनय से स्वप्रदेशनियत स्वीकार करते हैं तथा व्यवहारनय से स्वशरीरव्यापी मानते हैं । उसी प्रकार काल की अपेक्षा से त्रिकालगोचर स्वीकार करते हैं ।

प्रश्न—पुनः इस प्रकार से द्रव्यादि की अपेक्षा से अपने को अथवा पर को कोई किस प्रकार से साक्षात्कार करता है या परोक्ष से जानता है इसका स्पष्टीकरण कीजिये ।

उत्तर—कहते हैं, साक्षात्कार करनेयोग्य द्रव्य, क्षेत्र, काल एवं भावरूप से मुख्यप्रत्यक्ष अथवा सांख्यव्यवहारिकप्रत्यक्षरूप विशदज्ञान के द्वारा प्रत्यक्ष करता है अथवा परोक्षज्ञान (अनुमान ज्ञान और शब्दादि) के योग्य द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावरूप से अनुमानादि प्रमाणरूप अविशदज्ञान के द्वारा परोक्षरूप से जानता है ।

१ सत्ताज्ञानं साक्षात् । अनेन जीवादिवस्तुनो सत्त्वमुक्तं पूर्वं तु सत्त्वम् । भिन्नज्ञानम् । (दि० प्र०) २ कर्तृ । स्वरूपम् । (दि० प्र०) ३ स्वस्मात् परतः । (दि० प्र०) ४ स्वरूपम् । (व्या० प्र०) ५ कथञ्चित्त्रितयैकरूपम् । स्वपर्यायेषु । (व्या० प्र०) ६ ता । (व्या० प्र०) ७ उक्तरूपम् । (व्या० प्र०)

‘प्रत्यक्षं विशदं ज्ञानं मुख्यसंव्यवहारतः । परोक्षं शेषविज्ञानं प्रमाणे इति संग्रहः ।’

इति संक्षेपतः प्रत्यक्षपरोक्षयोरेव वस्तुपरिच्छितौ व्यापारवचनात् । कथं तर्हि केशादिविवेकव्यामृगधबुद्धिः पुरुषो दृष्टान्तः समः<sup>१</sup> स्यादिति चेत् केशमशकमक्षिकादिप्रतिभासात्मना सत्त्वपरिणामं<sup>२</sup> साक्षात्कुर्वन् विवेकाद्यात्मना<sup>३</sup> च कुतश्चिदनुमिन्वन्नुपशृण्वन्वा परोक्षयन्, अविवेकादिव्यामोहप्रतिभासात्मना<sup>४</sup> चासत्त्वपरिणामं<sup>५</sup> कथञ्चित्तु साक्षात्कुर्वन्<sup>६</sup> परोक्षयंश्च सम एव<sup>७</sup> स दृष्टान्तः तथा वैषम्याभावात् । ननु<sup>८</sup> च तद्वस्तु चैतन्यमेवैकमक्रमादिरूपं विभर्ति, न पुनः सुखादिभेदमनेकाकारं क्रमाद्यात्मकं, सजातीयाच्चेतनवस्तुनो<sup>९</sup> विजातीयाच्चा-

श्लोकार्थ—विशदज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं, उसके मुख्य और सांख्यवहारिक ये दो भेद हैं तथा इनसे बचे शेष ज्ञान—अनुमान, स्मृति आदि परोक्ष प्रमाण कहलाते हैं, इस प्रकार से प्रत्यक्ष और परोक्ष इन दो प्रमाणों में ही सम्पूर्ण प्रमाणों का संग्रह हो जाता है ।

इस प्रकार से प्रत्यक्ष और परोक्षप्रमाण ही वस्तु की परिच्छित्ति में व्यापार करते हैं, यह संक्षेप से कथन किया गया है, ऐसा ध्यान रखिए ।

प्रश्न—यदि एक ही पुरुष प्रत्यक्ष एवं परोक्षज्ञान से जानता है तब तो केशादि के विवेक में मूढ़-बुद्धिवाले पुरुष का दृष्टान्त सम कैसे होगा ?

उत्तर—केश, मच्छर एवं मक्षिकादिरूप प्रतिभास से अस्तित्वभाव को प्रत्यक्ष करते हुये और विवेक आदिरूप से किसी अनुमानज्ञान से अनुमित करते हुए अथवा आगमज्ञान से सुनते हुए परोक्षरूप से जानता है एवं अभेदादिरूप या विपरीत बुद्धि से नास्तित्वपरिणाम को कथञ्चित्-योग्य-देशादि प्रकार से साक्षात् करता है । अथवा परोक्षरूप से जानता है, अतः यह उपर्युक्त दृष्टान्त सम ही है, क्योंकि वैसी विषमता यहाँ सम्भव नहीं है ।

प्रश्न—तद्वान् वस्तु—आत्मा एक ही अक्रमादिरूप चैतन्य को धारण करता है किन्तु सुखादि भेदरूप, अनेकाकार और क्रमाद्यात्मक को धारण नहीं करता है, क्योंकि सजातीय चेतनवस्तु का विजातीय अचेतनवस्तु से भिन्न स्वरूप है । अथवा उस प्रकार के अनेकाकाररूप एवं सुखादि भेदरूप को ही धारण करता है किन्तु अक्रमादिरूप चैतन्य को ही धारण नहीं करता है अर्थात् जब द्रव्य को अभेदरूप ग्रहण करता है, तब भिन्न-भिन्न सुखादि पर्यायरूप को नहीं ग्रहण करता है एवं पर्यायरूप ग्रहण करने पर मात्र द्रव्यरूप को नहीं ग्रहण करता है ।

१ एकेनैव पुरुषेण जीवादेः साक्षात्करणे परोक्षेण च दृष्टान्तस्समः स्यादिति भावः । (दि० प्र०) २ अस्तित्वं दूरतः साक्षात् कुर्वन् । विषयस्य । (व्या० प्र०) ३ अनेकाकारः । (व्या० प्र०) ४ स्थूलरूपत्वम् । (दि० प्र०) ५ अर्थरूपम् । (दि० प्र०) ६ परोक्षज्ञानयोग्य इत्याद्यात्मना । (दि० प्र०) ७ समर्थैव दृष्टान्तरिति पा० । (व्या० प्र०) ८ पुरुषाद्वैताह । (व्या० प्र०) ९ अन्य सौगतः । (दि० प्र०)

चेतनवस्तुनो विविक्तस्वरूपम् । तमेव वा विभर्ति तादृशं, न पुनश्चेतन्यं, तत्त्वतः इत्यभ्युपगम-  
योरेकतरानवस्थानेऽन्यतरस्याप्यनवस्थानादुभयानवस्थितिप्रसङ्गात्<sup>१</sup> क्वचिदभ्युपगते<sup>२</sup> रूपे  
कथञ्चित्प्रत्यक्षादिप्रकारेण स्वाभ्युपगमादिप्रकारेण च नियमासंभवात्<sup>३</sup> । सूक्ष्मीदृशं<sup>४</sup> न चेन्न  
व्यवतिष्ठते इति ।

तदेवं<sup>५</sup> प्रथमद्वितीयभङ्गौ निर्दिश्य<sup>६</sup> तृतीयादिभङ्गान्निर्दिशन्ति भगवन्तः<sup>७</sup> ।

**क्रमापितद्वयाद्<sup>८</sup> द्वैतं, सहावाच्यमशक्तितः<sup>९</sup> ।**

**अवक्तव्योत्तराः शेषास्त्रयो<sup>१०</sup> भङ्गाः स्वहेतुतः ॥१६॥**

हृन्तर—इस प्रकार से दोनों को स्वीकार करने पर पुनः एकाकार और अनेकाकार में से द्रव्य-  
रूप अथवा पर्यायरूप किसी एक का अवस्थान न होने पर, दूसरे का भी अवस्थान बन नहीं सकता  
है, अतएव उभय की भी अवस्थिति के विरोध का प्रसंग प्राप्त होता है, क्योंकि भेदरूप अथवा अभेद-  
रूप में से किसी एक के ही स्वीकार कर लेने पर कथञ्चित् प्रत्यक्षादि प्रकार से और अपने द्वारा  
स्वीकृत आदि के प्रकार से सुखादि में भेद ही है, या अभेद ही है, इत्यादि नियम ही असम्भव हो  
जावेगा, अतएव यह बिल्कुल ठीक ही कथन है, कि वस्तु यदि उपर्युक्त प्रकार से सत्-असत् रूप न होवे,  
तब तो किसी के यहाँ कुछ भी तत्त्व व्यवस्था बन नहीं सकती है ।

इस प्रकार से प्रथम एवं द्वितीय भंग का निर्देश करके भगवान् श्री समन्तभद्राचार्यवर्य तृतीय  
आदि भंगों का निर्देश करते हैं ।

कारिकार्थ—क्रम से दोनों धर्मों की विवक्षा करने से "स्यादस्तिनास्ति" द्वैतरूप तीसरा भंग  
बन जाता है एवं एक साथ दोनों ही धर्मों को कहने की शक्ति किसी भी शब्द में नहीं है, अतएव  
सहावाच्य होने से चौथा "अवक्तव्यरूप" भंग हो जाता है, इसी प्रकार से प्रथम, द्वितीय एवं तृतीय  
भंग के उत्तर में 'अवक्तव्य' पद के जोड़ देने से शेष तीन भंग भी अपने-अपने हेतु से सिद्ध हो  
जाते हैं ॥१६॥

क्रम से अपित स्वपररूपादि चतुष्टयद्वय की अपेक्षा से कथञ्चित् उभयरूप वस्तु द्वैत कहलाती है ।  
"द्वाभ्यां सदसत्त्वाभ्यामितस्य एव द्वैतत्वात्" अर्थात् सत् असत् रूप दो धर्मों के द्वारा प्राप्त ही "द्वैत"  
कहलाता है । स्वार्थ में ही 'अण्' प्रत्यय होकर "द्वैत" शब्द सिद्ध हो जाता है । स्वपररूपादि

१ अघटनात् । (व्या० प्र०) २ अत्राह स्याद्वादी संवेदनाद्वैतसुखादिभेदवासौगतयोर्मध्ये एकस्य निराकरणेऽन्यस्यापि  
निराकरणं घटते । एवमुभयस्याप्यवस्थितिः प्रसजति । (दि० प्र०) ३ वस्तुनः । ततः । (व्या० प्र०) ४ इदम् इति  
पा० । (व्या० प्र०) ५ उक्तप्रकारेण । (दि० प्र०) ६ प्रतिपाद्य । (दि० प्र०) ७ समन्तभद्राः । (दि० प्र०) ८ स्व-  
पररूपादिचतुष्टयद्वयात् । (दि० प्र०) ९ सहापितद्वयात् । (दि० प्र०) १० सदसदुभयरूपाः पञ्चमषष्ठसप्तमाश्चतुर्भ्यः  
पूर्वोक्तेभ्यो भिन्नत्वात् । (दि० प्र०)

क्रमापितात्स्वपररूपादिचतुष्टयद्वयात्कथंचिदुभयमिति द्वैतं वस्तु, द्वाभ्यां<sup>१</sup> सदसत्त्वाभ्या-  
मितस्यैव द्वैतत्वात्, स्वार्थिकस्याणो<sup>२</sup> विधानाद्द्वैतशब्दस्य सिद्धेः । स्वपररूपादेचतुष्टयापेक्षया  
सह वक्तुमशक्तेरवाच्यं, तथाविधस्य पदस्य वाक्यस्य वा कस्यचिदभिधायकस्यासंभवात्<sup>३</sup> ।  
सदसदुभयभङ्गास्त्ववक्तव्योत्तराः शेषाः पञ्चमषष्ठसप्तमाः, चतुर्भ्योन्यत्वात् । ते<sup>४</sup> च स्वहेतु-  
वशान्तिर्देष्टव्याः । तद्यथा<sup>५</sup> ।—कथञ्चित्सदवक्तव्यमेव, स्वरूपादिचतुष्टयापेक्षत्वे सति सह-  
वक्तुमशक्तेः । कथञ्चिदसदवक्तव्यमेव, पररूपादिचतुष्टयापेक्षत्वे सति सह वक्तुमशक्तेः ।  
कथञ्चित्सदसदवक्तव्यमेव स्वपररूपादिचतुष्टयापेक्षत्वे सति सह वक्तुमशक्तेः सदसदुभयत्व-  
धर्मेत्वन्यतमापाये<sup>६</sup> वस्तुन्यवक्तव्यत्वधर्मानुपपत्तेः<sup>७</sup> । तेषां तत्र<sup>८</sup> सतामप्यविवक्षायां केवलस्या-  
वक्तव्यत्वस्य भङ्गस्य<sup>९</sup> वचनाद्विरोधानवकाशः ।

चतुष्टय की अपेक्षा से एक साथ कहने की शब्दों में सामर्थ्य के न होने से वस्तु कथञ्चित् “अवाच्य” है, क्योंकि उस प्रकार के दोनों ही धर्मों के एक साथ कहने वाले कोई भी पद अथवा वाक्य संभव नहीं हैं । एवं ‘सत्’ ‘असत्’ और उभयरूप आदि के तीन भंगों में ‘अवक्तव्य’ पद अधिक जोड़ देने से पाँचवें, छठे एवं सातवें भंग बन जाते हैं, जो कि आदि के चार भंगों से भिन्न ही हैं, वे अपने-अपने प्रश्न आदि कारणों के निमित्त से ही होते हैं, ऐसा समझना चाहिये ।

तद्यथा—“वस्तु कथञ्चित् सदवक्तव्य ही है” क्योंकि स्वरूपादिचतुष्टय की तो अपेक्षा है एवं युगपत् दोनों धर्मों को कह नहीं सकते हैं । ‘वस्तु कथञ्चित् असत् अवक्तव्य ही है’, क्योंकि पररूपादि-चतुष्टय की अपेक्षा है, एवं एक साथ दोनों धर्म अवाच्य हैं ।

“वस्तु कथञ्चित् सत् असत् अवक्तव्य ही है” क्योंकि स्वपरचतुष्टय की तो क्रम से अपेक्षा है एवं सह अवाच्यपना है । इन ‘सत्-असत्’ और उभयरूप धर्मों में से किसी एक धर्म का अभाव मान लेने पर वस्तु में अवक्तव्यधर्म रह ही नहीं सकता है ।

(पुनः केवल “अवक्तव्य” नाम का चौथा भंग कैसे बनेगा ?) उस वस्तु में उन ‘सत्-असत्’ और उभयरूप धर्मों का अस्तित्व विद्यमान है किन्तु होते हुये भी उनकी विवक्षा न होने पर ही केवल ‘अवक्तव्य’ नाम का चौथा भंग कहा जाता है अतः इसमें विरोध का अवकाश ही नहीं है ।

१ द्वाभ्यामितं द्वैतं द्वैतमेव द्वैतम् । (दि० प्र०) २ इत्यस्य । (दि० प्र०) ३ शब्दस्य स्वपररूपादिचतुष्टयापेक्षया सह वक्तुमशक्यस्य । वर्णसमुदायलक्षणस्य पदस्य । पदसमुदायलक्षणस्य वाक्यस्याश्रयत्वात् । (दि० प्र०) ४ भंगाः । (दि० प्र०) ५ सवाहि । (व्या० प्र०) ६ एकविनाशे । एकस्य । (दि० प्र०) ७ प्राक्तनकारिकाव्याख्यानावसाने कथितप्रकारेण । (दि० प्र०) ८ तत्र वस्तुनि तेषां सदसदुभयात्म्यमंत्रयाणां सतां विद्यमानानामविवक्षायां सत्यामे-कस्यावाच्यभंगस्य वचनं घटतेऽत्रविरोधो नास्ति विवक्षिते वस्तुनि । (दि० प्र०) ९ चतुर्थस्य । (दि० प्र०)



[ प्रत्येकवस्तु स्वपराभ्यामेव सदसद्रूपौ नान्यप्रकारेण कथमेतत् ? ]

ननु<sup>१</sup> च क्रमापितद्वयात्तावद्द्वैतं<sup>२</sup> वस्तु । तत्तु<sup>३</sup> स्वरूपादित एव सत् पररूपादित एवा-  
सत्, न पुनस्तद्विपर्ययादिति कुतोऽवसितमिति चेदुच्यते, स्वपररूपाद्यपेक्षं सदसदात्मकं वस्तु,  
न विपर्यसेन, तथादर्शनात् । सकलजनसाक्षिकं हि स्वरूपादिचतुष्टयापेक्षया सत्त्वस्य पररू-  
पादिचतुष्टयापेक्षया चासत्त्वस्य दर्शनं,<sup>४</sup> तद्विपरीतप्रकारेण<sup>५</sup> चादर्शनं वस्तुनीति तत्प्रमाणयता  
तथैव<sup>६</sup> वस्तु प्रतिपत्तयं, अन्यथा प्रमाणप्रमेयव्यवस्थानुपपत्तेः । कल्पयित्वापि तज्जन्यरूपा-

[ वस्तु स्वपर से ही सत्-असत् रूप है अन्य किसी प्रकार से नहीं ऐसा क्यों ? ]

शंका—क्रम से अपित दो धर्मों की अपेक्षा से वस्तु द्वैतरूप है वह स्वरूपादि से ही सत् रूप है  
एवं पररूपादि से ही असत् रूप है । पुनः इससे विपरीत अर्थात् पररूपादि से सत् और स्वरूपादि से  
असत् रूप नहीं है यह आप किस आधार से निश्चित करते हैं ?

समाधान—हम कहते हैं—स्वरूपादि की अपेक्षा से ही वस्तु सदसदात्मक है, विपरीतपक्ष से  
नहीं है, क्योंकि विपरीतरूप दिखती ही नहीं है । वस्तु में स्वरूपादिचतुष्टय की अपेक्षा से सत्त्व एवं  
पररूपादिचतुष्टय की अपेक्षा से असत्त्व है यह कथन तो सकलजनसाक्षिक है । अर्थात् सभी आबाल-  
गोपाल इसीरूप से ही वस्तु का अनुभव करते हैं और इससे विपरीतरूप के दोनों धर्मवस्तु में दिखते  
ही नहीं हैं एवं दिखना ही प्रमाणरूप है, अतएव उस प्रकार से वस्तु को स्वीकार करना चाहिये ।  
अन्यथा प्रमाण और प्रमेय की व्यवस्था ही नहीं बन सकेगी ।

“तज्जन्यरूप अध्यवसाय की कल्पना करके भी आप बौद्धों को स्वविषय का अनुपलम्भ  
व्यावृत्तिलक्षण दर्शन अर्थात् अपने विषय की उपलब्धिलक्षण दर्शन को (स्वलक्षण को ग्रहण करना  
है विषय जिसका ऐसा दर्शन) प्रमाणीक मानना ही चाहिये ।”

तथाहि—यह निर्विकल्प ज्ञान जिस योग्यतारूप प्रत्यासत्ति के द्वारा किसी एक के ही आकार का  
अनुकरण करता है, उस योग्यता के द्वारा उसी अर्थ को नियम से विषय करता है, अन्यथा नहीं  
करता है इस परंपरागतपरिश्रम का परिहार कर देना चाहिये ।

भावाय—ज्ञान जिस पदार्थ से उत्पन्न होता है, उसके आकार को धारण करता है और पुनः  
उसी को विषय करता है इस परंपरा से होने वाले परिश्रम का परिश्रम वह बौद्ध कैसे कर सकेगा ?

शंका—निर्विकल्पदर्शन नीलादि अर्थ में तज्जन्य, तद्रूप और तदध्यवसाय के होने पर ही प्रमाण

१ सौगतः । (व्या० प्र०) २ परः । सदसदुभयधर्मात् । (दि० प्र०) ३ भवतु तज्ज्व इति पा० । (दि० प्र०)  
४ प्रतीतिः । (दि० प्र०) ५ स्वरूपादिनाऽसत् पररूपादिनासत् इति प्रकारेण वस्तुनि दर्शनेन घटते । (दि० प्र०)  
६ स्वपररूपचतुष्टयेन सदसदात्मकं वस्तुवंगीकर्तव्यम् । (दि० प्र०)

व्यवसायान् 'स्वानुपलम्भव्यावृत्तिलक्षणं'<sup>2</sup> दर्शनं<sup>3</sup> प्रमाणयितव्यम् । तथा हि । बुद्धिरियं यथा प्रत्यासत्त्या<sup>4</sup> 'कस्यचिदेवाकारमनुकरोति'<sup>5</sup> तथा तमेवार्थं नियमेनोपलभेत नान्यथा, पारम्पर्य-परिश्रमं<sup>6</sup> परिहरेत् । ननु तज्जन्मतद्रूपतदध्यवसायेषु सत्सु नीलादौ दर्शनं प्रमाणमुपलभते, तदन्यतमापाये<sup>7</sup> तस्य प्रमाणत्वाप्रतीतेरिति चेन्न, तदभावेऽपि<sup>8</sup> स्वानुपलम्भव्यावृत्तिसद्भावादेव प्रमाणत्वप्रसिद्धेः<sup>9</sup>, तज्जन्मनश्चक्षुरादिभिर्यथैवाव्यभिचारात्तद्रूपस्य<sup>10</sup> <sup>11</sup>सन्तानान्तरसमानार्थ-विज्ञानेनानेकाभ्यात्, तद्व्यलक्षणस्य समानार्थसमनन्तरप्रत्ययेनानैकान्तिकत्वात्<sup>12</sup> त्रिलक्षण-स्यापि विभ्रमहेतुफलविज्ञानैर्ध्यभिचारात्, कामलाद्युत्पन्नान्ध्रुः<sup>13</sup> मुखे गच्छे पीताकारज्ञाना-

कहलाता है, यदि इनमें से किसी एक का भी अभाव मान लेंगे तब वह दर्शन प्रामाणिक ही नहीं रहेगा ।

समाधान—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि उपर्युक्त तज्जन्य, तद्रूप और तदध्यवसाय के अभाव में भी ज्ञान में स्वानुपलम्भ व्यावृत्ति (स्वविषय के उपलम्भ) का सद्भाव होने से ही प्रमाणपना प्रसिद्ध है अर्थात् (ज्ञान न अपने से उत्पन्न हुआ है और न तदाकार है फिर भी अपने को विषय करता है ।) क्योंकि तज्जन्य के मानने पर चक्षु आदि इन्द्रियों से व्यभिचार आता है अर्थात् ज्ञान यदि पदार्थों से उत्पन्न होकर ही उसे विषय करता है, तब तो वह चक्षु आदि इन्द्रियों से भी उत्पन्न हुआ है, अतः उन इन्द्रियों को भी विषय करना चाहिये किन्तु इन्द्रियों को विषय नहीं करता है, अतः व्यभिचार दोष आता है ।

तद्रूप-नीलाकार के मानने में तो संतानान्तर समानार्थविज्ञान के साथ व्यभिचार आता है अर्थात् स्वसंतान और संतानान्तर में एकार्याकारधारित्व होने पर भी निर्विकल्पदर्शन स्वसंतान को ही विषय करता है संतानान्तर को नहीं । अतः यदि ज्ञान को तदाकार होकर जानना मानेंगे, तब तो संतानान्तर समानार्थविज्ञान के साथ व्यभिचार आता है । अर्थात् दो वस्तु समान आकार की हैं ज्ञान ने एक से उत्पन्न होकर उसका आकार धारण किया और उसको जाना किन्तु जब आप तदाकार को ग्रहण करना मानते हैं तब वह दूसरी भी उसी प्रथम वस्तु के आकार की है अतः वह ज्ञान तदाकार हो चुकने पर भी उसको क्यों नहीं जानता है ? अतएव ज्ञान को तदाकार मानने पर संतानान्तर समानार्थविज्ञान के साथ व्यभिचार दोष आता है, एवं तद्व्यलक्षण वाला दर्शन समानार्थ और समनन्तर प्रत्यय से से व्यभिचारित होता है । तदुत्पत्ति, तदाकार और तदध्यवसायरूप तीनलक्षण से युक्त निर्विकल्पदर्शन

- 1 अत्र सामर्थ्यात् परार्थानुपलम्भात्मकमिति विज्ञेयं तथैवालंकारे वक्ष्यमाणत्वात् । नियतस्वविषयोपलम्भलक्षणम् । (दि० प्र०) 2 स्वानुपलम्भव्यावृत्तिलक्षणबुद्धिर्ज्ञानम् । (दि० प्र०) 3 ज्ञानम् । (दि० प्र०) 4 अर्थस्थ । (दि० प्र०) 5 परिणमति । (दि० प्र०) 6 तज्जन्मतद्रूपतदध्यवसायपरिश्रमं न त्यजेद्बुद्धिः । (दि० प्र०) 7 तज्जन्मतद्रूप-तदध्यवसायानां मध्य एकस्यापि विनाशे । (दि० प्र०) 8 परोक्तं व्यतिरेकं तावदुच्यन्ति । दर्शनस्य । (दि० प्र०) 9 अन्वयश्च दूषयन्ति । (दि० प्र०) 10 तज्जन्मादि । दर्शनस्य । (दि० प्र०) 11 एकार्थी समानार्थी वा । (दि० प्र०) 12 वसः । (दि० प्र०) 13 कामलकाचरोगपीडितनेत्रस्य पुंसः । नुः । (दि० प्र०)

दुत्पन्नस्य तद्रूपस्य तदाकाराध्यवसायिनोपि ज्ञानस्य स्वसमनन्तरप्रत्यये प्रमाणत्वभावात्<sup>१</sup> । तदनभ्युपगमे<sup>२</sup> स्वाभ्युपगमासिद्धेः किं साधनः परमुपालभेत यतोवश्यं<sup>३</sup> दर्शनं नियतस्वविषयानुपलम्भव्यावृत्तिलक्षणं परं विषयानुपलम्भात्मकं न प्रमाणयेत् । न हि स्वयं प्रमाणानभ्युपगमे स्वार्थप्रतिपत्तिः । न चाप्रतिपन्नमर्थं परस्मै प्रतिपादयितुमीशः परमुपालब्धुं<sup>४</sup> वा पराभ्युपगतस्यापि प्रमाणस्य प्रतिपत्तेरयोगात्, <sup>५</sup>पराभ्युपगमान्तरात्प्रतिपत्तावनवस्थाप्रसङ्गात् । <sup>६</sup>तदेकोपलम्भनियमः स्वपरलक्षणाभ्यां साध्याभावात्मानं प्रसाधयति । तदभावे न प्रवर्तते नापि

भी विभ्रमहेतुक फलज्ञानों के साथ व्यभिचरित हो जाता है । जैसे कामला—पीलिया आदि रोग से युक्त चक्षु के द्वारा श्वेत शंख में पीताकार ज्ञान हो जाता है, एवं वह ज्ञान तद्रूप-तदाकार तथा तदाकाराध्यवसायी भी है, ऐसा वह ज्ञान स्वसमनन्तरप्रत्यय में अर्थात् प्राक्तन पीताकारज्ञान में प्रमाणपने को प्राप्त हो जाता है ।

यदि उस ज्ञान को आप प्रमाणभूत नहीं मानेंगे, तब तो स्वयं के द्वारा स्वीकृत (शून्यवाद) की भी सिद्धि नहीं हो सकेगी । पुनः आप किस हेतु के द्वारा पर प्रतिपादो (जैनादि) को उलाहना दे सकेंगे बतलाइये ? जिससे कि अवश्य ही यह नियत स्वविषयानुपलम्भ व्यावृत्तिलक्षण दर्शन (ज्ञान) परनियत विषयानुपलम्भ को प्रमाणित न करे । क्योंकि स्वयं आप सौगत प्रमाण को स्वीकार न करने पर स्वार्थ अर्थात् अपने शून्यवाद को भी कैसे समझ सकेंगे ? और स्वयं नहीं समझते हुये स्वमत को अथवा शून्यवाद को आप बौद्ध दूसरों को भी समझाने के लिये कैसे समर्थ होंगे ?

अथवा हम जैन को उलाहना देने के लिये भी कैसे समर्थ हो सकेंगे ? क्योंकि दूसरों के द्वारा स्वीकृत भी प्रमाण को आप समझ ही नहीं सकेंगे । अर्थात् जब आप सौगत स्वयं ही अपने शून्यवाद को नहीं समझते हैं न पर को प्रतिपादन कर सकते हैं और न परजैनादि को उलाहना ही दे सकते हैं क्योंकि पर के द्वारा स्वीकृत प्रमाण को भी आप स्वयं तो जानते ही नहीं हैं, कारण आपके मत में तो सब कुछ शून्यरूप ही है ।

यदि आप कहें कि पराभ्युपगमांतर से उस प्रमाण का ज्ञान कर लेंगे, तब तो अनवस्था का प्रसंग प्राप्त हो जावेगा । अतएव हमारा सिद्धान्त यह है कि ज्ञान में जो एक वस्तु को विषय करने का नियम

१ ननु दर्शनं प्रामाण्यमेव नेष्यत इत्याह । (दि० प्र०) २ तस्य स्वानुपलम्भव्यावृत्तिलक्षणस्य ज्ञानस्यानङ्गीकारे सौगतस्य स्वमतसिद्धिर्न स्यात् । (दि० प्र०) ३ स्याद्वादी वदति अयं सौगतः स्वार्थोपलम्भात्मकं परार्थानुलम्भात्मकमिति सदसदात्मलक्षणं ज्ञानं कुतो न प्रमाणयेत् अपितु प्रमाणं कुर्यात् । (दि० प्र०) ४ दूषयितुं वा । (दि० प्र०) ५ परप्रमाणात्तदध्यन्यस्मादित्यादिप्रकारेण । (दि० प्र०) ६ स्वार्थव्यावसायात्मकमेव प्रमाणं स्वरूपपररूपाभ्यां स्वस्य सदसदात्मकत्वं निष्पादयति = तदभावे इति तस्य सदसदात्मकस्याभावे क्वचिदिष्टे वस्तुनि न वर्तते अनिष्टेन निवर्तते प्रमाणान्तरवत् । यथा नानानुसूषसंवेदनं इष्टप्रवर्तकमनिष्टनिवर्तकं न भवतीति । (दि० प्र०)

निवर्तते प्रमाणान्तरवत् । स्वस्यार्थस्य चैकस्यैवोपलम्भोहीतरस्यानुपलम्भः, तस्य विधायक एवान्यस्य<sup>१</sup> निषेधकः, तत्र प्रवर्तक एव वा परत्र<sup>२</sup> निवर्तक, इति तदेकोपलम्भनियमात्कस्यचित् प्रवृत्तिनिवृत्तौ सिध्यतः । तदभावे सन्तानान्तरप्रमाणादिवत्<sup>३</sup> प्रवर्तकान्न कश्चित्प्रवर्तते निवर्तकाच्च<sup>४</sup> न निवर्तते, अप्रमाणात्प्रवृत्तौ<sup>५</sup> निवृत्तौ वा प्रमाणान्वेषणस्य वैयर्थ्यादितिप्रसङ्गाच्च । ततः प्रमाणं प्रत्यक्षमन्यद्वा<sup>६</sup> स्वार्थोपलम्भात्मना परार्थानुपलम्भात्मना च<sup>७</sup> क्रमापितेन<sup>८</sup> सदसदात्मकं सिद्धम् । तद्वत्प्रमेयमपि<sup>९</sup> । इति सर्वं वस्तु क्रमापितद्वयाद्वैतं को नेच्छेत् ? सर्वस्य<sup>१०</sup> विप्रतिपत्तुमशक्तेरनिच्छतोपि<sup>११</sup> तथा संप्रत्ययात् ।

है वह स्वपररूप के द्वारा चक्षु को भावाभावात्मक सिद्ध कर देता है और उस एक विषय के नियम का अभाव होने पर पुरुष न तो उस ज्ञानमात्र में प्रवृत्ति करेगा और न उस ज्ञान से निवृत्त ही होवेगा प्रमाणान्तर के समान । अर्थात् जैसे कि संतानांतरज्ञान-भिन्न संतान के ज्ञान से कोई मनुष्य एक विषय की उपलब्धि का अभाव होने से न उसमें प्रवृत्ति करता है और न उससे निवृत्त ही होता है ।

अपने एक ही अर्थ का उपलम्भ है और उपलब्धि के विषयभूत से अन्य का अनुपलम्भ है । उस उपलम्भभूत विषय का विधायक ही अन्य का निषेधक है । अतएव उस उपलम्भ विषय में ही वह प्रवृत्ति करता है अथवा उससे भिन्न से निवृत्त होता है । इस प्रकार से तथाविध एकोपलम्भ के नियम से किसी मनुष्य में प्रवृत्ति एवं निवृत्ति सिद्ध ही हो जाती है और यदि आप उस एकोपलम्भविषय का अभाव मानेंगे, तब तो भिन्न संतान के प्रमाण आदि के समान कोई भी प्रवर्तक (दर्शन) से न प्रवृत्ति कर सकेगा और न निवर्तक से निवृत्ति ही कर सकेगा और यदि अप्रमाण से भी आप प्रवृत्ति अथवा निवृत्ति स्वीकार कर लेंगे । तब तो प्रमाण का अन्वेषण करना ही व्यर्थ हो जावेगा अथवा भ्रान्तज्ञान से भी प्रवृत्ति एवं निवृत्ति के हो जानेरूप अतिप्रसंग दोष आ जावेगा । अतएव प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष ये दोनों ही प्रमाण स्वार्थोपलब्धिरूप को एवं परार्थानुपलब्धि को क्रम से अपित करने से सदसदात्मकरूप ही सिद्ध है और उसी प्रकार से प्रमेय भी स्वपररूप से सदसदात्मक ही सिद्ध है ।

इस प्रकार से सभी वस्तु को क्रम से अपितद्वय से द्वैतरूप कौन नहीं स्वीकार करेगा ? क्योंकि इस विषय में सभी को विसंवाद करना अशक्य ही है एवं वैसे स्वीकार करने की इच्छा न करने वालों को भी वैसे ही संप्रत्यय—अनुभव आ रहा है ।

१ अपरार्थस्य । विवक्षितस्वरूपात्स्वरूपान्तरस्यार्थान्तरस्य वा । (दि० प्र०) २ अविवक्षितस्वरूपे । (दि० प्र०)

३ अन्यपुरुषप्रतिपादितज्ञानात् । (दि० प्र०) ४ दर्शनरूपप्रमाणाच्च । (दि० प्र०) ५ प्रमाणाभावादित्यर्थः । (दि० प्र०)

६ परोक्षम् । (दि० प्र०) ७ कृत्वा । (व्या० प्र०) ८ विवक्षितेन । (व्या० प्र०) ९ प्रमाणवत् । (दि० प्र०)

१० वादिनः । सर्वस्य वस्तुनो विसंबधितुं शक्तिर्न । (दि० प्र०) ११ पुरुषस्य सौगतस्य वा । (दि० प्र०)

[ सर्व वस्तुवक्तव्यं कथं ? इति प्रश्ने सति जैनाचार्या उत्तरयन्ति यत् प्रत्येकं शब्द एकमेवार्थं ब्रूते न चानेकान् । ]

कथमवक्तव्यं सर्वमिति चेदुच्यते, निष्पर्यायं भावाभावावभिधानं नाञ्जसंख विषयौकरोति, शब्दशक्तिस्वाभाव्यात्, सर्वस्य <sup>१</sup>पदस्यैकपदार्थविषयत्वप्रसिद्धेः<sup>२</sup> सदिति पदस्यासदविषयत्वात्, असदिति पदस्य च सदविषयत्वात्, अन्यथा तदन्यतरपदप्रयोगसंशयात्, गौरिति पदस्यापि दिगाद्यनेकार्थविषयतया प्रसिद्धस्य <sup>३</sup>तत्त्वतोनेकत्वात्सादृश्योपचारादेव<sup>४</sup> तस्यैकत्वेन व्यवहरणादन्यथा<sup>५</sup> सर्वस्यैकशब्दवाच्यत्वापत्तेः<sup>६</sup> प्रत्येकमप्यनेकशब्दप्रयोगवैफल्यत् । यथैव हि <sup>७</sup>शब्दभेदाद्बहुवोर्थभेदस्तथार्थभेदादपि<sup>८</sup> शब्दभेदः सिद्ध एव, अन्यथा वाच्यवाचकनियमव्यवहार-

[ सभी वस्तुयें अवक्तव्य कैसे हैं ? ऐसा प्रश्न होने पर आचार्य उत्तर देते हैं कि प्रत्येक शब्द एक ही अर्थ को कहता है अनेक को नहीं ]

शंका—सभी वस्तु अवक्तव्य किस प्रकार से है ?

समाधान—कहते हैं, निष्पर्याय (क्रम रहित) भाव और अभाव को कोई भी शब्द एक काल में ही विषय नहीं कर सकता है क्योंकि शब्द की शक्ति का स्वभाव ही ऐसा है। अर्थात् शब्द में ऐसी ही शक्ति है कि एक समय में एक शब्द एक ही धर्म को कहता है। सभी पद एक-एक रूप से अपने एक ही अर्थ को कहते हैं यह बात प्रसिद्ध है। 'सत्' यह पद 'असत्' को विषय नहीं करता है एवं 'असत्' यह पद सत् को नहीं कह सकता है अन्यथा यदि एक ही पद को अनेक अर्थ का कहने वाला मानोगे तब तो उन सत् और असत् दोनों ही पदों में से किसी एक पद के प्रयोग से संशय हो जावेगा। अर्थात् सत् शब्द के कहने पर इसका वाच्य अर्थ सत् है या असत् है ? अथवा असत् शब्द के कहने पर इसका वाच्यार्थ सत् है या असत् ? ऐसा संशय हो जावेगा, किन्तु सत् या असत् शब्द में संशय नहीं देखा जाता है, अतएव शब्द में एक ही अर्थ को प्रतिपादन करने की शक्ति स्वभावतः है।

शंका—यदि आप ऐसा कहें कि एक पद में युगपत् अनेक अर्थों को प्रतिपादन करने की योग्यता नहीं है तब तो दिशा आदि अनेक अर्थों को एक साथ प्रतिपादन करने वाले गो आदि पदों का उच्छेद—विनाश ही हो जावेगा।

समाधान—नहीं, दिशा आदि अनेक अर्थों को विषय करने वाला अकेला एक ही 'गो' शब्द नहीं है किन्तु वास्तव में वे गो शब्द अनेक हैं अर्थात् संपूर्ण दिशा आदि के वाचक गो शब्द भिन्न-भिन्न ही हैं। इनमें जो एकरूप का प्रतिभास या एकरूप से व्यवहार होता है वह सादृश्य के उपचार से ही होता है। यदि ऐसा न माना जावे तब तो समस्त पदार्थों में एक शब्द से वाच्यहोने का प्रसंग प्राप्त हो

१ शब्दस्य । (दि० प्र०) २ प्रत्येकम् । (व्या० प्र०) ३ परमार्थतः । (दि० प्र०) ४ मा । शिष्टलूतानां शब्दानां सारूप्यात् सादृश्यम् । (दि० प्र०) ५ भेदाभावे । (दि० प्र०) ६ पदार्थस्य । (दि० प्र०) ७ नियतः । (दि० प्र०) ८ सत्यः । समभिरुद्धनयापेक्षया । (दि० प्र०)

विनोपात् । एतेनैकस्य वाक्यस्य<sup>१</sup> युगपदनेकार्थविषयत्व<sup>२</sup> प्रत्याख्यातं स्यात्सदसदेव सर्वं स्व-  
पररूपादिचतुष्टयाभ्यामिति वाक्यस्यापि<sup>३</sup> क्रमार्पितोभयधर्मविषयतयोररीकृतस्योपचारादेवैकत्वा-  
भिधानात् । 'तत्रोभयप्राधान्यस्य<sup>४</sup> क्रमशो विवक्षितस्य<sup>५</sup> सदसच्छब्दाभ्यां द्वन्द्ववृत्तौ<sup>६</sup> तद्वाक्ये<sup>७</sup>  
वा स्वपदार्थप्रधानाभ्यामभिधानाद्वा<sup>८</sup> न दोषः, सर्वस्य वाक्यस्यैकक्रियाप्रधानतयैकार्थवि-  
षयत्वप्रसिद्धेः<sup>१०</sup> । सिद्धमेकार्थनिवेदनशक्तिस्वभावत्व<sup>११</sup> शब्दस्य, <sup>१२</sup>वचनसूचनसामर्थ्यविशेषान-  
तिलङ्घनात्<sup>१३</sup> । सदिति शब्दस्य हि सत्त्वभात्रवचने<sup>१४</sup> सामर्थ्यविशेषो, नासत्त्वाद्यनेकधर्मवचने,

जावेगा । तथा च—प्रत्येक पदार्थों को स्वतन्त्ररूप से प्रतिपादन करने के लिये प्रयुक्त होने वाले अनेक शब्दों का प्रयोग निष्फल ही हो जावेगा । अर्थात् घट, पट, दीपक आदि अनेक पदार्थों को कहने के लिये अनेक शब्दों के प्रयोग की कोई आवश्यकता नहीं रह सकेगी । अतएव जितने अर्थ हैं, उनके प्रतिपादन करनेवाले शब्द भी उतने ही हैं ऐसा स्वीकार करना चाहिये क्योंकि जिस प्रकार शब्दभेद से निश्चित ही अर्थभेद है उसी प्रकार से अर्थभेद से भी शब्द भेद सिद्ध ही है । अन्यथा वाच्य-वाचक नियम के व्यवहार का लोप हो जावेगा इसी कथन से एक वाक्य युगपत् अनेक अर्थ को विषय करता है इस कथन का भी खण्डन कर दिया गया समझना चाहिये ।

शंका—स्वपर रूपादि चतुष्टय की अपेक्षा से सभी वस्तु कथंचित् सत्-असत् रूप ही हैं, इस तृतीय भंगरूप वाक्य से तो एक साथ सत् और असत् रूप इन दोनों धर्मों का प्रतिपादन हो जाता है, अतः एक वाक्य अनेकार्थ को विषय करनेवाला सिद्ध हो जाता है ।

समाधान—नहीं, इस तृतीय भंगरूप वाक्य में क्रम से अर्पित उभय धर्म विषयभूत हैं, ऐसा स्वीकार करने से काल प्रत्यासत्ति की अपेक्षा से उपचार से ही एकत्व का कथन किया गया है, अतएव यह तृतीय भंग का वाक्य भी अपने अर्थ का क्रम से प्रतिपादन करता है, युगपत् नहीं ।

शंका—तृतीय भंग में "सदसत्" शब्द में द्वन्द्व समास है, इसमें उभयपदार्थ प्रधान है अतः यह क्रमशः अर्थ का प्रतिपादक न होकर उभय पद का प्रधानरूप से युगपत् ही प्रतिपादक है ।

समाधान—नहीं, इसमें 'सत् असत्' शब्द के द्वारा क्रमशः दोनों की प्रधानता विवक्षित है । अथवा इस वाक्य में द्वन्द्व समास के होने पर भी दोनों ही पदार्थ अपनी-अपनी अपेक्षा से प्रधान हैं अतएव ऐसा कथन करने में कोई भी दोष नहीं है ।

१ तिङ्मुचन्तचयो वाक्यं तस्य । (दि० प्र०) २ सर्वथा । मीमांसकाभिमतम् । (व्या० प्र०) ३ अभिसमनात् इति पा० । (दि० प्र०, व्या० प्र०) ४ तदुभय इति पा० । (दि० प्र०) सदसदत् । (दि० प्र०) ५ प्राधान्यरूपैकार्थस्य । (व्या० प्र०) ६ वाक्यस्य । क्रमविवक्षया ज्ञानस्येत्यभिप्रायः । (दि० प्र०) ७ द्वन्द्वसमासे । (व्या० प्र०) ८ एकस्मिन् वाक्ये सति । (व्या० प्र०) वाक्यादिति पा० । (दि० प्र०) ९ शब्दाभ्याम् । (दि० प्र०) १० युगपदनेकार्थं विषयत्वं प्रत्याख्यातमित्यस्मिन्साध्ये हेत्वन्तरमेतत्प्रसिद्धश्चेति द्रष्टव्यम् । (व्या० प्र०) ११ शक्तेः इति पा० । (दि० प्र०) १२ वाचकत्वं सत् शब्दस्य । (व्या० प्र०) १३ द्योतकत्वं स्यात् शब्दस्य । (व्या० प्र०) १४ प्रतिपादने । (व्या० प्र०)

स्यादिति शब्दस्य च वाचकस्यानेकान्तमात्रवचने<sup>१</sup> सामर्थ्यविशेषो, न पुनरेकान्तवचने तस्यैव द्योतकस्याविवक्षिताशेषधर्मसूचने<sup>२</sup> सामर्थ्यविशेषो, न पुनर्विवक्षितार्थवचने<sup>३</sup>, तद्वाचकशब्दप्रयोग-वैयर्थ्यप्रसक्तेः । न चैवं विधिवचनसूचनसामर्थ्यविशेषमतिक्रम्य प्रवर्तमानः<sup>४</sup> शब्दः प्रसिद्धवृद्ध-व्यवहारेषूपलभ्यते<sup>५</sup> यतो निष्पर्यायं भावाभावावभिदधीत । स्यान्मतं 'यथासङ्केतं' शब्दस्य प्रवृत्तिदर्शनात्सह<sup>६</sup> सदसत्त्वधर्मयोः संकेतितः शब्दस्तद्वाचको न विरह्यते<sup>७</sup> संज्ञाशब्दवत्<sup>८</sup>, इति तदशुक्तं, सङ्केतानुविधानेपि<sup>९</sup> कर्तृकर्मणोः<sup>१०</sup> शक्त्यशक्त्योरन्यतरव्यपदेशार्हत्वादयोदाह-वज्जलेखनवत्<sup>११</sup> । न हि यथायसो दाहलेखने कर्तुः शक्तिस्तथा वज्जलेखनेस्ति, यथा वज्जलेखने

भावार्थ — प्रथम भंग में प्रधानतया सत्त्व विवक्षित है । द्वितीय भंग में प्रधानतया असत्त्व विवक्षित है । एवं तृतीय भंग में क्रमशः सत्त्व और असत्त्व ये दोनों ही धर्म मुख्यतया विवक्षित हैं । अतः सत्त्व अपने अर्थ का एवं असत्त्व अपने अर्थ का क्रमशः प्रधानरूप से प्रतिपादन करते हैं, इस नियम के अनुसार सभीवाक्य एक क्रिया की प्रधानता से एक अर्थ को ही विषय करने में प्रसिद्ध हैं ।

अतएव शब्द स्वभावतः एक ही अर्थ को निवेदन करने की शक्तिवाले हैं यह बात सिद्ध हो गई, क्योंकि प्रत्येक शब्द अपने-अपने नियतार्थ को सूचन करने की सामर्थ्य का उलंघन नहीं कर सकते हैं ।

'सत्' इस शब्द की सत्त्वमात्र के कहने में सामर्थ्यविशेष है किन्तु असत् आदि अनेक धर्मों के कहने में सामर्थ्य नहीं है एवं अनेकान्त वाचक 'स्यात्' इस शब्द की अनेकान्तमात्र को कहने में ही सामर्थ्यविशेष है एकांतवचन को कहने में नहीं है और द्योतकपक्ष में उसी अनेकान्त द्योतकरूप 'स्यात्' शब्द की अविवक्षित अशेष धर्मों के सूचन करने में शक्ति है किन्तु विवक्षितार्थ के सूचन करने में नहीं है । अन्यथा उस विवक्षितधर्म के वाचक शब्दों का प्रयोग व्यर्थ ही हो जावेगा । अर्थात् 'स्यात्' शब्द के वाचक और द्योतकपक्ष की अपेक्षा से दो भेद हैं । वाचक पक्ष में 'स्यात्' शब्द अपने अनेकान्त अर्थ को कहने वाला है और द्योतकपक्ष में अविवक्षित-गौणरूप अशेषधर्मों को सूचित करने वाला है । इस प्रकार से विधिवचन को सूचन करने की सामर्थ्यविशेष का उलंघन करके प्रवृत्त हुआ शब्द प्रसिद्ध वृद्ध व्यवहार की परम्परा में उपलब्ध नहीं होता है, कि जिससे निष्पर्याय—युगपत् भावाभाव को कोई शब्द कह सके, अर्थात् प्रत्येक शब्द अपने-अपने नियतार्थ को सूचनकरने की सामर्थ्य से युक्त है वे शब्द इस सामर्थ्य का उलंघन करके जगत् के व्यवहार में प्रवृत्ति नहीं करते हैं अतएव शब्द युगपत् भावाभावरूप दो धर्मों को कहते हैं, यह आग्रह गलत ही है, क्योंकि उसमें वैसी शक्ति ही नहीं है ।

१ संकेतितत्वाद्वाचकः । (व्या० प्र०) २ अनेकान्तमात्रस्य द्योतको न तद्विशेषस्य । (व्या० प्र०) ३ सदादि । (व्या० प्र०) ४ व्यवहियमाणः । (दि० प्र०) ५ प्रमाणसिद्धपूर्वाचार्यव्यापारेषु । (दि० प्र०) ६ हेतुः । (दि० प्र०) ७ अव्यक्तभंगो मास्तु । (व्या० प्र०) ८ यथा स्वरशब्देन न चतुर्दशस्वराः । (व्या० प्र०) ९ विशेषोक्तिः । (व्या० प्र०) १० शक्तिमतः । (व्या० प्र०) ११ ता । कर्मणः । (दि० प्र०)

तस्याशक्तिस्तथा दारुलेखनेपीति शक्यं<sup>१</sup> वक्तुम् । नापि यथा दारुणः<sup>२</sup> कर्मणोऽप्यसालेख्यत्वे शक्तिस्तथा वज्रस्यास्ति यथा वा वज्रस्य<sup>३</sup> तत्राशक्तिस्तथा दारुणोपीति निश्चयः, क्वचित्क-  
स्यचित्कर्तृकर्मणोः शक्तयोरशक्त्योश्च प्रतिनियततया व्यवस्थितत्वात् । तथा शब्दस्यापि  
‘सकृदेकस्मिन्नेवार्थे प्रतिपादनशक्तिर्न पुनरनेकस्मिन्, सङ्केतस्य तच्छक्तिव्यपेक्षया तत्र  
प्रवृत्तेः<sup>४</sup> । सेनावनादिशब्दस्यापि<sup>५</sup> नानेकत्रार्थे प्रवृत्तिः, ‘करितुरगरथपदातिप्रत्यासत्तिविशेष-  
स्यैकस्य सेनाशब्देनाभिधानात् । ‘वनगृथपंक्तिमालापानकग्रामादिशब्दानामप्येतेनैवानेकार्थप्रति-  
पादनपरत्वं<sup>६</sup> प्रत्याख्यातम् ।

शंका—शब्दों की प्रवृत्ति संकेत के अनुसार ही देखी जाती है । एक साथ सत्त्व-असत्त्व दोनों धर्मों में संकेतित कोई शब्द उसका वाचक होवे इसमें क्या विरोध है ? जैसे जैनेन्द्रव्याकरण में “शतृ और शान” की ‘सत्’ यह संज्ञा है अतः ‘सत्’ कहने मात्र से ही शतृ और शान दोनों ही प्रत्ययों का ग्रहण हो जाता है ।

समाधान—यह कहना भी अयुक्त है क्योंकि शब्द में संकेत का विधान भी वाचक एवं वाच्य-रूप कर्त्ता कर्म में विवक्षा के वश से उनकी शक्ति एवं अशक्ति में से किसी एक का अनुशरण करके ही किया जाता है । जिस प्रकार से लोहा लकड़ी का भेदन करता है, उस प्रकार से वज्र का भेदन नहीं कर सकता है ।

जिस प्रकार से लोहे में काष्ठ को भेदन करने की शक्ति है उस प्रकार से वज्र के भेदन करने में नहीं है, एवं जैसी वज्र को भेदन करने में उसकी अशक्ति है, उसी तरह काष्ठ के भेदने में भी अशक्ति हो ऐसा नहीं कह सकते । जिस तरह काष्ठरूप कर्म लोहे के द्वारा भेदन करने के लिये शक्य है, वैसे ही लोहे से वज्र भी फोड़ा जा सके, ऐसा नहीं है अथवा जैसे लोहा वज्र को नहीं फोड़ सकता, वैसे ही काष्ठ को भी न फोड़ सके, ऐसा भी निश्चय नहीं कर सकते हैं, क्योंकि कर्त्ता और कर्म में से किसी एक की सामर्थ्य और असामर्थ्य प्रतिनियतरूप से ही व्यवस्थित है ।

“उसी प्रकार से शब्द में भी युगपत् एक ही अर्थ को कहने की शक्ति है, अनेकार्थ को कहने की शक्ति नहीं है और वह संकेत उस प्रतिपादन शक्ति की अपेक्षा से ही वहाँ पर प्रवृत्त होता है” तथैव ‘सेना, वन’ आदि शब्द भी एक साथ अनेक अर्थ को नहीं कहते हैं किन्तु सेना शब्द के द्वारा तो ‘हाथी घोड़ा रथ, पदाति’ का समूहरूप एक प्रत्यासत्तिविशेष ही कहा जाता है और इसी तरह से वन शब्द भी अनेक वृक्षों के समूहरूप एक ही विशेष अर्थ को कहता है, न कि अनेक को ।

1 नहि । (दि० प्र०) 2 ता । (व्या० प्र०) 3 क्वचिद्दारुणि कर्मणि कस्यचिदयसः कर्तुः शक्त्योः शक्यत्वशक्तत्वयोः क्वचित्कर्तृकर्मणि कस्यचिदयसः कर्तुरशक्त्यशक्यत्वात्शक्तत्वयोरितियोज्यम् । (व्या० प्र०) 4 एकवारम् । (दि० प्र०) 5 अर्थे संकेतस्य शब्दशक्त्यपेक्षया प्रवृत्तेः । (दि० प्र०) 6 आशङ्क्य । (व्या० प्र०) 7 आसन्न । समुदायविशेषस्य । (दि० प्र०) 8 दक्षिणुडचातुर्जतिकादि । (दि० प्र०) 9 एतेन सेनाशब्देन एकस्यैवार्थस्य प्रतिपादनद्वारेण । (दि० प्र०)



[ 'वृक्षौ' इत्यादि शब्दाः द्विवृक्षादिकं कथं वुवन्ति, अस्य विचारः । ]

कथमेवं वृक्षाविति पदं द्वयर्थं वृक्षा इति च बहुवचनमुपपद्यते इति चेत् केषाञ्चिदेकशेषा-  
रम्भात् परेषां स्वाभाविकत्वादभिधानस्येति संगिरामहे<sup>१</sup> । तत्रैकशेषपक्षे द्वाभ्यामेव वृक्ष-  
शब्दाभ्यां वृक्षद्वयस्य, बहुभिरेव च वृक्षशब्दैर्बहूनां वृक्षाणामभिधानान्नैकस्य शब्दस्य सकृदने-  
कार्थविषयत्वं, शिष्टलुप्तशब्दयोः सारूप्यादभिधेयसाम्याच्चैकत्वोपचारादेकशब्दप्रयोगोपपत्तेः ।  
स्वाभाविकत्वे<sup>४</sup> त्वभिधानस्य, वृक्षशब्दो द्विबहुवचनान्तः स्वभावत एव स्वाभिधेयमर्थ<sup>३</sup> द्वित्व-

तथैव यूथ, पंक्ति, माला, पानक, ग्राम आदि शब्द भी अनेक अर्थ का प्रतिपादन करते हैं इस बात का खण्डन कर दिया गया समझना चाहिये ।

[ 'वृक्षौ' इत्यादि शब्द दो वृक्ष आदि को कैसे कहते हैं ? इस पर विचार ]

शंका—इस प्रकार से पुनः 'वृक्षौ' यह शब्द दो वृक्षरूप अर्थ को एवं 'वृक्षाः' यह शब्द बहुत से वृक्षों को किस प्रकार से कहते हैं ?

समाधान—यह आपका प्रश्न ठीक है कोई-कोई पाणिनिआचार्य (व्याकरण कर्ता) आदि एक-  
शेष समास के द्वारा दो वृक्षों से ही द्विवचनरूप 'वृक्षौ' पद एवं बहुत से वृक्षों के समास से ही बहु-  
वचनरूप 'वृक्षाः' पद को स्वीकार कर उसके द्वारा द्विवचन एवं बहुवचन का बोध मान लेते हैं किन्तु  
जैनाचार्य-पूज्यपादस्वामी आदि (जैनेन्द्रव्याकरण के कर्त्ता) शब्द में स्वाभाविक ही वैसी शक्ति  
मानते हैं, एवं प्रत्यय के द्वारा व्यक्त स्वीकार करते हैं । उसमें पाणिनि आदि के मत में एकशेषपक्ष  
में दो ही वृक्ष शब्दों के द्वारा दो वृक्षों का एवं बहुत ही वृक्ष शब्दों के द्वारा बहुत से वृक्षों का बोध  
मानते हैं । इसलिये एक शब्द ही एक साथ अनेकार्थ को विषय करने वाला नहीं है, क्योंकि शिष्ट और  
लुप्त शब्द में समानता के होने से और वाच्य भी सहश होने से तथा एकत्व के उपचार से ही एक  
शब्द का प्रयोग किया जाता है ।

भाषार्थ—पाणिनिव्याकरण में एकशेष समास माना है, जैसे वृक्षश्च वृक्षश्च 'वृक्षवृक्षौ' पुनः  
'स्वरूपाणामेकशेषएकविभक्तौ' सूत्र के अनुसार सदृश शब्दों में या सभी शब्दों का लोप कर एक  
ही शेष रखना चाहिये, अतः 'वृक्षौ' यह पद सिद्ध हुआ तथैव बहुवचन में वृक्षश्च वृक्षश्च 'वृक्षाः' बन  
जाता है जो कि लुप्त हुये वृक्ष शब्दों का भी कथन करने वाला होता है । अतः इन शब्दों में एकत्व के  
उपचार से एकशब्द का ही प्रयोग सिद्ध है ।

एवं जैनेन्द्रव्याकरण के अनुसार शब्द में स्वाभाविक शक्ति के मानने पर वृक्ष शब्द द्विवचनांत  
एवं बहुवचनांत स्वभाव से ही (द्रव्य की अपेक्षा से) अपने वाच्य अर्थ को द्विवचनरूप और बहुवचनरूप  
से विशिष्ट कहता है क्योंकि उस शब्द में एकत्व, द्वित्व, बहुत्व से विशिष्ट कथन करने की सामर्थ्य

१ प्रतिज्ञां कुर्महे । (व्या० प्र०) २ एकशेषारम्भस्वाभाविकत्वयोः । (दि० प्र०) ३ अर्थ । (दि० प्र०) ४ विशेषे ।  
(दि० प्र०) ५ वृक्षद्रव्यमेकम् । (दि० प्र०)

बहुत्वविशिष्टभावच्छेदे, तथा सामर्थ्यादन्यथा शब्दव्यवहारानुपपत्तेः । ननु च वृक्षा इति प्रत्ययवती प्रकृतिः पदम् । तस्य वाच्यमनेकमेकं च स्याद्वादिभिरिष्यते, न पुनरेकमेव । तथा<sup>१</sup> चोक्तम्

“अनेकमेकं च पदस्य वाच्यं, वृक्षा इति प्रत्ययवत्प्रकृत्याः ।”

इति कश्चित्, सोप्येवं<sup>२</sup> प्रष्टव्यः, किमेकमनेकं च सकृत्प्रधानभावेन पदस्य वाच्यमाहोस्विद्गुणप्रधानभावेन ? इति । न तावत्प्रथमः पक्षः, तथा प्रतीत्यभावात् । वृक्षद्रव्यं<sup>३</sup> हि वृक्षत्वजातिद्वारेण वृक्षशब्दः प्रकाशयति ततो लिङ्गं संख्यां चेति शाब्दी प्रतीतिः क्रमत एव । तदुक्तं

विद्यमान है, अन्यथा शब्द व्यवहार नहीं बन सकेगा । अर्थात् “स्वाभाविकत्वादभिधानस्यैकशेषानारम्भः” इस जैनेन्द्रसूत्र के अनुसार जैनाचार्य एकशेष समास को नहीं मानते हैं वे प्रत्येक शब्द में स्वाभाविक ही अनेकशक्तियाँ मानते हैं ।

शंका—‘वृक्षाः’ यह पद प्रत्ययवर्ती प्रकृति है और इस पद का वाच्यार्थ अनेक एवं एक भी है, ऐसा आप स्याद्वादियों ने स्वीकार किया है, किन्तु एकान्ततः एक ही वाच्यार्थ है, ऐसा तो आप नहीं मानते हैं उसी तरह कहा भी है—

दलोकार्थ—वृक्ष यह शब्द प्रकृतिरूप है इसमें ‘जस्’ प्रत्यय के जोड़ने से प्रत्ययसहित यह पद ‘वृक्षाः’ बहुवचनात् हो जाता है । अतएव एक ही पद का वाच्यार्थ अनेक भी है, और एक भी है, क्योंकि यह वृक्ष पद सामान्यतया एक को और विशेषरूप से अनेक को कहता है । अतएव एक शब्द एक ही अर्थ को कहता है, यह कथन तो आपके ही सिद्धान्त से बाधित हो जाता है ।

समाधान—इस शंका के करने पर तो हम आपसे पूछते हैं कि जो एक पद का वाच्य अर्थ एक और अनेक है वह युगपत् प्रधानभाव से है अथवा गौण एवं प्रधानभाव से है ? यदि आप प्रथमपक्ष लेवें कि शब्द युगपत् ही प्रधानतया एक और अनेक अर्थ को कहता है तब तो ठीक नहीं है क्योंकि वंसी प्रतीति का अभाव है । वृक्षशब्द वृक्षत्व—सामान्यरूप जाति के द्वारा वृक्षद्रव्य को प्रकाशित करता है पश्चात् लिंग और एकवचन द्विवचन आदि संख्या को प्रकाशित करता है इस प्रकार से शब्द से होने वाली प्रतीति क्रम से ही होती है । कहा भी है—

१ सकृच्च इति पा० । (दि० प्र०) २ अवक्तव्यं भंगो मास्तु निष्पर्यायं भावाभावादभिदधते इति चोद्यं निराकरोत्यग्रे । (व्या० प्र०) ३ व्यक्तिरूपम् । (व्या० प्र०)

“स्वार्थमभिधाय शब्दो निरपेक्षो द्रव्यमाह समवेतम्<sup>१</sup> ।

समवेतस्य तु वचने लिङ्गं संख्यां विभक्तीश्च ॥”<sup>२</sup>

इति । प्रधानभावेन<sup>३</sup> च वृक्षार्थः प्रतीयते, बहुत्वसंख्या तु गुणभावेनेति न कस्यचिद्विरोधः, प्रधानगुणभावपक्षस्यैवाभिमतत्वात्, स्यादिति<sup>४</sup> निपातेनानेकस्य धर्मस्थाकाङ्क्षाक्षणेनैकस्यैव<sup>५</sup> प्रधानस्य गुणानपेक्षस्यापवदनात्—सर्वस्य वाचक<sup>७</sup>तत्त्वस्य गुणप्रधानार्थत्वात्, वाच्य<sup>८</sup>तत्त्वस्य च तथा<sup>९</sup>भूतत्वात् । तदुक्तम्

“आकाङ्क्षाक्षः स्यादिति वं निपातो, गुणानपेक्षे नियमेपवादः ।

गुणप्रधानार्थमिदं हि वाच्यं, जिनस्य ते तद्विषयतामपश्यम् ॥”

श्लोकार्थ—विभक्ति आदि की अपेक्षा से रहित—निरपेक्षशब्द अपने द्रव्य को कहता है । पुनः समवेत द्रव्य के कथनानंतर पुलिगआदि लिङ्ग एकवचन, द्विवचन, बहुवचन आदि संख्याऔर विभक्ति को कहता है । अतएव ‘वृक्षाः’ इस पद के द्वारा वृक्ष अर्थ तो प्रधानरूप से प्रतीति में आ जाता है एवं बहुवचनरूप संख्या गौणरूप से प्रतीति में आती है ।

इस प्रकार से हमारे यहाँ किसी भी पद के अर्थ को करने में कोई भी विरोध नहीं आता है क्योंकि हमने तो प्रधान और गौणभावरूप द्वितीयपक्ष को ही स्वीकार किया है, अर्थात् कोई भी शब्द या पद मुख्यतया अपने एक ही अर्थ के वाचक होते हैं, अनेक के नहीं ।

‘वृक्ष’ शब्द पहले मुख्यतया स्वाभिधेय ‘वृक्षरूप’ अपने अर्थ का कथन करता है । अनन्तर गौणरूप से लिङ्ग एवं द्वित्व, बहुत्व आदि संख्या का कथन करता है अतः वृक्ष इस शब्द से प्रधानभाव से तो वृक्षरूप अपने अर्थ की एवं गौणभाव से लिङ्ग संख्या आदि की प्रतीति होती है । अनेकधर्मों की आकांक्षा करने वाले “स्यात्” इस निपातरूप पद के द्वारा गौण की अपेक्षा से रहित एक प्रधान का ही कथन बाधित है, क्योंकि सभी वाचकतत्त्व गौण, प्रधान अर्थवाले हैं और वाच्यतत्त्व भी उसी प्रकार से गौण-प्रधान अर्थरूप ही है । स्वयंभूस्तोत्र में कहा भी है—

श्लोकार्थ—अनेक धर्मों की आकांक्षा करनेवाले मनुष्य के पास में “स्यात्” यह निपात सिद्ध शब्द है जो कि गौण की अपेक्षा से रहितमात्र प्रधानरूप के कथन का अपवाद अर्थात् निराकरण करने वाला है । इसलिये हे जिन ! आपके वचन गौण एवं प्रधानसहित दोनों ही अर्थ के कहने वाले हैं जो कि आपके विरोधी एकांतवादियों के लिये अपश्यस्वरूप हैं । इसलिये हम जैनियों के सभी वाक्य गौण एवं प्रधानभाव के द्वारा ही अर्थ के वाचक हैं ।

१ पर्यायं सहितं द्रव्यं सामान्यम् । (दि० प्र०) २ विभक्तस्येति पा० । (दि० प्र०) ३ ततश्च । (दि० प्र०) ४ स्यादिति शब्दोच्चारोऽविवक्षितस्यानेन धर्मस्य ग्राहकः । (दि० प्र०) ५ क्षीतकेन । (व्या० प्र०) ६ अर्थस्य । (व्या० प्र०) ७ शब्दः । (दि० प्र०) ८ अर्थः । समुदितं हेतुद्वयं प्रधानगुणभावोत्पादी प्राक्तन एव साध्ये । (दि० प्र०) ९ अनेकधर्मस्य । वाच्यतत्त्वस्यापि गुणः सह प्रधानत्वात् । (दि० प्र०)

[ प्रमाणवाक्यमशेषधर्मात्मकं वस्तु प्रकाशयति तत् कथं संभवेत् जैनमते ? ]

नन्वेवं प्रधानभावेनाशेषधर्मात्मकस्य<sup>१</sup> वस्तुनः प्रकाशकं प्रमाणवाक्यं<sup>२</sup> कथमुपपद्येत येन सकलादेशः<sup>३</sup> प्रमाणाधीनः स्यादिति चेतकालादिभिरभेदेनाभेदोपचारेण<sup>४</sup> च द्रव्यपर्यायिन-  
यार्पितेन सकलस्य वस्तुनः कथनादिति ब्रूमः । द्रव्यार्थिकनयात्तावदेकस्यैव द्रव्यस्थानन्तपर्याया-  
त्मकस्यादेशः<sup>५</sup> प्रमाणवाक्यं नानेकार्थं, पर्यायिनयाच्च सकलपर्यायाणां<sup>६</sup> कालादिभिरभिन्ना-

[ प्रमाणवाक्य अशेषधर्मात्मक वस्तु का प्रकाशन करते हैं, जैनमत में  
यह कथन कैसे सम्भव होगा ? ]

प्रश्न—इस कथन से तो प्रधानभाव से अशेष धर्मात्मक वस्तु का प्रकाशक प्रमाणवाक्य है यह कथन कैसे सिद्ध हो सकेगा कि जिससे आप “सकलादेशः प्रमाणाधीनः” वस्तु का सम्पूर्णरूप से कथन करना प्रमाण के आधीन है, इस वाक्य को कह सकें ?

उत्तर—कालादि के द्वारा अभेदरूप द्रव्यार्थिकनय की अर्पणा से एवं अभेदोपचाररूप पर्या-  
यार्थिकनय की अर्पणा से सभी पर्यायसहित सम्पूर्ण वस्तुओं का कथन हो जाता है, ऐसा हम जैन  
स्वीकार करते हैं ।

द्रव्यार्थिकनय से अनन्त पर्यायात्मक एक ही द्रव्य का कथन करना प्रमाणवाक्य है, न कि अनेक  
अर्थ का कथन करना प्रमाणवाक्य है, एवं पर्यायार्थिकनय से कालादि से अभिन्न सम्पूर्ण पर्यायों में  
अभेदोपचार करके उपचरित एक ही वस्तु प्रमाणवाक्य का विषय है ।

१ विवक्षिताविवक्षित । (दि० प्र०) २ सर्वमनेकान्तात्मकम् । (दि० प्र०) ३ कथनम् । (दि० प्र०)

४ कालोऽप्य सख्यवत्सर्वो संबन्धतद्देव उवधारो । गुणिदेशो संसर्गो सहोवियं ह्येति कालादी ।।

कालः आत्मस्वरूपमर्थः संबन्धस्तथा चोपकारः गुणिदेशः संसर्गः शब्दोऽपि च भवन्ति कालादयस्तत्र स्याज्जीवादि-  
वस्त्वस्त्येवेत्यत्र यत्कालमस्ति तत् तत् कालाः शेषानन्तधर्मा वस्तुन्येकत्रेति तेषां कालेनाभेदवृत्तिः यदेव चास्तित्वस्य  
तद्गुणत्वमात्मस्वरूपं तदेवाभ्यान्तगुणानामपीत्यात्मस्वरूपेणाभेदवृत्तिः । य एवाधारो द्रव्याख्योस्तित्वस्य स एवान्य  
पर्यायाणामित्यर्थो नाभेदवृत्तिः । य एव चाविश्वभावः कथञ्चित्तादात्म्य लक्षणः संबन्धोस्तित्वस्य स एव शेषविशे-  
षाणामिति संबन्धेनाभेदवृत्तिः । य एव चोपकारोस्तित्वे न स्वानुरक्तकारणः स एव शेषैरपि गुणैरित्युपकारेणाभेदवृत्तिः ।  
य एव च गुणिदेशोस्तित्वस्य स एवान्यगुणानामिति गुणिदेशेनाभेदवृत्तिः । य एव एकवस्त्वान्मनास्तित्वस्य संसर्गः स  
एव शेषधर्माणामिति संसर्गेणाभेदवृत्तिः । य एवास्तीति शब्दोस्तित्वधर्मात्मकस्य वस्तुनो वाचकः स एव शेषानन्त-  
धर्मात्मकस्यापीति शब्देनाभेदवृत्तिः—पर्यायार्थिकगुणभावे द्रव्यार्थिकगुणभावे पर्यायार्थिकप्राधान्ये तु न गुणानां  
कालादिभिरभेदवृत्तिरष्टधा संभवति प्रतिक्षणमन्यतोपपत्तेः । भिन्नकालत्वात् । सकृदेकत्र नानागुणानामसंभवात् सम्भवे  
वा तदाश्रयस्य तावद्भावेदप्रसंगात् । तेषामात्मरूपस्य च भिन्नत्वात् । तदभेदे तदभेदविरोधात् । स्वाश्रयस्यार्थस्यापि  
चान्यत्वात् । अन्यथा नानागुणाश्रयविरोधात् । संबन्धस्य च संबन्धिभेदाद्भेददर्शनात् नानासंबन्धिभिरैकत्रैक-  
संबन्धाघटनात् क्रियमाणस्योपकारस्य प्रतिनियतरूपस्यानेकत्वात् गुणिदेशस्य च प्रतिगुणभेदात् तदभेदे भिन्नार्थगुणाना-  
मपि गुणिदेशेभेदे प्रसंगात् संसर्गस्य च प्रतिसंसर्गभेदात्तदभेदे संसर्गभेदविरोधात् । (दि० प्र०) ५ सर्वेषां वस्तूना-  
मेककायता । (दि० प्र०) ६ नानापर्यायलक्षणार्थः वस्तुः मुख्यः । (दि० प्र०) ७ नयप्रमाणवाक्ययोः कथं भेद इति  
चेदुच्यते । स्यादस्तीत्यादिनयवाक्येऽस्तित्वधर्मस्य प्राधान्यं नास्तित्वादिधर्मस्य गौण्यम् । स्याज्जीव इति प्रमाणवाक्ये  
धर्मिणः प्राधान्यं धर्माणां गौण्यमिति भेदः । (दि० प्र०)

नामभेदोपचारादुपचरितमेकमेव<sup>१</sup> वस्तु प्रमाणवाक्यस्य विषयः इति न किञ्चिद्वाक्यं पदवदने-  
कार्थं सकृत् प्रधानभावेन विभाव्यते, संकेतसहस्रेणापि वाचकवाच्ययोः कर्तृकर्मणोः शक्त्य-

इस प्रकार से कोई भी वाक्य या पद युगपत् प्रधानभाव से अनेक अर्थ को नहीं कहते हैं। जो कर्ता और कर्मरूप वाचक-वाच्य हैं उनमें संकेत सहस्रों के द्वारा भी शक्ति और अशक्ति का उलंघन नहीं किया जा सकता है, जैसे कि कारण और कार्य की शक्ति और अशक्ति का उलंघन नहीं किया जा सकता है यह कथन ही निर्दोष सिद्ध है।

**भावार्थ—**शब्द एकबार प्रधानभाव से एक ही अपने अर्थ का वाचक होता है अनेक अर्थों का नहीं तो फिर जैन सिद्धान्त के अनुसार प्रमाणवाक्य भी युगपत् अनेक धर्मात्मकवस्तु का प्रकाशक कैसे हो सकेगा ?

इसका समाधान जैनाचार्य इस तरह से करते हैं कि जिस समय वस्तु में काल आदि की अपेक्षा अभिन्नरूप से रहने वाले सम्पूर्ण धर्मों एवं धर्मों में अभेद भाव की प्रधानता रखकर अथवा कालादि से भिन्न धर्म और धर्मों में अभेद का उपचार मानकर सम्पूर्ण धर्म और धर्मों का एक साथ कथन किया जाता है, उस समय सकलादेश होता है। इस सकलादेश से काल आदि की अभेददृष्टि अथवा अभेदोपचार की अपेक्षा वस्तु के समस्त धर्मों का एकसाथ ज्ञान होता है। अभिप्राय यह है कि गुणों के समुदाय को द्रव्य कहते हैं, इसलिये गुणों को छोड़कर द्रव्य कोई भिन्न पदार्थ नहीं है।

अतएव द्रव्य का निरूपण गुणवाचक शब्दों के बिना नहीं हो सकता है इसलिये अस्तित्व आदि अनेकगुणों के समुदायरूप द्रव्य का निरंशरूप समस्तपने से अभेदवृत्ति (द्रव्याधिकनय की अपेक्षा सम्पूर्ण धर्म अभिन्न हैं) और अभेदोपचार (पर्यायाधिकनय से समस्त धर्मों के परस्पर भिन्न होने पर भी उनमें एकता का आरोप किया जाता है) से एक गुण के द्वारा प्रतिपादन होता है, इसलिये एक गुण के द्वारा अभिन्नस्वरूप के प्रतिपादन करने को सकलादेश कहते हैं। 'यह सकलादेश प्रमाण के आधीन है।' (१) काल (२) आत्मरूप (३) अर्थ (४) सम्बन्ध (५) उपकार (६) गुणिदेश (७) संसर्ग (८) शब्द ये कालादिक हैं।

**इनका स्पष्टीकरण—**सप्तभंगी के दो भेद हैं प्रमाण सप्तभंगी और नय सप्तभंगी। इनमें पूर्वोक्त प्रकार से द्रव्याधिकनय की मुख्यता और पर्यायाधिकनय की गौणता एवं पर्यायाधिकनय की मुख्यता तथा द्रव्याधिकनय की गौणता लेकर प्रमाण सप्तभंगी घटित होती है। द्रव्याधिकनय की मुख्यता एवं पर्यायाधिकनय की गौणता कहने का तात्पर्य यह है कि वस्तु में अनेक धर्मों का काल आदि द्वारा अभेद सिद्ध करना। कारण यह है कि विवक्षित एक शब्द से वस्तु के एक ही धर्म का ज्ञान होता है, परन्तु विवक्षित उस एक शब्द से एक धर्म के द्वारा ही पदार्थ के अनेक धर्मों का ज्ञान हो जाता है, इसी का नाम एक साथ पदार्थ का ज्ञान होता है और यह सकलादेश के आधीन है। यथा—“स्यात् जीवादिवस्तु सदेव” जीवादि वस्तुएँ कश्चित् सत् ही हैं। ऐसा कहने पर जीवादि वस्तुओं में जिस समय अस्तित्व धर्म मौजूद है उस समय जीव में और भी अनन्त धर्म विद्यमान हैं।

<sup>१</sup>शक्त्योरनतिलङ्घनार्हत्वात्कारणकार्यवदित्य<sup>२</sup>नवद्यम्<sup>३</sup> । <sup>४</sup>अन्यथाऽचाक्षुषत्वादयः<sup>५</sup> शब्दा-

अतः अस्तित्व इस एक धर्म के साथ अन्य अविवक्षितधर्मों की काल की अपेक्षा लेकर अभेदवृत्ति मान ली जाती है ।

जिस प्रकार अस्तित्व जीव का गुणस्वरूप है उसी प्रकार और भी अविवक्षित धर्म उसके स्वभाव हैं । इस प्रकार अस्तित्व के साथ आत्मरूप को लेकर अन्य धर्मों की अभेदवृत्ति मान ली जाती है ।

जिस प्रकार जीवादि वस्तुयें अस्तित्वधर्म के आधार हैं, उसी प्रकार वे अन्य धर्मों के भी आधार-भूत हैं । इस अपेक्षा से आधार को लेकर उस अस्तित्व के साथ अन्य अनन्तधर्मों की अभेदवृत्ति मान ली गई है । जीवादिद्रव्यों के साथ अस्तित्वधर्म का तादात्म्यरूप सम्बन्ध है वही सम्बन्ध अन्यधर्मों का भी जीवादिद्रव्यों के साथ है, अतः इस विवक्षा से सम्बन्ध को लेकर अस्तित्व के साथ अन्यधर्मों की अभिन्नता मान ली जाती है । तथैव यह अस्तित्वधर्म स्वानुरक्तत्व करणरूप उपकार भी करता है । इसी तरह अन्य धर्म भी करते हैं, इसी प्रकार से गुणिदेश, संसर्ग, शब्द आदि से भी अभेदवृत्ति घटित कर लेनी चाहिये ।

तथा द्रव्याधिकनय की गौणता और पर्यायाधिकनय की प्रधानता करने पर कालादि की अपेक्षा अभेदवृत्ति नहीं बनती है, कारण कि एक समय में एकस्थान पर अनेकगुण नहीं रह सकते हैं । अनेक-गुणों का स्वरूप परस्पर में भिन्न है क्योंकि वह एक दूसरे गुणों में नहीं रहता । इसलिये गुणों में अभेद नहीं हो सकता, यदि गुणों में परस्पर में भेद न हो तो भिन्न-भिन्न नहीं मानना चाहिये ।

अतएव काल आदि द्वारा अस्तित्व आदि गुणों की एक वस्तु में अभेदवृत्ति असम्भव है । पर्यायाधिकनय की अपेक्षा से काल आदि से भिन्न इन अस्तित्व आदि गुणों में अभेद का उपचार किया जाता है । इस प्रकार द्रव्याधिकनय से अभेदवृत्ति एवं पर्यायाधिकनय से अभेदोपचार द्वारा अन्तर्धर्म-वाले पदार्थ को युगपत् कहने वाला 'सकलादेश' अथवा प्रमाणवाक्य कहा जाता है तथा एकदेश से जानी हुई वस्तु को भेदवृत्ति एवं भेदोपचार से क्रम से कहने वाले वाक्य 'विकलादेश' या नयवाक्य कहलाते हैं ।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि पद की तरह प्रत्येक वाक्य भी 'गौण प्रधानार्थ' वाचक हैं सकृत्—(एकसाथ) अनेक प्रधानार्थवाचक नहीं हैं । शब्द अपने इस स्वभाव को संकेतसहस्र के द्वारा भी त्याग नहीं कर सकता है । यथा कार्य में कार्यपना अपने कारण की अपेक्षा से ही है, अन्यकारणों की अपेक्षा से नहीं, इसी तरह कारण भी अपने कार्य की अपेक्षा से ही माना जाता है, अन्य-कार्य की अपेक्षा से नहीं ।

अन्यथा अपेक्षाकृत शक्ति और अशक्ति वाच्य और वाचक में न मानी जावे तो अचाक्षुषत्व आदि

१ अयः । दारुवज्जलेखन । (दि० प्र०) २ अन्तरोक्तम् । (दि० प्र०) ३ किमवक्तव्यम् । (दि० प्र०) ४ कारण-कार्ययोः शक्त्यशक्त्यतिक्रमेण । (दि० प्र०) ५ वाचकवाच्य-बोद्धव्योः शक्त्य शक्त्योरतिलङ्घनार्हत्वे सति । (दि० प्र०)

विधर्मा' न भवेयुः । शक्यं हि वक्तुं, 'रूपवच्चक्षुर्ज्ञानजननशक्तियुक्तः शब्दश्चाक्षुष एव, रसवच्च रसनज्ञानजननसमर्थो रासनो, गन्धादिवच्च घ्राणादिज्ञानजननपटुघ्राणीयादिः' इति न तस्या-  
चाक्षुषत्वारसनत्वाघ्राणीयत्वादयो धर्माः स्युः, अश्वावणत्वादयश्च रसादिधर्मा न भवेयुः ।  
अतो यावन्ति पररूपाणि तान्नान्येन प्रमातृत्वं तान्नान्येनान्तराणि<sup>२</sup>, तथा परिणामात्, शब्दादीना-  
मन्यथा<sup>३</sup> स्वरूपायोगात् । यदि पुनश्चक्षुरादिविज्ञानोत्पादनाऽशक्त्यतिक्रमस्य<sup>४</sup> सर्वदाप्यसंभ-  
वादचाक्षुषत्वादयः शब्दादिधर्मा एव श्वावणादिज्ञानजननशक्त्यनतिक्रमाच्छ्वावणत्वादिवदिति

शब्दादि के धर्म नहीं हो सकेंगे । अर्थात् शब्द में अचाक्षुषता तो इसीलिये है कि वह रूप के समान चाक्षुषज्ञानजननशक्ति से विकल है । ऐसा हम कह सकते हैं कि जिस प्रकार रूप चक्षु के ज्ञानजनन-शक्ति से युक्त है, उसी प्रकार शब्द भी चक्षु के ज्ञान को उत्पन्न करने की शक्ति युक्त चाक्षुष—चक्षु-इन्द्रिय का विषय ही है, तथा वह शब्द रस की तरह रसनज्ञानजनन समर्थ होने से रसना इन्द्रिय का विषय है । एवं गन्धादि की तरह घ्राणादि ज्ञान को उत्पन्न करने में पटु है, अतएव वह शब्द घ्राणादि-इन्द्रिय का विषय है ।

इस प्रकार उस शब्द में अचाक्षुषत्व, अरासनत्व, अघ्राणीयत्वादि धर्म नहीं हैं, अन्यथा अश्वावणत्व आदि और रसादि धर्म भी नहीं हो सकेंगे ।

भावार्थ—जैसे रूप चाक्षुषज्ञानजननशक्ति युक्त है, अतएव वह चक्षु इन्द्रिय का विषय है । उस तरह शब्द में यह शक्ति नहीं है अतः वह चाक्षुष नहीं है । इसी प्रकार वह शब्द रसना इन्द्रिय का विषय भी नहीं है क्योंकि यदि उसमें रस की तरह रसनज्ञानजनन की शक्ति होती तो वह रसना इन्द्रिय का विषय होता । इसी तरह वह गन्धादि के समान घ्राणादिज्ञानजननपटु भी नहीं है, अतः घ्राण-इन्द्रिय आदि का भी विषय नहीं है । इस तरह शब्द में भिन्न-भिन्न इन्द्रियों द्वारा अविषय होने की अपेक्षा अचाक्षुषत्व, अरासनत्व, अघ्राणीयत्वादि धर्म सिद्ध होते हैं । तथा कर्णेन्द्रियज्ञानजननशक्ति की अपेक्षा उसमें कर्ण का विषयपना भी सिद्ध है । अतएव जब शब्द में शक्ति और अशक्ति को उलंघन न करने वाले अचाक्षुषत्व आदि एवं चाक्षुषत्व धर्म सिद्ध हैं तब सत्त्वादि पद भी एक अपने धर्म को प्रतिपादन करने रूप अशक्ति से युक्त हैं । अपनी शक्ति और अशक्ति का उलंघन नहीं करते हैं ।

अतएव जितने पररूप हैं उतने ही शब्द-शब्द के प्रति वाच्य-वाचकलक्षण भिन्न-भिन्न स्वभाव हैं क्योंकि उसी प्रकार से उन शब्दों का परिणाम देखा जाता है । अन्यथा शब्दादिकों का कोई स्वरूप ही नहीं बन सकेगा ।

यदि आपका ऐसा मत है कि चक्षुआदि विज्ञान के उत्पादन की अशक्ति का कभी भी उलंघन नहीं

१ स्वरूपाः । (दि० प्र०) २ प्रत्येकं भिन्नानीत्यर्थः । (दि० प्र०) ३ भाष्योक्तप्रकारविपरीतत्वेन । (व्या० प्र०)

४ शब्दस्य । (दि० प्र०)

मत्तं तदा सदादिपदस्य सत्त्वाद्येकधर्मप्रतिपादनशक्त्यनतिक्रमात् प्रधानभावार्पितानेकधर्माभिधानाशक्त्यनतिलङ्घनाच्च नानेकोर्थः सकृत्संभवतीत्यनुमन्यताम् । स्यादवक्तव्यमेव सर्वं, युगपद्वक्तुमशक्तेरिति भङ्गचतुष्टयमुपपन्नम् ।

[ पंचमवच्छिन्नसप्तमभंगानो स्पष्टीकरणं ]

**द्रव्यपर्यायौ व्यस्तसमस्तौ समाश्रित्य चरमभङ्गत्रयव्यवस्थानम्<sup>१</sup>** । व्यस्तं द्रव्यं द्रव्यपर्यायौ समस्तौ सहापिती<sup>२</sup> समाश्रित्य स्यात्सदवक्तव्यमेव सर्वमिति वाक्यस्य प्रवृत्तिः, द्रव्याश्रयणे सदंशस्य सहद्रव्यपर्यायाश्रयणे वक्तुमशक्तेरवक्तव्यत्वस्य विवक्षितत्वात् । तथा व्यस्तं पर्यायं समस्तौ द्रव्यपर्यायौ चाश्रित्य स्यादसदवक्तव्यमेव<sup>३</sup> सर्वमिति 'वचनव्यवहारः'<sup>४</sup> । व्यस्तौ क्रमापिती समस्तौ सहापिती द्रव्यपर्यायौ समाश्रित्य स्यात्सदसदवक्तव्यमेव<sup>५</sup> सर्वमिति शब्दप्रवृत्तिः<sup>६</sup>

करते हैं । मतलब शब्द चक्षुआदि इन्द्रियों के ज्ञान को उत्पन्न करने की शक्ति से रहित हैं, इसलिये अचाक्षुषत्व आदि धर्म शब्द में विद्यमान ही हैं क्योंकि वे शब्द श्रोत्रेन्द्रिय के ज्ञान को उत्पन्न करने की शक्ति का उलंघन नहीं करते हैं, जैसे कि श्रावणत्व आदि । अर्थात् शब्द में श्रोत्रेन्द्रिय के ज्ञान को उत्पन्न करने की शक्ति होने से श्रावणत्व धर्म विद्यमान है और चक्षु आदि के ज्ञान को उत्पन्न करने की शक्ति न होने से अचाक्षुषत्व आदि धर्म भी हैं, तब तो वे शब्द भी सत्त्व आदि एक धर्म के प्रतिपादन करने की शक्ति का उलंघन न करने से अपने एक धर्म के प्रतिपादन की शक्ति से सहित हैं, एवं प्रधानभाव से अर्पित अनेकधर्मों को युगपत् कहने की जो अशक्ति है, शब्द उसका भी उलंघन नहीं करते हैं अतएव वे उस अशक्ति से भी सहित हैं । इसलिये युगपत् अनेक अर्थ को शब्द विषय नहीं कर सकता है इसी कथन को प्रमाणीकृतया स्वीकार कर लेना चाहिये ।

इसीलिये "सभी वस्तु कथञ्चित् अवक्तव्य ही है" क्योंकि युगपत् कहने की शक्ति नहीं है, इस प्रकार से यह चौथा भंग सिद्ध हो गया ।

[ पांचवें, छठे एवं सातवें भंग का स्पष्टीकरण ]

व्यस्त और समस्तरूप से द्रव्य और पर्याय का आश्रय लेकर अन्तिम तीन भंग बनते हैं । व्यस्तरूप द्रव्य और समस्तरूप से युगपत् अर्पित द्रव्य एवं पर्याय इनका आश्रय लेकर सभी वस्तु कथञ्चित् "सत् अवक्तव्य ही है" इस प्रकार का वाक्य प्रवृत्त होता है क्योंकि द्रव्य का आश्रय लेने पर "सत्-अंश" विवक्षित हैं एवं युगपत् द्रव्य और पर्याय इन दोनों का आश्रय लेने पर कहना अशक्य होने से "अवक्तव्यत्व धर्म" विवक्षित है ।

उसी प्रकार से व्यस्तपर्याय (सत् अंश) और समस्तरूप से द्रव्य पर्याय का आश्रय लेकर

1 अन्त्य । (व्या० प्र०) 2 युगपत् । (दि० प्र०) 3 द्वन्द्वः । (व्या० प्र०) 4 व्यवहारवचन इति पाठः । (दि० प्र०) 5 पर्यायाश्रयणे सदंशस्य सह द्रव्यपर्यायाश्रयणे क्रमशक्तेरवक्तव्यत्वस्य विवक्षितत्वादिति पूर्ववदत्रापि संबन्धनीयम् । (दि० प्र०) 6 सप्तमोभंगः । (दि० प्र०) 7 द्रव्यपर्यायाश्रयणे वक्तुमशक्तेरवक्तव्यत्वस्य विवक्षितत्वादितिसम्बन्धः । (दि० प्र०)



स्याद्वादाश्रयणव्याख्यानादेवमेव<sup>१</sup> चरमभङ्गत्रयस्य व्यवस्थानात् । परमतापेक्षया<sup>२</sup> तु सत्सामान्य-  
मन्वयि द्रव्यमाश्रित्य<sup>३</sup> सदवक्तव्यमेव<sup>४</sup>, स्वलक्षणलक्षणं विशेषं<sup>५</sup> तद्विषयश्रित्याप्यन्योहसामान्य-  
मसदवक्तव्यमेव, सामान्यविशेषौ परस्परमत्यन्तभिन्नौ द्रव्यपर्यायौ<sup>६</sup> समुदितौ<sup>७</sup> समाश्रित्य सद-  
सदवक्तव्यमेवेति व्याख्यानमकलङ्कदेवैर्व्यधायि ।

“कथञ्चित् सत् अवक्तव्य रूप ही सभी वस्तुयें हैं” इस प्रकार से वचनव्यवहार होता है एवं व्यस्तरूप क्रम से अपित और समस्तरूप से युगपत् अपित द्रव्य पर्याय का आश्रय लेकर “कथञ्चित् सत् असत् अवक्तव्य ही सभी वस्तुयें हैं” इस प्रकार शब्द प्रवृत्ति होती है । स्याद्वाद का आश्रय करके व्याख्यान करने से ही इस प्रकार से अन्तिम तीनों भंगों की व्यवस्था हो जाती है ऐसा श्रीस्वामी समन्तभद्राचार्य का अभिप्राय सिद्ध होता है ।

परमत की अपेक्षा से अद्वैतवादियों के यहाँ सत्सामान्यरूप अन्वयिद्रव्य का आश्रय करके “वस्तु सत् अवक्तव्य ही है” ऐसा एकान्त कथन है । बौद्धमत की अपेक्षा से स्वलक्षणलक्षण-क्षणिकत्वलक्षण से लक्षित एवं सत्सामान्यरहित विशेषरूप पर्याय को स्वीकृत करके अन्यापोह सामान्यरूप “असत् अवक्तव्य ही है” अन्यापोह सामान्य अर्थात् ‘अगौः व्यावृत्ति गौः’ यहाँ ‘गौ’ शब्द का अर्थ है गो से भिन्न अन्यो से व्यावृत्त होना, इसी का नाम अन्यापोह है ।

एवं योगमत की अपेक्षा से परस्पर में अत्यन्तभिन्न सामान्य-विशेष और समुदितद्रव्य तथा पर्याय को आश्रित करके “सत् असत् अवक्तव्य ही है ।”

भावार्थ—सामान्यरूप सत् अवक्तव्य ही है एवं विशेषरूप से असत् अवक्तव्य ही है, क्योंकि योगमत में सामान्य को सर्वथा अभिन्न, नित्य एक और सर्वगत माना है इसलिये ‘सत् अवक्तव्य ही है’ तथा योग घट पटादि को सर्वथा अनित्य ही मानता है अतएव वस्तु सर्वथा ‘असत् अवक्तव्य ही है’ इस प्रकार से योगमत में “सत् असत् अवक्तव्य रूप” सातवाँ भंग एकान्त से माना है, ऐसा व्याख्यान अष्टशतीकार श्रीभट्टाकलंकदेव ने किया है ।

इस प्रकार से अद्वैतवादी के द्वारा मान्य सर्वथा “सत् अवक्तव्य ही तत्त्व है” एवं बौद्धमत की अपेक्षा सर्वथा “असत् अवक्तव्य ही तत्त्व है” तथा योगमत की अपेक्षा सर्वथा “सत् असत् अवक्तव्य ही तत्त्व है” इन एकान्त मान्यताओं में अनेक दूषण आते हैं उन्हीं को पृथक्-पृथक् दिखाते हैं ।

१ उक्तप्रकारेण । (व्या० प्र०) २ परमतेष्वेवमापाद्यसंमतिं प्रदर्शयति । परमतनिराकरणपुरस्सरेण । (व्या० प्र०)  
३ सदवक्तव्यमेव वस्तु भवति किं कृत्वा आश्रित्य किं द्रव्यं किं विशिष्टं व्यस्तं सामान्यमित्यर्थः किं भूतं सत् विद्यमानं भूयः किं भूतमन्वयीति योज्यम् । (व्या० प्र०) ४ सांख्यमते एकान्ते न । (दि० प्र०) ५ व्यक्त्यपेक्षयेव सामान्या-  
पेक्षयापि । सर्वथा सामान्यपरहितं विशेषमभ्युपगम्येत्यर्थः । (दि० प्र०) ६ की द्रव्यपर्यायो किं विशिष्टौ समुदितौ परस्परतोत्यन्तभिन्नौ सामान्य विशेषावित्यर्थः । (दि० प्र०) ७ मिलितौ । (दि० प्र०)

[ अद्वैतवादी सत्सामान्यमेव मन्यते तस्य निराकरणं ]

तत्र वस्तु सत्सामान्यं कथं सदप्यवक्तव्यमिति चेत्तस्य<sup>१</sup> पराभ्युपगमात्<sup>२</sup> सतोपि वचना-  
नुपपत्तेः ।

न खलु<sup>३</sup> सर्वात्मना सामान्यं<sup>४</sup> वाक्यं, तत्प्रतिपत्तेरर्थक्रियां प्रत्यनुपयोगात्<sup>५</sup> । न हि  
गोत्वं<sup>६</sup> बाह्यदोहादावुपयुज्यते, स्वविषयज्ञानमात्रेपि<sup>७</sup> तस्याऽसामर्थ्यात्<sup>८</sup> । व्यक्तिसहितस्य  
सामान्यस्य तत्र सामर्थ्येपि न<sup>९</sup> प्रतिपन्नसकलव्यक्तिसहितस्य<sup>१०</sup> सामर्थ्यम्, असर्वज्ञस्य सकल-  
व्यक्तिप्रतिपत्तेः सकृदसंभवात् । अप्रतिपन्नाखिलव्यक्तिभिः सहितस्य सामर्थ्यं पुनरेकव्यक्ते-  
रप्यग्रहणे सामान्यज्ञानप्रसङ्गः । कतिपयव्यक्तिसहितस्य सामर्थ्यं तस्य ताभिरुपकारानुपकार-

[ अद्वैतवादी सत्सामान्यमात्र को मानते हैं उनका खण्डन ]

प्रश्न—इस अद्वैतपक्ष में वस्तु विशेषरहित सत्सामान्य है वह सत् होकर भी अवक्तव्य कैसे है ?

उत्तर—हम अद्वैतवादियों ने उसे इस तरह से ही स्वीकार किया है क्योंकि वह सत्—विद्यमान  
है, तो भी वचन से उसे कह नहीं सकते हैं ।

जैन—सामान्य यदि सामान्य की अपेक्षा के समान ही विशेष की अपेक्षा से भी सामान्यरूप ही  
है, तब तो वह सामान्य शब्द के द्वारा भी वाच्य नहीं है क्योंकि उस सामान्य का ज्ञान होने से अर्थक्रिया  
के प्रति कुछ भी उपयोग नहीं है । पुरुषलिंग अथवा स्त्रीलिंग की अपेक्षा से रहित मात्रसामान्य गोत्व  
भार ढोने अथवा दूध दुहने के उपयोग में नहीं आता है, क्योंकि अपने विषय का ज्ञानमात्र होने पर  
भी उस सामान्य में सामर्थ्य नहीं है और विशेषसहित सामान्य की उस स्वविषय के ज्ञानमात्र में  
सामर्थ्य के होने पर भी प्रतिपन्न सकलविशेषसहित सामान्य में सामर्थ्य नहीं है, क्योंकि जो असर्वज्ञ  
है, उसको युगपत् सम्पूर्ण विशेषों का ज्ञान होना असम्भव है और जिसने अखिल विशेषों को प्राप्त  
नहीं किया है, उनसे सहित सामान्य में स्वविषय के ज्ञान को उत्पन्न करने की सामर्थ्य के होने पर भी  
पुनः एक व्यक्ति (विशेष) के ग्रहण न करने पर सामान्य ज्ञान का प्रसंग आता है, क्योंकि अप्रतिपन्न-  
पना दोनों में समान ही है ।

एवं कतिपय व्यक्ति सहित में सामर्थ्य के होने पर उस सामान्य का उन विशेषों के द्वारा उपकार  
है या नहीं ? इस प्रकार के दो विकल्पों का उलंघन नहीं हो सकेगा अर्थात् दो विकल्प आ ही  
जावेंगे ।

१ सत्सामान्यस्य । (दि० प्र०) २ पराभ्युपगममात्रात् तु परमार्थतः । (दि० प्र०) ३ सर्वप्रकारेणापि । (दि० प्र०)  
४ सर्वप्रकारेण पृथग्रूपेण । यत् । सामान्य । शब्दात् । (दि० प्र०) ५ पर्यायाभयणात् । (दि० प्र०) ६ केवलं गोत्वं  
सामान्यम् । (दि० प्र०) ७ बाह्यदोहादावसमर्थनमपि सामान्यं स्वविषयज्ञानोत्पादने समर्थत्वात् कथमनुपयोगीत्युक्ते ।  
(दि० प्र०) ८ असः । (दि० प्र०) व्यक्तिः सहितं न च स्वविषयज्ञानोत्पादयति न तावदसहितं केवलस्य तस्यासामर्थ्यात्  
स्वतन्त्रत्वेनाप्रतीक्ष्यमानत्वात् । (व्या० प्र०) ९ स्वविषयज्ञानजनने । (दि० प्र०) १० सकलव्यक्तिसहितस्य कतिपय-  
व्यक्तिसहितस्य न तावत्सकलव्यक्तिभिः सहितस्य तासां प्रतीतिः पूर्वकत्वात् । ता ज्ञाता अज्ञाता वा न तावदज्ञाता ।  
(व्या० प्र०)

विकल्पद्वयानतिक्रमः । प्रथमविकल्पे सामान्यस्य व्यक्तिकार्यत्वप्रसङ्गः तदभिन्नस्योपकारस्य करणात् । ततो भिन्नस्य करणे व्यपदेशासिद्धिः । तत्कृतोपकारेणापि तस्योपकारान्तरकरणे-  
ऽनवस्थानम् । द्वितीयविकल्पे व्यक्ति-सहभाववैयर्थ्यम्<sup>१</sup>, अकिञ्चित्करसहकारिविरहात्<sup>२</sup> । सामान्येन<sup>३</sup> सहैकज्ञाने व्यापारादधिक्यतीनां तत्सहकारित्वेपि किमालम्बनभावेन तत्र तासां व्यापारोऽधिपतित्वेन वा ? प्राच्यकल्पनायामेकानेकाकारं<sup>४</sup> सामान्यविशेषज्ञानं<sup>५</sup> स्यान्न पुन-  
रेकसामान्यज्ञानं, स्वालम्बनानुरूपत्वात्सकलविज्ञानस्य । द्वितीयकल्पनायां<sup>६</sup> तु व्यक्तीनाम-  
नधिगमेपि<sup>७</sup> सामान्यज्ञानप्रसङ्गः<sup>८</sup> । न हि रूपज्ञाने चक्षुषोधिगतस्याधिपतित्वेन<sup>९</sup> व्यापारो-

यदि प्रथम विकल्प करें कि उस सामान्य का विशेषों के द्वारा उपकार किया जाता है, तब तो उसमें भी दो विकल्प किये जा सकेंगे कि वह उपकार सामान्य से अभिन्न है या भिन्न ?

यदि उस सामान्य का जो विशेषों के द्वारा उपकार है, वह उपकार उस सामान्य से अभिन्न है, तब तो उस सामान्य में व्यक्ति के कार्यत्व का प्रसंग प्राप्त हो जावेगा, क्योंकि उसने सामान्य से अभिन्न ही उपकार को किया है और यदि उस सामान्य से वह उपकार भिन्न है तब तो यह इसका उपकार है, यह व्यपदेश ही नहीं बन सकेगा ।

यदि आप सम्बन्ध की सिद्धि के लिये ऐसा कहें कि उसके द्वारा किये गये उपकार से भी उस सामान्य का उपकारांतर (दूसरा उपकार) किया जाता है, तब तो अनवस्था दोष आ जाता है । यदि दूसरा विकल्प लेवें कि उस सामान्य का विशेषों के द्वारा उपकार नहीं है, तब तो विशेष का सहभाव ही व्यर्थ हो जावेगा, क्योंकि जो अकिञ्चित्कर है, वह सहकारी नहीं हो सकता है ।

यदि आप कहें कि तत्सहकारीपना होने पर भी उन विशेषों का सामान्य के साथ एक ज्ञान में व्यापार है, तब तो यह बतलाइये कि उन विशेषों का वह व्यापार क्या आलम्बनभाव (विषयभाव) से है या आधिपत्य (अनधिगमरूप से व्यापार का होना आधिपत्य है) रूप से है ?

यदि प्रथम विकल्प स्वीकार करें तब तो एकानेकाकार रूप सामान्य विशेषज्ञान सिद्ध होगा, न कि पुनः एक सामान्यज्ञान क्योंकि सकल विज्ञान अपने आलम्बन-विषय के ही अनुरूप होते हैं अर्थात् उस ज्ञान में विषयभाव से सभी विशेष भी व्यापृत रहते हैं और यदि दूसरा विकल्प ग्रहण करते हैं तब तो विशेषों का अधिगम—ज्ञान न होने पर भी सामान्यज्ञान का प्रसंग प्राप्त हो जावेगा क्योंकि रूपज्ञान में अधिगत चक्षु का आधिपत्यरूप से व्यापार नहीं है अथवा अपूर्व अर्थात् अधिगत शुभाशुभ लक्षण

१ सामान्यस्य । (व्या० प्र०) २ किञ्चिदकुर्वन्तः सहकारित्वाभावात् । (व्या० प्र०) ३ व्यक्तयः सामान्येन मिलिता एकज्ञानमुत्पादयन्ति । (दि० प्र०) ४ चक्षुराद्युपादानत्वेन । आलम्बनम् । (दि० प्र०) ५ व्यक्त्यपेक्षया । (व्या० प्र०) ६ अधिपतित्व । (दि० प्र०) ७ व्यक्तिसामान्ययोर्व्यापाराविशेषात् । (व्या० प्र०) ८ अपरिज्ञाने । (दि० प्र०) ९ उत्पद्यताम् । (दि० प्र०)

स्त्यपूर्वस्य वा । सर्वथा नित्यस्य सामान्यस्य क्रमाक्रमाभ्यामर्थक्रियाविरोधाच्च न तस्य<sup>१</sup> कस्याञ्चिदर्थक्रियायामुपयोगो यतस्तत्प्रतिपादनाय शब्दप्रयोगः स्यात् । ततो<sup>२</sup> नार्थे कस्यचित्प्रवृत्तिरूपपद्येत ।

[ सामान्यं साक्षात् अर्थक्रियां न करोति तथैव परंपरयापि न करोति इति कथयन्ति जैनाचार्याः ]

लक्षितलक्षणाया<sup>३</sup> वृत्तिः कथंचिदतादात्म्ये न भवेत्, संबन्धान्तरासिद्धेः कार्मुकादियत्<sup>४</sup> । न हि यथा कार्मुकपुरुषयोः संयोगः संबन्धः सिद्धस्तथा सामान्यविशेषयोरपि । न च समवायः<sup>५</sup> पदार्थान्तरभूतः<sup>६</sup>, तत्प्रतीत्यभावात्<sup>७</sup> । प्रतीयमानस्तु<sup>८</sup> समवायः<sup>९</sup> कथंचित्तादात्म्यमेव, <sup>१०</sup>अविष्वग्भावलक्षणत्वात्तस्य । इति शब्देन लक्षितं सामान्यं विशेषान् लक्षयति । ततस्तत्रार्थक्रियार्थिनः

अदृष्ट का रूपज्ञान में आधिपत्यरूप से व्यापार नहीं है । अतएव सर्वथा नित्य रूप सामान्य में क्रम अथवा युगपत् से अर्थक्रिया का विरोध है एवं उसका किसी भी अर्थक्रिया में कुछ भी उपयोग नहीं है, जिससे कि उस सामान्य का प्रतिपादन करने के लिए शब्द प्रयोग हो सके अर्थात् नहीं हो सकता है ।

इसीलिये उस नित्य सामान्य से किसी भी अर्थ में किसी मनुष्य की भी प्रवृत्ति नहीं हो सकेगी, क्योंकि सामान्य और विशेष में आपने कोई संबंध ही नहीं माना है ।

[ अब आचार्य सामान्य का साक्षात् अर्थक्रिया में उपयोग नहीं है इसका कथन करके परम्परा से भी उपयोग का खण्डन करते हैं ]

परम्परा से लक्षित लक्षणा से कथंचित् अतादात्म्य में वृत्ति नहीं हो सकती है, क्योंकि आपके यहाँ संयोग एवं समवाय को छोड़कर अन्य कोई संबन्धान्तर कार्मुक आदि के समान सिद्ध नहीं है ।

जिस प्रकार से धनुष और पुरुष का संयोग संबन्ध सिद्ध है, उसी प्रकार से सामान्य और विशेष का भी संबन्ध सिद्ध नहीं है और पदार्थान्तर भूत-सामान्य विशेष से रहित समवाय भी सिद्ध नहीं है, क्योंकि उसकी प्रतीति का ही अभाव है ।

प्रतीति में आता हुआ जो समवाय है, वह तो “कथंचित् तादात्म्य” ही है, क्योंकि हमारे यहाँ तादात्म्य को अविष्वग्भाव (अपृथक्भाव) लक्षण वाला माना गया है । इस उपर्युक्त प्रकार से शब्द से लक्षित सामान्य विशेषों को भी लक्षित (ग्रहण) करता है ।

१ सामान्यस्य । (दि० प्र०) २ ततो नार्थे । इति पा० । (दि० प्र०, व्या० प्र०) अथवा ततः सामान्यात् पुरुषस्यार्थे स्वज्ञानोत्पादने कुतः प्रवृत्तिरूपपद्येत । अपितु न कुतोपि । तस्मात्सामान्यविशेषयोः कथञ्चिदर्थेन लक्षणावृत्तिर्भवेत् । (दि० प्र०) ३ तल्लक्षणावृत्तिः । इति पा० । (दि० प्र०) अर्थः प्रवृत्तिः कुतो नास्ति सश्रितलक्षणाया प्रवृत्तिः स्यादित्याह । सामान्याद्विशेषखण्डादि । (दि० प्र०) ४ धनुः । (दि० प्र०) ५ वैशेषिकमताभ्युपगतोभिरुपपदार्थः सोपि न = अन्यसम्बन्धस्य सिद्धिर्नास्ति । (दि० प्र०) ६ भिन्नः । (दि० प्र०) ७ पदार्थान्तर । समवायः । (दि० प्र०) ८ संबन्धसमवायः कश्चित्प्रतीयमानोस्त्येव । (व्या० प्र०) ९ संबन्धः । (व्या० प्र०) १० सामान्यविशेषयोर्मिलतत्वात् । अपृथक् = संयोगः समवायः विशेषणविशेष्यभावोऽविनाभावः सामान्यविशेषभाव इति पञ्चविधः संबन्धो ज्ञेयः । (दि० प्र०)

प्रवृत्तिरसंबन्धान्नोपपद्येत<sup>१</sup> संयोगसमवायव्यतिरेकस्य<sup>२</sup> संबन्धान्तरस्यासिद्धेः । विशेषणविशेष्य-  
भावः संबन्धान्तरमिति चेन्न<sup>३</sup>, तस्यापि स्वसंबन्धिव्यतिरेककान्ते<sup>४</sup> संबन्धान्तराभेक्षणस्यावश्यं-  
भावादनवस्थाप्रसङ्गात्, तस्य<sup>५</sup> कथञ्चित्स्वसंबन्धितादात्म्ये स्वसिद्धान्तविरोधात् । एतेनाविना-  
भावः संबन्धस्तयोः प्रत्युक्तः<sup>६</sup> । सामान्यविशेषयोः सामान्यविशेषभाव एव संबन्ध इत्यपि मिथ्या,  
कथञ्चिदतादात्म्ये तदनुपपत्तेः सह्यविन्ध्यवत् । तन्न नित्यसर्वगतामूर्तेकरूपं सामान्यं सर्वथा<sup>७</sup>  
व्यक्तिभ्यो भिन्नमन्यद्वा वाच्यम्<sup>८</sup>, अर्थक्रियायां साक्षात्परम्परया<sup>९</sup> वानुपयोगात्<sup>१०</sup> । तादृशो-

अर्थक्रिया के इच्छुक जन विशेष ज्ञान से उस सामान्य में संबंध के न होने से प्रवृत्ति नहीं कर सकते हैं, क्योंकि संयोग और समवाय को छोड़कर अन्य कोई संबंध आपके यहाँ सिद्ध ही नहीं है ।

• प्रश्न—हमारे यहाँ विशेषण-विशेष्य भावरूप (विशेष सामान्यवान् है) ऐसा भिन्न संबंध मौजूद है ।

उत्तर—नहीं, क्योंकि उस विशेषण-विशेष्यभाव संबंध को स्वीकार करने पर हम यह प्रश्न करेंगे कि वह संबंध सामान्य और विशेष से भिन्न है या अभिन्न ?

यदि आप उस संबंध को एकांत से अपने सम्बन्धी से भिन्न स्वीकार करेंगे तब तो उस सम्बन्ध का सम्बन्ध कराने के लिए एक संबन्धान्तर और कल्पित करना होगा, पुनः यदि वह भी उससे भिन्न रहा तो आगे-आगे सम्बन्धान्तर की कल्पना करते रहना अवश्यंभावी होने से अनवस्था दोष आ पड़ेगा ।

यदि आप कहें कि वह विशेषण-विशेष्यभाव सम्बन्ध अपने सम्बन्धी-सामान्य और विशेष से कथञ्चित् तादात्म्य (अभिन्न) रूप है तब तो आपका सिद्धान्त जो भेद पक्ष है उसमें विरोध आ जावेगा । इसी कथन से उन सामान्य और विशेष में “अविनाभाव संबंध है” इसका भी खण्डन कर दिया गया समझना चाहिये ।

प्रश्न—सामान्य और विशेष में सामान्य-विशेषभाव ही सम्बन्ध है ।

उत्तर—यह कथन भी मिथ्या है, क्योंकि कथञ्चित् अतादात्म्य-भेद में वह संबन्ध बन ही नहीं सकता है जैसे कि सह्य और विन्ध्य पर्वत का संबंध नहीं बनता है । इसलिये जो सामान्य है वह नित्य,

१ सम्बन्धाभावात् । (दि० प्र०) २ भिन्नस्य । (दि० प्र०) ३ यौगो वदति संयोगसमवायो मा भवतां विशेषणविशेष्य-  
भावः संबन्धोस्तीति चेन्न विशेषणविशेष्यभ्यां संबन्धिभ्यां संबन्धो भिन्नोभिन्नो वाऽभिन्नश्चेत्संबन्धत्वंगतं भिन्नश्चेत्सं-  
बन्धान्तराभेक्षणादनवस्था । (दि० प्र०) ४ सो भिन्नोभिन्नो वा न तावदभिन्नः सामान्यविशेषरूपतापत्तेः । (दि० प्र०) ५  
सम्बन्धसिद्धयर्थम् । (व्या० प्र०) ६ तस्यापि स्वसंबन्धिव्यतिरेककान्ते इत्यादिना । (दि० प्र०) ७ व्यक्त्यभावे सामा-  
न्याभावः । (व्या० प्र०) ८ निराकृतः । (दि० प्र०) ९ खण्डानुपेक्षयापि । (दि० प्र०) १० प्रागुक्तया लक्षितलक्षणया ।  
(दि० प्र०) ११ गोत्वादिशब्देन निश्चितं सामान्यं विशेषः न लक्षयति इति परम्परया । (दि० प्र०) १२ व्यक्ति-  
भ्योभिन्नमभिन्नं सत्सामान्यं वाच्यं न । (दि० प्र०)

नुपलम्भात्संकेतोपि न सिध्येत् । न चासंकेतितमपि सामान्यं वाच्यं नाम, अतिप्रसङ्गात् । सतापि<sup>१</sup> तादृशान्यव्यावृत्त्यात्मना<sup>२</sup> भवितव्यम्, अन्यथा विशेषवत्स्वभावहानिप्रसङ्गात्<sup>३</sup> विशेषाणां<sup>४</sup> वा तद्वत्ततो व्यावृत्तेः । परापरसामान्ययोः<sup>५</sup> परस्परं स्वाश्रयाच्च 'कथंचिदव्यावृत्ती'<sup>७</sup> स्वरूपसंकरात्प्रतिनियतस्वभावहानेरवश्यंभावाद्विशेषवत्<sup>८</sup> तद्वतोर्थस्याप्यभाव इति 'सर्वा-

सर्वगत, अमूर्त, एकरूप है एवं विशेषों से सर्वथा भिन्न है अथवा सर्वथा अभिन्न है इत्यादि रूप से आप नहीं कह सकते हैं क्योंकि वह सामान्य अर्थक्रिया में साक्षात् अथवा परम्परा से (शब्द के द्वारा जाति ग्रहण की जाती है, और जाति से व्यक्ति का ग्रहण होता है, पश्चात् अर्थक्रिया में प्रवृत्ति होती है) अनुपयोगी ही है ।

उस प्रकार अमूर्त, एकरूप सामान्य की उपलब्धि न होने से "यह सामान्य है" ऐसा नामरूप संकेत भी सिद्ध नहीं हो सकेगा । और असंकेतित अर्थात् शब्द के द्वारा अगृहीत भी सामान्य वाच्य नहीं हो सकेगा, अन्यथा अति प्रसंग हो जावेगा ।

एवं सत्—विद्यमान भी वैसे सामान्य अन्य व्यावृत्तिरूप (सामान्यांतर व्यावृत्तिरूप) होना चाहिये अन्यथा "जैसे विशेष में विशेषान्तर की व्यावृत्ति का अभाव होने पर उसके स्वभाव की हानि का प्रसंग प्राप्त होता है" तथैव विशेष के समान उस सामान्य के भी स्वभाव की हानि का प्रसंग हो जावेगा । अथवा जैसे सामान्य से सामान्यांतर की व्यावृत्ति के न होने पर उसके स्वभाव हानि का प्रसंग आता है, तथैव उस विशेष से विशेषान्तर की व्यावृत्ति के न होने पर उसके स्वभाव की हानि का प्रसंग हो जावेगा । अतएव जैसे उस विशेष की अन्य विशेषों से व्यावृत्ति है, वैसे ही सामान्य की भी सामान्यांतर से व्यावृत्ति स्वीकार करना चाहिये ।

पर और अपर सामान्य परस्पर में स्वाश्रयरूप हैं, अतः परसामान्य की अपरसामान्य से कथंचित् व्यावृत्ति नहीं है । ऐसा मानने पर तो स्वरूप संकर नाम का दोष आ जावेगा । तथा प्रतिनियत स्वभाव की हानि भी अवश्य हो जावेगी विशेष के समान । अर्थात् जैसे विशेष की विशेष से अव्यावृत्ति मानने पर उस विशेष के प्रतिनियत स्वभाव की हानि का प्रसंग होता है एवं स्वभाव की हानि होने से स्वभाववान् पदार्थ का भी अभाव हो जावेगा पुनः सर्वाभाव—सभी वस्तु के अभाव का ही प्रसंग प्राप्त हो जावेगा ।

१ संकेतसहितेनापि । (दि० प्र०) २ भिन्नात्मा । (दि० प्र०) ३ आशङ्क्य = अन्यथावृत्तिभावहानिर्यथा विशेषाणाम् । (दि० प्र०) ४ सामान्यस्य विशेषस्य च यथाक्रमं सामान्यतस्तद्विशेषान्तराच्च व्यावृत्त्यभावे स्वभावहानि प्रतिपाद्येदानीं विशेषाणां सामान्यात्सामान्यस्य च विशेषाद्व्यावृत्त्यभावे स्वभावहानिः प्रतिपादयन्ति विशेषाणाम् वेति । (दि० प्र०) ५ परस्परं सतापि तादृशान्यव्यावृत्त्यात्मना भवितव्यमिति भाष्यांशविवरणमिदम् । परसामान्यं महासत्ता अपरसामान्यं जीवादिद्वयविवरणं तयोः । (दि० प्र०) ६ परत्वापरत्वप्रकारेण सामान्यविशेषप्रकारेण वा । (व्या० प्र०) ७ अभिन्ने । (दि० प्र०) ८ सामान्यविशेषवत् । (व्या० प्र०) ९ हेतोः । (दि० प्र०)

भावः<sup>१</sup> प्रसज्येत । सामान्यवादिनां तदभ्युपगममात्रात्सदप्यवक्तव्यमेव<sup>२</sup> सामान्यम् ।

[ विशेषरूपमेकं सदवक्तव्यमेव तत्त्वमिति मन्यमानस्य बौद्धस्य निराकरणं ]

तथा स्वलक्षणैकान्तवादिनां<sup>३</sup> न स्वलक्षणं वाच्यं, तस्यानस्त्यात्संकेताविषयत्वादनन्वया-  
च्छब्दव्यवहारायोग्यत्वात् ।

[ स्वलक्षणं वाच्यं नास्ति किंतु सामान्यं तु वाच्यमेवेति मन्यमानस्य बौद्धस्य निराकरणं ]

न चान्यापोहः सर्वार्थः शब्दस्य<sup>४</sup> विकल्पस्य वा, स्वविषयविधिनिरपेक्षस्य<sup>५</sup> 'गुणभावे-  
नाप्यन्यापोहस्य'<sup>७</sup> शब्देन वक्तुमशक्तेर्विकल्पेन<sup>८</sup> च निश्चयनायोगात्<sup>९</sup> । साधनवचनमेव

अतएव सामान्यवादी-नैयायिक, वैशेषिक, सांख्य, भाट्ट, प्राभाकरों की मान्यता के अनुसार उनकी स्वीकृति मात्र से "सत् भी अवक्तव्य ही है" और वह सामान्य तत्त्वरूप है इसका प्रतिपादन करके दोष दिखाये गये हैं ।

[ विशेषरूप ही एक 'असत् अवक्तव्य' को मानने वाले बौद्धों का खण्डन ]

उसी प्रकार से स्वलक्षणैकान्तवादी बौद्धों का भी स्वलक्षण वाच्य नहीं है, क्योंकि वह अनंत है और अनंत भी क्यों है ? तो वह 'संकेत का विषय नहीं है । संकेत का विषय क्यों नहीं है ? तो वह अनन्वयरूप है । अनन्वयरूप क्यों है ? तो वह शब्द व्यवहार का अविषय है । ऐसे आगे-आगे के हेतुओं में पूर्व-पूर्व के हेतु कारण बन जाते हैं ।

[ स्वलक्षण वाच्य नहीं, किंतु सामान्य तो वाच्य है ऐसा बौद्ध के कहने पर ही आचार्य उत्तर देते हैं ]

शब्द का अथवा विकल्पज्ञान का अर्थ सर्वथा अन्यापोह मात्र नहीं है क्योंकि स्वविषय की विधि से निरपेक्ष अन्यापोह का गौरवरूप से भी शब्द के द्वारा कथन नहीं हो सकता है, न विकल्प ज्ञान के द्वारा ही उस अन्यापोह का निश्चय हो सकता है ।

भावार्थ—अन्यापोह का अर्थ है अन्य का अपोह—अभाव करके वस्तु को कहना यथा किसी ने गौः शब्द कहा तो उसका अर्थ यह हुआ कि "अगौः व्यावृत्तिः गौः" अर्थात् 'अगौः'—अश्व, भैंस आदि से व्यावृत्ति भिन्न अर्थ का बोध हुआ किंतु प्रतीति में तो ऐसा नहीं आता है कि सभी विशेषों को

१ सर्वाभावः प्रसज्यते इति साध्यं स्वरूपसंकरात् प्रतिनियतस्वभावहानेरवश्यं भावादिति । (दि० प्र०) २ सामान्य-  
वादीनामङ्गीकरणमात्रात्सामान्यं विद्यमानमप्यवाच्यम् । (दि० प्र०) ३ सौगतानाम् । (दि० प्र०) ४ परार्थानुमान-  
रूपस्य स्वाध्यानुमानज्ञानरूपस्य । (दि० प्र०) ५ अस्तित्व । (दि० प्र०) ६ यथा मुख्येन नास्ति तथा गुणभावेनापि ।  
(दि० प्र०) ७ नास्तित्वस्य । (दि० प्र०) ८ यत्सत्तत्सर्वं क्षणिकम् । (दि० प्र०) ९ अन्यापोहस्य ज्ञानेन निश्चेतुम-  
शक्यत्वात् । (दि० प्र०)

त्रिरूपलिङ्गप्रकाशक<sup>१</sup>, न ततोऽन्यद्वचनं, तस्य विवक्षामात्रेऽपि संभावनायां एवोपगमादिति चेन्न, 'तस्याप्यन्यापोहमात्रार्थत्वात् 'अपोहः शब्दलिङ्गाभ्यां न वस्तु विधिनोच्यते'<sup>२</sup> इति वचनात्, सत्यपि च साधनवचनेन<sup>३</sup> नित्यत्वसमारोपव्यवच्छेदे [वेऽपि] स्वलक्षणस्यानित्यत्वासिद्धौ साधनवचनानर्थक्यत्वात्<sup>४</sup> । न 'शब्दस्य परार्थानुमानरूपस्य विकल्पस्य वा स्वार्थानुमानज्ञानरूपस्य सर्वथान्यापोहोर्थः श्रेयान् । यत्सत्तत्सर्वमनित्यं नित्ये क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाविरोधा-

व्यावृत्त करके अर्थ का बोध होवे प्रत्युत् जो शब्द कहा जाता है, स्पष्टतया पहले उसी का विधिरूप से बोध होता है अन्य के निषेधरूप से नहीं ।

सौगत—साधनवचन ही त्रिरूप लिंग के प्रकाशक हैं, उससे भिन्न अन्य वचन नहीं अर्थात् "यत्सत्तत्सर्वं क्षणिकं, घटमानय" इत्यादि वचन नहीं ।

त्रिरूप लिंग से भिन्न नैयायिक के द्वारा स्वीकृत पंचरूप लिंग है, उस पंचरूप लिंग से व्यावृत्त होकर ही त्रिरूप लिंग शब्द अन्यापोहरूप से अपने अर्थ का प्रकाशक है । एवं उससे भिन्न अन्य वचन अन्यापोहरूप नहीं है ।

उस अन्य वचन की विवक्षा मात्र में भी सम्भावना ही स्वीकृत की गई है । इसीलिये सभी शब्द का अर्थ अन्यापोह नहीं है, यह सिद्ध साधन है, क्योंकि साधन वचन को ही हमने अन्यापोह का विषय माना है ।

जैन—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि वह भी अन्यापोह मात्र अर्थ को ही विषय करता है । कहा भी है "अपोहः शब्दलिङ्गाभ्यां न वस्तु विधिनोच्यते" अर्थात् शब्द और लिंग से अपोह-रहित वस्तु (स्वलक्षण) विधिरूप से नहीं कही जाती है ।

साधन वचन के द्वारा नित्यत्व के समारोप का व्यवच्छेद होने पर भी आपका स्वलक्षण अनित्य है, यह बात भी किसी प्रमाण से सिद्ध नहीं हो सकेगी, तब पुनः आपके साधन वचन ही अनर्थक हो जावेंगे । क्योंकि परार्थानुमानरूप शब्द का अथवा स्वार्थानुमानरूप विकल्प का सर्वथा अन्यापोहरूप ही अर्थ करना श्रेयस्कर नहीं है ।

सौगत—"जो सत् है, वह सभी अनित्य है" क्योंकि नित्य में क्रम से अथवा युगपत् अर्थक्रिया का विरोध है, इस प्रकार के साधन वचन से नित्यत्व में समारोप-संशय आदि का व्यवच्छेद—निराकरण होना ही स्वलक्षण के अनित्य की सिद्धि है । इसलिये वे साधन वचन व्यर्थ नहीं हैं ।

१ अन्यतत्सर्वमप्रकृत्या । (दि० प्र०) २ कल्पनायाः । (दि० प्र०) ३ साधनवचनस्यापि शब्दात् न केवलमन्यद्वचनस्य । अपोहः शब्दलिङ्गाभ्यामुच्यते न विधिना वस्तु ताभ्यामुच्यत इति भावः । (दि० प्र०) ४ तत्कथमुच्यत इति चेद्विधिना । शब्दलिङ्गाभ्यामपोह उच्यते न तु वस्तुच्यते । निविकल्पकदर्शनेन सन्मात्रग्राहकेण वस्तुसिद्धम् । (दि० प्र०) ५ कृत्वा । (दि० प्र०) ६ स्याद्वाची वदति, साधनवचनं वस्तुनो नित्यत्वं निराकरोति क्षणिकत्वं न साधयति अतः साधनवचनं निरर्थकं स्यात् । (दि० प्र०) ७ ततश्च । (व्या० प्र०)



दिति साधनवचनेन नित्यत्वसमारोपव्यवच्छेद<sup>१</sup> एव स्वलक्षणस्यानित्यत्वसिद्धिः<sup>२</sup> । अतो न तस्यानर्थक्यमिति चेत्कथमित्थं सर्वथान्यापोहोर्थः समर्थ्यते, स्वलक्षणक्षणक्षयस्य विधानात् ।

[ बौद्धेनान्यापोहोर्थः समर्थ्यते तस्य विचारः ]

दृश्यविकल्पयोः स्वलक्षणसामान्ययोरेकत्वाध्यवसायात्<sup>३</sup> तत्क्षणक्षयस्य विधिः, न पुनर्वस्तुनः सर्वथा विकल्पाभिधानयोर्वस्तुसंस्पर्शाभावादिति चेन्न, स्वलक्षणसामान्ययोरेकत्वाध्यवसायिना विकल्पेन स्वलक्षणस्याग्रहणात्, अगृहीतेन<sup>४</sup> सह सामान्यस्यैकत्वाध्यवसा<sup>५</sup> (या) संभवात्, अन्यथातिप्रसङ्गात् । प्रत्यक्षतः<sup>६</sup> प्रमितेन<sup>७</sup> स्वलक्षणेन तस्यैकत्वाध्यवसानमिति चेन्न-  
न्वेवं विकल्पाभिधानयोर्वस्तुसंस्पर्शाभावे<sup>८</sup> स्वलक्षणदर्शनस्याकृतनिर्णयस्य<sup>१०</sup> ११ वस्तुसन्निधेर-

जैन—तो फिर इस प्रकार से आप सर्वथा अन्यापोह अर्थ का समर्थन कैसे करते हैं ? क्योंकि स्वलक्षण का क्षण में क्षय होना भी तो शब्द के द्वारा ही कहा जाता है अर्थात् वह तो विधिरूप से हो शब्द का विषय है निषेधरूप अन्यापोह से नहीं ।

[ बौद्ध अन्यापोह अर्थ का समर्थन करते हैं उस पर विचार ]

सौगत—दृश्य और विकल्परूप स्वलक्षण और सामान्य में एकत्व का अध्यवसाय होने से उस क्षण क्षय की विधि होती है, न कि पुनः वस्तुभूत स्वलक्षणरूप की, अतः अन्यापोह अर्थ का ही समर्थन हो जाता है, क्योंकि सर्वथा विकल्पज्ञान और शब्द ये दोनों वस्तु का स्पर्श ही नहीं करते हैं ।

जैन—ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि स्वलक्षण और सामान्य में एकत्व का अध्यवसाय करने वाला विकल्पज्ञान स्वलक्षण को ग्रहण ही नहीं करता है, कारण अगृहीत (स्वलक्षण) के साथ सामान्य (विकल्प—अन्यापोह लक्षण) में एकत्व का अध्यवसाय ही असम्भव है । अर्थात् स्वलक्षण तो अगृहीत है और सामान्य गृहीत है पुनः उन दोनों में एकत्व का अध्यवसाय कैसे हो सकेगा ? अन्यथा अतिप्रसंग दोष भी आ जावेगा अर्थात् तीन प्रकार के विप्रकृष्ट और अविप्रकृष्ट में भी एकत्व का अध्यवसाय मानना पड़ेगा किन्तु ऐसा तो आप मानते नहीं हैं ।

सौगत—प्रत्यक्ष से जाने गये स्वलक्षण के द्वारा उस सामान्य—विकल्प में एकत्व का अध्यवसाय हो सकता है ।

जैन—तब तो इस प्रकार से विकल्प ज्ञान और शब्द में वस्तु के स्पर्श का अभाव होने पर नहीं किया है निर्णय जिसका, ऐसे स्वलक्षण दर्शन और वस्तु की सन्निधि में समानता के होने से किसके

१ वा विभक्ती । (दि० प्र०) २ साधनवचनस्य । (दि० प्र०) ३ दृश्य एव समनन्तरसमय एव विकल्पोत्पत्तिः सद्भावात् । (व्या० प्र०) ४ सविकल्पज्ञानशब्दयोः वस्तुसंस्पर्शानस्याभावोक्तिः । (दि० प्र०) ५ स्वलक्षणेन । (दि० प्र०) ६ सामान्यैकत्वाध्यवसानासंभवात् । इति पा० । (दि० प्र०, व्या० प्र०) ७ सौगतः । (दि० प्र०) ८ निविकल्पक-प्रत्यक्षविज्ञानेन । (व्या० प्र०) प्रत्यक्षप्रमाणान्निष्ठितेन । (दि० प्र०) ९ प्रत्यक्षस्य । (दि० प्र०) १० वस्तुनि । (दि० प्र०) ११ वस्तुना सह इन्द्रियस्य सन्निकर्षाभिर्विकल्पकप्रत्यक्षस्य न विशेष इति भावः । (व्या० प्र०)

विशेषात्किं<sup>१</sup> केन प्रमितं स्यात् ? न हि मिथ्याध्यवसायेन<sup>२</sup> तत्त्वव्यवस्थापनं, <sup>३</sup>संशय-  
विपर्ययकारिणापि दर्शनेन स्वलक्षणस्य प्रमितत्वप्रसङ्गात् । <sup>४</sup>वस्तुसंस्पर्शभावाविशेषेपि<sup>५</sup>  
निर्णयस्य जनकं दर्शनं स्वलक्षणस्य<sup>६</sup> प्रमाणं, न पुनः संशयादेरिति<sup>७</sup> वदन्नात्मनोनात्मज्ञता-  
भावेदयति । ननु<sup>८</sup> च निर्णयेन<sup>९</sup> दर्शनविषयसमारोपस्य व्यवच्छेदात्जनकं<sup>१०</sup> दर्शनं प्रमाणं<sup>११</sup>,  
न तु संशयादेर्जनकं, तेन तदव्यवच्छेदात्, असमारोपितांशे<sup>१२</sup> दर्शनस्य प्रामाण्यात् ।

‘व्यवच्छिद्वद्वेषेपि यज्ज्ञानं<sup>१३</sup> सामान्यार्थं विकल्पकम् । असमारोपिताभ्यांशे तन्मात्रापोहगोचरम् ॥’

द्वारा किसका ज्ञान हुआ कहा जावेगा ? क्योंकि मिथ्या अध्यवसाय से तत्त्व की व्यवस्था नहीं  
बलती है ।

अन्यथा संशय और विपर्यय को करने वाले भी निर्विकल्प प्रत्यक्षरूप दर्शन के द्वारा स्वलक्षण के  
ज्ञान का प्रसंग हो जावेगा । तथा स्वलक्षण दर्शन और मिथ्या अध्यवसाय इन दोनों में वस्तु के संस्पर्श  
का अभाव समान होने पर भी स्वलक्षण और विकल्प का जनक दर्शन तो प्रमाण है, किन्तु संशयादि  
का जनक दर्शन प्रमाण नहीं है इस प्रकार से कहते हुये आप बौद्ध अपनी अनात्मज्ञता को ही प्रगट  
कर रहे हैं ।

सौगत—निर्णय-विकल्प से दर्शन विषयक (स्वलक्षणविषयक) समारोप का व्यवच्छेद हो जाता  
है अतएव उस विकल्प को उत्पन्न करने वाला ज्ञान प्रमाण है, किन्तु संशय आदि का जनक दर्शन  
प्रमाण नहीं है क्योंकि उन संशय आदि के द्वारा दर्शन विषयक समारोप का निराकरण नहीं हो सकता  
है । एवं असमारोपितांश (जिसमें समारोप का अंश नहीं है ऐसे नील स्वलक्षण) में दर्शन की  
प्रमाणता है ।

श्लोकार्थ—किसी दर्शन के विषय में भी सामान्य है अर्थ जिसका, ऐसा ज्ञान विकल्पक है और  
असमारोपित अन्यांश में तन्मात्र अपोह के गोचर है अर्थात् अक्षणिक से व्यावृत्त क्षणिकरूप है ।  
ऐसा कथन हमारे यहाँ पाया जाता है, अतएव उपर्युक्त उलाहना उचित नहीं है ।

१ सन्निकर्षः । (दि० प्र०) । अध्यवसायं वदति सौगतः । (व्या० प्र०) २ विकल्पः = वसः । (दि० प्र०) ३ अन्यथा ।  
(दि० प्र०) ४ मिथ्याध्यवसायत्वेन वस्तुव्यवस्थापकत्वाभावे । (व्या० प्र०) ५ विकल्पसंशयदर्शनयोः । (दि० प्र०)  
६ स्वलक्षणस्य यद्दर्शनं तद्विकल्पस्य । (दि० प्र०) ७ जनकं दर्शनं प्रमाणम् । (दि० प्र०) ८ भो बौद्ध ! तवाभिप्राय  
एवं खलु । (व्या० प्र०) ९ सौगती वदति, विकल्पज्ञानेन निर्विकल्पकदर्शनविषये यः संशयविपर्ययादिलक्षणः समा-  
रोपः सः व्यवच्छिद्यते अतः निर्णयजनकं प्रमाणं संशयविपर्ययजनकं दर्शनं प्रमाणं न = तेन संशयादिना तस्य-  
दर्शनविषयसमारोपस्याविनाशनात् समारोपरहितांशे दर्शनस्य प्रामाण्यं घटते । कारिकाार्थः = यत्सर्वविकल्पकं ज्ञानं  
निश्चितेऽप्यंशे नीलादिरूपे सामर्थ्यमन्यापोहं प्रकाशयति तत् अपोह गोचरमत्रानिश्चितेऽन्यांशे क्षणक्षये रूपेऽर्थे प्रमाणं  
नास्ति । (दि० प्र०) १० संशयेन समारोपस्याव्यवच्छेदात् । (दि० प्र०) ११ समारोपव्यवच्छेदकनिर्णयजनकदर्शन-  
विषय इत्यर्थः । (दि० प्र०) १२ नीलरूपे । (दि० प्र०) १३ कर्तुं । (व्या० प्र०)

इति वचनान्नोक्तोपालम्भ<sup>१</sup> इति चेन्न, समारोपव्यवच्छेदविकल्पस्य<sup>२</sup> स्वसंवेदनव्यवस्थानेपि<sup>३</sup> विकल्पान्तरापेक्षत्वप्रसङ्गानीलादिस्वलक्षणदर्शनवन्निर्विकल्पकत्वाविशेषात् ।<sup>४</sup> वस्तुदर्शनसमारोपव्यवच्छेदयोरन्यतरस्यापि<sup>५</sup> स्वतस्तत्त्वापरिनिष्ठितावितरेतराश्रयदोषः<sup>६</sup> । समारोपो हि येन व्यवच्छिद्यते स निश्चयः । स्वरूपमनिश्चिन्वन्नपि यदि स्वतः परिनिष्ठापयेत्तदा वस्तुदर्शनमपि, विशेषाभावात्<sup>७</sup> । तथा<sup>८</sup> च किं निश्चयापेक्षया ? वस्तुदर्शनस्य निश्चयापेक्षायां वा निश्चयस्वरूपसंवेदनस्यापि निश्चयान्तरापेक्षणादनवस्था स्यात् ।<sup>९</sup> निश्चयाद्वस्तु-

जन—ऐसा नहीं कह सकते, समारोप के व्यवच्छेदक विकल्प में स्वसंवेदन का अवस्थान होने पर भी विकल्पांतर की अपेक्षा का प्रसंग आता है, क्योंकि नीलादि स्वलक्षण दर्शन के समान निर्विकल्पत्व दोनों में समान है। अर्थात् जंसे नीलादि स्वलक्षण दर्शन के स्वस्वरूप का व्यवस्थापन करने के लिये विकल्पांतर होना चाहिये, वंसे ही समारोप व्यवच्छेद विकल्प के भी स्वस्वरूप का व्यवस्थापन करने के लिये अन्य विकल्पांतर होना चाहिये, इस तरह अनवस्था आती ही जावेगी।

वस्तु दर्शन-नीलादि क्षण का प्रत्यक्ष और समारोप-अक्षयिक का व्यवच्छेद इन दोनों में से किसी एक की भा स्वतस्तत्त्व में परिसमाप्ति न होने पर इतरेतराश्रय दोष आ जाता है। जिसके द्वारा क्षणिक में नित्य का समारोप दूर किया जाता है वह निश्चय अर्थात् विकल्प है।

यदि वह विकल्प स्वरूप का निश्चय न करते हुए भी स्वतः स्वस्वरूप का परिनिष्ठापन कर देवे तब तो वस्तु दर्शन (नीलादि क्षण का प्रत्यक्ष) भी स्वतः स्वस्वरूप का परिनिष्ठापन कर देवे, क्योंकि दोनों में कोई अन्तर नहीं है और फिर वस्तु दर्शन में विकल्प की अपेक्षा से भी क्या प्रयोजन है ? अर्थात् कुछ भी नहीं। अथवा यदि आप कहें कि वह वस्तु दर्शन (नीलादि क्षण का प्रत्यक्ष) विकल्प की अपेक्षा करता है तब तो विकल्प के स्वरूप-संवेदन में भी विकल्पांतर की अपेक्षा बनी रहने से अनवस्था दोष आ जावेगा।

विकल्प से वस्तु दर्शन की परिसमाप्ति होती है, तथा वस्तु दर्शन से निश्चय (विकल्प) के स्वरूप की समाप्ति होती है, तब तो परस्पराश्रय दोष आता है। इसलिये विकल्प के समान शब्द का सर्वथा अन्यायोह ही अर्थ नहीं है। इसी उपर्युक्त कथन से बौद्ध के इस कथन का भी खण्डन किया गया समझना चाहिये जो कि इस प्रकार है—

अतत्कार्यकारण की व्यावृत्ति एक ही प्रत्यक्षमर्णादि ज्ञान से एक अर्थ के साधन में हेतु है,

- १ ततश्च । (व्या० प्र०) २ कर्मधारय । (व्या० प्र०) ३ विकल्पस्य यत् संवेदनं तस्य व्यवस्थाने । (व्या० प्र०)  
 ४ दर्शनस्य विकल्पकप्रत्यक्षस्य । (व्या० प्र०) ५ विकल्पः । कः । (व्या० प्र०) ६ एकस्य । (दि० प्र०) ७ स्वरूपम् । (दि० प्र०) ८ निर्विकल्पकत्वस्य । (दि० प्र०) ९ वस्तुदर्शनस्य स्वतः स्वरूपपरिनिष्ठापने च । (दि० प्र०)  
 १० विकल्पज्ञानात् । (दि० प्र०)

दर्शनस्य परिनिष्ठिती<sup>1</sup> वस्तुदर्शनाच्च निश्चयस्वरूपस्य परस्परश्रयदोषः स्यात् । ततो<sup>2</sup> न विकल्पवच्छब्दस्य सर्वथान्यापोहोर्थः ।<sup>3</sup> एतेनातत्कार्यकारणव्यावृत्तिरेकप्रत्यवमर्शादिज्ञानादे-  
कार्यसाधने<sup>4</sup> हेतुरत्यन्तभेदेपीन्द्रियादिवत्समुदितेतरगुडूच्यादिवच्च<sup>5</sup> ज्वरोपशमनादाविति वद-  
भिराकृतः, सर्वथा ततो वस्तुनि प्रवृत्त्ययोगात्<sup>6</sup> । समयादर्शिनोपि<sup>7</sup> क्वचिदन्वयबुद्धयभिधान-  
व्यवहारोऽतत्कार्यकारणव्यतिरेकव्यवस्थायां गुडूच्याद्युदाहरणप्रवृत्ति<sup>8</sup> विपर्यस्यति<sup>9</sup>, तस्य  
वस्तुभूतार्थसादृश्यपरिणामसाधनत्वात्<sup>10</sup> । न हि गुडूच्यादयो ज्वरोपशमनशक्तिसमानपरिणामा-  
भावे ज्वरोपशमहेतवो न पुनर्दधिन्नपुषादयोपीति शक्यव्यवस्थं, चक्षुरादयो वा रूपज्ञानहेतवस्त-  
ज्जननशक्तिसमानपरिणामविरहिणोपि न पुना रसादय इति निनिबन्धना<sup>11</sup> व्यवस्थितिः ।  
<sup>12</sup>अतत्कार्यकारणव्यावृत्तिनिबन्धना सेति<sup>13</sup> चेत्कथं<sup>14</sup> तत्कारणकार्यजन्यजनकशक्तिसमानपरिणा-

अत्यन्त भेद होने पर भी इन्द्रियादि के समान । एवं ज्वरादि का उपशमन करने में समुदित गुण्ठी  
आदि, गुडूची आदि के समान । अर्थात् खण्डो-मुण्डी आदि विशेष समान परिणाम से रहित ही एक  
प्रत्यवमर्श ज्ञान एकार्थ हेतुक होते हैं, क्योंकि वे अतत्कार्यकारण से व्यावृत्त हैं । जैसे इन्द्रियादि, अथवा  
समुदित गुण्ठी गुह्य आदि औषधियाँ । ऐसा कहने वाले बौद्ध का भी खण्डन कर दिया गया है, क्योंकि  
सर्वथा अतत्कार्यकारण व्यावृत्ति से वस्तु में प्रवृत्ति नहीं हो सकती है ।

तथा अतत्कार्यकारण व्यावृत्ति में समयादर्शो (संकेत को नहीं जानने वाले) भी किसी वस्तु में  
अन्वय बुद्धि और शब्द व्यवहार करते हैं तो अतत्कार्यकारण व्यावृत्ति की व्यवस्था में गुडूच्यादि  
उदाहरण की प्रवृत्ति को विपरीत करते हैं क्योंकि वे गुडूच्यादि उदाहरण वस्तुभूत पदार्थ के सादृश्य  
परिणाम के साधक हैं । एवं गुडूच्यादि, ज्वरोपशमन शक्तिरूप समान परिणाम के अभाव में भी ज्व-  
रोपशमन के हेतु हैं, पुनः दधि, त्रपुष—खीरा, ककड़ी आदि हेतु नहीं हैं ऐसी व्यवस्था करना भी शक्य  
नहीं है । अथवा चक्षु आदि तज्जनन शक्तिरूप समान परिणाम से रहित होते हुये भी रूप ज्ञान में हेतु  
हैं किन्तु रसादिक नहीं हैं, यह सब कथन बिना हेतुक ही है ।

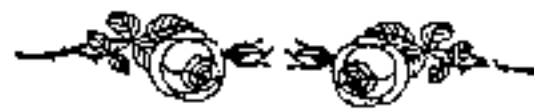
यदि आप कहें कि इस व्यवस्था में अतत्कार्यकारण व्यावृत्ति ही हेतु है तब तो तत्कार्यकारण  
में जन्य-जनक शक्तिरूप समान परिणाम के अभाव के होने पर भी किन्हीं को अतत्कार्यकारण

। गोव्यक्तयोऽत्यन्तभेदेप्येकप्रत्यवमर्शादिकार्यसाधने हेतव एकप्रत्यवमर्शादिना सह अतत्कारणकार्यव्यावृत्तिसद्भावात् ।  
यत्रैवं तत्र तत्त्वात्वं यथा समुदितेतरगुड इत्यादौ । (दि० प्र०) 2 तस्माद्यथाविकल्पस्यार्थः सर्वथान्यापोहः अभावो न  
तथा सन् अस्यार्थोऽन्यापोहेन । एतावता विकल्पशब्दो भावाभावात्मको जातो । (दि० प्र०) 3 शब्दविकल्पयोः सर्व-  
थान्यापोहनिषेधद्वारेण । (दि० प्र०) 4 चक्षुरालोकदेशकालाः । (दि० प्र०) 5 समुदितानि चेतरेतराणि च समु-  
दितरेतराणि । (दि० प्र०) 6 अशास्त्रज्ञस्यापि = आगमाज्ञानिनो मुग्धस्य । (दि० प्र०) 7 तु । (दि० प्र०) 8 रचनाम् ।  
(दि० प्र०) 9 विपरीतां करोति । (दि० प्र०) 10 साधकः । (दि० प्र०) 11 सौगतः । निष्कारणकः । (दि० प्र०)  
12 सौगतः । (दि० प्र०) 13 व्यवस्थितिः । (दि० प्र०) 14 गुडूच्यादि । (न्या० प्र०)

माभावेपि <sup>१</sup>केषांचिदतत्कारणकार्यव्यावृत्तिः<sup>२</sup> सिध्येदिति प्रकृतमुदाहरणं<sup>३</sup> <sup>४</sup>कर्कादिव्यवृत्तीनाम्<sup>५</sup> श्वत्वादिप्रत्ययं<sup>६</sup> तथा<sup>७</sup> समानपरिणामहेतुकं साधयति ? <sup>८</sup>इति विपर्ययसाधनमन्यापोहवादिनाम्<sup>९</sup> । <sup>१०</sup>ततोमीषामन्यापोहसामान्यमसदवक्तव्यमेव<sup>११</sup> । एतेन स्वलक्षणान्यापोहद्वयं सदसदवक्तव्यमेव सौगतानामापादितमुन्नेयं, स्वलक्षणस्य सतोप्यन्यापोहस्य चासतोपि<sup>१२</sup> वक्तुमशक्यत्वात् । इति परमतापेक्षया चरमभङ्गत्रयमुदाहृतम् ।

व्यावृत्ति कैसे सिद्ध होगी जिससे कि यह प्रकृत उदाहरण कर्क (श्वेत घोड़ा) आदि विशेषों में अश्वत्व आदि प्रत्यय को समान परिणाम हेतुक सिद्ध कर सक ? इस प्रकार अन्यापोहवादियों के यहाँ सभी विपरीत ही सिद्ध होता है । इसलिये उनके यहाँ अन्यापोह सामान्य "असत् अवक्तव्य ही है ।" इसी कथन से स्वलक्षण और अन्यापोह ये दोनों "सत् असत् अवक्तव्य ही है" ऐसा बौद्धों का कथन समझना चाहिये क्योंकि स्वलक्षणरूप सत् का भी और अन्यापोहरूप असत् का भी कहना शक्य नहीं है । बौद्ध ऐसा एकान्त से मानता है अतः यह मान्यता गलत ही है ।

इस प्रकार से परमत की अपेक्षा से अस्तिम तीन अंगों का स्पष्टीकरण किया गया है ।



१ गुडूच्यादीनाम् । (व्या० प्र०) २ दधित्रपुषदि । (व्या० प्र०) ३ कर्तृ । (व्या० प्र०) ४ ता गुडूच्यादीनाम् । (दि० प्र०) ५ श्वेताश्वादि विशेषाणाम् । (दि० प्र०) ६ ज्ञानम् । (दि० प्र०) ७ श्वेताश्वः कर्कः सितः कर्क इत्यमरः । (दि० प्र०) ८ गुडूच्याद्युदाहरणप्रकारेण । (व्या० प्र०) ९ हेतोः । (दि० प्र०) १० अतन् कार्यकारणव्यावृत्तत्वात् । (दि० प्र०) ११ सौगतानाम् । (दि० प्र०) १२ असदित्यवक्तव्यम् । (व्या० प्र०) १३ वा । इति पा० । (दि० प्र०)

## अनेकांतसिद्धि का सारांश

हे भगवन् ! आपके शासन में कथंचित् सभी वस्तु सत् असत् आदि सप्त भंगरूप हैं । यथा “प्रश्नवशादेकत्र वस्तुन्यविरोधेन विधिप्रतिषेधकल्पना सप्तभंगी” उसी सप्तभंग को द्रव्य में घटित करते हैं—

स्यादस्ति द्रव्यं, स्यान्नास्ति द्रव्यं, स्यादस्ति च नास्ति च द्रव्यं, स्यादवक्तव्यं द्रव्यं, स्यादस्ति चावक्तव्यं च द्रव्यं, स्यान्नास्ति चावक्तव्यं च द्रव्यं, स्यादस्ति च नास्ति चावक्तव्यं च द्रव्यं । यहाँ पर सर्वथा अस्तित्व का निषेधक और अनेकांत का द्योतक कथंचित् इस अपरनाम वाला स्यात् शब्द निपात है । इनमें स्वद्रव्यादि चतुष्टय की अपेक्षा द्रव्य अस्तिरूप है । परद्रव्य क्षेत्र काल भाव की अपेक्षा द्रव्य नास्तिरूप है । क्रम से स्वपर द्रव्यादि की अपेक्षा तृतीय भंगरूप है । युगपत् स्वपर द्रव्यादि की अपेक्षा अवक्तव्यरूप है ।

स्वचतुष्टय तथा युगपत् स्वपर चतुष्टय से विवक्षित पाँचवाँ भंग है । तथा परचतुष्टय एवं स्वपर की युगपत् विवक्षा से छठा भंग है । स्वपर चतुष्टय को क्रम और युगपत् विवक्षा से सातवाँ भंग होता है । यह कथन बिल्कुल ठीक है क्योंकि सभी वस्तु स्वरूप से अशून्य, पररूप से शून्य, उभयरूप से अशून्य शून्य इत्यादि सात भंगरूप हैं । यदि कोई कहे कि विधि कल्पना ही वास्तविक है, सो ठीक नहीं है क्योंकि हमने भावैकांत का निषेध करके प्रतिषेध को भी सत्य सिद्ध किया है । यदि बौद्ध कहे कि प्रतिषेध कल्पना ही ठीक है, यह कथन भी गलत है । हमने अभावैकांत का भी खण्डन कर दिया है ।

यौग—सत् अर्थ के प्रतिपादक विधिवाक्य, असत् अर्थ के प्रतिपादक प्रतिषेध वाक्य हैं, जो कि परस्पर निरपेक्ष है । “सद्सदवगस्तिस्त्वं” द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय, ये सत् रूप हैं । निरपेक्ष अभाव पदार्थ असत् रूप हैं ।

जैन—यह भी कहना ठीक नहीं है, प्रधानभाव से विवक्षित सदसदात्मक वस्तु प्रधानभूत एक एक धर्मात्मक अर्थ से अर्थातिरूप सिद्ध है अतः भावाभाव परस्पर निरपेक्ष असत् ही है । उसी विधि प्रतिषेध का स्पष्टीकरण—१. विधिकल्पना, २. प्रतिषेधकल्पना, ३. क्रमतो विधि प्रतिषेधकल्पना, ४. सह विधिप्रतिषेधकल्पना च, ५. विधिकल्पना सह विधिप्रतिषेधकल्पना च, ६. प्रतिषेधकल्पना सह विधिप्रतिषेधकल्पना च, ७. क्रमाक्रमाभ्यां विधिप्रतिषेधकल्पना च ।

शंका—एक ही वस्तु में प्रत्यक्षादि से विरुद्ध भी विधि प्रतिषेधकल्पना सप्तभंगी बन जायेगी ।

समाधान—नहीं, क्योंकि सूत्र में “अविरोधेन” यह पद दिया गया है । यदि कहा कि—नाना वस्तु के आश्रय से विधि प्रतिषेध कल्पना भी सप्तभंगी होगी, सो भी ठीक नहीं, “एकत्रवस्तुनि” पाठ है । इस पर यदि कोई तटस्थ जैन यों कहे कि—एक भी जीवादि वस्तु में विधियोग्य और निषेध योग्य अनंत धर्म पाये जाते हैं । उन अनंत धर्मों की कल्पना भी “अनंतभंगी” बन जायेगी तब सप्तभंगी ही कैसे होगी ?

किन्तु ऐसा नहीं है वस्तु के अनंत धर्मों में धर्म धर्म के प्रति सप्तभंगी घटित होती है। अनंत-भंगी न होकर अनंत सप्तभंगी हो जाती है। सो हमें इष्ट ही है। वस्तु में एकत्व अनेकत्व की कल्पना से सप्त ही भंग होते हैं क्योंकि शिष्यों के द्वारा उतने ही प्रश्न होते हैं क्योंकि “प्रश्नवशादेव” ऐसा वचन है। सात ही प्रश्न क्यों ? तो सात प्रकार की ही जिज्ञासा होती है। जिज्ञासा भी सप्तधा ही क्यों ? तो सात प्रकार का ही संशय होता है। ऐसा क्यों ? तो उस संशय के विषयभूत वस्तु धर्म सात प्रकार के ही हैं। यह सप्तविधा व्यवहार निविषयक नहीं है क्योंकि वस्तु की प्रतिपत्ति—ज्ञान उसमें प्रवृत्ति और उसकी प्राप्ति का निश्चय देखा जाता है।

प्रथम भंग में—सत्त्वधर्म प्रधानभाव से प्रतीत है। द्वितीय में—असत्त्व धर्म प्रधान है। तृतीय में—क्रम से सत्त्वासत्त्व धर्म प्रधान है। चतुर्थ में—अवक्तव्य प्रधान है। पांचवें में—सत्त्व सहित अवक्तव्य, एवं छठे में—असत्त्व सहित अवक्तव्य प्रधान है तथा सातवें में—सत्त्वासत्त्वरूप उभय धर्म सहित अवक्तव्य प्रधान है। अर्थात् प्रथम भंग में असत्त्वादि शेष ६ भंग गौणरूप से हैं ऐसे सभी में एक भंग प्रधान होकर बाकी सब गौण हो जाते हैं।

यदि कोई कहे कि अवक्तव्य को पृथक् धर्म सिद्ध करने पर वक्तव्य भी एक पृथक् धर्म मानना होगा तो आठवां भंग बनेगा ? यह शंका भी निर्मूल है क्योंकि सत्त्व आदि के द्वारा वक्तव्य कार्य ही तो कहे गये हैं अतः आठवां भंग नहीं बनेगा। अथवा वक्तव्य और अवक्तव्यरूप दो धर्म सिद्ध होने से विधि-प्रतिषेध कल्पना के विषयभूत सत्त्व असत्त्व धर्म के समान ही एक भिन्नरूप सप्तभंगी इनकी भी सिद्ध हो जायेगी।

अतएव भट्टाकलंक देव ने सप्तभंगी वाणी को ‘स्याद्वादामृतगभिणी’ कहा है। यदि गुरु स्याद्वादकुशल हैं तो स्यात्-कथंचित् शब्द के प्रयोग बिना भी सभी वस्तु को अनेकांतात्मक सिद्ध कर देते हैं जैसे “सर्वं सत्” इतने वाक्य से भी “स्यात्सर्वं सदेव” इत्यादि पूर्ण वाक्य का सम्यक्प्रकार से ज्ञान करा देते हैं।

छहों द्रव्य शुद्ध संग्रहनय की अपेक्षा सन्मात्र होने से सत्त्वरूप हैं। कतिचित् भावों की अपेक्षा से असत्त्वरूप हैं क्योंकि “सत्ता सप्रतिपक्षा” ऐसा कहा है।

सकल क्षेत्र आकाश एवं अनादि अनन्त स्वरूप काल में भी सकल क्षेत्र एवं सकल कालादिरूप से तथैव प्रतिनियत क्षेत्र कालादिरूप से स्वपर स्वरूप निश्चित हो जाता है।

यदि कोई कहे कि वस्तु का सत्त्व ही तो पर के असत्त्वरूप है अतः स्वपर की अपेक्षा से दो भेद सिद्ध नहीं होते हैं क्योंकि दो में से किसी एक के द्वारा ही अर्थ बोध हो जाता है। यह कथन भी ठीक नहीं है, यदि जो वस्तु का अपना सत्त्व है वही पर का असत्त्व है, तब तो स्वरूपादि चतुष्टय की अपेक्षा के समान ही पररूपादि चतुष्टय की अपेक्षा से अस्तित्व मानना होगा। अथवा परचतुष्टय की अपेक्षा से नास्तित्व के समान ही स्वरूपादि से भी असत्त्व का प्रसंग आ जायेगा। किन्तु अपेक्षा के भेद से सभी धर्मों की प्रतीति विरुद्ध नहीं है।

शंका—एक ही वस्तु में विरुद्ध दो धर्म शीत-स्पर्शवत् सम्भव नहीं हैं ?

**समाधान**—ऐसा नहीं है, स्वपर से विवक्षित धर्मों में विरोध नहीं आता है। जिस समय वस्तु स्वरूपादि से सत् रूप है उसी समय ही पररूप से असत् रूप है। तथैव यदि स्वक्षेत्र के समान ही परक्षेत्र से भी सत्त्व मानों तब तो किसी के प्रतिनियत क्षेत्र की व्यवस्था नहीं बन सकेगी। परक्षेत्र की अपेक्षा से असत्त्व के समान ही स्वक्षेत्र से भी असत्त्व मानों तो वस्तु निःक्षेत्र हो जायेगी। काल में भी ऐसे ही घटा लेना।

**प्रश्न**—सभी वस्तु अवक्तव्य कैसे हैं ?

**उत्तर**—निष्पर्याय भाव और अभाव को कोई भी शब्द एक काल में ही विषय नहीं कर सकता है अर्थात् सत् यह शब्द असत् को नहीं कह सकता है। शब्द में एक ही अर्थ को कहने की शक्ति स्वभावतः है। यदि कहो कि एक गो शब्द ग्यारह अर्थ को कहता है “किन्तु” ऐसा नहीं है वास्तव में वे गो शब्द अनेक हैं। इनमें जो एकत्व का प्रतिभास है या एक रूप से व्यवहार है वह सादृश्य के उपचार से ही हुआ है। यदि ऐसा न माना जावे तो एक शब्द से ही समस्त पदार्थ वाच्य हो जायेंगे। पुनः घट-घट दीपक आदि अनेक पदार्थों को कहने के लिये अनेक शब्दों का प्रयोग निष्फल ही हो जायेगा। अतएव जितने अर्थ हैं उनके प्रतिपादक शब्द उतने ही हैं। अनेकान्त वाचक “स्यात्” इस शब्द की अनेकांत मात्र को कहने में ही सामर्थ्य विशेष है, एकांतवचन को कहने में नहीं है। उसी अनेकान्त द्योतक रूप “स्यात्” शब्द की अविवक्षित अशेष धर्मों को सूचित करने में शक्ति है, किन्तु अर्थ को सूचन करने में नहीं है। अन्यथा विवक्षित धर्म के वाचक शब्दों का प्रयोग व्यर्थ हो जायेगा। अर्थात् “स्यात्” शब्द के वाचक और द्योतक पक्ष की अपेक्षा से दो भेद हैं। तथैव सेना, वन आदि शब्द एक आदि अनेक अर्थ को नहीं कहते हैं किन्तु सेना शब्द के द्वारा तो “हाथी, घोड़े, रथ, पदाति का समूहरूप” एक विशेष अर्थ ही कहा जाता है। उसी प्रकार गूथ, पंक्ति, माला आदि भी अनेकार्थ प्रतिपादक नहीं हैं।

हमारे यहाँ पूज्यपाद स्वामी जैनैश्वर्याकरण में शब्द में स्वाभाविक ही वैसी द्विवचन, बहुवचनरूप शक्ति मानते हैं, प्रत्यय के द्वारा व्यक्त मानते हैं। पाणिनी आदि एकशेष समास मानते हैं अर्थात् वृक्षश्च वृक्षश्च वृक्षां कहते हैं। हमारे यहाँ वृक्ष शब्द स्वभाव से ही (द्रव्य की अपेक्षा से) अपने वाच्य अर्थ को द्विवचनरूप, बहुवचनरूप से विशिष्ट कहता है, क्योंकि उसमें एकत्व, द्वित्व, बहुत्व से विशिष्ट कथन करने की सामर्थ्य मौजूद है। उक्तं च—“अनेकमेकं च पदस्य वाच्यं, वृक्षा इति प्रत्ययवत् प्रकृत्या।”

यदि कहो कि यह आपका सिद्धान्त परस्पर विरुद्ध हो गया, इस पर हम पूछते हैं कि एक पद का वाच्य जो एक और अनेक है वह युगपत् प्रधानभाव से है, अथवा गौण एवं प्रधानभाव से है ? प्रथम पक्ष तो ठीक नहीं है, क्योंकि वृक्ष शब्द सामान्य वृक्षत्व को प्रकाशित करके लिंग, वचन, संख्या को प्रकाशित करता है इस तरह शब्द से हुई प्रतीति क्रम से है। हम द्वितीय पक्ष मानते हैं। क्योंकि “वृक्षा” इस पद के द्वारा वृक्ष अर्थ तो प्रधान है एवं बहुवचनरूप संख्या गौण रूप से प्रतीति में आती है। प्रधान गौण भाव से हमारे यहाँ वाधा नहीं है। शब्द अपने एक धर्म को प्रतिपादन करने की शक्ति से सहित है, एवं प्रधानभाव से अपित अनेक धर्मों को युगपत् कहने की अशक्ति से सहित



है, इसलिये युगपत् शब्द के द्वारा विषय युगपत् अनेक अर्थ का विषय न मानने से ही “स्यात् अवक्तव्य” भंग हो जाता है। एवं व्यस्त और समस्तरूप से द्रव्य और पर्याय का आश्रय लेकर अन्तिम तीन भंग बनते हैं।

अद्वैतवादी ने सर्वथा “सत् अवक्तव्य” को माना है। बौद्ध सर्वथा “असत् अवक्तव्य” को स्वीकार करता है। योग सर्वथा “सत् असत् अवक्तव्य” को ही मानता है। इन एकान्त मान्यताओं में अनेक दूषण आते हैं। अतएव “स्यात्” पद से चिन्हित सप्तभंगी ही निर्दोष है—

स्यादस्ति एव, स्यान्नास्येव, स्यादस्ति-नास्त्येव, स्यादवक्तव्यमेव, स्यादस्ति अवक्तव्यमेव, स्यान्नास्ति अवक्तव्यमेव, स्यादस्तिनास्त्यवक्तव्यमेव। प्रमाणसप्त भंगी और नयसप्त भंगी में अन्तर-द्रव्याधिक नय से अभेदवृत्ति एवं पर्यायार्थिक नय से अभेदोपचार द्वारा अनन्तधर्म वाले पदार्थ को युगपत् कहने वाला “सकलादेश” अथवा “प्रमाणवाक्य” हैं।

एक देश से जानी हुई वस्तु को भेदवृत्ति एवं भेदोपचार से क्रम से कहने वाले वाक्य “विकलादेश” या “नयवाक्य” हैं। इस विवेचन से स्पष्ट है कि शब्द, पद, एवं वाक्य, गौण प्रधानार्थ वाचक हैं युगपत् अनेक प्रधानार्थ वाचक नहीं हैं। शब्द अपने इस स्वभाव को हजारों संकेत के द्वारा भी त्याग नहीं कर सकते हैं। तभी इन शब्दों के द्वारा “प्रश्नवशात्” एक ही वस्तु में सप्तभंगी घटित हो जाती है। तात्पर्य यह है कि—सभी वस्तु में सप्तभंगी घटित करते हुये आचार्य ने अनंत भंगी के आरोप को समाप्त कर दिया है। और प्रमाण सप्तभंगी, नय सप्तभंगी का पृथक्करण कर दिया है। सप्तभंगी के लक्षण में “अविरोधेन पद बड़े महत्व का है इससे कथंचित् हिंसा धर्म है, कथंचित् अहिंसा धर्म है” ऐसी सप्तभंगी नहीं बनेगी।



नन्वस्तित्वमेव वस्तुनः स्वरूपं, न पुनर्नास्तित्वं, तस्य पररूपाश्रयत्वादन्यथातिप्रसङ्गादिति वदन्तं वादिनं प्रत्याहुराचार्याः ।

**अस्तित्वं<sup>१</sup> प्रतिषेध्येनाविनाभावेकधर्मिणि ।**

**विशेषणत्वात्साधर्म्यं<sup>२</sup> यथा भेदविवक्षया<sup>३</sup> ॥१७॥**

एको धर्मी जीवादिः । तत्रास्तित्वं<sup>४</sup> नास्तित्वेन प्रतिषेध्येनाविनाभावि, न पुनर्भिन्नाधिकरणं, विशेषणत्वात्<sup>५</sup> । यथा हेतौ<sup>६</sup> साधर्म्यं वैधर्म्येण<sup>७</sup> भेदविवक्षया<sup>८</sup> सर्वेषां हेतुवादिनां<sup>९</sup> क्वचिदनुमानप्रयोगे प्रसिद्धम् ।

**उत्थानिका**—अब अद्वैतवादी कहते हैं कि वस्तु का स्वरूप अस्तित्व ही है न कि नास्तित्व, क्योंकि वह नास्तित्व पररूपाश्रित है । अन्यथा यदि नास्तित्व पररूप का आश्रय रखता है फिर भी आप उसे वस्तुरूप मानेंगे तब तो अतिप्रसंग दोष आवेगा । अर्थात् पररूपाश्रित नास्तित्व भी विवक्षित वस्तु का स्वरूप हो जावेगा, उनके प्रति आचार्य कहते हैं ।

**कारिकार्थ**—एक जीवादि धर्मी में अस्तित्व जो वस्तु का धर्म है, वह प्रतिषेध्यनास्तित्व के साथ अविनाभावी है, क्योंकि विशेषण है, जैसे कि हेतु में भेद विवक्षा से साधर्म्य, वैधर्म्य के साथ अविनाभावी है ॥१७॥

एक धर्मी जीवादि है । उसमें अस्तित्व, नास्तित्वरूप प्रतिषेध्य के साथ अविनाभावी है, किन्तु वह भिन्न अधिकरणरूप नहीं है क्योंकि वह भी विशेषण है जैसे कि सभी हेतुवादियों के यहाँ किसी भी अनुमान का प्रयोग करने पर हेतु में भेद विवक्षा से साधर्म्य, वैधर्म्य के साथ अविनाभावी है, यह बात प्रसिद्ध है ।

१ जीवादिधर्मिणः । एक धर्मिण्यस्तित्वं पक्षः नास्तित्वेनाविनाभावि भवतीति साध्यो धर्मः विशेषणत्वात् यद्यप्यविशेषणं तत्तदेकधर्मिणि प्रतिषेध्येनाविनाभावि । यथा हेतौ भेदविवक्षया साधर्म्यं वैधर्म्येणाविनाभावि । विशेषणञ्चेदं तस्मान्नास्तित्वेनाविनाभावि । (दि० प्र०) २ व्यवच्छेदकत्वात् । अस्तित्वनास्तित्वयोर्वस्तुविशेषणत्वात् । (वि० प्र०) ३ एकधर्मिणि हेतोरन्वयरूपम् । व्यतिरेकदृष्टान्तविवक्षया । (दि० प्र०) ४ जीवादौ धर्मिणि । (दि० प्र०) ५ यतोऽस्तित्वनास्तित्वं द्वेऽपि विशेषणे धर्मो वस्तुनस्तः । (दि० प्र०) ६ एकधर्मिणि । (व्या० प्र०) ७ व्यतिरेकेण । (व्या० प्र०) ८ सर्वथा भेदाभावे एकत्वं प्रसंगस्तत्परिहारार्थमाह । (व्या० प्र०) ९ प्रमाणिकानाम् । (दि० प्र०)

[ अन्वयहेतुव्यतिरेकेण सहाविनाभाभी अस्ति न वास्य विचारः ]

सर्वस्य<sup>१</sup> नित्यत्वानित्यत्वादिसाधने<sup>२</sup> हेतौ साधर्म्यस्य<sup>३</sup> व्यतिरेकाविनाभाविनोऽसंभवाद-  
युक्तमुदाहरणमिति चेन्न, तत्रापि तदुभयसद्भावात् । तथा हि । सर्वमित्थमनित्यं<sup>४</sup> वेति प्रति-  
ज्ञायाऽभिप्रेत्य<sup>५</sup> वा 'प्रमेयत्वादिहेतूपादानेपि' व्यतिरेकोऽस्त्येव, प्रमेयत्वस्य वस्तुधर्मत्वात्<sup>६</sup> ।  
परिणामी जीवः शब्दादिर्वा सापरिणामीति वा<sup>७</sup>, सर्वं चेतनमचेतनं वा विवादापन्नमित्थम-  
नित्यं वा प्रतिज्ञाप्रयोगवादी प्रतिपाद्यानुरोधतः प्रतिज्ञाय, <sup>१०</sup>सौगतप्रतिपाद्याशयतोभिप्रेत्य<sup>११</sup> वा  
प्रमेयत्वात् सत्त्वाद्वस्तुत्वार्थक्रियाकारित्वादित्यादिहेतूनामुपादानेपि वादिप्रतिवादिप्रसिद्धेर्ध्व-  
यवत्खण्डुपादौ साध्यधर्मनिवृत्तौ साधनधर्मनिवृत्तिलक्षणो व्यतिरेकोऽस्त्येव<sup>१२</sup> ।

[ अन्वय हेतु व्यतिरेक के साथ अविनाभाभी है वा नहीं इस पर विचार । ]

शंका—नित्यत्व और अनित्यत्व को सिद्ध करने वाले हेतु में सभी साधर्म्य का व्यतिरेक से  
अविनाभाभी होना सम्भव नहीं है अतः यह उदाहरण अयुक्त है ।

समाधान—नहीं केवलान्वयी हेतु में भी साधर्म्य और वैधर्म्य दोनों ही संभव हैं । तथाहि—  
“सभी इस प्रकार से हैं अथवा सभी इस प्रकार से नहीं हैं” इस प्रकार से स्वमत की अपेक्षा से कहकर  
के अथवा स्वीकार करके, प्रमेयत्व आदि हेतु को ग्रहण करने पर भी व्यतिरेक है ही है, क्योंकि  
प्रमेयत्व वस्तु का धर्म है ।

“जीव अथवा शब्दादि परिणामी हैं अथवा ये जीव और शब्दादि अपरिणामी नहीं हैं ।” विवादा-  
पन्न सभी चेतन “अथवा अचेतन इस प्रकार हैं” अथवा इस प्रकार नहीं हैं इस प्रकार प्रतिज्ञा प्रयोग-  
वादी प्रतिपाद्य-शिष्यों के अनुरोध से प्रतिज्ञा करके, अथवा सौगत के प्रतिपाद्य आशय से स्वीकार  
करके “प्रमेयत्वात्, सत्त्वात्, वस्तुत्वात्, अर्थक्रियाकारित्वात्” इत्यादिरूप से हेतुओं को ग्रहण करते हैं ।

उन हेतुओं के ग्रहण करने पर भी वादी और प्रतिवादी के प्रसिद्ध अर्थ में अन्वय के समान  
आकाश पुष्प आदि में साध्यधर्म की निवृत्ति होने पर साधनधर्म निवृत्तिलक्षण व्यतिरेक है ही है ।  
अर्थात् “जीव परिणामी है” क्योंकि प्रमेय है । जो जो प्रमेय होता है वह वह परिणामी होता है जैसे  
घट । जो परिणामी नहीं है वह प्रमेय भी नहीं है यथा आकाशपुष्प । इसमें व्यतिरेक है ही है ।

१ वस्तुतः । (व्या० प्र०) २ एकत्वानेकत्वसत्त्वासत्त्वादि । (दि० प्र०) ३ वैधर्म्य । (दि० प्र०) ४ परिणाम्यपरि-  
णामिवस्तु । इत्थं परिणामि जीवादि वस्त्वनित्यमपरिणामि । (दि० प्र०) ५ अभ्युपगम्य । (दि० प्र०) ६ प्रमेय-  
त्वसन्ववस्तुत्वार्थक्रियाकारित्वादि । (दि० प्र०) ७ प्रयोगे ग्रहणे वा । अंगीकारे । (दि० प्र०) ८ प्रमेयत्वस्य व्यति-  
रेकोऽस्त्येव । (व्या० प्र०) ९ वा शब्दो भिन्नप्रक्रमे । (व्या० प्र०) १० सौगत एव प्रतिपाद्यः । (व्या० प्र०) ११ पक्षं  
मनसि कृत्वा । (व्या० प्र०) १२ खण्डुपादौ साधनव्यतिरेक एवेतत् ज्ञानेपि ते प्रमेया जातव्या इति तेषां प्रमेयत्वं कथ-  
मित्याह परः । (व्या० प्र०)

[ गगनकुसुमादयाः प्रमेयाः सन्ति न वेत्यस्य विचारः ]

खपुष्पादयोपि तत्र व्यवहारमिच्छता प्रमेयाः प्रतिपत्तव्या इति न किञ्चित्प्रमाणं प्रमेयाभावस्यापि 'तथाभावानुषङ्गेनाव्यवस्थाप्रसङ्गात्' १ । न 'चैतद्विरुद्धं स्वलक्षणमनिर्देश्यमित्यादिवत् । न हि स्वलक्षणस्यानिर्देश्यस्याप्यनिर्देश्यशब्देन निर्देशे विरोधोऽस्ति । नापि प्रत्यक्षकल्पनापोढमपि कल्पनापोढत्वेन कल्पयतः ४ किञ्चिद्विरुध्यते ५, सर्वथा 'तद्व्यवहारापह्नवप्रसङ्गात् । तथैव खपुष्पादयोऽप्रमेया इति व्यवहरतोपि न तेषामप्रमेयत्वं विरुध्यते, तत्प्रमितौ प्रमाणाभावात्प्रमेयाभाववत् ७ । तदभावेपि खपुष्पादीनां ८ प्रमेयत्वे प्रमेयाभावस्यापि प्रमेयत्वा-

[ गगन पुष्पादि प्रमेय हैं या नहीं ? इस पर विचार ]

सौगत—आकाश पुष्प आदि जो आकाश पुष्प के ज्ञान में "आकाश पुष्प" इस व्यवहार से सहित हैं ऐसा स्वीकार करते हुए, उन्हें प्रमेयरूप से जाना चाहिये ।

जैन—इस प्रकार से तो आकाश पुष्प की प्रमिति में किञ्चित् भी प्रमाण नहीं रहेगा अन्यथा यदि आप मानें तो प्रमेयाभाव को भी तथाभाव का प्रसंग होने से यह प्रमेय है, यह प्रमेयाभाव है ऐसी व्यवस्था नहीं बन सकेगी किन्तु यह व्यवस्था विरुद्ध की नहीं जैसे कि स्वलक्षण और अनिर्देश्य इत्यादि ।

भावार्थ—आपने साधर्म्याविनाभावी सिद्ध करने के लिए जो खपुष्प को दृष्टांत में लिया है वह ठीक नहीं है कारण कि वहाँ प्रमेयत्व का अभावरूप वैधर्म्य नहीं आता है । यदि वही प्रमेयत्व का अभावरूप वैधर्म्य मान लिया जाये तब तो खपुष्प इस तरह का व्यवहार भी नहीं बन सकता है अतः जब यह व्यवहार होता है तब प्रमेयत्व का अभाव दिखलाकर जो आप प्रमेयत्व हेतु को वैधर्म्याविनाभावी सिद्ध कर रहे हैं वह ठीक नहीं है ।

'खपुष्पादि' को "खपुष्पादयो अप्रमेयाः" इस प्रकार से व्यवहार होने से यदि प्रमेयत्वादि हेतुओं का सपक्ष माना जाये अर्थात् प्रमेय स्वरूप स्वीकार किया जाये तब तो प्रमाण की कोई कीमत ही नहीं रहती है क्योंकि तुम्हारी मान्यतानुसार प्रमेयाभाव भी प्रमाण का विषय-प्रमेय हो जाता है । तथा च "अयं प्रमेयः असौ प्रमेयाभावः" यह व्यवस्था भी नहीं बन सकेगी ।

१ खपुष्पादीनां प्रमेयाभावस्य प्रमेयत्वारोपणेन व्यवस्थितिरिति घटते । (दि० प्र०) २ अयं प्रमेयः असौ प्रमेयाभाव इति । (दि० प्र०) ३ किञ्चिद् वदति खपुष्पादयो यदि प्रमेया न भवन्ति तदा खपुष्पमिति वाग्व्यवहारः प्रवर्तते विरुद्धं नास्ति । हे सौगत यथा तव मते स्वलक्षणमनिर्देश्यं स्वलक्षणमवाच्यम् । यद्यपि तथापि स्वलक्षणमित्युच्चारण-वाग्व्यवहारो न विरुद्धते । (दि० प्र०) ४ निश्चिन्वतः । (व्या० प्र०) ५ अन्यथा । (व्या० प्र०) हे सौगत ! त्वन्मते निविकल्पकदर्शनं कल्पनारहितमपि कल्पनापोह इति शब्दमुच्चारयतः पुंसः किञ्चिद्विरुद्धते न । (दि० प्र०) ६ वाग्व्यवहारलोपः प्रसजति । (दि० प्र०) ७ प्रमेयाभावप्रमितौ प्रमाणं नास्ति यथा । (दि० प्र०) ८ परवादी वदति प्रमाणाभावेपि खपुष्पादीनां प्रमेयत्वं भवतु । उत्तरमेवं सति अप्रमेयस्यापि प्रमेयत्वं प्रसजति । (दि० प्र०)

नुषङ्गः । तथा च प्रमेयतदभावव्यवस्था कथमात्सीयेत<sup>१</sup> ? एतेन खपुष्पादयः प्रमेयाः शब्द-  
विकल्पविषयत्वाद्धटादिवदित्यनुमानं प्रत्युक्तं<sup>२</sup>, हेतोः प्रमेयाभावेन<sup>३</sup> व्यभिचारात् । प्रत्यक्षानु-  
मानाभ्यां प्रमीयमाणत्वात्प्रमेयाः<sup>४</sup> खपुष्पादय इति चेन्न, असिद्धत्वात्साधनस्य<sup>५</sup> । तथा हि । ते  
न प्रत्यक्षेण प्रमीयमाणाः, तत्र स्वाकारानर्पकत्वात् । नाप्यनुमानेन<sup>६</sup>, स्वभावकार्यप्रतिबन्धा-  
भावात् । स्वभावेन केनचित्तेषां प्रतिबन्धे<sup>७</sup> निस्स्वभावत्वविरोधात्, कार्येण च प्रतिबन्धेऽनर्थ-

तथा जिस प्रकार “स्वलक्षण अनिर्देश्य है, प्रत्यक्ष कल्पनापोढ़ है” इस प्रकार से स्वलक्षण में अनिर्देश्यता और प्रत्यक्ष में कल्पनापोढ़ता मानने पर भी ‘स्वलक्षण अनिर्देश्य है, प्रत्यक्ष कल्पना-पोढ़ है’ इत्यादि व्यवहार होता है इसमें कुछ भी विरोध नहीं है, उसी प्रकार “खपुष्पादयोऽप्रमेया” इस प्रकार का खपुष्पादि में व्यवहार होने पर भी उसमें अप्रमेयता का कुछ भी विरोध नहीं है ।

बौद्ध—“स्वलक्षण अनिर्देश्य है” फिर भी अनिर्देश्य शब्द के द्वारा उसका निर्देश करने में कोई विरोध नहीं है और प्रत्यक्ष कल्पनापोढ़ है फिर भी कल्पनापोढ़त्वरूप से कल्पित करने पर भी कुछ भी विरोध नहीं है, अन्यथा सर्वथा अनिर्देश्यत्व कल्पनापोढ़त्व व्यवहार के लोप का प्रसंग प्राप्त हो जायेगा ।

जैन—उसी प्रकार से आकाश पुष्पादिक अप्रमेय हैं, ऐसा कहते हुये भी हम जैन के यहाँ उनका अप्रमेयत्व विरुद्ध नहीं है, क्योंकि आकाश पुष्प के ज्ञान में प्रमाण का अभाव है प्रमेयाभाव के समान ।

उस प्रमाण के अभाव में भी आकाश पुष्पादि को प्रमेय मानने पर प्रमेय के अभाव को भी प्रमेयत्व का प्रसंग प्राप्त हो जावेगा पुनः इस प्रकार से प्रमेय और प्रमेयाभाव की व्यवस्था भी कैसे स्थिर हो सकेगी ?

इसी कथन से—

“खपुष्पादि प्रमेय हैं क्योंकि वे शब्द और विकल्पज्ञान के विषय हैं घटादि के समान ।” बौद्ध के इस अनुमान का भी खण्डन कर दिया गया समझना चाहिये । क्योंकि हेतु में प्रमेयाभाव से व्यभिचार आता है । अर्थात् प्रमेयाभाव शब्द और विकल्पज्ञान का विषय होने पर भी प्रमेयत्वाभावरूप है ।

१ अभ्युपगम्येत । अर्थ प्रमेयः अयमप्रमेय इति स्थितिः कथं व्यवह्रियेत अपितु न । (दि० प्र०) २ निराकृतम् । (दि० प्र०) ३ हे सोगत ! शब्दविकल्पविषयत्वादिति हेतोः साधनस्य प्रमेयाभावे न व्यभिचारोस्ति । कथं प्रमेयाभावः पक्षः प्रमेयो भवतीति साध्यो धर्मः । शब्दविकल्पविषयत्वाद्धेतुः । (दि० प्र०) ४ परिच्छिद्यमानत्वात् । (व्या० प्र०) ५ प्रत्यक्षानुमानाभ्यां प्रमीयमाणत्वादिति हेतुरसिद्धः । (दि० प्र०) ६ अनुमानेनापि ते खपुष्पादयः प्रमेया न भवन्ति स्वभावलिङ्गकार्यलिङ्गसम्बन्धाघटनात्—प्रमीयमाणा इति सम्बन्धः । (दि० प्र०) ७ ता । तादात्म्यतदुत्पत्तिप्रमाणसम्बन्धः । सम्बन्धाभावात् । (दि० प्र०) ८ तेषां खपुष्पादीनां केनचित्स्वभावलिङ्गेन व्याप्ती सत्यां स्वरूपसत्त्वनायाति । (दि० प्र०)

क्रियाकारित्वव्याघातात् सन्तः खपुष्पादयो व्यवहियेरन् । दर्शने स्वाकारमनर्पयता[तां] स्व-  
भावकार्यप्रतिबन्धाभावे प्रमेयत्वं<sup>१</sup> प्रमाणान्तरमवश्यमाकर्षति । ततो विप्रतिषिद्धमेतत्<sup>३</sup> ख-  
पुष्पादीनां प्रमेयत्वं, प्रमाणद्वयनियमाविरोधात्<sup>४</sup> । न च<sup>५</sup> प्रमाणान्तरेणापि प्रमीयमाणास्ते,  
प्रमाणविषयत्वधर्मस्यानाश्रयत्वात् । अन्यथा वस्तुत्वापत्तेः<sup>७</sup> सदसद्व्यवस्थानुपपत्तेस्तद्व्यवहारा-

सौगत—प्रत्यक्ष एवं अनुमान के द्वारा प्रमीयमाण—जाने गये होने से गगन कुसुम आदि प्रमेय हैं ।

जैन—नहीं, क्योंकि आपका हेतु असिद्ध है । तथाहि—वे गगन कुसुम आदि प्रत्यक्ष से प्रमीय-  
माण नहीं हैं, क्योंकि वे उस प्रत्यक्ष में अपने आकार का अर्पण नहीं करते हैं एवं अनुमान से भी वे  
जाने गये नहीं हैं कारण कि उनमें स्वभावहेतु और कार्यहेतु के साथ अविनाभाव का अभाव है ।

यदि आप किसी स्वभाव हेतु के साथ उन गगन पुष्पादिकों में अविनाभाव स्वीकार करेंगे तब  
तो उनमें निःस्वभावत्व का विरोध हो जावेगा । अर्थात् गगन पुष्पादि तो स्वयं ही अभावरूप हैं,  
पुनः स्वभाव हेतु से उनका सद्भाव कैसे सिद्ध कर सकेंगे ? एवं कार्य हेतु से उन गगन कुसुमों का  
अविनाभाव मानने पर तो उनका अनर्थक्रियाकारित्व विरुद्ध हो जावेगा । अर्थात् उन गगन कुसुमों  
की भी अर्थक्रिया—माला बनाना, सुगन्धि फैलाना आदि होने लगेंगे और फिर उन आकाश पुष्पादि  
की भी सत्-रूप—विद्यमान है ऐसा ही कहना पड़ेगा ।

यदि आप यों कहें कि भले ही वे गगन पुष्पादि निविकल्प प्रत्यक्ष में अपना आकार अर्पण न  
करें एवं स्वभावहेतु और कार्यहेतु के साथ भले ही उनमें अविनाभाव भी न हों तो भी वे प्रमेय हैं ।  
तब तो आपको अवश्य ही इन प्रत्यक्ष और अनुमान से भिन्न कोई अन्य तृतीय प्रमाण स्वीकार करना  
चाहिये किन्तु आप तृतीय प्रमाण स्वीकार करना नहीं चाहते, अतएव “आकाश पुष्पादि में प्रमेयपत्ता  
है” यह कथन विरुद्ध हो है क्योंकि आपके प्रमाणद्वय के नियम का विरोध हो जाता है और वे  
प्रमाणान्तर से भी प्रमीयमाण नहीं हैं क्योंकि प्रमाण का विषय जो प्रमेय है, उसके धर्म का आश्रय  
वे नहीं लेते हैं । अन्यथा यदि प्रमेय धर्म का आश्रय लेंगे तो वे आकाश पुष्पादि भी वस्तुभूत हो  
जावेंगे । फिर तो यह सत् है एवं यह असत् है इत्यादि रूप से सत्-असत् की व्यवस्था भी नहीं बन  
सकेगी तब तो असत् व्यवहार का भी अभाव हो जावेगा । अर्थात् आपके यहाँ भी तो ‘स्वलक्षण  
सत् है अन्यापोह असत् है’ ऐसा जो व्यवहार है वह समाप्त हो जावेगा ।

१ कर्तृ । (दि० प्र०) २ तृतीयम् । कर्म । (व्या० प्र०) ३ विरुद्धम् । (व्या० प्र०) ४ सौगतः प्रमाणद्वयमभ्युप-  
गच्छति अतस्तद्व्यवस्थापनविरोधात् खपुष्पादीनां प्रमेयत्वं विरुद्धचते । प्रमाणान्तरेण साधयति चेत् प्रमाणद्वय-  
नियमो विरुद्धचत इत्यर्थः । (दि० प्र०) ५ सौगतस्य । (व्या० प्र०) ६ प्रमाणान्तराङ्गीकारेपि । (व्या० प्र०)  
७ अतः प्रागन्यथा इत्यध्याहारः । प्रमाणविषयत्वधर्मश्रयत्वेऽपि वस्तुत्वानापत्तौ इत्यर्थः । (दि० प्र०)

भावः । न च <sup>१</sup>स्वलक्षणमेवान्यापोहः<sup>२</sup> सर्वथा विधिनियमयोरेकतानत्वासंभवात्<sup>३</sup> । पुष्परहितं खमेव खे पुष्पाभावः, शशादय एव च विषाणरहिताः शशादिषु विषाणाभाव इत्येकविषयी<sup>४</sup> खशशादितत्पुष्पविषाणविधिनियमौ संभवत एवेति चेन्न, गगनशशादीनां भावाभावस्वभावभेदाद्विधिनियमोपलब्धेश्च, अन्यथानुभवाभावात् । <sup>५</sup>शब्दविकल्पविशेषात्संकेतविशेषापेक्षादेकत्र विषये विधिनियमयोः संभव इति चेन्न, संकेतविशेषस्य वस्तुस्वभावविशेषनिबन्धनत्वात् ।

स्वलक्षण ही अन्यापोह है ऐसा भी आप नहीं कह सकते हैं क्योंकि सर्वथा विधि और निषेध में एक विषयत्व का विरोध है ।

भावार्थ—आकाशादिरूप स्वलक्षण को छोड़कर खपुष्पादि का अभाव देखा ही नहीं जाता है और खपुष्पादि के अभाव का अभाव होने पर उनके प्रमेयपना ही है ऐसी बौद्ध की आशंका होने पर जैनाचार्यों ने उत्तर दिया है ।

बौद्ध—‘पुष्प रहित ही आकाश है’ आकाश में पुष्प का अभाव है और खरगोश आदि ही विषाण रहित हैं “खरगोश आदि में विषाण का अभाव है” इस प्रकार से आकाश और खरगोश आदि एवं उनके पुष्प और विषाण आदि की विधि और निषेध का एक विषय सम्भव ही है । अर्थात् आकाश और खरगोश की विधि एवं पुष्प और विषाण का निषेध इनमें एक विषयत्व संभव है ।

जैन—ऐसा नहीं कह सकते हैं, क्योंकि आकाश और खरगोश आदि में भाव-अभावरूप स्वभाव भेद पाया जाता है अर्थात् आकाश की अपेक्षा से भाव और पुष्पादि की अपेक्षा से अभावरूप दोनों ही स्वभाव आकाश एवं खरगोश आदि में विद्यमान हैं । अतः उनमें विधि और निषेध की उपलब्धि पाई जाती है, क्योंकि अन्य प्रकार से तो अनुभव का ही अभाव है ।

सौगत—शब्द और विकल्पज्ञान में भेद होने से संकेत विशेष की अपेक्षा लेकर एक ही आकाश आदि विषय में विधि और निषेध दोनों ही संभव हैं । तब स्वभाव भेद मानने की क्या आवश्यकता है ? अर्थात् जैसे ‘ख’ यह शब्द आकाश को कहने में संकेतित हुआ है और यही एक शब्द अपने आकाशरूप अर्थ का विधान करता हुआ वहीं पर पुष्प का अभाव भी प्रगट करना है, तब तो विधि और निषेध में स्वभावतः भेद मानने की क्या आवश्यकता है ? संकेतित शब्द से ही विधि और निषेध दोनों ही एक विषय में बिना किसी स्वभाव भेद के संभव हो जाते हैं ।

१ सौगतो वदति स्वलक्षणं यत्तदेवान्यापोहः । तम् स्याद्वादी वदति । अस्तित्वमेव नास्तित्वं न च सर्वथा विधिप्रतिषेधयोर्द्वयोरेकत्रैक्यभावात् । (दि० प्र०) २ आकाशपरमाणवः । (दि० प्र०) ३ एकज्ञानस्वभावो सिद्धि रिति दर्शयन्नाह । (दि० प्र०) ४ वस्तु । (दि० प्र०) ५ सौगतो वदति वस्तुनोऽभावेऽपि संकेतो घटते संकेते सति शब्दविकल्पज्ञाने घटते । अत एकत्र वस्तुनि विधिप्रतिषेधयोः संभवोऽस्ति । स्याद्वाद्याह एवं न कुतः संकेतविशेषस्य वस्तुस्वभावनिमित्तत्वात् । (दि० प्र०) ६ खादिलक्षणे । (दि० प्र०)

तत्स्वभावभेदाभावे च संकेतविशेषानुपपत्तेरभिधानप्रत्ययविशेषोपि<sup>१</sup> मा<sup>२</sup> भूतदन्यतरवत् । नन्वनिन्द्रस्वभावेपि पदार्थे व्यवहर्तुं संकेतविशेषादिन्द्राभिधानप्रत्ययविशेषदर्शनात् वस्तुस्वभाव-भेदनिबन्धनः संकेतविशेषः सिद्धो यतो वस्तुस्वभावभेदाभावे संकेतविशेषानुपपत्तिः ततोभिधान-प्रत्ययविशेषश्च<sup>३</sup> न स्यात्, खमस्ति, तत्पुष्पं नास्तीति<sup>४</sup>, तस्यानादिवासनोद्भूतविकल्पपरि-निष्ठितत्वात्<sup>५</sup> ।

[ सर्वे शब्दाः सर्वानर्थान् प्रतिपादयितुं शक्नुवन्तीति जैनाचार्या ब्रुवन्ति ]

इति कश्चित्सोप्यननुभूतवस्तुस्वभावः<sup>६</sup>, शब्दस्य सर्वार्थप्रतिपादनशक्तिर्वैचित्र्यसिद्धेः<sup>७</sup>,

जैन—ऐसा नहीं कह सकते क्योंकि संकेत-भेद भी वस्तु स्वभाव के भेद के निमित्त से ही होते हैं । अर्थात् एक ही वस्तु में विधि और निषेधरूप दो स्वभाव पाये जाते हैं ।

यदि विधि और निषेध में वस्तुतः स्वभाव भेद न माना जाये तब तो संकेत का भेद भी वहाँ पर हो नहीं सकता है । इसलिये विधिरूप आकाशादि और निषेधरूप खपुष्पादि में स्वभाव भेद माने बिना काम नहीं चल सकता है अतः स्वभावभेद उनमें मानना ही चाहिये । अन्यथा 'विधि, निषेध' इस प्रकार का शब्द विशेष और इसी प्रकार का प्रत्यय-विकल्प विशेष भी वही हो नहीं सकता जैसे कि ख और पुष्प इन दोनों में से किसी एक में विधि-निषेध नहीं बनता है ।

सौगत — इन्द्र स्वभाव रहित (स्थापना रूप इन्द्र) पदार्थ में व्यवहार करने वाले के संकेत विशेष से 'इन्द्र' यह शब्द और उसका ज्ञान विशेष भी देखा जाता है । इसलिये संकेत विशेष वस्तु स्वभाव भेद निमित्तक सिद्ध नहीं है, जिससे कि वस्तु स्वभाव में भेद का अभाव होने पर भी संकेत विशेष न बन सके और संकेत विशेष के न बनने से शब्द विशेष और ज्ञान विशेष न हो सकें अर्थात् होगा ही होगा यथा "आकाश है उसका पुष्प नहीं है" इत्यादि रूप से ज्ञान देखा जाता है क्योंकि शब्द और प्रत्यय विशेष अनादि वासना से उत्पन्न हुये विकल्प से परिनिष्ठित हैं—सहित हैं ।

[ सभी शब्द सम्पूर्ण अर्थों को प्रतिपादन कर सकते हैं ऐसा जैनाचार्य कहते हैं ]

जैन — ऐसा कहते हुए आपको वास्तव में वस्तु के स्वभाव का अनुभव ही नहीं हुआ है ।

देखिये ! सभी शब्दों में सम्पूर्ण अर्थ को प्रतिपादन करने की विचित्र शक्ति पाई जाती है । सभी पदार्थों में भी सभी शब्दों से वाच्य होनेरूप नाना शक्ति विद्यमान हैं । अतएव प्रधान और गौण भावरूप से शब्द व्यवहार प्रसिद्ध है ।

१ का । (दि० प्र०) २ स्याद्वादी वदति हे मीमांसक ! वस्तुस्वरूपविशेषाभावे सम्यग्नामकरणलक्षणः संकेतो मोत्पद्यते संकेताभावे सति तदन्यतरवदभिधानं न घटते विकल्पविशेषश्च न घटते तथाभिधानविकल्पद्वयं न घटते । (दि० प्र०) ३ वस्तुनो भावेभिधानप्रत्ययविशेषश्च यतः कुतः स्वात् कुतोपि । (दि० प्र०) ४ शब्दविकल्पविशेषस्य । (दि० प्र०) ५ रुद्धित्वात् । अवस्थितत्वे । (दि० प्र०) ६ सोपि मीमांसकोज्ज्ञातवस्तुस्वरूपः । (दि० प्र०) ७ गुण-प्रधानभावेन । (दि० प्र०)



पदार्थस्य च सर्वस्य सर्वशब्दवाच्यत्वशक्तितानात्वात् प्रधानगुणभावादभिधानव्यवहारप्रसिद्धेः<sup>१</sup> ।  
 'वचित्पदार्थेऽनिन्द्रस्वभावेपीन्द्रशब्दवाच्यत्वशक्तिसद्भावाद्व्यवहृतुं संकेतविशेषादिन्द्राभिधानप्रत्ययविशेषसिद्धेर्वस्तुस्वभावभेदनिबन्धन एव संकेतविशेष इति<sup>३</sup> न तदभावे भवितुमुत्सहते, यतः<sup>४</sup> प्रत्ययविशेषः स्यात् । कथमन्यथा खपुष्पवत्त्वेऽपि नास्तीति प्रत्ययो न भवेत् ? खवद्वा खपुष्पेऽप्यस्तीति प्रत्ययः कुतो न स्यात् ? 'तयोरन्यतरत्रोभावपि प्रत्ययौ कुतो न स्याताम् ? संकेतविशेषस्य सर्वथा वस्तुस्वभावभेदानपेक्षस्य संभवात् । प्रतिनियतश्च विधिनियमप्रत्ययविशेषः सकलबाधकविकलः संलक्ष्यते । ततो यावन्ति पररूपाणि प्रत्येकं<sup>६</sup> तावन्तस्ततः 'परा-

किसी पदार्थ में अनिन्द्र स्वभाव के होने पर भी 'इन्द्र' शब्द से वाच्यत्व शक्ति का भी सद्भाव उसमें विद्यमान है और व्यवहृता के संकेत विशेष से उसमें "इन्द्र" यह नाम विशेष और ज्ञान विशेष भी सिद्ध है । अर्थात् इन्द्र शब्द की भावरूप इन्द्र में प्रधानरूप से वृत्ति है और स्थापनारूप इन्द्र में गौणरूप से वृत्ति है । अतएव वस्तु के स्वभाव में भेद के निमित्त से ही संकेत विशेष होता है । वस्तु में स्वभाव भेद के न होने पर वह संकेत विशेष भी नहीं हो सकता है, जिससे कि वस्तु में स्वभाव भेद के बिना भी ज्ञान विशेष हो सके अर्थात् नहीं हो सकता है । अन्यथा—यदि वस्तु स्वभाव भेद निमित्तक संकेत विशेष के बिना भी ज्ञान विशेष हो जावे तब तो आकाश पुष्प के समान आकाश में भी "नास्ति" यह प्रत्यय—ज्ञान क्यों नहीं हो जावे ? अथवा आकाश के अस्तित्व के समान आकाश पुष्प में भी "अस्ति" इस प्रकार का ज्ञान भी क्यों नहीं हो जावे ? अथवा उन दोनों में से (आकाश और खपुष्प) किसी एक में उन दोनों विधि और प्रतिषेधरूप का ज्ञान भी क्यों नहीं हो जावे ? क्योंकि आपके मत में विशेष तो सर्वथा वस्तु स्वभाव के भेद की अपेक्षा को करता ही नहीं है, किन्तु ऐसी बात देखने में नहीं आती है । अतएव प्रत्येक पदार्थ के प्रति प्रतिनियत विधि और निषेध का ज्ञान विशेष सकल बाधाओं से रहित प्रतीति में आ रहा है ।

अतएव जितने पररूप हैं उन प्रत्येक में उन पररूप से परावृत्तिलक्षण प्रतिक्षण उतने ही स्वभाव-भेद हैं, ऐसा निश्चित समझना चाहिये । इस प्रकार से स्वलक्षण ही अन्यापोहरूप है, ऐसी व्यवस्था करना कथमपि शक्य नहीं है, क्योंकि वह अन्यापोह संबंध्यंतर अर्थात् संबंधी—आकाश एवं संबंध्यंतर—आकाशपुष्प की अपेक्षा रखता है । पुष्प और विषाण आदि संबंध्यंतर स्वलक्षणरूप आकाशादि के स्वरूपभूत—स्वभावरूप ही हों, ऐसा भी नहीं है । वे संबंध्यंतर पररूप ही हैं । अन्यथा उनसे पुष्पादि की व्यावृत्ति बन ही नहीं सकेगी ।

१ एकशब्दस्येन्द्रे प्रधानभावेन वृत्तिरनिन्द्रे गुणभावेन प्रवृत्तिः । (दि० प्र०) २ भूतलस्थमनुष्यादिरूपे । प्रतिमादी । (दि० प्र०) ३ सः । इति अधिको पाठः । (दि० प्र०) वस्तुस्वभावभेदनिबन्धनरहितसंकेतविशेषात् । (व्या० प्र०) ४ संकेतविशेषात् । (दि० प्र०) ५ खपुष्पयोर्द्वयोर्मध्ये एकत्र खे वा खपुष्पे वा उभौ भावाभावौ द्वौ प्रत्ययौ कस्मात् भवेतां कस्माद्यतः । संकेतविशेषः सर्वथा वस्तुस्वभावभेदमनपेक्षैव संभवति । (दि० प्र०) ६ प्रतिपदार्थम् । (व्या० प्र०) ७ भिन्न । (दि० प्र०)

वृत्तिलक्षणाः स्वभावभेदाः प्रतिक्षणं प्रत्येतव्याः, स्वलक्षणमेवान्यापोह इति व्यवस्थापयितुम-  
शक्तेः, तस्य संबन्ध्यन्तरापेक्षत्वात् । न च संबन्ध्यन्तराणि स्वलक्षणस्य स्वरूपभूतान्येव, तेषां<sup>१</sup>  
पररूपत्वादन्यथा<sup>२</sup> ततः परावृत्तेरनुपपत्तेः । पररूपाण्यपि यदि संबन्ध्यन्तराणि<sup>३</sup> भावस्वभाव-  
भेदकानि न स्युस्तदा<sup>४</sup> नित्यत्वेपि कस्यचित्संबन्ध्यन्तरेषु कादाचित्केषु क्रमशोऽर्थक्रिया न वै  
विप्रतिषिध्येत । शक्यं हि वक्तुं, क्रमवर्तीनि कारणानि तत्तन्निर्वर्तनात्मकानीति<sup>५</sup> नित्यं स्व-  
भावं न वै जहाति क्षणिकसामग्रीसन्निपतितैकतमवत् । तदेतत्तदा तत्तत्कतुं<sup>६</sup> समर्थमेकं स्वभाव-  
मविचलितं विश्राणं सहकारिकारणानि स्वभावस्याभेदकानि नानाकार्यनिबन्धनानि<sup>७</sup> कादा-  
चित्कानि प्रतीक्षते इति । न चैवं वचने विषममुदाहरणं, 'क्षित्युदकबीजातपादिसामग्र्यामन्त्य-

यदि वे संबन्ध्यन्तर भावस्वभाव-आकाशादि में भेद करने वाले न हों, तब तो नित्यत्व के होने पर भी किसी आत्मा के संबन्ध्यन्तर (पुत्रमित्र कलत्रादिकों) के कादाचित्क होने पर क्रम से अर्थक्रिया का निषेध नहीं हो सकेगा । ऐसा हम कह सकते हैं कि क्रमवर्ती सहकारी कारण उस कार्य के निर्वर्तन करने वाले हैं, और इसीलिये वे आत्मावि वस्तु नित्यरूप एक स्वभाव को नहीं छोड़ते हैं । क्षणिक सामग्री से सन्निपतित एकतम के समान । अर्थात् जैसे अनेक कारणों में एककारण कार्य करने के स्वभाव को नहीं छोड़ता है । इसलिये ये उस समय तत्तत्कार्य को करने के लिये समर्थ एक अविचलित नित्य स्वभाव को धारणा करते हुये नित्य पदार्थ से नित्य स्वभाव में भेद को न करने वाले नाना कार्यों के निमित्तक और कादाचित्क—अनित्य ऐसे बहुत से सहकारी कारणों की अपेक्षा रखते हैं ।

भाषार्थ—संबन्ध्यन्तररूप पररूप भी यदि स्वलक्षणरूप भाव के स्वभाव के भेदक नहीं हों तो फिर बौद्ध सिद्धांत में "नित्य पदार्थ के मानने में क्रम से अर्थक्रिया नहीं बन सकती है इस प्रकार का जो निषेध किया गया है" वह ठीक नहीं बैठता है कारण कि नित्य पदार्थ के मानने पर भी जो उसके संबन्ध्यन्तर होंगे वे ही सब कादाचित्क होंगे और उनसे क्रम से अर्थक्रिया निष्पन्न होती रहेगी ।

नित्यवादियों के प्रति बौद्धों का यह आक्षेप है कि नित्य पदार्थ यदि अर्थक्रियाकारी हैं तो क्रम से है अथवा अक्रम से ? क्रम से अर्थक्रियाकारी कहना तो उचित नहीं है क्योंकि नित्य पदार्थ समर्थ हैं इसलिये संपूर्ण क्रियाओं को युगपत् कर डालेंगे । इस पर यदि कोई यों कहे कि वे नित्य पदार्थ समर्थ तो हैं फिर भी सहकारी कारणों की अपेक्षा रखते हैं, तब तो वे नित्य पदार्थ समर्थ न होकर असमर्थ ही सिद्ध हुए इत्यादि ।

इस प्रकार के कथन में उदाहरण विषम नहीं है । पृथ्वी, जल, बीज, आतप, वायु आदि सामग्री के अन्त्य क्षण को प्राप्त होने पर यव के अंकुर आदि कार्य के निर्वर्तक शेष कारणों के होने पर भी सन्ति-

१ संबन्ध्यन्तराणाम् । (दि० प्र०) २ संबन्ध्यन्तराणि स्वरूपभूतानि यदि भवन्ति तदाऽभावस्योत्पत्तिर्न घटते । संबन्ध्यन्तराणां पररूपत्वाभावे । (दि० प्र०) ३ व्यावृत्तिरूप । (व्या० प्र०) ४ बौद्धेन स्वया यदि एवमुच्यते मयाप्येवमुच्यते नित्यादपि अर्थक्रियादर्शनात् । (व्या० प्र०) ५ निष्पादनात्मकानि । (दि० प्र०) ६ ईप् । (व्या० प्र०) ७ वायुः । (व्या० प्र०)

क्षणप्राप्तायां<sup>१</sup> सन्निपतितस्यैकतमस्य कारणस्य शेषेषु कारणेषु यवाङ्कुरादिकार्यनिर्वर्तनात्मकेषु सत्स्वपि स्वभावाभेदस्य<sup>२</sup> क्षणिकवादिनः सिद्धत्वात् ।

[ सर्वेऽपि पदार्था विधिनिषेधधर्माभ्यां संबद्धाः सन्ति, इति जैनाचार्याः कथयन्ति । ]

तदिमेर्था विधिप्रतिषेधाभ्यां<sup>३</sup> संप्रतिबद्धा<sup>४</sup> न प्रतिबन्धमतिवर्तन्ते<sup>५</sup> वस्तुत एव । ततो न 'संवृतिस्तद्व्यवहाराय'<sup>७</sup> भेदमावृत्त्य<sup>८</sup> तिष्ठतीति युक्तं, विधिप्रतिषेधसंबन्धशून्यस्य भेदस्य स्वलक्षणलक्षणस्य<sup>९</sup> साक्षादध्यक्षतोनुपलक्षणात्<sup>१०</sup> तथानुमानादप्यप्रतिपत्तेर्विधेः प्रतिषेधस्य चापह्नवे व्यवहाराघटनात्<sup>११</sup>, संवृतेस्तमावृत्त्य स्थितिविरोधात्, परमार्थत एव भावस्यानेकस्वभावस्य प्रतीतेः<sup>१२</sup> । तदनेकस्वभावाभावे<sup>१३</sup> विनिर्भासासंभवादात्मनि<sup>१४</sup> परत्र<sup>१५</sup> चासंभविनमा-

पतित व बीज लक्षण ही एकतमकारण है । इस प्रकारसे स्वभाव में भेद को न मानने वाले क्षणिकवादी बौद्धों के यहाँ भी सिद्ध है ।

अर्थात् यव के अंकुर को उत्पन्न करने के लिये मिट्टी, जल, आतप, वायु आदि अनेकों कारण हैं उन सभी में यव का बीज मुख्य कारण है वह अपने यव के अंकुर को उत्पन्न करनेरूप कार्य स्वभाव को नहीं छोड़ता है ।

[ सभी पदार्थ विधि निषेध इन दो धर्मों से संबंधित हैं, इस प्रकार से जैनाचार्य कहते हैं । ]

अतएव जिस प्रकार से भिन्न-भिन्न संबंध वस्तु स्वभाव में भेद करने वाले हैं उसी प्रकार से ये आकाश आदि पदार्थ विधि और प्रतिषेध इन दो धर्मों से संप्रतिबद्ध—सहित होते हुये अविनाभाव संबंध का उलंघन नहीं करते हैं । अर्थात् आपस में अविनाभाव संबंध रखते हैं एवं परमार्थिक ही हैं । इसीलिये 'उस व्यवहार के लिये संवृति उस स्वलक्षणनिरंश भेद को आवृत्त करके रहती है' यह बौद्धों का कथन युक्त नहीं है, क्योंकि विधि और प्रतिषेध के संबंध से शून्य स्वलक्षण लक्षणवाले भेद का साक्षात्—प्रत्यक्ष से अनुभव नहीं हो रहा है । उसी प्रकार अनुमान से भी उसका ज्ञान नहीं देखा जाता है, क्योंकि विधि और प्रतिषेध का अपह्नव करने पर कोई व्यवहार ही नहीं बन सकता है ।

यदि संवृति से उस स्वलक्षणभेद की आवृत्ति मानें, तो भी उसकी स्थिति नहीं बन सकेगी । अतः परमार्थ से ही प्रत्येक वस्तु में विधि-प्रतिषेध, सत्वासत्त्व, नित्यानित्य आदि अनेक स्वभाव प्रतीति सिद्ध हैं ।

इस प्रकार से अनेक स्वभाव का अभाव मानने पर विनिर्भासभेद असंभव होने से आत्मा और

- १ सम्पूर्णकार्यजननसमर्थायां विषये । (दि० प्र०) २ अन्त्यक्षणव्याप्तस्य बीजादिलक्षणकारणस्य स्वभावाभेदस्तस्य । (दि० प्र०) ३ धर्माभ्याम् । (दि० प्र०) ४ संबद्धाः । अविनाशुताः । (दि० प्र०) ५ संयोगविनाऽविनाशाश्रित्वं संबन्धमुल्लंघयन्ति न । स्वभावभेदाभ्यां संबन्धम् । (दि० प्र०) ६ कल्पना । (दि० प्र०) ७ भेदः । (दि० प्र०) ८ आवृत्त्य । (दि० प्र०) ९ मुख्यवृत्त्या । प्रत्यक्षेणादर्शनात् । (दि० प्र०) १० अप्रतीतेः । (दि० प्र०) ११ भेदः । (दि० प्र०) १२ तत्तत्त्व । (दि० प्र०) सति । (व्या० प्र०) १३ नानाकारः । (व्या० प्र०) १४ संवृत्तौ । अर्थे । (व्या० प्र०) १५ सौगतः । (व्या० प्र०)

कारमादर्शयतीति मुग्धायते सर्वत्रासहायरूपानुपलब्धेः । 'जातुचिन्निरंशरूपोपलब्धौ हि नानारूपोपलब्धिः संवृतिरात्मनि परस्मिन्चाविद्यमानमाकारः' दर्शयतीति युक्तं वक्तुं, नान्यथा, अतिप्रसङ्गात्<sup>१</sup> । यदि पुनरनाद्यविद्योदयादखिलजनस्यासहायरूपानुपलब्धिर्जातैर्मिरिकस्यैक-चन्द्रानुपलब्धिवदिति<sup>२</sup> मतं तदा

'गुणानां सुमहद्रूपं<sup>३</sup> न दृष्टिपथमृच्छति<sup>४</sup> । यत्तु दृष्टिपथप्राप्तं तन्मायेव सुतुच्छकम् ॥१॥

सर्वं पुरुष एवेवं नेह नानास्ति किञ्चन । आरामं तस्य<sup>५</sup> पश्यन्ति न तं कश्चन पश्यति' ॥२॥

पर में असंभवरूप विधि—प्रतिषेध आकार को दिखलाते हुये वे सौगतादि मूढवत् आचरण कर रहे हैं, क्योंकि सभी वस्तु में असहाय—निरंशरूप की अनुपलब्धि है ।

यदि कदाचित् निरंशरूप की उपलब्धि स्वीकार कर लेवें, और "नाना प्रकार के रूपों की उपलब्धि है वह संवृत्ति है" ऐसा कहें, तब तो वह संवृत्ति अपने में और पर में अविद्यमान—असत् आकार को दिखलाती है ऐसा कहना ही युक्त होगा, अन्य प्रकार से नहीं कह सकते, क्योंकि अतिप्रसंग दोष आता है ।

बौद्ध—अनादि अविद्या के उदय से अखिलजनों को उस असहाय—निरंशरूप की उपलब्धि नहीं हो सकती है, जैसे कि किसी को तिमिर आदि रोग के होने से एक चन्द्र की उपलब्धि नहीं हो सकती है ।

जैन - यदि आपकी ऐसी मान्यता है तब तो—

श्लोकार्थ—सांख्य के द्वारा कहे गये सत्त्व, रज और तम गुणों का सुमहद्रूप (प्रधान) दृष्टिपथ में नहीं आता है और जो बुद्धि आदि दृष्टिपथ को प्राप्त हैं वे सुतुच्छ—निःस्वभाव मायारूप ही हैं ॥१॥

यह सब जगत् पुरुषरूप ही है नानारूप कुछ भी नहीं है और जो कुछ दिखता है वह उस ब्रह्मा का ही प्रपञ्च है सभी उसके प्रपञ्च—पर्यायों को ही देखते हैं उस परम पुरुष को कोई भी नहीं देख सकता है ॥२॥

१ कदाचित् । (ध्या० प्र०) २ अर्थ । (व्या० प्र०) अन्तर्बस्तुनि चैतन्यरूपे बहिर्वस्तुनि अचैतन्ये रूपे । (दि० प्र०)

३ स्वलक्षणज्ञानस्यापि संवृत्तित्वप्रसंगात् । (ध्या० प्र०) ४ निरंश । (दि० प्र०) ५ स्याद्वादी वदति हे सौगत

निरंशः स्वलक्षणः प्रमाणं विना यथा त्वया स्थाप्यते । तथार्थानित्यवादिभिः प्रमाणं विना सर्वं वस्तु पुरुष एव इति स्थाप्यते । (दि० प्र०) ६ नित्यनिरंशसर्वगतप्रमुखाणां सुमहत्स्वरूपं ब्रह्माद्वैतवाद्यभ्युपगतं परमब्रह्म दृष्टिगोचरत्वं न प्राप्नोति । (दि० प्र०) ७ तस्य ब्रह्मरूपपुरुषस्यारामं पर्यायम् । (दि० प्र०)

इत्यपि किम्न स्यात् ? सर्वथाप्यविशेषात्<sup>१</sup> । तदियं<sup>२</sup> संवृत्तिः सामान्यसामानाधिकरण्य-  
विशेषणविशेष्यभावादिव्यवहारनिर्भासान्विभ्रती<sup>३</sup> स्वयमनेकरूपतां<sup>४</sup> प्रतिक्षिपन्तं व्यवस्था-  
पयति, तामन्तरेण सामान्यादिव्यवहारनिर्भाससंवृत्यनुपपत्तेः<sup>५</sup> । 'तद्वद्भावान्तराणामनेकान्ता-  
त्मकत्वे'<sup>६</sup> वास्तवी साधर्म्यवैधर्म्यादिस्थितिरविशेषेण<sup>७</sup> विकल्पबुद्धेर्मिथ्यात्वं प्रतिजानन्तं प्रति-  
क्षिपत्येव, संवृतेः<sup>१०</sup> स्वरूपेऽनेकान्तात्मकत्वं, न तु ततोऽन्येषां भावानामिति विभावयितुमशक्तेः<sup>११</sup> ।  
ततो न स्वलक्षणमेवान्यापोहः संभवति येन खपुष्पादयः प्रमेयाः स्युः । यत्पुनरेतदन्यतो  
ऽव्यावृत्तिरनात्मिकैवेति<sup>१२</sup> तन्न, चक्षुरादिज्ञानस्य निर्व्यवसायात्मकस्य<sup>१३</sup> स्वयमभूताविशेषात्<sup>१४</sup>,

यह पुरुषाद्वैत की मान्यता भी क्यों न मान ली जावे । सर्वथा दोनों में कोई भी अंतर नहीं है ।

यह संवृत्ति "यह इसके समान है" इस प्रकार सामान्य को नीलोत्पलादि में सामानाधिकरणरूप  
विशेषण-विशेष्य भावादि भिन्न-भिन्न आकाररूप व्यवहार को एवं स्वयं में भी अनेकरूप को धारण  
करती हुई उस अनेकरूप का खण्डन करने वाले बौद्धों का ही खण्डन कर देती है । क्योंकि उस अनेक-  
रूपता के बिना सामान्य आदि व्यवहारभेद को करने वाली संवृत्ति भी नहीं बन सकती है । उसी  
संवृत्ति के समान ही भावांतर—भिन्न-भिन्न पदार्थ भी अनेकान्तात्मक ही हैं और उनमें होने वाली  
साधर्म्य-वैधर्म्य आदि स्थिति वास्तविक ही हैं । वह साधर्म्य वैधर्म्य आदि स्थिति अविशेषरूप से  
विकल्प ज्ञान को मिथ्यात्वरूप से स्वीकार करते हुये बौद्धों का खण्डन हो कर देती है । क्योंकि वह  
संवृत्ति अपने स्वरूप में तो अनेकान्तात्मक है, किन्तु उसमें भिन्न अन्य पदार्थ अनेकान्तात्मक नहीं है, ऐसा  
भी निर्णय देना तो शक्य नहीं है ।

इस प्रकार से वस्तु में अनेक धर्म के सिद्ध हो जाने पर स्वलक्षण ही अन्यापोह है, ऐसा कहना  
संभव नहीं है जिससे कि खपुष्पादि प्रमेय हो सकें । अर्थात् आकाश पुष्प आदि प्रमेय नहीं हो  
सकते हैं ।

१ उभयोः स्वलक्षणपरमपुरुषयोः प्रमाणसंभवत्वेन कृत्वा सर्वथापि विशेषो नास्ति । (दि० प्र०) २ का । यत् एव  
तत्तस्मादियं तानारूपोपलब्धिः संवृत्तिः सामान्यादीन् धारयन्त्यात्मना घटपटाद्यनेकरूपत्वं निराकुर्वन्तं सौगतं स्वरथं  
करोति । (दि० प्र०) ३ भेद । (दि० प्र०) बौद्धस्य सामान्यसामानाधिकरण्यं विशेषणविशेष्यभावः परमार्थतो  
नास्ति किन्तु संवृत्या । (व्या० प्र०) ४ तात्त्विकीम् । (दि० प्र०) ५ भृत्यनुपपत्तेः । इति पा० । (व्या० प्र०) स्वी-  
कारस्य । (व्या० प्र०) ६ अत्र भावशब्देन संवृत्तिः । हेत्यादीनाम् । (व्या० प्र०) ७ सति । (व्या० प्र०) ८ तथा  
स्याद्वाद्यभ्युपगतानां जीवादीनां पदार्थानाम् अनेकान्तव्यवस्थापने हेतुभेदविवक्षाया साधर्म्यवैधर्म्यादिस्थितिः कर्तृपदं  
सविकल्पकज्ञानस्यामत्यभूतं प्रति जानन्तं सौगताद्यं निराकरोत्येव । (दि० प्र०) ९ साधारणरूपतया । (दि० प्र०)  
१० संवृत्तिरेवानेकान्तात्मिका ततः संवृत्तेः सकाशात् अन्येषां भावान्तराणामनेकतात्मकं नास्तीति स्थापयितुं शक्यते ।  
(दि० प्र०) ११ निश्चेतुम् । (दि० प्र०) १२ अन्यतः परेभ्यः पदार्थेभ्यः व्यावृत्तिरभावोऽवस्तुरूपा यदेतद्वचः सौगतस्य  
तत्त । (दि० प्र०) १३ हे सौगत ! निविकल्पकं दर्शनं न्वदीयं प्रमाणं तत्कीदृशं अव्यवसायात्मकमात्मनोत्पन्नमप्य-  
नुत्पन्नमत्र विशेषो नास्ति । अवस्तु ग्राहकत्वात् । (दि० प्र०) १४ निविकल्पकस्य स्वस्य । (दि० प्र०)



सर्वस्य परिणामित्वादौ साध्ये सपक्षेन्वयो<sup>१</sup> न संभवत्येवेति चेन्न, <sup>२</sup>अन्तर्व्याप्तिलक्षणस्य तथोप-  
पत्तिरूपस्यान्वयस्य सूत्रावादन्यथानुपपत्तिरूपव्यतिरेकवत् । न<sup>३</sup> हि दृष्टान्तधर्मिण्येव साधर्म्यं  
वैधर्म्यं वा हेतोः प्रतिपत्तव्यमिति नियमो युक्तः, सर्वस्य क्षणिकत्वादिसाधने सत्त्वादेरहेतुत्व-  
प्रसङ्गात् । यतश्चैवं<sup>४</sup> सर्वत्र<sup>५</sup> हेतौ साधर्म्यं वैधर्म्येणाविनाभावि प्रसिद्धमुदाहरणं<sup>६</sup> <sup>७</sup>तस्माद्य-  
द्विशेषणं<sup>८</sup> तत्प्रतिषेध्याविनाभावि क्वचिद्धर्मिणि<sup>९</sup>, यथा <sup>१०</sup>साधर्म्यं भेदविवक्षया कृतकत्वादौ,  
विशेषणं चास्तित्वं, ततः प्रतिषेधधर्मप्रतिबन्धि इत्यनुमानमनवद्यमवतिष्ठते, हेतोरसिद्धताद्य-

सपक्ष में अन्वय सम्भव ही नहीं है क्योंकि जो भी दृष्टान्त की कोटि में आवेगा वह पक्ष में ही अंतर्भूत हो आवेगा । ऐसी हालत में जब हेतु में साधर्म्य ही नहीं बनता तब वैधर्म्य के साथ उसका अविनाभाव भी कैसे बनेगा ?

जैन—ऐसा नहीं कह सकते क्योंकि उन हेतुओं में भी तथोपपत्तिरूप (साध्य के होने पर ही साधन का होना रूप) अन्तर्व्याप्तिलक्षण अन्वय का सद्भाव है अन्यथानुपपत्तिरूप व्यतिरेक के समान । अर्थात् साध्य के अभाव में साधन के न होनेरूप व्यतिरेक जैसे होता है, उसी प्रकार अन्तर्व्याप्तिलक्षण अन्वय भी सभी हेतुओं में विद्यमान है । तथोपपत्ति का नाम साधर्म्य है एवं अन्यथानुपपत्ति का नाम वैधर्म्य है । ये दोनों बातें हेतुओं में रहा करती हैं ।

“दृष्टान्त धर्मों में ही हेतु का साधर्म्य अथवा वैधर्म्य समझना चाहिये ।” ऐसा नियम करना भी युक्त नहीं है, अन्यथा सभी वस्तु को क्षणिकत्व आदि सिद्ध करने में सत्त्वादि हेतु अहेतु हो जावेंगे ।

“सर्वं क्षणिकं सत्त्वात् । यत्सत्तत् क्षणिकं यथा अमुकं” इन सभी अनुमानों में कहे गये सभी हेतु अहेतु हो जावेंगे । इसीलिये सभी हेतु में साधर्म्य वैधर्म्य के साथ अविनाभावी है, यह उदाहरण प्रसिद्ध है ।

इसलिये किसी धर्मों में जो विशेषण है, वह प्रतिषेध के साथ अविनाभावी है । जिस प्रकार से कृतकत्व आदि हेतु में भेदविवक्षा से साधर्म्य वैधर्म्य के साथ अविनाभावी है । यहाँ कारिका में “अस्तित्व” यह विशेषण है, इसीलिये वह अपने प्रतिषेध्य नास्तित्व के साथ अविनाभावी है । अतः यह अनुमान निर्दोष है क्योंकि हेतु में असिद्ध विरुद्धादि दोष नहीं पाये जाते हैं और इसके उदाहरण में साध्य-साधन धर्म की विकलता का भी अभाव है तथा पक्ष में भी प्रत्यक्ष आदि से विरोध नहीं आता है, ऐसा समझना चाहिये ।

१ सत्त्वादेर्हेतोः । (दि० प्र०) २ सर्वं पक्षः परिणामि भवतीति साध्यो धर्मः प्रमेयत्वान् यत्प्रमेयं तत्परिणामि यत्प्रमेयं न तत्परिणामि न इति व्याप्तिः । (दि० प्र०) ३ साधर्म्यवैधर्म्यञ्च हेतोर्दृष्टान्तधर्मिणि स्यादिति परः । (व्या० प्र०) ४ यस्मात्कारणात् । उक्तप्रकारेण । (दि० प्र०) ५ अन्तर्बहिर्व्याप्तिलक्षणे । सद्धेतो इति भावः । (दि० प्र०) ६ अन्तर्बहिर्व्याप्तिप्रकारेण । (व्या० प्र०) ७ कारणात् । (दि० प्र०) ८ विशेषणं कारिकायां व्याप्तिरियम् । (दि० प्र०) ९ भेदो व्यतिरेको वैधर्म्यमित्यर्थः । (व्या० प्र०) १० क्वचिद्धर्मिणिसाधर्म्यं प्रतिषेध्याविनाभाविविशे-  
षणत्वात् । (व्या० प्र०)

नुपपत्तेः साध्यसाधनधर्मवैकल्याभावाच्च निदर्शनस्य प्रत्यक्षदिविरोधाभावाच्च पक्षस्येति प्रतिपत्तव्यम् ।

भवतु तावदस्तित्वं जीवादौ नास्तित्वेनाविनाभावि । नास्तित्वं तु कथमस्तित्वाविनाभावि, खपुष्पादौ कथंचिदप्यस्तित्वासंभवादिति मन्यमानान्प्रत्याहुः ।

**नास्तित्वं प्रतिषेध्येनाविनाभाव्येकधर्मिणि<sup>१</sup> ।**

**विशेषणत्वाद्धर्म्यं यथाऽभेदविवक्षया ॥१८॥**

कृतकत्वादौ हेतौ शब्दानित्यत्वादा साधने सधर्मणा साधर्म्येणाविनाभावि विशेषणं विपक्षे वैधर्म्यमुदाहरणं प्रसिद्धं तावत्तज्जीवादावेकधर्मिणि<sup>२</sup> पररूपादिभिर्नास्तित्वं स्वरूपादिभिरस्तित्वेनाविनाभावि साध्यत्येव, विशेषणत्वसाधनस्यानवद्यत्वात्, पक्षीकृते नास्तित्वे विशेषणत्वस्य भावादस्तित्ववत्, विपक्षे च स्वप्रतिषेध्याविनाभावरहिते क्वचिदप्य-

**उत्थानिका**—जीवादि में अस्तित्व नास्तित्व के साथ अविनाभावी हो जावे, किन्तु नास्तित्व अस्तित्व के साथ अविनाभावी कैसे हो सकता है ? क्योंकि आकाश कमल आदि में किसी भी प्रकार से अस्तित्व असंभव है, ऐसा मानने वालों के प्रति आचार्य कहते हैं—

**कारिकार्य**—एक धर्मी में नास्तित्व भी अपने प्रतिषेध्य—अस्तित्व के साथ अविनाभावी है, क्योंकि वह विशेषण है, जैसे कि अभेद विवक्षा (अन्वय की अपेक्षा) से किसी अनुमान में वैधर्म्य साधर्म्य के साथ अविनाभावी हैं ॥१८॥

शब्द को अनित्यत्व आदि सिद्ध करने में कृतकत्व आदि हेतु में अपने सपक्षभूत साधर्म्य के साथ अविनाभावी विशेषण सिद्ध है, जो कि विपक्ष—नित्य में वैधर्म्य उदाहरणरूप से प्रसिद्ध है और वह जीवादि एक धर्मी में पररूपादि से नास्तित्व को स्वरूपादि से अस्तित्व के साथ अविनाभावी सिद्ध हो करता है, क्योंकि विशेषण-वैधर्म्यरूप साधन निर्दोष है । पक्ष में किये गये नास्तित्व में अस्तित्व के समान यह विशेषण विद्यमान ही है और अपने प्रतिषेध्य—अस्तित्व के साथ अविनाभाव से रहित आकाशकमल में उस विशेषण और हेतु का अभाव है क्योंकि अपने प्रतिषेध्य के साथ अविनाभाव से रहित वह नास्तित्व आकाश पुष्प में विशेषण ही नहीं बन सकता है ।

इसलिये इस हेतु में असिद्ध, विरुद्ध, अनैकांतिक दोष का अभाव है एवं यह व्यतिरेक लक्षण दृष्टांत भी साध्य-साधन की विकलता आदि दोषों से रहित है । जिस प्रकार हेतु में व्यतिरेक की अपेक्षा से साधर्म्य-अन्वय दृष्टांत विद्यमान है । उसी प्रकार से हेतु में वैधर्म्य भी अभेद विवक्षा से अविनाभावीरूप निश्चित है ।



भावात्, तथा तस्य विशेषणत्वानुपपत्तेरित्यसिद्धविरुद्धानैकान्तिकत्वदोषाभावात्, दृष्टान्तस्य च<sup>१</sup> साध्यसाधनवैकल्यादिदोषासंभवात्<sup>२</sup>, साधर्म्यस्येव हेतौ भेदविवक्षया, वैधर्म्यस्याभेदविवक्षयाऽविनाभावित्वनिश्चयात्, तत्र<sup>३</sup> भेदविवक्षावदभेदविवक्षायाः परमार्थसद्वस्तुनिबन्धनत्वात् ।

[ भेदाभेदविवक्षे अवस्तुनिमित्तके इति मन्यमाने दोषानारोपयन्ति जैनाचार्याः ]

भेदाभेदविवक्षयोरवस्तुनिबन्धनत्वे विपर्यासोपि किं न स्यात् ? <sup>४</sup>शब्दानित्यत्वसाधने कृतकत्वादिहेतौ <sup>५</sup>घटादिभिर्भेदविवक्षा गगनादिभिरभेदविवक्षा हि विपर्यासः । स<sup>६</sup> च परैर्नेष्यते एव । तदिष्टौ<sup>७</sup> शब्दानित्यत्वसाधनाद्धेतोर्विपर्यासः स्यात्, विरुद्धत्वोपपत्तेः । सोऽयं<sup>८</sup> कृतकत्वादेः साधनस्याविरुद्धत्वमुपयंस्तत्र<sup>९</sup> भेदाभेदविवक्षयोर्विपक्षेतरापेक्षयोर्वस्तुनिबन्धनत्वमुपगन्तुमर्हति<sup>१०</sup> । ततः समञ्जसमेतत्<sup>११</sup>, यत्किञ्चिद्विशेषणं<sup>१२</sup> तत्सर्वमेकत्र प्रतिपक्षधर्माविनाभावि<sup>१३</sup> यथा वैधर्म्य-

उसमें भेद विवक्षावत् (व्यतिरेक-दृष्टान्त के समान) अभेदअन्वय-विवक्षा भी परमार्थ सत् है, क्योंकि वह विवक्षा वस्तु के निमित्त से ही होती है ।

[ भेदविवक्षा और अभेदविवक्षा अवस्तु निमित्तक हैं, ऐसा मानने पर जैनाचार्य दोष दिखाते हैं ।

यदि आप बौद्ध भेदाभेद विवक्षा को अवस्तुनिमित्तक स्वीकार करेंगे, तब तो विपर्यास भी क्यों नहीं स्वीकार कर लेते ? उसी विपर्यास का स्पष्टीकरण करते हैं—

शब्दादि को अनित्य सिद्ध करने में कृतकत्वादि हेतु में घटादि से व्यतिरेकविवक्षा एवं गगनादि से अन्वयविवक्षा ही विपर्यास कहलाता है । इस विपर्यास को आप सौगत स्वीकार ही नहीं करते हैं ।

यदि आप उसे स्वीकार कर लेंगे, तब तो वह हेतु शब्द को नित्य ही सिद्ध कर देगा । पुनः आपके लिये यह हेतु विरुद्ध हेत्वाभास बन जावेगा, क्योंकि आपने शब्द को नित्य माना ही नहीं है और यदि आप कृतकत्व आदि हेतु को विरुद्ध दोष से रहित अविरुद्ध स्वीकार करेंगे, तब तो उस हेतु में विपक्ष की अपेक्षा से व्यतिरेकविवक्षा एवं सपक्ष की अपेक्षा से अन्वयविवक्षा वस्तु निमित्तक है—वास्तविक हैं ऐसा स्वीकार करना ही योग्य है ।

इसीलिये यह समञ्जस ही है - ठीक ही है कि जो कुछ भी विशेषण हैं वे सभी एकत्र-जीवादि में

१ कृतकत्वादेर्हेतोः । (दि० प्र०) २ हेतौ वैधर्म्यं पक्षः साधर्म्येणाविनाभावि भवति विशेषणत्वादित्यत्र साध्यसाधन-वैकल्येन । (दि० प्र०) ३ हेतोः । (दि० प्र०) ४ आशङ्क्य । (दि० प्र०) ५ कृत्वा । (दि० प्र०) ६ विपर्यासः परैः क्षणिकादिवादिभिर्नाङ्गीक्रियत एव । (दि० प्र०) ७ विपर्यासग्रहणे । (दि० प्र०) ८ सोऽयं । (दि० प्र०) ९ अभ्यु-पगच्छन् । (व्या० प्र०) १० अव्यव्यतिरेके । (व्या० प्र०) ११ तत्त्वरूपम् । (व्या० प्र०) १२ नास्तित्वम् । (व्या० प्र०) १३ अस्तित्व । (व्या० प्र०)

मभेदविवक्षया हेतौ, तथा<sup>१</sup> च नास्तित्वं विशेषणमित्यनुमानं, साध्यसद्भावे<sup>२</sup> एव साधनस्य सद्भावनिश्चयात्,

[ वस्तुन्यस्तित्वधर्म एव वास्तविको न च नास्तित्वधर्म इति मन्यमाने दोषानाहुराचार्याः ]

अन्यथा व्यवहारसंकरप्रसङ्गात्, करभत्वस्य करभवदधन्यपि सद्भावानुषङ्गात् दधित्वस्य च दधनीव करभेपि<sup>३</sup> प्रसक्तेः । दधि खादेति चोदितः करभमभिधावेत्<sup>४</sup> करभवद्वा दधन्यपि नाभिधावेत्<sup>५</sup>, 'अदधित्वस्याकरभत्वस्य च क्वचिदप्यभावात् । इति प्रवृत्तिनिवृत्तिलक्षणो

प्रतिपक्ष धर्म के साथ अविनाभावी हैं जैसे हेतु में अभेदविवक्षा से वैधर्म्य अविनाभावी है । और उसी प्रकार से नास्तित्व विशेषण अस्तित्व के साथ अविनाभावी है ।

यह अनुमान वाक्य है, क्योंकि साध्य के सद्भाव (अस्तित्व के सद्भाव) में ही साधन (हेतु का नास्तित्व विशेषण) का सद्भाव निश्चित है ।

[ वस्तु में अस्तित्व धर्म भी वास्तविक है किन्तु नास्तित्व धर्म वास्तविक नहीं है,

ऐसा मानने पर आचार्य दोष दिखाते हैं ]

अन्यथा—साध्य के अभाव में भी यदि साधन का सद्भाव—अस्तित्व के अभाव में भी यदि विशेषण का सद्भाव स्वीकार करेंगे, तब तो व्यवहार में संकर दोष का प्रसंग आ जावेगा । उसी का समर्थन करते हैं—

करभपना (ऊँटपना) जो विशेषण है वह करभ में रहने के समान दही में भी हो जावेगा और जो दधिपना है वह दही में रहने के समान ऊँट में भी हो जावेगा और तब तो यदि किसी ने किसी को कहा कि "दधि खाद" दही खावो इतना सुनते ही वह ऊँट की तरफ दौड़ पड़ेगा । अथवा ऊँट की तरफ नहीं जाने के समान ही दधि की तरफ भी नहीं जावेगा, क्योंकि उन ऊँट अथवा दही में अदहीपने का और अकरभपने का अभाव ही है । अर्थात् यदि दही में ऊँट की अपेक्षा नास्तित्व धर्म नहीं है, तब तो दही जिस प्रकार दहीरूप से विद्यमान है, उसी प्रकार ऊँटरूप का और अन्य सभीरूप का उसमें अस्तित्व आ धमकेगा । तब तो "दधि खाद" सुनते ही कोई ऊँट की तरफ भी दौड़ पड़ेगा ।

एवं इस प्रकार का प्रवृत्ति निवृत्ति लक्षण व्यवहार ही संकर—मिश्रितरूप हो जावेगा, क्योंकि सभी वस्तुओं में सर्वथा सभी धर्मों का सद्भाव हो जावेगा । यदि आप कहें कि दही में स्वरूप से दहीपना है, न कि ऊँटरूप से । एवं ऊँट से स्वरूप से ऊँटपना है न कि दहीरूप से, जिससे कि प्रवृत्ति आदि व्यवहार में संकर का प्रसंग आवे । अर्थात् व्यवहार में संकर नहीं हो सकता है, इस मान्यता

१ वैधर्म्यप्रकारेण । (व्या० प्र०) २ अस्तित्वाभावेपि विशेषणं यदि साध्याभावे साधनस्य सद्भाव निश्चयो यदि वा । (दि० प्र०) ३ दधित्वस्य । प्रसजति । (दि० प्र०) ४ सन्मुखं गच्छेत् । (दि० प्र०) ५ कुतः । (दि० प्र०)

६ करभत्वस्येत्यर्थः । (दि० प्र०)

व्यवहारः संकीर्णतः, सर्वस्य सर्वथा सद्भावात् । यदि पुनर्दधनि स्वरूपेण दधित्वं न करभरूपेण करभे च स्वरूपेण करभत्वं न दधिरूपेण यतः प्रवृत्त्यादिव्यवहारसंकरः प्रसज्येतेति<sup>१</sup> मतं तदा सिद्धं दधित्वमदधित्वेन प्रतिषेध्येनाविनाभावि करभत्वं चाकरभत्वाविनाभावि, तद्वत्तत्सर्वं विशेषणं स्वप्रतिषेध्येनाविनाभावि । इति सिद्धान्यथानुपपत्तिः, विपक्षे बाधकसद्भावात् ।

[ हेतोरन्यथानुपपत्तिसिद्धायां धर्मधर्मिव्यवस्थाकल्पितैव अनुमानस्य कल्पितत्वात् ततः कथं समञ्जसमित्यारेकायामुत्तरं ]

न हि <sup>२</sup>स्वेच्छाप्रकल्पितधर्मधर्मिव्यवस्थायां<sup>३</sup> <sup>४</sup>परमार्थावतारः स्यात्, यतः सर्व एवाय-  
मनुमानानुमेयव्यवहारो बुद्धचारूढेन<sup>५</sup> धर्मधर्मिन्यायेन<sup>६</sup> बहिः<sup>७</sup> सदसत्त्वमपेक्षते इति युक्तं  
भवेत्<sup>८</sup> । <sup>९</sup>तदसमीक्षिततत्त्वार्थैर्लोकप्रतीतिवशाद्बुद्धेर्दाभेदव्यवस्थितिस्तत्त्वप्रतिपक्षे<sup>१०</sup> समा-

के अनुसार तो यही सिद्ध होता है कि दधि अदधिरूप अपने प्रतिषेध्य के साथ अविनाभावी है और करभ अपने अकरभ-नास्तित्व के साथ अविनाभावी है, उसी प्रकार से वे सभी विशेषण-नास्तित्व आदि अपने-अपने प्रतिषेध्य के साथ अविनाभावी हैं ।

इस प्रकार से “नास्तित्व अस्तित्व के साथ अविनाभावी है, क्योंकि विशेषणत्व की अन्यथानुप-  
पत्ति है ।” इस हेतु की “अन्यथानुपपत्ति” सिद्ध हो गई क्योंकि साध्य रहित खपुष्परूप विपक्ष में  
बाधक प्रमाण का सद्भाव है ।

[ हेतु की अन्यथानुपपत्ति के सिद्ध हो जाने पर भी धर्म-धर्मों की व्यवस्था कल्पित ही है, क्योंकि अनुमान भी कल्पित है तब समञ्जसपना कैसे हो सकेगा ? इस प्रकार से बौद्ध के कहने पर जैनार्थ कहते हैं ]

धर्म और धर्मों की व्यवस्था को स्वेच्छा से कल्पितरूप मानने पर वास्तविकता का अवतरण नहीं हो सकेगा जिससे कि यह सभी अनुमान-अनुमेय व्यवहारबुद्धि से आरूढ़ धर्म-धर्मों के न्याय से बाह्य में सत्त्व, असत्त्व की अपेक्षा करता है, यह कथन युक्त हो सके । अर्थात् उपर्युक्त यह कथन अयुक्त ही है ।

बौद्ध—इसलिये “असमीक्षित तत्त्वार्थ (बिना विचारे ही तत्त्वों को मानने वाले) आप जैन

१ तत्र सांख्यस्य मतम् । (व्या० प्र०) २ स्वरूपाविरचितगुणगुणिस्थापनायां सत्यावतारः स्यात् । परवादिना इत्युक्ते स्याद्वादी आह एवं नहि । (दि० प्र०) ३ कल्पित । (व्या० प्र०) ४ क्षणिकत्व । (व्या० प्र०) ५ कल्पितेन । (व्या० प्र०) ६ अत्र सौगत आह अयं धर्मोऽयं धर्मो तयोर्न्यायोर्मार्गः बुद्धचारूढः न सत्यभूतस्तेन बहिर्घटपटादिषु इदं सत्त्वं इवमसत्त्वं नाधीयत इति हेतोरमं सकल एवानुमानानुमेयव्यवहारः यतः कुतः युक्तो भवेदपितु न कुतोपि । (दि० प्र०) ७ प्रवर्तते । (दि० प्र०) ८ नैव कुतः । (दि० प्र०) ९ धर्मधर्मि । (दि० प्र०) १० क्षणिकत्व । (दि० प्र०)

श्रीयते इति बालाभिलाषकरूपं भावस्वभावोपरोधात्सर्वत्र<sup>१</sup> भेदाभेदव्यवस्थितेः, अन्यथा तत्-  
स्तत्त्वप्रतिपत्तेरयोगात् ।

ननु चास्तित्वं<sup>२</sup> नास्तित्वं च विशेषणमेव न तु विशेष्यम्<sup>३</sup> । ततो न साध्यसाधनधर्मयोः<sup>४</sup>  
परमार्थसत्तोरधिकरणं येन प्रकृतमनुमानद्वितयं वास्तव्यं<sup>५</sup> धर्मधर्मिन्यायेन स्यादित्येके । न तत्सर्वथा-  
भिलाष्यं, वस्तुरूपस्यानभिलाष्यत्वादिति चान्ये<sup>६</sup> । जीवादेर्वस्तुनोत्पन्तमर्थान्तरमेव तत्, प्रति-  
भासभेदाद्घटपटवत् । न पुनरस्तित्वनास्तित्वात्मकं वस्तु, धर्मधर्मिसंकरप्रसङ्गादिति चापरे<sup>७</sup> ।  
तान्प्रत्याचार्याः<sup>८</sup> प्राहुः ।

लोग प्रतीति के निमित्त से तत्त्व साध्य की प्रतिपत्ति के लिये भेदाभेद व्यवस्था का आश्रय लेते हैं ।”

जैन—आप औद्धों का हम जैनो के प्रति यह आक्षेप बालकों के पढ़ा तढ़ा जल्प के समान ही है, क्योंकि भाव-पदार्थों का स्वभाव भेदाभेद लक्षणरूप ही है, अतः उसके उपरोध—स्वीकृति से ही सभी पदार्थों में भेदाभेद की व्यवस्था है ।

अन्यथा—यदि भावस्वभाव के निमित्त से भेद-अभेद की व्यवस्था नहीं मानेंगे, तब तो उस भेदाभेद की व्यवस्था से तत्त्व का ज्ञान भी नहीं हो सकेगा । अर्थात् पदार्थों में भेद और अभेद की व्यवस्था स्वाभाविक और वास्तविक ही है, उसी से वास्तविक तत्त्वों का ज्ञान होता है ।

उत्थानिका—अस्तित्व और नास्तित्व विशेषण ही हैं विशेष्य नहीं हैं । इसलिये वे दोनों परमार्थ सत्तुरूप साध्य और साधन के अधिकरण नहीं हो सकते हैं, जिससे कि प्रकृत दो कारिका में दिए गये दोनों अनुमान अस्तित्व और नास्तित्वरूप धर्म तथा जीवादि धर्मों इन दोनोंरूप धर्म-धर्मों के न्याय से वास्तविक हों अर्थात् वास्तविक नहीं हो सकते ऐसा सौगत कहते हैं ।

वे अस्तित्व और नास्तित्व सर्वथा ही अभिलाष्य—शब्द से कहे जाने योग्य नहीं हैं क्योंकि वस्तु का स्वरूप अनभिलाष्य—अवाच्य ही है, इस प्रकार से अन्य कोई सौगत कह रहे हैं ।

वे अस्तित्व और नास्तित्व जीवादिवस्तु से अत्यन्त भिन्न ही हैं, क्योंकि उनका प्रतिभास भेद पाया जाता है, जैसे कि घट-पट आदि भिन्न-२ हैं । अतएव वस्तु अस्तित्व-नास्तित्वस्वरूप नहीं है, अन्यथा धर्म और धर्मों में संकर दोष का प्रसंग आ जावेगा ऐसा भी कोई-कोई (योगादि) कहते हैं । उन सभी एकांतवादियों के प्रति श्री स्वामिसमंतभद्राचार्यवर्य कहते हैं ।

१ जैनादिकं प्रति सौगतीयं वचः । (दि० प्र०) २ सौगतः । (दि० प्र०) ३ अर्थे । (व्या० प्र०) ४ क्षणिकरूपयोः । जीवादिधर्मो नास्ति । (दि० प्र०) ५ पारमार्थिकम् । (दि० प्र०) ६ सौगताः । (दि० प्र०) ७ जटिलाः । (व्या० प्र०) स्वरूपस्यावाच्यत्वाद्वास्तुनोतभिलाष्यत्वमेव = अस्तित्वनास्तित्वात्मकं वस्तु भवति चेत्तदाधर्मधर्मिणोरैक्यं भवति । (दि० प्र०) ८ वादिनः । (दि० प्र०)

विधेयप्रतिषेध्यात्मा<sup>१</sup> विशेष्यः<sup>२</sup> शब्दगोचरः<sup>३</sup> ।

साध्यधर्मो<sup>४</sup> यथा 'हेतुरहेतुश्चाप्यपेक्षया'<sup>५</sup> ॥१६॥

विधेयमस्तित्वम् । प्रतिषेध्यं नास्तित्वम् । विधेयं च प्रतिषेध्यं च विधेयप्रतिषेधे । ते आत्मानौ स्वभावौ यस्य स विधेयप्रतिषेध्यात्मा, अर्थः सर्वो जीवादिरिति<sup>६</sup> पक्षः । 'विशेष्यत्वादिति हेतुः, विशेष्य इति<sup>१०</sup> हेतुनिर्देशात्, गुरवो राजभाषा न भक्षणीया इति यथा । साध्यो<sup>११</sup> धर्मो, साध्यधर्मधारतया तस्य साध्यव्यपदेशात्, तथोपचारस्य<sup>१२</sup> दृष्टान्तधर्मव्यवच्छे-

कारिकार्थ — शब्द के विषयभूत विशेष्य-जीवादि समस्त पदार्थ विधि एवं प्रतिषेध इन दोनों धर्मस्वरूप हैं, जैसे कि नाश का धर्म जीवा से हेतु एवं अहेतु भी होता है ॥१६॥

विधेय—अस्तित्व, प्रतिषेध्य—नास्तित्व । विधेय और प्रतिषेध्य हैं स्वरूप जिसके, वह विधेय प्रतिषेध्यात्मक (साध्य धर्म) है । वे ही "सभी जीवादि अर्थ हैं ।" यह पक्ष प्रयोग है "विशेष्यत्वात्" यह हेतु निर्देश है । यहाँ कारिका में "विशेष्य" शब्द प्रथमांत होने पर भी हेतु निर्देश है यथा "गुरवो राजभाषा न भक्षणीया" उद्ध नही खाने चाहिये क्योंकि वे गुरु—भारी हैं इस वाक्य में "गुरवः" प्रथमांत होने पर भी "गुरुत्वात्" रूप से हेतु निर्देश हो जाता है क्योंकि जनेन्द्र व्याकरण में सभी विभक्तियाँ हेतु निर्देश में मानी गई हैं ।

इस कारिका में धर्मो साध्य है, क्योंकि साध्य धर्म का आधार होने से उस धर्म में साध्य-लक्षण धर्म का उपचार किया जाता है । तथा इस उपचार का कारण दृष्टान्त धर्मों का व्यवच्छेद करना है । अर्थात् दृष्टान्तरूप धर्मों किसी भी तरह नहीं माना जाता है । अनुमान प्रयोग काल की अपेक्षा केवल साध्य विशिष्ट धर्मो साध्य मान लिया जाता है ।

इस साध्यरूप धर्मों के जो उत्पत्तिमत्त्वादि हेतु हैं, वे साध्य के धर्म या विवर्त कहलाते हैं । जिस प्रकार ये साध्य के धर्म-उत्पत्तिमत्त्वादि हेतु अनित्यत्व साध्य की अपेक्षा हेतु हैं उसी प्रकार से ये नित्यत्व साध्य की अपेक्षा अहेतु हैं । अर्थात् "शब्दोऽनित्यः उत्पत्तिमत्त्वात् कृतकत्वात्" इस

- १ जीवादिधर्मो । (व्या० प्र०) २ यसः । (व्या० प्र०) विशेषणमिदम् । (दि० प्र०) ३ प्रथमान्तोऽयं हेतुर्यत इत्युक्ते विशेष्यत्वादिति ज्ञेयम् यथा गुरवो राजभाषान भक्षणीयाऽत्र गुरुत्वादिति प्रथमा ज्ञेया । (दि० प्र०) ४ अयमपि प्रथमान्तो हेतुर्यथा जीवादिविशेष्यः शब्दगोचरत्वादिति । (दि० प्र०) ५ उत्पत्तिमत्त्वादिदृष्टान्तः । (दि० प्र०) ६ दृष्टान्तद्वयमन्वयव्यतिरेकरूपम् । (दि० प्र०) ७ नित्यानित्ययोरसाध्यसाध्यापेक्षयाऽहेतुर्हेतुत्पत्तिमत्त्वादित्यथा तथाय जीवादिरस्तित्वनास्तित्वयुक्तः । (दि० प्र०) ८ प्रकृतास्तित्वनास्तित्वे आदिशब्देन गृहीते प्रतिपत्तव्ये । (दि० प्र०) ९ जीवादेः । (व्या० प्र०) १० विशेष्यप्रतिषेध्यात्माख्यसाध्याभावे विशेष्यत्वाख्यसाधनं न संभवत्येव । तथाहि प्रतिषेधकान्ते तावत्स्वरूपाभावः ततश्च कथं विशेष्यत्वं विशेष्यैकान्ते तु स्वरूपेणैव पररूपेणापि विशेष्यत्व-प्रसंगेन विशेषणस्यैव संभवान् कुतो विशेष्यत्वम् । (दि० प्र०) ११ कारिका परार्थं व्याख्याति साध्य इति । (दि० प्र०) १२ संज्ञा घटते । (दि० प्र०)

दार्थत्वात् । तस्य धर्मो विवर्त<sup>१</sup> उत्पत्तिमत्त्वादिः । स यथा हेतुरनित्यत्वसाध्यापेक्षया, नित्य-  
त्वसाध्यापेक्षयाऽहेतुश्च<sup>२</sup>, गमकत्वागमकत्वयोगात्, तथा<sup>३</sup> साध्याविनाभावेतरसद्भावादिति  
दृष्टान्तः । इत्यनुमानात्सत्त्वेतरात्मकः<sup>४</sup> कथंचिज्जीवाद्यर्थः सिद्धयत्येव । हेतोर्विशेष्यत्वस्या-  
सिद्धिरिति चेन्न, विशेष्योसौ, <sup>५</sup>शब्दगोचरत्वात्<sup>६</sup> तद्वदित्यनुमानात्तस्य<sup>७</sup> विशेष्यत्वहेतोः  
साधनात्<sup>८</sup> । शब्दगोचरत्वमसिद्धमर्थस्येति चेन्न, शब्दगोचरो जीवादिः, <sup>९</sup>विशेष्यत्वात्तद्वदित्य-  
नुमानात्तस्य साधनात् । न चैवमितरेतराश्रयदोषः, सर्वथानभिलाप्यवस्तुवादिनः प्रति शब्द-

प्रयोग में जो साध्य के धर्म उत्पत्तिमत्त्वादि हैं वे अनित्य साध्य की अपेक्षा हेतु एवं नित्य साध्य की अपेक्षा अहेतु हैं क्योंकि वे अपने साध्य के गमक एवं अन्य साध्य के अगमक हैं । तथैव साध्य के साथ अविनाभाव और साध्य के साथ अविनाभाव का अभाव इन हेतुओं में इन दोनों का सद्भाव है, इस प्रकार दृष्टान्त कथन है, इस अनुमान से “जीवादि पदार्थ कथंचित् सत्त्वासत्त्वात्मक सिद्ध ही हो जाते हैं ।” अर्थात् कथंचित् सभी जीवादि पदार्थ विधि-प्रतिषेधात्मक हैं, क्योंकि वे विशेष्य हैं, जैसे कृतकत्वादि हेतु । यथा अनित्य साध्य की अपेक्षा से कृतकत्वादि हेतु हैं, वैसे ही नित्यत्व साध्य की अपेक्षा वे हेतु अहेतु हैं । इस अनुमान से सभी वस्तु विधि प्रतिषेध्यात्मक ही हैं ।

शंका—विशेष्यत्व को हेतु बनाने में असिद्ध दोष आता है ।

समाधान—ऐसा नहीं कह सकते । वह हेतु विशेष्य है, क्योंकि वह शब्द का गोचर है, हेतु के समान । इस अनुमान से उस विशेष्य हेतु को सिद्ध किया जाता है ।

शंका—जीवादि पदार्थ को शब्द के गोचर कहना भी असिद्ध है ।

समाधान—ऐसा कहना ठीक नहीं है । “जीवादि पदार्थ शब्द के गोचर हैं, क्योंकि वे विशेष्य हैं, हेतु के समान ।” इस अनुमान से उन जीवादि पदार्थों को शब्द के गोचर सिद्ध किया गया है ।

इस प्रकार से शब्द गोचरत्व सिद्ध करने में विशेष्यत्व को हेतु बनाया है एवं विशेष्यत्व को सिद्ध

१ परिणामित्वम् । (व्या० प्र०) २ कुतः । (दि० प्र०) ३ स्वसाध्यः स्वसाध्यापेक्षाप्रकारेण । (व्या० प्र०) ४ सर्वो जीवाद्यर्थः पक्षः विधेयप्रतिषेध्यात्मा भवतीति साध्यो धर्मः विशेष्यत्वात् यो विशेषः सविधेयप्रतिषेध्यात्माऽपेक्षया हेतुरहेतुः यथा साध्यधर्मः विशेषश्चायं तस्माद्विधेयप्रतिषेध्यात्मा = द्वितीये सर्वो जीवाद्यर्थः पक्षः विशेष्यो भवतीति साध्यो धर्मः शब्दगोचरत्वाद्धेतुः । तृतीयेऽर्थः पक्षः शब्दगोचरो भवतीति साध्यो धर्मः विशेष्यत्वात् । चतुर्थेऽर्थः पक्षः विधेयप्रतिषेध्यात्मा भवतीति साध्यो धर्मः वस्तुत्वात्प्रभेयत्वाद्धेतुः । (दि० प्र०) ५ विशेष्यवाच्यस्य विशेषणं वचो यतो विशेष्यं विनियम्यते च यत् । इति वचनात् शब्दगोचरत्वे विशेष्यत्वं सिद्धमेव । (व्या० प्र०) ६ पदार्थान्तराद व्यवच्छेदकशब्द एव विशेषणं तद् तद्विषयं विशेष्यं तस्य व्यवच्छेदकं विशेषणमिति वचनात्तदगोचरस्य पदार्थस्य विशेष्यत्वं सिद्धयत्येव । (दि० प्र०) ७ यथा साध्य धर्मः = यथा धूमत्वादिति हेतुरग्निमत्त्वं साध्य स्वसाध्यं प्रतिसाधनं भवति विपक्षेऽप्यदौ असाधनं भवति । (दि० प्र०) ८ अनेनास्तित्वं नास्तित्वञ्च विशेषणमेव न तु विशेष्यमित्यादिना प्रत्यक्षस्थिताः प्रत्युक्ताः । (दि० प्र०) ९ सन्प्रमेय इत्यादि शब्दस्याप्यगोचरस्य विशेष्यत्वानुपपत्तिः सिद्धयत्येवासाधनात् । अनेनानभिलाप्यवस्तुवादिना प्रत्युक्ताः । (दि० प्र०)

गोचरत्वे साध्ये विशेष्यत्वस्य हेतुत्ववचनात्, सर्वथा वाऽविशेष्यत्ववादिनः प्रति शब्दगोचर-  
त्वस्य साधनत्वाभिधानात्, तदुभयासत्त्ववादिनस्तु<sup>१</sup> प्रति वस्तुत्वस्योभयप्रसिद्धस्य हेतोः  
सामर्थ्यतः प्रयोगात्<sup>२</sup> । <sup>३</sup>विधेयप्रतिषेध्यात्मकत्वस्यापि<sup>४</sup> तात्प्रति तत एव सिद्धिः । इति समा-  
सतः कारिकार्थः समवतिष्ठते ।

[ बौद्धो ब्रूते यत् प्रत्यक्षज्ञाने स्वलक्षणमेव प्रतिभासते न पुनरस्तित्वादिविशेषणं तस्य विचारः ]

ननु च प्रत्यक्षबुद्धौ<sup>५</sup> वस्तु स्वलक्षणमेव प्रतिभाति, न पुनरस्तित्वादिविशेषणं, तस्य  
सकलविकल्पविकलत्वात्, विकल्पबुद्धौ तद्व्यवहारप्रसिद्धेरिति चेन्न, वस्तुनोस्तित्वाद्यनेक-  
विकल्पात्मकस्य<sup>६</sup> सांशस्यैव प्रतीतिः<sup>७</sup> । <sup>८</sup>किञ्चित्केनचिद्विशिष्टं<sup>९</sup> गृह्यमाणं विशेषण-

करने में शब्द गोचरत्व को हेतु बनाया है, किन्तु इस प्रकार से इनमें परस्पराश्रय दोष भी नहीं  
आता है । सर्वथा वस्तु को अनभिलाष्य—अवाच्य मानने वाले बौद्धों के प्रति “जीवादिः शब्दगोचरः  
विशेष्यत्वात्” इस प्रकार जीवादि को शब्द गोचर सिद्ध करने में “विशेष्यत्व” को हेतु बनाया है  
अथवा सर्वथा अविशेष्यत्ववादी-शब्दाद्वैतवादी के प्रति “जीवादिविशेष्यः शब्दगोचरत्वात्” इस प्रकार  
“गोचरत्व” को हेतु बनाया है । उभय दोनों का असत्त्व मानने वाले वादियों के प्रति उभय में  
प्रसिद्ध ऐसे वस्तुत्व हेतु का प्रयोग किया जाता है । यथा “जीवादिपदार्थः शब्दगोचरो विशेष्यश्च  
वस्तुत्वात्” और इसी ‘वस्तुत्वात्’ हेतु से उन उभय के असत्त्व मानने वाले वादियों के प्रति जीवादि  
पदार्थों में “विधेय प्रतिषेध्यात्मकत्व” की भी सिद्धि कर दी गई है । इस प्रकार संक्षेप से कारिका का  
अर्थ स्पष्ट किया गया है ।

[ बौद्ध का कहना है कि प्रत्यक्ष ज्ञान में स्वलक्षण ही अलकता है अस्तित्वादि नहीं उस पर विचार ]

बौद्ध—प्रत्यक्ष बुद्धि में स्वलक्षणरूप ही वस्तु प्रतिभासित होती है न कि पुनः अस्तित्वादि  
विशेषण क्योंकि वह स्वलक्षण सकल विकल्पों से रहित है तथा सविकल्पात्मक ज्ञान में ही उन  
अस्तित्वादि को जानने का व्यवहार प्रसिद्ध है ।

जैन—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि प्रत्येक वस्तु अस्तित्वादि अनेक विकल्पात्मक एवं विधि-  
निषेधादि भेदों से अंश सहित ही प्रतीति में आ रही है ।

१ सर्वथाऽनभिलाष्यसर्वथाऽविशेष्यवादिनः प्रति वस्तुत्वादिति हेतुः करणीयः जीवाद्यर्थः पक्षोऽभिलाष्यविशेष्यो भव-  
तीति साध्यो धर्मः वस्तुत्वादिति हेतुर्वादिप्रतिवादिप्रसिद्धः । (दि० प्र०) २ अत्रापि यद्वस्तु तद्विशेष्यमिति सिद्धयत्येव  
वस्तुत्वविशेषणविशिष्टस्य विशेष्यत्वाविरोधात् । यद्वस्तु तद्विधेयमित्यपि न विरुद्धयते । वस्तुशब्देनाभिहितस्याभि-  
धेयत्वसंभवात् । (दि० प्र०) ३ साध्यस्य । (दि० प्र०) ४ कस्यापि इति पा० प्रागुक्तस्य । (दि० प्र०) ५ निवि-  
कल्पकप्रत्यक्षस्य । (दि० प्र०) ६ भेदः । (दि० प्र०) ७ सौगतमतव्यवस्थापनद्वारेण निराकरोति । (दि० प्र०)  
८ जीवादि वस्तु । (दि० प्र०) ९ केनचिद्रूपेण विशिष्टं किञ्चिद्गृह्यमाणं वस्तुविशेषणादिसंकलनेन गृह्येत ।  
(दि० प्र०)

विशेष्यतत्संबन्धलोकस्थितिसंकलनेन<sup>१</sup> गृह्यते<sup>२</sup> नान्यथेत्यभिनिवेशेऽपि वस्तुनो विधिप्रतिषेध-  
स्वभावयोः प्रत्येकं दर्शनमवश्यंभावि<sup>३</sup>, वस्तुन<sup>४</sup> एव दर्शनं, न तद्विधिप्रतिषेधस्वभावयो-  
र्विशेषणयोरिति वक्तुमशक्तेः सदसत्स्वभावशून्यस्य स्वलक्षणस्य<sup>५</sup> दर्शने<sup>६</sup> तत्पृष्ठभाविदिकल्पे-  
नापि सदसत्त्वयोरध्यवसायायोगात्<sup>७</sup> पीतदर्शनपृष्ठभाविना विकल्पेन नीलत्वाध्यवसायायो-  
गवत् . ततो विधिप्रतिषेधाच्चात्मानो विशेष इत्य सविकल्पकत्वं साधयतः, सर्वथा तस्य<sup>८</sup> भेदा-  
भावे सदिदमसदिदमिति प्रत्येकं दर्शनाभावानुषङ्गात्, इदमुपलभे नेदमिति विकल्पोत्पत्ति-  
विरोधात् । ततः<sup>९</sup> सामान्यविशेषात्मकं<sup>१०</sup> यस्तु स्वलक्षणं, न पुनः सकलविकल्पातीतं विशेष-

किन्हीं अस्तित्वादि से विशिष्ट किसी 'सत्' को ग्रहण करते हुये विशेषण-विशेष्य एवं उसके सम्बन्ध को लोकस्थिति संकलन के द्वारा ग्रहण करता है अन्यथा ग्रहण नहीं करता है, इस प्रकार बौद्धों का अभिप्राय होने पर भी वस्तु के विधि-प्रतिषेध स्वभाव में प्रत्येक का दर्शन (प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय) होना अवश्यंभावी है ।

आप बौद्ध ऐसा कह नहीं सकते कि "वस्तु का ही दर्शन होता है उसके विधि-प्रतिषेध स्वभाव-रूप विशेषण का दर्शन नहीं होता है" क्योंकि सत्-असत् स्वभाव से शून्य स्वलक्षण का निविकल्पदर्शन में यदि प्रतिभास मानते हो तब तो उस निविकल्प ज्ञान के पीछे होने वाले सविकल्प ज्ञान से भी सत् और असत् का अध्यवसाय नहीं हो सकेगा । अर्थात् निविकल्पदर्शन जिस वस्तु को ग्रहण करता है, उसके पीछे होने वाला विकल्प भी उसी को ग्रहण करता है, न कि अन्य को । जैसे पीत दर्शन के होने पर तत्पृष्ठभावी विकल्प से नीलत्व का अध्यवसाय नहीं हो सकता है ।

अतएव विधि-प्रतिषेध स्वभाव ही विशेष-स्वलक्षणरूप वस्तु में सविकल्पना (सांशत्व) को सिद्ध करते हैं । सर्वथा विधि और प्रतिषेधरूप स्वभाव का अभाव मानने पर यह "सत्" है, यह "असत्" है इस प्रकार से किसी एक के भी दर्शन के अभाव का प्रसंग आता है क्योंकि इसको मैं प्राप्त करता हूँ इसको नहीं, इत्यादि विकल्प की उत्पत्ति का भी विरोध हो जाता है ।

इसलिये सामान्य-विशेषात्मक वस्तु ही स्वलक्षण है, न कि पुनः सकल विकल्पातीत विशेष-मात्र । अथवा सामान्यमात्र ही वस्तु स्वलक्षण है । या परस्पर निरपेक्ष तदुभयरूप वस्तु स्वलक्षण है,

१ योजनेन । (दि० प्र०) २ विकल्पबुद्ध्या । (व्या० प्र०) ३ प्रत्यक्षम् । (व्या० प्र०) ४ कुतः । (व्या० प्र०) क्षणिकरूपस्य । (दि० प्र०) ५ स्वलक्षणस्य सदसत्स्वभावशून्यस्य दर्शने तत्पृष्ठभाविना विकल्पेनापि तद्रहितम-दर्शनात् । (दि० प्र०) ६ अध्यवसायायोगात् । (व्या० प्र०) ७ हे सौगत ! अस्तित्वनास्तित्वरहितस्य क्षणिकरूपस्य वस्तुनः प्रथमं निविकल्पकदर्शनं भवति । तदनन्तरं सविकल्पकज्ञानं जायते । तेन कृत्वा सदसत्त्वयोर्निश्चय इति तवाभिप्रायो न घटते यतः वस्तुभ्यस्ततो सदसतोः निश्चयाघटनात् । यथापीतदर्शनानन्तरं जातपीतज्ञानेन असतः नील-वर्णस्य निश्चयो न घटते । (दि० प्र०) ८ धर्मिणो वस्तुनः । (दि० प्र०) ९ अस्तित्व । (दि० प्र०) १० नास्तित्व । (दि० प्र०)



मात्रं सामान्यमात्रं वा परस्परनिरपेक्षं, तदुभयं वा स्वलक्षणं, तस्य तेन<sup>१</sup> रूपेणाव्यवस्थित-  
त्वात्, सामान्यविशेषात्मन एव जात्यन्तरस्य<sup>२</sup> वस्तुस्वरूपत्वात्<sup>३</sup> तेनैव लक्ष्यमाणस्य स्व-  
लक्षणत्वप्रसिद्धेः<sup>४</sup> सकलबाधकवैधुर्यात्<sup>५</sup> ।

[ विधिनिषेधयोर्धर्मी कः इत्यादिप्रश्ने सति विचारः क्रियते जैनाचार्यः ]

कः पुनर्विधेयप्रतिषेध्ययोर्धर्मी स्यादाश्रयभूतः कश्च तयोस्तेन<sup>६</sup> संबन्धो येन विशेषण-  
विशेष्यभावः स्यादिति चेदुच्यते<sup>७</sup> । अस्तित्वनास्तित्वयोर्धर्मी सामान्यम्<sup>८</sup> । तत्र तादात्म्य-  
लक्षणः संबन्धः, संबन्धान्तरकल्पनायामनवस्थाप्रसङ्गात् । तन्तत्सारं—<sup>९</sup>जात्यादिमतामेतन्न<sup>१०</sup>

क्योंकि वह वस्तु उसरूप से व्यवस्थित नहीं है किन्तु सामान्य-विशेषात्मक एक जात्यन्तररूप ही  
वस्तु का स्वरूप है । उसी जात्यन्तररूप से ही लक्ष्यमाण वस्तु स्वलक्षणरूप से प्रसिद्ध है । अतः वह  
सम्पूर्ण बाधाओं से रहित है ।

[ विधि और निषेध का धर्मी कौन है, इत्यादि प्रश्नों पर जैनाचार्य विचार करते हैं ]

शंका—पुनः विधि और प्रतिषेध्य का धर्मी कौन है ? उन दोनों का आश्रयभूत कौन है ? एवं  
उस धर्मी के साथ उनका संबंध कौन सा है कि जिससे उनमें विशेषण-विशेष्य का भाव बन सके ?

समाधान—हम आपके इन प्रश्नों का समाधान करते हैं । अस्तित्व और नास्तित्व का धर्मी  
सामान्य है । उस धर्मी में विधि और प्रतिषेध का तादात्म्य लक्षण सम्बन्ध है । यदि समवायादि  
सम्बन्धांतर की कल्पना करेंगे तब तो अनवस्था दोष आ जाता है ।

बौद्ध—यदि इस प्रकार सिद्ध है तब तो आपका यह मत सारभूत नहीं है क्योंकि जात्यादि  
सामान्यवाले पदार्थों का प्रत्यक्ष द्वारा ग्रहण ही संभव नहीं है ।

जैन—नहीं, प्रत्युत् जात्यादिरूप सामान्यमान् पदार्थों के अभाव में आप बौद्ध प्रत्यक्षज्ञान के  
द्वारा कुछ भी ग्रहण नहीं कर सकते हैं ।

आप बौद्धों की यह मान्यता है कि सत्-असत् रूप विशेषण से विशिष्ट वस्तु को ग्रहण करने में  
सत्त्वादिसामान्य विशेषण को पहले ग्रहण करके यह प्रत्यक्षज्ञान तदनंतर जीवादिविशेष्य को ग्रहण

१ तस्य स्वलक्षणस्य तेन सामान्यविशेषोभयभावेण व्यवस्थितिर्नास्ति । एकैकरूपेणाव्यवस्थानात् । (दि० प्र०)

२ स्वलक्षणस्य । पदार्थस्य । (दि० प्र०) ३ तस्येति अधिकः पाठः । (दि० प्र०) ४ ता । समवाय = धारणम् ।

(दि० प्र०) ५ रहितत्वात् । (दि० प्र०) ६ तयोः सामान्यविशेषात्मनोस्तेन धर्मिणा सह संबन्धः क इति प्रश्नः वृत्तः

परवादिना । (दि० प्र०) ७ स्यादाश्रय भोगतमुत्तरयति । (दि० प्र०) ८ आश्रयभूतः । (दि० प्र०) ९ सौगतः प्राह ।

अर्थानामेतन्नादात्म्यं न संभवति । तदेतत्सौगतस्य वचः सारं न । कस्मात्तस्य धर्मधर्मिरूपस्य तादात्म्यस्याभावे सति

केवलं विशेषणयुक्तवस्तुग्रहणस्य संभवो न पठते । (दि० प्र०) १० विशेषणविशिष्टत्वेन ग्रहणं न संभवत्येवेति सौग-

तीयं वचः यदि यद्गुच्छा जात्यादिमंत एव । तदा प्रथममेव प्रत्यक्षेण जात्यादिविशिष्टवस्तुग्रहणं भवति । लक्ष्यमाण-

प्रकारेण क्रमतो विशेषणविशिष्टवस्तुग्रहणं तु न संभवतीति भावः । (दि० प्र०)

संभवत्येवेति, तदभावे एवासंभवात्, 'विशेषणविशिष्टवस्तुग्रहणस्य विशेषणं 'सत्त्वादिसामान्य'<sup>२</sup> पूर्वं गृहीत्वा तदनन्तरं विशेष्यं गृह्णाति, ततस्तत्संबन्धं समवायं लोकस्थितिं च विशेषण-विशेष्यव्यवहारनिबन्धनां, ततस्तत्संकलनेन सदिदं वस्तु' इति प्रतीतिक्रमस्यैव दुर्घटत्वात्, विशेषणविशेष्यात्मकस्य<sup>३</sup> सामान्यविशेषरूपस्य वस्तुनो जात्यन्तरस्य यथाक्षयोपशमं प्रत्यक्षे परोक्षे च विज्ञाने 'निर्वाधमनुभवात्तद्विपरीतस्य'<sup>४</sup> जातुचिदप्रतीतेः । तथा सति<sup>५</sup> नैकान्तेन<sup>६</sup> दर्शनविकल्पाभिधानानां विषयभेदोस्ति<sup>७</sup> कथंचित्प्रतिभासभेदेपि<sup>८</sup> प्रत्यासन्नेतरपुरुषदर्शनवत्, प्रतिभासभेदाद्विषयभेदे योगीतरप्रत्यक्षयोरेकविषययोरपि विभिन्नविषयत्वप्रसङ्गात्<sup>१०</sup> । एतेन

करता है । एवं उस विशेषण-विशेष्य के सम्बन्धरूप समवाय को और विशेषण-विशेष्य व्यवहार निमित्तक लोकस्थिति को ग्रहण करता है । पुनः उस लोक स्थिति के ग्रहणानन्तर उस संकलनरूप ज्ञान से "यह वस्तु सत्त्वरूप है" इस प्रकार से ग्रहण करता है, यह आप बीड़ों का प्रतीतिक्रम अतिदुर्घट है । देखिये ! हम जैनों की ऐसी मान्यता है कि विशेषण-विशेष्यात्मकवस्तु सामान्यविशेषरूप से एक जात्यन्तर स्वरूप ही है वह अपने-अपने क्षयोपशम के अनुसार प्रत्यक्षज्ञान में एवं परोक्षज्ञान में बाधा-रहित अनुभव में आ रही है किन्तु उससे विपरीत की कदाचित् भी प्रतीति नहीं होती है अर्थात् अपने-अपने क्षयोपशम के अनुसार प्रत्येक मनुष्य को अपने प्रत्यक्षज्ञान से या परोक्षज्ञान से सामान्य-विशेषात्मक एक जात्यन्तररूप ही वस्तु का अनुभव आता है ।

इस प्रकार से निर्वाधप्रतीति होने पर दर्शन विकल्प और अभिधान अर्थात् प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम प्रमाणों में कथंचित् प्रतिभास भेद होने पर भी एकांत से विषय भेद नहीं है, जैसे कि प्रत्यासन्न और दूरवर्ती पुरुष एक वृक्ष को देख रहे हैं, उन दोनों का प्रतिभास स्पष्ट और अस्पष्टरूप है, फिर भी उस वृक्ष में भेद नहीं है ।

यदि प्रतिभास के भेद से विषय भेद मानोगे, तब तो आपके यहाँ ही योगी—प्रत्यक्ष एवं छद्मस्थ जनों के प्रत्यक्ष एक विषय वाले हैं, उनमें भी भिन्न-भिन्नपने का प्रसंग आ जावेगा । सामान्य-

१ तत्त्वादि । इति पा० । (दि० प्र०) अतः स्याद्वादी सौगतमतं प्रतिशङ्कते । (दि० प्र०) २ जातिरियम् । (व्या० प्र०) ३ कथंचित्पक्षस्य । (दि० प्र०) ४ निश्चितं यथा भवति । दि० प्र०) ५ विशेषणविशेष्यात्मकत्वसामान्यविशेषात्मकत्वलक्षणवस्तुरूपात्जात्यन्तराद्विपरीतस्य कदाचित्प्रतीतिर्नास्ति । प्रतिभासः । (दि० प्र०) ६ जात्यन्तरस्यानुभवे सति । (दि० प्र०) ७ सामान्यविशेषात्मके वस्तुत्वे सति । निविकल्पकज्ञानसविकल्पकज्ञानागमानां प्रमाणत्रयाणां सर्वथा वस्तु भेदो नास्ति कथञ्चित्स्पष्टत्वास्पष्टत्वादिना ज्ञानभेदोस्ति । यथा प्रत्यासन्नदूरतरवस्तुदर्शने वस्तुभेदो नास्ति प्रकाशभेदोस्ति — ज्ञानभेदात्पदार्थभेदश्चेत्तदा सर्वज्ञप्रत्यक्षात्मदादिप्रत्यक्षयोर्द्वयोः एको घटादिविषयोर्मयोस्तीत्यो- विभिन्नपदार्थत्वप्रसङ्गो भवति । यो घटादिर्योगिप्रत्यक्षस्य विषयस्योस्मदादि प्रत्यक्षो न भवतीति । यो घटादिरस्मदा- दि प्रत्यक्षः स योगिप्रत्यक्षो भवति । (दि० प्र०) ८ सौगतो वदति स्वलक्षणं दर्शनस्य विषयः अन्यापोही विकल्पज्ञानस्य विषयः स्वसदात्मकं शब्दस्य विषयः । (दि० प्र०) ९ प्रतिभासभेदोस्ति । इति पा० । (दि० प्र०) १० हेतुत्वा- हेतुअविशेषणात्मकदृष्टान्तस्यापि विकल्पबुद्धावेवप्रतिभासनादसिद्ध इत्याशङ्कयामाहुः एतेनेति । (दि० प्र०)

धूमादिकृतकत्वादिसाध्यधर्मिधर्मस्य<sup>१</sup> साध्येतरापेक्षया हेतुत्वाहेतुत्वविशेषणात्मकस्य<sup>२</sup> निदर्शन-  
तयोपन्यस्तस्य<sup>३</sup> प्रत्यक्षविषयत्वं निवेदितम् ।

[ धूमादिकृतकत्वादिहेतुकोऽपेक्षाकृतो हेतवोऽहेतवश्च भवन्ति ]

तथा हि । धूमादयः कृतकत्वादयो वा 'क्वचिदग्निसलिलयोर्विनाशेतरयोर्वा'<sup>४</sup> साधने-  
तरस्वभावाभ्यां<sup>५</sup> साक्षात्क्रियेरन्, इतरथा<sup>६</sup> विशेष्यप्रतिपत्तेरयोगात् । न हि धूमादीना-  
मग्न्यादी साध्ये साधनत्वं सलिलादावसाधनत्वं च विशेषणमप्रतिपद्यमानो<sup>७</sup> विशेष्यान्धूमा-  
दीन्<sup>८</sup> प्रतिपद्यते नाम, नापि कृतकत्वादीनां विनश्वरत्वे साध्ये साधनत्वमविनश्वरत्वे चासा-  
धनत्वं विशेषणमप्रतीयन्<sup>१०</sup> कृतकत्वादिहेतून्विशेष्यान्प्रत्येतुमीशो यतोऽन्यादिविनश्वरशब्दादीन्

विशेषात्मक वस्तु ही प्रत्यक्षज्ञान का विषय है इस प्रकार के कथन से ही "धूमादि और कृतकत्वादि"  
जो साध्य धर्मों के धर्मरूप हेतु हैं, उनमें साध्य की अपेक्षा से हेतुत्व और असाध्य की अपेक्षा से  
अहेतुत्व विशेषण पाया जाता है । अतएव दृष्टान्तरूप से ग्रहण किये गये हेतु और अहेतुरूप विशेषण  
को प्रत्यक्ष का विषय सिद्ध कर दिया गया समझना चाहिये ।

[ धूमादि कृतकत्वादि हेतु अपेक्षाकृत हेतु, अहेतु दोनों ही होते हैं ]

तथाहि—धूमादि अथवा कृतकत्वादि क्वचित् अग्नि और जल में अथवा विनाश और नित्य में  
हेतु एवं अहेतु के स्वभाव से वादो और प्रतिवादी के द्वारा साक्षात् किये जाते हैं । इतरथा—विशेष्य  
का ज्ञान ही नहीं हो सकेगा ।

अग्नि आदि को साध्य करने में धूमादि हेतु हैं, एवं जलादि को साध्य करने में वे ही धूमादि  
अहेतु हैं । इस प्रकार से उस हेतु, अहेतु को विशेषणरूप नहीं स्वीकार करते हुये आप बौद्ध धूमादि  
विशेष्य को नहीं जानते हैं एवं अनित्यत्व को साध्य करने में कृतकत्वादि हेतु हैं तथा नित्यत्व को  
साध्य करने में अहेतु हैं इस विशेषण को नहीं जानते हुये विशेष्यरूप कृतकत्वादि हेतुओं को जानने  
के लिये समर्थ नहीं हैं, जिससे कि आग्नि आदि और विनश्वर शब्दादि साध्य को भी विशेष्यरूप न  
समझें, प्रत्युत् उनको समझते ही हैं । इसलिये अवश्य ही उन हेतुओं को साक्षात् करते हैं क्योंकि साध्य

१ साध्योऽग्निः शब्दस्यानित्यत्वञ्च साध्यश्चासी धर्मो च साध्यधर्मो तस्य धर्मः साध्यधर्मिधर्मः । धूमादिकृतकत्वा-  
दिश्चासी साध्यधर्मिश्च स तथोक्तस्तस्य साधनस्येत्यर्थः । (दि० प्र०) २ साधनं धूमादिरग्न्यादि साध्यं प्रति हेतुः  
कारणं भवति । जलादि साध्यं प्रति अहेतुः । इति सामान्यविशेषात्मकस्य साधनस्य दृष्टान्तत्वेन कथितस्य प्रत्यक्ष-  
ज्ञानगोचरत्वं प्रतिपादितम् । एतावता किमायातं यथा जीवाद्यर्थः सामान्यविशेषात्मकः प्रत्यक्षेण प्रतिभाति । तथा  
साधनमपि सामान्यविशेषात्मकं प्रत्यक्षेण ज्ञेयम् । (दि० प्र०) ३ दृष्टान्तरूपेण व्याख्यातस्य साध्यापेक्षया हेतुत्व-  
विशेषणात्मकस्येतरापेक्षयाऽहेतुरूपस्य साध्यधर्मविशिष्टकृतकत्वादिधर्मिधर्मस्य प्रत्यक्षविषयत्वं निवेदितम् । (दि० प्र०)  
४ धूमादयः । (दि० प्र०) ५ कृतकत्वादयः । (दि० प्र०) ६ वा । (दि० प्र०) ७ साक्षात्कारणाभावे । (दि० प्र०)  
८ साधकासाधकविशेषणापेक्षया । (व्या० प्र०) ९ हेतुरूपान् । (दि० प्र०) १० अजानन् । (व्या० प्र०)

साध्यापि विशेष्यान्प्रतिपद्येत । प्रत्येति<sup>१</sup> च तान्<sup>२</sup> । ततोवश्यं साक्षात्कुर्वीत तद्धेतून्<sup>३</sup>, साध्येतरापेक्षायां सत्यां साधनेतरस्वभावाभ्यां तत्साक्षात्करणे विरोधाभावात् । अनपेक्षायां तु विरोधः, क्वचिदेकत्र साध्ये हेतूनां साधनत्वेतरयोरनुपलम्भात् । यतश्चैवं प्रसिद्धमुदाहरणं, वादिप्रतिवादिनोर्बुद्धिसाम्यात् 'तस्माच्चदभिधेयं तद्विशेष्यम् । 'यथोत्पत्त्यादिरपेक्षया<sup>४</sup> हेतुर-हेतुश्च साध्येतरयोः<sup>५</sup> । तथा च, विमत्यधिकरणं सत्त्वाभिधेयत्वादि, तस्मात्साध्यसाधनधर्म-विशेषणापेक्षया विशेष्यम् । इत्यनुमानादेकस्य विशेषणविशेष्यात्मकत्वविरोधनिरासः । यद्वा<sup>६</sup> विशेष्यं तदभिलाप्यं, यथोत्पत्त्यादि, विशेष्यं चास्तित्वादिवस्तुरूपं, तस्मादभिलाप्यम्, इति

और असाध्य की अपेक्षा के होने पर साधन और असाधन स्वभाव के द्वारा उन हेतु को साक्षात् करने में किसी भी प्रकार का विरोध नहीं है, किन्तु साध्य और असाध्य की अपेक्षा के न रखने पर ही हेतु और अहेतु का विरोध है ।

किसी एक ही अग्निमत्त्व आदि साध्य में हेतु को साधन और असाधनरूप मानने में विरोध की उपलब्धि नहीं होती है, इसीलिये यह हेतु उदाहरणरूप में प्रसिद्ध है, क्योंकि वादी और प्रतिवादी दोनों की बुद्धि में समानता है इसलिये जो अभिधेय—वाच्य है, वह विशेष्य है । अर्थात् जो वाच्य है, वही विशेषण के योग्य है, जैसे इस व्याप्ति से जीवादि को धर्मी सिद्ध किया है, वैसे ही अस्तित्वादि विशेषणों को भी धर्मी कहा है, ऐसा समझना चाहिये । जैसे साध्य और असाध्य में अपेक्षा से उत्पत्ति-मत्त्वादि हेतु और अहेतु दोनों हैं । उसी प्रकार से विवादापन्त सत्त्व-वाच्यत्वादि भी अपेक्षा से हेतु और अहेतु दोनों रूप हैं ।

इसलिये साध्य (विधेय-प्रतिषेध्यात्मा) साधन (विशेष्यत्वात्, शब्दगोचरत्वात्) धर्म विशेषण की अपेक्षा से विशेष्य है । इस अनुमान से एक सत्त्वादि धर्म में विशेषण-विशेष्यात्मक विरोध का निरास हो जाता है । अथवा जो विशेष्य है वह अभिलाप्य है जैसे उत्पत्ति आदि और अस्तित्वादि वस्तुरूप विशेष्य हैं इसीलिये वे अभिलाप्य—वाच्य हैं । इस कथन से "वस्तुस्वरूप अनभिलाप्य—अवाच्य है" इसका खण्डन कर दिया गया समझना चाहिये ।

१ तद्व्यञ्ज्यादि प्रतिपत्तिरपि साभूदित्याह । (दि० प्र०) २ साध्यान् । (दि० प्र०) ३ तस्याग्निविनश्वरशब्दादि-साध्यस्य हेतून् धूमादिकृतकत्वादीन् । (दि० प्र०) ४ इति व्याप्तिः । उत्तरतृतीयभाष्यचरमभागे वक्ष्यमाणं सत्त्वा-भिधेयत्वादित्येतदत्रापि पक्षत्वेन प्रतिपत्तव्यम् । अन्तर्दीपकं सर्वत्र योज्यमित्युत्तरत्रप्रतिपादनात् । (दि० प्र०) ५ साध्यधर्मः । (दि० प्र०) ६ अपेक्षया हेत्वहेतुभूतोत्पत्त्यादिर्यथाऽभिधेयश्च विशेष्यश्च इति भावः । (दि० प्र०) ७ दृष्टान्तः । भावे च । उपनयः । (दि० प्र०) ८ अत्रापि पूर्ववत् पक्षवचनम् । (दि० प्र०)

वस्तुस्वरूपस्यानभिलाष्यत्वव्युदासः<sup>१</sup> । यद्वा वस्तु तत्सर्वं विधेयप्रतिषेध्यात्मकं, यथोत्पत्त्या-  
दिरपेक्षया हेतुरहेतुश्च साध्येतरेभ्यो<sup>२</sup>, तथा च विन्यस्तधिकरणं<sup>३</sup> सत्त्वाभिधेयत्वादि । इत्यन्त-  
दीपकं सर्वत्र योज्यं साधनं<sup>४</sup> वस्तु च जीवादि<sup>५</sup> । तस्माद्विधेयप्रतिषेध्यात्मकम् । इति<sup>६</sup> क्रमा-  
पितसदसत्त्वोभयात्मकत्वसाधनम्<sup>७</sup> ।

शेषभङ्गाः कथं नेतव्याः सूरिभिरित्याहुः :—

अथवा जो वस्तु है वह सभी विधेय-प्रतिषेध्यात्मक ही है जैसे कि अपेक्षा से उत्पत्तिमत्त्वादि साध्य और असाध्य में हेतु एवं अहेतु दोनों रूप हैं और उसी प्रकार से विवादापन्न सत्त्व-वाक्य-त्वादि हैं । इस प्रकार अन्त्यदीपक न्याय सभी जगह लगाना चाहिये क्योंकि हेतु और जीवादिवस्तु हैं वे इसीलिये विधेय-प्रतिषेध्यात्मक हैं । इस प्रकार क्रम से अपित सत्, असत् और उभयात्मक को सिद्ध किया गया है ।

भावार्थ—आचार्यों ने प्रत्येक वस्तु को विधि-प्रतिषेध इन उभय धर्मात्मक सिद्ध करने के लिए इन तीन कारिकाओं में विशेष प्रयत्न किया है एवं वादी और प्रतिवादी दोनों को मान्य ऐसे 'हेतु' को उदाहरण में रखकर उसे कथंचित् स्वसाध्य की अपेक्षा से हेतु एवं परसाध्य की अपेक्षा से अहेतु सिद्ध किया है । इसलिये प्रत्येक वस्तु स्वपर की अपेक्षा से परस्पर विरोधी उभय धर्मों को लिये हुये उभयात्मक है, फिर भी विरोध आदि दोष नहीं आते हैं ।

उत्थानिका—आचार्यों ने शेष अंग कैसे समझाये हैं, ऐसा प्रश्न होने पर श्री समंतभद्रआचार्यवर्य निरूपण करते हैं—

१ विवादापन्नं सत्त्वाभिधेयत्वादि स्वरूपं जीवादिवस्तुषुः । विशेष्यं भवतीति साध्यो धर्मः । अभिधेयत्वात् । यदभिधेयं तद्विशेष्यं यथोत्पत्त्यादिः । अपेक्षया हेतुरहेतुश्च साध्येतरेभ्योऽभिधेयं चेदं तस्मात्साध्यसाधनधर्मविशेषणा-  
पेक्षया विशेष्यम् । इत्यनुमानादेकस्य वस्तुनः विशेषणविशेष्यात्मकत्वविरोधनिरासः कृतः ॥१॥ अस्तित्वादि वस्तु-  
स्वरूपं पक्षोऽभिलाष्यं भवतीति साध्यो धर्मः विशेष्यत्वात् । यद्विशेष्यं तदभिलाष्यं यथोत्पत्त्यादि पूर्ववद्विशेष्यं चेदं  
तस्मादभिलाष्यम् । इत्यनुमानाद्वस्तुस्वरूपस्यानभिलाष्यत्वव्युदासः ॥२॥ सत्त्वाभिधेयत्वादिवक्षः विधेयप्रतिषेध्यात्मकं  
भवतीति साध्यो धर्मः वस्तुत्वान् । यद्वस्तु तत्सर्वं विधेयप्रतिषेध्यात्मकं भवति यथोत्पत्त्यादिः वस्तु चेदं तस्माद्विधेय-  
प्रतिषेध्यात्मकं भवतीति क्रमापितसदसत्त्वोभयात्मकत्वसाधनम् । तृतीयानुमानम् । (दि० प्र०) २ विवादापन्नम् ।  
(दि० प्र०) ३ अस्तित्वम् । (दि० प्र०) ४ दृष्टान्तहेतुरूपसंहारधर्मिवचनरूपं विशक्षितसाध्यसाधकत्वात् साधनम् ।  
(दि० प्र०) ५ इदं भाष्योक्तादिशब्दलभ्यम् । (दि० प्र०) ६ एवं तृतीयानुमानेन । (दि० प्र०) ७ सदसत्त्वे एवोभयं  
तदेवात्मास्वरूपं यस्य तस्य । (दि० प्र०)

शेषभङ्गाश्च<sup>१</sup> नेतव्या<sup>२</sup> यथोक्तनययोगतः ।

न च कश्चिद्विरोधोस्ति मुनीन्द्र ! तव शासने<sup>३</sup> ॥२०॥

स्यावस्ति स्यान्नास्तीति भङ्गद्वयमुपयुक्तम्<sup>४</sup> । तदपेक्षया<sup>५</sup> शेषत्वं भङ्गत्रयापेक्षं वा । विधेयप्रतिषेध्यात्मेत्यनेन<sup>६</sup> तृतीयभङ्गस्य स्वप्रतिषेधेनाविनाभाविनोऽसाधने<sup>७</sup> साधने चापेक्ष्यमाणे इत्यर्थः । यथोक्तनययोगतः<sup>८</sup> इति विशेषणत्वादीनाक्षिपति<sup>९</sup> । तदनभिलाप्यादयोपि क्वचिद्वर्मिणि प्रत्यनीकस्वभावाविनाभाविनः प्रतीयन्ते, विशेषणत्वादिभ्यः । पूर्वोक्तमुदाहरणम् ।

कारिकार्थ—यथोक्त नयों की अपेक्षा से शेष भंग भी लगा लेना चाहिये । अतएव हे मुनीन्द्र ! आपके शासन में कुछ भी विरोध नहीं है ॥२०॥

स्यावस्ति, स्यान्नास्ति ये दो भंग उपयुक्त हैं, उन्हीं दो की अपेक्षा 'शेष' शब्द है अथवा भंगत्रय की अपेक्षा से 'शेष' शब्द है ।

“विधेयप्रतिषेध्यात्मा” इस कथन से तृतीय भंग अपने प्रतिषेध्य के साथ अविनाभावी है । इस तृतीय भंग को सिद्ध करने की अपेक्षा न रखने पर तृतीय आदि भंग शेष कहलाते हैं एवं इस ‘विधेय-प्रतिषेध्यात्मक’ को तृतीय भंग सिद्ध समझने की अपेक्षा रखने पर चतुर्थ आदि भंग शेष कहलाते हैं । ऐसा अभिप्राय समझना चाहिये ।

“यथोक्तनययोगतः” यह कथन ‘विशेषणत्वात्, विशेष्यत्वात्, अभिलाप्यत्वात्, वस्तुत्वात्’ इत्यादि हेतुओं का आकर्षण करता है । इसलिये वे अनभिलाप्य आवि – अवक्तव्य आदि धर्म भी किसी धर्मो जीवादि में अपने विरुद्धस्वभाव से अविनाभावी ही प्रतीति में आ रहे हैं क्योंकि वे विशेषण आवि हैं । यहाँ पर उदाहरण तो पूर्वोक्त ही लेना । अर्थात् यथा साधर्म्य वैधर्म्य से अविनाभावी है और वैधर्म्य साधर्म्य से अविनाभावी है ये ही उदाहरण यहाँ ग्रहण करना है ।

१ तृतीयभंगस्य प्रथमद्वितीयभंगरूपेण सहाविनाभाविनोः साधनेऽपेक्षमाणे तृतीयादिभंगस्य शेषत्वं साधनेऽपेक्षमाणे चतुर्थादिभंगस्य शेषत्वमिति भावः । तृतीयादयश्चतुर्थादयो वा शेषा भंगाः । (दि० प्र०) २ पूर्वोक्त । हेतुदाहरणरूप-नययोगतः । (व्या० प्र०) ३ प्रमाणवाक्ये नयवाक्ये च । (व्या० प्र०) ४ इति भंगद्वयं गृहीतम् । भंगद्वयमाश्रित्य सातभंगा प्रवर्तन्ते । (दि० प्र०) ५ तदपेक्षया भंगद्वयाश्रयणेन । शेषत्वं भंगपञ्चकाः भंगत्रयापेक्षं वा शेषत्वं भंग-चतुष्कम् । (दि० प्र०) ६ विधेयप्रतिषेध्यात्मा इति कारिकाव्याख्यानानेन प्रतिषेध्याविनाभाविनः तृतीयभंगस्यासाधनं असाधन आश्रीयमाणे भंगाद्वयापेक्षं शेषत्वं ग्राह्यं साधने वा भंगत्रयापेक्षं शेषत्वं ग्राह्यम् । (दि० प्र०) ७ प्रथम-द्वितीयभंगरूपेण । (दि० प्र०) ८ विशेषणशब्दगोचरत्ववस्तुत्वादिहेतुयोगात् । (व्या० प्र०) ९ स्वीकरोति । (व्या० प्र०)

[ को भंगः केन भंगेन सहाविनाभावो विधत्ते ? ]

यथैव हि वस्तुनोस्तित्वं नास्तित्वं तदुभयं च प्रतिषेध्येन स्वप्रत्यनीकेनाविनाभावि-  
विशेषणत्वाद्विशेष्यत्वाच्छब्दगोचरत्वाद्वस्तुत्वाच्च<sup>१</sup> ३साधर्म्यवद्वैधर्म्यवत्त्ववचिद्धेतौ ४हेतुत्वेतर-  
त्ववच्च साध्यते तथैव चाऽवक्तव्यत्वं<sup>५</sup> वक्तव्यत्वेन प्राक्त्यभङ्गत्रयरूपेण, सदवक्तव्यत्वमसद-  
वक्तव्यत्वेनासदवक्तव्यत्वमपि सदवक्तव्यत्वेन, सदसदवक्तव्यत्वमपि<sup>६</sup> पञ्चमषष्ठभङ्गात्मना-  
नुभयावक्तव्यत्वेनाविनाभावि साधनीयं, यथोक्तानां हेतुदाहरणरूपनयानां घटनात् । न चैवं  
सति किञ्चिद्विप्रतिषिद्धं<sup>७</sup>, अन्यथैव विरोधात् । अवक्तव्यत्वादेः स्वप्रत्यनीकस्वभावाविना-  
भावाभावप्रकारेणैव हि प्रत्यक्षादिविरोधः समनुभूयते, तथा सकृदप्यनुपलम्भात्<sup>८</sup> । तदनेन

[ कौन भंग किस भंग के साथ अविनाभाव रखता है ? ]

जिस प्रकार से वस्तु के अस्तित्व, नास्तित्व और उभय धर्म अपने से विरुद्ध प्रतिषेध्य के साथ अविनाभावी हैं, क्योंकि वे विशेषण हैं, विशेष्य हैं, शब्दगोचर हैं और वस्तु हैं जैसे किसी उत्पत्ति-  
मत्त्वादि हेतु में साधर्म्य और वैधर्म्य तथा हेतुत्व और अहेतुत्व सिद्ध होते हैं तथैव अवक्तव्य भी अपने प्रतिषेध्यरूप 'स्यादस्ति, स्यान्नास्ति, स्यादस्तिनास्ति' इन तीन वक्तव्य भंग से अविनाभावी है एवं सत् अवक्तव्यरूप पंचम भंग, असत् अवक्तव्य के साथ तथा 'असत् अवक्तव्य' रूप छठा भंग सत् अवक्तव्य के साथ अविनाभावी है । तथैव सातवाँ 'सदसत् अवक्तव्य' भंग भी पाँचवें छठे भंग रूप अनुभय अवक्तव्य के साथ अविनाभावी है । अर्थात् केवल सत् अवक्तव्य और असत् अवक्तव्य ये अनुभय अवक्तव्य कहलाते हैं इनके साथ उभय अवक्तव्य रूप सातवाँ भंग अविनाभावी है । इस प्रकार साधित कर लेना चाहिये ।

पूर्वोक्त हेतुरूप और उदाहरणरूप नयों को यहाँ पर घटित करना चाहिये । इस प्रकार से प्रत्येक धर्म अपने प्रत्यनीक धर्म के साथ अविनाभावी है, ऐसा सिद्ध करने पर कुछ भी विरुद्ध नहीं है, किन्तु अन्यथारूप मानने से ही विरोध है । तथा अवक्तव्यादि भंग अपने प्रत्यनीक स्वभाव के साथ अविनाभावी नहीं हैं इस प्रकार से मानने पर ही प्रत्यक्षादि से विरोध अनुभव में आता है क्योंकि अपने विरोधी धर्म के साथ अविनाभाव के न होने रूप से किसी भी वस्तु को एक बार भी उपलब्धि

१ प्रागुक्तन्यायेन हेतुचतुष्टयं ज्ञातव्यम् । (व्या० प्र०) २ अत्रापि सर्वानुमानेषु पूर्वोक्तहेतुदृष्टान्ताः प्रत्येकं संबन्ध-  
नीयाः । (दि० प्र०) ३ यथा साधर्म्यं वैधर्म्येणाविनाभावि । (व्या० प्र०) ४ प्रधानभावापितहेतुत्वे न रद्वयं यथा  
प्रधानभूतैकैकाविनाभावि । (दि० प्र०) ५ इमे सर्वेऽपि हेतुदृष्टान्ताऽनुमानत्रयेऽपि प्रत्येकं सम्बन्धनीयाः । (दि० प्र०)  
६ सप्तमो भंगः । (दि० प्र०) ७ वस्तुनोऽस्तित्वादी धर्मै स्वप्रत्यनीकेन प्रतिषिद्धं न नास्तित्वादिना धर्मेणाविनाभा-  
विनि सति किञ्चित् विप्रतिषिद्धं निषिद्धं न च । (दि० प्र०) ८ कदाचनापि । (व्या० प्र०) वस्तुनोऽवक्तव्यत्वादिधर्मस्य  
स्वप्रतिषेद्धाविनाभाधित्वरहितस्य कदाचिददर्शनात् । (दि० प्र०)

“न च कश्चिद्विरोधोस्तीति मुनीन्द्र तव शासने,” अन्यशासनेष्वेव विरोधसाधनादिति व्याख्यात<sup>१</sup> प्रतिपत्तव्यम् ।

नहीं होती है । इसी कथन से “हे मुनीन्द्र ! आपके शासन में कुछ भी विरोध नहीं है, किन्तु अन्य मतावलम्बियों के शासन-मत में ही विरोध सिद्ध हो जाता है” ऐसा कहा गया समझना चाहिये ।



### अस्तित्व, नास्तित्व धर्म अविनाभावी का सारांश

एक धर्मी जीवादि में अस्तित्व जो वस्तु का धर्म है वह नास्तित्व के साथ अविनाभावी है, क्योंकि विशेषण है जैसे कि हेतु में भेद विवक्षा से साधर्म्य, वैधर्म्य के साथ अविनाभावी है । केवला-न्वयी हेतु में भी साधर्म्य और वैधर्म्य दोनों ही संभव हैं ।

तथाहि—“जीवः परिणामी प्रमेयत्वात् यः प्रमेयः स परिणामी एव यथा घटः यो न परिणामी स प्रमेयोऽपि नास्ति यथा आकाशपुष्प” । इसमें भी व्यतिरेक है ही है क्योंकि प्रमेयत्व वस्तु का धर्म है । अपुष्प अप्रमेय है यह बात विरुद्ध भी नहीं है अतः केवल विशेषण हेतु धूमादि में ही नहीं किन्तु प्रमेय-त्वादि हेतु में भी “अपुष्पादि अप्रमेय है” इस प्रकार से व्यतिरेक सिद्ध ही है ।

यदि बौद्ध यह कहे कि—सभी वस्तु को परिणामी आदि सिद्ध करने में सपक्ष में अन्वय ही संभव नहीं है । जो भी दृष्टान्त की कोटि में आवेगा वह पक्ष में अंतर्भूत हो जावेगा यह कथन भी ठीक नहीं है क्योंकि उन हेतुओं में भी तथोपपत्तिरूप अंतर्व्याप्तिलक्षण अन्वय विद्यमान है । अर्थात् हेतु के दो लक्षण हैं, अन्यथानुपपत्ति एवं तथोपपत्ति, तथोपपत्ति का नाम साधर्म्य है एवं अन्यथानुप-पत्ति का ही वैधर्म्य यह नाम है, ये दोनों लक्षण हेतु में रहते ही हैं । अतः सभी हेतुओं में साधर्म्य वैधर्म्य के साथ अविनाभावी है, यह उदाहरण प्रसिद्ध है, इसलिए किसी भी धर्मी का विशेषण प्रति-षेध्य के साथ अविनाभावी है ।

यदि कोई कहे कि अस्तित्व नास्तित्व के साथ अविनाभावी है सो ठीक है, किन्तु नास्तित्व अस्तित्व के साथ अविनाभावी कैसे होगा ? क्योंकि आकाश कमल आदि में किसी भी प्रकार से अस्तित्व संभव नहीं है ।



इस पर जैनाचार्यों का कहना है कि एक धर्मों में नास्तित्व धर्म भी अपने प्रतिषेध्य-अस्तित्व के साथ अविनाभावी है क्योंकि वह विशेषण है जैसे कि अभेद विवक्षा अन्वय की अपेक्षा से किसी अनुमान में वैधर्म्य, साधर्म्य के साथ अविनाभावी है ।

**बौद्ध**—अस्तित्व और नास्तित्व विशेषण ही हैं विशेष्य नहीं हैं इसलिये वे परमार्थरूप साध्य साधन के आधार नहीं हो सकते हैं अतः वे अस्तित्व, नास्तित्वरूप धर्म और जीवादि धर्मों वास्तविक नहीं हैं । वे दोनों विशेषण शब्द से भी नहीं कहे जा सकते हैं क्योंकि वस्तु का स्वरूप अवाच्य है ।

**यौग**—वे अस्तित्व, नास्तित्व धर्म जीव आदि वस्तु से अत्यन्त भिन्न ही हैं क्योंकि उनका प्रतिभास भेद पाया जाता है जैसे कि घट-पट आदि भिन्न-भिन्न हैं इसलिये वस्तु अस्तित्व, नास्तित्व-स्वरूप नहीं है अन्यथा धर्म और धर्मों में संकर हो जावेगा ।

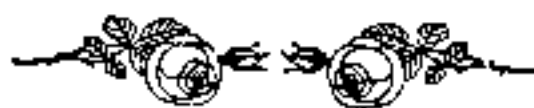
**जैन**—जीवादि पदार्थ शब्द के विषयभूत हैं क्योंकि वे विशेष्य हैं एवं वे सभी जीवादि पदार्थ विधि-प्रतिषेधरूप दोनों धर्मस्वरूप हैं । जैसे साध्य का धर्म अपेक्षा से हेतु और अहेतु दोनों रूप हो जाता है ।

“शब्दोऽनित्यः उत्पत्तिमत्त्वात् कृतकत्वात्” इस प्रयोग में जो साध्य धर्म उत्पत्तिमत्त्व एवं कृतकत्व हैं वे अनित्य साध्य की अपेक्षा से हेतु हैं, तथा नित्य साध्य की अपेक्षा से अहेतु हैं । इस अनुमान से सभी जीवादि पदार्थ सत्त्वासत्त्वात्मक सिद्ध हो जाते हैं । अर्थात् “कथंचित् सर्वोऽपि जीवादि-पदार्थो विधेयप्रतिषेध्यात्मा, विशेष्यत्वात् यथा कृतकत्वादिहेतुः” यहाँ जैसे कृतकत्वादि हेतु अनित्य को साध्य करने से हेतु एवं नित्य साध्य की अपेक्षा से अहेतु हैं ।

यदि बौद्ध कहे कि सकल विकल्पों से रहित स्वलक्षण ही प्रत्यक्षज्ञान में झलकता है, अस्तित्वादि विशेषण नहीं झलकते हैं, यह कथन भी सारहीन है क्योंकि प्रत्येक वस्तु अस्तित्वादि अनेक विकल्पात्मक एवं विधि-निषेधादि भेदों से अंश सहित ही प्रतीति में आ रही है इसलिये “सामान्य विशेषात्मक वस्तु ही स्वलक्षण है” सकल विकल्पातीत विशेषमात्र स्वलक्षण नहीं है ।

जिस प्रकार से वस्तु के अस्तित्व नास्तित्व और उभय धर्म अपने प्रतिषेध्य के साथ अविनाभावी हैं, क्योंकि वे विशेषण हैं, विशेष्य हैं, शब्दगोचर हैं और वस्तुरूप हैं जैसे साधर्म्य और वैधर्म्य । तथैव ‘अवक्तव्य’ नाम का चौथा भंग भी स्यादस्ति, स्यान्नास्ति, स्यादस्तिनास्ति इन तीन वक्तव्य भंगों से अविनाभावी है ।

सत्अवक्तव्यरूप पांचवाँ भंग असत्अवक्तव्यरूप छठे भंग के साथ असत्अवक्तव्य भंग, सत्अवक्तव्य के साथ अविनाभावी हैं और सातवाँ भंग भी पांचवें छठे रूप अनुभय अवक्तव्य के साथ अविनाभावी है । इस प्रकार से अपने प्रतिपक्ष धर्म के साथ अविनाभाव सिद्ध करने में कुछ भी विरोध नहीं है, अतएव हे मुनीन्द्र ! हे भगवन् ! आपके शासन में कुछ भी विरोध नहीं है किन्तु अन्य मतावलंबी एकांतवादियों के यहाँ ही विरोध देखा जाता है ।



साम्प्रतमव्यवस्थितानेकान्तात्मकं वस्तु<sup>१</sup> सप्तभङ्गीविधिभागर्थक्रियाकारि<sup>२</sup>, न पुनरन्य-  
थेति<sup>३</sup> <sup>४</sup>स्वपरपक्षसाधनदूषणवचनमुपसंहरन्तः<sup>५</sup> प्राहुः ।—

**एवं विधिनिषेधाभ्यामनवस्थितमर्थकृत्<sup>६</sup> ।**

**नेति<sup>७</sup> चेन्न यथा कार्यं बहिरन्तरूपाधिभिः ॥२१॥**

एवं प्रतिपादितनीत्या सप्तभङ्गीविधौ विधिनिषेधाभ्यामनवस्थितं<sup>८</sup> जीवादि वस्तु सदे-  
वासदेव वेत्य (व्य) वस्थितमर्थकृत्<sup>९</sup> कार्यकारि प्रतिपत्तव्यम् । नेति चेदेवं वस्तु <sup>१०</sup>परैरभ्युप-  
गम्यते तर्हि यथाभ्युपगतं कार्यं बहिरन्तरूपाधिभिः सहकार्युपादानकारणनिर्वर्त्य<sup>११</sup> तथा न  
स्यात्, भावाद्वैकान्ते<sup>१२</sup> सर्वथा कार्यप्रतिक्षेपात् । तत्त एवैवं व्याख्यानान्तरमुपलक्ष्यते । एवं

**उत्थानिका**—इस समय 'सर्वथा विधिरूप या सर्वथा निषेधरूप से जिसकी एकांत व्यवस्थिति नहीं है, ऐसी अव्यवस्थित एवं अनेकांतात्मक वस्तु ही सप्तभंगी विधि को प्राप्त अर्थक्रियाकारी है किन्तु अन्यरूप से नहीं है इस प्रकार से स्वपक्षसाधन और परपक्षदूषण के वचन का उपसंहार करते हुये श्री समंतभद्राचार्यवचन कहते हैं—

**कारिकार्थ**—इस प्रकार से विधि और निषेध के द्वारा अनवस्थित जीवादिवस्तु अर्थक्रिया-  
कारी हैं । यदि ऐसा नहीं मानों तो, जिस प्रकार से बहिरंग-अंतरंग उपाधि-सहकारी और उपादान  
कारणों से अनवस्थितरहित कार्य अर्थक्रियाकारी नहीं हैं तथैव सभी जीवादिवस्तु विधि-निषेध से  
रहित अर्थक्रियाकृत् नहीं हो सकेंगी ॥२१॥

इस प्रकार की प्रतिपादित नीति से सप्तभंगी विधि में विधि-निषेध के द्वारा अनवस्थित जीवादि  
वस्तु “सत् रूप ही है अथवा असत् रूप ही है” इस प्रकार से अव्यवस्थित अर्थक्रियाकारी हैं, ऐसा  
समझना चाहिये ।

यदि परमतावलम्बियों के द्वारा पूर्वोक्त प्रकार से वस्तु न मानी जावे, तब तो जिस प्रकार से  
बहिरंग, अंतरंग उपाधिरूप सहकारी और उपादान कारणों से कार्य होते हैं, उस प्रकार से नहीं  
हो सकेंगे क्योंकि सर्वथा भावाद्वैकान्त में कार्य को मानने का खण्डन किया गया है इसीलिये दूसरे  
रूप से व्याख्यान किया जाता है ।

१ कर्तृभूतम् । (दि० प्र०) २ सत् । (व्या० प्र०) ३ पूर्वोक्तविपर्यासप्रकारेण वस्तु पुनोर्थकारि न भवति । एकान्ते  
न सदसज्जीवादि वस्तुकार्यकारि नेति भावः । (दि० प्र०) ४ प्रतिपादनम् । (दि० प्र०) ५ समानुवन्तः ।  
(दि० प्र०) ६ अस्तित्वनास्तित्वाभ्याम् । व्यवस्थितिरहितमिति कोशः कथञ्चिद्विधिप्रतिषेधावस्थितमेव वस्तु अर्थ-  
क्रियाकारि भवति । (दि० प्र०) ७ परैः जटिलादिभिरेवमुक्तप्रकारेण वस्तुनाभ्युपगम्यते इति चेत् । (दि० प्र०)  
८ वस्तु । (दि० प्र०) ९ भवति । (व्या० प्र०) १० जटिलादिभिः । (व्या० प्र०) ११ निःपाद्यम् । (दि० प्र०)  
१२ सदादि । (व्या० प्र०)

प्रतिपक्षप्रतिषेधप्रकारेण विधिनिषेधाभ्यामनवस्थितं<sup>१</sup> कथंचिद्विधिप्रतिषेधावस्थितमेवार्थकृत्<sup>२</sup>  
नेति चेन्न, यथा कार्यं (च) बहिरन्तः<sup>३</sup> स्यादुपाधिभिरनन्तविशेषणैर्विशिष्टं<sup>४</sup>, सर्वथा निरंश-  
वस्तुनि सकलविशेषणाव्यवस्थितेः ।

[ कमपि एकं भंगमाश्रित्य वस्तुवर्धक्रियां कुर्यात् का बाधा ? इति प्रश्ने सत्याचार्या उत्तरयन्ति । ]

सत्त्वाद्यन्यतममात्रे<sup>५</sup> एव भङ्गे समवस्थितं<sup>६</sup> कृतो नार्थकृदिति चेदुच्यते, सप्तभङ्गीविधौ  
स्याद्वादे विधिप्रतिषेधाभ्यां समारूढं<sup>७</sup> वस्तु सदसदात्मकमर्थक्रियाकारि, कथंचित्सत एव साम-  
ग्रीसन्निपातिनः<sup>८</sup> स्वभावातिशयोत्पत्तेः<sup>९</sup> सुवर्णस्येव केयूरादिसंस्थानम् । सुवर्णं हि सुवर्णत्वादि-

इस प्रकार से प्रतिपक्ष-प्रतिषेध करने योग्य सत् आदि एकांत के खण्डन के प्रकार से जीवादि-  
वस्तु विधि और निषेध के द्वारा अनवस्थित रहित एवं कथंचित् विधि और कथंचित् निषेधरूप से  
अवस्थित ही अर्थक्रियाकारी है, यदि ऐसा नहीं मानों तो वस्तु व्यवस्था ही नहीं बन सकेगी ।  
जैसे बहिरन्तः—बहिरन्तरी कारण एवं अन्तरंगउपाधि—उपादान कारणों से एवं अनन्तविशेषणों  
से विशिष्ट होकर ही कार्य बनता है अन्यथा नहीं हो सकता है क्योंकि सर्वथा निरंशरूप वस्तु जो कि  
उत्पाद विनाशादि पर्याय से रहित है उसमें सभी विशेषणों की व्यवस्था नहीं बनती है । अर्थात् यदि  
उस निरंश वस्तु में भी आप विशेषण स्वीकार करेंगे तब तो उसे अंग सहित ही मानना पड़ेगा, न  
कि निरंश-क्षणिक स्वलक्षणरूप ।

[ किसी एक भंग का आश्रय लेकर ही वस्तु अर्थक्रिया को करे, क्या बाधा है ? ऐसा प्रश्न होने पर आचार्य  
समाधान करते हैं । ]

बौद्ध—सत्त्व आदि किसी एक भंग में ही एकांतरूप से अवस्थित वस्तु अर्थक्रियाकारी क्यों नहीं  
हो सकती है ?

जैन—सप्तभंगी विधिरूप स्याद्वाद में विधि और प्रतिषेध से युक्त वस्तु सत् असत् स्वभावात्मक  
होती हुई ही, अर्थक्रियाकारी है क्योंकि कथंचित् सत् रूप वस्तु में ही सामग्री का सन्निपात होने पर  
उसके स्वभाव में अतिशय उत्पन्न होता हुआ देखा जाता है, जैसे कि सुवर्ण के केयूरादि (बाजूबन्द  
आदि) आकार ।

१ परपरिकल्पताभ्याम् । (व्या० प्र०) २ भा । विधिप्रधानतयेदं प्राक्तनं तु निषेधरूपतया । (दि० प्र०) ३ अन्तः  
कार्यं सुखादि । (व्या० प्र०) ४ अव्यवस्थितमस्त्येव नास्त्येवेति अव्यवस्थित तच्च सर्वं तदनेकान्तात्मकञ्च तदर्थकृत् ।  
वक्ष्यमाणव्याख्यानद्वयापेक्षयैवमुक्तं तदनपेक्षया त्वस्त्येव नित्य एव भिन्न एव एवमनेके धर्माः संभवन्ति भावः पररूपाणा-  
मानन्त्यात्ततो व्यावृत्तिरूपप्रतिषेधानामाप्यान्त्याद्युक्तमेव विशेषणानामानन्त्यम् । (दि० प्र०) ५ सांख्यो वदति ।  
(दि० प्र०) ६ समारूढं वस्तु । उत्पत्तिविभागादि । (दि० प्र०) ७ आक्रान्तम् । (व्या० प्र०) ८ सहकारिदेशकाल-  
प्रमुखसापेक्षस्य कथंचित्सतोविद्यमानस्यैव कार्योत्पत्तिर्भवति । (दि० प्र०) ९ कथम् । (व्या० प्र०)

द्रव्याथदिशात्<sup>१</sup> सदेव केयूरादिसंस्थानपर्यायाथदिशाच्चासदिति तथापरिणमनशक्तिलक्षणायाः प्रतिविशिष्टान्तः सामग्याः सुवर्णकारकव्यापारादिलक्षणमाह<sup>२</sup> बहिरंगमग्याः सन्निपाते केयूरादिसंस्थानात्मनोत्पद्यते । ततः<sup>३</sup> सदसदात्मकमेवार्थकृत् । तद्वज्जीवादिवस्तु प्रत्येयम् । नेति चेदित्यादिनेकान्तेर्थक्रियां<sup>४</sup> प्रतिक्षिपति । न तावत्सतः<sup>५</sup> पुनरुत्पत्तिरस्ति<sup>६</sup>, 'तत्कारणापेक्षानुपरमप्रसङ्गात्<sup>७</sup> । न चानुत्पन्नस्य<sup>८</sup> स्थितिर्विपत्ती, सर्वथाप्यसत्त्वात्सपुष्पवत् । नाप्यसतः<sup>९</sup> सर्वथोत्पत्त्यादयस्तद्वत् । तस्मान्न सदेकान्तेऽसदेकान्ते चार्थक्रिया संभवति ।

[ प्रागसती जन्म भवेत् का बाधा ? इति बौद्धस्याशंकायां प्रत्युत्तरयंत्याचार्याः ]

यदि पुनः सामग्याः प्रागविद्यमानस्य जन्म स्यात् को दोषः<sup>११</sup> स्यात् ? <sup>१२</sup>तन्निरन्वय-

सुवर्ण सुवर्णत्व आदिरूप से द्रव्याधिकनय की विवक्षा से 'सत्' ही है और वहीं सुवर्ण केयूर आदि आकार विशेषरूप पर्यायों की विवक्षा से 'असत्' है । इस हेतु से उन पर्यायरूप परिणमन-शक्तिलक्षण प्रतिनियत अंतःसामग्री—उपादानरूप सुवर्ण तथा सुनार के व्यापारादिलक्षण बहिरंग-सामग्रीरूप सहकारीकारण इन दोनों के मिल जाने पर वह सुवर्ण केयूर, कुंडल आदिरूप पर्याय से उत्पन्न हो जाता है, अतः सुवर्ण सत्-असत् रूप सिद्ध है ।

इससे यही बात स्पष्ट है कि सदसदात्मक वस्तु ही अर्थकृत् है और उस सुवर्ण के समान ही जीवादिवस्तु सदसदात्मक है ऐसा समझना चाहिये । 'नेतिचेत्' इत्यादि पद के द्वारा श्री समंतभद्र-स्वामी एकांत से अर्थक्रिया का खण्डन करते हैं क्योंकि सर्वथा सत् रूप वस्तु की पुनः उत्पत्ति नहीं हो सकती है । अन्यथा—उसकी उत्पत्ति के कारणों की अपेक्षा का कभी उपरम—विराम—अभाव ही नहीं हो सकेगा । एवं जो अनुत्पन्न (असत्) है उसमें स्थिति और विनाश संभव नहीं हैं । क्योंकि अनुत्पन्न होने से सर्वथा असत् रूप ही है आकाश कमल के समान और उसी प्रकार से असत् में भी उत्पाद आदि सम्भव नहीं हैं । इसीलिये सदेकांत और असदेकांत में अर्थक्रिया संभव नहीं है ।

[ प्रागसत् का जन्म मानने में क्या बाधा है ? ऐसा बौद्ध का प्रश्न होने पर आचार्य उत्तर देते हैं । ]

बौद्ध—यदि पुनः सामग्री के पहले अविद्यमान (असत्) का जन्म हो जावे तो क्या दोष है ?

१ पृद्गलः । (व्या० प्र०) २ अग्निः । (दि० प्र०) ३ यत् एवं ततस्तस्मात्कारणात् । (दि० प्र०) ४ सदादिरूपे । (व्या० प्र०) ५ सर्वथा सतः सर्वथा असतः आचार्योर्थक्रियां निराकरोति । (दि० प्र०) ६ सर्वथा सतः कार्यस्य । (दि० प्र०) ७ अन्यथा । (दि० प्र०) ८ सर्वथा सतः नित्यस्य वस्तुन उत्पत्तिः कार्यं नास्ति । तत्तस्य नित्यस्य कारण-म्यापेक्षाया विनाशभावात् । (दि० प्र०) ९ उत्पत्तिर्माभूत्स्थितिर्विपत्ती स्यातामित्याशंकायामाह । (व्या० प्र०) १० सदन्युत्पन्नस्य । (व्या० प्र०) ११ सदेकान्तेऽर्थक्रिया सा भूदसदेकान्ते सा भविष्यतीत्याशंकायामाहुः नान्य सत-इति । (दि० प्र०) १२ प्रश्नः । (दि० प्र०) १३ सर्वथादणिकसर्वथानित्यपक्षयोः तयोः क्षणिकनित्ययोरेकान्त-स्याभावः प्रसजति । (दि० प्र०)

विनाशेतरपक्षयोस्तर्दकान्ताभावः प्रसज्येत । तस्या निरन्वयविनाशे निष्कारणस्य तथैवोत्पत्तिर्न स्यात् । न हि निराधारोत्पत्तिर्विपत्तिर्वा<sup>१</sup>, क्रियारूपत्वात्स्थितिश्च<sup>२</sup> । नैतन्मन्तव्यं<sup>३</sup> 'नोत्पत्त्यादिः क्रिया, क्षणिकस्य तदसंभवात् । ततोऽसिद्धो हेतुः' इति, प्रत्यक्षादिविरोधात् । प्रत्यक्षादिविरोधस्तावत्<sup>४</sup> प्रादुर्भावादिमतश्चक्षुरादिबुद्धौ प्रतिभासनात् तद्बुद्ध्या प्रादुर्भावविनाशावस्थानक्रियारहितसत्तामात्रोपगमस्य बाधनात् । अन्यथा<sup>५</sup> तद्विशिष्टविकल्पोपि<sup>६</sup> मा भूत् । न हि दण्डपुरुषसंबन्धादर्शने दण्डीति विकल्पः स्यात् । 'स्याद्विधपूर्वतयासनादशात्प्रादुर्भावाद्यदर्शनेपि तद्विशिष्टविकल्प इति चेन्न, नीलमुखादेरदर्शनेपि तद्विकल्पप्रसक्तेः,

अर्थात् अपनी उत्पत्ति के पहले अविद्यमान कार्य का सामग्री (अंतर्बाह्यरूप) से जन्म मानें, तो क्या दोष है ?

जैन—निरन्वय विनाश और इतर—सर्वथा सत् रूप पक्ष में सदेकान्त और असदेकान्त के अभाव का प्रसंग आ जाता है । उस सामग्री का निरन्वय-विनाश स्वीकार करने पर निष्कारण (कारण से रहित) की पूर्वाकार प्रकार से उत्पत्ति नहीं हो सकेगी अथवा उत्पत्ति और विनाश निराधार नहीं हो सकते क्योंकि वे उत्पत्ति और विनाश क्रियारूप हैं, स्थिति के समान जो आप बौद्धों का ऐसा कहना है कि उत्पत्ति आदि क्रियारूप नहीं हैं, क्योंकि क्षणिक में उत्पत्ति आदि असंभव है इसलिये "क्रियारूपत्वात्" यह हेतु असिद्ध है ऐसा भी आपको नहीं मानना चाहिये क्योंकि इस मान्यता में प्रत्यक्षादि से विरोध आता है । प्रत्यक्षादि विरोध क्या है ? उसी को स्पष्ट करते हैं ।

चक्षुरादिबुद्धि—निविकल्पज्ञान में प्रादुर्भावादिभान् का प्रत्यक्षादि से विरोध प्रतिभासित हो रहा है क्योंकि उस निविकल्पबुद्धि के द्वारा प्रादुर्भाव, विनाश और अवस्थान क्रिया से रहित केवल सत्तामात्र की स्वीकृति बाधित है । अन्यथा उस उत्पत्त्यादि से विशिष्ट विकल्प भी मत होवे क्योंकि दंड और पुरुष इन दोनों के सम्बन्ध को देखे बिना "दंडी" यह विकल्प नहीं हो सकता है ।

बौद्ध—उस प्रकार की पूर्ववद् वासना के निमित्त से वस्तु में प्रादुर्भावादि—उत्पत्ति आदि से विशिष्ट विकल्पज्ञान हो जाता है ।

१ छपुष्पवत् । (दि० प्र०) २ स्याद्वादी वदति, हे सौगत ! क्षणिकस्वरूपस्य वस्तुनोत्पत्तिविपत्तिस्थितिरूपा क्रिया नास्ति । कस्मात्तस्या उत्पत्त्यादिक्रियाया अघटनात् । यत एव ततस्तस्मात्क्रियारूपत्वादिति हेतुविच्छेदः । एतत्त्वया न ज्ञातव्यं कुतः प्रत्यक्षानुमानागमप्रमाणैर्विरोधो दृश्यते । (दि० प्र०) ३ प्रथमतः प्रादुर्भावविनाशावस्थानादियुक्तस्यार्थस्य प्रत्यक्षादिज्ञाने प्रतिभासनं दृश्यते क्षणिकरूपस्य प्रत्यक्षानुमानागमेषु विरोध इति सर्वथा क्षणिकस्य निराकरणम् — इदानीं सर्वथा नित्यस्य निराकरणं क्रियते प्रादुर्भावादि क्रियारहितं यत्सत्तामात्रं तस्योपगमोऽङ्गीकारस्तस्य तद्बुद्ध्या प्रत्यक्षादिज्ञानेन बाधा दृश्यते = अन्यथा प्रादुर्भावादि क्रियारहितसत्तामात्राङ्गीकरणे सति स्थित्यादियुक्तज्ञानमपि मा भूत् । (दि० प्र०) ४ यदि बाधनं न । (व्या० प्र०) ५ क्रिया । (दि० प्र०) ६ क्रियाविशिष्टप्रतिभासकः । (दि० प्र०)

ततस्तद्व्यवस्थापनविरोधात् । निरालम्बनविज्ञानमात्रोपगमेऽपि संतानान्तरस्वसंतानपूर्वापर-  
क्षणज्ञानेऽपि तद्विकल्पोत्पत्तौ कुतस्तद्व्यवस्था ? संवेदनाद्वैतोपगमेऽपि संवेदद्वैताभावेऽपि  
'तद्वासनाबलात्संवित्स्वरूपप्रतिभाससंभवात्कथं' स्वरूपस्य स्वतो गतिः सिध्येत् ? सत एव  
संवित्स्वरूपस्य तथावासनामन्तरेण स्वतो गतौ स्वसंतानपूर्वापरक्षणसंतानान्तरबहिरर्थजन्मा-  
दिक्रियाविशेषाणां सतामेव दर्शनाद्विकल्पोत्पत्तिर्युक्ता<sup>३</sup> । शत नोत्पत्त्यादीनां 'क्रियात्वमसिद्धं  
यतस्तन्निराधारत्वप्रतिषेधो' न सिध्येत्<sup>४</sup> । ततो<sup>५</sup> न प्रागसतोऽप्युत्पत्तिः<sup>६</sup> संभवति । निरन्व-

जैन—ऐसा नहीं कह सकते अन्यथा नील सुखादि के नहीं दिखने पर भी उस नील सुखादि के विकल्प का प्रसंग प्राप्त हो जावेगा और यदि निराधार भी विकल्प होने लगेगा तब तो उस नील सुखादि के व्यवस्थापन- अस्तित्व की सिद्धि में विरोध आ जावेगा । इस प्रकार निरालम्बन विज्ञान- मात्र की स्वीकृति करने पर भी अनेकों दोष आ जावेगे । संतानान्तर-नीलादि और स्वसंतान सुखादि के पूर्वापर क्षण इन दोनों का अज्ञान होने पर भी उन विकल्पों की उत्पत्ति होते रहने पर उस विकल्प की व्यवस्था भी कैसे हो सकेगी ?

यदि आप कहें कि विकल्प मत हो किन्तु आदि और अन्त के क्षण से रहित वर्तमान क्षणमात्र ज्ञान की स्वीकृतिरूप संवेदनाद्वैत को स्वीकार करने पर भी एवं संवेदनाद्वैत के अभाव में भी उसकी वासना के बल से संवित्स्वरूप का प्रतिभास संभव है, तब तो स्वरूप का स्वतः ही ज्ञान कैसे सिद्ध हो सकेगा ? किन्तु वासना के बल से ही सिद्ध होगा । अर्थात् आप बौद्ध स्वरूप का स्वतः ज्ञान होना मानते हैं, यह बात सिद्ध न होकर वामना के बल से ज्ञान होना सिद्ध हो जाता है ।

पुनः यदि आप कहें कि 'सत् रूप' ही संवित्स्वरूप है अतः अद्वैत की वासना के बिना उस ज्ञान का स्वतः बोध हो जाता है तब तो स्वसंतान के पूर्वापर क्षण एवं संतानान्तर बाह्यपदार्थ, इनमें होने वाले उत्पत्ति, विनाश, स्थिति, क्रियाविशेष, 'सत् रूप' ही हैं उनका भी निर्विकल्प प्रत्यक्ष से दर्शन होने पर विकल्प की उत्पत्ति युक्त ही है । इसलिये उत्पत्ति आदि में "क्रियावत्त्व हेतु" असिद्ध नहीं है जिससे कि उस क्रिया में निराधार का विरोध सिद्ध न हो सके । अर्थात् निराधार में क्रिया असंभव है । इसलिये पहले जो सर्वथा असत् रूप है, उसकी उत्पत्ति कथमपि संभव नहीं है ।

यदि आप यह कहें कि निरन्वय विनाश के न होने पर अर्थात् अन्वयसहित विनाश के होने के पक्ष में पहले जो असत् रूप है उसकी उत्पत्ति हो जाती है, किन्तु आपका यह पक्ष भी क्षेमकर नहीं है,

१ संवेदनाद्वैतस्य वासना तद्वलात् । (दि० प्र०) २ विकल्पात्मकः । (दि० प्र०) ३ विकल्प उत्पद्यते इति युक्तम् । (दि० प्र०) ४ माधनम् । (दि० प्र०) ५ प्रतिषिद्धो इति पा० । यतः कुतः न कुतोऽपि उत्पत्त्यादयः साधारा एव न तु निराधाराः । (दि० प्र०) ६ ननु संवित्स्वरूपे विकल्पोत्पत्तिरेव नेष्यतेऽतः कथमुपालम्भ इति चेन्न तदनुत्पत्तौ सुतरां तदव्यवस्था स्वर्गप्रायेण शक्त्यादिव वेद्याकारविवेकवद्वैति उत्तरकारिकाचरमभागव्याख्याने वक्ष्यमाणोत्तरस्या-  
पि सुलभाद्भवतुम् । (दि० प्र०) ७ उत्पत्तिविषयोऽनिराधारत्वासंभवात् । मान्वयापत्तेरन्वेकान्तो न संभवति यतः । (व्या० प्र०) ८ न केवलं प्राक् ततः । (दि० प्र०)

यमविनाशे प्रागसत्<sup>१</sup> उत्पत्तिरित्ययमपि पक्षो न क्षेमङ्करः, स्याद्वादाश्रयणप्रसङ्गात्, असत्कार्य-  
वादविरोधात् । ततः सूक्तं<sup>२</sup> 'यवेकान्तेन सदसद्वा<sup>३</sup> तन्नोत्पत्तुमर्हति, व्योमबन्ध्यासुतवत्' इति ।  
न ह्येकान्तेन सद्व्योमोत्पद्यते, नाप्येकान्तेनासत्<sup>४</sup> बन्ध्यासुत इति न साध्यसाधनविकलमुदा-  
हरणम् ।<sup>५</sup> कथमिदानीमनुत्पन्नस्य गगनादेः स्थितिरिति चेन्न, अनभ्युपगमात्<sup>६</sup> सर्वथा गग-  
नाद्यनुत्पादस्य । केवलमिह व्योम्नो<sup>७</sup> द्रव्यनयापेक्षया परप्रसिद्ध्या चोदाहरणं प्रतिपादितम् ।  
ततो न पूर्वापरविरोधः, पूर्वं<sup>८</sup> सर्वथानुत्पत्तिमतः<sup>९</sup> स्थितिप्रतिषेधसाधनात्<sup>१०</sup>, द्रव्यतोनुत्पद्यमान-  
स्यैव स्थितिघटनात् ।

क्योंकि ऐसे तो आपको स्याद्वाद के आश्रय का ही प्रसंग आ जावेगा । अर्थात् स्याद्वाद सिद्धांत में ही  
“असत्कार्यवाद” का विरोध है, कथंचित् जो पहले सत् रूप है, उसी की ही उत्पत्ति सिद्ध है ।

इसलिये यह बिल्कुल ठीक कहा है कि जो एकांत से सत् अथवा असत् है वह उत्पत्ति के योग्य  
नहीं हो सकता है जैसे आकाश और बंध्यापुत्र उत्पन्न नहीं हो सकते हैं । एकांत से सत् रूप आकाश  
कभी उत्पन्न नहीं होता है और एकांत से असत् बन्ध्यासुत भी उत्पन्न नहीं होता है । ये आकाशवत्  
और बन्ध्यासुतवत् उदाहरण साध्य-साधन से विकल भी नहीं हैं ।

शंका—तब तो अनुत्पन्नरूप आकाशादि की स्थिति कैसे हो सकेगी ?

समाधान—ऐसा नहीं कह सकते क्योंकि एकांत से हमने अनुत्पन्न गगनादि की स्थिति भी नहीं  
मानी है । यहां पर तो केवल हमने द्रव्यनय की अपेक्षा से और पर की प्रसिद्धि से ही आकाश का  
उदाहरण दिया है । इसलिये हमारे यहां पूर्वापर विरोध आदि दोष नहीं आते हैं । क्योंकि जो पूर्व  
में सर्वथा अनुत्पत्तिमान् हैं उनमें स्थिति का प्रतिषेध सिद्ध किया गया है, किन्तु द्रव्यार्थिकनय की  
अपेक्षा से जो अनुत्पद्यमान् हैं उसी की स्थिति सुघटित है ।

१ कार्यरूपेणासतः । (व्या० प्र०) २ श्रीसमन्तभद्राचार्यः । (व्या० प्र०) ३ स्याद्वाद्यानुमानं रचयति विवादापन्नं  
सांख्याभ्युपगतं सत्पक्षः नोत्पत्तुमर्हतीति साध्यो धर्मः सर्वथा सत्त्वात् यत्सर्वथा सत्तन्नोत्पत्तुमर्हति यथा व्योम सर्वथा  
सच्चेदं तस्मान्नोत्पत्तुमर्हति—विवादापन्नं सौमताभ्युपगतमसत्पक्षोत्पत्तुं नार्हतीति साध्यो धर्मः सर्वथाऽसत्त्वात् यत्सर्व-  
थाऽसत्तदुत्पत्तुं नार्हति यथा बन्ध्यासुतः सर्वथाऽसच्चेदं तस्मादुत्पत्तुं नार्हति । (दि० प्र०) ४ असत्त्व इति पा० ।  
(व्या० प्र०) ५ सौमतो वदति हे स्याद्वादिन् ! एतद् हि उत्पत्तिरहितस्याकाशप्रमुखस्य स्थितिः कथं घटत इत्युक्ते  
स्याद्वादी वदति । एवं न । गगनादेरेकान्तेनैवानुत्पत्तेरस्माभिरनङ्गीकरणात् = केवलमाकाशादेरनुत्पत्तिमत्त्वमाकाशद्रव्य-  
नयापेक्षया तथापरप्रसिद्ध्या सांख्यमताश्रयेण । सतोऽनुत्पत्तिमत्त्वसाधने यथा व्योम इत्युदाहरणं मया प्रतिपादितं न  
पर्यायनयापेक्षया स्वमताश्रयेण च । ततस्तस्मात्कारणादस्मद्दृष्टान्ते पूर्वापरविरोधो नास्ति । (दि० प्र०) ६ स्याद्वा-  
दिना अनङ्गीकारात् । (व्या० प्र०) ७ व्योम इति पा० । (दि० प्र०, व्या० प्र०) ८ शास्त्रापेक्षया । (व्या० प्र०)  
९ सर्वथाऽनुत्पत्तिमतश्च । (दि० प्र०) १० प्रतिषेधता इति पा० । (दि० प्र०) द्रव्यनयापेक्षयाऽनुत्पद्यमानस्य वस्तुनः  
पर्यायनयापेक्षया उत्पद्यमानस्य वस्तुनः स्थितिर्घटते । सर्वथा नित्यस्य सर्वथा क्षणिकस्य स्थित्यादिक्रिया न घटते ।  
(दि० प्र०)

[ यद्वस्त्वर्थक्रियाकारि तद्विधिप्रतिषेधकल्पनया सप्तभंगीविधिसहितमिति समर्थयन्त्याचार्याः ]

ततो यदर्थक्रियाकारि तद्विधिप्रतिषेधकल्पनोपकल्पितसप्तभङ्गीविधौ<sup>१</sup> समारूढं विध्ये-  
कान्तादौ<sup>२</sup> वानवस्थितं<sup>३</sup> सदाद्येकान्ते<sup>४</sup>, सर्वथार्थक्रियाविरोधादिति सूरिमतम् । नन्वेवं सुन-  
यार्पितस्य विध्यंशस्य निषेधांशस्य चार्थक्रियाकारित्वे तेन व्यभिचारी<sup>५</sup> हेतुः, तस्य सप्तभङ्गी-  
विधावसमारूढत्वादन्यथानवस्थानात्, तस्यानर्थक्रियाकारित्वे सुनयस्यावस्तुविषयत्वप्रसक्तेः,  
वस्तुनोर्थक्रियाकारित्वादिति कश्चित्तदयुक्तं, सुनयार्पितस्यापि विधेरनिराकृतप्रतिषेधस्यार्थ-  
क्रियाकारित्वादन्यथा<sup>६</sup> दुर्णयार्पितत्वापत्तेः । न चासौ<sup>७</sup> सप्तभङ्गीविधावसमारूढः, भङ्गान्तरा-

[ जो वस्तु अर्थक्रियाकारी है वह विधि प्रतिषेध कल्पना से सप्तभंगी विधि सहित है  
इस प्रकार से जैनाचार्य समर्थन करते हैं ]

इसलिये जो अर्थक्रियाकारी है वह विधि-प्रतिषेधकल्पना से उपकल्पित सप्तभंगीविधि में समा-  
रूढ है अथवा जो विधि आदि एकान्त में अनवस्थित है वही अर्थक्रियाकारी है क्योंकि सत् आदि  
एकान्त में सर्वथा ही अर्थक्रिया का विरोध है, यह स्वामी श्री समंतभद्राचार्यवर्य का मत है ।

बौद्ध—इस प्रकार से तो सुनय-सापेक्षनय से अर्पित विधिअंश और निषेधअंश में ही अर्थक्रिया-  
कारीपना सिद्ध करने पर उसी विधिअंश और निषेधअंश से “सर्वथा अर्थक्रियाविरोधात्” यह हेतु  
व्यभिचरित हो जाता है, क्योंकि ये विधि और निषेधअंश सप्तभंगीविधि में समारूढ नहीं हैं, अन्यथा-  
रूप से अनवस्थित हैं अर्थात् सप्तभंगीविधि में एक सत्त्व अथवा असत्त्व को लेकर ही सातभंग बटाये  
जाते हैं । इसलिये वे एक-एक अंश पृथक् रूप से अर्थक्रियाकारी नहीं हैं ऐसा होने पर सापेक्ष नयों को  
अवस्तु को विषय करने का प्रसंग आता है क्योंकि वस्तु ही अर्थक्रियाकारी है ऐसा माना गया है ।

जैन—यह कथन भी अयुक्त ही है, सुनय से अर्पित जो विधि है उसने अपने प्रतिषेध का निरा-  
करण नहीं किया है इसलिये वह अर्थक्रियाकारी है । अन्यथा—यदि प्रतिषेध से निरपेक्षविधि अर्थ-  
क्रियाकारी है तब तो दुर्णय से अर्पित की आपत्ति आ जाती है । अर्थात् वे सुनय निरपेक्ष होने से  
सुनय नहीं रहते हैं, किन्तु कुनय या दुर्णय बन जाते हैं ।

१ विधिपरम् । समाक्रान्तम् । जीवादिवस्तुपक्षः विधिप्रतिषेधकल्पनोपकल्पितसप्तभंगीविधौ समारूढं भवतीति साध्यो धर्मः । अर्थक्रियाकारित्वात् । यदर्थक्रियाकारि तद्विधिप्रतिषेधकल्पनाविधौ समारूढं यथा स्वर्णकेयूरादि-  
संस्थानम् । अर्थक्रियाकारि चेदं तस्माद्विधिप्रतिषेधकल्पनोपकल्पितसप्तभंगीविधौ समारूढं भवतीति स्याद्वादौ कृतानु-  
मानम् । (दि० प्र०) २ जीवादिवस्तुपक्षोऽस्तित्वेकान्ते नास्तित्वेकान्ते वा समारूढं भवतीति साध्यो धर्मः । अर्थ-  
क्रियाकारित्वात् । (दि० प्र०) ३ निषेधपरम् । (दि० प्र०) ४ संदिग्धान्तिकान्तिकत्वे सत्याह । (दि० प्र०) ५ अर्थ-  
क्रियाकारित्वादिति हेतुः सुनयार्पितकांशेन व्यभिचरति । (दि० प्र०) ६ सापेक्षनिषेधस्य । (दि० प्र०) ७ विधिः  
एकांशः । (दि० प्र०)



प्रतिक्षेपात् । तथा च नानवस्था नाम, विधावपि <sup>१</sup>विध्यन्तरादिविकल्पनाऽभावात्<sup>२</sup> । केवलं विधिभङ्गे नास्तित्वादिभङ्गान्तरगुणीभावाद्धिप्रधान्यं प्रतिषेधभङ्गे चास्तित्वादिभङ्गान्तरगुणीभावात्प्रतिषेधप्रधानतेति <sup>३</sup>प्रमाणार्पितप्रधानरूपाशेषभङ्गात्मकवस्तुवाक्यान्नयवाक्यस्य<sup>४</sup> विशेषः<sup>५</sup> प्ररूपितप्राय एव ।

[ बौद्धो ब्रूते प्रथमभङ्गेनैव जीवादिवस्तुस्य ज्ञानं भवति पुनः शेषभङ्गकथनं व्यर्थमेव इत्याशंकायामाचार्या उत्तरयन्ति । ]

यदप्याह जीवादिवस्तुनि सत्त्वद्वारेण प्रथमभङ्गात्प्रतिपन्ने द्वितीयादिभङ्गानामानर्थक्यम्, असत्त्वादिवर्माणामपि तदात्मनां<sup>६</sup> तत एव प्रतिपत्तेरन्यथा तेषां वस्तुनोन्यत्वापत्तेः, विरुद्ध-

अतएव ये सुनयार्पित विधि और निषेध सप्तभङ्गी में समारुढ़ नहीं हैं, ऐसा नहीं कह सकते हैं, क्योंकि उसमें भङ्गांतर का प्रतिक्षेप नहीं है । अर्थात् विधिअंश भङ्गांतर — भिन्न-भिन्न भंगों का प्रतिक्षेपी न होने से सप्तभङ्गी से समालिङ्गित वस्तु में तादात्म्य को प्राप्त हुआ है अतएव वह सप्तभङ्गी-विधि में समारुढ़ है ऐसा कथन सिद्ध हो जाता है और तब प्रकार सप्तभङ्गीविधि में विधि अंश के समारुढ़ होने से अनवस्था भी नहीं आती है, क्योंकि विधि में भी अन्य विधि आदि की कल्पना असंभव है ।

केवल विधिभङ्ग को स्वीकार करने पर नास्तित्वादि अन्य भङ्ग गौण हो जाते हैं एवं विधिभङ्ग प्रधान हो जाता है । तथा केवल प्रतिषेधभङ्ग में अस्तित्व आदि भङ्गांतर गौण हो जाते हैं, प्रतिषेध भङ्ग प्रधान रहता है । इसी हेतु से “प्रमाण से अर्पित प्रधानरूप अशेष भङ्गात्मकवस्तु कथन के वाक्य से नयवाक्य में विशेषता—अन्तर है ऐसा प्रायः प्ररूपण ही कर दिया गया है । अर्थात् प्रधानवाक्य युगपत् प्रधानरूप से अर्पित समस्त भङ्गात्मक वस्तु का विवेचन करता है और नयवाक्य इतर धर्मों का व्यवच्छेद न करता हुआ वस्तु में एक ही धर्म का प्रधानतया कथन करता है । जैसे कि विधिभङ्ग में नास्तित्वादि भङ्गांतर की गौणता है अस्तित्व की प्रधानता है । प्रतिषेध भङ्ग में अस्तित्वादि भङ्गांतर की गौणता एवं प्रतिषेध भङ्ग की मुख्यता है यह नयवाक्य है ।

[ बौद्ध कहता है कि प्रथमभङ्ग से जीवादि वस्तुओं का ज्ञान हो जाने पर शेष भङ्गों का कहना व्यर्थ है, इस पर आचार्य उत्तर देते हैं । ]

बौद्ध—अस्तित्व की प्रधानता द्वारा पहले भङ्ग से जीवादिवस्तु को ज्ञान लेने पर द्वितीय आदि भङ्ग अनर्थक ही हैं, क्योंकि नास्तित्वादि धर्म भी उस-उस स्वरूप ही हैं अतः उस पहले भङ्ग से ही

१ निषेधादि । (व्या० प्र०) २ भङ्गान्तराप्रतिक्षेपिणो विद्वेषाशयाभिधानादेवाशेषभङ्गात्मकवस्तुवाचकानस्य सुनय-वाक्यस्य प्रमाणवाक्यात् को भेद इत्याशंकायामाह । (व्या० प्र०) ३ वाक्यमिति पा० । (दि० प्र०) प्रमाणवाक्यम् । (दि० प्र०) ४ विधिप्रतिषेधात्मकं वस्तु इति प्रमाणवाक्यम् । केवलं विध्यमात्मकं केवलं प्रतिषेधात्मकं वस्तु इति नयवाक्यम् । (दि० प्र०) ५ भेदः । (व्या० प्र०) ६ सत्त्वासहचरितानां ततः प्रथमभङ्गादेव निर्णयो घटते । अन्यथा न घटते चेत् तदा तेषां सप्तभङ्गानां वस्तुनः सकाशात् भिन्नत्वं घटते । वस्तु अन्यत् । भङ्गाज्ये विरुद्धधर्माधिकरणात् । (दि० प्र०)

धर्माध्यासात्पटपिशाचवत् । तथा च तस्येति व्यपदेशाभावः, संबन्धाभावात् । सत्त्वादिधर्माणां धर्मिणा<sup>१</sup> सहोपकार्योपकारकभावे<sup>२</sup> धर्मिणोपकारो धर्माणां धर्मैर्वा धर्मिणः स्यात् ? प्रथमपक्षे किमेकया शक्त्या धर्मो धर्मानुपकुरुतेऽनेकया वा ? यद्येकया<sup>३</sup> स्वात्मनोनन्यया<sup>४</sup> धर्मो धर्मानुपकुरुते तदैकधर्मद्वारेण नानाधर्मोपकारनिमित्तभूतशक्त्यात्मनो धर्मिणः प्रतिपत्तौ तदुपकार्यस्य<sup>५</sup> सकलधर्मकलापस्य प्रतिपत्तेः सकलग्रहः स्यात्, उपकार्यप्रतीतिं तदुपकारकप्रतीत्ययोगात्<sup>६</sup> । एतेनानेकया<sup>७</sup> स्वात्मनोनन्यया शक्त्या धर्मो धर्मानुपकरोतीति पक्षान्तरमपि प्रतिक्षिप्तम् । धर्मो धर्मैरुपक्रियते इत्यस्मिन्नपि पक्षे किमेकोपकार्यशक्त्यात्माऽनेकोपकार्यशक्त्यात्मा<sup>८</sup> वेति

उन-उनकी भी प्रतिपत्ति हो जावेगी अन्यथा वे नास्तित्वादि धर्म वस्तु से भिन्न ही सिद्ध होंगे क्योंकि इन अस्तित्व और नास्तित्व आदि धर्मों में विरुद्ध धर्माध्यास देखा जाता है । जैसे कि पट और पिशाच भिन्न-भिन्न हैं वैसे ही इनमें भिन्नपना ही सिद्ध होगा । पुनः भेद सिद्ध होने में यह धर्मो है एवं ये इसके धर्म हैं इत्यादि व्यपदेश भी नहीं हो सकेगा क्योंकि उनमें सम्बन्ध का अभाव है । यदि आप जैन यों कहें कि सत्त्वादि धर्मों का धर्मों के साथ उपकार्य-उपकारकभाव सम्बन्ध है अतः ये धर्मो हैं ये उसके धर्म हैं ऐसा कथन हो जाता है तब तो हम यह पूछते हैं कि धर्मों के द्वारा धर्मों का उपकार है अथवा धर्मों के द्वारा धर्मों पर उपकार है, क्या है ? कहिये ।

यदि आप प्रथम पक्ष लेते हैं तब तो पुनः प्रश्न होता है कि वह धर्मो एक शक्ति के द्वारा धर्मों पर उपकार करता है या अनेक शक्ति के द्वारा ? यदि आप कहें कि एक शक्ति के द्वारा उपकार करता है तब यह बतलाइये कि वह धर्मो अपने से अभिन्न एक शक्ति के द्वारा धर्मों पर उपकार करता है या अपने से अभिन्न अनेक शक्ति के द्वारा धर्मों पर उपकार करता है ? यदि अपने से अभिन्न एक शक्ति के द्वारा उपकार मानो तब तो एक धर्म (सत्त्व लक्षण) के द्वारा नाना धर्मोपकार निमित्तभूत शक्त्यात्मक धर्मों की प्रतिपत्ति होने पर तदुपकार्यरूप सकल धर्म कलाप की प्रतिपत्ति हो जाने से सकल धर्मों का ग्रहण हो जावेगा, पुनः धर्म और धर्मों में ऐक्य हो जावेगा एवं उपकार्य की अप्रतीति में उसके उपकारक की प्रतीति का भी अभाव हो जावेगा । इसी कथन से “अपने से अभिन्न अनेक शक्ति से धर्मो धर्मों पर उपकार करता है” इस दूसरे पक्ष का भी खण्डन कर दिया गया है ।

यदि आप मूल के द्वितीय पक्ष को लें कि धर्मो द्वारा धर्मों पर उपकार किया जाता है, तब तो वह धर्मो एक उपकार्यशक्तिस्वरूप है या अनेक उपकार्यशक्तिस्वरूप ? इन दोनों पक्षों का खण्डन इस उपर्युक्त कथन से ही हो जाता है, क्योंकि सकल धर्म के समूहरूप उपकारक का ज्ञान न होने पर उन धर्मों से उपकार्य शक्त्यात्मक धर्मों का ज्ञान भी असंभव है, कारण कि सकल धर्म समूह का निश्चयरूप सकल को ग्रहण कर लेने नाम का पूर्वोक्त दोष यहाँ भी आ जाता है । कहा भी है—

१ वस्तुना । (दि० प्र०) २ उपकार्योपकारकभावः संबन्धोऽङ्गीक्रियते चेत् । (व्या० प्र०) ३ वस्तुनः । (दि० प्र०)

४ अभिन्नया । (व्या० प्र०) ५ धर्मि । (दि० प्र०) ६ धर्मिणः । (दि० प्र०) ७ व्याख्यानेन । (दि० प्र०)

८ उपकार्य चासौ शक्तिश्चोपकार्यशक्तिः । एका उपकार्यशक्ति आत्मास्वरूपं यस्य स तथोक्तः । (दि० प्र०)

पक्षद्वितयमप्यनेनैव<sup>१</sup> निरस्तं, सकलधर्मकलापस्योपकारकस्याप्रतिपत्तौ तदुपकार्यशक्त्यात्मनो<sup>२</sup> धर्मिणः प्रतिपत्त्यवटनात्, सकलनिश्चयस्याविशेषात् । तदुक्तं

“नानोपाध्युपकाराङ्गशक्त्यभिन्नात्मनो<sup>३</sup> ग्रहे ।

सर्वात्मनोपकार्यस्य को भेदः स्यादनिश्चितः<sup>४</sup> ॥१॥

एकोपकारके ग्राह्ये<sup>५</sup> नोपकारस्ततोऽपरे<sup>६</sup> ।

दृष्टे यस्मिन्नदृष्टास्ते<sup>७</sup> तद्ग्रहे<sup>८</sup> सकलग्रहे<sup>९</sup> ॥२॥

इति । यदि पुनर्धर्मिणामुपकारिकाः शक्त्य<sup>९</sup> उपकार्यश्च धर्मिणो<sup>१०</sup> भिन्ना एव तदा<sup>११</sup> ताभिस्तस्योपकारः कश्चित्तेन वा तासां क्रियते न वेति पक्षद्वयम् । तत्र<sup>१२</sup> न तावदुत्तरः पक्षः,

श्लोकार्थ—नाना उपाधिभूत सत्त्वादि धर्मों की उपकारांगभूत शक्ति से अभिन्नात्मक धर्मों को ग्रहण करने पर सर्वात्मरूप से उपकार्य में अनिश्चितरूप से क्या भेद होगा ? ॥१॥

और एक उपकारक के ग्राह्य होने पर उससे भिन्न अन्य उपकार नहीं है, क्योंकि उस एक के देखने पर वे सभी देखे नहीं गये हैं अतएव उनके ग्रहण करने पर सकल को ग्रहण कर लेने रूप दोष आ जाता है ॥२॥

यदि पुनः आप जैन ऐसा कहें कि उन धर्मों की उपकारक और उपकार्य शक्तियाँ उस धर्मों से भिन्न ही हैं, तब तो उन शक्तियों के द्वारा उस धर्मों का कोई उपकार अथवा उस धर्मों के द्वारा उन शक्तियों का कुछ भी उपकार किया जाता है या नहीं ? ये दो पक्ष उपस्थित होते हैं । इसमें द्वितीय पक्ष तो आप ले नहीं सकते क्योंकि “धर्मों की ये शक्तियाँ हैं” इस तरह संबंध का अभाव होने से यह व्यपदेश नहीं बन सकेगा । यदि प्रथम पक्ष लेवो कि शक्तियों के द्वारा शक्तिमान् धर्मों का उपकार किया जाता है, तब तो उन शक्तियों से वह शक्तिमान् धर्मों अभिन्न है या भिन्न ? यदि कहो अभिन्न है तब तो उन शक्तियों से शक्तिमान् धर्मों का उपकार अभिन्नरूप होने पर उन शक्तियों से वह धर्मों

- १ पूर्वव्याख्यानेन । (दि० प्र०) २ तेन सकलधर्मकलापेनोपकार्यशक्ति आत्मास्वरूपं यस्य सस्तदुपकार्यशक्त्यात्मा तस्य धर्मिणः प्रतिपत्तिर्न घटते । (दि० प्र०) ३ नाना च ते उपाधयो धर्मा नानोपाधयस्तेषामुपकारस्तस्यां कारणं ततश्चासौशक्तिस्तयाऽभिन्नात्मा स्वरूपं यस्य सतस्तस्य नानोपाध्युपकारांगशक्त्याभिन्नात्मनः धर्मिणोऽनेकधर्मोपकार-कारणशक्त्यभिन्नत्वभावस्य । (दि० प्र०) ४ अनिश्चितः कोपि नास्तीत्यर्थस्तथा सति भेदान्तरप्रतिपादनं व्यर्थमेव । (व्या० प्र०) ५ तस्य धर्मिणो ग्रहणे सकलधर्मग्रहणं जातमथवा सकलधर्मकलापस्य ग्रहणे धर्मिग्रहणं जातम् । (दि० प्र०) ६ धर्माः । (दि० प्र०) ७ यदि दृष्टाश्चेत् । (व्या० प्र०) ८ उपक्रियन्ते इत्युपकारा उपकार्या इत्यर्थः । (व्या० प्र०) ९ धर्मशक्तयः । (व्या० प्र०) १० का । (व्या० प्र०) ११ तर्हि शक्तिभिः धर्मिणः कश्चिदुपकारः क्रियते न वा धर्मिणा शक्तीनां कश्चिदुपकारः क्रियते न वा इति प्रश्नः । (दि० प्र०) १२ तत्र तयोर्द्वयोर्विकल्पयोर्मध्ये शक्तिभिः धर्मिण उपकारो न क्रियते तथा धर्मिणा शक्तीनामुपकारो न क्रियत इत्युक्तलक्षणउत्तरपक्षो न संभवति कस्मात् । तासामसौ तस्याऽभूः इति व्यपदेशावटनात् । (दि० प्र०)

तद्व्यपदेशविरोधात् । प्रथमपक्षे तु शक्तिभिः शक्तिमत<sup>१</sup> उपकारेनर्थान्तरभूते<sup>२</sup> स एव<sup>३</sup> कृतः स्यात् । तथा च न शक्तिमानसौ, तत्कार्यत्वात् । ततोर्थान्तरभूतेनवस्थाप्रसङ्गः, तद्व्यपदेश-सिद्ध्यर्थमुपकारान्तरपरिकल्पनात् । शक्तिमता शक्तीनामुपकारे शक्त्यन्तराणां कल्पनेन-वस्थैव<sup>४</sup> । तदकल्पने<sup>५</sup> प्राच्यशक्तीनामप्यव्यवस्थितिः । इति न शक्तिशक्तिमद्व्यवहारः सिध्येत् । तदप्युक्तं—

“धर्मोपकारशक्तीनां<sup>६</sup> भेदे तास्तस्य किं यदि ?

नोपकारस्ततस्तासां तथा स्यादनवस्थितिः ॥”

इति ।, तदपि<sup>७</sup> सर्वमपाकुर्वन्तः सूरयः प्राहुः ।—

ही किया गया है ऐसा समझना चाहिये । पुनः वह धर्मी शक्तिमान् नहीं रह सकेगा क्योंकि वह उन शक्तियों का कार्य होने से शक्तिरूप ही रहेगा शक्तिमान् नहीं कहलावेगा ।

द्वितीय पक्ष में वह धर्मी उन शक्तियों से भिन्न है, कहो तब तो अनवस्था का प्रसंग आ जावेगा । ‘उस शक्तिमान् की ये शक्तियाँ हैं’ भिन्न पक्ष में इस बात को सिद्ध करने के लिये एक भिन्न ही उपकार की कल्पना करनी पड़ेगी । पुनः शक्तिमान् से उन शक्तियों का उपकार मानने पर भिन्न-भिन्न शक्तियों की कल्पना करते-करते अनवस्था ही आ जावेगी । (अर्थात् शक्तियों के द्वारा किया गया उपकार यदि भिन्न है, तब तो शक्तिमान् का यह उपकार है, ऐसा व्यपदेश कैसे होगा ? यदि उपकारांतर से मानें, तब तो अनवस्था हो जावेगी, क्योंकि वह भी उनसे भिन्न ही है ।)

यदि आप कहें कि हम शक्त्यन्तर की कल्पना नहीं करेंगे तब तो प्राच्य शक्तियों की (शेष धर्मों की) भी व्यवस्था नहीं बन सकेगी । इस प्रकार से शक्ति और शक्तिमान् का व्यवहार ही सिद्ध नहीं हो सकेगा । तदप्युक्तम्—

इलोकार्थ—धर्म और उनकी उपकारक शक्तियों में एकांततः भेद होने पर वे शक्तियाँ उसकी है यह कह सकते हैं क्या ? नहीं कह सकते । यदि कहें कि उससे उन शक्तियों का उपकार नहीं है, तब तो व्यवस्था ही नहीं बन सकती है । इति । (इस प्रकार से इस बौद्ध ने अपने पक्ष का समर्थन रखा है ।)

उपर्युक्त सभी कथन का खण्डन करते हुये आचार्य कहते हैं—

१ सकाशात् । (दि० प्र०) २ अभिन्ने । (दि० प्र०) ३ स एव शक्तिमानेव कृतो भवेत्तथा च कृते सति किं भवत्यसौ धर्मी शक्तिमान् न भवत्यनित्यो भवतीत्यर्थः । (दि० प्र०) ४ शक्तिमान् शक्तीनामुपकारमनेकशक्तिभिः करोति ताभि-विना वेति विकल्पद्वयमत्रावगन्तव्यम् । (दि० प्र०) ५ शक्त्यन्तर । (दि० प्र०) ६ धर्मोपकारनिमित्तानां धर्मिशक्तीनां धर्मिणो भेदे यद्युपकारो न क्रियते तदा ताः शक्तयस्तस्य किंनैवेत्यर्थः । यदि ततो धर्मिणस्तासां शक्तीनामुपकारो भवति तथा सत्यनवस्थेति । अनवस्था शक्तीनामुपकारकरणेऽपि धर्मिणः शक्त्यन्तराणां परिकल्पनात् । तदकल्पनेनावस्थितिः प्राच्यशक्तीनामपि अव्यवस्थितिरिति भावः । (दि० प्र०) ७ तदप्येतत् इति पा० । (दि० प्र०)

धर्म<sup>१</sup> धर्मेन्य एवार्थो धर्मिणोनन्तधर्मणः<sup>२</sup> ।

अगित्वेन्यतमान्तस्य शेषान्तानां तदंगता ॥२२॥

धर्मो तावदनन्तधर्मो जीवादिः, प्रमेयत्वान्यथानुपपत्तेः । ननु च धर्मेण व्यभिचारः, तस्यानन्तधर्मत्वाभावेऽपि प्रमेयत्वसिद्धेः । तस्याप्यनन्तधर्मत्वे धर्मित्वप्रसङ्गान्न धर्मो नाम । तदभावे न धर्मोत्युभयापायः<sup>३</sup> ।

[ बौद्धो ब्रूते प्रमेयत्वहेतुर्व्यभिचारी भवति किंतु जैनाचार्याः समादधते ]

प्रमेयत्वस्य<sup>४</sup> च साधनधर्मस्यानन्तधर्मशून्यत्वे तेनैवानेकान्तः । 'तस्यानन्तधर्मत्वे धर्मित्वेन पक्षान्तःपातित्वान्न हेतुत्वम् । इत्युपालम्भो न श्रेयान्, धर्मस्यैव सर्वथा<sup>५</sup> कस्यचिद-

**कारिकार्थ—**अनन्तधर्मो से विशिष्ट जीवादि एक धर्मो के प्रत्येक धर्म में भिन्न-भिन्न प्रयोजन आदिरूप अर्थ विद्यमान है एवं धर्मो के द्वारा ही धर्मो का कथन होता है अतएव उन धर्मो में से किसी एक धर्म को प्रधान करने पर शेष सभी धर्म गौण हो जाते हैं ॥२२॥

अनन्तधर्म वाले जीवादि धर्मो कहलाते हैं क्योंकि प्रमेयत्व की अन्यथानुपपत्ति है ।

[ प्रमेयत्व हेतु व्यभिचारी है ऐसा बौद्ध के कहने पर जैनाचार्य समाधान करते हैं ]

**बौद्ध—**इस हेतु में धर्म के साथ व्यभिचार आता है, क्योंकि धर्म में अनन्तधर्मत्व का अभाव होने पर भी प्रमेयत्व सिद्ध है और उस धर्म में भी यदि अनन्तधर्म मानोगे, तब तो वह धर्म धर्मो ही बन जावेगा, उसका धर्म यह नाम ही नहीं रहेगा । इस तरह से जब धर्म का अभाव हो जावेगा तब धर्मो भी सिद्ध नहीं हो सकेगा, पुनः धर्म और धर्मो दोनों का ही अभाव हो जावेगा ।

जो प्रमेयत्व साधन धर्म है वह अनन्तधर्मो से शून्य है इसलिये उसी प्रमेयत्व हेतु के साथ ही अनेकांत दोष आ जाता है । अर्थात् प्रमेयत्व में अनन्तधर्मो का अभाव होने पर भी वह प्रमेय है एवं उस प्रमेय में अनन्त धर्म स्वीकार करने पर वह धर्मो रूप से पक्ष के अंतर्भूत होने से हेतुत्व नहीं रहेगा ।

**जैन—**यह आप बौद्धों का उपालम्भ श्रेयस्कर नहीं है । सर्वथा धर्मो को छोड़कर धर्म ही असंभव है । इसलिये प्रमेयत्व हेतु में उस धर्म के साथ व्यभिचार का अभाव है । स्वधर्मो की अपेक्षा जो

१ अने अने । (दि० प्र०) २ प्रधानत्वे । अतः । (दि० प्र०) ३ धर्मिधर्मनाशः । (दि० प्र०) ४ हेतोः । (दि० प्र०) ५ एव । (व्या० प्र०) ६ प्रमेयत्वस्यानन्तधर्मोक्तत्वे सति धर्मित्वं जातं तेन कृत्वा पक्षमध्यपातित्वं षट्ते अतः कारणात् प्रमेयत्वादित्येतस्य हेतुत्वं न संभवति स्याद्वादी वदतीति दूषणोत्पादः श्रेयान्नास्ति । (दि० प्र०) ७ स्याद्वाद्याह सत्त्वादिः कश्चिद्विकल्पः सर्वथा धर्मो नास्ति कश्चिच्चिदधर्मो अपि स्यात् । (दि० प्र०)

संभवास्तेन व्यभिचाराभावात् साधनस्य । न हि स्वधर्म्यपेक्षया यो धर्मः सत्त्वादिः स एव स्वधर्मान्तरापेक्षो<sup>१</sup> धर्मी न स्याद्यतो नन्तधर्मा न भवेत् । न चैवमनवस्थानं, अनाद्यनन्तत्वाद् धर्मधर्मिस्वभावभेदव्यवहारस्य<sup>२</sup> बलवदभव्यसंसारकत्वा । न च धर्मिणो जीवादेरपोद्धियमाणो धर्मः प्रमेयः, तस्य नयविशेषविषयतया प्रमाणाविषयत्वात् । इति न तेनानेकान्तः । एतेन प्रमेयत्वस्य धर्मस्य नयविषयस्य<sup>३</sup> नेयत्वेनाप्रमेयत्वात्तेन व्यभिचारो निरस्तः । प्रमाणविषयस्य तु प्रमेयत्वस्य हेतोः स्वधर्मपेक्षयानन्तधर्मत्वेन धर्मित्वात्पक्षत्वेपि<sup>४</sup> न हेतुत्वव्याघातः, स्वपरानन्तधर्मत्वे साध्येन्यथानुपपत्तिसद्भावात् । ततो नन्तधर्मा धर्मी<sup>५</sup> सिद्ध्यत्येव । तस्य<sup>६</sup> धर्मो धर्मेस्तित्वादौ भिन्न एवार्थः प्रयोजनं<sup>७</sup> विधानादिः प्रवृत्त्यादिर्वा<sup>८</sup> तदज्ञानविच्छित्तिर्वा,<sup>९</sup> न

सत्त्वादि धर्म हैं वे स्वधर्मांतर की अपेक्षा से धर्मी न हों, ऐसा तो है नहीं, जिससे कि एक धर्म भी अनंतधर्मात्मक न हो सके अर्थात् इस अपेक्षा से एक धर्म भी अनंतधर्मात्मक सिद्ध है । इस प्रकार से धर्म को ही अनंतधर्मात्मक धर्मी प्रतिपादित करने से अनवस्था दोष भी नहीं आता है, क्योंकि धर्म और धर्मी के स्वभाव का भेदव्यवहार बल्य के समान अथवा अभव्यजीव के संसार के समान अनादि और अनंत है । अर्थात् जैसे अभव्यजीवों के संसार का आदि अंत नहीं है एवं भ्रमण काल में जो बल्य का पूर्वभाग है, वही अपरभाग भी हो जाता है ।

धर्मी जीवादि से अपोद्धियमान—पृथक् किया गया प्रमेय, धर्म नहीं हो ऐसी बात नहीं है, किंतु वह धर्म नयविशेष का विषय होने से प्रमाण का विषय नहीं है, इसलिये उस प्रमेय धर्म के साथ अनेकांत दोष नहीं आता है । इसी कथन से नय का विषयभूत जो प्रमेयत्वधर्म है, उसे नय के विषयरूप से प्राप्त करने पर वही अप्रमेय है अर्थात् प्रमाण का अविषय है । इसलिये उस धर्म के साथ व्यभिचार का खण्डन कर दिया गया है, किन्तु जब प्रमाण के विषयरूप प्रमेयत्व को हेतु बनाते हैं, तब वह अपने धर्म की अपेक्षा से अनंतधर्मरूप से धर्मी बन जाता है, और तब उस हेतु को स्वयं पक्षरूप मान लेने पर भी उसको हेतुपने का व्याघात नहीं होता है, क्योंकि स्व-प्रमेय और पर-जीवादि इन स्वपर के अनंतधर्म को साध्य करने पर अन्यथानुपपत्तिरूप हेतु का सद्भाव है । अर्थात्—स्वपर को अनंतधर्मात्मक न मानने पर प्रमेयत्व हेतु ही नहीं बन सकेगा । इसलिये धर्मी अनंतधर्मात्मक सिद्ध ही हो जाता है ।

उस धर्मी के अस्तित्वादि धर्म-धर्म में भिन्न ही अर्थ, प्रयोजन विधानादि हैं अथवा प्रवृत्ति आदि या उसके अज्ञान की निवृत्ति आदि भी हैं, न कि पुनः एक ही प्रयोजन है कि जिससे प्रथमभंग से ही

१ प्रतिषेद्धाविनाभावविविशेषणत्वादि । (दि० प्र०) २ ता । ततश्च नानवस्थादूषणमिति भावः । (दि० प्र०)

३ समविषयस्य इति पा० । (दि० प्र०) ४ पक्षान्तःपातित्वे सत्यपि । (दि० प्र०) ५ जीवादिः । (दि० प्र०)

६ जीवादेः धर्मिणः । (दि० प्र०) ७ प्रयोजनविधानात् इति पा० । (दि० प्र०) कार्यकारणात् । (दि० प्र०)

८ निवृत्त्यादिः । (दि० प्र०) ९ येन केन ह्यर्थे अपितु न केनापि । (दि० प्र०)

पुनरेक एव येन प्रथमभङ्गादेवानन्तधर्मात्मिकस्य वस्तुनः प्रतिपत्तेः शेषधर्मानामानर्थक्यं प्रसज्येत । न च धर्मा धर्मिणोनर्थान्तरभूता एव, नाप्यर्थान्तरमेव येन तत्पक्षभाविदूषणप्रसङ्गः<sup>१</sup>, कथंचिद्भेदाभेदात्मकत्वाद्धर्मिधर्माणां तदात्मकवस्तुनो<sup>२</sup> जात्यन्तरत्वाच्चित्राकारैकसंवेदनवत्<sup>३</sup>, तत्र विरोधादेरप्यनवकाशात्<sup>४</sup> । केवलभङ्गित्वे प्रधानत्वेस्तित्वादिषु धर्मेष्वन्यतमस्यान्तस्य धर्मस्य, शेषान्तानां<sup>५</sup> स्याच्छब्दसूचितान्यधर्माणां तदङ्गता तद्गुणभावः, तथा 'प्रतिपत्तुविवक्षाप्रवृत्तेरर्थित्वविशेषात्'<sup>६</sup> । ततो भङ्गान्तरप्रयोगो युक्त एव, प्रतिधर्मं धर्मिणः कथंचित्स्वभावभेदोपपत्तेः ।

[ धर्मिणः प्रतिधर्मं यदि स्वभावभेदो न भवेत्तर्हि वस्तुव्यवस्थैव न स्यात् ]

यदि<sup>८</sup> पुनः<sup>९</sup> प्रत्युपाधि<sup>१०</sup> परमार्थतः स्वभावभेदो<sup>११</sup> न स्यात्तदा दृष्टेभिहिते<sup>१२</sup> वा

अनन्यधर्मात्मक वस्तु का ज्ञान होने से शेष धर्मों में अनर्थकता का प्रसंग आ जावे । अर्थात् शेष धर्म अनर्थक नहीं हैं ।

सभी धर्म धर्मों से अनर्थान्तरभूत—सर्वथा अभिन्न ही हों, ऐसा भी नहीं है । धर्मों से वह धर्म सर्वथा भिन्न भी नहीं है कि जिससे अभिन्न और भिन्न पक्ष में दिये गये दूषणों का प्रसंग आ सके । अर्थात् आप बीछी के जो भिन्न-अभिन्न पक्ष में दोष दिये हैं, वे हमारे यहाँ लागू नहीं होते हैं क्योंकि हमारे यहाँ धर्म और धर्मों कथंचित् भेदाभेदात्मक हैं और भेदाभेदात्मक वस्तु ही एक जात्यन्तररूप ही है, अंसे कि चित्रकाररूप एक संवेदनज्ञान जात्यन्तररूप ही है । एवं उस भेदाभेदात्मक वस्तु में विरोध, वैयाधिकरण्यादि दोषों को भी अवकाश नहीं है ।

अनेक अस्तित्वादि धर्मों में से केवल-मात्र किसी एक धर्म को प्रधानरूप करने पर "शेषान्तानां" स्यात्शब्द से सूचित अन्य धर्मों को अप्रधानता—गौणता आ जाती है क्योंकि गौण-प्रधानभाव प्रकार से ज्ञाता की विवक्षा की प्रवृत्ति होती है एवं अर्थित्व विशेष है । अर्थात् ज्ञाता मनुष्य जिस धर्म को कहना या समझना चाहता है वही धर्म मुख्य है शेष धर्म गौण हैं ।

इसलिये प्रधान गौणरूप से अंगांतर का प्रयोग युक्त ही है । क्योंकि धर्म-धर्म के प्रति धर्मों में कथंचित् स्वभावभेद पाया जाता है ।

[ धर्मों के प्रत्येक धर्म में यदि स्वभावभेद न होवे तब तो वस्तु व्यवस्था ही नहीं बनेगी ]

यदि पुनः उपाधि-उपाधि के प्रति परमार्थ से स्वभावभेद न होवे तब तो दृष्ट में (प्रत्यक्ष से

१ येन केन भिन्नाभिन्नपक्षभाविदूषणं प्रसज्येतितु न केनापि । (दि० प्र०) २ द्वन्द्वः । (दि० प्र०) ३ ता धर्मो धर्मेष्वन्य एवार्थो भवतु । (दि० प्र०) ४ धर्मधर्माणां भेदाभेदात्मकत्वे कथञ्चिद्वस्तुत्वे सति विरोधादेर्दोषस्यानवतारात् । (दि० प्र०) ५ धर्माणाम् । (व्या० प्र०) ६ कुतः । (व्या० प्र०) ७ प्रयोजनवशात् । (दि० प्र०) ८ अन्यथा शब्दार्थो यदि पुनरित्यादि । (व्या० प्र०) ९ प्रतिधर्मम् । (दि० प्र०) १० प्रतिविशेषणम् । (दि० प्र०) ११ धर्मिणः । (व्या० प्र०) १२ शब्देनोक्ते । (दि० प्र०)

प्रमाणान्तरमुक्त्यन्तरं<sup>१</sup> वा<sup>२</sup> निरर्थकं स्यात्, गृहीतग्रहणात् पुनरुक्तेश्च । तथा<sup>३</sup> हि । साक्षादुपलब्धे शब्दादौ<sup>४</sup> क्षणिकत्वाद्यनुमानं स्वार्थं<sup>५</sup> न स्यात्, धर्मिप्रतिपत्तौ कस्यचिदप्रतिपन्नस्वभावस्य साध्यस्याभावात्, सर्वथा स्वभावातिशयाभावात्<sup>६</sup> । परार्थं<sup>७</sup> चानुमानं वचनात्मकं न युज्येत, धर्मिवचनमात्रादेव साध्यनिर्देशसिद्धेः<sup>८</sup>, साधनधर्मोक्तिसिद्धेश्च<sup>९</sup> । तद्वचने पुनरुक्तताप्रसङ्गः, तस्य स्वभावातिशयाभावादेव ।

विषयकृत धर्मों में) अथवा शब्द से कहे गये में अनुमानादि प्रमाणान्तर अथवा उक्त्यन्तर—वचनांतर निरर्थक हो जावेंगे, क्योंकि गृहीत को ग्रहण करना और पुनरुक्ति करना ये दोष आते हैं । अर्थात् धर्मों के प्रत्येक धर्म में स्वभावभेद पाया जाता है अतएव प्रत्यक्ष से जाने गये पदार्थ में अनुमान आदि प्रमाण प्रवृत्ति करते हैं एवं शब्द से कहे गये में भी भिन्न-भिन्न वचन प्रवृत्त होते हैं । अतएव प्रत्यक्ष के द्वारा ग्रहण किये गये को अनुमान ने ग्रहण किया तब गृहीतग्राही दोष आ गया । यह दोष हमारे यहाँ असंभव है क्योंकि अवग्रह के द्वारा ग्रहण किये गये में ईहा आदि ज्ञानों की प्रवृत्ति होने से वस्तु में स्वभावभेद होने से उन-उन ज्ञानों का विषय भिन्न-भिन्न ही है, अतः गृहीतग्राही तथैव पुनरुक्ति दोष हमारे यहाँ नहीं आते हैं ।

तथाहि—साक्षात्प्रत्यक्ष—श्रावणप्रत्यक्ष से उपलब्ध—शब्दादि विषयों में (बौद्धधर्म की अपेक्षा) क्षणिकत्व सिद्ध करने के लिये “सर्वं क्षणिकं सत्त्वात्” जो स्वार्थानुमान आपने निश्चित किया है वह नहीं बन सकता है क्योंकि शब्दरूप धर्मों का ज्ञान हो जाने पर वहाँ कोई ऐसा स्वभाव ही नहीं है, जो कि अनुमान से जानने के लिये साध्यरूप किया जावे, कारण बौद्धों की मान्यतानुसार धर्मों में सर्वथा स्वभाव के अतिशय (भेद) का ही अभाव है । वचनात्मक परार्थानुमान भी नहीं बन सकेगा क्योंकि धर्मिवचन के निर्देशमात्र से ही साध्य की सिद्धि हो जाती है और साधनधर्म का कथन भी सिद्ध हो जाता है, पुनः उस धर्मों का वचन कहने पर पुनरुक्ति दोष का प्रसंग आ जावेगा क्योंकि शब्दादिधर्मों में स्वभाव के अतिशय का अभाव ही है ।

१ प्रत्यक्षलक्षणात्प्रमाणादन्यत्स्वार्थानुमानं प्रमाणान्तरम् । (दि० प्र०) २ प्रत्यक्षमनुमानं वा निरर्थकं गृहीतग्रहणात् पुनरुक्तत्वात् । धर्मिवचनलक्षणाया उक्तेः सकाशादपरासाध्यसाधनवचनलक्षणपरार्थानुमानरूपाया उक्तेरुक्त्यन्तरम् । (दि० प्र०) ३ हे सौगत ! श्रोत्रेन्द्रियादिना शब्दादिर्यदा साक्षाद् गृहीतस्तदा क्षणिकत्वादिः साध्यधर्मोऽपि गृहीतो भवतु = उपलब्धे गृहीते प्राप्ते शब्दादौ । शब्दः पक्षः क्षणिको भवतीति साध्यो धर्मः कृतकत्वादित्यनुमानमात्मबोधनार्थं युक्तं न भवेत् कस्मात् धर्मिणः प्रतिपत्तौ सत्यां कस्यचित्साध्यस्य स्वभावस्याप्रतिपक्षत्वाभावादिति दृष्टपक्षे खण्डनम् । (दि० प्र०) ४ धर्मिणि । (दि० प्र०) ५ आत्मार्यं स्वनिमित्तम् । (दि० प्र०) ६ गृहीतागृहीतरूपस्य । विशेषः । भेदः । (दि० प्र०) ७ इदानीमभिहितपक्षे परप्रतिबोधनार्थं वचनात्मकमनुमानं युक्तं न । शब्द इति धर्मिवचनादेव क्षणिको भवतीति साध्यसिद्धिर्घटते । तथा कृतकत्वादिति साधनसिद्धिश्च सौगत आह । तस्य साध्यसाधने दोषो नास्तीति चेत् । तद्वत्त्वेन पुनरुक्तता दोषः प्रसजति । परार्थाद्वैतोः । (दि० प्र०) ८ धर्मस्य । (व्या० प्र०) ९ सर्वं क्षणिकमित्यत्र सत्त्वस्य सद्भावाद्धेतुप्रयोगः पुनरुक्त एव । (व्या० प्र०)



“तस्माद्दृष्टस्य भावस्य<sup>१</sup> दृष्ट एवाखिलो गुणः । भ्रान्तेनिश्चीयते नेति साधनं<sup>२</sup> संप्रवर्तते ।”

इत्येतदप्यनालोचितवचनमेव, दृष्टस्य स्वभावस्य स्वभावातिशयाभावेखिलगुणदर्शनस्य<sup>३</sup> विरोधात्, धर्मिमात्रेभ्यः भ्रान्तौ साध्ये स्वभावे भ्रान्त्ययोगात् तद्भ्रान्तौ वा शब्दसत्त्वादावपि भ्रान्तिप्रसक्तेः कुतः साधनं संप्रवर्तते यतोर्थनिश्चयः स्यात् ? शब्दसत्त्वादौ<sup>४</sup> निश्चये कथम-

**भावार्थ—**जो वस्तु शब्द द्वारा अभिहित हो चुकी है जैसे क्षणिकत्वसिद्धि में जो शिष्यों के लिये “सर्व क्षणिकं सत्त्वात्” रूप परार्थानुमान का प्रयोग किया गया है, उसे वस्तु में स्वभावातिशय के नहीं मानने पर उचित ही नहीं है । कारण शब्दरूप धर्मों के कथन से ही साध्य एवं साधन के निर्देश की सिद्धि हो जाती है, पुनः परार्थानुमानरूप शब्द द्वारा उनके कथन से लाभ क्या ? प्रत्युत् वहाँ गृहीत-ग्रहण एवं पुनरुक्त दोष ही आते हैं । यदि इन दोषों को हटाने के लिये ऐसा कहें कि—

**श्लोकार्थ—**जो पदार्थ प्रत्यक्ष से जान लिया जाता है, उसके समस्त गुण भी प्रत्यक्ष से जान लिये जाते हैं फिर भी निरंश शब्दादि में भ्रान्ति है, अतः उस भ्रान्ति से निश्चित न हो सकने से उसमें हेतु की प्रवृत्ति होती है ।

बौद्धों का यह कथन भी अविचारित ही है, क्योंकि दृष्टस्वभावप्रत्यक्षादि के द्वारा जाने गये पदार्थ में स्वभावातिशय का अभाव होने पर अखिलगुणों के दर्शन का विरोध है ।

धर्मिमात्र में भी अभ्रान्ति साध्यस्वभाव के होने पर भ्रान्ति का अभाव है अथवा उस साध्य में भ्रान्ति के होने पर शब्द के सत्त्व आदि में भी भ्रान्ति का प्रसंग हो जाने से किस प्रकार से साधन प्रवृत्त हो सकेगा कि जिससे अर्थ—धर्मों का निश्चय हो सके अर्थात् नहीं हो सकता है और शब्द में सत्त्वादि का निश्चय हो जाने पर अनित्यत्वादि में अनिश्चय कैसे नहीं होगा ? ऐसे निश्चय एवं अनिश्चयरूप दोनों के होने पर तो स्वभाव में भेद का प्रसंग प्राप्त हो जाता है । यदि निश्चित और अनिश्चितरूप साधन-साध्य में भी एकस्वभाव मान लेंगे, तब तो सर्वथा ही अतिप्रसंग दोष हो जावेगा, अर्थात् पट और पिशाच में भी एकत्व का प्रसंग हो जावेगा ।

**भावार्थ—**यदि बौद्ध कहे कि प्रत्यक्ष से मात्र धर्मों में ही अभ्रान्ति ज्ञात होती है, उसके स्वभाव में नहीं, अतः स्वभाव में अभ्रान्ति सिद्ध करने के लिये अनुमान की आवश्यकता है । यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि स्वभावभेद के अभाव में जब धर्मिमात्र का निश्चय हो जाता है तब उसके साध्यरूप स्वभाव का भी निश्चय हो जावेगा, वहाँ भ्रान्ति नहीं हो सकती है । यदि वहाँ भ्रान्ति मानों तब तो शब्द

। हे सौगत ! तस्मात्कारणान्निर्णीतस्य शब्दादेः पक्षस्य सम्पूर्णः साध्यसाधनादिलक्षणो गुणो निर्णीत एव = सौगत आह हे स्यादादिन् साध्यसाधनदर्शनभ्रान्तिरस्ति अखिलो गुणो निश्चीयते न वेति भ्रान्तेः सकाशादनुमानं सम्यक् प्रवर्तते । (दि० प्र०) २ अखिलगुणसाधनं हेतुः प्रवर्तते ततश्च प्रमाणान्तरमुक्त्यन्तरं न निरर्थकं स्यादिति भावः । (व्या० प्र०) ३ जैन आह । सौगतस्य एतदप्यविचारितवचनं स्यात् । भेदः । (दि० प्र०) ४ निश्चीयते नेति श्लोकांशं निराकुरुवन्ति शब्दसत्त्वादिति । (दि० प्र०)

नित्यत्वादावनिश्चयः<sup>१</sup> ? स्वभावातिशयप्रसङ्गात्, निश्चितानिश्चितयोरेकस्वभावत्वे सर्व-  
थातिप्रसङ्गात् ।

[ यद्यपि वस्तुनि स्वतः स्वभावभेदो नास्ति तथापि विजातीयभेदास्वभावभेदो भवेदिति  
बौद्धस्थानिकायां समादधते आचार्याः ]

सदुत्पत्तिकृतकत्वादेः प्रत्यनीकस्वभावविशेषाभावाद् यावन्ति<sup>२</sup> पररूपाणि तावन्त्यस्तत-  
स्ततो<sup>३</sup> व्यावृत्तयः प्रत्येकमित्येषापि कल्पना मा भूत् । न हि किञ्चिदसदनुत्पत्तिमदःकृतकादि  
वा वस्तुभूतमस्ति सौगतप्रसिद्धं पररूपं यतो व्यावृत्तं<sup>४</sup> परमार्थतोऽस्वभावभेदमपि<sup>५</sup> शब्दादिस्व-

के सत्त्व में भी भ्रांति माननी होगी । जिस प्रकार शब्द का स्वभाव क्षणिकत्व है, उसी प्रकार सत्त्व  
भी स्वभाव है अतः उसमें भी भ्रांति का प्रसंग होने से पदार्थ का निश्चय कैसे होगा ?

यदि आप कहें कि शब्द में सत्त्व का निश्चय मानकर उसके अर्थ का निश्चय कर लेंगे सो ठीक  
नहीं है, क्योंकि जैसे शब्द में सत्त्व धर्म का निश्चय मान रहे हो वैसे ही उसमें अनित्यत्व का भी निश्चय  
मानों, फिर अनित्य का अनिश्चय कहाँ रहा ? अथवा यदि उसमें इसका अनिश्चय मानते हैं, तब तो  
स्वभावभेद आता ही है । बिना स्वभावभेद के शब्द में एक का निश्चय और एक का अनिश्चय नहीं हो  
सकता है निश्चय और अनिश्चय ये दो भिन्न-भिन्न स्वभावजन्य धर्म हैं, इनमें पट और पिशाच की  
त ह भिन्नता है ।

[ यद्यपि पदार्थ में स्वतः स्वभावभेद नहीं है, फिर भी विजातीयभेद से स्वभावभेद हो जावेगा  
ऐसा बौद्धों द्वारा कहने पर जैनाचार्य उत्तर देते हैं । ]

सत्त्व, उत्पत्तिमत्त्व, कृतकत्वादि हेतुओं में विपरीत स्वभाव विशेष का अभाव होने से जितने पर-  
रूप हैं उतनी ही उन-उन से पृथक्-पृथक् प्रत्येक की व्यावृत्तियाँ हैं ऐसी भी कल्पना आप (सौगत)  
को मत होवे ।

अथवा किञ्चित् भी सौगत प्रसिद्ध असत्, अनुत्पत्तिमत्, अकृतकादि पररूप वस्तुभूत नहीं हैं, कि  
जिससे (पररूप से) व्यावृत्त परमार्थ के स्वभावभेद के बिना भी शब्दादि स्वलक्षण को “सत् उत्पत्ति-  
मत् कृतकत्वादि” स्वभावभेदवाला आप बौद्ध परिकल्पित कर सकें ? अर्थात् नहीं कर सकते ।

बौद्ध — दूसरों के यहाँ स्वीकृत होने से यह सत्त्व, कृतकत्व आदि स्वभावभेद हमारे यहाँ सिद्ध है ।

। चेत्ति अधिकः पाठः । हे सौगत ! शब्दसत्त्वादी निश्चये जाते सति साध्यलक्षणे तद्वर्म्मे अनित्यादावनिश्चयः कथं  
घटते । अपितु न घटते । अथवा निश्चयो मन्यते यदि त्वया । तदा स्वरूपभेदः प्रसजति । (दि० प्र०) २ भी बौद्ध !  
प्रत्यनीकस्वभावविशेषाभावमङ्गीकरोषि चेत् । (व्या० प्र०) ३ पररूपेभ्यः । (दि० प्र०) ४ स्वभावभेदरहितम् ।  
(व्या० प्र०) ५ हे सौगत ! भवन्मते पररूपं नास्ति यतः यस्माद्व्यावृत्तं वस्तु भवति = सत्यतो विचार्यमाणं शब्दादि  
वस्तु असन्नास्ति असद् व्यावृत्तं सत्स्वभावयुक्तं कस्मात्परिकल्पते । तथाऽनुत्पत्तिमन्नास्ति किञ्चित् । अनुत्पत्तिमद्व्या-  
वृत्तमुत्पत्तिमत्कथं परिकल्पते । तथा अकृतकं नास्त्यकृतकव्यावृत्तं कृतकं कथं कल्पते । (दि० प्र०)

लक्षणं सदुत्पत्तिकृतकत्वादस्वभावभेदवत्परिकल्प्यते<sup>१</sup> । <sup>२</sup>पराभ्युपगमात्सिद्धमस्तीति<sup>३</sup> चेन्न,  
<sup>४</sup>तस्याप्रमाणसिद्धत्वात् । कल्पनारोपितं <sup>५</sup>तदस्तीति चेत्कृतस्तत्कल्पनाप्रसूतिः<sup>६</sup> ? अनाद्य-  
 विद्योदयादिति चेत्तत्<sup>७</sup> एव सत्त्वादिधर्मकल्पनास्तु । किमसत्त्वादिव्यावृत्त्या ?

[ व्यावृत्तिकल्पनया सकृतकालादयः सन्तीति बौद्धमान्यतायां विचारः ]

सदेव किञ्चिद्गुणीभूतविधिस्वभावं निषेधप्राधान्यादसदुच्यते, सदनन्तरविविक्तस्य<sup>८</sup> सत्  
<sup>९</sup>एवासत्त्वव्यपदेशात्<sup>१०</sup> । तथोत्पत्तिमदनन्तरविविक्तमुत्पत्तिमदेव किञ्चिदनुत्पत्तिमत्, कृतकान्तर-

जैन—ऐसा नहीं कह सकते हैं, क्योंकि वह पर की स्वीकृति प्रमाण से सिद्ध नहीं है ।

बौद्ध—वह स्वीकृति कल्पना से आरोपित है ।

जैन—तो उस कल्पना की प्रसूति—उत्पात्ति कसे हुई ?

बौद्ध—अनादिकालीन अविद्या के उदय से हुई है ।

जैन—उसी अनादिअविद्या के उदय से ही सत्त्वादि धर्मों की कल्पना भी हो जावे । पुनः  
 असत्त्वादि की व्यावृत्ति से क्या प्रयोजन है ?

[ व्यावृत्ति की कल्पना से असत्, अकृतक आदि होते हैं इस बौद्ध की मान्यता पर विचार ]

बौद्ध—‘सत्’ ही किञ्चित् गौणभूत विधि स्वभावरूप है और निषेध की प्रधानता से “असत्”  
 कहा जाता है । एक वस्तु में जो सत् है उससे भिन्न अन्य वस्त्वन्तर में जो सत् है वह सदनन्तर कहा जाता  
 है उससे विविक्त—रहित (भिन्नसत् से रहित) सत्, ही व्यपदेश को प्राप्त होता है । उसी प्रकार  
 उत्पत्तिमदनन्तर (भिन्न उत्पत्तिमान् से रहित) से रहित उत्पत्तिमत् ही किञ्चित् अनुत्पत्तिमत् है एवं  
 कृतकान्तर से रहित कृतक ही अकृतक है तथा वस्त्वन्तर से रहित वस्तु ही अवस्तु है । इस प्रकार से  
 ये सब वचन व्यवहार के मार्ग को प्राप्त होते हैं ।

जैन—ऐसा नहीं कह सकते, परमार्थ से सत्त्वादि वस्तु में स्वभावभेद प्रसिद्ध है क्योंकि स्वभाव-  
 भेद से रहित वस्तु के स्वरूप को स्वीकार करने में विरोध दिखता है ।

१ अनित्यः शब्दः सत्त्वादुत्पत्तिमत्त्वात् । कृतकत्वात् । (व्या० प्र०) २ असत्त्वानुत्पत्तिसम्बद्धकृतकत्वानाम् ।  
 (व्या० प्र०) स्याद्वाद्यंगीकारात् । (दि० प्र०) ३ पररूपम् । (दि० प्र०) ४ तस्य पराभ्युपगमस्य पररूपस्य प्रमाण-  
 सिद्धत्वं नास्ति । (दि० प्र०) ५ असत्त्वादि । (दि० प्र०) ६ असत्त्वादिरूपकल्पना । (व्या० प्र०) ७ अनाद्यविद्यादयः ।  
 (दि० प्र०) ८ सौगतो वदति, सत् एव घटादेरन्यसद्विरहितस्य घटादिपृथक्त्वस्यासत्त्वसंज्ञा घटते = तथाऽन्योत्पत्ति-  
 मद्विरहितमुत्पत्तियुक्तमेव वस्त्वनुत्पत्तिमद्व्यवहारपथं व्यवहारिभिः प्राप्यते । तथाऽन्यकृतकरहितं कृतकमेव वस्त्व-  
 कृतकं व्यवह्रियते । तथान्यवस्तुरहितं वस्तु एवावस्तु व्यवह्रियते । (दि० प्र०) ९ सदनन्तरविविक्ततया विद्यमानस्य ।  
 (दि० प्र०) १० पटसत्त्वान्तरशून्यत्वं पटत्वस्य । (व्या० प्र०)

विविक्तं कृतकमेवाकृतकं, वस्त्वन्तरविविक्तं वस्त्वेवावस्तु व्यवहृतिपथमुन्नीयते इति चेन्न, परमार्थतः <sup>१</sup>सत्त्वादिवस्तुस्वभावभेदप्रसिद्धेः, <sup>२</sup>निस्स्वभावभेदवस्तुरूपाभ्युपगमविरोधात् । सत्ता<sup>३</sup> हि स्वभावानां गुणप्रधानभावः स्यात्<sup>४</sup> पादोत्तमाङ्गवत्<sup>५</sup>, न पुनरसतां शशाश्वविषाणादीनामविशेषात्<sup>७</sup> । ततः परिकल्पितव्यावृत्त्या धर्मान्तरव्यवस्थापनं परिफल्गुप्रायं<sup>८</sup>, वस्तु-स्वभावाभावप्रसङ्गात्<sup>९</sup> । शक्यं<sup>१०</sup> हि वक्तुं, न किञ्चिद्वस्तु नामास्ति, <sup>११</sup>तस्यावस्तु<sup>१२</sup>व्यावृत्त्या<sup>१३</sup> व्यवहरणात्<sup>१४</sup> परिकल्पितवस्तुव्यावृत्त्या चावस्तुव्यवहारसिद्धेः । <sup>१५</sup>परस्पराश्रयणान्तैवमिति<sup>१६</sup> चेत्तर्हि कल्पितासत्त्वादिव्यावृत्त्या सत्त्वादयस्तद्व्यावृत्त्या चासत्त्वादिधर्मपरिकल्पनमित्यपि भा भूत्, परस्पराश्रयणाविशेषात् । स्ववासनासामर्थ्यात्सत्त्वेतरादिकल्पनयोरुत्पत्तेस्तद्व्यवहारस्यैव<sup>१७</sup>

सत्स्वरूप स्वभाव में ही गुण-प्रधानभाव हो सकता है पाद और मस्तक के समान, किन्तु असत्स्वरूप शशविषाण, अश्वविषाणादि में गुण-प्रधानभाव नहीं है, क्योंकि इनमें कोई भेद नहीं है । इसलिये परिकल्पित व्यावृत्ति से धर्मान्तर—असत्त्वादि की व्यवस्था करना परिफल्गुप्रायः—व्यर्थ है । अन्यथा वस्तुस्वभाव के अभाव का प्रसंग आ जावेगा ।

हम ऐसा कह सकते हैं कि वस्तु नाम की कोई चीज नहीं है । वह वस्तु अवस्तु की व्यावृत्ति के द्वारा कही जाती है । एवं परिकल्पितवस्तु की व्यावृत्ति से अवस्तु व्यवहार की सिद्धि है ।

बौद्ध—परस्पर का आश्रय लेने से इस प्रकार से हम नहीं मान्यते हैं ।

जैन—तब तो कल्पित असत्त्वादि की व्यावृत्ति से सत्त्वादि हैं और सत्त्वादि की व्यावृत्ति से असत्त्वादि धर्म होते हैं यह परिकल्पना भी मत होवे, क्योंकि परस्पराश्रय दोष तो इसमें भी समान है ।

सौगत—अपनी वासना की सामर्थ्य से सत्त्व और असत्त्व आदि कल्पना की उत्पत्ति होने से उन वस्तु और कल्पना का व्यवहार ही परस्पर की अपेक्षा रखता है, इसलिये हमारे यहाँ परस्पराश्रय

१ तर्हि तत्र सौगतस्यैवं भवतु । स्वरूपाद्यपेक्षया सर्वं पररूपाद्यपेक्षयाऽसत्त्वम् । (व्या० प्र०) २ स्वभावस्य भेदः स्वभावभेदो निर्गतः स्वभावभेदो यस्मिन् तच्च तद्वस्तुस्वरूपञ्च स्वभावरहितमित्यर्थः । (व्या० प्र०) ३ अस्तित्वनास्तित्वादीनाम् । (व्या० प्र०) ४ यतः । (व्या० प्र०) ५ शिरसः प्रधानता पादयोरप्रधानता । (व्या० प्र०) ६ यथा कस्यचिद् गुर्वादियेथा पादयोः प्राधान्यं तदा मस्तकस्य गुणभावः सामान्यस्य कस्यचित्पुंसः । यदा मस्तकस्य प्राधान्यं तदा पादयोर्गुणभावः । (दि० प्र०) ७ असत्त्वस्य । (व्या० प्र०) ८ अन्यथा । (व्या० प्र०) ९ वस्तुत्वलक्षणधर्मस्य । (व्या० प्र०) १० स्याद्वादी वदति सौगतमवलम्ब्य तमेवाह । तन्मतखण्डनार्थम् । (दि० प्र०) ११ वस्तुनः । (दि० प्र०) १२ अवस्तुव्यावृत्त्या व्यवहरणं न भवति । (दि० प्र०) १३ अभावेन । (दि० प्र०) १४ न पुनस्तात्त्विकता । (व्या० प्र०) १५ सौगतः स्याद्वादिनामाह । अन्योन्याश्रयादेवं न भवतीति चेत् तर्हीत्यादि जैनवचः । (दि० प्र०) १६ अवस्तुव्यावृत्त्या वस्तुव्यवहरणं न भवति । (व्या० प्र०) १७ कल्पनयोरपि कुत इतरेतराश्रयणं न स्यादित्युक्तमाह । (व्या० प्र०)

परस्परापेक्षत्वान्न परस्पराश्रयणं, सकलधर्मधर्मविकल्पशब्दानां<sup>१</sup> स्वलक्षणाविषयत्वात्<sup>२</sup> परिकल्पिततदन्यव्यावृत्तिविषयत्वसिद्धेरिति<sup>३</sup> चेन्न, 'तथेन्द्रियबुद्धयोपि<sup>४</sup> स्वलक्षणविषया ना भवन् । केवलं<sup>५</sup> व्यावृत्तिं पश्येयुः<sup>६</sup>, अदृष्टे विकल्पायोगादतिप्रसङ्गाच्च<sup>७</sup> । यथैव हि नीले पीतादीनामदृष्टत्वान्न 'तद्विकल्पोत्पत्तिर्नीलस्य<sup>१०</sup>, दृष्टत्वान्नीलविकल्पस्यैवोत्पत्तिस्तथैवासत्त्वा-  
दिव्यावृत्तिमपश्यतस्तद्विकल्पोत्पत्तिर्मा भूत्, स्वलक्षणदर्शनात्स्वलक्षणविकल्पोत्पत्तिरेवास्तु<sup>११</sup>, न चैवं<sup>१२</sup>, तदन्यव्यावृत्तावेव विकल्पोत्पत्तेः<sup>१३</sup> । यदि पुनरसत्त्वादिव्यावृत्तीनामदर्शनेपि<sup>१४</sup> तदनादि-  
वासनावशादेव<sup>१५</sup> तद्विकल्पोत्पत्तिरररीक्रियते तदा नीलादिरूपादर्शनेपि तद्वासनासामर्थ्यादेव<sup>१६</sup>

दोष नहीं आता है । सकल धर्म (सत्त्व असत्त्वादि) और धर्मों के विकल्प तथा शब्द स्वलक्षण के विषय नहीं हैं, क्योंकि परिकल्पित उस अन्य व्यावृत्ति के विषयरूप ही, वे सिद्ध हैं ।

अन—ऐसा नहीं कह सकते । उस प्रकार से तो इन्द्रियज्ञान भी स्वलक्षण को विषय करने वाले मत होवे । केवल मात्र व्यावृत्ति को ही प्रत्यक्ष करें क्योंकि अदृष्ट में विकल्प का अभाव होने में अति-प्रसंग बोध आता है । अर्थात् निविकल्प के द्वारा अपरिगृहीत व्यावृत्तिरूप में विकल्प भी मत होव क्योंकि विकल्प उसी से उत्पन्न हुआ है । एवं नील में पीत ज्ञान का हो जाना, यह अतिप्रसंग दोष आ जाता है ।

जिस प्रकार से नील में पीतादि का दर्शन न होने से उस नील में उन पीतादि के विकल्प की उत्पत्ति नहीं हो सकती है उसमें दृष्टरूप होने से नील विकल्प की ही उत्पत्ति होती है । उसी प्रकार से असत्त्वादि व्यावृत्ति को प्रत्यक्ष से न देखते हुये उन असत्त्वादि के विकल्पों की उत्पत्ति भी मत होवे । अथवा स्वलक्षण के दर्शन से स्वलक्षण के विकल्प की ही उत्पत्ति हो जावे, किन्तु ऐसा तो है नहीं उस विवक्षित अन्य से व्यावृत्ति के होने पर ही विकल्प की उत्पत्ति मानी गई है । यदि पुनः असत्त्वादि की व्यावृत्तियों का प्रत्यक्ष से ज्ञान न होने पर भी उस अनादिकालीन वासना के निमित्त से ही उस विकल्प की उत्पत्ति आप बौद्ध स्वीकार करते हैं तब तो नीलादिरूप का निविकल्प प्रत्यक्ष से ज्ञान न होने पर भी उसकी वासना के सामर्थ्य से ही नीलादि-

- १ जीवादिः । (व्या० प्र०) २ विकल्पशब्दानां स्वलक्षणानि विषया न भवन्ति स्वलक्षणस्य प्रत्यक्षविषयत्वादित्यव्या-  
वृत्तिरेव शब्दविकल्पानां विषय इत्यर्थः । (दि० प्र०) ३ एव । स्वलक्षण । विवक्षित । का । (दि० प्र०) ४ तर्हि ।  
(दि० प्र०) ५ निविकल्पकदर्शनानि स्वलक्षणस्वरूपवस्तुगोचराणि ना भवन्तु । प्रत्यक्षाण्यपि । (दि० प्र०) ६ ततः ।  
(व्या० प्र०) ७ स्वलक्षणैः । व्यावृत्तिरूप । (दि० प्र०) ८ स्वलक्षणेऽदृष्टे सति विकल्पज्ञानं न घटते । घटते चेदति-  
प्रसङ्गो भवति । (दि० प्र०) ९ तेषां पीतादीनां विकल्पः । (दि० प्र०) १० तर्हि किं भवति । (व्या० प्र०)  
११ असत्त्वादिव्यावृत्तेः । (दि० प्र०) १२ तर्हि एवमस्त्वित्याशंकायामाह । (व्या० प्र०) १३ स्वलक्षणदर्शनात्स्व-  
लक्षणविकल्पोत्पत्तिः । (दि० प्र०) १४ विवक्षितस्य । (दि० प्र०) १५ असत्त्वादिव्यावृत्तीनाम् । (दि० प्र०)  
१६ तस्य नीलादिरूपस्य । (दि० प्र०)

नीलादिविकल्पोत्पत्तेस्ततो नीलादिरूपव्यवस्था मा भूत्<sup>१</sup> । तदनुत्पत्त्यादिव्यवस्थितिरपि कुतः संभाव्येत ? स्वसंवेदनव्यवस्था च तन्निश्चयोत्पत्तेर्दुर्घटैव । तदनुत्पत्तौ सुतरां तदव्यवस्था स्वर्गप्रापणशक्त्यादिवद्वेद्याकारविवेकवद्वा । स्वरूपस्य<sup>२</sup> स्वतो गतिरित्यपि तथा निश्चयानुत्पत्तौ न सिध्येद्ब्रह्माद्वैतादिवत् । ततः<sup>३</sup> कुतश्चिन्निश्चयाद्वस्तुस्वभावभेदव्यवस्थायां<sup>४</sup> सत्त्वादिनिश्चयाद्वस्तुनि परमार्थतः सत्त्वादिधर्मभेदव्यवस्थितिरभ्युपगन्तव्या, अन्यथा<sup>५</sup> क्वचिदपि<sup>६</sup> व्यवस्थानासिद्धेः<sup>७</sup> । परमार्थतः सत्त्वादिधर्मव्यवस्थितौ च सत्यां साधीयसी सत्त्वादिसप्तभङ्गी, मुनयार्पितत्वात्<sup>८</sup> ।

सम्प्रत्येकानेकत्वादिसप्तभङ्ग्यामपि<sup>९</sup> तामेव प्रक्रियामतिदिशन्तः<sup>१०</sup> सूरयः प्राहुः—

विकल्प की उत्पत्ति होने से उससे नीलादिरूप व्यवस्था भी मत होवे । पुनः नीलादिरूप व्यवस्था के समान सुखादि की व्यवस्था भी कैसे संभावित हो सकेगी ? अनादिवासना से उसके निश्चय की उत्पत्ति होने से स्वसंवेदनव्यवस्था भी दुर्घट ही है ।

यदि अनादिवासना के वश से सुखादि की उत्पत्ति नहीं मानो, तब तो जिस प्रकार से स्वर्गप्रापणादि शक्ति का निश्चय न होने से व्यवस्था नहीं है । अथवा वेद्याकार विवेक का निश्चय उत्पन्न न होने से उसकी व्यवस्था नहीं है । तथैव सुतरां उस स्वसंवेदन की अथवा सुखादि की व्यवस्था नहीं हो सकती है ।

उसी प्रकार से निश्चय की उत्पत्ति न होने से “स्वरूपस्य स्वतो गतिः” यह कथन भी सिद्ध नहीं हो सकेगा, ब्रह्माद्वैतवादी के समान । अतः किसी निश्चय विकल्प से वस्तु में स्वभावभेद की कल्पना करने पर सत्त्वादि का निश्चय हो जाने से वस्तु में परमार्थ से सत्त्वादि धर्मभेद व्यवस्था स्वीकार करना चाहिये, अन्यथा कहीं पर भी वस्तु की व्यवस्था हो नहीं सिद्ध हो सकेगी, और परमार्थ से सत्त्वादि धर्मों की व्यवस्था के हो जाने पर सप्तभङ्गी सिद्ध ही है, क्योंकि वह सप्तभङ्गी मुनय से अर्पित है ।

**उत्थानिका**—इस समय एकानेकत्वादि सप्तभङ्गी में भी “स्यादस्ति” इत्यादि उसी प्रक्रिया को घटाते हुये आचार्य कहते हैं—

१ तथा सुखदुःखाद्यननुभवेपि तद्वासनावशादेव सुखदुःखादिव्यवस्था इति सीयतवचस्तं प्रत्याह जैन एवं सतीदं सुखं दुःखमिति स्थितिः कुतः संकल्पेन न कुतोपि । सुखाद्यदर्शनेपि तद्वासनासामर्थ्यादेव सुखादिविकल्पोत्पत्तेः सुखादिव्यवस्था सुखादिविकल्पान्माभूदिति भावः । (दि० प्र०) २ स्वरूपस्य स्वतो गतेर्निश्चयानुत्पत्तावपि स्वसंवेदनव्यवस्था भविष्यतीत्याशंकायामाह । (दि० प्र०) ३ प्रमणात् । (दि० प्र०) ४ सत्याम् । (दि० प्र०) ५ तदनादिवासनावशादेव तद्विकल्पोत्पत्तौ । (दि० प्र०) ६ नीलादौ । (दि० प्र०) ७ ता । (दि० प्र०) ८ सापेक्षमय । (दि० प्र०) ९ नित्यत्वानित्यत्वादि । (दि० प्र०) १० पूर्वोक्तमेव व्याख्यामतिज्ञेन प्रतिपादयन्तः । (दि० प्र०)।

<sup>१</sup>एकानेकविकल्पादावुत्तरत्रापि<sup>२</sup> योजयेत् ।

प्रक्रियां भंगिनीमेनां<sup>३</sup> <sup>४</sup>नयैर्नयविशारदः<sup>५</sup> ॥२३॥

स्यादेकमेव स्यादनेकमेवेति विकल्प आदिर्यस्य स एकानेकविकल्पादिः<sup>६</sup> । तस्मिन्नुत्तर-  
त्रापि स्याद्वादविशेषविचारेपि प्रक्रियामेनामन्वादिष्टां भङ्गिनीं सप्तभङ्गाश्रयां नयैर्यथोचित-  
स्वरूपैर्योजयेत्—युक्तां प्रतिपादयेन्नयविशारदः<sup>७</sup> स्याद्वादी, ततोऽन्यस्य<sup>८</sup> तद्योजनेनधिकारात् ।  
तद्यथा ।

[ एकानेकादी सप्तभङ्गी वृत्ततो जैनाचार्याः प्रथमभङ्गं समुक्तिकं स्पष्टयन्ति ]

स्यादेकं सद्द्रव्यनयापेक्षया<sup>९</sup> । न हि <sup>१०</sup>सत्पर्यायिनयापेक्षया सर्वथा वा सर्वमेकमेवेति युक्तं,  
प्रमाणविरोधात्<sup>११</sup> । ननु च सद्द्रव्यनयार्पणादपि जीवादिद्रव्यमेकैकश एवैकं सिध्येत्, न तु

कारिकार्थ—नयों की योजना करने में कुशल स्याद्वादी को आगे इसी प्रकार से एक और अनेक  
आदि धर्मों में भी इस सप्तभङ्गी प्रक्रिया को द्रव्यार्थिक एवं पर्यायार्थिक नयों के अनुसार योजित  
कर लेना चाहिये ॥२३॥

“स्यात् एक ही, स्यात् अनेक ही” ये विकल्प हैं आदि में जिसके, उसे एकानेकविकल्पादि कहते  
हैं । उसमें आगे-आगे भी स्याद्वादविशेष के विचार में भी (अथवा भङ्ग-भङ्ग में एकत्वानेकत्व विचार  
में भी या घट पटादि सभी पर्यायों में एकत्वानेकत्व का विचार करने पर भी) अन्वादिष्ट—पुनर्निरूपित  
सप्तभङ्गाश्रय इस भङ्ग प्रक्रिया को यथोचित स्वरूप वाले नयों के अनुसार नयों में विशारद स्याद्वादी  
को योजित कर लेना चाहिये—युक्तरूप से प्रतिपादित करना चाहिये क्योंकि नयकुशल स्याद्वादी के  
अतिरिक्त अन्य किसी को इस प्रक्रिया की योजना करने का अधिकार नहीं है ।

[ एक अनेक में सप्तभङ्गी को घटित करते हुये जैनाचार्य प्रथम भङ्ग का समुक्तिक स्पष्टीकरण करते हैं । ]

तद्यथा—सद्द्रव्य नय की अपेक्षा से वस्तु स्यात् एक है ।

बौद्ध—सत्पर्याय नय की अपेक्षा से सर्वथा सभी वस्तुयें एक ही हैं ।

जैन—इस प्रकार का कथन युक्त नहीं है, क्योंकि प्रमाण से विरोध आता है ।

शंका—सद्द्रव्यनय—द्रव्यार्थिकनय की अर्पणा से भी जीवादि द्रव्य एक-एकरूप से एक ही सिद्ध  
होंगे किन्तु नाना द्रव्य—छह द्रव्य सिद्ध नहीं हो सकेंगे, क्योंकि प्रतीति से विरोध आता है, उसमें

१ नित्यानित्य । जीवाजीवत्वमूर्तमूर्तत्वसत्त्वासत्त्वाधो । (व्या० प्र०) २ सप्तभङ्गी । (व्या० प्र०) ३ सर्वपर्यायेषु ।  
(व्या० प्र०) ४ यथोचितस्वरूपेः एकत्वे द्रव्यनयोजनेकत्वे पर्यायिनयः । (दि० प्र०) ५ विचारनिपुणः । (व्या० प्र०)  
६ एकत्वे द्रव्यनयानेकत्वे पर्यायिनयेत्यादि । (दि० प्र०) ७ सती । (व्या० प्र०) ८ एकान्तवादिनः । (दि० प्र०)  
९ सदेव द्रव्यं तस्य ग्राहको नयः संग्रहः । (व्या० प्र०) १० यसः । (व्या० प्र०) ११ प्रत्यक्षादि । (व्या० प्र०)

नानाद्रव्य<sup>१</sup>, प्रतीतिविरोधात्, तत्रैकत्वप्रत्यभिज्ञानाभावात् सर्वत्रैकत्वस्य तन्मात्रसाध्यत्वादन्यथातिप्रसङ्गादिति कश्चित् । तं प्रत्येके समादधते 'सदेव द्रव्यं सद्द्रव्यम् । तद्विषयो<sup>२</sup> नयः संग्रहः परमः । तदपेक्षया सर्वस्यैकत्ववचनाददोषः' इति । अपरे तु 'सद्द्रव्यमेव<sup>३</sup> नयः<sup>४</sup>, नीयमानत्वाद्धेतोः । तदपेक्षया<sup>५</sup> सर्वमेकं, जीवादीनां षण्णां तद्भेदप्रभेदानां चानन्तानन्तानां 'तत्पर्यायित्वात्<sup>७</sup> 'एकं द्रव्यमनन्तपर्यायिम्' इति संक्षेपतत्त्वोपदेशात्, तस्य सर्वत्र<sup>८</sup> सर्वदा विच्छेदानुपलक्षणात् प्रतीतिविरोधाभावादेकत्वप्रत्यभिज्ञानस्यापि<sup>९</sup> सदेवेदमित्यबाधितस्य सर्वत्र<sup>१०</sup> भावात्, अभायस्यापि तत्पर्यायित्वाच्च किञ्चिद्दूषणम्' इति समाचक्षते ।

[ जीवादिविशेषाः परस्परभिन्नस्वभावाः कथमेकं द्रव्यमित्यारेकायां समाधानं ]

ननु च जीवादयो विशेषाः परस्परं व्यावृत्तविवर्तिः<sup>११</sup> कथमेकं द्रव्यं विरोधादिति चेन्न,

एकत्व के प्रत्यभिज्ञान का अभाव है । सर्वत्र एकत्व को वह प्रत्यभिज्ञान मात्र से सिद्ध कर देता है । अन्यथा अतिप्रसंग दोष आता है ।

**समाधान—**उनके प्रति कोई जैन विशेष समाधान करते हैं । सत् ही द्रव्य है अतः "सत् द्रव्यम्" ऐसा पाठ है उसको विषय करने वाला नय परम-शुद्ध संग्रहनय है और उसी शुद्ध संग्रहनय की अपेक्षा से सभी—छहों द्रव्यों में एकत्व का कथन हो जाता है अतः कोई दोष नहीं है कोई जैनविशेष ऐसा कहते हैं कि "सद्द्रव्यमेव नयः" सद्द्रव्य ही नय है क्योंकि वह स्वद्रव्यों में नीयमान है—प्राप्यमाण है उसकी अपेक्षा से ही सभी जीवादि एक हैं । जीवादि छह द्रव्य और अनन्तानन्तरूप उनके भेद-प्रभेद उस सद्द्रव्य की पर्यायें हैं ।

"एक द्रव्य अनन्तपर्यायात्मक है" इस प्रकार संक्षेप से आगम में तत्त्वोपदेश पाया जाता है क्योंकि उसका सर्वत्र सभीद्रव्यों में सर्वदा—सभीकाल में विच्छेद अनुपलक्षित है एवं प्रतीति से विरोध भी नहीं आता है । एकत्वप्रत्यभिज्ञान भी "यह सत् ही है" इस प्रकार से अबाधितरूप सर्वत्र पाया जाता है । अभाव भी तत्पर्यायरूप ही है इसलिये कुछ भी दूषण नहीं आता है ।

[ जीवादि विशेष परस्पर में भिन्न स्वभाव वाले हैं, पुनः वे एक द्रव्य कैसे हो सकते हैं इस शंका का समाधान ]

**सौगत—**जीवादि विशेष परस्पर में व्यावृत्त विवर्त—भिन्न-भिन्न पर्याय वाले हैं, वे एक द्रव्य कैसे हो सकते हैं क्योंकि विरोध आता है ?

**जैन—**ऐसा नहीं कह सकते, कथंचित् एकत्व रूप से मानने पर विरोध का अभाव है । कथंचित् विशिष्ट—भेद प्रतिभास पाया जाता है । यद्यपि वे जीवादि विशेष परस्पर में व्यावृत्त—भिन्न-भिन्न

१ एकं सिद्धयेत् । (व्या० प्र०) २ स द्रव्यं विषयो यस्य नयस्य स तद्विषयः । (दि० प्र०) ३ समाचक्षते इति संबन्धः कार्यः । (दि० प्र०) ४ निश्चीयमानत्वात् । (दि० प्र०) ५ सद्द्रव्यनयापेक्षया । (दि० प्र०) ६ सत्त्व । (दि० प्र०) ७ सम्मतिमाह । (दि० प्र०) ८ सद्रूपस्य जीवादौ नित्यमन्वयविनाशादर्शनात् । देशे । पर्यायेषु । (दि० प्र०) ९ प्रतीयमानात् । (दि० प्र०) १० जीवादौ । (दि० प्र०) ११ अन्योन्यं भिन्नस्वभावाः । (दि० प्र०)



कथंचिदेकत्वेन<sup>१</sup> विरोधाभावात्<sup>२</sup> कथंचिद्विशिष्टप्रतिभासात् । यद्यपि<sup>३</sup> ते विशेषाः परस्पर-  
व्यावृत्तपरिणामाः कालादिभेदेपि<sup>४</sup> सद्रूपाविशिष्टाश्चित्रज्ञाननीलादिनिर्भासवत् । यथा हि  
चित्रप्रतिभासाप्येकैव<sup>५</sup> बुद्धिः<sup>६</sup>, बाह्यचित्रविलक्षणत्वात् । शक्यविवेचनं हि बाह्यचित्रमशक्य-  
विवेचनाश्च बुद्धेर्नीलाद्याकारा इति चित्रज्ञानमशक्यविवेचनं नीलादिनिर्भासभेदेप्येकमिष्यते  
तथा जीवादिविशेषभेदेप्येकं<sup>७</sup> सद्रूपद्रव्यं, कालभेदेपि<sup>८</sup> सद्रूपादशक्यविवेचनत्वात् देशभेदेपि<sup>९</sup>  
वा ततस्तेषां विवेचयितुमशक्तेराकारभेदवत्<sup>१०</sup>, ततस्तेषां कदाचित्त्वचित्कथंचिदपि<sup>११</sup> विवेचने<sup>१२</sup>  
स्वरूपाभावप्रसङ्गात् । सामान्यविशेषसमवायव्यभिचाराभावादिदृष्टः सद्रूपाद्विवेचनेपि जीवादीनां  
नाभाव इति चेन्न, तेषामपि सद्विवर्तत्वात्<sup>१३</sup> सद्रूपविवेचनासिद्धेरन्यथा प्रमेयत्वायोगादवस्तुत्व-

परिणाम वाले हैं, फिर भी कालादि से भेद के होने पर भी सद्रूप से समान हैं जैसे चित्रज्ञान में  
नीलादि (१) निर्भास पाया जाता है ।

जिस प्रकार से चित्र-विचित्र हैं प्रतिभास जिसमें, ऐसा ज्ञान एक ही ज्ञान है, क्योंकि वह बाह्य-  
चित्र से विलक्षण है । बाह्यचित्र का विवेचन करना शक्य है किन्तु चित्रज्ञान के नीलादि आकारों  
का विवेचन करना अशक्य है । इस प्रकार से अशक्य विवेचनरूप चित्रज्ञान नीलादिनिर्भास भेद के  
होने पर भी एक ही माना जाता है उसी प्रकार से जीवादि विशेष में भेद के होने पर भी सद्रूप  
द्रव्य एक है । काल भेद के होने पर भी सद्रूप से उसका विवेचन करना अशक्य है, अथवा देश भेद  
के होने पर भी उस सद्रूप से उसका विवेचन करना अशक्य है । जैसे कि आकार में भेद करना  
अशक्य है । उस सद्रूप से उनका कदाचित्—किसी काल में, क्वचित्—कहीं पर, कथंचित्—किसी  
प्रकार से भी विवेचन—पृथक्करण करने पर उस द्रव्य के स्वरूप के अभाव का ही प्रसंग आ  
जाता है ।

सौगत—वैशेषिक के मत में सामान्य, विशेष और समवाय इन तीनों में सद्रूप का अभाव  
है फिर भी उनमें स्वरूप का अभाव नहीं है । अथवा प्रागभाव आदि सत्त्व के अभावरूप ही है, फिर  
भी वे हैं । उसी प्रकार से उन सामान्य, विशेष, समवाय के समान अथवा प्रागभाव आदि के समान  
सद्रूप से जीवादि पदार्थों का विवेचन करने पर अर्थात् जीवादि पदार्थों को सत्त्वरूप से पृथक् करने  
पर भी उन जीवादिकों का अभाव नहीं है ।

१ सद्रूपतया । (व्या० प्र०) २ जीवादिविशेषाणाम् । (व्या० प्र०) ३ कथंचित् प्रतिभासमेव भाष्येण भावन्नाह ।  
(व्या० प्र०) ४ कालदेशाकारभेदेपि यद्यपि जीवादयो विशेषाऽन्योन्यभिन्नस्वभावास्तथापि सत्तास्वरूपादभिन्नाः  
सन्ति । (दि० प्र०) ५ यथाविचित्र । इति पा० । (दि० प्र०) ६ ज्ञानम् । (दि० प्र०) ७ अनेकः । (व्या० प्र०)  
८ जीवादिविशेषाणाम् । (व्या० प्र०) ९ एकद्रव्यम् । (व्या० प्र०) १० चित्रज्ञानस्य । (व्या० प्र०) स्वरूप ।  
(दि० प्र०) ११ आकारभेदेन । (व्या० प्र०) १२ सत्त्वात्पृथक्करणे । सद्रूपात्पृथक्करणे जीवादीनां स्वरूपस्याभावः  
प्रसजति = यथा सामान्यविशेषसमवायानां सद्रूपाद्विभक्तकरणे स्वरूपाभावत्वं प्रसजति । (दि० प्र०) १३ जीवादीनां  
तरुण सद्रूपस्य विवर्तस्त्वस्य भावस्तद्विवर्तत्वं तस्मात् सत्ययित्वात् । (दि० प्र०) तेषामपि अधिकः पाठः । (दि० प्र०)

प्रसक्तेः सर्वथा सत्त्वाद्भिन्नस्यासत्त्वनिर्णयात्<sup>१</sup> । ततो जीवादिविशेषाः कालादिभेदेऽपि स्यादेकं द्रव्यं, सद्रूपाविशिष्टत्वान्नीलादिनिर्भासभेदेऽपि ज्ञानरूपाविशिष्टत्वादेकचित्रज्ञानवत् । इति प्रथमो भङ्गः (१) ।

[ द्वितीय भंग विशेषेण वर्णयन्त्याचार्याः ]

तथा जीवादिविशेषाः स्यादनेकत्वमास्कन्दन्ति, भेदेन दर्शनात् संख्यासंख्यावदर्थवत् । न हि 'संख्यासंख्यावतोभेदेनादृष्टौ'<sup>२</sup> 'विशेषणविशेष्यविकल्पः'<sup>३</sup> कुण्डलिवत् क्षीरोदकवद-  
तद्वेदिनि, यतः सौगतस्तयोरभेदं मन्येत । न च भेदकान्ते तद्वत्तास्ति<sup>४</sup>, 'व्यपदेशनिमित्ता-

जैन—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि वे सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव आदि भी सत् की ही पर्यायें हैं । उनको सत् रूप से पृथक् करना अशक्य है अन्यथा उनमें प्रमेयत्व का अभाव होने से उनको अधस्तुपने का प्रसंग आ जावेगा, क्योंकि सर्वथा—एकांत से सत्त्व से भिन्न—रहित वस्तुओं में असत् रूप का ही निर्णय है ।

इसलिये जीवादिपदार्थ विशेष कालादि से भेद के होने पर भी "स्यादेकं द्रव्यम्" कथंचित् एक द्रव्य हैं क्योंकि उनमें सत् रूप से समानता है, जैसे एक चित्रज्ञान में नीलादिनिर्भास—भिन्न-भिन्न प्रतिभास भेद के होने पर भी ज्ञानरूप से उनमें समानता है अतः वह चित्रज्ञान एक है इस प्रकार से प्रथम भंग का वर्णन हुआ ।

[ आचार्य द्वितीय भंग का विशेष रीति से वर्णन करते हैं ]

उसी प्रकार से जीवादि विशेष "कथंचित् अनेकपने" को प्राप्त हो जाते हैं, क्योंकि पर्याय की अपेक्षा से भेद देखा जाता है । जैसे संख्या और संख्यावान् पदार्थ में भेद देखा जाता है । संख्या और संख्यावान् पदार्थ में भेद के न दिखने पर विशेषण-विशेष्य विकल्प नहीं हो सकता है, कुण्डली के समान अथवा अतद्वेदी का क्षीरोदक के ज्ञान के समान । अर्थात् जैसे कुण्डल और पुरुष में भेद के नहीं दिखने पर विशेषण-विशेष्य भाव नहीं हो सकता है अथवा क्षीरोदक के भेद को नहीं जानने वाला क्षीर और उदक को पृथक्-पृथक् नहीं समझ सकता है । वैसे ही संख्या संख्यावान् पदार्थ में कथंचित् भेद न मानने से यह संख्या विशेषण है और संख्या वाला पदार्थ, विशेष्य है यह ज्ञान भी नहीं हो सकता है कि जिससे सौगत उन दोनों में अभेद को मान सके अर्थात् बौद्ध 'संख्या और संख्यावाले पदार्थ में अभेद है' ऐसा नहीं कह सकता है ।

१ वस्तुनः । (दि० प्र०) २ गुणगुणिनोः । (दि० प्र०) ३ गुणगुणिनोभेदेऽदर्शने सति विशेषणविशेष्यविकल्पो न घटते—यथा कुण्डलकुण्डलिनोः सर्वथा भेदेऽदर्शने । (दि० प्र०) ४ तर्हि सर्वथा भेदोस्त्विति वदन्तं प्रत्याह । (दि० प्र०) ५ पदार्थः कथंभूत एक इत्यादिप्रकारेण—भवति । (दि० प्र०) ६ गुणगुणिनोः सर्वथा भेदे सति नागुणवता नास्ति । (दि० प्र०) ७ अयं संख्यावानर्थ इति व्यपदेशः । (दि० प्र०)

भावात् । संख्यावानर्थ इति व्यपदेशनिमित्तं समवाय इति चेन्न, तस्य<sup>१</sup> कथञ्चित्तादात्म्यरूपत्वे भेदेकान्तासिद्धेर्वैशेषिकमतविरोधात्<sup>२</sup> । पदार्थान्तरत्वे<sup>३</sup> संख्यासंख्यावतोः समवाय इति व्यपदेशनिमित्ताभावः । विशेषणविशेष्यभावो व्यपदेशनिमित्तमिति चेन्न, तस्यापि<sup>४</sup> ततो<sup>५</sup> भेदे व्यपदेशनिमित्तान्तरापेक्षणात्पर्यनुयोगानिवृत्तेरनवस्थाप्रसङ्गाच्च । तस्मादयं कथञ्चिदेव<sup>६</sup> संख्यासंख्यावतोः स्वभावभेदं पश्यति<sup>७</sup>, तद्विशिष्टविकल्पनात्क्वचिन्निर्णयेऽप्यन्यत्र<sup>८</sup> संशयः द्वर्ण-रसादिवदिति । तदेवं सर्वं सिद्धं स्यादनेकम् । इति द्वितीयो भङ्गः (२) ।

भेद एकांत में भी तद्वत्ता (संख्यावान की संख्या) नहीं है, क्योंकि यह संख्या इस पदार्थ की है, ऐसे व्यपदेश के निमित्त का अभाव है ।

वैशेषिक—अर्थ—पदार्थ संख्यावान् है इस प्रकार के व्यपदेश में हमारे यहाँ समवाय निमित्त पाया जाता है ।

जैन—ऐसा नहीं कह सकते । उस समवाय को कथञ्चित् तादात्म्यरूप स्वीकार करने पर तो आपका भेद एकांत सिद्ध ही नहीं हो सकता है । अतः आप वैशेषिकमत में विरोध आ जाता है । यदि समवाय को पदार्थ से भिन्न मानो तो संख्या और संख्यावान् पदार्थ को सर्वथा भिन्न-भिन्न मानने पर “समवाय” इस प्रकार के व्यपदेश के निमित्त का अभाव है ही है ।

भावार्थ—समवाय के पक्ष में यहाँ दो विकल्प उठाये हैं कि समवाय पदार्थ से अभिन्न है या भिन्न ? यदि कथञ्चित् अभिन्न मानो तो वैशेषिकमत में विरोध आता है । सर्वथा भिन्न मानो तो यह संख्या और संख्यावान् पदार्थ में समवाय है ऐसा कैसे वह सकेंगे ?

वैशेषिक—संख्या और संख्यावान् में विशेषण और विशेष्य भाव ‘यह संख्या इस संख्यावान् की है’ इस व्यपदेश में निमित्त है ।

जैन—ऐसा भी नहीं कह सकते उस विशेषण-विशेष्यभाव को भी उसने भिन्न मानने पर पुनः एक और भिन्न व्यपदेश निमित्त की अपेक्षा करनी पड़ेगी तब तो वैसे ही प्रश्न होते रहेंगे और अनवस्था का भी प्रसंग आ जावेगा । इसलिये आप सौगत या वैशेषिक कथञ्चित् ही संख्या और संख्यावान् में स्वभाव-भेद को देखते हैं, जिस प्रकार से एक ही ध्वजों में रूप और रस दोनों हैं, उसी प्रकार से तद्विशिष्ट-संख्यावान् के विकल्प—निश्चय से किसी संख्यावान् में या संख्या में निर्णय के हो जाने पर भी अन्यत्र संख्यावान् या संख्या में संशय हो जावेगा । इस प्रकार से सर्वथा भेद भी सिद्ध नहीं होगा ।

१ समवायस्य कथञ्चिदैक्यस्य स्वभावत्वे सर्वथा भेदो न सिद्धवति । (दि० प्र०) २ संख्यासंख्यावतोः । (दि० प्र०)  
 ३ भिन्नत्वे । (दि० प्र०) ४ तस्य विशेषणविशेष्यभावस्य ततो विशेषणविशेष्याभ्यामभेदे सति योगमतहानिः = भेदे सति तस्यायमिति व्यवहारो न घटते सः भावः संबन्धार्थमन्यव्यपदेशनिमित्तमपेक्षते सोऽप्यन्यं सोऽप्यन्यमेवमनवस्था स्यात् । (दि० प्र०) ५ स्वसंबन्धिभ्यः समवायसमवायिभ्यः । (दि० प्र०) ६ कथञ्चित् इति पा० । भेदनयापेक्षया । न सर्वथा । (दि० प्र०) ७ श्रद्धधाति । (दि० प्र०) ८ संख्यासंख्यावद्विशिष्टकल्पनात् द्वयोरेकतरस्मिन्निर्णीते द्वितीये संशयो घटते यथा रसे निर्णीते वर्णे सन्देहः वर्णे निर्णीते रसे सन्देहः । (दि० प्र०)

[ जैनाचार्यास्तृतीयादिशेषभंगानपि स्पष्टयन्ति ]

क्रमापितद्वयात्स्यादुभयम्<sup>१</sup> (३) । सहावक्तव्यं, वक्तुमशक्तेः (४) । स्यादेकावक्तव्यं<sup>२</sup>, स्वलक्षणस्यैकस्य वक्तुमशक्यत्वात् (५) । स्यादनेकावक्तव्यं, तस्यानेकस्यापि वक्तुमशक्तेः (६) । तत एव स्यादुभयावक्तव्यम् (७) । इति सप्तभङ्गीप्रक्रियायोजनमतिदेशवचनसामर्थ्यादवसीयते । तत एव वैकल्यभेकधर्माणि स्वप्रतिषेध्येनानेकत्वेनाविनाभावि, विशेषणत्वाद्वैधर्म्याविनाभाविसाधर्म्यवद्वेतौ । अनेकत्वं<sup>४</sup> स्वप्रतिषेध्येनानेकत्वेनाविनाभावि, विशेषणत्वात् साधर्म्याविनाभाविवैधर्म्यवद्वेतौ । एवं तदुभयादयोभि<sup>५</sup> स्वप्रतिषेध्येनाविनाभाविनो विशेषणत्वाद्विशेष्य-

भावार्थ—जैसे एक बिजौरे में वर्ण और रस दोनों रहते हैं उन दोनों में से एक वर्ण का निर्णय हो जाने पर भी रस में संशय हो जाता है, उसी प्रकार से सख्या और संख्या वाले पदार्थ में स्वभाव-भेद मानने पर तो संशय ही हो जावेगा । यहाँ कहने का तात्पर्य यह है कि प्रत्येक जीवादि पदार्थ में अनेकों पर्यायों पायी जाती हैं, वे कथंचित् अपने-अपने लक्षण आदि से परस्पर में भिन्न हैं, अतः पर्यायार्थिकमय की अपेक्षा से जीवादिवस्तुयें कथंचित् 'अनेकरूप' हैं । इसलिये सभी वस्तु कथंचित् अनेकरूप सिद्ध हैं । इस प्रकार से दूसरा भंग सिद्ध हुआ ।

[ जैनाचार्य तृतीय आदि शेष भंगों का स्पष्टीकरण करते हैं । ]

(३) क्रम से दोनों की अप्रण करके से "वस्तु कथंचित् उभयरूप है ।"

(४) युगपत् कहने की शक्ति न होने से "वस्तु अवक्तव्य है ।"

(५) वस्तु कथंचित् "एक अवक्तव्य है" क्योंकि एक स्वलक्षण का कहना अशक्य है (वादी की अपेक्षा से यह (स्वलक्षण) कथन जैनो ने किया है ।)

(६) वस्तु कथंचित् "अनेक अवक्तव्य है" क्योंकि उस अनेक स्वलक्षण का भी कहना अशक्य है ।

(७) उसी प्रकार—क्रम से एकानेक को कहने से एवं युगपत् कहने की शक्ति न होने से ही "वस्तु स्यात् उभय अवक्तव्य है ।"

इस प्रकार से सप्तभङ्गी प्रक्रिया की योजना कारिका में "योजयेत्" इस अतिदेश वचन की सामर्थ्य से निश्चित होती है और उसी प्रकार से ही एक धर्मी में एकत्व स्वप्रतिषेध्यअनेकत्व के साथ अविनाभावी है, क्योंकि वह विशेषण है, जैसे कि हेतु में साधर्म्य वैधर्म्य के साथ अविनाभावी है ।

वैसे ही अनेकत्व अपने प्रतिषेध्यएकत्व के साथ अविनाभावी है, क्योंकि वह भी विशेषण है जैसे कि हेतु में वैधर्म्य साधर्म्य के साथ अविनाभावी है । वे उभय अवक्तव्य आदि भंग भी स्वप्रतिषेध्य

१ द्रव्यपर्याय । (व्या० प्र०) २ संग्रहनापेक्षया सहयुगपत्द्रव्यपर्यायिनयापेक्षया । (व्या० प्र०) ३ एकत्र स्थितस्य धर्मस्यान्यत्र समारोपणमतिदेशः । (व्या० प्र०) ४ अनेकत्वं प्रतिषेद्धेन वा पा० । (दि० प्र०) ५ एकानेक प्रमुखाः पञ्चभङ्गाः । (दि० प्र०)

त्वाच्छब्दगोचरत्वाद्वास्तुत्वाद्वा<sup>१</sup> स्वसाध्येतरापेक्षया हेत्वहेत्वात्मकसाधनधर्मवदित्यपि नययोजन-  
मविरुद्धमवबोद्धव्यम् । विशेषणत्वादेः साधनधर्मस्यापि स्वविशेष्यापेक्षया<sup>२</sup> विशेषणस्य स्वप्रति-  
षेध्येनाविनाभावित्वसिद्धेर्न तेन<sup>३</sup> विशेषणत्वादिहेतोर्व्यभिचारः । नापि<sup>४</sup> विशेष्यत्वस्य, स्वविशे-  
षणापेक्षया विशेष्यस्यापि स्वप्रतिषेध्येनाविनाभावित्वात् । शब्दगोचरत्वस्य च 'शब्दान्तरा-  
गोचरस्य स्वप्रतिषेध्येनाविनाभावित्वात्', वस्तुत्वधर्मस्य च वस्त्वंशत्वेन वस्तुत्वरूपस्य तत-  
एव व्यभिचारित्वाशङ्कापि न कर्तव्या, अनेकान्तवादिनां तथाप्रतीतिविरोधाभावात् । एवमेक-  
त्वानेकत्वाभ्यामनवस्थित<sup>५</sup> सप्तभङ्ग्यामारूढं जीवादिवस्तु, कार्यकारित्वान्यथानुपपत्तेः ।  
सर्वथकान्ते क्रमाक्रमाभ्यामर्थक्रियाविरोधादित्याद्यपि योजनीयम् ।

के साथ अविनाभावी हैं, क्योंकि वे विशेषण हैं, विशेष्य हैं, शब्दगोचर हैं या वस्तुभूत हैं । स्वसाध्य और असाध्य की अपेक्षा से हेतु और अहेतुरूप साधन धर्म के समान ।

इस प्रकार से नय, हेतु और दृष्टांत की योजना को अविरोधरूप से समझनी चाहिये । एवं विशेषणत्वादि साधन धर्म भी अपने विशेष्य की अपेक्षा से विशेषण हैं वे भी अपने प्रतिषेध्य—अविशेषणत्वादि के साथ अविनाभावी सिद्ध हैं । इसलिये उससे विशेषणत्वादि हेतु में व्यभिचार नहीं आता है । एवं विशेष्यत्व हेतु में भी व्यभिचार संभव नहीं है क्योंकि विशेष्य भी अपने विशेषण की अपेक्षा से ही विशेष्य कहलाता है वह विशेष्य भी अपने प्रतिषेध्य—अविशेष्य के साथ अविनाभावी है ।

शब्दगोचरत्व हेतु भी शब्दान्तर—अगोचरत्व की अपेक्षा से 'शब्दगोचरत्व' है और वह अपने प्रतिषेध्य शब्द के अगोचरत्व के साथ अविनाभावी है । उसी प्रकार वस्तुत्व धर्म हेतु भी वस्त्वंश से वस्तुत्वरूप है और अपने प्रतिषेध्य के साथ अविनाभावी है । इन सभी हेतुओं का अपने-अपने प्रतिषेध्य के साथ अविनाभावीत्व सिद्ध होने से ही इनमें व्यभिचार दोष की आशंका भी नहीं करनी चाहिये क्योंकि अनेकान्तवादियों को उसी प्रकार से प्रतीति में विरोध का अभाव है ।

इस प्रकार से एकत्व अनेकत्व से अनवस्थित जीवादिवस्तु सप्तभङ्गी में आरूढ हैं, क्योंकि कार्यकारित्व की अन्यथानुपपत्ति है । अर्थात् सप्तभङ्गी में आरूढ हुये बिना कोई भी वस्तु अर्थ-क्रियाकारी नहीं हो सकती है । सर्वथा सत् अथवा सर्वथा असत् एकांत में क्रम से अथवा युगपत् से अर्थक्रिया का विरोध है । इत्यादि भी लगा लेना चाहिये ।

१ विशेषणत्वाच्छब्दगोचरत्वात् इति पाठान्तरम् । (दि० प्र०) २ एकत्व । (व्या० प्र०) ३ अविशेषणत्वेन धर्मेण । (दि० प्र०) ४ विशेष्यत्वादिति हेतोर्न व्यभिचारः । (दि० प्र०) ५ साधनधर्म इति प्रकृतशब्दादन्यः शब्दः शब्दान्तरम् । (व्या० प्र०) ६ विवादापन्नमेकाभिधेयत्वाविस्वरूपं जीवादिवस्तुपक्षः विशेष्यं भवतीति साध्यो धर्मः । शब्दगोचरत्वात् । यच्छब्दगोचरं तद्विशेष्यम् । अत्राह परः । अशब्दगोचरत्वेन कृत्वा शब्दगोचरत्वादिति हेतोर्व्यभि-  
चारोस्तीति चेन्न । कस्मात् शब्दगोचरत्वस्य स्वप्रतिषेध्यं नाशब्दगोचरत्वेनाविनाभावित्वात् । अथ यथोक्त्यादिः स्वसाध्येतरापेक्षया हेतुरहेतुश्च शब्दगोचरत्वेदं तस्मात् साध्यसाधनधर्मविशेषणापेक्षया विशेष्यम् = एवं सर्वत्र ज्ञेयम् । (दि० प्र०) ७ एवं विधिनिषेधाभ्यामित्यस्योपसंहारयोजनम् । (दि० प्र०)

<sup>१</sup> प्रज्ञाधीशप्रपूज्योज्ज्वलगुणनिकरो <sup>२</sup> दू तसत्कीर्तिसम्प <sup>३</sup> -

द्विद्यानन्दोदयायाऽनवरतमखिलक्लेशनिर्वाशनाय ।

स्तादगौः सामन्तभद्री दिनकररुचिजित्सप्तभङ्गोषिधीद्धा

<sup>४</sup> भाषाद्येकान्तचेतस्तिमिरनिरसनी <sup>५</sup> वोऽकलङ्कप्रकाशा ॥१॥

इत्याप्तमीमांसासंस्कृतौ प्रथमः परिच्छेदः ।

इलोकार्थ—समंत—सब ओर से, भद्र—कल्याण करने वाली श्री समंतभद्राचार्य की वाणी जो कि अकलंक—निर्दोष प्रकाश से युक्त है अथवा अकलंक देव की अष्टशती नाम की टीका से अत्यन्त स्फुट प्रकाश को प्राप्त है एवं सूर्य की कान्ति को भी जीतने वाली जो सप्तभंगी विधि उससे इद्धा—दीप्ति को प्राप्त है । मन में स्थित अज्ञान अंधकार का निरसन करने वाली है, इन उपर्युक्त विशेषणों से विशिष्ट श्री स्वामी समंतभद्र की वाणी “आप्तमीमांसा” सदैव अखिलक्लेश का नाश करने के लिये होवे प्रज्ञाधीश से प्रपूज्य जो अखिल गुणों के समूह से उत्पन्न हुई, कीर्ति रूपी सम्पत्ति तथा विद्या—केवलज्ञान और आनन्द-अनंतसुख, इन केवलज्ञान और अनन्त सुख के उदय के लिये होवे । अथवा श्री विद्यानंदाचार्यवर्य के उदय—उन्नति के लिये होवे ।

इस प्रकार से आप्तमीमांसासंस्कृति में प्रथम परिच्छेद समाप्त हुआ ।



१ भा । यतः । (व्या० प्र०) २ तातः । का । (व्या० प्र०) ३ वसः । (व्या० प्र०) ४ अभावादि । (व्या० प्र०)

५ युष्माकम् । (व्या० प्र०)

## स्याद्वाद के अर्थक्रियाकारित्व का सारांश

सभी जीवादिवस्तु विधि और निषेध के द्वारा अनवधृत अर्थात् कथंचित् विधि और निषेधरूप से अवस्थित ही अर्थक्रियाकारी हैं, यदि ऐसा नहीं माना जावे तो वस्तु की व्यवस्था ही नहीं बन सकेगी, क्योंकि सर्वथा निरंशरूप क्षणिक—स्वलक्षण में उत्पादादि असंभव हैं, अतः कोई भी विशेषण उसमें शक्य नहीं है, यदि मानों तो अंशसहित मानना पड़ेगा। कथंचित् सत् रूप वस्तु में ही सामग्री के मिलने पर उसके स्वभाव में अतिशय उत्पन्न होता हुआ देखा जाता है। जैसे स्वर्ण परिणमनशोकेत-लक्षण प्रतिनियत अन्तःसामग्री तथा स्वर्णकार के व्यापार आदि लक्षण बहिरंग सामग्री के मिल जाने पर केयूर कुण्डलादि पर्याय से उत्पन्न होता हुआ देखा जाता है, अतः सभी वस्तु सदसदात्मक ही हैं, क्योंकि सर्वथा सत् रूप वस्तु भी उत्पन्न नहीं हो सकती है, अन्यथा उसके कारणों की अपेक्षा का कभी भी अभाव नहीं हो सकेगा।

इसलिये सदेकांत और असदेकांत में अर्थक्रिया संभव नहीं है। सुनय से अर्पित जो विधि है वह अपने प्रतिषेध का निराकरण नहीं करती है। केवल विधि भंग को कहने पर नास्तित्व आदि अन्य भंग गौण हैं एवं प्रतिषेध भंग के कहने पर अस्तित्वादि भंगांतर गौण हैं प्रतिषेध प्रधान है। इसी हेतु से प्रमाणापित प्रधानरूप अशेष भंगात्मक वस्तुवाक्य—प्रमाणवाक्य से नयवाक्य में अंतर है। अर्थात् प्रमाणवाक्य युगपत् प्रमाणरूप से अर्पित समस्तभंगात्मक वस्तु का विवेचन करता है और नयवाक्य इतर धर्मों का निराकरण न करता हुआ वस्तु के एक ही धर्म का प्रधानतया कथन करता है जैसे विधि भंग में नास्तित्वादि धर्म गौण हैं अस्तित्व प्रधान है आदि।

शंका—पहले भंग से ही जीवादिवस्तु को जान लेने पर द्वितीयादि भंग अनर्थक हैं। अन्यथा वे नास्तित्व धर्म वस्तु से भिन्न ही सिद्ध होंगे, पुनः भेद में यह धर्मों है, ये इसके धर्म हैं इत्यादि कथन नहीं हो सकेगा, क्योंकि सम्बन्ध का अभाव है। यदि आप जैनाचार्य यों कहें कि सत्त्वादि धर्मों का धर्मों के साथ उपकार्य—उपकारक भाव है तब तो प्रश्न उठते हैं कि धर्मों के द्वारा धर्मों का उपकार है या धर्मों के द्वारा धर्मों का ? प्रथम पक्ष में तो पुनः वह धर्मों एक शक्ति से धर्मों का उपकार करता है या अनेक शक्ति से ? यदि एक शक्ति से मानों तो अपने से अभिन्न एक शक्ति से या अभिन्न अनेक शक्ति से ? अभिन्न एक शक्ति से मानों तो एक सत्त्व लक्षण धर्म के द्वारा नाना धर्मों के निमित्तभूत शक्त्यात्मक धर्मों का ज्ञान हो जाने पर तदुपकार्यरूप सकलधर्मों का ज्ञान हो जावेगा। पुनः धर्म और धर्मों में ऐक्य हो जावेगा, यदि अभिन्न अनेक शक्ति से कहो तो धर्मों धर्मों का उपकार करता है, यह ठीक नहीं है।

तथा यदि मूल के द्वितीय पक्ष को लें कि धर्मों के द्वारा धर्मों का उपकार होता है, तो एक शक्ति से या अनेक शक्ति से इत्यादि पूर्ववत् सभी दोष आ जावेंगे। यदि आप जैन धर्मों की उपकार्य-उपकारक शक्तियों को धर्मों से शिथिल मानों, तो ये शक्तियाँ उसकी हैं, यह कथन ही असंभव है। यदि शक्तियों द्वारा धर्मों का उपकार मानों, तो वे शक्तियाँ शक्तिमान् से भिन्न हैं या अभिन्न ? इत्यादि दोनों ही पक्षों में पूर्ववत् बाधा आ जावेगी।

**समाधान—**बौद्ध के इस पक्ष का खण्डन करते हुये जैनाचार्य कहते हैं कि अनंतधर्मों से युक्त एक जीवादि धर्मों के प्रत्येक धर्मों में भिन्न-भिन्न प्रयोजनादि अर्थ विद्यमान हैं । धर्मों के द्वारा ही धर्मों का कथन होता है, अतः उन धर्मों में से किसी एक के प्रधान करने पर शेष धर्म गौण हो जाते हैं । “अनंतधर्मात्मक जीवादिवस्तु धर्मों कहलाती हैं क्योंकि प्रमेयत्व की अन्यथानुपपत्ति है ।” हमारे यहाँ स्वधर्मों की अपेक्षा से जो सत्त्वादि धर्म हैं, वे ही स्वधर्मांतर की अपेक्षा से धर्मों हैं, अतः एक धर्म भी अनंतधर्मात्मक माना गया है, इसमें अनवस्था दोष भी नहीं है, क्योंकि धर्म और धर्मों का स्वभावभेद बल- या अगव्यजीव के संसार के समान अनादि अनंत है, जैसे भ्रमण काल में दलय का जो पूर्व-भाग है, वही अपरभाग भी हो जाता है । एवं धर्मों से धर्म सर्वथा भिन्न हों या अभिन्न हों ऐसा नहीं है, किन्तु हमारे यहाँ धर्म और धर्मों कथंचित् भेदाभेदात्मक ही हैं, क्योंकि धर्म-धर्म के प्रति धर्मों में कथंचित् स्वभावभेद विद्यमान है, नय से गृहीत एवं प्रमाण से अगृहीत स्वभावभेद सिद्ध ही है ।

इस प्रकार से नय के प्रयोग करने में कुशल जनों को एक, अनेक आदि धर्मों में भी यह सप्तभंगी प्रक्रिया घटित कर लेनी चाहिये क्योंकि “सभी वस्तु कथंचित् एक हैं” कोई कहे कि जीवादि छह द्रव्य अनेक भेद स्वरूप सभी एक कैसे होंगे ? सो ठीक नहीं है, यद्यपि वे जीवादि विशेष परस्पर में व्यावृत्त परिणाम वाले हैं, कालादि से भी उनमें भेद है, फिर भी शुद्ध सन्मात्र संग्रहनय की अपेक्षा से सद्रूप से सभी एक हैं, देश काल से भेद होने पर भी सत् रूप से उन्हें भिन्न करना अशक्य है । “जीवादिवस्तु कथंचित् अनेक हैं” क्योंकि संख्या और संख्यावान् पदार्थ के समान उनमें भेद देखा जाता है । तथाहि सप्तभंगी प्रक्रिया—

(१) सभी वस्तु कथंचित् एक हैं । (२) सभी वस्तु कथंचित् अनेक हैं । (३) क्रम से अपित होने से कथंचित् उभयरूप हैं । (४) कथंचित् सहावक्तव्य है । (५) कथंचित् एकावक्तव्य हैं । (६) कथंचित् अनेकावक्तव्य हैं । (७) कथंचित् उभयावक्तव्य हैं । कथंचित् उभयावक्तव्य हैं एवं एकत्व अपने अनेकत्व से अविनाभावी है इत्यादि क्योंकि सप्तभंगी में आरुढ़ हुये बिना कोई भी वस्तु अर्थक्रियाकारी नहीं हो सकती है । अतः हे भगवन् ! आपके स्याद्वादशासन में कुछ भी विरोध नहीं है ।

इस अध्याय में प्रथमतः अनुमानादि प्रमाणों से सर्वज्ञ की सिद्धि की है । अनंतर अर्हंत ही सर्वज्ञ हैं इसका समर्थन किया है, बाद में प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रमाण के द्वारा परमेष्ठ तत्त्व को बाधित सिद्ध किया है । पुनः भावाभावरूप उभयेकांत तत्त्व का निराकरण करते हुए अभाव के स्वरूप का स्पष्टतया वर्णन किया है । पुनः भावादि अनेकांत का समर्थन करते हुए स्याद्वाद के द्वारा परस्पर के विरोध का परिहार किया है ।

**दोहा—**श्रुतदेवी मां को नमूं द्रव्य भाव श्रुत हेतु । स्वपर ज्ञान उद्योती जगे मिले भवोदधि सेतु ॥

इस प्रकार श्रीविद्यानंदि आचार्य विरचित अष्टसहस्री ग्रन्थ में ज्ञानमती आर्यिकाकृत कारिकापद्यानुवाद अर्थ, भावार्थ, विशेषार्थ और सारांश से सहित इस स्याद्वाद चिंतामणि नामक हिन्दी भाषा टीका में यह पहला परिच्छेद पूर्ण हुआ ।

**अष्टसहस्री पूर्वार्ध समाप्त**



## प्रशस्ति

सिद्धं सन्मतिदेवस्य धर्मचक्रैकशासनम् । सर्वार्थसिद्धिकर्तारं शासनं जिनशासनम् ॥१॥  
 वर्षे चतुःशते सप्तत्युस्तरे वीरनिर्वाते । कुदकुदगणी जातो गौतमानुप्रसिद्धिभाक् ॥२॥  
 तस्य पूतान्वये ख्याते तपोज्ञानपरायणाः । बह्वयः ख्यातनामानः समभूवन्महर्षयः ॥३॥  
 क्रमशस्तत्र सञ्जातः प्रशान्तः सागरोपमः । शान्तिसागर आचार्यो मुनीन्द्रो गणनायकः ॥४॥  
 येन वैगम्बरी दीक्षा विधिलोके प्रवर्तितः । चिरादासीन्निरुद्धोऽसौ कलिकालप्रभावतः ॥५॥  
 तत्प्रतिष्ठापदं लेभे सूरिः श्री वीरसागरः । निग्रहानुग्रहे दक्षो व्यवहारविदावरः ॥६॥  
 तपसा तेजसा कीर्त्या प्रभावेण महोजसा । तत्प्रतिष्ठासमः सूरिर्नास्ति सूर इवाम्बरे ॥७॥  
 महाभागस्य तस्यैव गुरोः पादयुगान्तिके । आयिकायाः प्रवज्यामे सञ्जाता भवहारिणी ॥८॥  
 नाम्ना ज्ञानवती चाहं कृतानेनैव सूरिणा । तत्प्रसादान्मया लब्धमात्मज्ञानं भवान्तकम् ॥९॥  
 लब्धमासीदतः पूर्वं ब्रह्मचर्यं व्रतं मया । देशभूषणसूरीणामन्तिके क्षुल्लिकाव्रतम् ॥१०॥  
 सर्वत्र विहरन् भूमौ वीरवत् वीरसागरः । आयुरन्ते समाधिस्थः दिवं यातो महामुनिः ॥११॥  
 जिनसागर आचार्यस्तत्तत्तद्गुणभिन्तः । संसारदुःखतप्तानां शिवं साक्षात् प्रदर्शयन् ॥१२॥  
 वर्षाणां द्वादशं यावत् विहारं कृतवानसौ । पुनः समाधिं संप्राप्य स्वर्गलोकं समाश्रितः ॥१३॥  
 ततः संधानुसम्मत्या धर्मवाङ्मिरिवापरः । धर्मसागर आचार्यस्तस्य पट्टे प्रतिष्ठितः ॥१४॥  
 यस्यानुशासनं पूतं श्रावकैर्मुनिभिस्तथा । मूर्ध्नि संधार्यते नित्यं जिनाज्ञेव सुदृष्टिभिः ॥१५॥  
 यस्य पार्श्वे मयाधीतं श्रुतं सम्यक् जिनोदितम् । स महावीरकीर्तिर्मे भूयात् मङ्गलदायकः ॥१६॥  
 सर्वशास्त्रेषु निष्णातोऽनेकभाषाविशारदः । स एवासीत् प्रभुः सूरिः मन्त्रविद्याविचक्षणः ॥१७॥  
 मरुप्रदेशके ग्रामोऽस्ति टोडारायसिंहकः । तत्र श्रीपार्श्वनाथस्य मंदिरे जिनसन्निधौ ॥१८॥  
 रसविष्णुदिशा युग्मे वीराब्दे विश्रुते शुभे । पौषमासि सिते पक्षे द्वादश्यां शुक्रवासरे ॥१९॥  
 विख्याताष्टसहस्र्या वै गीर्वाण्या राष्ट्रभाषया । गुरुभक्त्यानुवादोयं मया सम्यगपूर्वतः ॥२०॥  
 स्थेयादष्टसहस्रीषं राष्ट्रभाषा विभूषिता । विदुषां रञ्जनं कुर्याद्यावच्चन्द्रदिवाकरी ॥२१॥

इन्द्रवज्रा छन्दः

स्याद्वाङ्मितामणिनामधेया, टीका कृतेयं स्वयमल्पबुद्ध्या ।

सम्यक्त्वशुद्धये भवतात् सदा मे, चित्तामणिः स्याज्जगते च मह्यम् ॥२२॥

इति शुभं भूयात्

卐—卐

## परिशिष्ट

(श्रीआचार्य विद्यानंद महोदय ने इस ग्रंथ में अन्य ग्रंथों के जिन श्लोकों को)  
उद्धृत किया है, उन्हीं का यह संकलन है) —

### उद्धृत श्लोक

|                                                                                                       | पृष्ठ नं० |
|-------------------------------------------------------------------------------------------------------|-----------|
| किं स्यात्सत्ता चित्रतैकस्यां न स्यात्तस्यां सत्तावपि । यदीदं स्वयमर्थेभ्यो रोचते तत्र के वयम् ॥१०५॥  | ६         |
| किं तु स्यादेकता न स्यात्तस्यां चित्रमसत्तावपि । यदीदं रोचते बुद्धे चित्रार्थे तत्र के वयम् ॥१०६॥     | ७         |
| तद्वत्तद्रूपिणो भावास्तद्वत्तद्रूपहेतुजाः । तत्सुखादि किमज्ञानं विज्ञानाभिन्नहेतुजम् ॥१०७॥            | १३        |
| सुखमाह्लादनाकारं विज्ञानं मेघबोधनम् । शक्तिः क्रियानुमेया स्वाद्यूनः कास्तासमागमे ॥१०८॥               | १३        |
| तद्वत्तद्रूपिणो भावास्तद्वत्तद्रूपहेतुजाः । तद्रूपादि किमज्ञानं विज्ञानाभिन्नहेतुजम् ॥१०९॥            | १४        |
| स्वपक्षसिद्धिरेकस्य निग्रहोभ्यस्य बाधिनः । नासाधनान्गवचनं नादोषोद्भावनं द्वयोः ॥११०॥                  | २५        |
| स्वपक्षसिद्धिपर्यन्ता शास्त्रीयार्थविचारणा । वस्तुनाश्रयत्वतो यत्तत्त्वौक्तिकार्थविचारणा ॥१११॥        | ५६        |
| मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त । षोडशकमत्र विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः ॥११२॥ | ७६        |
| हेतुमदनित्यमव्यापि सक्रियमनेकमाश्रितं लिङ्गम् । सावयवं परतन्त्रं व्यक्तं विपरीतमव्यक्तम् ॥११३॥        | ७८        |
| त्रिशृणमविवेकि विषयः सामान्यमचेतनं प्रसवधमि । व्यक्तं तथा प्रधानं तद्विपरीतस्तथा च पुमान् ॥११४॥       | ७९        |
| प्रकृतेर्महांस्ततोहंकारस्तस्माद्गणपञ्च षोडशकः । तस्मादपि षोडशकात् पञ्चम्यः पञ्च भूतानि ॥११५॥          | ८०        |
| सर्वस्योभयरूपत्वे तद्विशेषनिराकृतेः । चोचितो दधि खावेति किमुष्टं नाभिधावसि ॥११६॥                      | ८१        |
| अविभागोपि बुद्ध्यात्मा विपर्यासितदर्शनैः । ग्राह्यग्राहकसंवित्तिभेदवानिव लक्ष्यते ॥११७॥               | ८५        |
| यथाविशुद्धभाकाशं तिमिरोपप्लुतो नरः । संकीर्णमिव मांशोभिर्भिन्नाभिरंभिमन्यते ॥११८॥                     | ८६        |
| तथेदममलं ब्रह्म निर्विकल्पमविद्यया । कलुषत्वमिवापन्नं भेदरूपं प्रपश्यति ॥११९॥                         | ८६        |
| तान्योनुभाव्यो बुद्ध्यास्ति तस्या नानुभवीऽपरः । ग्राह्यग्राहकवैधुर्यात्स्वयं सैव प्रकाशते ॥१२०॥       | १८३       |
| पारतन्त्र्यं हि सम्बन्धः सिद्धे का परतन्त्रता । तस्मात्सर्वस्य भावस्य सम्बन्धो नास्ति तत्त्वतः ॥१२१॥  | १९१       |
| सत्ता सकलपदार्था सविश्वरूपा त्वनंतपद्मया । स्थितिर्भंगोत्पादार्था सप्रतिपक्षा अवस्थिका ॥१२२॥          | २१०       |
| अनादिवासनोद्भूतविकल्पपरिमिश्रितः । शब्दार्थस्त्रिविधो धर्मो भावामावोभयाश्रितः ॥१२३॥                   | २२३       |
| अर्थस्यासंभवे भावात् प्रत्यक्षेपि प्रमाणता । प्रतिबद्धस्वभावस्य तद्वेतुत्वे समं द्वयम् ॥१२४॥          | २२६       |
| भावा येन निरूप्यते तद्रूपं नास्ति तत्त्वतः । यस्मादेकमनेकं च रूपं तेषां न विद्यते ॥१२५॥               | २३५       |

## उद्धृत श्लोक

पृष्ठ नं०

|                                                                                                    |     |
|----------------------------------------------------------------------------------------------------|-----|
| किञ्चिन्निर्णीतमाश्रित्य विचारोऽप्यत्र वर्तते । सर्वविप्रतिपत्तौ तु कश्चिन्नास्ति विचारणा ॥१२६॥    | २४३ |
| तत्र शौद्धोदनेरेव कथं प्रज्ञापराधिनी । बभूवेति वयं तावद्वय विस्मयमास्महे ॥१२७॥                     |     |
| तत्राद्यापि जडासक्तास्तसो नापरं परम् । विभ्रमे विभ्रमे तेषां विभ्रमोऽपि न सिद्ध्यति ॥१२८॥          | १४७ |
| हेतुमदनित्यमध्यापि सक्रियमनेकमाश्रितं लिङ्गम् । साध्यत्वं परतन्त्रं व्यक्त विपरीतमव्यक्तम् ॥१२९॥   | २४२ |
| अभिलापतदंशानामभिलापविवेकतः । अप्रमाणप्रमेयत्वमवश्यमनुष्यते ॥१३०॥                                   | २६७ |
| यदेवार्थक्रियाकारि तदेव परमार्थसत् । अन्यत्संवृतिसत् प्रोक्ते ते स्वसामान्यलक्षणे ॥१३१॥            | २६८ |
| अर्थोपयोगेपि पुनः स्मार्त्तं शब्दानुयोजनम् । अक्षधीर्यद्यपेक्षेत सोर्थो व्यवहितो भवेत् ॥१३२॥       | २७१ |
| ज्ञानोपयोगेपि पुनः स्मार्त्तं शब्दानुयोजनं । विकल्पो यद्यपेक्षेताव्यर्थं व्यवहितं भवेत् ॥१३३॥      | २७२ |
| यः प्रागजनको बुद्धेरुपयोगविशेषतः । स पश्चादपि तेन व्यावर्तयितुमेषां नेत्रधीः ॥१३४॥                 | २७३ |
| यः प्रागजनको बुद्धेरुपयोगविशेषतः । स पश्चादपि तेनावबोधोपायेपि कल्पना ॥१३५॥                         | २७३ |
| न सोस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृतः । अनुविद्धमिवाभाति सर्वं शब्दे प्रतिष्ठितम् ॥१३६॥         | ३०३ |
| वाञ्छयता चेदुत्क्रामेदवबोधस्य शाश्वती । न प्रकाशः प्रकाशेत साक्षात्प्रत्ययमग्निनी ॥१३७॥            | ३०३ |
| साध्याभिधानात्प्रज्ञोक्तिः पारम्पर्येण नाप्यलम् । शक्तस्य सूत्रकं हेतुवचोऽशक्तमपि स्वयम् ॥१३८॥     | ३०६ |
| प्रत्यक्षं विशदं ज्ञानं मुख्यसंव्यवहारतः । परोक्षं शेषविज्ञानं प्रमाणे इति संग्रहः ॥१३९॥           | ३२३ |
| अनेकमेकं च पदस्य वाक्यं, वृक्षा इति प्रत्ययवत्प्रकृत्याः ॥१४०॥                                     | ३३५ |
| स्वार्थमभिधाय शब्दो निरपेक्षो द्रव्यमाह समवेतम् । समवेतस्य तु वचने लिङ्गं संख्यां विभक्तीश्च ॥१४१॥ | ३३६ |
| आकांक्षिणः स्यादिति वै निपातो, गुणानपेक्षं नियमेष्ववादः ।                                          |     |
| गुणप्रधानार्थमिदं हि वाक्यं, जितस्य ते तद्विषयतामप्ययम् ॥१४२॥                                      | ३३६ |
| कश्चिद्दृष्टेपि यज्ज्ञानं सामान्यार्थं विकल्पकम् । असमारोपितान्यांशे तन्मात्रापोहगोचरम् ॥१४३॥      | ३५१ |
| गुणानां सुमहद्वर्णं न दृष्टिपथमृच्छति । यत्तु दृष्टिपथप्राप्तं तन्मात्रेव सुतुच्छकम् ॥१४४॥         | ३६६ |
| सर्वं पुरुष एषेवं नेह नास्ति किञ्चन । आरामं तस्य पश्यन्ति न तं कश्चन पश्यति ॥१४५॥                  | ३६६ |
| ज्ञानोपाध्युपकारागशक्त्यभिन्नात्मनो प्रहे । सर्वात्मनोपकार्यस्य को भेदः स्यादनिश्चितः ॥१४६॥        | ४०० |
| एकोपकारके ग्राह्ये नोपकारस्ततोऽपरे । दृष्टे यस्मिन्नदृष्टास्ते तदग्रहे सकलग्रहः ॥१४७॥              | ४०० |
| धर्मोपकारशक्तीनां भेदे तास्तस्य किं यदि ? नोपकारस्ततस्तासां तथा स्यादनवस्थितिः ॥१४८॥               | ४०१ |
| तस्माद् दृष्टस्य भावस्य दृष्ट एवाखिलो गुणः । भ्रान्तेनिवचीयते नेति साधनं संप्रवर्तते ॥१४९॥         | ४०६ |

